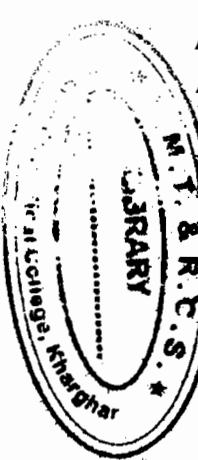


# आयुर्वेदीय पंचकमि विज्ञान

M.T. &amp; R.C.S.

LIBRARY



: लेखक :

वैद्य हरीदास श्रीधर कस्ते

एम. ए०

जी० सी० ए० एम० (हेदराबाद), एच० पी० ए० (जामनगर)  
 काव्यतीर्थ, सुपरिनेंडेंट, श्रीमती मणिकेन अमृतलाल  
 हरगोबनदास सरकारी आयुर्वेदिक हाँस्पिटल,  
 अहमदाबाद (ગुजरात राज्य)

: प्रकाशक :

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिं  
 कलकत्ता \* पट्टना \* झाँसी \* नागपुर \* नैनी (इलाहाबाद)  
 कलकत्ता \* पट्टना \* झाँसी \* नागपुर \* नैनी (इलाहाबाद)



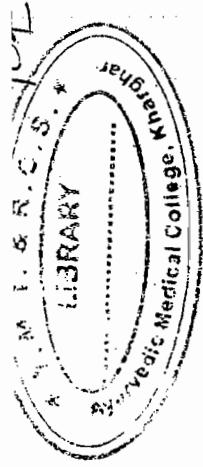
**COLLECTION OF VARIOUS**  
→ HINDUISM SCRIPTURES  
→ HINDU COMICS  
→ AYURVEDA  
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with  
By  
Avinash/Shashi

Icreator of  
hinduism  
server)





प्रथम संस्करण	: १६७०	नवम् संस्करण	: २००६
द्वितीय संस्करण	: १६७६	दशम् संस्करण	: २००७
तृतीय संस्करण	: १६८५	एकादश संस्करण	: २००८
चतुर्थ संस्करण	: १६९३	द्वादश संस्करण	: २००९
पंचम् संस्करण	: १६९७	त्रयोदश संस्करण	: २०१०
षष्ठम् संस्करण	: २०००	चतुर्दश संस्करण	: २०११
सप्तम् संस्करण	: २००२	पंचदश संस्करण	: २०१२
अष्टम् संस्करण	: २००५	षोडश संस्करण	: २०१३
सततदश संस्करण	: २०१४		

## शुभकामना

मुझे यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई कि "आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान" प्रकाशित होने जा रहा है। पंचकर्म का इस प्रकार का बढ़ावा वास्तव में आयुर्वेद की उन्नति है, आयुर्वेद की पूजा है।

आयुर्वेद का शास्त्र विस्तृत होते हुए भी आज जटिल रोगों को मिटाने की समस्या चिन्ताप्रद है। यह चिंता निवारण के लिये श्रेष्ठतम उपचार करने की शक्ति पंचकर्म में है।

भाई कस्टरे गुजरात की सुप्रसिद्ध अरबांडानंद आयुर्वेद अस्पताल में पंचकर्म विभाग के सफल चिकित्सक रहे हैं। पंचकर्म विभाग की प्रतिष्ठा उनकी देन है। पंचकर्म विज्ञान की सेन्डरांतिक दृष्टि और क्रियात्मक अनुभव के बल पर पोलियो (बाल लकवा) जैसे जटिल व्याधि का अनुसंधान (Researchn) का आपका कार्य सराहनीय है।

दायरेकरार पंडित रामनारायण शर्मा वैद्यजी ने यह ग्रंथ प्रकाशित करने के लिये जो उत्तरदानिदत्त लिया है, मैं उनको शतशः हार्दिक बधाई देता हूँ। अपनी शुभ कामना के साथ मैं आशा करता हूँ कि यह ग्रंथ आयुर्वेद के छाप्रण और वैद्य समाज के लिये अतीव महत्वपूर्ण होगा।

## गोदिंद्रशाद वैद्य

आयुर्वेद परामर्शदाता, गुजरात सरकार, अहमदाबाद

मूल्य : ₹ २६०.०० रुपये

### मुख्य वितरक

#### २. किताब महल पब्लिशर्स

दू, हरि सदन, (ग्राहण फ्लोर)  
२०, अंसारी रोड, दरियांगंज  
नई दिल्ली - ११०००२  
फोन : ०११-२३२३०२३०; ०६३११६००९२९  
फैक्स : ०११-२३२३६६२८५  
E-mail : kitab\_mahal@hotmail.com

#### ३. किताब महल एजेन्सीज

अशोक राजपथ  
पटना-८००००४  
फोन : ०६१२-२३०३५३१

प्रकाशक : श्री देवदानाथ, आयुर्वेद भवन, लिमिटेड, नैनी, इलाहाबाद।

(रजि. कार्यालय १, गुप्ता लेन, कलकत्ता-६)

मुद्रक : किताब महल प्रिस्ट्रिंग लिंवीजन, २२, सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद।

प्रभासम्पत्ति

“आत्मविदेश यंचकर्म विज्ञान” नामक, लैद्य १० श्री-कस्तुरेजी द्वारा लिखित प्रथम अवलोकनार्थ मिला। जिस प्रकार अष्टांगहृदय और माधवनितान ग्रंथ के पढ़ने में एक अनुभूति होती है वैसी विशेष अनुभूति इसमें होती है। “नाना मुनीं वन्चने:” संकलित माधवनितान “नाना तं विहीनानां शिष्यामल्पमेधसाम्” के लिये जैसा अत्यपुकृत समझा जाता है वैसे ही पंचकर्म विषय पर ऋग्विष्यों के वचनों को संकलित कर मरल भाषा में लिखा हुआ यह प्रथम उपयुक्तता में अप्रसर रहेगा ऐसा लगता है।

यह ग्रंथ आयुर्वेद के सब प्रकार के समाज के लिये प्रत्युपयोगी सिद्ध होगा। आजकल विद्यार्थियों को पचकर्म विषय स्वतंत्र विषय के रूप में रखा गया है। इस ग्रंथ की रचना योजनाबद्ध है और सभी विषय शास्त्रीय आधार पर स्पष्ट रूप से विवरण किये गये हैं। इससे स्नातक कक्षा के विद्यार्थियों को पाठ्य विषय का ज्ञान उपलब्ध होगा। स्नातकोत्तर शिक्षण तथा अन्वेषण में लगे हुए छात्रों को प्रत्येक अध्यायान्त में चरकाति ग्रंथ से दी हुई संदर्भ आदि, तथा कार्यकृता का विवरण इन समस्या को समझने में और हल करने में एक पथ-प्रदर्शक के रूप में उपयुक्त सामग्री होगी। इसी तरह प्रत्यक्ष कर्माण्डिष्ट् को प्रत्येक विषय क्रमानुसार समझाया गया है जिससे नितांत उपयोगी होगा।

अन्ततः मैं समझता हूँ कि गोगी को गोगमुक्त करने के लिये जो सही उपाय आवश्यक है मंहिता में निर्दिष्ट किये गये हैं उनका उचित हितदर्शन इस ग्रंथ में किया गया है। जिससे मैं आशा रखता हूँ कि सब कार्यक्षेत्र में लगे हुए वैद्य महानुभाव इस ग्रंथ का एकबार जरूर अध्ययन करें।

खंड ०६ बारेट्य

डायरेक्टर ऑफ आयुर्वेद  
अहमदाबाद (गुजरात राज्य)

प्रथ प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।

इसके लेखन में प्रधानतया तीन उद्देश्य सामने रखे थे। एक वैदिकीय छात्र को पंचकर्म का शास्त्रीय परिचयात्मक पट्ट्याग्रंथ प्राप्त हो। दूसरा-प्रत्यक्ष कर्म में जो वैद्य व्यवसाय में लगे हुए हैं उन्हें प्रत्यक्षकर्म की वैज्ञानिक पद्धति मिल जाए तथा तीसरा—उद्देश्य—सातांकोत्तर छात्रों को एवं अन्वेषकों को, अपने विषय में समस्तांतः, समस्ताओं को सुलझाने की विधारपद्धति इस बारे में अल्प-स्वल्प सहाय्यभूत हो सके। इसमें कितनी सफलता प्राप्त हुई है यह निर्णय चिन्ह भविष्यों को तथा उपर्युक्त तीन अधिकारियों को स्वयं करना है।

इस प्रथ के लेखन में एक और ध्यान इसका रखा गया है कि यह प्रथ हाथ में होने पर पंचकर्म संबंध में सहाय्यार्थ अन्य किसी प्रथ की आवश्यकता न पड़े। एतदर्थे तिक्ष्णपक्ष द्रव्यगुणशास्त्र, भौज्यकृत्यना शास्त्र, रसशास्त्र, शारीर विज्ञान, प्राणशास्त्र इत्यादि का जहाँ संबंध आता हो, उस विषय की उपयोगी सामग्री इसी ग्रंथ में प्रस्तुत की है। जिससे यह अपने में स्वयंपूर्ण ऐसा प्रथ हो सके ऐसा प्रयास किया गया है। पंचकर्म विषय में जो जो सामग्री सहिता प्रयोगों में मिल सकी उसे 'जुल्जियोग' 'स्वानुभूति' के निकर्ष पर रख इसमें प्रस्तुत किया है। प्रत्येक कर्म को प्रत्यक्ष करने में सुविधा—तथा उसके पीछे रहा हुआ शास्त्र भी अवगत हो—इस प्रकार—पूर्वकर्म, प्रथानकर्म और पश्चात्कर्म—शीर्षकों के द्वारा विशद किया गया है। शास्त्रीय पारिवारियाओं का ध्यान इसालिये रखा है कि छात्राण, वैद्याण, तथा अनुभूति से अतुराण-जन-संमर्द—इनमें ये शब्द सर्वश्रुत हो जाये। पंचकर्म के विषय में मुझे जो कुछ कहना था वह मैंने "विषय प्रवेश विज्ञान" नामक प्रथम अध्याय में कह दिया है। यहाँ तो कुछ और ही कहना है।

"आत्मविर्तीय पंचकर्म विज्ञान" नामक यह यंथ विज्ञ एवं विज्ञानप्रेमी वाचकों के समझ प्रस्तुत करते हुए मुझे प्रसं मतोष होता है। गत एक तप्त तक पंचकर्म विषय में कुत अध्ययन अध्यापन अस्थापन वैशिष्ट्यपूर्ण यंथ होगा ऐसा कहने में आत्मरक्षालाभ का दोष नहीं आयेगा ऐसी आशा है—किंतु वैसी स्थिति है। विगत वर्षों में ऐसे यंथ की बृद्धि मुझे भी कठिनाइयों में डालती रही है। इस्वर की कृपा से और सद्भावय से मुझे स्नातक, स्नातकोत्तर फ्रिशर, अन्वेषक तथा नसेस इन सब प्रारंभ के छात्रों को इस विषय का अध्यापन करने का मौका मिला है। इसी तरह आत्मरक्षालय कार्य और अन्वेषण कार्य की कुछ उत्तराधिक निभाने का मुख्यसर प्राप्त हो सका है। एक तप्त—अथर्त बाहू वर्ष्य यद्यपि विभाग के बहुत अधिक काल नहीं है—तथापि एक अल्पत भीड़वाले आत्मरागलय-विशाल अंतर्ग विभाग के कार्य का यह काल अल्प भी निरिचत नहीं है। इस अधिकार को ग्रहण कर मैं आपके समझ यह प्रस्तुत करने की चेष्ठा की है।



स्वकीय और आवजनों के ब्रह्म में निर्देश से मुक्त होने का प्रश्न ही नहीं है। बेहतर यही है कि ऐसे ब्रह्म में बांबार रहने का संदर्भाय प्राप्त होता रहे ऐसी कमाना करना।

केऽ अख्युद्धार्थ—आयुर्वेदिक सरकारी हॉस्पिटल और कॉलेज के अधीक्षक तथा प्राचार्य देवा श्री० केऽ सदाशिंश शर्माजी एक ऐसे ही आप हैं—जिनके बारे में “वाचमर्थेनधारविति” यह उचित आयुर्वेद क्षेत्र में चरितार्थ होती है। इस गंथ के शास्त्रीय चर्चा में, समस्याओं में अपने निलस चर्चा करने का सुअवसर मुझे दिया जिसका अतीव नौलिक लाभ हुआ है। मैं आपका और इसलिये भी कृतज्ञ हूँ—जो नितिशय प्रेमपूर्वक विभागीय कामकाज में मुझे सुविधाएं प्रदान करें।

गुजरात राज्य के आयुर्वेद निर्देश—वैद्यराज श्री खंडुभाई बारोट साहब का मैं अत्यंत कृतज्ञ हूँ—जो नितिशय कामकाज में मुझे सुविधाएं प्रदान करें। मैं आपका और इसलिये भी कृतज्ञ हूँ—

इस प्रथं लेखन के कार्यकाल में मैंने अनेक वैद्यकों के साथ प्रत्यक्ष अथवा प्राचार से परामर्श लिया है तथापि स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र के भूतपूर्व स्व० भास्तर विश्वनाथजी गोखले, ५० पू० प्राचार्य श्री० ३० अ० कुलकर्णी, प्र० श्री० बासुदेवभाई द्विदेवी, प्र० श्री० विश्वनाथजी द्विदेवी नगा० १० श्री० द्वारकानाथ जी जिनके प्रवचनों का मेरे आयुर्वेदीय दृष्टिकोण के निर्माण में महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है—मैं आपको आजीवन भूल नहीं सकता। वैद्यराज श्री० गोविंद प्रसादजी—आयुर्वेद प्रामाण्डिला—गुजरात राज्य, वैद्य निकाल प्रामाण्डिली शाळी—प्रमुख गुजरात वैद्य सभा, अहमदाबाद अदरणीय वैद्य मनिका नायण हरि जोशी—कबूई, वैद्य ज्ञान प० गोगां अमावस्यी इन सभी महानुशासों में कृतज्ञ हूँ—जिन्हें मुझे सदा ही अभिप्ति सहाय्य किया है। इस प्रथं के कलेवर निर्माण में मेरे अनेक मित्रों का अमूल्य सहाय्य हुआ है—जिनमें वैद्य श्री० एस० बी० गुला का व्यक्तिमत्त्व अविस्मरणीय है। श्री० यशवंत सोनेवणेजी ने पंथ के चित्र निर्माण में तथा ‘संदेश’ पत्र के कोटोप्राफर श्री० कल्याणभाई शाहजी ने विज्ञानोपयोगी फोटोग्राफ तैयार करने में जो तत्परता दिखाई है मैं उनका अभारी हूँ।

अंत में श्री० वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के संचालक आदरणीय देवा श्री० गमनराचया जी० शर्मा, जो उदारतत्व और आयुर्वेद के एकनिष्ठ सेवक है—प्रधान अधिकारी है—आपका मैं बहुत कृतज्ञ हूँ—न केवल इसलिये कि आपने इस प्रथं का समयोचित प्रकाशन किया है—बील्कु बांबार सहदय पर्यां द्वारा मुझे लेखन कार्य में प्रवृत्त और श्रेष्ठान्वित किया है। आपके उदार अश्रय तथा मनोनीत कार्य में आपने जो परम्परा कायम की है वैद्य समाज उससे हमेशा कृतज्ञ है।

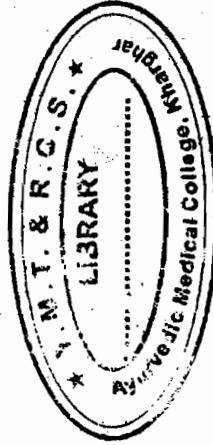
और अंत में इस गंथ की श्रुतियों, उपयुक्त सुधारों, सूचनाओं के लिये सभी विद्यज्ञों को आचाहन करते हुए मैं अश्रवासित करता हूँ कि ऐसे परामर्शों का मैं इस विषय के विज्ञार्थी के नाते सतत स्वागत करूँगा।

२४-८-१९७०  
अहमदाबाद

वैद्य विनम्र  
वैद्य हरीदास श्रीघर कस्तुर

नागपुर ९  
२६ जनवरी, गणतंत्र दिन  
सन्—१९७७

विनम्र  
प्रकाशन विभाग  
श्री० वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिं०



## चतुर्थ संस्करण का प्रकाशकीय निवेदन

विद्वान् पाठकों के समक्ष प्रस्तुत प्रथं का ‘चतुर्थ संस्करण’ प्रस्तुत करके हमें काफी सत्त्वोष हुआ है। यद्यपि इस प्रथं का पूर्व संस्करण काफी पहले ही समाप्त हो गया था, परन्तु समयावधि के कारण नया संस्करण निकल पाना सम्भव नहीं हो सका—इसका हमें वार्दिक खेद है। इसके लिए हम क्षमा चाहते हैं। आज प्रथं का चतुर्थ संस्करण विद्यज्ञों के कार्यकालों में प्रस्तुत है। प्रथं के मूल्य में जो आंशिक वृद्धि हुई है वह इसके प्रकाशन व्यय का लागतभाव ही है। हमारा काम तो आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति का प्रचार-प्रसार करना ही है। हमें आशा है कि विद्युद वर्ता यन्थ को पूर्ववत् समाप्त करके हमारी आयुर्वेदीय उत्थान परम्परा में अपना स्वेह सहयोग प्रदान करेंगे।

विनम्र  
प्रकाशन विभाग  
श्री० वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिं०  
माधवकृष्ण अमावस्या सं० २०४९  
२२ जनवरी १९७३

## पांचवाँ संस्करण

आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान का पांचवा संस्करण सन् १९७७ में प्रकाशित किया जा रहा है। सन् १९७० में प्रथम संस्करण से लेकर आजतक के इस अवधि में आयुर्वेद के प्रति कितनी लोकप्रियता और विश्वास है यह पंचवंते संस्करण के माध्यम से साकार होता है। इस संस्करण में और भी सुधार किया है। परिशश्य विमर्श द्वितीय भाग द्वारा जनता को महत्वपूर्ण सिविस्तार रूप से जानकारी दी है।

आयुर्वेद का उत्तरोत्तर विकास तथा गंथ के बढ़ती मांग को देखकर इस प्रथं के प्रकाशन से हमें अतिरिक्त हो रहा है, साथ ही यह हमारा सौभाग्य है।

विनम्र  
प्रकाशन विभाग  
श्री० वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिं०

## आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान

### विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ	क्रम विषय	पृष्ठ	क्रम विषय
१-३७	१. प्रथम अध्याय विषय प्रबोध विज्ञान	१-३७	१. स्नेह क्रव्यों के गुण स्नेह द्रव्यों का भौतिक संगठन
२	पंचकर्म का सामान्य परिचय- 'कर्म' विचार	२	स्नेह द्रव्यों की परिचय तातिका उत्तम स्नेह
३	'पंच' का विचार	३	उत्तम स्नेहों के गुण एवं उपयोग
४	'पंचकर्म' का सामान्य विचार	४	स्नेहस्त्रेह का विचार : स्नेह या स्नेह योग्य अन्तेस्त्रेह के लिये अयोग्य
५	पंचकर्म और शोधन	५	स्नेहस्त्रेह का विचार : स्नेह गंदूष
६	पंचकर्म का विस्तार	६	पूर्वकर्म प्रथानकर्म
७	पंचकर्मचिकित्सा' का मूलस्रोत	७	पूर्वकर्म स्नेहाकर्म
८	संरोधनाहों में भी संरोधन	८	पंचकर्म प्रयोग विषय
९	कब न करें?	९	स्नेहाकर्म
१०	पंचकर्म प्रयोग विषय	१०	स्नेहाकर्म लक्षण
११	संरोधनाहों में भी संरोधन	११	स्नेहाकर्म भेद
१२	कब न करें?	१२	पाक भेद से प्रयोग भेद
१३	पंचकर्म प्रयोग विषय	१३	स्नेहाकर्म लक्षण
१४	१. सामान्य मनुष्यों में पंचकर्म	१४	पाक भेद से प्रयोग भेद
१५	२. स्त्रायनादि असाधारण गुण	१५	स्नेहाकर्म लक्षण
१६	माप्ति के लिये पंचकर्म	१६	२. स्नेहाकर्म लक्षण
१७	३. गोगानुसार पंचकर्म	१७	३. स्नेहाकर्म लक्षण
१८	का विचार	१८	४. स्नेहार्थ द्रव्य संग्रह
१९	पंचकर्म क्रम में आवश्यक काल	१९	२. प्रधानकर्म
२०	पंचकर्म क्रम में परिहार क्या है?	२०	१. आतुर परीक्षा
२१	अष्ट महादोषकर वर्जन विषय	२१	२. स्नेहन कालावधि
२२	पंचकर्मीभ्यस के उपाय	२२	३. स्नेहार्थ भोजनादि की व्यवस्था
२३	पंचकर्म विकितसक कैसा हो ?	२३	४. स्नेहार्थ द्रव्य संग्रह
२४	पंचकर्म का महत्त्व	२४	३. स्नेह की व्यवस्था
२५	विकितसा शास्त्र में पंचकर्म का स्थान : एक ऐतिहासिक अवलोकन	२५	५. स्नेह व्यापद एवं प्रतिकार
२६	स्नेह विज्ञान	२६	६. स्नेह का आनुरूपिक विचार
२७	स्नेह का आनुरूपिक विचार	२७	७. स्नेह व्यापद एवं प्रतिकार
२८	१. अनुरूप स्नेह	२८	८. स्नेह व्यापद एवं प्रतिकार
२९	२. द्वितीय अध्याय	२९	९. द्रव्य स्वेद विधि-विधान
३०	स्नेह विज्ञान	३०	१. द्रव्य स्वेद विधि-विधान
३१	व्याड्या	३१	२. द्रव्य स्वेद विधि-विधान
३२	स्नेह का सामान्य परिचय	३२	३. प्रधानकर्म
३३	स्वेद का सामान्य परिचय	३३	४. प्रधानकर्म
३४	स्वेद द्रव्यों का परिचय	३४	५. प्रधानकर्म
३५	स्वेद के प्रकार	३५	६. प्रधानकर्म
३६	स्वेद योग्यताओं का विचार	३६	७. प्रधानकर्म
३७	का विचार	३७	८. प्रधानकर्म

### (ii)

पृष्ठ	क्रम विषय	पृष्ठ	क्रम विषय
७७	५. स्नेहिक धूप ६. स्नेहतर-स्वेदन विज्ञान	७७	५. स्नेह-दाह ६. स्नेहदाह-स्वेदन विज्ञान
७८	आयुर्वेदिक धूप	७८	आयुर्वेदिक धूप
७९	का विचार	७९	वात्ता-स्नेह
८०	बात्ता-स्नेह	८०	बात्ता-स्नेह
८१	आयुर्वेदिक धूप	८१	आयुर्वेदिक धूप
८२	लेप	८२	लेप
८३	उद्धर्तन-उत्सादन	८३	उद्धर्तन-उत्सादन
८४	मर्दन-उत्सादन	८४	मर्दन-उत्सादन
८५	पदायत	८५	पदायत
८६	परिवेक	८६	परिवेक
८७	सांवाहन	८७	सांवाहन
८८	गडूष	८८	गडूष
८९	मूर्ख-तैल-सिरस्त्रप्य	८९	मूर्ख-तैल-सिरस्त्रप्य
९०	गंदूष	९०	गंदूष
९१	स्नेहाकर्म	९१	स्नेहाकर्म
९२	प्रयोगं	९२	प्रयोगं
९३	प्रथानकर्म	९३	प्रथानकर्म
९४	प्रथानकर्म	९४	प्रथानकर्म
९५	प्रथानकर्म	९५	प्रथानकर्म
९६	प्रथानकर्म	९६	प्रथानकर्म
९७	प्रथानकर्म	९७	प्रथानकर्म
९८	प्रथानकर्म	९८	प्रथानकर्म
९९	प्रथानकर्म	९९	प्रथानकर्म
१००	प्रथानकर्म	१००	प्रथानकर्म
१०१	प्रथानकर्म	१०१	प्रथानकर्म
१०२	प्रथानकर्म	१०२	प्रथानकर्म
१०३	प्रथानकर्म	१०३	प्रथानकर्म
१०४	प्रथानकर्म	१०४	प्रथानकर्म
१०५	प्रथानकर्म	१०५	प्रथानकर्म
१०६	प्रथानकर्म	१०६	प्रथानकर्म
१०७	प्रथानकर्म	१०७	प्रथानकर्म
१०८	प्रथानकर्म	१०८	प्रथानकर्म
१०९	प्रथानकर्म	१०९	प्रथानकर्म
११०	प्रथानकर्म	११०	प्रथानकर्म
१११	प्रथानकर्म	१११	प्रथानकर्म
११२	प्रथानकर्म	११२	प्रथानकर्म
११३	प्रथानकर्म	११३	प्रथानकर्म
११४	प्रथानकर्म	११४	प्रथानकर्म
११५	प्रथानकर्म	११५	प्रथानकर्म
११६	प्रथानकर्म	११६	प्रथानकर्म
११७	प्रथानकर्म	११७	प्रथानकर्म
११८	प्रथानकर्म	११८	प्रथानकर्म
११९	प्रथानकर्म	११९	प्रथानकर्म
१२०	प्रथानकर्म	१२०	प्रथानकर्म
१२१	प्रथानकर्म	१२१	प्रथानकर्म
१२२	प्रथानकर्म	१२२	प्रथानकर्म
१२३	प्रथानकर्म	१२३	प्रथानकर्म
१२४	प्रथानकर्म	१२४	प्रथानकर्म
१२५	प्रथानकर्म	१२५	प्रथानकर्म
१२६	प्रथानकर्म	१२६	प्रथानकर्म
१२७	प्रथानकर्म	१२७	प्रथानकर्म
१२८	प्रथानकर्म	१२८	प्रथानकर्म
१२९	प्रथानकर्म	१२९	प्रथानकर्म
१३०	प्रथानकर्म	१३०	प्रथानकर्म
१३१	प्रथानकर्म	१३१	प्रथानकर्म
१३२	प्रथानकर्म	१३२	प्रथानकर्म
१३३	प्रथानकर्म	१३३	प्रथानकर्म
१३४	प्रथानकर्म	१३४	प्रथानकर्म
१३५	प्रथानकर्म	१३५	प्रथानकर्म
१३६	प्रथानकर्म	१३६	प्रथानकर्म
१३७	प्रथानकर्म	१३७	प्रथानकर्म
१३८	प्रथानकर्म	१३८	प्रथानकर्म
१३९	प्रथानकर्म	१३९	प्रथानकर्म
१४०	प्रथानकर्म	१४०	प्रथानकर्म
१४१	प्रथानकर्म	१४१	प्रथानकर्म
१४२	प्रथानकर्म	१४२	प्रथानकर्म
१४३	प्रथानकर्म	१४३	प्रथानकर्म
१४४	प्रथानकर्म	१४४	प्रथानकर्म
१४५	प्रथानकर्म	१४५	प्रथानकर्म
१४६	प्रथानकर्म	१४६	प्रथानकर्म
१४७	प्रथानकर्म	१४७	प्रथानकर्म
१४८	प्रथानकर्म	१४८	प्रथानकर्म
१४९	प्रथानकर्म	१४९	प्रथानकर्म
१५०	प्रथानकर्म	१५०	प्रथानकर्म

१५०	१५०	१५०	१५०
१५१	१५१	१५१	१५१
१५२	१५२	१५२	१५२
१५३	१५३	१५३	१५३
१५४	१५४	१५४	१५४
१५५	१५५	१५५	१५५
१५६	१५६	१५६	१५६
१५७	१५७	१५७	१५७
१५८			

(A)

क्रम	विषय	पृष्ठ	क्रम	विषय	पृष्ठ	
रोगावस्थानुसार चारकोट कठिनपय स्वेद संबंध	१८२	५. वमनव्यापत निरीक्षण एवं तत्वात्कार	२३६	१९८-१७३	१८२	
५. चतुर्थ अध्याय	वमन विज्ञान	१९८	३. पायावात्कर्म	१८०	१०. खुद्गपान	२४०
व्याड्या	वमन का सामान्य परिचय	२००	१. आतुर के पाहारी विषय	१४०	११. आतुर के पाहारी विषय	२४१
वामक द्रव्यों के गुणकर्म	वामक द्रव्यों के गुणकर्म	२००	२. संसर्जन क्रम	२४२	१२. संसर्जन विकित्सा	२४३
वमन द्रव्य	मदनकल	२०१	३. वमनोत्तर शोषण की विकित्सा	२४४	१३. वमनकर्म	२४४
चारकोट वामक द्रव्य	चारकोट वामक द्रव्य	२०२	४. वमनफल कर्तव्य	२४५	१४. मदनफल के वामक विषय	२४५
अन्तर्नान्य संदर्भ से	अन्तर्नान्य संदर्भ से	२०४	५. मदनफल के वामक विषय	२४६	१५. जीभपूतक के वामक विषय	२४८
वमन द्रव्य	सुशुतोत्तर वामक द्रव्य	२०५	६. इङ्कवार्क के वमन विषय	२४९	१६. इङ्कवार्क के वमन विषय	२५०
	वामकटोत्तर वामक द्रव्य	२०६	७. धूमाराव के वमन विषय	२५१	१७. धूमाराव के वमन विषय	२५१
वमन द्रव्यों का सामान्य परिचय दर्शक तालिका	वमन द्रव्यों का सामान्य परिचय दर्शक तालिका	२०७	८. कुटुज के वमन विषय	२५२	१८. कुटुज विषय (कोशात्की)	२५२
प्रमुख प्रयोग घेद	प्रमुख प्रयोग घेद	२१५	९. कुटुजवेन (कोशात्की)	२५३	१९. कुटुजवेन (कोशात्की)	२५३
वम्य तथा अवम्य का विचार : तालिका	वम्य तथा अवम्य का विचार : तालिका	२१६	१०. के वमन विषय	२५४	२०. रोगावस्थानुसार चारकोट कर्तव्य	२५४
अयोध्यों में वमन करने से संभाव्य विकार	अयोध्यों में वमन करने से संभाव्य विकार	२२०	११. वमन संदर्भ	२५५	२१. वमन का कार्यकृत्व	२५५
वमनविधि-विधान	वमनविधि-विधान	२२१	१२. वमन अध्याय	२५६	२२. रोगावस्थानुसार चारकोट कर्तव्य	२५६
१. पूर्वकर्म	१. संश्चार संग्रह	२२२	१३. विरेचन विज्ञान	२५७	२३. विरेचन व्याख्या	२५७
	२. आतुर परिशो	२२३	१४. विरेचन का सामान्य परिचय	२५८	२४. विरेचन का सामान्य परिचय	२५८
३. वमनयोग-ग्राम विनियोग	३. वमनयोग-ग्राम विनियोग	२२४	१५. विरेचन द्रव्यों के गुणकर्म	२५९	२५. विरेचन द्रव्य :	२५९
४. आतुर सिद्धता	४. आतुर सिद्धता	२२५	१६. चारकोट विरेचन द्रव्य	२६०	२६. सुशुतोक्त विरेचन द्रव्य	२६०
२. प्रधानकर्म	१. आतुर परिचयी एवं निरीक्षण	२२६	१७. चारकोट विरेचन द्रव्य	२६१	२७. वाग्मटोक्त विरेचन द्रव्य	२६१
	२. मदनफलयोग का सेवन	२२७	१८. विरेचन के भेद	२६२	२८. विरेचन द्रव्यों का सामान्य परिचय दर्शन तालिका	२६२
	३. वमन वेगों का विनियोग एवं कर्तव्य	२२८	१९. विरेचन द्रव्यों का सामान्य परिचय दर्शन तालिका	२६३	२९. विरेचन योगायोगों का विचार अविच्य तालिका	२६३
	४. सम्प्रकृ-हीन तथा अतिवांत के लक्षणों का निरीक्षण तथा कर्तव्य	२२९	२०. विरेचन विधि विधान	२६४	३०. विरेचन विधि विधान	२६४
		२३०				

(A)

۱۰۵

11

प्रिष्ठ	कल्पनाशण के प्रकार	पृष्ठ
१. जलौकावचारण	जलौका परिचय	५०१
	सावध जलौकाएं	५०४
	निर्विष जलौकाएं	५०८
जलौकावचारण विधि	जलौका संग्रहण	५०७
१. पूर्व कर्म	१. जलौका संग्रहण	५०७
	तथा पोषण	५०९
२. जलौकावचारण	विधि जलौका साध्य	५१०
	आतुरों की परीक्षा	५१०
३. रक्तमालाण पूर्व	३. रक्तमालाण पूर्व	५११
	जलौका शोधन	५११
४. आतुर सिद्धता	४. आतुर सिद्धता	५११
२. प्रधानकर्म	२. प्रधानकर्म	५११
१. प्रयोग	१. प्रयोग	५११
२. निरीक्षण	२. निरीक्षण	५१२
३. पश्चात्कर्म	३. पश्चात्कर्म	५१२
१. जलौका का उपचार	१. जलौका का उपचार	५१२
२. आतुर का उपचार	२. आतुर का उपचार	५१३
३. जलौकावचारण में	३. जलौकावचारण में	५१३
अवधान	अवधान	५१४
२. सिराव्यध	२. सिराव्यध	५१५
सिराव्यधि	वेच्छावेच्छ सिराएं तालिका	५१५
	सिराव्यधि विधि	५१८
१. पूर्वकर्म	१. पूर्वकर्म	५१९
१. सिराव्यध योग्य	१. सिराव्यध योग्य	५२०
अयोग्य आतुरों का	अयोग्य आतुरों का	५२०
निचार	निचार	५२१
२. उपकरण सिद्धता	२. उपकरण सिद्धता	५२२
३. आतुर सिद्धता	३. आतुर सिद्धता	५२२
१. सिराव्यध में आसन	१. सिराव्यध में आसन	५२३
२. गोगानुसार वेच्छ	२. गोगानुसार वेच्छ	५२३
सिराओं का विचार	सिराओं का विचार	५२३

(vii)

क्रम	विषय	पृष्ठ	क्रम	विषय	पृष्ठ
३. सिरावेधन में निरीक्षण एवं उत्तरार	११. अष्टकट्वर तैल	५२६	११. गस्ता तैल	५६१	४१५
४. दुष्ट विद्धि सिराओं का निरीक्षण	१२. गस्ता तैल	५२८	१३. अस्थिमज्जा स्हेह प्रयोग	५६१	५१५
५. प्रश्नाकर्त्ता	१४. वेदनाहर तैल	५३०	१५. संधचार्दि तैल	५६१	५१६
१. उपद्रवों की चिकित्सा	१६. दशमूल तैल	५३०	१७. अश्वरांथा तैल	५६१	५१६
२. परिहार्य विषय	१८. वेदनाहर तैल	५३१	१९. कांजी वा कांजिक की कल्पना	५६१	५१७
३. शमनैरोधि चिकित्सा	२०. सुरा	५३१	२१. कांजी वा कांजिक की कल्पना	५६१	५१७
४. प्रश्नान विधि	२२. शुक्रत कल्पना	५३१	२२. कांजी वा कांजिक की कल्पना	५६१	५१८
५. शृंगावचारण विधि	२३. कांजी वा कांजिक की कल्पना	५३१	२३. कांजी वा कांजिक की कल्पना	५६१	५१९
६. अलावु अवचारण विधि	२४. त्रिकृष्णत, महारित	५३१	२४. त्रिकृष्णत, महारित	५६१	५१९
७. घटीयन अथवा घटिका प्रयोग	२५. पंचातिक धूत गुण्डल	५३२	२५. पंचातिक धूत गुण्डल	५६१	५११
८. सूचि आदि साधनों द्वारा रक्तमोक्षण	२६. महा खदिर धूत	५३४	२६. महा खदिर धूत	५६१	५११
सुश्लोक रोगानुस्तार रक्तमोक्षण का कार्यक्रम कठितप्रय रक्तमोक्षण सदर्भ नवम अस्थाय	२७. इंदुकांत धूत	५३५	२७. सारस्वत धूत	५६४	५११
उपकरणीय विज्ञान	२८. पंचात्य धूत	५३६	२८. पंचात्य धूत	५६४	५११
चरकनाम	२९. कल्याण धूत	५३६	२९. त्रिफला धूत	५६४	५११
१. श्वेषन की उपकरणाएं	३०. अश्वरांथादि धूत	५३६	३०. अश्वरांथादि धूत	५६४	५११
१. बला तैल अथवा धान्वन्तर तैल	३१. कल्याण धूत	५३६	३१. कल्याण धूत	५६४	५११
२. शीरबला, क्षीरबला शतपक्षी, क्षीरबला सहस्रपक्षी तैल	३२. विरेचन कथाय	५४९	३२. विरेचन कथाय	५६५	५११
३. सहस्र तैल	३३. बाल रेचन	५४९	३३. बाल रेचन	५६६	५११
४. प्रसारणी तैल	३४. गंधर्व हस्तादि कथाय	५५०	३४. गंधर्व हस्तादि कथाय	५६६	५११
५. नारायण तैल	३५. राजयापन वस्त्र कथाय	५५०	३५. राजयापन वस्त्र कथाय	५६६	५११
६. माष तैल	३६. फलवर्ति	५५०	३६. फलवर्ति	५६६	५११
७. विषगर्भ तैल	३७. आहार तथा पथ्य की उपकरणाएं	५५०	३७. आहार तथा पथ्य की उपकरणाएं	५६६	५११
८. चंदनबला लाक्षादि तैल	३८. मंडपेया विलेषी	५५१	३८. मंडपेया विलेषी	५६६	५११
९. पिंडतैल	३९. यूष निर्माण	५५१	३९. यूष निर्माण	५६७	५११
१०. शतपक्षी यथामध्य तैल	४०. कृत और अकृत यूष मासरस की कल्पना	५५१	४०. कृत और अकृत यूष मासरस की कल्पना	५६७	५११

(viii)

क्रम	पृष्ठ	क्रम	विषय	पृष्ठ	क्रम	विषय	पृष्ठ
१. सिरावेधन में निरीक्षण एवं उत्तरार	११. अष्टकट्वर तैल	५२६	५. प्रसारणी	५६१	४. प्रसारणी	५६१	५१५
४. दुष्ट विद्धि सिराओं का निरीक्षण	१२. गस्ता तैल	५२८	६. उज्जोतक	५६१	५. कृष्ण	५६१	५१६
५. प्रश्नाकर्त्ता	१३. अस्थिमज्जा स्हेह प्रयोग	५३१	७. भेषजसिद्ध जल	५६१	६. राजयक्षमा	५६१	५१६
१. उपद्रवों की चिकित्सा	१४. वेदनाहर तैल	५३०	८. मंथ	५६१	७. उत्तमाद	५६१	५१६
२. परिहार्य विषय	१५. संधचार्दि तैल	५३०	९. मीथु	५६१	८. अप्स्मार	५६१	५१७
३. शमनैरोधि चिकित्सा	१६. दशमूल तैल	५३०	१०. शुक्रत कल्पना	५६१	९. श्वयुथ (शोथ)	५६१	५१७
४. प्रश्नान विधि	१७. अश्वरांथा तैल	५३१	११. कांजी वा कांजिक की कल्पना	५६१	१०. उदर	५६१	५१८
५. शृंगावचारण विधि	१८. वेदनाहर तैल	५३१	१२. कांजी वा कांजिक की कल्पना	५६१	११. अर्श	५६१	५१९
६. अलावु अवचारण विधि	१९. कांजी वा कांजिक की कल्पना	५३१	१३. कांजी वा कांजिक की कल्पना	५६१	१२. ग्रहणी	५६०	५१९
७. घटीयन अथवा घटिका प्रयोग	२०. कांजी वा कांजिक की कल्पना	५३१	१४. कामला हलीमीक	५६०	१३. पांडु	५६०	५१९
८. सूचि आदि साधनों द्वारा रक्तमोक्षण	२१. त्रिकृष्णत, महारित पंचातिक धूत	५३१	१५. हिक्का श्वस	५६०	१६. कास	५६०	५१०
सुश्लोक रोगानुस्तार रक्तमोक्षण का कार्यक्रम कठितप्रय रक्तमोक्षण सदर्भ नवम अस्थाय	२२. इंदुकांत धूत	५३१	१७. अतिसार	५६१	१७. च्छाई	५६१	५११
उपकरणीय विज्ञान	२३. सारस्वत धूत	५४९	१८. तैल द्रोणी	५७५	१९. विसर्प	५७६	५०१
चरकनाम	२४. पंचात्य धूत	५४९	२०. धारा टेबल	५७१	२१. तृष्णा	५७१	५०२
१. श्वेषन की उपकरणाएं	२५. त्रिफला धूत	५४९	२१. गर्लंती	५७१	२२. विष	५७१	५०३
१. बला तैल अथवा धान्वन्तर तैल	२६. महा खदिर धूत	५४९	२२. शिरोबस्ति यंत्र	५७१	२३. द्विक्रीय	५८१	५०४
२. शीरबला, क्षीरबला शतपक्षी, क्षीरबला सहस्रपक्षी तैल	२७. कल्याण धूत	५४९	२३. बस्ति नेत्र	५८१	२४. विपर्मिय : उद्यवर्ती-मूरकृक्षूदि	५८१	५०४
३. सहस्र तैल	२८. विरेचन कथाय	५४९	२४. उत्तरवस्ति यंत्र एवं उपयोगी उपकरण	५८१	२५. उत्तरसंभ	५८१	५०७
४. प्रसारणी तैल	२९. बाल रेचन	५४९	२५. वमन पीठ	५८१	२६. वातव्याधि	५८१	५०७
५. नारायण तैल	३०. राजयापन वस्त्र कथाय	५५०	२६. नस्य पीठ	५८१	२७. वातरक्त	५८१	५०७
६. माष तैल	३१. जलोदारदि रस	५५०	२७. कुतारिका शब्द	५८१	२८. योनिव्याप्त	५८१	५०७
७. विषगर्भ तैल	३२. आरवध हीरीतकी फांट	५५०	२८. ब्रीहिमुख शब्द	५८१	२९. शुक्रदेव	५८१	५०१
८. चंदनबला लाक्षादि तैल	३३. विरेचन कथाय	५५१	२९. मान परिषापा	५८१	३०. स्तन्यदेष	५८१	५११
९. विषगर्भ तैल	३४. बाल रेचन	५५१	३०. दसम अस्थाय	५८१	३१. संदर्भ प्रश्नपूर्वी	५८१	५११
१०. चंदनबला लाक्षादि तैल	३५. गंधर्व हस्तादि कथाय	५५१	३१. प्रतिरोग-पंचकर्म विज्ञान	५९१	३२. आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान	५९१	५११
११. विषगर्भ तैल	३६. राजयापन वस्त्र कथाय	५५१	३२. प्रतिरोग-पंचकर्म विज्ञान	५९१	३३. आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान	५९१	५११
१२. आहार तथा पथ्य की उपकरणाएं	३७. फलवर्ति	५५०	३३. प्रतिरोग-पंचकर्म विज्ञान	५९१	३४. परिशिष्ट विज्ञान-३	६३३	५१४
१३. मंडपेया विलेषी	३८. यूष निर्माण	५५१	३४. परिशिष्ट विज्ञान-३	६३३	३५. गुल	५९४	५१४
१४. प्रसारणी तैल	३९. कृत और अकृत यूष मासरस की कल्पना	५५१	३५. शतापत्ती	५९१	३६. तस्पित	५९१	५११

(vii)

क्रम	पृष्ठ	क्रम	विषय	पृष्ठ	क्रम	विषय	पृष्ठ
१. सिरावेधन में निरीक्षण एवं उत्तरार	११. अष्टकट्वर तैल	५२६	५. प्रसारणी	५६१	४. प्रसारणी	५६१	५१५
४. दुष्ट विद्धि सिराओं का निरीक्षण	१२. गस्ता तैल	५२८	६. उज्जोतक	५६१	५. कृष्ण	५६१	५१६
५. प्रश्नाकर्त्ता	१३. अस्थिमज्जा स्हेह प्रयोग	५३१	७. भेषजसिद्ध जल	५६१	६. राजयक्षमा	५६१	५१६
१. उपद्रवों की चिकित्सा	१४. वेदनाहर तैल	५३०	८. मंथ	५६१	७. उत्तमाद	५६१	५१६
२. परिहार्य विषय	१५. संधचार्दि तैल	५३०	९. मीथु	५६१	८. अप्स्मार	५६१	५१७
३. शमनैरोधि चिकित्सा	१६. दशमूल तैल	५३०	१०. शुक्रत कल्पना	५६१	९. ग्रहणी	५६०	५१७
४. प्रश्नान विधि	१७. अश्वरांथा तैल	५३१	११. पांडु	५६०	१०. उदर	५६१	५१८
५. शृंगावचारण विधि	१८. वेदनाहर तैल	५३१	१२. यूष निर्माण	५६६	११. अर्श	५६१	५१९
६. अलावु अवचारण विधि	१९. कांजी वा कांजिक की कल्पना	५३१	१३. कृत और अकृत यूष मासरस की कल्पना	५६७	१२. ग्रहणी	५६१	५११
७. घटीयन अथवा घटिका प्रयोग	२०. कांजी वा कांजिक की कल्पना	५३१	१४. शतापत्ती यथा पथ्य की उपकरणाएं	५६१	१३. पिंडतैल	५६१	५११
८. सूचि आदि साधनों द्वारा रक्तमोक्षण	२१. त्रिकृष्णत, महारित पंचातिक धूत	५३१	१५. चंदनबला लाक्षादि तैल	५६१	१४. शतापत्ती यथा पथ्य की उपकरणाएं	५६१	५११
९. उपकरणीय विज्ञान	२२. इंदुकांत धूत	५४९	१६. पिंडतैल	५६१	१५. शतापत्ती यथा पथ्य की उपकरणाएं	५६१	५११
चरकनाम	२३. सारस्वत धूत	५४९	१७. गुल	५६१	१६. तस्पित	५९१	५११
१. श्वेषन की उपकरणाएं	२४. त्रिफला धूत	५४९	१७. यूष निर्माण	५६७	१७. गुल	५९१	५११
१. बला तैल अथवा धान्वन्तर तैल	२५. महा खदिर धूत	५४९	१८. कृत और अकृत यूष मासरस की कल्पना	५६७	१८. गुल	५९१	५११
२. शीरबला, क्षीरबला शतपक्षी, क्षीरबला सहस्रपक्षी तैल	२६. कल्याण धूत	५४९	१९. मासरस की कल्पना	५६७	१९. गुल	५९१	५११
३. सहस्र तैल	२७. विरेचन कथाय	५४९	२०. दसम अस्थाय	५८१	२०. दसम अस्थाय	५८१	५११
४. प्रसारणी तैल	२८. बाल रेचन	५४९	२१. फलवर्ति	५८१	२१. फलवर्ति	५८१	५११
५. नारायण तैल	२९. राजयापन वस्त्र कथाय	५५०	२२. आहार तथा पथ्य की उपकरणाएं	५८१	२२. आहार तथा पथ्य की उपकरणाएं	५९१	५११
६. माष तैल	३०. जलोदारदि रस	५५०	२३. आहार तथा पथ्य की उपकरणाएं	५९१	२३. आहार तथा पथ्य की उपकरणाएं	५९१	५११
७. व							

## प्रथम अध्याय

# चित्र- सूची

## विवरण

क्रम

१. समर्पण-श्रीधर शास्त्री कस्तुरेजी १
२. अध्याग-अवस्था क्रमांक ३
३. अध्याग-अवस्था क्रमांक २
४. अध्याग-अवस्था क्रमांक ३
५. अध्याग-अवस्था क्रमांक ४
६. अध्याग-अवस्था क्रमांक ५
७. शिरोधरा अवस्था
८. पष्टिकशाली मिंडस्वेद-एकाग
९. शिरोबेसि विषि
१०. बाष्पस्वेदन १
११. बाष्पस्वेदन २
१२. मिष्ठिल अथवा स्वेहधारा स्वेद
१३. बहित्र प्रगिधान
१४. नस्यविषि
१५. जलीका (अ)
१६. जलीका (ब)
१७. अभ्याग-टेबल
१८. बाष्पस्वेदन यन्त्र
१९. अवगाह कोष्ठक
२०. तैल द्रोणी
२१. धारा टेबल
२२. शिरोधरा पत्र
२३. उपकरणीय विज्ञान
२४. शिरोबासि यन्त्र
२५. बस्तिनेत्र
२६. विवेष यन्त्र शाल

## पृष्ठ संख्या

- ८०
- ८१
- ८२
- ८३
- ८४
- ८५
- ९५
- ९६
- ९७
- १०५
- १०६
- १०७
- १०८
- १०९
- ११०
- १११
- ११२
- ११३
- ११४
- ११५
- ११६
- ११७
- ११८
- ११९
- १२०
- १२१
- १२२
- १२३
- १२४
- १२५
- १२६
- १२७
- १२८
- १२९
- १३०
- १३१
- १३२
- १३३
- १३४
- १३५
- १३६
- १३७
- १३८
- १३९
- १४०
- १४१
- १४२
- १४३
- १४४
- १४५
- १४६
- १४७
- १४८
- १४९
- १५०
- १५१
- १५२
- १५३
- १५४
- १५५
- १५६
- १५७
- १५८
- १५९
- १६०
- १६१
- १६२
- १६३
- १६४
- १६५
- १६६
- १६७
- १६८
- १६९
- १७०
- १७१
- १७२
- १७३
- १७४
- १७५
- १७६
- १७७
- १७८
- १७९
- १८०
- १८१
- १८२
- १८३
- १८४
- १८५
- १८६
- १८७

## विषय प्रवेश-विज्ञान

### प्रथम प्रयोजन

आयुर्वेद शास्त्र में पंचकर्म चिकित्सा पद्धति का एक अतीव गौरवास्पद स्थान है। चिकित्सा के आठ अंगों में—काय, बाल, ग्रह, ऊर्ध्वाणि, शास्य, दंष्टा (विष), जरा (सातय) एवं बाजीकरण चिकित्सा त्रैयों में वैसे ही कायचिकित्सा का महत्वपूर्ण स्थान है और कायचिकित्सा साध्य रोगों में पंचकर्म एक प्रमुख साधनोपाय है। यह केवल कायचिकित्सा का एक अंग ही नहीं, प्रस्तुत चिकित्सा का एक स्वतंत्र विज्ञान है, ऐसा कहना अनुचित न होगा। उपर्युक्त सभी अंगों में पंचकर्म चिकित्सा को आगीकार किया गया है, यह आगे स्पष्ट किया है। अतः इसे केवल कायचिकित्सा का अंग समझना एक भूल होगी और उस विषय के गौरव को कम करना होगा। इस चिकित्सा पद्धति का वैज्ञानिक विवेचन यहीं “आयुर्वेदीय-पंचकर्म विज्ञान” नामक इस ग्रंथ का विषय है एवं योग्य पंचकर्म चिकित्सा, अन्वेषक, पाठक तथा अध्ययनकों को यष्ट्यावलम्बनरूप सहाय्यभूत होना इसका प्रयोजन है।

पंचकर्म चिकित्सा विषय में प्रवेश करने के पूर्व उच्छ त्रिलक्षण बातों को समझना अत्यंत आवश्यक है। क्योंकि पंचकर्म प्रयोग के बारे में दुर्देव से अनेक भ्रातीयों फैली हुई हैं और विकसक गणों में भी इस सद्यः फलप्रद, विरःस्वास्यात्मवृद्धिनी चिकित्सा का अपेक्षाकृत कम प्रचार है। इसमें चिकित्सा पद्धति का सम्यक ज्ञानभाव, दुष्टकर्मता का अभाव और संभवतः रोगी एवं वैद्य के मन में चिकित्सा पद्धति के बारे में भ्रातीयों ये कारण रहे हों। कुशलता वैद्य नहीं है जो सूत्रार्थ को बारबर जानता है, उनका प्रयोग करने में कुशल है, और जिसे आयुष्य का यथार्थ जान है। जो खुब पठन, श्रवण और मनन कर सकता है, प्रत्यक्ष कर्म का अभ्यास जिसने किया है, कार्य में दक्ष है, जो आचार में पवित्र है, जिसे पास हस्त-कौशल्य है, सर्व साधन समग्री है, जिसकी सभी इंद्रियां प्राकृत हैं, जिसे प्रकृति का ज्ञान है और समयानुसार कहां क्या करना चाहिये ऐसी प्रत्युत्तम त्रुद्धि है, वही वैद्य धारुसाम्यकारक चिकित्सा में सफल हो सकता है, ऐसे योग्य चिकित्सक के हुए एवं लक्षण शास्त्र में निर्देश किए गए हैं, वही चिकित्सा के अधिकारी हैं। अतएव इन गुणों को आत्मसात करना यह प्रत्येक विषय या भिषण त्रुभूष (विद्यार्थी) का कर्तव्य है और इसमें जो प्रयत्नशील है, वे इस पंचकर्म विज्ञान नामक ग्रन्थ के अधिकारी हैं।

## पंचकर्म का सामान्य परिचय

पंचकर्म क्या है? ये पांच ही क्यों हैं? पांच से कम या अधिक है या नहीं? इनका प्रयोजन, प्रयोग-विषय, क्षेत्र (scope) इत्यादि का विचार करेंगे। पंचकर्म शब्द में पञ्च और कर्म ये दो शब्द हैं, जिसका अर्थ है पांचकर्म। इनमें प्रथम 'कर्म' का विचार करें।

**कर्म विचार** — 'कु' धातु में 'मनिन्' प्रत्यय अधिकादि मूत्र से 'कर्म' शब्द बना है, जिसका अर्थ है कार्य। 'कर्तुः इमितम्', कर्तुः क्रिया आस्त्रिमिष्टतम् कर्मसंज्ञे स्यात्' ऐसा कहा गया है।<sup>१</sup> अर्थात् कर्ता को जो इष्ट कार्य है—वह कर्म कहलाता है यह सामान्य शब्दार्थ हुआ। आयुर्वेद में 'कर्म' को संदर्भ वशात् भिन्न अर्थ प्रयोग में उपयोग किया गया है। जिनमें से महत्वपूर्ण कठिप्रय प्रयोग निम्नलिखित प्रकार के हैं।

? देव या पौरीदिक कर्म<sup>२</sup>—एक 'कर्म' वह है, जो पौरीदिक कर्म देव के अर्थ में प्रयुक्त है। प्रत्येक उन्म में व्यक्तिज्ञ सुकृत या दुष्कृत करता है, उसके अनुसार अपर उन्म प्राप्त होता है। यह भारतीय संस्कृति की तात्त्विक परंपरा है और आयुर्वेद में भी अनेक रोगों के बिना कारण उत्पत्ति, अल्प कारण से महान रोग की उत्पत्ति, उल्त्र रोगों का यथा योग्य विकिता से प्रश्न न होना तथा कालांतर से कर्म क्षय के अनंतर उनका स्वयं प्रश्न, यह देखकर यह तत्त्वज्ञ कुछ मर्यादा तक स्थीकृत है। जो जो 'कर्म' पूर्वजन्म में किया जाता है वह देव है, और इस जन्म में जो किया जाता है वह कर्म 'पुरुषकर्म' है। उस कर्म के उत्तम, मध्यम तथा हीन ऐसे तीन प्रकार बलाबल से होते हैं। कर्म पाक तथा रोग का वित्तारपूर्वक विचार भी मनीषियों ने किया है।

? द्रव्य का कार्यार्थ वाचक 'कर्म'—कर्म शब्द का अन्यत्रोपयोग द्रव्य के कार्य के लिए किया गया है। द्रव्य अपने गुण प्रभाव से, द्रव्य प्रभाव से, या द्रव्यगुण प्रभाव से, जिस जिस काल में, जिस अधिष्ठान में, तो जो युक्ति के आश्रय से जो कुछ काम करता है उसे 'कर्म' कहते हैं।<sup>३</sup> इसमें द्रव्यों के यमन शोधनादि सभी कर्मों का समावेश होता है। यह कर्म का लक्षण खास कर 'कर्म' से देव अर्थ का निषेध करते के लिए किया बनता है।<sup>४</sup> कर्म का लक्षण खास कर 'कर्म' से देव अर्थ का निषेध करते के लिए, किया है। क्रक्कपणि कहते हैं, "अथ कर्म शब्देन वर्मनादीना तथाऽदृष्टस्य तथा क्रियायाश्च-भिधीयमानत्वात् कस्य कर्मणः इदं लक्षणं? इत्यत आह कर्तव्यस्प क्रिया कर्मेन्ति..।" एतेन क्रिया रूपस्य कर्मण इदं लक्षणं नादृष्टोऽः।<sup>५</sup> इससे कर्म का और एक अर्थ स्पष्ट है।

? 'प्रयत्न' अर्थ में कर्म—आयुर्वेदवर्तरण समझाते हुए चरक ने कहा है कि दीर्घ जीवन की इच्छावाले ऋषियों ने जानकार्य से यथावत् आयुर्वेद के विषयों को देखा। कौन-कौन विषयों को? ये विषय हैं—सामान्य, विशेष, गुण द्रव्य, कर्म और समवाय।<sup>६</sup> इन छः पदार्थों का यथार्थ ज्ञान उनको प्राप्त हुआ। ये आयुर्वेद के प्रसिद्ध छः पदार्थ हैं जिनका तंत्र में विस्तार किया गया है। इस कर्म की व्याख्या 'प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते' ऐसी की है। प्रयत्न का अर्थ है प्रयास, चेष्टा। इस प्रयत्न में गुवाहिद गुणों द्वारा संस्कार, अश्यासादि गुणों द्वारा जो जो चेष्टावें की जाती हैं वे सब समाविष्ट हैं। प्रणियों के कार्य

व्यापार को देशा कहा है। इस चेष्टा से सभी कर्मों का बोध होते हुए भी चक्रपणि वर्मनादि कर्म का निषेध कर अन्य प्राणि व्यापार की 'कर्म' कहते हैं। जिसमें संकोच प्रसारण, उल्केण, अपक्षेण इत्यादि इसी 'प्रयत्न' अर्थ के चरकोक्त पर्याय शब्दों से प्रस्तुत ग्रंथेवत् 'कर्म' का भी अर्थ सिद्ध होता है। वह इस प्रकार है।

४. चिकित्सा अर्थ में 'कर्म' शब्द कार्य करने के लिए जो कुछ किया जाता है उसे प्रवृत्ति कहते हैं। उसे ही किया कर्म यल कार्य समारंभ ये पर्याय हैं। इस प्रवृत्ति को 'प्रतिकर्म समारंभ' ऐसा कहते हैं। प्रति कर्म का अर्थ है चिकित्सा और केवल 'कर्म' शब्द को भी चिकित्सा अर्थ में प्रयुक्त किया है।<sup>७</sup> 'प्रवृत्ति' या कार्य समारंभ या चिकित्सा यह चिकित्सा में कार्य कारण, कार्यफल, अनुबंध देश, काल इत्यादि अत्यावश्यक प्रकरणों में से एक है। चिकित्सा वह है जो शास्त्रासाय करती है और पुनः धातुवैषम्य कैसे न हो इसका उपाय दर्शाती है। सुश्रूत ने इसे 'क्रिया' शब्द से कहकर तदंतात च्छाद्यादि कर्म तथा स्नेहादि कर्म ऐसे दो भेद किये हैं। और स्नेहादि में आदि शब्द से डलण ने/स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, अस्थापन, धूप, नस्य, कवल ग्रह, गंडूष तथा दीपन पाचनादि संशमनादि क्रिया का ग्रहण करते हैं। यह चिकित्सार्थ वाचक 'कर्म' ही 'पंचकर्म' में वक्तव्य कर्म है जिसका आगे विशद वर्णन किया है।

## 'पञ्च' का विचार

पञ्च का अर्थ है पाँच। पाँच ही क्यों? कुछ कम या अधिक क्यों नहीं? ये प्रश्न निर्थक हैं। प्रथक्कार अपने विषय चयन पद्धति के अनुसार विषय को शिव्य-भिन्न पद्धति से समझाते रहते हैं। आयुर्वेद में संख्या कह कर विवरण करता है एक खास पद्धति है। उदाहरण—रोग वर्णन में अष्टोदरीय अध्याय में चरक ने संख्या को प्राधान्य देकर विवरण दिया है। आठ संख्यावाले रोग उदर, मूत्रावात, क्षीरदेश, रजोदेश, सात प्रकारवाले—कुष्ठ, पिङ्का, विसर्प, छः प्रकारवाले रोग उदर, मूत्रावात, क्षीरदेश, रजोदेश, ल्लीहा, कास, श्वास, हिङ्का, दृष्णा, च्छद्मि, शिरोरोग, हृदयागादि। इसी तरह चार कौन से हैं, तीन संख्या में कौन से हैं, दो कौन से हैं और एक कौनसा है? ऐसा संख्या प्राधान्य देकर विचार किया है।<sup>८</sup> संख्या की दृष्टि से दोष ३, धातु ७, मल ३, अग्नि १३, महाभूत पाच, पाच पंचक, छः रस, विरेचन ६०० कल्प (षड् विरेचन शताश्रीय), आयुर्वेद के आठ अंग, शरीर के षडंग इत्यादि प्रकार का वर्णन किया गया है। ये विषय वक्ता और प्रकरण संदर्भ से निश्चित होते हैं। अतः कर्म में भी पांच ही क्यों? यह प्रश्न नहीं हो सकता। इसका उत्तर है—'बस ऐसा ही है।' यह हमारा स्वशान्ति सिद्धांत है। वे पांच कर्म कौन से हैं यह प्रश्न हो सकता है। पांच कर्म नहीं हो सकता। संख्या में कुछ मांलवाले आस्तिकवादी आग्रह रखते हैं।—जैसे पंचायतन, पंच परमेश्वर में हैं—और जिसका आस्तिकवादी आग्रह रखते हैं।

'पंचकर्म' ऐसा शब्द प्रयोग चरक ने ही बाहुल्य से प्रयोग किया है। सुश्रूत और वाग्भट ने इस शब्द पर आग्रह नहीं रखा है। चरक के टीकाकार चक्रपणि, सुश्रूत के टीकाकार डलण और वाग्भट के टीकाकार अरुणदत, हेमादि इहोंने 'पंचकर्म' शब्द का पंचायतन कर्मण द्वारा समर्थित किया है। पंचकर्म विषयों का वर्णन तो सभी पचास मूल पर समर्थितण में जाहं-ताहं किया है।

संहिताओं में हैं किंतु 'पंचकर्म' ऐसा नाम देकर विशेष विवरण चालक ने ही स्पष्ट किया है। संहिता के कातिपय संदर्भ इस दृष्टि से यहां उद्धृत किये जाते हैं।

### चरक संहिता

१. सूत्र स्थान के द्वितीय अध्याय में जिसका नाम अपामार्ग तंडुलीय है—आरंभ में पंच कमार्गभूत द्रव्यों का वर्णन कर अंत में कहते हैं कि—जिसके दोष उल्लिखण्ठ दुर्ग हों उसे न्यो, स्वेद कराकर, नात्रा और काल को ध्यान में रख 'पंचकर्म' करावे।<sup>१०</sup> इस अध्याय के उपसंहार में अध्यायोक्त्र विषयों को समेटते हुए कहा है कि इस अध्याय में 'पंचकर्म' विषय के औषधियों का विवरण किया है।<sup>११</sup> यहां चक्रवाणि ने वर्मनादि कर्मों में यह सज्जा निर्धारित की है। वे कहते हैं कि प्रथम अध्याय में दीर्घ जीवितीय में मूलिनी, फलिनी ऐसे द्रव्य पंचकर्म के लिए बताए हैं इसके अतिरिक्त और भी पंचकर्मार्गभूत द्रव्य हैं, जिनको यहां स्पष्ट किया है। वैसे ही प्रथम अध्याय में वहां पर 'पंचकर्म' विषय से वे द्रव्य नहीं बताए, अतः यहां पंचकर्म प्रवृत्ति विषय के साथ उनका अधिधान किया है।<sup>१२</sup>

२. ऋतुचर्याध्याय में जिसका नाम 'तस्याशितीय' है—ऋतु के अनुसार शोधन समझौते हुए वसंत ऋतु में 'वर्मनादि' 'कर्म' करने को कहा है। यहां दोष संबंध और पंचकर्म प्रवृत्ति के अनुसार ऋतु का प्रावृद्धादि कर्म है और वसंत—फलुन चैत्र में न किंवशाख में यह 'पंचकर्म' विषयानुसार निर्दिष्ट किया है।<sup>१३</sup>

३. सूत्रस्थान के २८ अध्याय 'विविधाशितीय' नामक में सज्ज, रक्तज, मांसज, मेदोज, अस्तिथज, मज्जाजन्य और युक्तज व्याधियों का वर्णन किया है। वहां 'अस्तिथ' के आस्राय से रहनवाले व्याधियों में 'पंचकर्म' करना चाहिए ऐसा निर्देश है।<sup>१४</sup>

४. सूत्रस्थान के २८वें अध्याय में 'दश प्राणयतनीय' में वैद्य के प्राणाभिसर और करते हैं और तद्विवरित रोगाभिसर वे हैं—जो प्राणों को नष्ट कर गोंगों की रक्षा करते हैं। प्राणाभिसर का लक्षण देते हुए कहते हैं कि 'पंचकर्माश्रय' औषधियों का सम्पर्क प्रयोग करनेवाले प्राणाभिसर होते हैं।<sup>१५</sup>

५. चिकित्सा स्थान में अनेक जगह 'पंचकर्म' शब्द प्रयोग का उल्लेख मिलता है। अपस्मार चिकित्सा में 'कर्मभर्मनादिभि', 'चिकित्सा सूत्र दिया है। उमाद में संसर्जन क्रम के साथ सभी 'वर्मनादिभि' कर्म निर्दिष्ट हैं। रक्तस्थ दूषिषिव चिकित्सा में सिरा से रक्तमोक्षण और 'पंचकर्म' करने को कहा है।<sup>१६</sup> उरुसंभ चिकित्सा (चि. अ. २७) के प्रारंभ में अनिवेश के द्वारा जिसका बताइ है कि 'पंचकर्म' चिकित्सा पृथक्-पृथक् तथा समस्त रूप से भी अनेक रोगों की चिकित्सा में बताइ है। अब यह बताइए कि क्या दोषज ऐसा कोई रोग है जिसमें पंचकर्म न करें। इसके उत्तर में कहा है कि—'उरुसंभ' ऐसा रोग है जिसमें यह चिकित्सा नहीं की जा सकती।<sup>१७</sup> इत्यादि।

६. सिद्धस्थान के प्रथम 'कर्त्यना सिद्धि' के अध्याय में 'का कर्त्यना' 'पंचकर्मसूक्ता क्रमशः कः ?' ऐसी प्रश्नमालिका देकर पंचकर्म विषयों का क्रमशः विवरण दिया है।

७. सिद्धस्थान के द्वितीय अध्याय का नाम ही पंचकर्माया 'सिद्धि' रखा गया है और इस अध्याय में अत्यंत विस्तारपूर्वक पंचकर्म विषयों को स्पष्ट किया है।

यद्यपि शब्द में एक साथ 'पंचकर्म' ऐसा स्पष्ट न कहा हो, फिर भी पंचकर्म विषयों का चरक के जैसा ही विस्तारपूर्वक वर्णन दिया गया है। सुश्रुत ने मधुमेह चिकित्सा अध्याय में कहा है कि पंचकर्म चिकित्सा के द्वारा ठीक करने योग्य न हो ऐसे मधुमेह के इन योगों करे।<sup>१८</sup> यहां डल्हण ने 'पंचकर्म' पर टीका में वर्मनादि पात्र कर्म ऐसा एक अर्थ और पूर्व संशेपन, अध्यांग, गुग्गुलु प्रयोग शिलाजतु प्रयोग ये पात्र कर्म ऐसा दूसरा अर्थ और पूर्व रूप में करने का कर्म, संगत व्याधि, रक्तात व्याधि, मासगत व्याधि और मेदोगत व्याधि में करने के उपाय से पात्र कर्म ऐसा तीसरा अर्थ, ऐसे तीन व्याख्यान किए हैं।<sup>१९</sup> इनमें प्रथम युक्तियुक्त है यद्यपि डल्हण इसे अंगीकार नहीं करते। सुश्रुत सूत्रस्थान का ३८वा प्रथम युक्तियुक्त है यद्यपि डल्हण इसे अंगीकार नहीं करते। सुश्रुत सूत्रस्थान का ३८वा अध्याय संशोधन संशोधनीय नामक है जिसमें डल्हण ने 'पंचकर्म' शब्द स्पष्ट किया है—वे कहते हैं कि इस अध्याय में दोष प्रत्यनीक पंचकर्मायोग्यों शोधन द्रव्यों का तथा वातादि संशोधन द्रव्यों का वर्णन किया है।<sup>२०</sup> एवं अन्य द्रव्य हैं।

वाभट ने आषांग हृदय में 'सिराव्याधिविधि' अध्याय में कहा है कि जिसने अभी स्नेह पिया है, जिसका 'पंचकर्म' पूर्ण कर दिया हो उसका सिरा द्वारा रक्तमोक्षण न करे।<sup>२१</sup> यहां मूल में 'पंचकर्म' ऐसा निर्देश है। टीका में अरुणदत्त ने यहां वर्मनादि पंचकर्म ऐसा स्पष्टर्थ किया है। वैसे ही नस्याध्याय के प्रारंभ में अरुणदत्त ने कहा है कि पंचकर्म के प्रस्ताव में वर्मन, विरेचन, निरुह अनुवासन कहकर अब नस्य कह रहे हैं।<sup>२२</sup> इस तरह कुछ संदर्भ मिलते हैं।

### 'पंचकर्म' का सामान्य विवरण

चरक ने जिन पांच कर्मों का 'पंचकर्म' के अंतर्गत समावेश किया है, वे ये हैं—

१. वर्मन,

२. विरेचन,

३. निरुह-आस्थापन,

४. अनुवासन,

५. शिरोविरेचन या नस्य।

इन्हीं को आगे शारीर्धर और भावप्रकाश ने पंचकर्म को मान्यता में लिया है।<sup>२३</sup>

चरक ने इनको पंचकर्म कहा है इस विधान में निमोक्त संदर्भ है।

१. अपामार्ग तंडुलीय अध्याय में पीछे जिसका संकेत किया है—क्रमशः नस्य वर्मन, विरेचन, निरुह और अनुवासन के उपयोगी द्रव्यों का निर्देश किया और अंत में कहा गया है कि वे पंचकर्मायोग्यों द्रव्य हैं।

२. सिद्धस्थान का द्वितीय अध्याय 'पंचकर्माया सिद्धि' नामक है जिसमें पंचकर्म विकसको करना चाहिये इत्यादि सांगोपांग विवार किया है। इस अध्याय में प्रथम पंचकर्म कह दिये हैं। इस विधि से अध्याय चर्चा है, जिसमें स्पष्ट है कि इन दोनों के बीच

का विषय पंचकर्म होगा। यहां भी वर्णा, विरेचन, निरूह, अनुवासन और नस्य इनको पंचकर्म कहता है।

३. सिद्धिश्वान के प्रथम अध्याय में 'कल्पना सिद्धि' में पंचकर्म का क्रम दिया है। पहले स्वेहन और स्वेदन कर, पश्चात् वर्मन, विरेच, अनुवासन, निरूह और नस्य करने का क्रम यहां साफ़ किया गया है। यहीं पंचकर्म का क्रम है न कि अपार्मा तंडुलियोक्त शिरोविरेचनादि क्रम। चक्रपाणि ने टीका की है कि पंचकर्म के अंगत्वरूप ही स्वेहन और स्वेदन का वर्णन किया है और वर्मनादि पाँच का ही प्रधान कर्म में बोध होता है। स्वेहन और स्वेदन में निर्हण शक्तिका प्रकर्ष न होने से और पंचकर्म में दोष निर्हण प्रधान है। अतः पंचकर्म में उनका समावेश नहीं होगा। स्वयं चरक ने भी स्वेद स्वेद को पूर्वकर्म कहा है और वर्मनादि कर्म के पहले स्वेहन और स्वेदन करने का तथा वर्मनादि कर्म के बाद भी स्वेहन करने का निर्देश किया है।<sup>१४</sup>

यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अनुवासन भी तो निर्हण करने में प्रधान नहीं है। बल्कि बुंदण प्रभाव ही प्रसिद्ध है। पिछ अनुवासन को पंचकर्म में किस तरह समाविष्ट किया गया? इसी तरह नेत्रांजन, गंदूष, निष्ठाव और कण्ठाधारण, आश्चर्योत्तन, नेत्र तर्पण आदि में भी दोष निर्हण किया जाता है। फिर शोधन प्राधान्य से उहैं भी पंचकर्म में समाविष्ट कर यह संख्या क्यों न बढ़ा दी जाये? इसका उत्तर यह है कि अनुवासन यद्यपि बुंदण प्रधान है, तथापि पक्वाशयस्थ प्रभूत पुरीष का निर्हण करता ही है। निष्ठीवन, नेत्रांजनादि में इतनी शोधन करतव्यता नहीं है। अतः उनमें 'पंचकर्मत्व' बोधन नहीं होता। इस तरह उत्तरबस्ति में स्नेह का प्रयोग प्रधानतः होते हुए भी 'स्नेह बस्ति' के अंतर्गत लेकर 'पंकज' शब्दवत् उसे पंचकर्म में रुद्ध समझना चाहिए।<sup>१५</sup> नेत्रांजन निष्ठीवनादि को अनातिशोधनकारकत्व से पंचकर्म बाहर है ऐसा टीकाकार कहते हैं। इस द्वाटि से 'मूरुल' और शिथियां जो प्रभूत मात्रा में 'मूरुशोधन' करती हैं—उनका पंचकर्म में समावेश हो सकता है या नहीं। मूरुल का आश्चर्यतर पर्येग है और इनमें कर्म (Process) का प्राधान्य नहीं है—ऐसा कहा जाये तो भी ठीक नहीं। क्योंकि वर्मन—और विरेचन में भी औषधि सेवन का ही प्राधान्य है और कर्म प्राधान्य (Process) का विचार यदि उपरोक्त हो तो शालाकावचारण कर मूरुनिर्हण जहां किया जाता है, वहां कर्म प्राधान्यता से समावेश होगा? यहां उत्तर यह है कि वर्मन और विरेचन में शोधन के साथ दोष व्यवस्था संबद्ध है। पंचकर्म को 'दोष प्रत्यनिक प्रयत्न' कहा है। मूरु निर्हण में रुका हुआ मूरु निकाला जाता है, वहां दोष व्यवस्था नहीं है। वैसे ही मूरु निर्हण प्रक्रिया के आधार पर यदि कर्म व्यवस्था हो तो आध्यान में प्रयुक्त 'पत्रवर्त्ति' भी 'कर्म' (Process) के अंतर्गत आ सकेगी। इस तरह दीपन, पाचन, स्तन्य, शोधन, शुक्र शोधन, विरेचन आदि सभी को समाविष्ट करना होगा जिसमें स्थानिक कुछ मर्यादितक शोधन होता ही है। अतएव उन कर्मों का जिनका समावेश किया गया है उनको 'पंचकर्म' संज्ञा रुद्ध ही समझना चाहिए।

शुश्रुत—मूरुशृत ने कर्म तीन प्रकार का कहा है। एक है पूर्वकर्म, दूसरा है प्रधान कर्म और तीसरा है पश्चात्कर्म।<sup>१६</sup> प्रधानकर्म के पहले और बाद में जो किया जाता है उसे क्रमशः पूर्वकर्म और पश्चात् कर्म कहते हैं। इनका विस्तार डल्हण ने निचे लिखे हुए प्रकार से किया है।

? प्रथम मत यह है कि लंघनादि विरेचक पर्यान अथवा लंघन, पाचन, दीपन,

स्वेहन, स्वेदन, वर्मन, विरेचन ये पूर्वकर्म हैं और वर्ण का पाटन, रोपणादि ये प्रधान कर्म हैं तथा बल, वर्ण अन्ति को बढ़ाने की चिकित्सा ये पश्चात्कर्म हैं।<sup>१७</sup>

२. द्वितीय मतानुसार—दोषों का संचय, प्रकोष, प्रसर, स्थान संश्रय होता है और पूर्व स्थूलोत्पत्ति होती है। उस प्रत्येक अवस्था में योग्य उपाय—पूर्व कर्म और सोरोत्पत्ति के बाद में किया जानेवाला उपाय प्रधान कर्म है और रोगोत्पत्ति के बाद पुनरुद्धरण न होने के लिए जो उपाय किया जाता है वह पश्चात्कर्म है।<sup>१८</sup>

प्रथम मत में पश्चात्कर्म प्राधान्यता को ध्यान में रखकर किया गया है। द्वितीय मत में सभी रोगों के अनुसार विभाजन किया है अतः ये दोनों प्रस्तुत अप्रयोग्य हैं।

३. तृतीय मतानुसार—शोधन के पूर्वकर्म पाचन, स्वेहन और स्वेदन ये तीन पूर्वकर्म हैं। वर्मन, विरेचन, बस्ति, नस्य और शुक्रमोक्ष (खक्तमोक्षण) ये प्रधान कर्म हैं, और पेया, विलेपी, यूषादि अब द्वारा संसर्जन कर्म यह पश्चात्कर्म है।

प्रस्तुत गंथ के विषय में यही मत ग्राह है और पंचकर्म का प्रायशः शोधन्तव्य त्रिस्तुत है अतः यह व्याख्या उचित है। इस मत का विशेषता यह है कि इसमें 'बस्ति' शब्द निवापक दोनों बस्तियों का ग्रहण कर रक्तमोक्षण को समाविष्ट किया है—जिसको आगे विशद करेंगे।

वाराघट ने अष्टांग हृदय में यही मत ग्राह है और पंचकर्म है, ऐसा उल्लेख नहीं किया है तथापि अरुणदत्त ने कर्मों का उल्लेख किया है। वाराघट ने पांच प्रकार के शोधन निर्दिष्ट किए हैं जिसका नामः पंचकर्म विषयत्व है, तथापि वे शोधन मात्र हैं। इस संदर्भ की चर्चा आगे की है।

पंचकर्म और शोधन—उपर्युक्त संदर्भों से यह स्पष्ट होता है कि आचार्यों ने 'पंचकर्म' का उल्लेख वारंवार शोधन के उल्लेख से किया है और प्रभूत शोधन कर्मों का इसमें समावेश किया है, अत्यं शोधनवाले उपाय समाविष्ट नहीं किये तथापि प्रश्न यह है कि क्या पंचकर्म के बाल शोधन मात्र ही है? इसका शास्त्रीय उत्तर यह है कि पंचकर्म प्रायशः शोधन है, केवल शोधन मात्र नहीं। क्योंकि वक्ष्यमाण निरूह, नस्य, इनमें भी बुंदण बस्ति, गुण्हण नस्य, ऐसे भेद हैं। अनुवासन का प्रायशः बुंदणत्व प्रसिद्ध है। बस्ति में शमन बस्ति है, लेखन नस्य है। अतः 'पंचकर्म' के कर्म केवल शोधन नहीं अपितु प्रायशः शोधन है, और यह एक व्यापक चिकित्सा पद्धति है। चरक ने भी शोधन वर्णन में अनुवासन छोड़कर शेष चार की शोधन माना है।<sup>१९</sup> इसका अर्थ उनमें शोधन कर्म है, केवल शोधन नहीं। पिछ शोधन में भी बल्य, रसायनादि गुण होते ही हैं।

पंचकर्म का विस्तार—पूर्वकर्म, प्रधान कर्म और पश्चात्कर्मनिःसार पंचकर्म विषयों का निष्ठय करने के उपरांत, यह पंचकर्म का क्षेत्र विस्तार (scope) का विचार किया जाता है। सर्वप्रथम यह प्रश्न है कि पंचकर्म यदि शोधन प्रधान है तो रक्तमोक्षण का इसमें समावेश क्यों नहीं किया गया? चरक ने तो स्पष्टतः पांचकर्म गिनाना है। सुश्रुतवाराघटने भी कहीं रक्तमोक्षण का 'पंचकर्म' में उल्लेख नहीं किया। नेत्रांजन, गंदूषादि प्रभूत शोधन का अभाव है, किंतु रक्तमोक्षण में शोधन की भूमिका है। इसे समाविष्ट न करने के निम्नोक्त कारण हो सकते हैं।

१. कार्य चिकित्सा प्रधान मन्थों में रक्तमोक्षण को शाल्य प्रधान समझकर महत्व न हिंदा हो।

२. आयुर्वेद के मुख्य सिद्धांतनुसार मुख से प्रयुक्त औषधि आमाशय के रोगों को, गुद से प्रयुक्त औषधि पक्वाशय के रोगों को और नासा में प्रयुक्त औषधि ऊर्ध्वजुगत रोगों को दूर करती है।<sup>३</sup> स्थान समीप से औषधि प्रयोग और निर्हरण करना उचित है। इस तरह आमाशय के लिए वर्मन और विरेचन, पक्वाशय के लिए विरेचन और बास्ति, उत्तमांग के लिए नस्य, योनी, गर्भाशय और मूत्राशय के लिए उत्तरबास्ति के कर्म तत्त्व सिद्धांत में बैठते हैं। इनमें प्राकृत स्रोतों द्वारा शोधन होता है। रक्तमोक्षण में ऐसा प्राकृत क्रोत नहीं है। कृत्रिम मार्ग करना पड़ता है।

३. वर्मन, विरेचनादि में दोष व्यवस्था है। कफ के लिए वर्मन पित के लिए उपचार और वात के लिए बस्ति ये प्रधान चिकित्सा है।<sup>४</sup> रक्तमोक्षण यह रक्त के लिए समाय भेद नहीं कर सकते। जब कि वर्मनादि में दुष्ट दोषों का निर्हरण सदैव होता है।

उपर्युक्त तीन मनों का युग्म विचार करें। प्रथम भेद है यह कि चरकादियों का दृष्टिकोण कायाचिकित्सा प्रधान है और रक्तमोक्षण शल्योपाय होने से उल्लेख न करना। इसमें यह स्पष्ट सिद्ध है कि नस्य भी शिरोरोग में और ऊर्ध्व ज़ुगत रोगों में फैनस, गलशालूक, तिमिर, वर्तमारोग, उपाधिक्रिका मुखरोग, कण्ठशूल, अक्षिशूल इत्यादि शालाक्य रोगों में प्रयुक्त है, फिर उसकी उल्लेख क्यों किया? बास्तु-जुल्म, भगदर, ब्रज इत्यादि शल्य रोगों में प्रयुक्त है। इसी तरह रक्तमोक्षण भी ज्लीहा, यकृत, गुद्रसी, विश्वाची, ज्वर, प्रवाहिका इत्यादि कायाचिकित्सा के रोगों में प्रयुक्त है। किसी कर्म की विशेष रोग में विशेषता हो सकती है, लेकिन यह विशेषता तो हीरीकी, सुण्ठी, आमलकी, आरावधि, शिलाजटु, लोह, ताप्र आदि इव्यों में भी है। अतः इनका तंत्रनुसार भेद नहीं हो सकता। यह भी स्मर्तव्य है कि चरक ने विस्तारपूर्वक रक्तमोक्षण का सभेद वर्णन किया है।

मार्गसमीप्य और प्राकृति मार्ग का विचार भी ऐसा ही उत्तियुक्त है। रक्त के लिए लक्षण छिद्र (स्रोत) से प्राकृत मार्ग और समीपवर्ति मार्ग हो जाते हैं। इन छिद्रों के द्वारा आलेपनादि इव्यों का शोषण शाजक पित करता है। दोष व्यवस्था के भेद में औचित्य जरूर है तथापि रक्तमोक्षण में पित का शोषण आप्याश्रयी भाव से होता है और दुष्ट रक्त की भी व्यवस्था है। रक्त के साथ पित का अल्पशः ही त्वचण होता है यह कहा जाते हो उचित नहीं है। क्योंकि नस्य में त्वचित कफ और उदक थातु, विरेचन में शोषित पदार्थों में पित और पुरीष, जस्ति द्वारा शुद्ध—वात मल में भी प्रमाण के अनुसार ऐसी ही व्यवस्था है।

अतएव रक्तमोक्षण को पाँचवाँ कर्म माना उचित है। ऐसा प्रतीत होता है। फिर सुशुत और नाभाट ने इसका शोधन में उल्लेख किया ही है। जिससे प्रायः शोधन पचकर्म में इसका समावेश युक्तियुक्त है और बस्ति शब्द से निरूल्ह और अनुवासन दोनों का शोध होता है, जिससे रक्तमोक्षण का समावेश करने पर संख्यातिवर्तन नहीं होता। जिनका यह आग्रह है कि निरूल्ह और अनुवासन में कमवैशिष्ट्य से पृथक्कर्तव्य अवश्य है— उनको 'उत्तरबास्ति' का पचकर्म समावेश नहीं समझा रहें। संक्षेप में 'पंचकर्म' विचार में

प्रयोगक्त सिद्धांत को बाधा न पहुँचाते हुए रक्तमोक्षण का समावेश किया जा सकता है। इस ग्रंथ के वर्ण विषयों में १. वर्मन, २. विरेचन, ३. बस्ति, ४. नस्य, ५. रक्तमोक्षण इनका विवरण किया जायेगा।

### १. दूर्बलकर्म—पूर्वकर्म तीन हैं।

#### १. वाचन

#### २. स्नेहन और

#### ३. स्वेदन। इनमें से

१. वाचन—यह आम वाचन औषधियों से किया जाता है और दीपन पाचन औषधियों का प्रयोग ग्रंथोंके प्रकार से किया जाना चाहिए। पाचनार्थ पेया, चूर्ण, न्वाथ, वटी आदि का यथायोग्य प्रयोग करें।

२. स्नेहन—स्नेहन के दो प्रकार हैं। आध्यात्म और बाह्य। पाचनार्थ स्नेहन के दो प्रकार का है। फिर स्थावर, जागाम दो प्रकार का है। फिर कार्मक भेद में अनेक प्रकार है। विचारण में ओदन, मांसस, चूपादि अनेक प्रकार हैं।

३. स्वेदन—स्वेद प्रथम अनन्ति और अनन्ति (सानि) ऐसे दो प्रकार का है। अनन्ति स्वेद व्यायाम, उषा सद्न, गुरु प्रावरण लुधा बहुयान, भय, क्रोध, उपनाह, आह व (मुष्टियुद्ध) आतपभेद से इस प्रकार है। सानि स्वेद ताप, उपनाह, उषा और द्रवस्वेद भेद से मुख्य चार प्रकार का है, जिसमें अनेक उपभेद हैं।

२. प्रधानकर्म—वर्मन, विरेचन, बस्ति, नस्य और रक्तमोक्षण ये पांच प्रधानकर्म हैं।

१. वर्मन—ऊर्ध्व मार्ग (मुख) से दोष निर्हरण वर्मन कहलाता है। वह कार्मक भेद से प्रवर, मध्य-अवर कहा जा सकता है।

#### २. विरेचन—अधोमार्ग से दोष निर्हरण विरेचन कहलाता है जो औषधियों मान का भेदन और रेचन ऐसा चार प्रकार का है।

३. बस्ति—प्राणियों के मूत्राशय को बस्ति (Urinary bladder) कहते हैं। बस्ति की सहायता से औषधि क्वात्रथ, तैलादि इव्योंका गुद से पक्वाशय में पहुँचाना बस्ति कहलाता है। यह विधि भी मार्ग भेद से गुद से पक्वाशय यानि और अप्रत्याप्त से गर्भाशय गत और मूल मार्ग से मूत्राशय गत ऐसे तीन प्रकार की है। फिर इव्यों भेद से निरूल्ह और अनुवासन ऐसे दो क्रषय बस्ति भी कहते हैं। निरूल्ह बस्ति भी शोधन, लोखन, उल्लेशन, बृहण, शमन, सप्ताहन, वाजीकरण इत्यादि कार्मकाता से अनेक प्रकार की है। निरूल्ह में त्वचित कायाकरण का प्रयोग किया जाता है। यह भी स्नेह बस्ति, अनुवासन बस्ति और मात्राबस्ति ऐसी यात्रा नुसार लिविध है।

'उत्तरबास्ति' संज्ञा उत्तर मार्ग से दी जाने के कारण दी जाती है। उत्तर का अर्थ यहाँ गुद में उत्तरवर्ति मार्ग यानी द्वारा योनि ऐसा होता है। उत्तर बस्ति में भी निरूल्ह और अनुवासन दो भेद हैं।

४. नस्य—या शिरोविंचन नासा में प्रविट औपथि प्रयोग का नाम है। नस्य के मुख तीन घेद हैं।

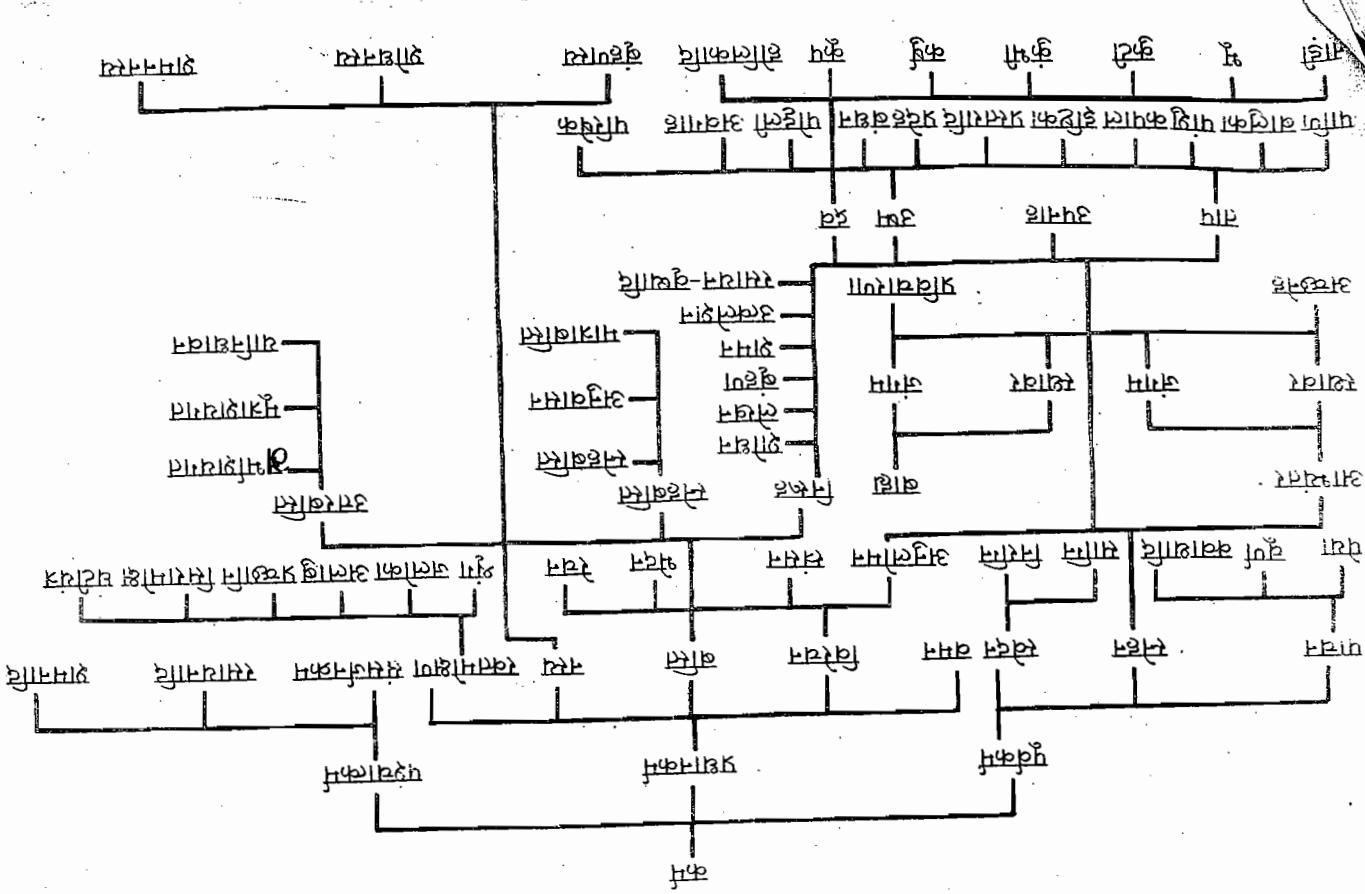
१. विरेचन या रेचन,
२. बुँहण (वा). इसे चारक ने तर्पण कहा है।
३. शमन ये कार्यक भेद हैं। दानविधि से नावन, प्रथमन, मर्श, प्रतिमर्श, धूम और अवपीड़नादि प्रकार होते हैं।
४. ग्रस्तमोक्षण—शरीरस्थ रक्त का निर्हण ग्रस्तमोक्षण कहलाता है। इसे 'अन्नविस्तुति' ऐसा पर्याय है। ग्रस्तमोक्षण के छः प्रकार का उपाय हैं।

१. शूणा प्रयोग,
२. जलौकावचारण,
३. अलाडु प्रयोग,
४. प्रच्छन प्रयोग,
५. शिरमोक्षण या शिरा व्यथा,
६. घटीयंत्र का प्रयोग
७. संसर्जन क्रम—वर्मनादि के बाद आमाशयस्थ अनिमांय के कारण प्राकृत आहार का सेवन अहितकर होता है। अतः अग्निबल वर्धनार्थे प्रयोग, विलेपी, अकृत युष, कृत युष, अकृत मांस रस, कृत मांस रस और फिर प्राकृत भोजन इस क्रम से शर्णः शर्णः भोजन दिया जाता है उसे संसर्जन क्रम कहते हैं।
८. संसर्जन क्रम—यदि रसायन-वार्जीकरण प्रयोग के लिए शोधनोदृश से पंचकर्म किया गया हो तो तदनंतर रसायन वार्जीकरण प्रयोग करना यह उसका 'पश्चात्कर्म' होगा।

३. शमन-प्रयोग—जिस रोग की शोधन चिकित्सा की है, उसकी शामन चिकित्सा बाद में करनी चाहिये। यह तीसरा पश्चात्कर्म है। इस ग्रन्थ में प्रत्येक कर्म का वैज्ञानिक विवेचन किया है। पश्चात्कर्म प्रथान कर्म से संलग्न होने से उसका विवेचन तत्तद अध्याय से ही किया है।

### 'पंचकर्म चिकित्सा' का मूलस्रोत

चिकित्सा पद्धति का एक वैशिष्ठ्यपूर्ण आविष्कार इस स्वरूप में पंचकर्म को स्वतंत्र पद्धति भाग लेने पर अब यह आवश्यक होगा कि इसका मूल स्रोत कहा से है यह देखें। इस चिकित्सा का आगाम-उद्भव चिकित्सा के किन प्रकारणों के संदर्भ से हुआ है? प्रायः पंचकर्म के संदर्भ में वारभट का प्रसिद्ध संदर्भ जो उपक्रम्य पर आशारित है, दिया जाता है तथापि यह उचित नहीं है। वारभट ने चिकित्सा पुष्ट-उपक्रम्य-आहुर को दो प्रकार का मानकर चिकित्सा भी दो प्रकार की निर्दिष्ट की है। एक है संतप्तण और दूसरी है अपतप्तण। बुँहण और लंघन ये दोनों इसके पर्याय माने हैं।<sup>३८</sup> वारभट आग्रह रखते हैं कि आहुर वा या तो कर्षण करना पड़ता है या तर्पण। अपने समर्थन में भौतिक सिद्धांत का उल्लेख करते कहते हैं कि महाधूत दो प्रकार के स्वावावाले हैं। अग्नि, वायु और आकाश से कर्षण या नंधन करनेवाले महाधूत हैं और पृथ्वी तथा जल ये बुँहण करनेवाले हैं। अतएव



तंत्रांतरकृत (चरक) जो लक्षण, स्नेहन, स्वेदन-संभन्न और लंघन बृहण से चिकित्सा प्रकार हैं तो इन दो प्रकार के अंतर्गत ही समाविष्ट हैं<sup>३५</sup>। इनका समावेश होता है या नहीं और लंघन-बृहण क्रमशः अपतर्ण-संतर्पण के परिय ही सकते हैं या नहीं इसकी विशद चर्चा आगे की है। प्रस्तुत पंचकर्म संदर्भ में इसका विचार करें।

वार्षट ने अपतर्णण या लंघन को दो में (शोधन और वमन में) विभक्त किया है। शमन के दीपन, पाचन, शुष्ठि, रुषा, व्यायाम आतपसेवन और बायु सेवन ये सात प्रकार होते हैं।<sup>३६</sup> इसी की पंचकर्म का संदर्भ बताया जाता है तथापि यह उक्तियुक्त नहीं है क्योंकि इनमें पंचकर्म के सभी कार्यक्रम का समावेश नहीं होता और युद्ध वार्षट के मिथ्यांत से भी बदलत्वाधात होता है। देखिए—प्रथम लंघन और बृहण में चिकित्सा विभक्त होने से लंघन यह आधी चिकित्सा हुई। फिर लंघन के शोधन और शमन दो प्रकार में एक एक में विभिन्नता का चर्तुर्थांश हुआ। इसमें पंचकर्मों का चिकित्सा के चर्तुर्थांश में केवल शोधन रहा और केवल लंघन तथा शमन रहा अनिवार्य हुआ। फिर नस्य के बृहण-शमन-तर्पण भेदों का, बस्ति के शमन, बृहण, रसायन, दुर्घ भेदों का इसमें समाहार नहीं हो सकता। पुनः वार्षट ने 'निरुह' ऐसे नामतः निर्देश किया है—जिससे अत्युवासन, उत्तरबस्ति का भी समाहार नहीं होता। वार्षट और सुश्रुत ने भी बस्ति तथा नस्य प्रकारण में तत्त्व येद और कार्यक्रम तो मानी ही है। अतः स्मृत है कि यही वार्षट ने केवल 'शोधन' को ही संदर्भ दिया है न कि पंचकर्म का। पंचकर्मका विषयों को आगे सूत्रस्थान के सोलहवें अध्याय में बीसवें अध्याय तक तथा सत्ताईसवें अध्याय में विस्तारशः वर्णन किया है। जिसमें पंचकर्म का लंघन बृहणत दोनों सिद्ध हैं। सुश्रुत ने क्रिया को (चिकित्सा को) न्हेहादि क्रिया और छ्येयादि क्रिया ऐसे दो भागों में विभक्त किया है और सुश्रुत के इस संदर्भ से 'स्नेहादि क्रिया' प्रकार में पंचकर्म का मूलस्रोत देखा जा सकता है।

चरक के अनुसार चिकित्सा के जो मूल उपक्रम है उनमें इस पद्धति का मूल स्रोत है। चरक ने उपक्रमों को छः प्रकार में विभक्त किया है। सूत्रस्थान के २२वें अध्याय 'लंघन बृहणीद' नामक में इनका वर्णन किया है। लंघन, बृहण, रुक्षण, स्नेहन, स्वेदन और स्तंभन ये चिकित्सा के छः उपक्रम हैं, इनको जो अच्छी तरह से जानता है वही वास्तव में विषय या वैद्य कहलाता है।<sup>३७</sup> इनका समावेश वार्षटोक्त के दो प्रकार में नहीं हो सकता। क्योंकि इनमें सूक्ष्म येद है। जिनको 'स्नातक' बनकर तुरन्त चिकित्सा जात में प्रवेश करना हो, उनके लिए चिकित्सा के स्थूल भाग से लंघन, बृहण दो येद पर्याप्त हैं। जिनको चिकित्सा में नैपुण्य-पारंगता-वैशिष्ट्य प्राप्त करना हो उनको (कायचिकित्सा तत्त्व) छः भेदों का अध्ययन जरूरी है। जैसे कायचिकित्सा में विशिष्ट स्थान के वरण उपक्रमों के ज्ञान से चल सकता है<sup>३८</sup>, किन्तु नास्य विज्ञों को सुश्रुत के ६० प्रकार के क्रण उपक्रमों का ज्ञान आवश्यक नहीं है,<sup>३९</sup> वैसे ही यहाँ समझना चाहिए। वार्षट ने काय-और शास्त्र अंगों का समाहार की संक्षेपता के उद्देश्य से उपक्रमों को क्रम किया है, लेकिन इनमें सैद्धान्तिक और प्रत्यक्ष भी अन्तर होता है। संतर्पण वह है जिसमें सम्बन्ध

तर्पण किया जाता है। तुसिकारकता यह तर्पण का अर्थ है<sup>४०</sup> और बृहण वह है जो 'बृहत्य' उत्पन्न करता है,<sup>४१</sup> अर्थात् शारीर धातु के अपुओं को आकार से बड़ा करनेवाली चिकित्सा बृहण है और स्स रक्तादि धातु के पोषण घटकों को तावनात्र प्रमाण में जिससे धातु की तुसिं हो देना संतर्पण है। संतर्पण में रक्ष संतर्पण भी किया जाता है। चरक ने रक्ष संतर्पण का—सक्तु का उल्लेख किया है।<sup>४२</sup> इसी तरह मधुर, अस्त्र स्स के कुछ मध्य भी रक्ष हीकर संतर्पण करते हैं। इस तरह बृहण कभी भी रक्ष नहीं हो सकता। बृहण से विशेषतः मास, मेद का अधिक बृहत्व होता है, जहाँ संतर्पण यह स्स, रक्त, मास, मेद, अस्थिमज्जा एवं शुक्र के लिए अलग-अलग प्रकार का होता है। मास मेद के तर्पण करनेवाले पदार्थ बृहण के अंतर्गत आ सकते हैं, लेकिन इससे सभी संतर्पण का बृहण में समावेश नहीं हो सकता। संतर्पण में वात, पूत्र, मल, कफ, पित के अनुलोमन, तर्पण, मूत्रक्षेत्र तर्पण, मध्यविकासुत तर्पण इत्यादि अनेक प्रकार हैं—जिससे इसका कार्य मल और दोषों पर भी स्पष्ट है,<sup>४३</sup> किन्तु बृहण यह केवल धातु बृहण ही है। अतएव चरक ने लंघन बृहणीय स्पष्टता के अतिरिक्त स्वतंत्रतात्या 'संतर्पणीय' नामक (स्मृ. २३) अध्याय की रचना की है। इसी तरह लंघन और अपतर्पण भी एक नहीं हो सकते। लंघन से लुधाता-काश्य होगा—और अपतर्पण से भी होगा, किन्तु अपतर्पण से हमेशा काश्वर्त अवश्य नहीं है। स्मादि धातुओं में जो अधिक तत्व है उनको निकाल देना अपतर्पण होगा किन्तु उससे लंघन होना जरूरी नहीं है। मास, मेद-अस्थि-संधि मज्जा दुष्टि में तिक्त धूत का प्रयोग अपतर्पण होता है किन्तु लंघन नहीं होता। लंघन का मुख्य प्रभाव मेद पर होता है। संतर्पणशात् गद्य पद्धति से कभी लंघन अपतर्पण, बृहण संतर्पण का कहीं-कहीं छूट से प्रयोग किया हो तो भी उससे उसका पर्याय न समझे। लंघन बृहणादि के अर्थ चरक के तत्त्व प्रकारण में निर्दिष्ट संदर्भ में ही लेना चाहिए। लंघन, स्तंभन और स्नेहन इनमें तो क्रिया वैशिष्ट्य ही। रुक्षण से लंघन हो सकता है लेकिन हमेशा होना जरूरी नहीं है। लेप, प्रदेह, उद्धर्मां में प्रयुक्त रुक्षण तो सर्वथा पृथक ही है। अतः छः उपक्रम ये अपने विशिष्ट स्थान के गोरवास्पद उपक्रम हैं। उनको क्रम करने का प्रस्त ही नहीं है। बाल्कि सूक्ष्म अध्ययन का इनको और विकसित स्वरूप में समझना चाहिए। यहाँ वार्षटोक्त द्विविधोपक्रम की चूनता बताने का उद्देश्य नहीं है। स्नातकों को जहाँ भीड़वाले आतुरालय में काम करना हो, सामान्य दैनिक रोगों की चिकित्सा करनी हो वहाँ केवल दो उपक्रमों का विचार करने से चल सकता है, इतना ही यहाँ मनव्य है और स्नेहन बृहणादि का समावेश दो में होता है—यह वार्षट जो कहते हैं, वह इसी उद्देश्य से कि सामान्य व्याधियों में इन दो को प्रयोग करते समय स्वयं हिले कि प्रक्रम मिलता है तथापि जोगों को छः उपक्रमों का क्षेत्र, प्रयोग कौशल्य और उद्दर्क (उत्तरकालीन फल) का यथोचित ज्ञान आवश्यक है।

उपक्रम के इन छः प्रक्रमों में ही पंचकर्म चिकित्सा पद्धति का मूल स्रोत (Source) है। लंघन में पूर्वोक्त पाचन तथा वमन, विरेचन, निरुह के कुछ प्रकार, नस्य के कुछ प्रकार, पश्चात्कर्म के पेया, विलेपी इत्यादि और शमनोषधि प्रयोगों का समावेश होता है। बृहण में—बृहणबस्ति, बृहण नस्य, स्सायन बस्ति इत्यादि का स्वेच्छा और स्वेदों को

पृथक् उपक्रमों में गिना ही है और रुक्षण में रुक्षण बस्ति, वमन, विरेचन, नस्य के प्रकारों का तथा स्तंभन बस्ति और स्तंभन नस्यादि का समावेश होता है।

**सप्तराश—षड्क्रक्षम** ये चिकित्सा के मूल भौद हैं और उनके साथन 'पंचकर्म पद्धति' हो सकते हैं। अतः इन मूलस्रोतों से ही 'पंचकर्म' का आविष्कार हुआ है।

### पंचकर्म प्रयोग विषय

पंचकर्म प्रययः शोधन है। जब शोधन की दृष्टि से प्रयोग करना हो तब शोधन के सामान्य सिद्धान्त व्याधि। शोधन के सामान्य सिद्धान्त होते हैं।

१. दोष—बहुदोष, मध्यदोष और हीनदोष ऐसी तीन अवस्थाओं में होता है। इसमें बहुदोष हो तब शोधन करना चाहिए। मध्यदोष में व्यायाम, दीपन, पाचन चिकित्सा और हीनदोष में लंघन चिकित्सा करें। इनके लक्षण निमोक्त प्रकार के हैं।

(अ) बहुदोष के लक्षण—अविष्वारक, अरुचि, स्थील्य, पांडुता, गौरव, क्लस, पिडका, काठ, कंडु, संभ, अराति, आलस्य, श्रम, दौर्बल्य, दोर्घन्त्य, अवसाद, कफोत्क्लेश, पितोत्क्लेश, निद्रानाश, अतिनिद्रा, तंद्रा, क्लैव्य, अबुद्धि, अप्रशस्त स्वानों का दर्शन, बलनाश, वणनाश, अतिपूष्ट शरीर ये बहुदोष के लक्षण हैं।<sup>५०</sup> इनमें संशोधन हितकर होता है। ये सामान्य लक्षण हैं। रोगानुसार चिक्क-भिक्क अवस्था में चिक्क-भिक्क लक्षण उत्पन्न होते हैं। उनको ठीक तरह देखकर शोधन करना चाहिए। जैसे पल्लव (किंदर या तालाब में) अधिक जल संचय होते हैं पर उसका दंड तोड़ जल को बहाना यही उपाय होता है, जैसे ही दोषाधिक्य में शोधन उपाय ही करना आवश्यक होता है।<sup>५१</sup>

(आ) जो मध्यबल युक्त दोष है उनमें व्यायाम, आतपसेवन, वायुसेवन, पाचन इस तरह लंघन पाचन चिकित्सा करती चाहिए।<sup>५२</sup> जिनके काफ और पित का उत्तेज हुआ हैं, च्छिद्दि, अतिसार, हृद्देश, विषुचिका, अलसक ज्वर, विबंध, गौरव, उद्दार, अरुचि, हल्लास ये लक्षण विद्वाई देते हों, उनमें पाचन करना चाहिए।<sup>५३</sup> पाचन यह एक पूर्वकर्म है। अतः इन गोरों में पाचन का विचार किया है। लंघन और पाचन से मध्य बल युक्त दोष उसी तरह प्रशमित होते हैं जैसे केदार या तालाब में मध्यम प्रमाण में जल संचय होने पर सूर्य किरणों का ताप और बाहर से मिट्टी इत्यादि डालने से पानी सूख जाता है।<sup>५४</sup>

(ई) जहाँ दोषबल हीन या अल्प हो कहाँ केवल लंघन, उपवास, तुष्णा को रोकना इत्यादि उपाय से शांति होती है। जैसे केदार या तालाब में अल्प जल संचय होने पर केवल सूर्य संताप से ही जल सूख जाता है वैसे ही यहाँ उपवासादि लंघन काम करते हैं।<sup>५५</sup>

इस तरह त्वचा के गोण, प्रमेह, अतिस्तिथ शरीरवाले अधिष्ठिती, बृहित शरीरवाले, रोगियों में एवं शिशिर ऋतु में तथा वात विकारों में लंघन करना चाहिए।<sup>५०</sup>

२. बहुदोष में सामावक्षा में शोधन का उपाय—जब दोषों का बहुल्य हो और दोष 'सामेन संयुक्त' हो सर्व शरीर में दोष प्रसूत हो वहाँ तत्काल शोधन नहीं कर सकते। साम दोष, शरीरस्थ रस, रक्तादि धातु में लीन होकर ऐसे चिक्क कर रहते हैं कि कच्चे फल में उनका रस रहता है। ऐसी स्थिति में शोधन करने से अनुलिलाइट दोष रस, रक्तादि आश्रय का नाश कर वैसे ही अल्प प्रमाण में चावित होते हैं जैसे कच्चे फल का सम

निकालने की कोशिश करते पर फल का नाश होकर सब अल्प प्रमाण में ही निकलता है।<sup>५६</sup> इसलिए साम और सर्व शरीर प्रसूत दोषों में पहले पाचन, दीपन, स्वेदन और स्वेदन करना चाहिए। और दोष शिथित होने पर शोधन का प्रयोग करना चाहिए।<sup>५७</sup> अतएव प्रायः देखा जाता है कि जहाँ आशुकारी व्याधि है, लक्षणों के सर्व संपूर्ण प्रकर्ष से उपस्थित प्रायः देखा जाता है कि जहाँ किया जाता। बल्कि दीपन पाचनवाली दवाइयां बरती जाती हैं, वहाँ प्रायः शोधन नहीं किया जाता। बल्कि दीपन शुत देना चाहिए ऐसा श्लोकार्थ करते हैं। कोई विद्वान् दीपन युक्त धूत देना चाहिए ऐसा श्लोकार्थ करते हैं।

### संशोधनाहों में भी संशोधन कब न करें ?

१. अनपवाद प्रतिकारी—जो आतुर वैद्य वचन का पालन न करता हो उसका शोधन करना नहीं चाहिए।<sup>५८</sup>

२. अनपवाद प्रतिकारी—जो आतुर वैद्य वचन के लिए पर्याप्त धून करना न करे ऐसे आतुर वैद्य को अपयश देते हैं।

३. अपरिचारकवाले—जिनके पास परिचारक न हो, उनकी शोधनोन्तर उचित देखभाल नहीं हो सकती। इसलिए अपयश धून और परिचारक के लिए शोधन के लिए प्रयोग करने के अभाव में कोई न हो तो उसकी चिकित्सा न करें। यह देखा जाता है कि उचित धून के लिए ग्रक्षिया लीन में ही छोड़ देनी पड़ती है। अतएव यह धनी राजसदुष्कृतों की चिकित्सा कही गई है।

४. वैद्यमानी—जो वैद्यवत् का वृथाभिमान करते हैं वे भी कहे हुए आदेश का ठीक तरह से पालन नहीं करते अतः वे भी पंचकर्म के योग्य होते हुए भी त्वाज्ज्वर है। यहाँ 'सद्दैवेय' का तो चिकित्सा योग्यत्व सिद्ध होता है।

५. चंद—अति पराक्रमी और साहस करने की प्रबल इच्छा मन में उत्तर इनका मन त्थिर नहीं होता। कभी भी कोई साहस करने की प्रबल इच्छा मन में उत्तर होती है और उचित काल तक वे शांत नहीं रह सकते।

६. अमस्यूक—जो दूसरों से द्वेष करते हैं, जराजरा से बात पर बिगड़ जाते हैं, अतः व्याप युक्त इस चिकित्सा में त्वाज्ज्वर है।

७. तीव्र धमारालिकवाले—धर्म में जिनकी तीव्र अकाचि है, उनकी चिकित्सा करना पाप है ऐसा चरक कहते हैं। यहाँ अमुक एक धर्म में अलूचि ऐसा नहीं कहा है। जो जिस धर्म को मानते हैं वे उसमें रह सकते हैं, यह एक उदार चित्त मंस्तुकता का दर्शक है। यहाँ दूसरा अर्थ हम पंचकर्म में तीव्र अनिच्छा है, उनकी चिकित्सा जबरदस्ती से न करें। बहुत से आतुर, वमन, विरेचन, बस्ति इत्यादि के लिए धर्य से, जबरदस्ती से न करें। लज्जा से आत्म किसी कारण से तीव्र अनिच्छा बताते हैं। उनमें इन कर्मों का आप्रह लज्जा से, या अन्य किसी कारण से तीव्र अनिच्छा बताते हैं। उनमें इन कर्मों का आप्रह न रखें।

८. अति क्षीण बल मांस रक्तवाले रोगी—जिनका बल, मांस और रक्त का अत्यधिक मात्रा में क्षय हुआ है उनका शोधन न करें। वे अत्यंत दौर्बल्य से कर्म क्षोभ को सहन नहीं कर सकते।

९. असाध्य रोग से बीड़ित—जिनको ऐसा रोग है जिसे असाध्य समझा गया है, उनका भी पंचकर्म न करें।

१०. मुमुर्झिलगान्त्रित—जिनमें मृत्यु सूचक लक्षण उत्पन्न हुए हैं, ऐसे अरिष्ट या मुमुर्झिलगान्त्रितों की चिकित्सा न करें। क्योंकि इनमें मरण निश्चित है। अप्यश क्षीणों पाल लेवे।

उपर्युक्त सभी इस प्रकार के लोगों में पंचकर्म चिकित्सा या, शमन चिकित्सा या कोई भी चिकित्सा न करने का चरक का मन्त्रव्य है। क्योंकि ये वैद्य की दुष्कृति और अप्यश में कारण होते हैं।<sup>१५</sup>

### पंचकर्म प्रयोजन

पंचकर्म जिन जिन हेतुओं से किया गया है, वह प्रोयजनवता निम्नलिखित प्रकार से तीन में विभक्त है।

१. स्वस्थ मनुष्यों में पंचकर्म।
२. स्वाच्यनादि असाधारण गुण प्राप्ति के लिए पंचकर्म।
३. रोगानुसार पंचकर्म।

१. स्वस्थ मनुष्यों में पंचकर्म—स्वस्थों में पंचकर्म के तीन प्रयोजन बताए जा सकते हैं।

१. दिनचर्या में
२. ऋतुचर्या में और
३. वेगवरोधादि जन्य आवश्यिक लक्षणों में।

१. दिनचर्या में पंचकर्म—दिनचर्या प्रकारणानुसार प्रतिदिन अध्यंग, उद्धर्तम, शिर पर तैल रखना (मूँछिन तैल निवेषण) नस्य, ये कर्म नित्य विहित हैं। नस्य का घेद प्रतिमर्ण नस्य है जिसको आगे नस्य प्रकरण में स्पष्ट किया है—दिन में भिन्न-भिन्न काल में सेवन योग्य है। प्रातः नीद से उठने के बाद दस्तावन के बाद पर से बाहर जाते समय, व्यायाम के बाद, व्यवाय के बाद, मार्ग क्रमण के बाद मूत्रविसर्ग, मलविसर्ग के बाद, अंजन के बाद तथा शोजन के बाद, दिन में सोकर उठने के बाद, ऐसे दिन के प्रत्येक कार्यक्रम के बाद लेने योग्य है और वह स्वास्थ्य को बढ़ाता है। वैसी ही मात्रा बत्ति भी नित्य सेवनीय है, सेहन के कार्यपूरण, नासापूरण, शिरपर पिछु धारणादि में नित्य सेव्य हैं।

२. ऋतुचर्या में पंचकर्म—आचार्यों ने काल ज्ञो आत्मनकाल और विसर्गकाल ऐसे ही भागों में विभक्त किया है। आदानकाल में सूर्य प्रभाव से शरीर का बल कम होता है और विसर्गकाल में बल बढ़ता है। ये दोनों काल या संबत्तर पुनः छः ऋतु में भिन्न हैं। अथवा एक ऋतु दो दो महीने तक होती है। ऋतु का वर्णन उन उन दिनों के वर्ष, शैत्य, उष्णता, बायु, जल, अत्र तथा औषधि द्रव्यों का प्रकर्ष, दोषों के वर्य

प्रकर्षोपादि विषय, शरीर बल, अन्न बल इनकी सापेक्षता से किया गया है। प्रत्येक ऋतु में स्वास्थ्य रक्षण हेतु जिस प्रकार का आहार, विहार करना चाहिए, उस विचार को ऋतुचर्या कहते हैं। ऋतुचर्या में पंचकर्म के कुछ कर्मों का खास महत्व है। इनका विचार करने के पूर्व ऋतुओं के नाम तथा उनके मास और तत् संबंधित सिद्धांतों का यह स्थीकरण अवश्यक है। ऋतुचर्णन में चरक में ही दो वैध प्रकार का वर्णन है। यह वर्णन तीन जगह आया है। सूत्रस्थान के छठे अध्याय में (तस्याशितीय में) ऋतुचर्या वर्णित है। यहूँ उत्तराध्यण (आदानकाल) के शिशिरादि ग्रीष्मांत और दक्षिणाध्यण के वर्षादि हेमांत (विसर्गकाल) ऐसे क्रम से ऋतु दिए हैं। अर्थात् उत्तराध्यण में या आदानकाल में शिशिर, वसंत, ग्रीष्म यह क्रम हैं और दक्षिणाध्यण में या विसर्गकाल में वर्षा, शारद, हेमांत यह क्रम है।<sup>१६</sup> वार्षट ने इनी का आगे अनुसरण किया है। दूसरा वर्णन विमानस्थान के आठवें अध्याय में है। यहाँ पर हेमांत, ग्रीष्म और वर्षा इनको क्रमशः: (अति) शीतकाल, उष्णकाल और वर्षा का काल कहा है और इनके बीच साधारणकालवाले क्रमशः: प्रावृद्ध शारद और वसंत, ग्रीष्म यह क्रम हैं। तस्यात् वर्षा ऋतु है। शारद श्रावण वर्षा हेमांत के पूर्व और वसंत ऋतु ग्रीष्म के पूर्व का है। इस तरह यहाँ प्रावृद्ध, वर्षा, शारद, हेमांत, वसंत और ग्रीष्म यह ऋतु क्रम है जिसमें शिशिर छोड़ दिया है। तीसरा वर्णन सिद्ध स्थान के छठे अध्याय में है। यहाँ प्रावृद्ध ऋतु के आषाढ़ श्रावण, याम, शारद ऋतु के कालिक मार्गशीर्ष मास, वसंत ऋतु के फाल्गुन चैत्र मास गिनाए हैं और संसोधन के योग्य ऋतु कहे हैं।<sup>१७</sup>

इन सब पर टीका करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि विमान स्थान दर्वे में और सिद्ध स्थान छठे अध्याय का यह वर्णन शोधनानुकूलता के अनुसार ही किया गया है, न कि पारमार्थिक दृष्टि से। यहाँ शिशिरादि क्रम नहीं है। कुछ लोग गंगा के दक्षिण तीर पर प्रावृद्धादि क्रम और उत्तर तीर पर शिशिरादि क्रम मानते हैं, क्योंकि गंगा के दक्षिण तीर पर जलवृष्टि अधिक है और वहाँ वर्षादि क्रम होता है तथापि यहाँ चरक को वह अभिप्रैत नहीं है। वह पारमार्थिक क्रम होता है। सुश्रुत ने और वार्षट ने प्रत्येक ऋतु को मास और क्रम स्पष्टतः नित्य है। ऋतु और मास को नीचे तालिका में स्पष्ट किया जाता है।<sup>१८</sup> स्वस्थ वृतों में तो शिशिरादि क्रम ग्राह्य है।

### तालिका

क्र.	ऋतुमान	चरक	सुश्रुत	वार्षट
१	वर्षा	भाद्रपद आश्विन	भाद्रपद आश्विन	श्रावण भाद्रपद
२	. श्राद	कार्तिक मार्गशीर्ष	कार्तिक मार्गशीर्ष	आश्विन कार्तिक
३	हेमांत	पौष माघ	पौष माघ	मार्गशीर्ष माघ
४	शिशिर	*	*	माघ मार्गशीर्ष
५	वसंत	फाल्गुन चैत्र	फाल्गुन चैत्र	चैत्र वैशाख
६	ग्रीष्म	वैशाख ज्येष्ठ	वैशाख ज्येष्ठ	ज्येष्ठ आषाढ़
७	प्रावृद्ध	आषाढ़ श्रावण	आषाढ़ श्रावण	—

\*चरक एवं सुश्रुत ने प्रावृद्धादि क्रम में शिशिर को नोड़ दिया है।

शोधन की दृष्टि से आषाढ़, श्रावण, कार्तिक, मार्गशीर्ष, फल्गुन और चैत्र ये उत्तम मास हैं। इसी तरह चैत्र, श्रावण और मार्गशीर्ष इनमें हमेशा शोधन करना चाहिये। इनके पूर्ववर्ति महीनों में अथर्त फल्गुन, आषाढ़, कार्तिक इनमें योग रीति से दोष संचय नहीं होता अतएव शोधन ठीक नहीं होता।<sup>१६</sup> क्रतुवर्य में जिस जिस ऋतु में जो कर्म पचकर्म की दृष्टि से अपेक्षित है उनको नीचे स्पष्ट किया जाता है।

## हेमत ऋतु में—

१. अऽयंग
२. उत्सादन
३. मूर्धा तैल
४. जेंताक स्वेद
५. आतप स्वेद
६. भ्रगिगृह (उण स्वेद) इनका उपयोग

सुखवाह होता है।

**बसंत ऋतु में—** कफ का संचय और प्रकोप होता है और अनिमांद्य में अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। अतः कफ जयार्थ कमन और तीक्ष्ण विरेचन केरा चाहिए। यदि कफ का उत्कर्त्त्व हो तो कमन पित संसृष्ट कफ हो तो तीक्ष्ण विरेचन करावें। यह आदान का मध्यकाल है। अतः वातपित प्रकोप हो तो विरेचन और आस्थापन, अनुवासन भी करना चाहिए और कफ के लिए नस्य तो देना ही चाहिए।<sup>१०</sup>

**शरद ऋतु में—** पित का प्रकोप होता है। तिक्तघृत का पान कराकर विरेचन करावें तथा पुनः तिक्तघृत पान कराकर रक्तमोक्षण करावें।<sup>११</sup> शरद ऋतु में वसादि द्वेषह वर्जन है। क्षयोक केवल पित में घृत और वसा ये स्नेह नहीं दिये जाते तथापि तिक्तघृत पुनः शोधनोदेश्य से देना हानिकर नहीं है।

**शिशिर ऋतु में—** हेमत के समान विधि है। अधिक शैत्य के कारण अधिक रुक्षता उत्पन्न होती है। अतः अऽयंगादि तथा अधिक उत्त्वागृह का सेवन करें। वर्षा ऋतु में वात प्रकोप होता है। वात के शोधन के लिए बस्ति परम चिकित्सा है।

इस तरह यह ऋतु के अनुसार पचकर्म प्रयोजन की रूपरेखा है।

**३. वेगावरोधादि जन्म आवश्यिक लक्षणों में पचकर्म—**मल मूर्त्तादि प्राकृतवेगों का स्वस्थ वृत्त में बहुत पहचत है। मूर्त्तवेग, पुरीवेग, वातविरास का वेग, शुक्रविसर्प वेग, उलटी का वेग, क्षवर्ण (छिक्का), उद्गार वेग, जूँभा (जंभाई) वेग, क्षुधा वेग, पिपासा वेग, वाष (अञ्जु) वेग, निद्रावेग और श्रमश्वस ये तेरह वेग हैं जिसका धारण न करें। इनका रोगोत्पत्ति में इतना बड़ा महत्व है कि वाभृत ने इन वेगों को धारण न करने का उपदेश जिस अध्यय में दिया है उसे 'रोगानुसादीनीय' अध्याय नाम दिया है। अथात् रोग उत्पन्न न हो, ऐसी इच्छा रखनेवालों को चाहिए कि वे वेगों को धारण न करें। वाभृत ने अशुद्धवेग जिसे कहा है, उसे चरक ने 'वाष' कहा है और वाभृत के श्रमश्वस को निश्वास कहा है। इन वेगों का, बहुत बार अनिवार्यतया धारण करना पड़ता है। सभा में, प्रवास में, मलमूत्रादि वेगों को, दुःखावेग श्रेष्ठत्व से दुखा का, इच्छादि प्रकार से अधारणीय वेगों को निद्रा का काल एवं आर्थिक स्थिति से दुखा का, इच्छादि प्रकार से अधारणीय वेगों को धारण करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। वेगावरोध बांबार करने से रोगोत्पत्ति होती है किन्तु आवस्थिक ढंग से कभी वेगावरोध हो तो लक्षणोत्पत्ति होते हैं। रोगोत्पत्ति में तत्त्व चिकित्सा का महत्व है किन्तु जब वेगावरोधादि से लक्षणोत्पत्ति होते हैं।

**४. वेगावरोधादि जन्म आवश्यिक लक्षणों का खास निर्देश न होते से उनका तालिका**

क्र.	वेगानाम	उत्पन्न लक्षण	पंचकर्माद्वारा चिकित्सा
१.	मूर्त्तवेग	बस्ति, मेद्दशूल, मूत्रकृद्ध, शिरःशूल, शरीर का विनामन, वंक्षणानाह अंगमर्द अशमरी।	अवगाह स्वेद, अश्यंग, शूल का नस्य, बस्तिकर्म।
२.	पुरीष वेग	पव्याशयशूल, शिरःशूल, वात और पुरीष का अवगाह, वर्ति, पिंडिकोद्देषन, आशान, प्रतिश्याय, हृदयोपरोध और पुख से विडवृत्ति।	स्वेद, अश्यंग, अवगाह, वर्ति, बस्ति, विरेचन।
३.	वातवेग	गुल्म, उदावर्त, कर्तम, वात, मूत्र मल का संग, दुष्टिनाश, अनुलोमन, विरेक।	स्नेहन, स्वेदन, वर्ति, बस्ति।
४.	शुक्रवेग	मेद्दशूल, वृषणशूल, अंगमर्द, हृदय, शूल, श्वीथ, ज्वर, मूत्रसंसंग अंग-भ्रग, वृद्धिषंष्ठता।	अश्यंग, अवगाह, स्वेद, बस्ति।
५.	चूर्दिवेग	कंडु, कोठ, अराचि, व्यंग, शोध, पांडु, ज्वर, कुष्ठ, हल्लास, विसर्प अक्षिरोगा, कास, श्वास।	कंडु, कोठ, अराचि, व्यंग, तैलाश्यंग।
६.	उद्गारवेग	अरुचि, कंप, उदरगौरव, हृदय-गैरिव, हिक्का, श्वास, अधमान।	स्नेहन, स्वेदन, वर्ति, विरेचन, रक्तमोक्षण, (तथा हिक्का के योग)
७.	क्षवर्षु	मन्यस्तंभ, शिरःशूल, अदिति, अश्यंग, स्वेद, नावन, नस्य, अर्थावभेदक, हृदिय दौर्बल्य।	हृदयपान।
८.	जूँभा	विनाम (झुकना) आक्षेप, संकोच, सम्पि, कंप, वेपथ।	क्षवर्षु-अश्यंगादि और वातस्थ औषधि।
९.	निद्रावेग	जूँभा, अंगमर्द, तंद्रा, शिरोरोग, अक्षिगौरव।	स्नेह, उणा, निःश्वास और वाष (अञ्जु) वेगों में पचकर्म का खास निर्देश न होते से उनका तालिका में उल्लेख नहीं किया गया।

२. सायानादि असाधारण गुण प्राप्ति के लिए पंचकर्म—सायान और बाजीकरण ये आयुर्वेद के विशिष्ट तंत्र हैं। सायान धातु के लिए प्रसस्त, स्वस्थों का उत्साह बढ़ानेवाली जो चिकित्सा है उसे सायान कहते हैं।<sup>६२</sup> जिस चिकित्सा से बीर्द का प्रबल होता है, जिस्यो के साथ संभोग करने की शक्ति बढ़ती है, मृदु दुर्द होता है, सतानोत्सति होती है और नर को 'बाजी' के समान शाकित्साली बनाया जाता है उसे बाजीकरण कहते हैं।<sup>६३</sup> इन दोनों चिकित्सों के पूर्व 'पंचकर्म' कराने का शास्त्रकार निर्देश करते हैं। यह देखा है कि कोई भी अल्प और धातुप्रसादक औषधि शरीर शोधनोत्तर ही अधिक अच्छा काम करती है।

सायान चिकित्सा दो प्रकार की है। बुटी प्रावोशिक और बातातापिक<sup>६४</sup> जिसमें खास प्रकार की बुटी तैयार करने का शास्त्रकार निर्देश करते हैं। यह देखा है कि कोई है, उसे 'बुटी प्रावोशिक' कहते हैं और जिसमें पश्चापथ्य की खास जरूरत नहीं होती, साधारण वायु और धूप के बातावरण में रहकर जो किया जा सकता है, उसे 'बातातापिक' कहते हैं। इसमें बुटी प्रावोशिक विधि में, बुटी प्रवेश के पूर्व तपन, विरेचन और रसायन कहते हैं। शोधन के बाद जब बलप्राप्त हो तब बुटी में प्रवेश किया जाता है।<sup>६५</sup> शोधन के लिए यहाँ ही होती है। शोधन के बातावरण में रहकर जो किया जाता है। शुंठी झनका चूर्ण गरम जल के साथ स्नेह-स्त्रेंपूर्वक देना चाहिए। यह विरेचन ३ से ७ दिन तक देकर कोष्ठ शुब्जिके बाद सायान देते हैं।<sup>६६</sup> वागभट ने सायान चिकित्सा के पूर्व स्नेहन, स्वेदन, वप्तन, विरेचन, निरुह और खत्तमोक्षण ये सभी कर्म करने का निर्देश दिया है।<sup>६७</sup> बाजीकरण के पूर्व भी इसी तरह पंचकर्म आवश्यक होता है। बाजीकरण के पूर्व वप्तन, विरेचन, निरुह, अनुवासन देना चाहिए, ऐसा स्थृत निर्देश है।<sup>६८</sup>

विशेषतः शीर, घृत, मासरस, तैल शर्करा, मधु इनसे संयुक्त बहिस्थियां दे।<sup>६९</sup> आवार्य कहते हैं कि जैसे मलिन वस्त्र पर रंग चढ़ाने से वह चमकतार हो नहीं सकता, उसे धोकर खब्ब पर राने से अच्छी तरह रंग जाता है और सुन्दर लगता है, वैसे ही शोधन के बिना मैत्रे शरीर में सायान बाजीकरण काम नहीं कर सकते। शोधन से स्नोत्स निर्मल होने पर वे अच्छी तरह लाभ पहुँचते हैं।<sup>७०</sup>

३. रोगानुसार पंचकर्म—रोगानुसार पंचकर्म के कौन-कौन से कर्म किस-किस व्यवस्था में किए जाते हैं इनका विस्तृत निर्देश आगे तत्त्व अध्याय में किया गया है। जब, अतिसारादि कायचिकित्सा के गोंद में पंचकर्म चिकित्सा तो निर्दिष्ट की ही है, अपितु अस्थिभ्यन, ब्रान्ति जैसे शल्य तंत्र तथा ग्रह व्याधि इत्यादि में भी पंचकर्म का प्रयोग होता है।

### पंचकर्म क्रम में आवश्यक काल का विचार

यदि सायान, बाजीकरण या अन्य किसी (शरीर शुब्जि) उद्देश्य से किसी व्यक्ति को संपूर्ण पंचकर्म करना हो, तो उसकी विधि कैसी होगी और इसमें कितना काल लग सकता यह एक विचारार्थ प्रश्न है। इसका निश्चित निर्णय करना कुछ कठिन ही है, तथापि

यहाँ एक प्रयास ग्रंथोक्त संदर्भ और तकनीसार किया जाता है। यहाँ प्रवर या उत्तम मात्रा में सब कर्मों की तुष्टि से प्रथम कालगणना करेंगे।

१. प्रथम ७ दिन तक स्नेहन करें। त्वें दिन अध्यंग और स्वेदन करें। वप्तन दें। इस तरह कुल ६ दिन लगें।<sup>७१</sup>

२. वप्तनोत्तर ७ दिन संसर्जन क्रम करें। फिर पुनः स्वेदन कर विरेचन। यदि ६ दिन से स्नेहापन करें तो ३ दिन स्नेहापन १२ दिन तक, १२, १३, १४ दिन तक (३ दिन) द्रव, उष्ण, यूष, रस, कफ वृद्धि न करनेवाले भोजन देकर १५ दिन विरेचन हो। वप्तन के १५ दिन विरेचन देना चाहिए।<sup>७२</sup> इस तरह ६ + १५ = २४ दिन।

३. विरेचन के बाद ७ दिन पुनः संसर्जन क्रम करें और इवें दिन अनुवासन बस्ति दें। बस्ति में स्नेहापन करें तो ३ दिन स्नेहापन १२ दिन तक, १२, १३, १४ दिन तक बस्ति के लिए अनेक प्रकार से ग्रंथ में निर्देश है, बात विकार में ६ से १३, पित्त विकार में ५ से ७ और कफ विकार में १ से ३ बस्ति देने का निर्देश है तथापि 'बस्ति संख्या वित्तनी दे?' इस अनिवेश के प्रसन पर चर्चा ने ३०, १६ और ८ कर्म, काल और योग संखक बस्ति को निर्दिष्ट किया है। अतः यहाँ वही अभीष्ट है। अतः विरेचन के बाद इवें दिन अनुवासन पकड़कर<sup>७३</sup> कर्म बस्ति को शेष २६ बास्तियाँ दे। इस तरह २४ + ६ = ३० दिन अनुवासन + २६ = ६२ दिन बस्ति कोसि पूरा होगा। बस्ति में वित्तनी बस्तियाँ दी जाती हैं, उससे दुगुना पारिहार काल है।<sup>७४</sup> अतः ६२ + ६० = १२२ दिन।

४. बस्ति के बाद नस्य है। नस्य जितने दिन देना चाहिए इसका निश्चित निर्देश नहीं है तथापि धातुपाक क्रम ७ दिन को ध्यान में रखकर संसर्जन क्रम, स्नेहापनादि ७-७ दिन की यारदा है—वैसी ही नस्य ७ दिन करें। नस्य के पूर्व पुनः ७ दिन स्नेह की आवश्यकता में मतभेद हो सकता है। तथापि नस्य में स्थानिक-उत्तमाग पर स्नेहन चरकोत पंचकर्म पूर्ण हुए। जिसमें १२६ दिन लगें।

१. रक्तमोक्षण करना ही तब पुनः ७ दिन स्नेहापन कर इवें दिन अध्यंग स्वेद कर इवें दिन रक्तमोक्षण करें। रक्तमोक्षण में, स्नेहापन में मतभेद है। स्नेहापन से १२६ + ६ इस तरह = १३२ दिन और स्नेहापन रहित में ३३० दिन रक्तमोक्षण कर कुल १३० दिन का कार्यकाल होगा।

२. मध्यम शोधन में स्नेहापन ३ से ५ तक करना है। इसमें स्नेहापन ५ दिन, वप्तन ७ दिन, विरेचन ७ + १५ = २२ दिन। विरेचन के इवें दिन बस्ति कोर्म। अतः २२ + ६ = ३१ दिन से बस्ति। + कालबस्ति की १६ बहिस्थियां जिसमें एक इवें दिन दी है। अतः ३१ + १५ = ४६ दिन + ३२ दिन बस्ति परिहार काल = ७८ दिन। फिर ५ दिन वप्तन और ज्वे दिन रक्तमोक्षण ७८ + २ + ५ = ८५ दिन लगें।

३. अवशोधन करना हो तब ३ दिन स्नेहन, ४ दिन स्वेद, इवें दिन वप्तन। ५ दिन विरेचन = २० दिन। २० + ६ दिन बस्ति परिहार काल = ७८ दिन। बस्ति में योग बस्ति देनी है जिसमें एक २६ दिन दी गई। अतः २६ + ७ = ३३ + १६ दिन बस्ति

परिहारकाल = ५२ दिन, फिर नस्य ३ दिन = ५५ दिन। ५६ वें दिन विराम, ५७ वें दिन रक्तमोक्षण। इस तरह ५७ दिन लगते।

यहाँ सामान्य विचार किया है। इसमें मतभेद की गुंजाइश है। रक्तमोक्षण और नस्य के पूर्व स्नेहन करना हो तो उनसे दिन अधिक लगें इसी तरह सुश्रुत ने वमन के १५वें दिन विरेचन ऐसा कहा है, किन्तु मध्य और अब वमन में अल्पकाल स्नेहन कर उसके पूर्व भी विरेचन किया जा सकता है। डहन ने कहा है कि आस्थापन के लिए, (निरूह के लिए) गयदास ने स्नेहापान, अनुवासन देकर निरूह करने को कहा है। यह उचित नहीं लगता। अनुवासन स्वयं स्नेहन है, तत्पूर्व स्नेहन जल्दी नहीं है और एक ही समय मुख और गुद से स्नेहन करने का शाळ में निषेध ही है। बस्ति के पूर्व स्नेहापान आवश्यक नहीं है। निरूह के पहले और बाद में हमेशा अनुवासन दिया जाता है। अतः दूसरा स्नेहन आवश्यक है। उपर्युक्त क्रम में तराइ कर्म की व्यापत उत्पन्न हो तो, उसकी विकितसा करने में पुनः समय अधिक लगा सकता है। उपर्युक्त सामान्य विचार आगे रखकर उड़ायो ह से स्वयं तर्क कर अवश्यानुसार कालगणना करें।

### पंचकर्म में परिहार क्या है?

वमन-विचारकाल परेदि संसर्जनक्रम किया जाता है। जिससे शोधनोत्तर शरीर पूर्ववत् होने में सहायता होती है। बस्ति के बाद भी परिहार काल होता है। परिहार का अर्थ है उनसे दिन तक संपर्क से हो और अहितकारक आहार विचारादि का सेवन न करें। इसे परिहार विषय या वर्ज्य विषय कहा जाता है। बस्ति में तथा अन्य कुछ कर्मों में परिहार्य विषयों का उल्लेख किया है, किन्तु कहीं कहीं उल्लेख नहीं है। अतः पचकर्म के सामान्य परिहार्य विषयों को यहाँ स्पष्ट किया जाता है। पंचकर्म-पंचवार के बाद आकृत अवस्था को प्राप्त हुआ या नहीं इसकी परीक्षा करनी चाहिए।

प्रकृतिस्थ पुरुष के लक्षण— जो सब प्रकार के रसों को सेवन कर सकता है, जिसके प्रसापत्रादि वेग प्राकृत ढंग से विसर्जित होते हैं, सभी विषयों में जिसको लघि उत्पन्न हुई हो, जिसके वश्वरादि जानीन्द्रिय; हस्त पादविदि कर्मदिव्य, उभयोदिव्य मन स्थिर होकर अपने कार्य में रह हो; आसा प्रसन्न हो और जो सभी चेष्टाओं को सहन करने के लिए बल प्राप्त कर चुका हो, उसे 'प्रकृतिस्थ' या आरोग्य को प्राप्त व्यक्ति समझना चाहिए।<sup>७१</sup> जब तक ये लक्षण उत्पन्न न हों तब तक महादोषकर आठ प्रकार के विषयों को दर्ज करें। इन्हें ही परिहार्य विषय कहते हैं। यदि इनका त्याग न करें और सेवन किए जाएं तो उनसे कफ, आमादि सर्व शरीर में पीड़ा, कफपत्तन, आमज, क्षयज, अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं।<sup>७२</sup> ये महादोषकर आठ वर्ज्य विषय और उनके द्वारा उत्पन्न विकारों को नीचे स्पष्ट किया जाता है।

### अष्ट महादोषकर वर्ज्य विषय

१. ऊच्चभार्ष्यम्— बहुत कंवे स्वर से भाषण न करें। यदि किया जाए तो सिर गरम होता है, शेष प्रेदेश में तोट, कान में कुछ अटक गया हो ऐसी प्रतीति, मुँह, गला, तालु का सूखना, तिमिर दर्शन (अंधेरा छाना), तुणा, ज्वर, हुम्रुह मन्त्रास्त्रभ, निष्ठिव, उतःशूल, पार्श्वशूल, स्वरभेद, हिक्का, श्वासादि विचार उत्पन्न होते हैं।<sup>७३</sup>

२. रथसोभ— गृह, हाथी, घोड़ा इत्यादि और उपलक्षण से साप्तकल, स्फूर्त, मोटर, रेल, विमान इत्यादि वाहनों से प्रवास न करें। इनके करने से संधि-शैथिल्य, पर्व शैथिल्य हतु, नासा, कर्ण, शिरःशूल, तोट, कृक्षिक्षेभ (पेट डुखना), आटोप, आंत्रकृज्जन, आष्मान, हृदय ग्रह, इन्द्रिय ग्रह (जकड़ाहट), स्निग्ध लक्षण पार्श्व, कटि वेदना, मस्तक दौर्बल्य, स्फूर्त दौर्बल्य, अंगा भीताप (अंग गरम होना), हाथ पाव में सुसिं (सूते होना), हस्तपाद हर्ष (इनडानाहट), ये विकार उत्पन्न होते हैं।<sup>७४</sup>

३. अंति चंक्कल्पन— परिहार काल में बहुत ज्यादा धूमना नहीं चाहिए। अधिक चंक्कल्पन से पांच, जंघा, जातु, वंक्षण, पृष्ठ और श्रोणि में शूल होता है। सर्विक्ष साद (पांच धारी पड़ना), सुस्ति (स्पर्श जगन का अभाव, दूसरापन) पिंडिकोहेष्टन, अंगमदै, अंगाभिताम, सिरा, धमनी में हर्ष (स्पंदन), श्वास और कासादि विचार उत्पन्न होते हैं।<sup>७५</sup>

४. अल्पसन— एक ही आसन पर अधिक देर तक न बैठे, इसका पालन न करने से (बैठने से), रथझोभ में ऊपर कहे हुए दिक्कार, स्थिता-पार्श्व-वंदेश्वर शूलादि उत्पन्न होते हैं।<sup>७६</sup>

५. अजीणीच्छशन— अजीणी और अध्ययन न हो इसका व्यान रखें। बहुत भोजन करने से अजीण होता है और खाने पर खाने से अच्छाशन (परिणामतः अजीणादि) होता है। इसके सेवन से मुखशोष, आधान, शूल, निस्तोद, पिपासा, अंगसाद, मूर्छा, च्छादि, अतिसार, ज्वर, प्रवाहिका और आमपिण्डि विचार उत्पन्न होते हैं।<sup>७७</sup>

६. विषमाहिताशन— विषम और अहित भोजन न करें। इनके सेवन से भोजन में असुचि, दौर्बल्य, वैवर्य, कंडु, पामा, अंगसाद, वातप्रकोप, ग्रहणी, अशादि विकार होते हैं।<sup>७८</sup>

७. दिवावस्त्र— दिन में सोना नहीं चाहिए। दिन में सोने से अकृचि, अजीण, अनिन्माद्य, स्तेमित्य, पांडु, पामा, कंडु, दाह, छादि, अंगमदै, हृदयसंभ (जकड़ाहट), शरीर जाड़ा, तंद्रा, निद्रा, ग्रंथि, दौर्बल्य, रक्तमूत्रता, रक्तवेगता, तालु में लेप किए समान प्रतीति होना और यास ये विचार उत्पन्न होते हैं।<sup>७९</sup>

८. व्याक्त्य— मैथुन न करें। मैथुन से तुरन्त बलनाश होता है। उरुसाद, शिर, बस्ति, वंक्षण, गुद, मैंडु, शूल, उल, जातु, जंघा, पादशूल, हृदय की धृढ़कृन बड़ना, नेत्रपीड़ा, अंग शैथिल्य, शूक्र के साथ रक्त निकलना, कास, श्वास, रक्तश्विन, स्वरसाद, कटि दौर्बल्य, एकांग रोग, सर्वांग रोग, वृषाकोष में शोष अधोवायु का संग, मूत्र संग, शुक्र विसामें कठिनता, शरीर कंप, कण्ठ वादियर्थ, और विषाद (दुःख) इत्यादि विचारकर उत्पन्न होते हैं। युद्ध में कोई काटता हो ऐसी वेदना, मेंढ़ को मरोड़ता हो ऐसी वेदना, मन में विषण्णता, हृदयक्ष, संधिपीड़ा और आख के सामने अधकार ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।<sup>८०</sup>

शोधनोत्तर शरीर बल गिर जाता है और शोधनजन्य क्षीभ के कारण उपर्युक्त अपचार का शरीर पर तुरन्त खराब असर होता है। इसलिए इनका त्याग करना श्रेयस्कर है।

### उपर्युक्त विकारों की चिकित्सा

१. कंवे बोलने से उत्पन्न विकारों में अध्यग, ख्वेद, उपनाह, धूम नस्य, स्नेहपान करें। मास सस, दूध का सेवन करें। वात के नाशक उपचार कर मौन पालन करें।

२. रथ क्षीघ, अति चोकागण और आत्मासन से उत्पन्न विकारों में स्नेह, स्वेद,

बातहर उपचार और स्थ क्षीभादि निधन का लाग करें।

३. विषम भोजन, अहित भोजन से उत्पन्न विकारों में यथाविकार चिकित्सा करें।

४. दिवा स्वप्रजन्य विकारों में धूम्रपान, लंघन, वर्मन, व्यायाम, रुक्षभोजन, आसवारिष्ट का प्रयोग, दीपन, पाचन औषधियों बरते। प्रश्वरण, मर्दन, परिषेकादि कफहर उपाय करें।

५. व्यावाय जन्य विकारों में जीवनीय गण से सिद्ध दृष्ट, घृत, बातहर, स्वेद, प्रयोग करें, अनुवासन दे। मूत्र विकारों में तथा बस्ति विकारों में (शूल में) विदारिंगधादि गण तथा जीवनीय गण में उत्कौशिक्षियों से सिद्ध तैलों की उत्तर बस्ति दें। यापन बस्ति का वर्णन इस प्रथा के बस्ति अध्याय में देखें।

**पंचकर्मर्थास के उपाय—** पंचकर्म एक शास्त्र है, विज्ञान है और कला भी है। किसी भी कला को आत्मसात करने के लिए खास प्रयत्न करना आवश्यक होता है। शास्त्राध्ययन प्रथा पठन से होता है, विज्ञान को मनन और प्रत्यक्ष दर्शन से जाना जाता है और कला को बार बार प्रत्यक्ष प्रयोग कर, प्रत्यक्ष कार्य के सदृश्य अन्य प्रयोजनों में प्रयोग कर आत्मसात किया जाता है। विद्वान् वैद्य के पास शास्त्राध्ययन करना चाहिए, कृतकर्मों के पास प्रत्यक्ष कर्मर्थास करना चाहिए। अथग, स्वेद, वर्मन, बस्ति, शिरो बस्ति, उत्तर बस्ति, उक्तमोक्षणादि को बार बार प्रयोग कर जान लेना चाहिए। मुश्तुत ने नए अध्यासकों के लिए कहा है कि उद्क पूर्ण घट में, अलाजु मुख में तथा तत्सदृश वस्तुओं में बस्ति नेत्र प्रणिधान, बस्ति पुटक पीड़नादि का अध्यास करें।<sup>१७</sup> इस तरह प्रत्येक कर्म का विश्वास उत्पन्न होने पर गुण के समक्ष स्वयं प्रयोग करें और नेपुण्य उत्पन्न होने पर अपनी निष्पदारी पर प्रयोग प्रारंभ करें। बहुत पढ़ने पर भी कर्मर्थास गहित शिष्य अधोगच्छ होता है।<sup>१८</sup>

३. गायों को चारानेवाले गोपाल जैसे गाय इधर उधर न जाए इसमें कार्यमन होता है, वैसी ही वर्मनादि क्षीघ से कृशाशय आतुर किसी दूसरे गो के पंजे में चला न जाए इसका ध्यान रखकर पालन करें।

प्रथम दृष्टांत में तरुणाड़ को पकाने में लगानेवाले श्रम, आवश्यक प्रेम, चिन्नादि का रहना, दूसरे में—पाक-पाद पर चलने में दक्षता से प्रत्येक कदम (अगला कार्य) पर बस्ति रहना और तीसरे दृष्टांत से सतत निरीक्षण का महत्व समझाया है। पंचकर्म चिकित्सकों को यह गुण-आत्मसात करना चाहिए, भिषण के गुण, प्राणभिसर के गुण आत्मसात करना चाहिए और सर्व साधनों से युक्त रहकर पंचकर्म विज्ञान में पदक्षेप करना चाहिए।

### पंचकर्म का महत्व

वर्मनादि पंचकर्म का प्राचीन काल से खूब महत्व रहा है, इतना कि चरक संहिता में विमान स्थान के आठवें अध्याय में जहां संधाय संभाषा और विग्रह्य संभाषा के कुछ पारिभाषिक शब्द और विवाद के उपाय बताए हैं, वहाँ वैद्य से वैद्य चर्चा करते समय यदि “यू-पूछे कि...” इस वाक्य के उदाहरण में पंचकर्म के वर्मनादि का ही उदाहरण दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि उस काल में पंचकर्म की संभाषा पारिषदों में चर्चा होती थी, वादविवाद होते थे और कौन वैद्य कितना कुशल है, कितना अनुभवी एवं आधिगत शास्त्र है इसका विचार उसके पंचकर्म शास्त्र के ज्ञान पर निर्धारित करते थे। ये प्रश्न भी बड़े महत्व के हैं। इससे व्यक्ति के गंभीर अध्ययन का पता चलता है। वे प्रश्न निम्नोक्त प्रकार कहें।

१. वर्मन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, नस्य के प्रयोगोच्छु वैद्य को कितने प्रकार से गोगी की परीक्षा करनी चाहिए।

२. इसमें क्या क्या परीक्षा विषय होते हैं?

३. इस परीक्षा की विषेषता क्या है?

४. और यह विषेषता कौसी परीक्षा करें?

५. इन परीक्षाओं का प्रयोजन क्या है?

६. वर्मनादि को प्रवृत्ति कब तक करें? वर्मनादि से कब निवृत्ति होते?

७. प्रवृत्ति निवृत्ति के संयोगकाल में अर्थात् एक कर्म की निवृत्ति और दूसरे कर्म की प्रवृत्ति इनमें क्या नेतृत्वकाल है? क्या क्या करना चाहिए?

८. वर्मनादि प्रयोग के कौन से द्रव्य होते हैं?

“यह पूछे जाने पर इसका उत्तर इस प्रकार देना चाहिए.....” ऐसा कहकर चरक ने विस्तृत वर्णन किया है।<sup>१९</sup>

### १. अष्टांग आयुर्वेद और पंचकर्म

आयुर्वेद के काय, बाल, ग्रह, ऊर्ध्वांग, शल्य, दंस्ता, जरा और वृषान चिकित्सा इन आठों अंगों में पंचकर्म का महत्व है। इनके द्वारा चिकित्सा अनेक रूपों में पंचकर्म केवल उपयोगी चिकित्सा नहीं प्रस्तुत अनिवार्य चिकित्सा का स्वरूप धारण करता है।

काय चिकित्सा के रोगों का विचार करने का कारण नहीं है। इसायन एवं बाजीकरण चिकित्सा में पंचकर्म के महत्व का प्रतिपादन पहले कर दिया है। अब शेष अंगों का उदाहरणस्वरूप विचार करेंगे।

बालरोग— बाल रोगों में स्तन्य दुष्टियाँ रोग, कुकुणक, पारिग्राहिक रोग, तालुकटक, महापथ्य (शिशु विसर्प) बालजबर इत्यादि विकारों का समावेश होता है। इनमें धात्री को स्वेदन, स्वेदन, वमन, विरेचन, संसर्जन क्रम द्वारा स्तन्य रोगों की चिकित्सा की जाती है।

में घृतपान, तैलपान स्वेद, संशोधन, बुद्धि में विरेचन, निरुह इत्यादि ढांगा से विकिसोपदेश

**बालरोग—** बाल रोगों में स्तन्य दुष्टिजन्य रोग, कुकुणक, पारिशर्धिक रोग, तालुकटक, महापथ्य (शिशु विसर्प), बालजर इत्यादि विकारों का समावेश होता है। इनमें धात्री को स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरचन, संसर्जन क्रम द्वारा स्तन्य रोगों की चिकित्सा की जाती है।

**ग्रहव्याधि में—** रेवती ग्रह, पूर्णा ग्रह, शीत पूर्णा, कल्पूर्णा, अंधपूर्णा, स्कंदध ग्रह इत्यादि का वर्णन आता है। इनमें रेवती ग्रह में अश्वगांधा, अजशृणी, अनंतपूर्त, पुरुनवा, कटेरी, माषपर्णी, विदारकंद के कषाय से, परिषेक, गुण्ठु, रास, सुरा, मंजिष्ठ, देवदार, तिल तैल, दालचिनी से सिद्ध तेलों का अभ्यंग अश्वकर्ण के पूल, धाय के पूल, अनार, वंशलोचन, यष्टीमधु इनसे सिद्ध घृत का पान से चिकित्सा की जाती है।

**विवरण—** इसमें तो शोधन का अतीव महत्व है। स्थावर विष के प्रथम वेग में वमन, द्वितीय में वमन-विरेचन, तृतीय में नस्य, चतुर्थ में सोहपान, सप्तम में मूर्धा से रक्तमोक्षण करने के कहा है। सप्तदश विष में भी रक्तमोक्षण, नस्य, वमन का निर्देश है। अनेक विष प्रकरणों में वमन का उल्लेख आधुनिक शास्त्र भी करता है।

शालाक्यतंत्रमें—नेत्ररोग, कणरोग, नासारोग, मुखरोग और शिरोरोगों का समावेश होता है। इनमें पूयालसक, वातविपर्यय, अधिमध्य, स्वद (निरोग), में शिरावेक्षक कहा है। बात अभिघ्यंद (नित्र) में सोहन, स्वेदन, नस्य, परिषेक, शिरोबस्ति, घृतपान कहा है। पिताभिघ्यद में सिरामोक्षण, स्वेदन, तिक्तघृत पान, रक्ताभिघ्यंद, सिरोपात, हर्ष इनमें रक्तमोक्षण, विरेचन, परिषेक, नस्य, पक्षकोप में विरेचन, डूषित रोग में नस्य, परिषेक, विरेचन, रक्तमोक्षण, घृतपान इत्यादि का उल्लेख है। कणरोगों में घृतपान, वातहर स्वेदन, स्नेह, विरेचन, पिण्डस्वेद, बस्ति, नस्य, शिरोविरेचन, कूपिकर्ण में वमन, कणस्वेद में नाईस्वेद, वमन, नस्य, कण प्रतीनाह में स्नेह, स्वेद करने को कहा है। नासा रोगों में पूतिनस्य में स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, नस्य (अवपाड़), पुयरक्त में वमन, नस्य, मूर्धस्वेद, नासानाह में स्नेहपान, शिरोबस्ति, तीक्ष्ण अवपाड़ नस्य, प्रतिश्वाय में स्वेद, वमन, अवपाड़ नस्य, विरेचन, आस्थापान का निर्देश है। शिरोरोगों में घृतपान, तैलपान, स्वेदन, नस्य, बस्ति का निर्देश है। कफज़ शिरोरोग में नस्य, तीक्ष्ण वमन, अच्छस्वेद, विदेषज में पुराण सर्पि का नस्य, सूखवर्त में नस्य, अनंत वात में सिराव्यथ कूमिज में नस्य इत्यादि का उल्लेख है।

शल्य तंत्रमें—वण चिकित्सा में वण के ६० उपक्रम कहे हैं जिसमें सोहन, स्वेदन, अपरिषेक, वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य का उल्लेख है। भग्न में कटि अस्थि भग्न में बस्ति, अवुवासन (मन नहीं है) हृदयात्मिति में स्वेदन नस्य। भग्न में ऊर्ध्व काय भग्न होते नस्य प्रशाखा भग्न में अवुवासन (काका निर्देश है)। वातार्श में सोहन, स्वेदन, विरेचन, आस्थापान, अनुवासन (मन नहीं है) हृदयादि, अवुद्दिदि

- २. सामान्य चिकित्सा सिद्धांत और पंचकर्म** १२०

आयुर्वेद का प्रसिद्ध सिद्धांत है कि दोष कोष्ठ से शाखा में जाकर रोग उत्पन्न करते हैं। व्यायाम द्वारा प्रक्षोभ से, उग्रता से, तीक्ष्णाधिक पदार्थों के सेवन से तथा अधितकारक आहार विहार से वाष्पु के द्वारा गुण के कारण से, दोष कोष्ठ से—सप्तादि धातु में (शाखा में) चले जाते हैं। वहाँ वे अनुकूल हेतु की प्रतीक्षा करते हैं और अनुकूलता प्राप्त होने पर प्रकृतिपूर्वक रोग उत्पन्न करते हैं। इनकी शाखा से पुनः कोष्ठ में लाना और नजदीक के मार्ग से निकाल देना यह चिकित्सा का सिद्धांत है।<sup>१०</sup> कोष्ठ में लाने के पांच उपाय हैं।

  १. दोषों में बुद्धि करा कर ४. स्वेतों के मुखों को खोल्ह कर ५. वायु का नियन्त्रण कर।
  २. विषद्वन् या विलयन कराकर ६. वायु का नियन्त्रण कर।
  ३. दोषापाक करा कर

स्वेतद्वन् यह विषद्वन् करता है, दोषों को गुद्ध करता है और क्लेंट को बढ़ाता है। जिससे स्वेतद्वन् यह विषद्वन् करता है, दोषों को गुद्ध करता है और क्लेंट को बढ़ाता है। फिर आयु दवा का प्रमाण बढ़ने से सर और द्वयगुण से स्वेतद्वन् होने में सहायक होता है। अग्र दोष स्त्रीों में धातुओं में धातुओं में धातुओं में धातुओं में धातुओं में धातुओं का विपक्ष स्वेतद्वन् करते हैं। दोषापाक से लैटीले होकर स्थान छोड़ते हैं। स्वेत द्वे स्वेतों के मुखों का कर बैठते हैं। दोषापाक से लैटीले होकर स्थान छोड़ते हैं। आप दोष स्त्रीों को मुख (The pores of the walls of the cell membrane) विकास होता है जिससे स्त्रीों को मुख पर से चिपके धातु और मल हटकर शोधन होता है। स्वेतन् और स्वेतन् से वात का भी नियंत्रण होता है “वातस्योपक्रमः स्वेतः स्वेतः संशोधन मुदुः” ऐसा कहा ही गया है। इन कारणों से दोष शाखा से पुनः कोष्ठ से आते हैं, जहाँ वमन, या विरेचन कराकर इन्हें शरीर से बाहर कर दिया जाता है।

**३. शोधन से चिकित्सित रोगों का अपुनर्भव**

संशोधन का वैशिष्ट्य यह है कि—शमन से चिकित्सा की जाने पर दोषों का प्रशमन होता है, किन्तु पुनः प्रकोप होने की संभावना रहती है, जहाँ सशोधन से शोधन करने पर मूल से दोष नष्ट होता है, जिससे उसका पुनरुद्धव नहीं होता।<sup>११</sup>

  १. कायानन तीक्ष्ण होती है।
  २. व्याधियां प्रशमित होती हैं।
  ३. स्वास्थ्य का अनुवर्तन होता है।
  ४. इंद्रियाएँ प्रसव रहती हैं।
  ५. मन और बुद्धि के कार्यों का प्रकर्ष होता है।
  ६. वर्ण प्रसादन होता है।

संशोधन के लिया—विशुद्ध पुरुषों को निमोक्त गुण प्रस होते हैं।

  ७. बल बढ़ता है।
  ८. शरीर पुष्ट होता है।
  ९. अपन्य या संतानोंस्थापनि होती है।
  १०. वीर्य की वृद्धि होती है।
  ११. बृद्धावस्था देव से आती है।

**४. वर्ण प्रसादन होता है।**

१२. रोग रहित दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है।

यहाँ तक इस ग्रंथ में वक्ष्यमाण विषय में प्रवेश करने के लिए जिन जिन महत्वपूर्ण बातों का स्मरण चिकित्सकों को हमेशा रहना चाहिए उनका विचार किया है। अब पंचकर्म चिकित्सा में कहे हुए सिद्धान्तों का ऐतिहासिक दृष्टि बिंदु से विवरण किया जाता है। वर्तुतः जो अति प्राचीन है वह सब अच्छा है— इत्यादि कोई भी पूर्वग्रह रखने का कोई कारण नहीं है। परम्पराउसार आनेवाली प्रक्रिया को केवल परम्परा से आती है एवं दर्थ सत्कारने का लेखक का आग्रह नहीं रखता। यहाँ केवल जिज्ञासुओं के ज्ञान के लिए पंचकर्म का भारतीय चिकित्सा पद्धति में तथा संसार की चिकित्सा पद्धति में ऐतिहासिकता से क्या स्थान रहा है इतना ही देखने का हेतु है।

### चिकित्सा शास्त्र में पंचकर्म का स्थान : एक ऐतिहासिक 'अवलोकन'

**अवलोकन—**आयुर्वेद शास्त्र वैसे ही एक अति प्राचीन शास्त्र है। अनिवेश का काल इ. स. पूर्व एक शताब्दि का कम से कम माना जाता है। आत्रेय का काल यद्यपि अनिवेश है तथापि करीब उसी जीव में अनिवेश के शिष्यत्व के कारण उसका काल माना जाता है। इस संहिता के पूर्व चिकित्सा शास्त्र का सम्पूर्ण विकास हुआ था ऐसा विद्वान् मानते हैं।

आयुर्वेद के उपलब्ध दर्शक अनेक मंत्र प्राप्त हैं। पंचकर्म की चिकित्सा पद्धति उस समय अस्तित्व में थी यह कहना तो साहसिक होगा किन्तु औषधि, रोग, ध्याया इत्यादि के प्राप्त मंत्रों के अर्थ में जैसे तर्क से पुष्टि की जाती है वैसे तर्क से कहा जा सकता है कि, 'यथासत्र विनिहित्' नजदीक के गासे से रोग को निकाल देने का सिद्धांत उनको जात था और उसका वै चिकित्सा में आचरण करते थे। अत्रवेद में आया हुआ निम्नलिखित मन्त्र दीखिए—

यस्म शीर्षिण्य भृतिष्ठाजिह्वाया विवृहायि ते। ॥

यस्म शीर्षिण्य भृतिष्ठाजिह्वाया विवृहायि ते। ॥

सिर से और जिह्वा से मैं रोग को 'पृथक्' करता हूँ। यह मंत्र अश्वविद में भी है। यहाँ आश्च, नाक, कान आदि से रोग को 'पृथक्' करता हूँ। ऐसा कहा है यह पार्थक्या असम्भव्यान में नस्य का प्रयोग भी तर्क है न कि उनके रोग के लिए। ऋग्वेद का एक और मंत्र देखें।

यस्म दोषाद्य मांसाधार्या बहुधाया विवृहायि ते। ॥

अर्थ— रोग से पीड़ित मनुष्य, तेरी आरंबों से, कानों से, निङ्कुल से, रोगों से, बहु से, अंस से, रोग की जड़ को निकाल देता है। यहाँ ध्यानियों के द्वारा से, लवचा से, पर्वों से रोग निकलने का विषय है वह स्थानिक अनेक कर्म और शास्त्र कर्म के बोधक हैं। सूर्य की उपासना के मन्त्र ऋग्वेद में आते हैं उनसे स्वेद का महत्व उनको जात था ऐसा अर्थ विद्वान् वैद्य करते हैं। 'सूर्य से हमारा विवेग न हो, सूर्य स्थावर जंगम

की आत्मा है' इस मंत्र पर से 'प्राण् मुखं, उद्यं मुखं कूटागारं कारयेत्' इस जोतांकृत स्वेद ग्रह से तुलना की जाती है।<sup>१५</sup> अथवेवद के कुछ मंत्रों में ध्यानी की प्रार्थना की है कि उनसे स्वावित होनेवाला स्वत वे रोक कर रखें और रखत बद हो जाये। इस तरह उर्ध्व अधी चिकित्सा में कहे हुए सिद्धान्तों का ऐतिहासिक दृष्टि बिंदु से विवरण किया जाता है। इत्यादि कोई भी पूर्वग्रह रखने का कोई कारण नहीं है। परम्पराउसार आनेवाली प्रक्रिया को केवल परम्परा से आती है एवं दर्थ सत्कारने का लेखक का आग्रह नहीं रखता। यहाँ केवल जिज्ञासुओं के ज्ञान के लिए पंचकर्म का भारतीय चिकित्सा पद्धति में तथा संसार की चिकित्सा पद्धति में ऐतिहासिकता से क्या स्थान रहा है इतना ही देखने का हेतु है।

ब्राह्मण ग्रंथ में श्रौत सूत्रों में हिरण्य केशी में अनिं से रोग नाश होता है ऐसा कहा है। संभवतः अनिं से स्वेदन अर्थ हो। अथवा अनिं स्तुति हो। कौशिक सूत्रों में मंत्रों द्वारा जल, औषधि को आमंत्रित करके औषधि पिलाने के उपाय कहे हैं, जिसमें वातिक तब्द रोग में मास और मेद (वसा का पान वातिकित रोग में तैलपान, धनुर्वाति, अंग कंप में, शरीर भ्रा में घृत का नस्य एवं पान का निर्देश है। कुष्ठ शिरोरोग गडमाला में जलौका से रक्तमोक्षण, स्वत के न निकलने पर सैधर नमक का राड़ा यह उपाय निर्दिष्ट है।<sup>१६</sup>

उपर्युक्त काल के बाद बौद्ध साहित्य में कुछ कथाएं मिलती हैं जो जिज्ञासुओं को मनोरंजक प्रतीत होती हैं। बौद्ध काल लगभग १४२५ से ३६३ इ. स. पूर्व का माना जाता है। यदि चरक का तब तक प्रणयन मान लिया जाये तो इस कथा से जानपद में भी पंचकर्म होगी। बौद्ध का एक मुख्य ग्रंथ है 'विनयगिटिक'। इसमें निमोक्त कथाएं हैं। प्रसार समझा जाए और प्रणयन न मान ले तो पूर्वकाल में शोधन की सार्विकता भानी होगी। बौद्ध का एक मुख्य ग्रंथ है 'विनयगिटिक'। इसमें निमोक्त कथाएं हैं।

**स्वेद—** आयुर्वेदिय पंचकर्म के शरीर में वात-व्याधि उत्पन्न हुई थी। भागवन बुद्ध को यह कहा जाने पर उन्होंने उसको स्वेद चिकित्सा करने को कहा। स्वेद के चार प्रकार इस ग्रंथ में निर्दिष्ट हैं।

१. संभार स्वेद— पसीना लानेवाले पत्तों के बीच सोना।

२. महास्वेद— इसमें पुरुष प्रमाण का गड्ढा जोड़कर उसमें आंगर, मिट्टी, बालू भरकर, वातहर पत्र बिछाकर तेलावत गात्र पुरुष को उस पर बिठाया जाता था।

३. उदक कोष्ठ— गरम पानी से भरे हुए उदक कोष्ठ में (अवगाह) बैठकर स्वेदन करना।

४. धोणोदक— पत्तों का क्वाथ कर उससे परिषेक करना।

**जंताक्षयद—** विनयगिटिक में 'जंतापर' नामक स्वेद का वर्णन है जो चरक के 'जंताक्षयद' से मिलता जुलता है। इसमें एक मकान में आतुर का शूमनेत्र के द्वारा स्वेदन करते थे। रक्तमोक्षण-पिलिद्वयङ्क को पवन्त्रत (संभवतः वातरक्त) रोग हुआ था तब भगवान् बुद्ध ने सींग से रक्त निकलने को कहा था।

'जीवक' नामक प्राप्तिक्षय वैद्य की कथाएं यहाँ आती हैं। जो इस प्रकार हैं।

१. साकेत नारा श्रेष्ठिकी भार्या को शिरःशूल के लिए औषधसिद्ध धूत का नस्य दिया।

२. उज्जैन के राजा प्रध्योत को धूतपान कराकर वर्मन करताया।

३. उसके सेवक काकदास को आधा-ओंकाला (औषध संस्कृत) खिलाकर वर्मन करताया।

४. भगवान बुद्ध को दोषग्रस्त होने पर विरेचन देना था। तब सामान्य की भाँति दवा न देकर 'तीन उत्पल हस्त' लेकर उहै और अधि संक्षारित कर उसको इुण्डाकर (नस्य) विरेचन करवाया। एक-एक उत्पल हस्त के सुंघने से दम विरेचन होते थे ऐसा कहा है। इसके बाद के काल में चारक संहिता का काफी प्रचार हुआ था। अतः तुपरात की कथाओं का विशेष प्रयोजन नहीं है। चारक और सुशुत में पंचकर्म के सभी विषय-अति विस्तार से वर्णित हैं। चारभट जो संभवतः है, स. ४०० में हुए, के काल में इस शास्त्र का अच्छा प्रकर्ष हुआ मिलता है। भेलसहिता, काशय संहिता, हारीत संहिता, भावप्रकाश, शार्हांधर इत्यादि सभी आयुर्वेद ग्रंथों में पंचकर्मोक्त विषयों का स्वातंत्र्य अध्यायों द्वारा विवरण उपलब्ध है, जो तत्त्व कालीन लोगों में इसका प्रचार प्रदर्शित करता है।

**अन्य चिकित्सा इतिहास और पंचकर्म—आधुनिक चिकित्सा शास्त्र जिस परंपरा से आविष्कृत हुआ है—उसकी प्राचीन परंपरा में हमें पंचकर्म सिद्धांतों का लार-बार दर्शन होता है। चिकित्सा इतिहास में ग्रीक, इनिस, मेसापोटेमिया, परेशिया, दक्षिण अमेरिका इत्यादि के चिकित्सक भिन्न-भिन्न हेतुओं से पंचकर्मोक्त विषयों का प्रयोग करते थे यह इतिहास ग्रंथों से स्पष्ट होता है।**

मेसापोटेमिया में प्राचीन चिकित्सक तैल, घृत, मोम, मधु और शीर का प्रचुर मात्रा में उपयोग करते थे।<sup>१५०</sup> उदरशूल के लिए वर्मन और विरेचन का प्रयोग करते थे।<sup>१५१</sup> उनको कोष के शुद्धि का महत्व उचित हां से स्वीकार्य था और उसके लिए वे तैल विस्त का प्रयोग करते थे और इससे वे अच्छे होते हैं। इस पर उनका विश्वास था।<sup>१५२</sup> हिपोक्रेटस काल (Hippocrates) में विस्त का देना केवल मल निकालने के लिए नहीं अपितु—आंत्र में विस्त का शोषण और बंहण गुण प्राप्त हो इस हेतु अनेक द्रव्यों से युक्त बल्तियां दी जाती थीं।<sup>१५३</sup> युदा पर स्वेदन भी किया जाता था। स्वेदन के लिए ग्रम स्थानकों को कपड़ों में लायेट कर प्रयोग करते थे।<sup>१५४</sup> इतना ही नहीं बल्कि सात इटों को ग्रम कर उस पर ठंडा पानी आदि डालकर निकलनेवाली भाष पर आहुर का स्वेदन करते थे इसका उल्लेख है।<sup>१५५</sup> इसी तरह नस्य में उपयोग करने के लिए नस्य यंत्र का भी उल्लेख मिलता है।<sup>१५६</sup> विरेचन में स्वर्णपत्री और इंद्रायण का उपयोग किया जाता था।<sup>१५७</sup> दक्षिण अमेरिका में 'भूत' चिकित्सा के लिए रक्तमोक्षण सिरावेद्ध कराकर किया जाता था ऐसा उल्लेख है।<sup>१५८</sup>

इन सबके अतिरिक्त पंचकर्म में जो शोधन के सिद्धांत मान्य है उनकी भी रूपरेखा हि-पोक्रेटस के काल में मिलती है। इस युग को 'ग्रीक चिकित्सा शास्त्र का स्वर्ण युग' कहा जाता है अतः इसे उन्हीं शब्दों में उल्लेख करते हैं।

"The Golden Age of Greek medicine (page 242).

The Book also has a chapter on vomiting and the taking of Enemas, as a matter of Hygiene. For more than two thousands years people evacuated the body by way of stomach and bowels, to Librate it from superfluities. This was a Greek heritage, the result of Greek Physiological and Pathological theories as we find them first expressed them in Hippocratic writings. Vomiting was recommended

A History of medicine, Volume II P-242

**अथवा—**ग्रीस चिकित्सा शास्त्र का स्वर्णयुग इस ग्रंथ में (हिपोक्रेटस के) एक वर्मन और विस्त पर भी अध्याय है, जो स्वास्थ वृत के अनुसंधान में है। करीब दो हजार से अधिक साल तक लोग आमाशय तथा पकवाशय से कोष्ठ शुद्धि करते रहे। जिसका उद्देश्य था कि कोष्ठ की मुक्ति है कि हिपोक्रेट ने सब शारीर विज्ञान और विकृति विज्ञान का परिणाम थी, इसका मुक्ति है कि हिपोक्रेट ने सब से प्रथम अपने लेखन से यह स्पष्ट किया। शीतकाल के छ: मासों में वर्मन निर्दिष्ट क्षयोंकि इस समय लेग्म (कफ) शारीर के कठूर्भ भाग में दृष्टि करता है। उष्णकाल में शारीर बिलियस (पैतिक उष्टु) बनता है जिससे पृष्ठ और जातुसाथि में भारीपन होता है— अतः विस्त अधिष्ठ है।

उपर्युक्त में कफ के कोष्ठ की दुष्टि से मुक्ति है। यह ग्रीस की परम्परात लिए विरेचन और विकृति विज्ञान का लिए विस्त कहता है, तथापि पितर में विस्त चिकित्सा भी उपर्युक्त में कफ के लिए विस्त कहता है, और यहां जातु पृष्ठ का गैरव कहा है, आयुर्वेद में भी विस्त साथ उपयोगी होती ही है और यहां जातु पृष्ठ का गैरव कहा है, आयुर्वेद में भी विस्त साथ उपयोगी होती ही है। अतः ।

इन दिनों में १७वीं सदी में डॉ. हेंडरसन महोल्डे ने अपनी मानसशास्त्र की पुस्तक में लिखा कि उन्माद के सेकड़ों आतुरों पर वर्मन, विरेचन, रक्तमोक्षण (जर्तौका) करने की प्रथा चिकित्सा शास्त्र में थी, तथापि अध्यनिक चिकित्सा शास्त्र में शोधन पूर्व स्वेहपात की विधि नहीं थी, और स्वेहपात के बिना शोधन का कार्य बराबर नहीं होता और फल भी नहीं मिलता। संभवतः इसी कारण से धीर-धीरे इसका प्रबार कम हुआ।

संक्षेप में यह इतिहास है। पंचकर्म शास्त्र एक प्रत्युपयोगी शास्त्र है इसका निर्णय अनुभव के बाद वैद्य स्वयं कर सकते हैं। इस शास्त्र का यथावत् विवरण आगे के अध्यायों में किया है।

### संदर्भ

१. चिष्ण नाम यो भिषज्यति, यः सूर्य प्रयोग कुशलः; यस्याद्यु सर्वथा चिदितम यथावत्। आपन्स-व्याणसी, पृ. १७३०
२. देवमात्राकृतं विद्यालक्ष्यं यत् पौदेविहिकम् ॥
३. सूतः पुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम् । च. वि. ३-३६

२. निर्दिष्ट दैवं शब्देन कर्म यतोर्व देहिकं।। च. शा. १-११६  
हेतुस्तदपि कालेन गोपाणामुपलक्ष्यते।।
३. द्रव्याणि हि द्रव्यं प्रभावात् गुणप्रभावात् द्रव्यगुणं प्रभावात् तस्मिन् तस्मिन् काले  
तत्तदधिष्ठानमासाद्य तां तां गुणितमर्थात् तमपिप्रेत्य यत् कुर्वन्ति तद् कर्म।। च. सु. २६-१३  
संयोगे च विभावेच च कारणं द्रव्यमाधितम्।
४. कर्त्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नायदपेक्षते।। च. सु. १-५१  
महर्षयस्ते दृश्यर्थात्मजानवस्तुष्टा।
५. सामान्यं च विशेषं च गुणाद्वयाणि कर्मच।  
समवायं च तज्जाता।।।।। च. सु. १-२८, ३६
६. (अ) प्रवृत्तिस्तु खलु वेष्टा कार्यर्थ। सैव क्रिया कर्म यतः कार्यसमारभस्य।  
च. वि. ७-८७
- (आ) ततोऽनंतरं कार्यर्थं प्रवृत्तिरिष्ठ। तस्माद् विष्वा कार्यं चिकीर्षुः प्राक्कार्य  
समारभात्तरीक्षया केवलं परीक्ष्य परीक्षायकम् समारभेत् कर्तुम्।।
७. च. वि. ८-७६
- (इ) प्रवृत्तिः प्रतिकर्म समारभम्।। च. वि. ८-८४
- (ई) नौ मामुत्वसेव विष्णु चरितं 'कर्मसु'।। च. पा.
८. क्रिया ग्रहणात् च्छादादीनि स्नेहादीनि च कर्माणि व्याख्यातानि।। सु. सु. १-२७
९. तानुपस्थित दोषाणां स्नेहं स्वेदोपपादनैः।
१०. पंचकर्माणि कुर्वन्ति मात्रा कालौ विचारयन्।। च. सु. २-१५
११. पंचकर्माणि चाक्रित्य प्रोक्तो भेषजं संग्रहः।। च. सु. २-३४  
पूर्वं मूलं फलज्ञानं हेतोरुक्तं यदोषपथम्।
१२. दीर्घं जीवितीये मूलिच्छव्यपंचकर्माणां गृह्णाता उक्ता।। अपराध्यपि च पंचकर्म साधनानि भवति।  
तथा पंचकर्मप्रवृत्ति विषयात्तिपि तत्र नोक्तः।। तेनानंतरं शेषं पंचकर्मोपयोगिदव्यं पंचकर्म
१३. तस्माद् वसंते कर्माणि वर्मनादीनि कारयेत्।। च. पा. च. सु. २-१ पर  
प्रवृत्त्यव्याच्याभियातव्यं प्रवृत्तादि कर्मस्तुत्याक्षियते।। च. सु. ६-२३ च. पा.-दोषं च चायाद्याद्यं 'पंचकर्म'
१४. अस्थ्याश्रयाणां व्याधीनां 'पंचकर्माणि' भेषजम्।। च. सु. २८-४९
१५. शिरोविरेचनादेश्वरं 'पंचकर्मस्त्रयस्त्रौषधं गणस्यः....प्रयोषतारः।। च. सु. २८-७
१६. दूषिषिक्षेऽथ रक्तस्थे तिरा, कर्मपंचविष्वम्।। २३-६३
१७. भगवन् पंचकर्माणि समस्तानि पृथक् तथा।  
निर्दिष्टाचायामयानां हि सर्वेषामेव भेषजम्।।  
देषजोऽस्त्यामयैः काश्चन्त् यस्य तानि भिषयवर्।  
नस्युः शक्तानि शमने साध्यस्य क्रियया सते।।  
अस्थ्यारुक्तस्थ इन्द्रियक्ते गुरुणा तस्य कारणम्...।। च. वि. २७-५-६, ७
१८. पंचकर्म गुणातीतं ब्रह्मवंतं जिजीविष्टुम्।  
योगेनानेन मतिमान् साध्येदपि कुष्ठिनम्।। सु. वि. १३-१८
१९. पंचकर्म गुणातीतं इत्यत्र वग्नादीनां पंचकर्म गुणानाम प्राप्तं फलोत्तिके। तत्र कुष्ठिनमपि  
तंसोधानसमनीये तु दोषं प्रत्यनीकाप्रायाः पंचकर्मोपयोगिनः शोषणं द्रव्यं संग्रहणा,  
वातादि शमनं द्रव्याणाम यस्य कर्त्तव्यत्वा इति शेषः। सु. सु. ३६-१ पर इत्यत्र  
स्नेहप्रते प्रयुक्तेषु तथा पंचमु कर्मसु। अ. ह. सु. २७-८  
अ. द. -तथा पंचमु वग्नाद्वयु अमेषु।
२०. (१) इह वग्नाद्विषु कर्म लक्षणं बहित्कर्त्तव्यता योगी दोषं निर्हरणं शक्तिजयायत्वम्।  
तेन तंत्रतोणे स्नेहस्त्रेत्रोप्रक्षिया सत् कर्मणि इति यत्त्वते तत्र स्यात्। नहि स्नेहस्त्रेत्रो  
दोषं बहित्स्त्रम्।। दोष संश्चानं तु कुरुतः।। च. सु. २-१५ पर च. पा.
२१. (२) वग्नं रेचनं नस्यं निर्लहस्याद्वासानम्।  
ऐतानि पंचकर्माणि काष्ठितानि मुनीश्वरैः।। शा. उ. ८-७०
२२. (३) प्रथमं वग्नं पंचमात् विशेषानुज्ञानम्।  
एतानि पंचकर्माणि निरुद्धो नावनं तथा।। भा. प्र. पू. खं.
२३. (४) इह वग्नाद्विषु कर्म लक्षणं बहित्कर्त्तव्यता योगी दोषं निर्हरणं शक्तिजयायत्वम्।  
तेन तंत्रतोणे स्नेहस्त्रेत्रोप्रक्षिया सत् कर्मणि इति यत्त्वते तत्र स्यात्। नहि स्नेहस्त्रेत्रो  
दोषं बहित्स्त्रम्।। दोष संश्चानं तु कुरुतः।। च. सु. ३६-१ पर च. पा.
२४. कर्मणो वग्नादीनां पूरणस्तंत्रे।  
नेहस्त्रेदै प्रयुजीत न्हं अंते बलाय च।। च. सि. ६।।७
२५. अनुवासनं तु वग्नादिवत्र बहुद्योष निर्हरण कारणं भवति तथापि पुरीषस्य पक्वाशयगत  
वातस्य च बहिनीर्हकल्पात् कर्म लक्षणं व्यासमेव न निष्ठीवनं नेत्रांजनादो तु स्नेहस्त्रेत्रो  
बहिविकर्त्तव्यता योगो, न च बहु निहरकल्पं तेन न तत्कर्म शब्दवाच्यम्।।  
च. पा., च. सु. २-१५ पर
२६. उत्तरवस्त्रिस्य स्नेहलपेऽनिरुद्ध स्नेहवसावेवात्पर्वता। यदिवेह वग्नाद्विषु पंचकर्मसु पंकज  
शब्दवत् यागरुद्देयं संज्ञा। तेन न स्नेहं स्वेदानिष्ठीवनाद्विषु वर्तते।  
च. पा., च. सु. २-१५ पर
२७. विषवं कर्म-पूर्वं कर्म प्रथानकर्म पश्चात्कर्मते।। सु. सु. ५-१
२८. त्रैके लघनादि विशेषपर्यंतं पूर्वकर्म। व्रणस्य पाटनं रोपणं यच्च प्रधानं कर्म।  
बलवणिकिर्त्तव्यं तु पश्चात्कर्मते समाप्तिरेत्। इत्यत्र उपर्युक्तं पर
२९. अपरे तु च चायादीनां पूर्वरूपांतानां आतंकोत्सत्ते: प्राक् यत् क्रियते तत्पूर्वं कर्म, आर्तकोत्सत्ते  
यत् तत्पूर्वं कर्म, निवृतात्कर्त्तव्याद्वाषोपचारणाय यत् यत् पश्चात्कर्म। इत्यत्र
३०. अन्ये संसोध्यस्य पाचनं स्नेहं स्वेदनानि पूर्वं कर्म विशेषनं बत्ति नस्य शिरा मोक्षणानि  
प्रधानं कर्म, पैथाचानं संसर्जनं पश्चात्कर्म।। इत्यत्र उपर्युक्तं पर
३१. चतुर्थकारा संशुद्धिः।। च. २२-१८  
च. पा.-चतुर्थकारा संशुद्धिः इति अनुवासनं वर्जीयत्वा तस्य बृहणत्वात्। ६३ यथा क्रम  
देखे।
३२. हत्याशु पुक्तं चक्षेण द्रव्यमाशयाभ्यान्।  
ग्रागेन चार्षजं वृत्त्यानं पक्वाशयान्त् गुदेन च।। अ. ह. सु. १३।३१
३३. शरीराजानां दोषाणां क्रमेण परमोपधम्।  
बहित्विकर्त्तो वग्नं तथा तैले घृतं मधु।। अ. ह. सु. १-२५

३४. उपक्रमस्य हि द्विकात् द्विद्विवेपकमो मतः ।  
एक संतर्पणश्चात्र द्वितीयश्चापतर्पणः ॥
- बुहणो लंघनस्त्रैव तत्पर्यार्थाबुहातो । अ. ह. सू. १४, १, ३
३५. स्नेहनं रुक्षणं कर्त्त खेदनं स्तंभनं च चर् ।  
श्रूतान् तदपि हैक्षात् द्वितीयं नातिकर्त्ते । अ. ह. सू. १४-१३
३६. शोधनं श्रान्तं चेति द्विष्णा तत्प्रियं लंघनम् ।  
पञ्चव्याध शोधनं च तत्-निरुहो वमनं कार्ये शिरोकात्रविद्वुतिः ।
- शामनं तत्त्वं सप्तश्चा-याचनं दीपनं शुचिद् व्यायामातपमारुतः । अ. ह. सू. १४-४ से ७
३७. लंघनं बुहणं कार्ते रुक्षणं स्तेहनं तथा ।  
खेदनं स्तंभनं द्वैत जानीये यः स कै खिष्णग् । च. सू. २२-४
३८. इति षट्टर्तिश्चत् उद्दिष्टा व्राणानो समुपक्रमा ॥। च. वि. २५-४३
३९. तत्स्य ब्रणस्य षष्ठुप्रक्रमा भवति तथाया... सु. चि. १-२२
४०. भवति हि गुत्तिकाके संतर्पणं शब्दं प्रयोगः । च. सू. २३-३ पर च. पा.
४१. बुहतं यद् शरीरस्य जनयेतच्च बुहणं । च. सू. २२-१०
४२. सकृदुणो बोडणा गुणो भागः संतर्पणं पिबेद् । च. सू. २३-२१  
च. पा.-संतर्पणं इति जलालोडित् सकृदुणपत्तया तेन संतर्पणश्चापतर्पणता  
जैया । ...अन रुक्ष सन्कुकुतस्यापि मनस्य द्वर्वत्वं शैत्यं देहातुसारितैः सद्यस्तर्पकत्वं  
भवत्येव ।
४३. शर्करा तिपलीमुल. . . मधुविकारातुर् । च. सू. २३-३५ से ३८
४४. अविपाकोउकाचि स्थैर्यं पांडुता गौरवं कलमः । एिडका कोठ कंडुगों संभवोउत्तिरेव च ।  
आलस्य आम दीर्घलूँयं दीर्घमध्यमवसादकः । श्लेष्मप्रियत समुक्तसेषो निद्रानाशोउत्तिनिद्रतः ।  
तद्राकरैत्यमधुविकलमशस्त स्वपदशस्ति । बलवाणं प्रणाशश्च तुयतो बृहणीरपि । बहुदोषस्य  
लिङ्गानि तस्मै सप्तशोधनं हिते । च. सू. १६-१३ से १६
४५. बहु दोषाणां पुनर्दोषावसेचनमेव कार्यम् । ह्यभिन्ने केदारसेतौ पल्वलं प्रसेकोउत्स्ति, तद्वत्  
दोषावसेचनम् । च. वि. ३-५३
४६. रोगान् जयेत् मध्यबलान् व्यायामातपमारुतैः ।  
बलिनों किं पुनर्यर्थं रोगाणमवर बलम् । च. सू. २२-२३
४७. येषां मध्यबला रोगा: कफिपत समुद्दिताः ।  
वस्त्रतीसार हृद्देग विसुच्यालसकवर्गाः ॥  
दिवं विष्णु गौरवोद्याग हृल्लासा रोगकाद्वयः ॥  
पाचनेस्तान् खिष्णग् प्राजः प्रायेणादात्पुरवरेत् ॥। च. सू. २२-२१
४८. लंघनं पाचने मध्यबलदोषाणां । लंघनपाचनाणां हि सूर्यं संतामारुताणां  
पांशुभस्मावकिणेव चानति बहुदकं मध्यबलदोषः प्रशोषमापद्यते । च. वि. ३-५६
४९. लंघनं अन्य बल दोषाणां । लंघनेन हानि मारुत वृद्ध्या वातातपपरीतिमिवालमधुमलयो  
दोषः प्रशोषमापद्यते । च. वि. ३-५१
५०. त्वा दोषाणां प्रमीदानां निराधार्याद्य विद्विषणम् । च. सू. २२-२४  
शिशिरे लंघनं शस्तमपि वातविकाराणिम् । च. वि. ३-५२

५१. सर्व देह प्रसुतान् सामान् देशान् निहिते ।  
लीनान् धातुञ्जुतेविलाष्टन् फलदामाद्रसनिव ।  
आश्रयस्य हि नाशाय ते स्तुः द्विनहरत्वतः । च. ह. सू. १३-२८, २६
५२. पाचनैः दीपनैः स्नेहैः तान् स्वेदेष्व परिच्छतान् ।  
शोधयेत् शोधनैः काले यथा सन्त यथा बलम् । अ. ह. सू. १३-३०
५३. दोषावसेचनं तु खलु अच्छाभेदं प्राप्तकालमयात्प्राप्तस्य नैव विद्यय कुर्यात् । तद्यथा  
अनपवाप्तीकारस्याधनस्यापत्रिचारकस्य वैद्य माननश्चात्प्राप्तस्याद्युपकस्य तीव्रधमाकृते:  
अतिक्षीणबलमासशोणितस्यासाध्य रोगोपहतस्य मूमुष्टिलिङ्गान्वितस्य चेति । एवंविद्य  
हृयातुगुपचरस् खिष्णग् पापीयसाऽप्यसायोगमच्छतीति । च. वि. ३-५३
५४. दोषावसेचनं तु खिष्णग् पापीयसायोगमच्छतीति ।  
दोषावसेचनं तु खिष्णग् पापीयसायोगमच्छतीति । वर्षदिनैः पुनर्हमतान्
५५. तत्रातिव्यस्योद्यगमनमादानव ग्रीष्मावीन् ग्रीष्मावीन् व्यावस्येत् । वर्षदिनैः पुनर्हमतान्  
दक्षिणायनं विसर्गा च । च. सू. ६-४
५६. हैमतो ग्रीष्मो वर्षाश्वेतोषा वर्षा लक्षणप्रयः ऋद्युवो भवति । तेषामतरेषांतरेषितरे  
साधारणलक्षणस्य ग्रावृद्धशर्दवसंताः इति । च. वि. ८-१२७
५७. प्रावृद्ध शुचि नभी जेयो शर्दुर्जुनं सहैपुनः ।  
तपस्यश्च मधुश्वेतव वसंतः शोधनं प्रति ।  
ऐतानदुर्जुनं विकलायेव दद्यात् संशोधनं चिष्णग् । च. सि. ६-५, ६
५८. शुचि नभी आशद्वश्वेताणी उर्जु सहै कार्तिकमार्गशीषी, तपस्या: फल्लुना, मधुश्वेतः ।  
स्तोत्राद्वद्वल चिंतायां स्वस्य वृत्तानुष्ठानेन्द्रुच शिशिरादिक्रमो भवति, संशोधन व्यवस्थायां तु
५९. प्रावृद्ध शुचि नभी जेयो शर्दुर्जुनं सहैपुनः ।  
तपस्यश्च मधुश्वेतव वसंतः शोधनं प्रति ।  
ऐतानदुर्जुनं विकलायेव दद्यात् संशोधनं चिष्णग् । च. सि. ६-२५, ६
६०. तस्माद्वस्ते कर्मणि वमनादीति कारयेत । च. सू. ६-२३  
च. पा.-वमनादीति वमन प्रधानानि । तेन आपानश्चवेन यदि वमनप्रकोपस्तथादिविद्यो  
भवति तदा विरचनाश्चपाननुवासनमपि प्रवृत्तिभवति । शिरोविरचनं तु कफनाशिकः ।
६१. तिक्तस्य सप्तिषेपानं विरेकी रक्तमोक्षणम् । च. सू. ६-२४
६२. स्वस्थस्योर्जित्वरं यतद् तद् वृष्णं तदस्यायनं । च. वि. १-१-७
६३. अपत्संस्तानकरं यत्तदोक्षणम् ।  
वाजीवातिबलो येन यात्प्रतिविद्यतः चिष्णः ।  
वाजीकरणेव तत् । च. वि. १-१-८ से ११
६४. रसायनानं द्विविद्यं प्रयोगमुष्टयो बिद्धुः ।  
ततस्यां संशोधने: शुद्धः शुद्धी जातबलः पुनः ।  
कुटीप्रावेशिकं चैव वातोत्पाकं मेव च । च. वि. १-१-१६
६५. ततस्यां संशोधने: शुद्धः शुद्धी जातबलः पुनः ।  
रसायनं प्रयुजीत तत्रवक्षयामि शोष्णम् । च. वि. १-१-१४
६६. शुद्धकोष्ठं तं जातवा रसायनमुपाचरेत । च. वि. १-१-२८
६७. पूर्ववचसि मध्ये चा तत्स्योर्ज्ञं जितात्मनः ।

स्त्रिधर्य सुतजलस्य विषुद्धस्य च सर्वया ॥ अ. ह. उ. ३६-३  
अ. द. . . . तथा सतधाऽधः उपरिषाञ्च शुद्धर्य।

६८. आवशुद्धे शरीरे हि . . . बाजीकरो वा मालिने वस्त्रे रोग इवापत्तः ॥ अ. ह. उ. २६-४  
नीतोऽु शुद्धेभ्यमले शरीरे . . . बलप्रदं च।

६९. नमात् पुरा शोधनमेव कार्यं . . . च. चि. २-१-५०, ५१  
पूर्वं शुद्धं शरीरणां निहैः सानुवासनैः।

बालापेशी प्रयुजीत यूकापत्य विवर्धनान् ॥।

यृष्टं तैलं रसम्भारं शक्तो यामु शुद्धताः।

७०. नहि वृद्धं योग . . . सिद्धान्ति रहे मालिने प्रयुक्ताः निनष्टे यथा वासि  
देखे उद्धरण – ६७. रागादोगः। च. चि. २-१-५०, ५१

७१. चाहावरं समादिनं परं निन्माणो नरः स्वेदयितव्य उक्तः।

ग्रायामौद्यमानपरसी समानैः उल्लेशनायः प्रयसा च नायः ॥ च. सि. १-६  
.....एकाहो परतस्तद्व शुक्ता प्रद्यवनं विवेत् ॥। च. सु. १३-८०

७२. सोहृत्याकृदनं जंतुखिराग्रोपतःः प्रिवेत् ।।

सोहृत्याकृद्यमुण्डं ऋहं शुक्ता त्सोदनम् ॥ च. सु. १३-८०  
वमनानन्तरं यदि विरचन कर्तव्यं तदा नवमोहितं सार्पिपानं ॥ च. पा., च. सि. १-२० पर  
पशाद् विरेको वांतस्य तत्प्रथामि निरुद्धणम् ॥ चु. चि. ३६-५१

७३. संसद्धं शक्तं नवमोहितं वर्णितस्य नावाक् ॥ चु. चि. ३६-५१ पर उद्धरण  
निर्विचितस्तु सप्तरात्रात्परो अनुवास्यः नावाक् ॥ चु. चि. ३६-५१ पर उद्धरण

साधानिरुद्धश्वचावास्यः सप्तरात्रात् विरेकतः ॥ चु. चि. ३६-५१

७४. कालस्तु बस्त्यादिषु याति यावन् ।

तावान् भवद् द्विः परिहार कालः ॥। च. सि. १-५४

७५. सर्वसमो हयसंसर्गे गीतियुक्तः स्थिरोद्यिः ।

प्रसत्तात्मा सर्वसहो विवेयः प्रकृति गतः ॥। च. सि. १२-६

७६. तज्जा देहोर्क्षसर्वांगोभ्यु पीडामदेष्वाऽः ॥।

तज्ज्वलां रेखां व्याघ्रयस्युर्यथांक्रमम् ॥ च. सि. १२-१२

७७. एतां प्रकृतिम् प्राप्तः सर्वं वज्राणि वर्जयेत् । महादोषं कराण्यष्टौ इमानि तु विशेषतः ॥।

उत्त्वे भाष्यं रथभीभमतिनक्तमणासने । अजाणाहित भोजये च दिवा स्वच्छं समेशुनेन । तज्जा  
तेहोर्क्षं ... ॥। च. सि. १२-१०, ११

७८. से द२ = च. सि. १२-१४ तत्रोन्मेभाष्यतिभाष्याभ्यां . . . प्रवाहाणामविषाद्यस्युः ॥।

७९. द३, द४, च. सि. १२-१४ विषमाहिताशनाभ्यां . . . तमः प्रवैश्यते इव च।

उदकं पूर्णं घटं पाशवं त्योत्पालावृ मुखादिषु च।

नेत्रं ग्राणाणान बाति त्रण बाति पैडन योग्यमिति । चु. सु. ६-४

सुबहुशुतोऽथकृतयोग्यो कर्मस्वयोग्यो भवति । चु. सु. ६-३

यथाङ्गं तरुणं गौर्णं तलपातं यथैव च।

गोपाल इव दंडेगा: सर्वसाद्यवचारतः ॥। च. सि. १२-४, ५

६०. तत्र चेत् विषयं काशित्वेव खलु पृच्छत् . . . च. वि. ८-८०, ८१

६१. शात्वा कोष्ठं प्रपाश्व यथासं विनिर्देत् ॥। अ. ह. सु. १३-२३  
शात्वानुकृत्वा मला: कोष्ठं याति वायोर्व निग्रहत् ॥। च. सु. २८-४७

६२. तीष्णः कदाचिङ्कुर्याति जिता लघनं पाचनैः।

६३. जिता: संसोधनयुष्टं न तेषा उत्तरहृभतः ॥। च. सु. १६-२०

६४. एवं विशुद्धं कोष्ठस्य काशानिरिच्छवधति । व्याधयोर्ष्वपेषाम्यते प्रकृतिश्वासुवत्तते ॥।

इदंद्याणि यन्त्रुद्धिं वर्णित्वात्यप्रसीदिता । बलं पुष्टिरत्यन्तं वृष्टता चास्य जारते ॥। जरा  
कृष्टठणं लभते चिरंजीवत्वत्नामयः ॥। च. सु. १६-१७, १८, १९

६५. विस्तार देखे—आयुर्वेद का बहु इतिहास—ते. अनिदेव विद्यालंकार  
देखे—आयुर्वेद का बहु इतिहास।

६६. देखे—आयुर्वेद का बहु इतिहास।

६७. 'History of Mankind' by Jacqueline Hawks and Sir Leonard Wooley, volume  
I, page 693.

६८. उपर्युक्तं प्रथं पु. ३६६

६९. उपर्युक्तं प्रथं पु. — ६६६

१००. 'Enemas were usually from 1 to 3 pints and contain all kinds of mild drugs,  
so that in the number of cases the intention must have been, to have them  
kept and absorbed, rather than to have cause an evacuation'. A History of  
medicine by Henry E. Sigerist. (page 338 volume I)

१०१. उपर्युक्तं प्रथं पु. ३६८

१०२. 'Seven bricks were heated and the cold drug was pored over, one after another  
while the pt. was held over the developing fumes, Ibid.'

१०३. We also have an interesting description of an apparatus use for inhalation.  
*Ibid.*

१०४. उपर्युक्तं प्रथं

१०५. उपर्युक्तं प्रथं

## द्वितीय अध्याय

### स्नेह-विज्ञान

**व्याख्या—**स्नेह का सामान्य अर्थ है स्निधि। जिसके द्वारा स्निधि किया जाता है वह क्रिया स्नेह कहलाती है। स्नेह तथा स्नेह की ल्युट्पत्ति इस प्रकार संभवित होती है—‘स्निधि में घज’ प्रत्यय से स्नेह यह (पुलिंग) शब्द बनता है। जिसका अर्थ प्रेम, तैलादि रस भेद तथा न्यायशास्क के ‘दाहाउकूल’ गुणभेद में होता है। यह स्नेह ऐसा गुण है जो जल महाभूत का है—और पदार्थ के पिंडीभाव में होता कहा है। स्नेहन यह नुस्क किया जाता है और इसका अर्थ होता है लिंगी शब्द है, जो ‘स्निह में-पिंच ल्युट’ प्रत्यय से बनता है और इसका अर्थ होता है तैलादि द्वारा अंगम करना।<sup>१</sup>

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि स्निधिता उत्तादक प्रक्रिया स्नेहन है और स्नेह द्रव्यों से यह किया जाता है। स्नेहन के व्याकरणार्थ से यद्यपि तैलादि अध्यग किया गया हो, आयुर्वेद में आभ्यंतर स्नेहपान के लिए भी ‘नातः परं स्नेहनमादिशाति’ इत्यादि वाक्यों से किया हुआ स्पष्टतः मिलता है। चरक ने स्नेह की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है—

“स्नेहं स्नेहं विष्वद् मार्दवं क्लेदं कारकम्।” च. मू. २२-११

अर्थात् निस प्रक्रिया से स्नेहन, विष्वदन, प्रदूता एवं क्लेदन उत्पन्न होता है उसे स्नेहन कहते हैं। यह एक चिकित्सा प्रकार है। रुक्षन चिकित्सा में कहा है, ‘रौक्षं खरत्वं वैशांयं अङ्गुरात् तद्दि लक्षणं।’ (च. मू. २२-१०)। अर्थात् जो रुखापन, खरता, विशदता उत्पन्न करती है यह चिकित्सा लक्षण है, स्नेह की विपरीत चिकित्सा है। रुक्षण को स्पष्ट करते हुए चक्रपाणि कहते हैं—‘विरुक्षणस्य हि मुख्यः स्नेहाभावः साध्यः।’ अर्थात् स्नेहभाव यह बात अवश्य समझनी चाहिये कि स्नेहाभाव यह रुक्षण हो सकता है—लेकिन रुक्षणभाव यह स्नेह होगा ही ऐसा नहीं है। रुक्षण को नष्ट करने से हमेशा स्निधि लक्षणों का मिलना संभव नहीं है। अपितु स्नेहन प्रक्रिया से ही स्नेहलक्षणों की प्राप्ति होती है। अतः वह एक सकारात्मक (Positive) क्रिया है। इसकी नकारात्मक व्याख्या (Negative) करना उचित नहीं है।

स्नेहन की व्याख्या में स्नेहन, विष्वदन, मार्दव और क्लेदन करनेवाली प्रक्रिया की स्नेहन कहा है, यह ऊपर स्पष्ट किया है। स्नेहन का लैकिक अर्थ लुबाब है विष्वदन वह है जिसमें विलयन क्रिया होकर सावध उत्पन्न होता है। मार्दव-क्लेदनों को कहते हैं और क्लेद को उपचर करनेवाली प्रक्रिया क्लेदन कहलाती है। क्लेद यह एक शरीर का आप्य घटक है। स्वेद से क्लेद का धारण होता है और मूत्र से क्लेद का वहन होता है। क्लेदन से क्लेद या शरीरका आप्य घटक का प्रमाण बढ़ने से चिपचिपान उत्पन्न होता है।

**स्नेह का सामान्य परिचय—**स्नेह विद्यान पंचकर्म में एक प्रमुख पूर्वकर्म है। पंचकर्म के बागन, विरेचनादि के पहले स्नेहन आवश्यक होता है। चरक सहित में सूक्ष्मशान के १३वें अध्याय में स्नेह का विस्तृत वर्णन है। यहां चक्रपाणि कहते हैं कि वर्मनादि प्रवृति में पहले स्नेहन किया जाता है। यहां व्याधियों में स्नेह प्रधान औषधि है, अतः स्नेह का अध्याय पहले कहा जाता है? इसी तरह स्थान-स्थान पर यह स्पष्ट किया गया है कि (वर्मन या विरेचन) दे।<sup>२</sup> स्नेहन या स्वेदन न कर कोई सशोधन प्रयुक्त करने का प्रयास करें तो उस आहुर का प्रयास करने पर वह दूर जायेगा। इस तरह स्नेहन एवं स्वेदन की प्रक्रिया में आचार्यों में बहुत सचेतता रखी है।

वर्मनादि क्रियाओं के द्वारा दोषों को शोधन किया जाता है। तत्पूर्व दोषों को स्थान विचलित करने के लिए, उत्तम स्नेहन, विष्वदन और क्लेदन करने के लिए स्नेहन आवश्यक होता है, तथापि पंचकर्म के पूर्वकर्म के स्वरूप में ही इसका महत्व है ऐसा नहीं है। जहां शोधन प्रयोजन से स्नेहन किया जाता है वहां वह पूर्वकर्म है और जहां रोगोकर उपकर्म के लिए स्नेह प्रयुक्त होता है, वहां यह प्रधानकर्म (षडुपक्रमोक्त) का स्वरूप धारण करता है। स्नेहन प्रक्रिया में आप्य तथा पार्श्विक महाभूतों के द्रव्यों का प्राधान्य है। विशेषतः आप घटकों का।

स्नेह द्रव्यों के गुण—जिन द्रव्यों के द्वारा स्नेहन किया जाता है उस स्नेह द्रव्यों में निम्नलिखित गुण होते हैं—

- |            |         |            |
|------------|---------|------------|
| १. स्निग्ध | २. गुरु | ३. शीत     |
| ४. मुद्द   | ५. प्रव | ६. पिच्छिल |
| ९. सर      | ८. मंद  | ७. सूक्ष्म |

इन गुणों से युक्त द्रव्य प्रायः स्नेहन करते हैं। इन द्रव्यों से स्नेहन कैसे होता है, यह स्नेह का कार्युक्तव समझने के लिए स्नेह द्रव्यों के गुणों का अर्थ, इनकी परिभाषा और गुणों के कर्म समझना चाहिए, जिसका विचार नीचे कियो है।

१. स्निग्ध गुण—स्निधि का सामान्य अर्थ है चिकनाहट। यह चक्षु से देखा जा सकता है। यह आप्य महाभूत का विशेष गुण है, ६ तथापि भूत संगठन की दृष्टि से यह आप्य और पार्श्विक है।<sup>३</sup> हेमादि के अनुसार क्लेदन करनेवाला गुण स्निध है।<sup>४</sup> सुश्रुत ने स्निध गुण के चार कर्म (अ) स्नेहकृत् (आ) मार्दवकृत् (इ) बलकृत् (ई) वर्णकृत् दिये हैं।

स्नेह के कार्युक्ता में सबसे प्रधान यही गुण है। इसी के कर्म से इस प्रक्रिया को ‘स्नेहन’ नाम भी आनंदित हुआ है अन्य गुण इसके कार्य के सहाय्यकारी समझना चाहिए, किंकड़ना स्निध गुण जहां होगा वहां ये गुण रहते हैं। स्निध गुण वातहर है, कफकर है और वृष्ट है। यह गुण संग्रह पिंडीकरण तथा मूजा-शोधन-चूड़ करने में भी सहाय्य करता है। इससे शरीर के अनुस्तरपर स्नेहन, विष्वदन, क्लेदन और मूजा-शोधन ये कार्य होते हैं।

२. गुणुण<sup>१०</sup> — गुणुण का सामान्य अर्थ है भारीपन। यह भारीपन आयुर्वेद में केवल वजन देखिकर निश्चित किया जानेवाला नहीं है। आपित्र कर्म समेक्ष्य है। जिस द्रव्यों का जठरानि के द्वारा चिरकाल से पाक होता है उनको गुण कहते हैं। गुण में कर्म होते हैं—

### १. सादक्षत्

#### ४. तर्पणकृत्

#### ५. बृहणकृत्

साद का अर्थ है शरीर में गलनि करना। गुण द्रव्यों के सेवन से अनिसाद और अगसाद उत्पन्न होता है। उपलेप का अर्थ मल की वृद्धि करना है। डल्हण ने कफ वृद्धिकर ऐसा भी अर्थ किया है। गुण से बल और कफ दोनों की वृद्धि होती है। तर्पण 'तुर्सिजनक' को कहते हैं और बृहण के वृद्धिकर को कहते हैं। हेमाद्रि ने गुण को 'देह को पुष्ट करनेवाला' इस एक सूखल कार्य से स्वीकार किया है। गुण को भाव प्रकाश ने वातहर, कफकर, पुष्टिकर और देह से परमेवाला रेसा कहा है। यह पृथ्वी और अप् की प्राधान्यता से रहता है, तथापि पृथ्वी महाभूत का गुणुण में विशेष प्राधान्य समझना चाहिये।

### ३. शीतिगुरु<sup>११</sup> — शीत का सामान्य अर्थ ठंडापन। शीत गुण के द्वारा

#### १. ब्लादन

#### २. स्तंभन

#### ३. मूर्छा हरण

#### ४. त्रुष्णा प्रशमन

#### ५. ख्वेद हरण

#### ६. वाह्रशमन

ये कार्य होते हैं : अर्थात् जो आनंद और उत्साह को बढ़ाता है, शरीर में संकोचादि संभन के कार्य करता है, मूर्छा को दूर करता है, ख्वेद को कम करता है, रुषा और दह वायव्य है। अतः जो स्त्रिय और शीत है उसे आया क्राघर निर्माण करना। अरु गुण शीत गुण आया और वैसे ही स्नेह द्रव्यों में आया क्राघर निर्माण कहा गया है। यह स्तंभन करनेवाला गुण शीत है तथापि इसके द्वारा अवरोध का अर्थ न करे। स्तंभन का अर्थ शरीर के मांसपेशी तथा अन्य गत्रों को दूर करने वाला रेसा करे।

### ४. मृद्गुण<sup>१२</sup> — मृद्ग का सामान्य अर्थ है कोमलता और नजुकपन। जिसके द्वारा

मृद्गता-कोमलता उत्पन्न हो वह मृद्ग गुण हो। अवयवों को दुर्द एवं संघातयुक्त करनेवाला कठिन गुण होता है। इसके विपरीत अर्थात् शिथिलतादिकारक गुण मृद्ग है। अरुणदत्त ने 'शिथिलवयत्तं मृदुतं' ऐसा कहा है। मृद्ग को भौतिक गुण स्पर्शगद्धा है। मृद्ग यह आया, तथा नाभस गुण है। मृद्ग को सूक्ष्म ने 'तीर्था' का विपरीत गुण कहा है। तीर्था गुण दाह, पाक और ताक करता है। मृद्ग से इनका प्रशमन होता है। स्नेह द्रव्यों में मृद्ग गुण का अरुणदत्त तथा हेमाद्रि का कहा हुआ "शाथीलीकरण" यह कार्य अधिक उचित है। त्रोतस के स्तर पर दोनों को मृद्ग करना यह इससे होता है।

### ५. द्रव्यगुण<sup>१३</sup> — द्रव का सामान्य अर्थ है तरल। जो गुण करने का कर्म करता

है उसे द्रव कहते हैं। यह सांद्र के विपरीत गुण है, सांद्र गुण बंधकारक होता है। द्रव से आदिध्वाव उत्पन्न होता है। इसको 'व्यापि' अर्थात् शीघ्रता से शरीर में प्रसरण करनेवाला

भी कहा गया है। हेमाद्रि ने द्रव को आलोड़नकारक कहा है। आलोड़न का अर्थ घोल करना है। इसे 'स्पंदनकारक' भी कहा है। संक्षेप में द्रव्यगुण के द्वारा स्नेह द्रव्यों का शरीर से शीघ्रता से प्रसरण, दोनों को तिलयन करना और लवणशक्ति बढ़ाकर स्थान से लावित करना, ये कार्य होते हैं। यह अप् महाभूत प्रधान गुण है और इसके भौतिक स्वरूप का चक्षु से जान होता है।

#### ६. पिच्छिल गुण<sup>१४</sup> — पिच्छिल का सामान्य अर्थ है चिपचिपापन। पिच्छिल गुण

चक्षु से तथा स्पर्श से ग्राहा (गम्य) है। इसमें अप् महाभूत का प्राधान्य होता है। पिच्छिल के पांच कार्य सुश्रुत ने दिये हैं।

१. जीवन — जीवन का अर्थ है आयुष का अनुबंधन करना। यह इस क्षाति धारु में यह कार्य करता है। २. बल वृद्धि करना। ३. संघात निर्माण-अवयव समूहों की अनु स्तर पर इकट्ठा रखना यह संघात है। ४. श्लेष्य वर्धक-कफ को बढ़ाता है जिससे बल बढ़ता है। ५. गुरुता निर्माण करना। अरुणदत्त ने गुण सांद्र, विक्रमा या चक्रतकाप्रयापन कहा है। हेमाद्रि ने लेपकारक कहा है।

#### ७. सरगुण<sup>१५</sup> — सर का सामान्य अर्थ है सरकरा, खिसकना, गतिशीलता, प्रसरणशीलता। जिससे अनुलोपन होता है उसे सर कहते हैं। अरुणदत्त ने इसे प्रवृत्तिशील

तथा हेमाद्रि ने प्रेरणशील कहा है। सर वात एवं मल का इन कार्यों से प्रवर्तन करता है। सर गुण आया है। बाघट ने सर के स्थान में चल का निर्देश किया है। दोनों में समानता कहीं जा सकती है— तथापि चल-गुण वायव्य है— और सर आया। अतः जो आकाश में चलन करते हैं उन द्रव्यों को चल प्रधान वायव्य समझे और जो प्रसरणशील-माध्यम के द्वारा त्वरित होते हैं— वे सर समझे।

८. मंदगुण<sup>१६</sup> — मंद का सामान्य अर्थ है धीमापन सुस्त। जो देसे कार्य करता है, धीरे-धीरे कार्य करता है वह मंद गुण है। अरुणदत्त इसे चिक्कारित और हेमाद्रि 'शमन' करनेवाला गुण कहते हैं। इससे न्यौह द्रव्य धीरे-धीरे शरीर में प्रसृत होते हैं और शमन का काम करते हैं। न्यौह द्रव्यों का दोष, धातु और मलों के साथ अधिक काल तक संपर्क में रखने का नाम मंद गुण से होता है। यह आया भूयिष्ठ है।

९. सूक्ष्मगुण<sup>१७</sup> — सूक्ष्म का सामान्य अर्थ है बारीक। यह सूखल गुण के विपरीत गुण है। सूक्ष्म उसे कहते हैं जो बारीक-बारीक तोतों में और छिँद्रों में प्रवेश करता है। हेमाद्रि ने सूक्ष्म को विवरणशील कहा है। जिसका अर्थ है— घटकों को अलग-अलग करना। न्यौह द्रव्यों में सूक्ष्म गुण का बहुत महत्व है। इससे धातुतोतों में प्रवेश क्षमता प्राप्त होती है। यह आनेय, नाभस तथा वायव्य है, तथापि इसमें आकाश-महाभूत का प्राधान्य समझना चाहिये।

संक्षेप में न्यौह द्रव्यों के गुणों का यह परिचय है। न्यौह द्रव्य आया प्रधान है।

#### १०. द्रव्यों का भौतिक संगठन

इससे स्पष्ट होता है कि न्यौह में प्रायः आया गुणों की प्रधानता है। त्विष्ठ, सर, शीत,

मुट्ठ, पिंचिल, मंद दे गुण आय हैं। सूक्ष्म एवं मट्ठ दे गुण नाभ्रस हैं। गुरु यह पार्थिव गुण है। स्नेहों में अनिण्णा की अल्पता देखी जाती है, किन्तु अभाव नहीं समझना चाहिये। बस्तुतः स्नेह को पहले ही व्याख्या में 'यद्यश्वात् दाहानुकूलम्' ऐसा न्याय का आधार देकर दहनशील बताया है। प्रत्यक्ष में भी स्नेह से दोष जलाना, स्नेह से अग्नि बुद्धि ये देखे जाते हैं। स्नेह का आय प्रधान होते हुए तेजसांश रहना कुछ विवरद्ध प्रतीत होता है। बस्तुतः जल और तेज में स्थूलतः विरोध होते हुए भी स्थिरतातः तत्वतः अंतरोगत्वा विरोध नहीं है। पंच-पञ्चीकणात्मक आकाश-वायु और अग्नि का जल में अधिष्ठान होता ही है। स्नेहों को उष्ण संस्कार से अग्नि गुणाभिभूत कर प्रयोग किया जाता है। स्नेह गुणों के कार्य पीछे स्थापित किये हैं। तालिका में इन कार्यों का अधिष्ठान भूत जो जो शरीर घटक, स्नेह द्रव्यों के द्वारा निर्माण होता है—उनका भी निर्देश किया है। इन घटकों का आगे 'स्नेह कामुकत्व' का विचार करते समय पुनः विमर्श किया गया है। तालिका देखें। (पृ० ४३)

**स्नेह भेद—स्नेहों के अनेक प्रकार हैं। भेता हि भेद अन्यथा भिन्नति इस चरक**

**सूत के अनुसार इसके अनेक द्विष्टिकोण में से भेद किये जाते हैं।**

**१. योनि भेद<sup>१८</sup>—योनि उत्पत्ति हेतु को कहते हैं। तदनुसार स्नेह दो प्रकार के हैं।**

**२. स्थावर स्नेह,** **२. जांगम स्नेह।**

**३. स्थावर स्नेह—जो वनस्पति के द्वारा उत्पन्न होते हैं उन्हें स्थावर स्नेह कहते हैं। स्थावर स्नेहों में तिल का तेल सब से प्रधान है। तेल संज्ञा भी 'तिलोद्धव' जो तिल से उत्पन्न होता है वह तेल इस अर्थ में दी गयी है और बाद में पंकजवत सभी तेलों में रुद्ध हुई है। जिन वनस्पतियों से स्नेह प्राप्त होता है उन्हें 'स्नेहाशय' कहते हैं। चरक ने १८ स्नेहशयों के नाम गिनाए हैं, वे ये हैं<sup>१९</sup>:**

१. तिल
२. प्रियाल (चिरींजी)
३. अभिषुक (औतर पर्याकः)
४. विभीतक (बहेड़ा)
५. एड
६. सर्षप
७. मधुक (महुआ)
८. कुरुंभ (करड़)
९. अरुक (भलातक भेद)
१०. बिल्व
११. मूलक
१२. निकोठक (अंकोठ)
१३. अतसी (अलसी)
१४. करंज
१५. अक्षोड (अकरोड)
१६. शिषु (साहिंजन)
१७. अभया (हरड़)
१८. निचोड़क, भलातक की जलाकर ऐसे उपायों से स्नेह निकालते हैं। प्रयः चीज, बीज पञ्जा इनके अंदर से स्नेह प्राप्त होता है। उपर्युक्त औषधि के अतिरिक्त और भी स्नेहशय हैं, जिनका तिलादि उपलक्षण से ग्रहण होता है। वे हैं—जयपाल, मालकांगनी, बादाम, शीशम, निब, जैदूस, निलगिरी, लवंग, अमलवद्ध (कोकम) मूँफली इत्यादि। इनमें लवंग-निलगिरी इत्यादि कुछ में स्नेहापेक्षा वेदना हाल्त ही प्रधान गुण है। निब में लवंग-शमकत्व, मालकांगनी का बुद्धि—मेघा-वाचा पर प्रभाव है। कदम्बिचर इन औषधि

गुणों के प्राधान्य से यहाँ उल्लेख न हुआ हो। चक्रपाणि ने कहा भी है कि यहाँ निलादि आविष्कृत तम हैं अतः गिनावे गये हैं। इससे न कहे हुए निबादि के स्नेह भी बौद्धिक हैं।<sup>३०</sup>

सुशुत्तोक्त स्थावर स्नेह— सुशुत्त ने स्थावर स्नेहों को कार्यकृता के आधार पर निश्चनोपयोगी, वर्मनोपयोगी इत्यादि प्रकार से विभक्त कर वर्णन किया है।

१. विरेचनोपयोगी स्थावर स्नेह— तिलबक, एंड, कोशाम, जमालगोटा द्रवंती (मोगलाई एंड), (सातला), शाखिनी (यवतिका), ढाक विषाणिका (मेवशूणी) गावाक्षी (इंद्रधनुष), कमीला, आमलतास और नीलिनी ये विरेचनोपयोगी स्नेह हैं।<sup>३१</sup>

२. वर्मनोपयोगी स्थावर स्नेह— जीमूतक, कूड़ा कृतवेधन, इक्षवाकु (कडवौदुंबी), धामार्गव (विधा तुड़ी), मदनफल ये वर्मनोपयोगी स्नेह हैं।<sup>३२</sup>

३. शिरोविरेचनोपयोगी स्नेह— विडंग, विरचिटा, मीठा सहिंजन, सूर्यवल्ली (हुलहुल), पीलु, सरसों, मालकांगनी इनका स्नेह शिरोविरेचन (नस्य) में उपयोगी है।<sup>३३</sup>

४. दुष्ट ब्रानोपयोगी स्नेह— कांज, पूर्णि कांज, आमलतास, बिजौरा, हिंगोट, चिरायता, इनका स्नेह दुष्ट ब्रण में रोपणोपयोगी है।<sup>३४</sup>

५. महाव्यायुषोपयोगी स्थावर स्नेह— तुवरक, कैथ, कमीला, घिलावा, पटोल इनका स्नेह महाव्यायुष (कुष्ठादि) में उपयोगी है।<sup>३५</sup>

६. मूत्रसंग में उपयोगी स्थावर स्नेह— छीरा, ककड़ी, ककसि (फट), तुब्बी, पेठा ये मूत्रसंग में उपयोगी स्नेह हैं।<sup>३६</sup>

७. अस्परी में उपयोगी स्थावर स्नेह— ब्राह्मी, बाङुची, हर्ड इनका स्नेह शर्करा और अस्परी में उपयोगी है।<sup>३७</sup>

८. जमेहोपयोगी स्थावर स्नेह— कुम्भ, सरसों, अलसी, नीम, माधवी लता, थांडी, कड्डी तुंबी और नीली अपराजिता इनका स्नेह प्रमेह में उपयोगी है।<sup>३८</sup>

९. वित संसुष्ट वायु में उपयोगी स्नेह— ताल, नारियल, कटहल, केला, प्रियाल, बेल, महुआ, लसूड़ा, अंबाड़ा इनके फल स्नेह वित संसुष्ट वायु में उपयोगी है।<sup>३९</sup>

१०. कृष्णीकरणोपयोगी स्थावर स्नेह— बहेड़ा, भिलावा, मैनफल इनका स्नेह श्वेत ब्रण को काला बनाने में उपयोगी है।<sup>४०</sup>

११. पांडुकरणोपयोगी स्थावर स्नेह— श्रवण, कुंक (प्रियंगु) और श्योनाक ये स्नेह काले को स्वत बनाते हैं।<sup>४१</sup>

१२. दुष्ट किटिथ कुष्ठ में उपयोगी स्थावर स्नेह— चीड़, देवदारु, शीशम, अगुरु इन लकड़ियों के सार का स्नेह दुष्ट, किटिथ और कुष्ठ में उपयोगी है।<sup>४२</sup>

१३. चरकोक्त स्थावर स्नेहों का विकिस्तोपयोगी सामान्य परिचय तालिका में दिया जाता है।<sup>४३</sup>

### स्नेहाशय द्रव्यों की परिचय तालिका

क्र.	चरकोक्त द्रव्य	प्रचलित नाम	लैटिन नाम	रस-विपाक	प्रधान गुण धर्म
१.	तिल	तिल	Sesamus indicum	कटु-तिक्त, मधुर, कषाय, विपाक-कटु स्वादु, गुरु	उष्ण, कफपित्तनाशक, त्वच्य, वातघ्र।
२.	प्रियाल	चिरौंजी	Buchania Latifolio	मधुर, विपाक, मधुर	स्त्रिघ, विष्टंभी, आमवर्धक, हृदय, पित्तवात शामक।
३.	अभिषुक	औत्तरपथिक: (च. पा.) संभवतः काबुल से आनेवला कोई द्रव्य (पिस्ता) ?	—	—	—
४.	विभीतक	बहेड़ा	Terminalia beleria	कषाय, विपाक-मधुर	उष्णवीर्य, लघुभेदन, वातकफहर।
५.	चित्रा	१. लोहित एंड २. जयपाल बीज (च. पा.)	Recinns communis Baliospermum Axillare	मधुर, कषाय विपाक-मधुर रस,-कटु, विपाक-कटु	उष्ण, गुरु, वातघ्र शूलघ्र, विड्भेदन तीक्ष्ण, उष्ण, सारक, दीपन, पित्त रक्तघ्र।
६.	अभया	हरीतकी हरड़े	Terminalia citrina	लवणवर्ज्य, पंचरसयुक्त, कषाय विशेष, विपाक-मधुर	उष्ण, रुक्ष, अनुलोमन, बृंहणादि।
७.	एंड	क्र. ५-१ देखें	—	—	—
८.	मधुक	महुआ	Basia-Latifolia	मधुर	शीत, गुरु, वातपित्तनुत, बृंहण।
९.	सर्षप	सरसों	Bassia-cam pistris	कटु	स्त्रिघ, तीक्ष्ण, उष्ण, कफवात नाशक, पित्तकर।

तालिका अगले पृष्ठ पर भी

१. जांगम स्नेह<sup>३५</sup> — जो स्नेह प्राणियों के द्वारा प्राप्त होता है उसे जांगम स्नेह कहते हैं। जांगम स्नेहों में मछलियाँ, हिरन तथा अन्य पशु पक्षियों के दृश्य, दही, घृत, मांस, वसा एवं मज्जा का प्रयोग किया जाता है। बाराह, व्याघ्र आदि की चारों, मछलियों के तेल, गोक्षीर, घृत, माहिषक्षीर, घृत, इनके दही, नवनीत, छाँछ इन सबका प्रचुर प्रयोग है।

२. कार्युक्ता के आधार पर भेद— स्नेहों के सुश्रुत ने कर्म के आधार पर विरचनोपयोगी, वमनोपयोगी, शिरोविरचनोपयोगी, दुष्ट्रणोपयोगी इत्यादि भेद से बाहर प्रकार किये हैं। उनको पीछे देखा गया है। इन सब कर्मों को तीन मूल कर्मों में विभक्त कर तीन प्रकार किये हैं।

३. शोधन स्नेह— शरीरस्थ दोषों को कठ्ठव, अधो मार्ग से बाहर निकाल देना शोधन है। इसमें विरेचनोपयोगी, वमनोपयोगी, शिरोविरचनोपयोगी स्नेहों का समावेश होता है। शोधन स्नेह का दूसरा अर्थ है— शोधन के उद्देश्य से दिया जानेवाला स्नेह। पूर्व दिन सायंकाल का भोजन किया हुआ अत्र अच्छी तरह पचन हो जाए, तब प्रातःकाल में बहुत अधिक मात्रा में दिया हुआ स्नेह शोधन कहलाता है।<sup>३६</sup> इस तरह स्नेह मात्रा बढ़ाकर सम्प्रकृति निराध हो जाने पर वर्मनादि शोधन किया जाता है।

४. शमन स्नेह— जो दोषों को न बढ़ाए, बढ़े हुए दोषों को कम करें वह शमन चिकित्सा है। शमन के लिए दिया हुआ स्नेह शमन स्नेह है। इसमें सुशुत्तोक्त कुष्ठ, किटिभादि में उपयोगी, दुष्ट क्रांतों में उपयोगी, पूर्वसंसा में उपयोगी, अश्मरी शर्करा में उपयोगी प्रमेहोपयोगी इत्यादि भेद से वर्णित स्नेह समाविष्ट होते हैं। शमन के लिए, भूख लाने पर, अभुक्त को मध्यम मात्रा में स्नेह दिया जाता है।<sup>३७</sup>

५. बंहण स्नेह— जिस चिकित्सा से शरीर को बुहूत किया जाता है, पुष्ट किया जाता है उसे बंहण कहते हैं। बंहणार्थ दिया हुआ स्नेह बंहण स्नेह है। एतदर्थं मांस, मध्य तथा भोजन के साथ मिश्रित कर अल्प मात्रा में स्नेह देना चाहिये।<sup>३८</sup>

६. मात्रा के आधार पर भेद— बर्षुतः मात्रा यह वर्णण क्रम में अपेक्षित विषय है। वह स्नेह भेद का आधार नहीं हो सकती, तथापि मात्रानुसार स्नेहों को खास रोगों में खास उद्दिष्टों से स्नेह देने का उपदेश मिलता है। अतः एक भेद काल्पित किया है। स्नेह इस तरह चार मात्रा में विभक्त होता है।

१. हस्तीयसी मात्रायुक्त स्नेह
२. हस्त मात्रायुक्त स्नेह
३. मध्यम मात्रायुक्त स्नेह
४. उत्तम मात्रायुक्त स्नेह

इनका विस्तृत विचार योग्य स्थान में आगे किया है।

५. पाक भेद से स्नेह प्रकार— स्नेह निर्माण की प्रक्रिया में, पाक के आधार पर विशिष्ट पाक का विशिष्टोपयोग किया जाता है : पाक भेद से स्नेह तीन प्रकार के हैं।<sup>३९</sup>
  १. मुट्ठ पाक
  २. मध्य पाक
  ३. ऊर पाक- ५. उपयोग पञ्चति से स्नेह भेद— स्नेह उपयोग बाह्य और आन्तर दो प्रकार से किया जाता है।<sup>४०</sup>

४८.	त्रिप्तिक	त्रिप्तिक	जुलियास रेगिया	Polygonum Cleafra	३५२, ३५३	४८.	त्रिप्तिक	त्रिप्तिक	Morinda Pterygos-Perrma	३५४, ३५५
४९.	त्रिप्तिक	त्रिप्तिक	—	—	३५४	४९.	त्रिप्तिक	त्रिप्तिक	Alangiium Lamareku	३५५, ३५६, ३५७
५०.	त्रिप्तिक	त्रिप्तिक	—	—	३५५	५०.	त्रिप्तिक	त्रिप्तिक	Limum Usita Tisbiumum	३५७, ३५८, ३५९-३६०
५१.	त्रिप्तिक	त्रिप्तिक	—	—	३५६	५१.	त्रिप्तिक	त्रिप्तिक	Raphanus Sativus	३५८, ३५९
५२.	त्रिप्तिक	त्रिप्तिक	—	—	३५७	५२.	त्रिप्तिक	त्रिप्तिक	Linum Usita Tisbiumum	३५९, ३६०, ३६१, ३६२-३६३
५३.	त्रिप्तिक	त्रिप्तिक	—	—	३५८	५३.	त्रिप्तिक	त्रिप्तिक	Alangiium Lamareku	३६१, ३६२, ३६३
५४.	त्रिप्तिक	त्रिप्तिक	—	—	३५९	५४.	त्रिप्तिक	त्रिप्तिक	Polygonum Clebra	३६४, ३६५
५५.	त्रिप्तिक	त्रिप्तिक	—	—	३६०	५५.	त्रिप्तिक	त्रिप्तिक	जुलियास रेगिया	३६६, ३६७
५६.	त्रिप्तिक	त्रिप्तिक	—	—	३६१	५६.	त्रिप्तिक	त्रिप्तिक	Molinia Petrygoes-Perrma	३६८, ३६९

१. बाह्य—बाह्य स्नेह निर्मलिति प्रकार से उपयोग किया जाता है।

२. अध्यंग ३. मर्दन

४. उद्वर्तन ५. संवाहन

६. मूर्धनील ७. गांडा

८. परिषेक ९. पितृ-योन्यादि में

२. आभ्यंतर—आभ्यंतर प्रयोग

१. भोजन २. पान

३. नस्य ४. बस्ति प्रकार से

४ प्रकार का है।

नस्य, बस्ति से स्नेह का प्रवृत्त आभ्यंतर शोषण मानने से उसे आभ्यंतर में लिया है।

५. विशिष्ट संज्ञा के भेद—ग्रंथों में स्नेह प्रयोग में विशिष्ट नाम देकर जिनका बोध किया है ऐसे तीन स्नेह हैं।

१. अच्छपेय २. सद्यः स्नेह

३. पांच प्रसुतिकी पेया ४. प्रकार का है।

६. संघोत के आधार पर भेद—एक स्नेह का दूसरे के साथ संयोग का उपयोग करने का विधान बार-बार आता है। उस प्रिय स्नेह के विशिष्ट नाम दिये गये हैं।<sup>४०</sup>

१. यमल स्नेह—दो स्नेहों का मिश्रण।

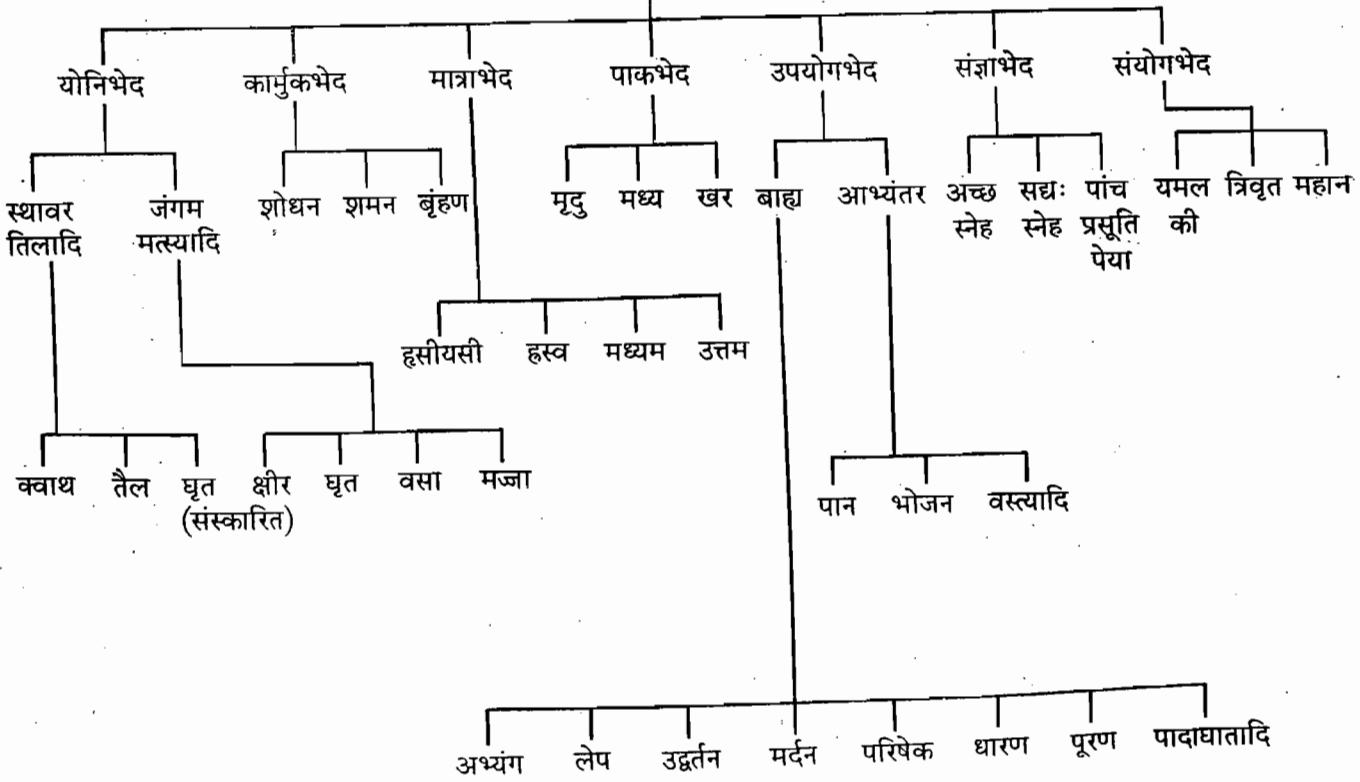
२. त्रिवृत स्नेह—तीन स्नेहों का मिश्रण।

३. महास्नेह—चार स्नेहों का मिश्रण।

**सारांश—** भेद में व्याप्ति अनेक प्रकार का वर्णन किया गया है, तथापि शास्त्र में मुख्य दो भेद होते हैं। एक स्थावर स्नेह व द्वासरा है जांगम स्नेह। बाकी भेद भेत्ता पर निर्भर हैं।

उत्तम स्नेह—स्नेह व्याप्ति अनेक प्रकार के हैं, प्रयोग में चार स्नेहों का अत्यधिक महत्त्व है। वे हैं—थृत, तैल, वसा और मज्जा। ये चार 'उत्तम स्नेह' माने जाते हैं।<sup>४१</sup> इनमें भी धी सबसे श्रेष्ठ है। क्योंकि धी में सरकरण से गुण की बढ़ाने की क्षमता है। धी को चिक्रादि अन्य द्रव्यों के साथ मिलने पर वह अपने गुणों को न छोड़ते हुए उनके गुणों का बहन करता है।<sup>४२</sup> इसे सरकारानुवर्तन का अर्थ अन्य ठीकाकार उपरात न करते हुए इससे के गुणों का बहन करना यह करते हैं, एवं यह धृत में न रहकर तैल में हो रहा कहते हैं। तैल में सरकारानुवर्तन से स्वभावतः उषा तैल शीत होता है। उदाहरण—दाह प्रशमनार्थ ज्वरोन्त चन्दनादि तैल। यहाँ धी सरकारानुवर्तन के बारे में चक्रपाणि ने कुछ हैरु तथा मातांतरों को बताया है। वे कहते हैं कि—चिक्रादि के साथ धी को मिलाने पर धी अपने गुणों की शैत्य, स्त्रियादि को छोड़ता नहीं है और उसके गुणों का अनुवर्तन करते हैं। वह पहले अपने गुणों को प्रभावित कर किंतु संस्कारक के गुणों का अनुवर्तन करता है। जैसे कि कहा है—धी त्रिग्राह है जिससे वात का शमन करता है, मषुर है और शीत है जिससे पित का शमन करता है और कफ के साथ वह समान गुण युक्त होते हुए धी संस्कार से कफ शमन करता है। यहाँ यह धी कहा नहीं जा सकता

### स्नेह भेद तालिका



कि रुक्ष, उषा गुण युक्त चिकित्सा के संस्कार से वह रुक्ष होकर कफ को जीतता है, वर्योक्ति घृत से विरुद्ध गुण (शैत्य, स्निध के विरुद्ध) उपरके अंदर कैसे रहेंगे? इसका अर्थ है कि घृत के साथ रहनेवाले चिकित्सक में ही रुक्ष-उषा ऐ गुण रहते हैं। इस तरह गुण विरुद्ध-चिकित्सक का भी वह अनुवर्तन करता है। इसरों का मत है कि संसकारानुवर्तन अनुपचारात् से दूसरे के गुण बहन को कहत हैं और वह तैल में है न कि धी में, घृत में जो संसकार विक्रियों के संस्कारार किये जाने पर तत्त्वानाम से कहा है वह धी में, संसकार के गुण से किसी एक के उपचार से होता है। (२) वैसे ही दाह प्रशमनार्थ ज्वरोबल चंदनादि संस्कार से शीत होता ही है। इस चर्चा में परस्पर विपरीत मत और उनके सिद्धि में बोल्डिक कहसरत है। कोई भी दूसरे से विरुद्ध गुणों को बढ़ाने में किस तरह सहायक होता है और उनमें अपने गुणों को न छोड़ते हुए वह कार्य संपन्न करता है, यह विषय जटिल है। उपर्युक्त सिद्धांत की वैज्ञानिक अनुवेषण की आवश्यकता है।

हेतु कुछ भी हो, लेकिन धी की श्रेष्ठता चरक, मुश्ति, वार्षभृत सभी ने खीकार की है, वसा का उल्लेख उत्तम स्नेहों में है। वसा यह मांस का उपचार है। वस्तुतः मेद मूल धातु है जो स्नेह का कार्य करता है। उपरका स्नेहपान में उल्लेख होना चाहिये था। पहले जमाने में 'मेद' पान का उल्लेख पीछे किया है। कदाचित मेद का शरीर से बाहर निकलने का रूप 'वसा' में हो। प्रमेह में वसा मेद से कुछ पतली और मांस तथा मेद की बीच की स्थिति है। प्राणियों की वसा लेते समय वसा या मेद में भेदकरना दुष्कर है। मज्जापानका प्रचुर उपचार है। मज्जा स्वतंत्रता उपलब्ध होती है। इन उत्तम स्नेहों का पानार्थ, अध्यार्थ, नस्यार्थ तथा वस्त्रार्थ प्रयोग किया जाता है। इनके उपचार से शरीर में स्नेह, जीवन, वर्णप्रसादन, बलोपचय होता है।<sup>५३</sup>

स्नेह संज्ञाएं— इन चारों स्नेहों की, दो को मिलाने पर यमक, तीन मिलाने पर निवृत और चारों को मिलाने पर महास्नेह ये संज्ञाएं होती हैं यह ऊपर कहा है।

- यमक स्नेह—**
- १. सर्पि + तैल                    २. सर्पि + वसा
  - ३. सर्पि + मज्जा                    ४. तैल + वसा
  - ५. तैल + मज्जा                    ६. वसा + मज्जा

**निवृत स्नेह—**

- १. सर्पि + तैल + वसा
- २. सर्पि + तैल + मज्जा
- ३. तैल + वसा + मज्जा
- ४. सर्पि + वसा + मज्जा

**महा स्नेह—**

- १. सर्पि + तैल + वसा + मज्जा
  - २. अशत् + धी + तैल + वसा + मज्जा
  - ३. अशत् + धी + तैल + मज्जा
  - ४. अशत् + धी + तैल + वसा + मज्जा
- इन सब स्नेहों का वार्षट ने सर्पि, मज्जा, वसा और तैल यह क्रम दिया है और इनकी यथापूर्व पित्रप्रत तथा यथोत्तर वात कफस्त बताया है।<sup>५४</sup> अशत् धी सबसे अधिक पित्रप्रत है, फिर मज्जा और वसा सबसे कम पित्रप्रत है, तैल पित्रप्रत नहीं है। यथा पूर्व में तैल किसी का पूर्ववर्ति नहीं है। उत्तरोत्तर में मज्जा वातवृ, मज्जा से अधिक तैल वातवृ है। इसमें उत्तरवर्तित के अभाव में धी को छोड़ दिया है। इसको यूं कहा जा सकता है—वसा पित्रप्रती, मज्जा पित्रप्रत और धी पित्रप्रत है। मज्जा वातवृले प्रधार, वसा वातवृले प्रधार और तैल वातवृले प्रधार होती है।<sup>५५</sup> इसी तरह धूत से तैल गुरु है, तैल से वसा गुरु है, वरा से मज्जा गुरु होती है।<sup>५६</sup>

## उत्तम स्नेहों के गुण एवं उपयोग

१. गर्भ (घृत) के गुण एवं उपयोग— धूत यह क्षीर को विकृति (तज्ज्यपदार्थी) है। दूध से दही, छाल, मक्खन, मलाई, मावा, धी, दधिमस्तु इत्यादि अनेक स्नेह द्रव्य तैयार किये जाते हैं। दूध के भेदों के अनुसार धी के भी गो, महिंशी, अजादि भेद होते हैं। प्रयोग में गव्यधूत (गाय का धी) श्रेष्ठ समझा गया है। धूत पर स्थावर वनस्पतियों के संस्कार किये जाने पर तत्त्वानाम से नामाभिधान किया जाता है। चिकित्सा में त्रिपलाधूत, शतावरी धूत, तिक्तक-धूत आदि अनेक संस्कारित धूतों को बरता जाता है।

घृत के गुण— धूत पित्र एवं वात को प्रामाण करता है। दाह को कम करता है। स्वर और वर्णका प्रसादन करता है। गांत्रों को मुट्ठ करता है। एवं रस, शुक्र, ओज को बढ़ाता है।<sup>५७</sup> बुद्धि, स्मृति, धारणाशक्ति, अपन एवं शरीर बल को बढ़ाता है। धी नेत्र के विकारों में हितकर है। वयःशापन है। क्षतक्षीण है। शोषणादि में हितकर है। पित्रशामक होने के कारण शारदधूत में सेवन से लाभ पहुँचाता है।<sup>५८</sup>

घृत से स्नेहार्थ— धी से स्नेहन निमलिखितों को करना योग्य होता है।<sup>५९</sup> १. जिनकी प्रकृति वातपित्र धूयधूत विकार से लाभ पहुँचाता है।<sup>६०</sup>

२. जिनको वातपित्र धूयधूत विकार है।<sup>६१</sup>

३. नेत्रों की दृष्टिक्षमता बढ़ाने के जो इच्छुक हैं।<sup>६२</sup>

४. क्षतक्षीण से पीड़ित आत्मुरों में।<sup>६३</sup>

५. बालकों में।<sup>६४</sup>

६. आयुष्य बुद्धि के इच्छुकों में।<sup>६५</sup>

७. स्त्रियों में।<sup>६६</sup>

८. संतानेच्छुक।<sup>६७</sup>

९. दाह शास्त्र विष से पिङ्कितों में।<sup>६८</sup>

१०. रुक्ष व्याक्तियों के लिए।<sup>६९</sup>

११. वृद्धों में।<sup>७०</sup>

१२. सुकुमारता के इच्छुक।<sup>७१</sup>

१३. धी धृति स्मृति मेंशाकांक्षियों में।<sup>७२</sup>

१४. उन्माद अपमार शूल ज्वर पीड़ितों में।<sup>७३</sup>

१५. तैल धूत ऊपर्युक्त विकारों में।<sup>७४</sup>

१६. तैल आनेय है अथर्तु उषा है, तीक्ष्णा है, मधुर और मधुरविषयी है। व्यवायी, सूक्ष्म,

विशद, विकासी, गुरु, सर, इन गुणों से युक्त है। यह लेखन है, इसका अनुरस तिक्त और कथाय है। वात और कफका नाशक है। लक्ष्य है, नेत्र के लिए हितकारी है, कृमिश है। योनि, शिर, गर्भाशय, शूलघ, कण्ठशूलघ है, मूत्र को रोकनेवाला है, शरीर मार्दवकर है तथा

मांसबल्य है। छिन्न, भिन्न विद्ध (सुई आदि से विधा), उचिष्ट (चूर्णित) चुत (स्थान से भ्रष्ट), मरिथत, शत, पिच्चत (चपटा हुआ), भन (टटा हुआ), स्टफ्ट (रस्ता), शारदण्ड, अग्निदण्ड, लिश्लाष्ट, अभिहत, दुर्भन, मूण, व्याल (सर्प आदि) के काटने पर परिषेक, अर्घ्या, अवगाहन, आदि कार्यों में तिल तिल उत्तम तैल है।<sup>१३</sup> तैल का उपयोग नैस्य, कर्णपूरण, अस्थिपूरण तथा अन्वयन के विधि में करना चाहिए।<sup>१४</sup> भिन्न-भिन्न धूतों और तैलों के गुण तालिका में देखें।

**तैल से स्नेहनहाई<sup>१५</sup>** — तैल से स्नेहन करना योग्य होता है वे निम्नलिखित प्रयोजन हैं।

१. जिनका कफ और मेद बहुत बढ़ा हुआ है।
२. जिन्हें वातव्याधि हुई है।
३. जिनकी प्रकृति वातप्रधान है।
४. बलवर्धनार्थ।
५. शरीर को पतला बनाने के लिए।
६. शरीर में लघुता लाने के लिए।
७. शरीरवयों में दाढ़ी के लिए।
८. गात्र स्थिता के लिए।
९. त्वचा को निष्ठा, तत्तु, स्लक्षण बनाने के लिए।
१०. क्लूकोष्टी के लिए।

११. नाड़ियाँ में रोपण के लिए।

१२. वसा के गुण एवं उपयोग— वसा मास की उपधारु है। इनमें ग्राम्य (गाय, उंड, महिला), आनंद, और तक (मछली इत्यादि) प्राणियों की वसा, मेद (मज्जा) गुरु, उण, मधुर सस, वातधृत होती है। जांगल (हिरन इत्यादि) एकशफ (घोड़े इत्यादि) क्रव्याद (व्याघ्रादि) की वसा शीत, लघु कथाय सस, रक्तपित नाशक प्रदुष (कबूतर इत्यादि) विक्षिक (बटेर) आदि) की वसा कफनाशक है।<sup>१६</sup>
१३. वसा से स्नेहनहाई— निम्नलिखितों में वसा से स्नेहन हितकर है।<sup>१७</sup>
१४. जो हमेशा वातु और धूप में धूमते हैं।
१५. अतिभार उठकर शीण हुए।
१६. शुक्र और रक्तक्षयवाले।
१७. अस्थि, संघि, सिरा, ल्नातु, मर्म, कोष्ठ में तीव्र रुजावाले।
१८. जिनकी अनि बहुत ही तीक्ष्ण है।
१९. विष और भान से पीड़ित।
२०. कर्णशूल वाले।
२१. व्यायाम सेवियों के लिए।
२२. मज्जा के गुण एवं उपयोग— मज्जा अस्थि के अंदर रहती हैं इसका मुख्य कर्म पूरण है। यह सब स्नेहों में गुरु है। मज्जा बल को बढ़ानेवाली सस, कफ और मज्जा को बढ़ानेवाली तथा अस्थि को दृढ़ करनेवाली होती है। मज्जा के गुण वसा के गुण के साथ कहे गये हैं।<sup>१८</sup>

१. मज्जा के स्नेहनहाई— निम्नलिखितों में मज्जापन योग्य है।

२. जो बहुत शारीरिक कष्ट का काम करते हैं।

३. घस्मर— जो बहुत खाते हैं।

४. वात से पीड़ितों के लिए।

५. क्लूर कोष्टिओं के लिए।

६. ऋद्ध के अनुसार— ऋद्ध शरद ऋद्ध में, वसा एवं मज्जा वैशाख में, तैल वर्षा या प्रावृद्ध में देना चाहिए।<sup>१९</sup> वसा और मज्जा धातु पर बृहणकारक हैं। मास अत्यंत श्रेष्ठ पांसवर्धन द्रव्य है। काल कम से वर्षा, शरद हेतु यह विसर्ग काल बलोपचय का है और इसमें अनि भी तीक्ष्ण होती है। अतः वसा और मज्जा का पान करावे।

७. वातपित प्रधान दोषों में तथा ग्रीष्म में स्नेह रात को लेवे, वातकफ प्रधान दोषों में, शीत ऋद्ध में द्विन में स्नेह दे। वातपिताधियों में उष्ण स्नेह दिन में देने से मूर्छा, पिपसा, उमाद, कमला, इत्यादि रोग होते हैं। कफ प्रधानता में शीत स्नेह रात में देने से आनाह, अरुचि, शूल, पांड इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं।<sup>२०</sup>

### भिन्न-भिन्न धूत और तैलों के गुण तथा उपयोग

नाम	गुण	उपयोग
१. गाय का धी	शीत, मधुर, विपाकी वातपित, विषनाशक।	नेत्रविकरों में, विषपीड़ितों में, बलवर्धन में।
२. जकरी का धी	विपाक-लघु।	अनिदीपन, चश्चुष्य, बल्य, कास, श्वास, क्षप में उपयोगी।
३. भैंस का धी	मधुर, शीत, कफवर्द्धक वातपित शामक।	रक्त पित्त में।
४. ऊंटनी का धी	कट्टुविपाक, कफवातप्र	शोथ, कृष्ण, कुष्ठ, गुल्म, उदर रोग में उपयोगी। दीपन।
५. घोड़ का धी	विपाक-लघु, कफ वायुशामक।	योनिरोग, शोष, कंपवात में हितकर।
६. घोड़ी का धी	विपाक-लघु, उण, कथाय-रस, कफनाशक।	दीपन मूत्र रोकनेवाला।
७. स्त्री का धी	चक्षुष्य, विषम, अनिदीपन, शरीर वृद्धिकर।	चक्षुष्य, विषम, अनिदीपन, मल अनिकारक कुष्ठ, कृष्ण में उपयोगी।
८. हथिनी का धी	कथाय, तिक्त, लघु,	

नाम	गुण	उपयोग
६. ट्रांग तैल	मधुर, उष्ण, तीक्ष्ण कषायातुरस, मधुर विपाकी, वातकपश्च, विरेचन।	अनिनदिपन, स्रोतों का शोधक त्वच्य, वृद्ध, वयः स्थापन योनि एवं शुक्रशोथन, कृति मेद्या, स्फुटि, बलकारक। कृष्णि, कुष्ठ, प्रमेह और शिरोरोग में उपयोगी।
७०. निंद, अतसी	कुमुख, मूलक, देवदाली, कमीला अर्क, पीतू, करंज, कंशदी, शिरु, सर्षप, सुबर्चला, विडंग, ज्योतिष्ठाती	देवदाली, कमीला अर्क, पीतू, करंज, कंशदी, शिरु, सर्षप, सुबर्चला, विडंग, ज्योतिष्ठाती
११. अतसी तैल	वारास, कटु; स्त्रिघ उष्ण, गुरु, पितकर।	आंठों के लिए अहितकर।
१२. सरसों का तैल	लघुः कपश्च, वातघ लेखन, कटु विपाकी।	कृष्मि, कंडु, कुष्ठ में हितकर मेद्या, अनिनदिपन।
१३. इंगदी तैल	तिक्तरस, लघु।	कृष्मि, कुष्ठनाशक, द्वष्टि, बल शुक्र को कम करता है।
१४. कुमुख तैल	कटु विपाक, विदेष प्रकोपक, विद्धी।	रक्तपितकारक, आंठों को अहितकर।
१५. विरापता, बहेडा, जीवंती, त्रुपस, पेठादि	मधुर, दातिपिण्याशमक, शीति, अधिकंदी।	मूर्मविचक, अनिमांद्याकारक।
१६. महुआ, पलाश (बीज) तैल	मधुर, कषाय रस।	कफपितनाशक।
१७. तुंवरक तैल भिलावा तैल	उष्ण, मधुर, कषाय, तिक्त, अतुरस, वातकपश्च।	कृष्मि, प्रमेह, वासक विरेचक।
१८. सरल, देवदार	तिक्त, कटु, कषाय।	व्रणशोधक कृष्मि, कुष्ठवातघ।
अग्रु आदि के तेल (सार का)		

नाम	गुण	उपयोग	उपयोग
१६. तुंबी, दर्ती, सप्तला, नीलिनी, यवतिक्ता का स्नेह २०. कालमेष का तैल	तिक्त, कटु, कषाय। विरेचन।	कृष्मि, कुष्ठ, कफवातुनाशक। क्रणशोधक।	कृष्मि, कुष्ठ, कफवातुनाशक।
२१. जिनका वमन या विरेचन से शोधन स्नेहयोग्य होते हैं। कुछ स्वेद बिना स्नेह के भी किए जाते हैं, जैसे रस ख्वेद-न्यायुक्तव्येद।	१. जिनका स्वेदन करना हो वे प्रायः स्नेहयोग्य होते हैं। कुछ स्वेद बिना स्नेह के भी किए जाते हैं।	२. जिनका वमन या विरेचन से शोधन करना है उड़े भी स्नेह योग्य समझना चाहिये।	आनिदिपन, मेद्या, पथ्य। मेद को कम करता है।

### स्नेहान्तर्लग्न विचार

- स्नेह या स्नेह योग्य<sup>६०</sup> — स्नेहन जिनके लिए उपयुक्त चिकित्सा होती है, वे स्नेह आयुर निष्ठोवत प्रकार के गिनाए गये हैं।
१. जिनका स्वेदन करना हो वे प्रायः स्नेहयोग्य होते हैं। कुछ स्वेद बिना स्नेह के भी किए जाते हैं, जैसे रस ख्वेद-न्यायुक्तव्येद।
  २. वात व्याधि से पीड़ित।
  ३. रुक्ष शरीरवाले।
  ४. जो अति मध्यपान करते हैं।
  ५. जो नित्य और अधिक व्यायाय करते हैं।
  ६. जो अति मध्यपान करते हैं।
  ७. जो अधिक व्यायाय करते हैं।
  ८. जो विचान करते हैं। विचान का मतलब है, बौद्धिक कार्य। कवित, लेखक, विवेचक, प्राध्यापक, राजपुरुष आदि सभी चिंतन करते हैं। अतः वे सब स्नेहपानहीं होते हैं।
  ९. अति वृद्ध तथा स्त्रियाँ।
  १०. जिनका बहुत अधिक रक्तक्षय और वीर्य क्षय हुआ है।
  ११. तिमिर से पीड़ित।

- जलनी छुलती नहीं होती है।
- स्वेदन के पूर्व स्नेहन करना यह सामान्य नियम है। रुक्षन्तेर ह इसमें अपवाद है। शोधनपूर्व—‘शोध्या’ को देने का स्नेह अधिक मात्रा में देने का विश्वास है। रुक्षों के लिए स्नेहन यह उपक्रम ही है। अतएव अति व्यायाम, व्यावाय, मध्यपान इत्यादि से थायुक्षय जन्य रुक्षता निवारणार्थ स्नेहन आवश्यक होता है। स्नेह बृद्धि, स्मृति, धारणादि शाक्ति के लिए उपयुक्त होने के कारण चिंतनशील में देना हितकर होता है। वृद्धों में क्षीणाद्यात्मन के लिए तथा बालकों को धातुवर्धनार्थ स्नेहन कहा है। त्रियों को गाम्रमुटा उत्पन्न करने

के हेतु स्नेह विहित है। कुशों में स्नेह से बृहण होता है। नेत्र गोमों में अति रक्षता से जब पलकों में निमोनोमेष विकृत होता है तो स्नेह से उर्ध्वे लिंग रखना आवश्यक होता है। नेत्र के प्रयोग में विशेषतः धूत हितकर होता है। उपर्युक्त 'स्नेहों' के आदि में धूत से स्नेहार्द, तैल से स्नेहार्द इत्यादि के योगों का तथा वक्ष्यमाणा उत्तममात्रा से स्नेहार्द, मध्यम मात्रा से स्नेहार्द, हल्व मात्रा से स्नेहार्द इत्यादि का समावेश तत्त्व स्थान से पढ़कर पाठकों को कर लेना चाहिये।

अस्नेह-स्नेह के लिए अयोग्य<sup>११</sup> — जिनके लिए स्नेहन करना योग्य न हो उर्ध्वे अस्नेह कहा जाता है। निमलिखितों में स्नेहन नहीं करना चाहिये।

१. रक्षणार्द

२. अधिष्यणणाननः अर्थात् मुखसे लालासाव निकलता हो उनमें

कफ एवं द्रव त्रिवित होता हो

(प्रवाहिका)

३. मध्यानि  
४. मूर्छित

५. तालुशोष

६. छोट्टि से पीड़ित

७. विष विकारों में

८. प्रतीत—जिनके शरीर से द्रव धारु अधिक प्रमाण में वह निकला हो

९. अजीर्ण

१०. अरुचि

११. अविश्रात

१२. विष विकारों में

१३. विष विकारों में

१४. अत्यंत तुर्बल

१५. न्यौत्त से रालानि उत्पन्न हुई हो

१६. तरुणज्वर

१७. मध्य पीड़ित

१८. जिन्हें बृति दी गई हो

१९. गलरोगी

२०. उरुस्त्रभ

२१. उत्तररोगी

२२. अतिसारी

२३. जिन्हें विवेचन दिया हो

२४. अकाल प्रसूता

२५. उत्पन्न करना चाहिये। जहाँ इनका प्रमाण लिखा गया न हो वहाँ कल्क स्नेह एवं द्रव इसका १ : ४ : १६ यह प्रमाण लेना चाहिए। अथवा कल्क १ भाग, स्नेह ४ भाग और द्रव १६ भाग लेना चाहिये। जहाँ एक से चार द्रवों का उल्लेख हो वहाँ सर्व मिलित स्नेह चतुर्भुज लेना चाहिये। यदि प्रथम में कोई भी द्रव लिखा न हो, केवल औषधि के साथ स्नेह पाक करना लिखा हो तो औषधि द्रवों के चूर्ण का जल में कल्क बनाके और कल्क का समायक पाक होने के लिए स्नेह से चार गुना जल देकर स्नेहापक करना चाहिये। जहाँ एक द्रव पदार्थ हो वहाँ एक स्नेह से ४ गुना, दो द्रव पदार्थ लिखे हो वहाँ दोनों द्रव अलग-अलग स्नेह से दुगने मिलाकर, स्नेह से ४ गुना देकर देकर जहाँ तीन द्रव पदार्थ हो वहाँ तीनों द्रव समझाप मिलाकर, स्नेह से ४ गुना देकर चार द्रव हो वहाँ प्रत्येक द्रव स्नेह के समाधाप मिलाकर चार गुना देकर पाक करना चाहिये। जहाँ चार से अधिक द्रव पदार्थ (पांच, छः इत्यादि) लिखे हो वहाँ प्रत्येक द्रव स्नेह के समझाप लेकर पांच छः प्रभृति जितने द्रव लिए हों उतने गुने द्रव पदार्थ लेकर स्नेह पकाना चाहिये।

२. स्नेहोरोष प्रधानता— जिनमें स्नेहोरोष प्रधान है ऐसी आत्मियक अवस्थाएँ— उदाहरण तरुण ज्वर, उदर रोग, उरुस्त्रभ, इनमें स्नेहन से स्नेहोरोष बढ़ जाता है।

३. आम एवं अनिमांच प्रधानता— जिनमें आम की ओर अनिमांच की प्रधानता है। उदाहरण छोट्टि, अरुचि, अजीर्ण, अचरदेवी, विषपीड़ित, वर्मित, विरोचित (इनमें अनिमांच प्रधान होता है)। इनमें स्नेहन से आम और अनिमांच अधिक बढ़ जाता है।

४. दोर्जल्य— ऐसी व्याधिया जिनमें तुर्बलता बढ़ी छुट्ट हो, अथवा ऐसी अवस्था

जिनमें प्राकृत बल शीण हो उम्मेद स्नेहन नहीं किया जाता, इनमें स्नेहलानि, अविश्रात, प्रतीत, गर्भिणी, अकाल प्रसूतादि का अंतर्भव होता है।

५. विषलक्षण— विषपीड़ित या आमविष से उपचावस्था में स्नेह विषेष है। स्नेह यह व्यावायि और सूक्ष्म है जिससे शीघ्रता से सूक्ष्म त्वारों में प्रवेश योग्य होता है। विष भी आषुकारी, व्यवायि, सूक्ष्मादि गुणसुक्ष्म होता है। स्नेहगुणों से इसका शरीर में शीघ्रता से प्रसरण होता है। इनमें गराहित, विष पीड़ित, पद पीड़ितों का अंतर्भव होता है।

६. द्वहण ने कहा है कि— अजीर्ण में अजीर्णप्राप्ति का ही अनि पचन करता है। स्नेह का कम पाचन करता है। तुर्बलों में अंगलानि, अरुचि में अरुचि वृद्धि, स्थूल में स्थूलत्वा वृद्धता तोतोरोष, मूर्छितों में पूर्वज्वर वृद्धि, वर्मित, विरोचित, द्रव वासियों में अनिमांच के कारण और अनिमांच, तुर्णा, वर्णात्मति ये संभाव्य भय रहते हैं। अकाल प्रसूता के गर्भाशय में स्थित रक्तवलेद मत्त स्नेहन से अनेक व्याधियों उत्पन्न करते हैं। उदर में पहले कुछ अवस्था में स्नेहन किया जा सकता है। छिद्रोदर, जलोदर में स्नेह विषेष है।

७. स्नेहापक विषिधि— स्नेहापक यह भैषज्य कल्पना का विषय है, तथायि पाक घेंट से स्नेह प्रयोग में भिन्नता होती है, इस कारण स्नेहापक कल्पना यहाँ वर्णन की जाती है। स्नेह, तैलादि द्रवों की व्याय, स्वास्त, जल, द्रव, आदि द्रवों के साथ औषधि कल्पों के साथ पका कर जो धूत, तैलादि सिद्ध किए जाते हैं तभी इनको 'स्नेहापक' कहते हैं। स्नेहापक क्रम में अनेक मतांतर हैं। यहाँ स्व. यात्कवजी त्रिकमजी आचार्यजी का तज्ज्ञ अनुभूत और शास्त्रीय विचार उद्धृत किया जाता है।

८. स्नेहापक में स्नेह, कल्क और द्रव ये मुख्य पदार्थ हैं। जहाँ इनका प्रमाण लिखा गया न हो वहाँ कल्क स्नेह एवं द्रव इसका १ : ४ : १६ यह प्रमाण लेना चाहिए। अथवा कल्क १ भाग, स्नेह ४ भाग और द्रव १६ भाग लेना चाहिये। जहाँ एक से चार द्रवों का उल्लेख हो वहाँ सर्व मिलित स्नेह चतुर्भुज लेना चाहिये। यदि प्रथम में कोई भी द्रव लिखा न हो, केवल औषधि के साथ स्नेह पाक करना लिखा हो तो औषधि द्रवों के चूर्ण का जल में कल्क बनाके और कल्क का समायक पाक होने के लिए स्नेह से चार गुना जल देकर स्नेहापक करना चाहिये। जहाँ एक द्रव पदार्थ हो वहाँ एक स्नेह से ४ गुना, दो द्रव पदार्थ लिखे हो वहाँ दोनों द्रव अलग-अलग स्नेह से दुगने मिलाकर, स्नेह से ४ गुना देकर देकर जहाँ तीन द्रव पदार्थ हो वहाँ तीनों द्रव समझाप मिलाकर, स्नेह से ४ गुना देकर चार द्रव हो वहाँ प्रत्येक द्रव स्नेह के समाधाप मिलाकर चार गुना देकर पाक करना चाहिये। जहाँ चार से अधिक द्रव पदार्थ (पांच, छः इत्यादि) लिखे हो वहाँ प्रत्येक द्रव स्नेह के समझाप लेकर पांच छः प्रभृति जितने द्रव लिए हों उतने गुने द्रव पदार्थ लेकर स्नेह पकाना चाहिये।

तोड़े योग्यों को तोड़कर सबको कूटकर ८ गुना या १६ गुना (अधिक कठिन द्रव्यों में १६ गुना) जल डालकर पात्र में खेकर पकायें। एक चतुर्थांश शेष रखें। स्नेह से चार गुना त्वं, स्नेह से चतुर्थांश औषधि कल्क मिलाकर पकायें। यह स्नेहपाक कल्प है। अथवा एक दोण जल में (४ आड़क) छाल, पाते, फल, मूल आदि की एक तुला (१०० पल) मिलाकर चौथाई रु हजारे तक बचाय करें। यह काशयपाक विधि है। स्नेह के कुड़व (४ पल) में औषधि एक पल पीसकर कल्क बनाकर मिलाये। इनमें स्नेह के चार गुना द्वालकर पाक करें। यह काशयपाक विधि है।<sup>६५</sup>

कल्क, स्नेह और द्रव पदार्थ सबको एक साथ नीचे मिट्ठी का लेप किये हुए, कलईदार ताप्य या पीतल के भीतर से चिकने लोहे के या मजबूत मिट्ठी के बर्तन में डालकर, बर्तन को चुल्हे पर चढ़ाकर धीमी ऊँच पर पकायें। पकाते समय बड़े आसन पर सुखपूर्वक बैठकर बड़े कच्छे या खोचे से हिलते रहें और चारों ओर से एक सी अनिन लगती है या नहीं इसका ध्यान रखें और स्नेहपाक करें।

**स्नेहपाक के लक्षण**— जब पकते हुए स्नेह में पानी का शब्द बंद हो जाए एवं कल्क से स्नेह अलग होकर स्पष्ट दिखने लगे, अगुली से मर्दन करने पर कवाथ अंगुली को न लगे, नाति मुट्ठ नाति कठिन ऐसा पाक हो, कल्क की बर्ती बनती हो तथा आग पर कल्क को डालने से चटपट शब्द न आता हो, तैल में फेन आने लगे तथा घृत में फेन आना बंद हो जाए तब स्नेहपाक बराबर हुआ ऐसा समझना चाहिये। तंत्रांतर में स्नेह का जल में दूबना तथा अनिन में डालने पर सुंगंध का आना ये लक्षण कहते हैं। स्नेहपाक क्रम में पाच दिन लगते हैं ऐसा योगरत समुच्चयपाक का मत है। शार्दूलर का कथन है कि जहां केवल क्वाथ से ही स्नेहपाक करना लिखा हो जहां भी उन औषधियों के कल्क डालना चाहिये। क्योंकि कल्क के बिना स्नेहपाक की ऊपर लिखी हुई परीक्षा नहीं की जा सकती।<sup>६६</sup> शार्दूलर ने काल के बारे में कहा है कि घृत तेल आदि को एक दिन में तैयार करें, किन्तु पहले दिन थोड़ासा पकाकर वैसा ही रख दे और दूसरे दिन पाक पूरा करें। स्नेह पाक भेद—पाक भेदनुसार स्नेह तीन प्रकार होते हैं, जिसका पहले उल्लेख किया गया था। ये पाक हैं—

१. मुट्ठपाक
  २. मध्यपाक तथा
  ३. खरपाक।
- इन तीन के अतिरिक्त शार्दूलर ने 'आमपाक' और सुश्रुत ने 'दग्धपाक' ऐसे दो पाक कहे हैं।<sup>६८</sup> वस्तुतः इनमें स्नेह के लक्षण और प्रयोजन बहुत नहीं हैं और किसी भी प्रयोग में वे उपयोगी नहीं होते। अतः इनका महत्व नहीं है। स्नेहपाक लक्षण की यह क्रमशः प्रारंभिक और अंतिम अवस्था मात्र है। इन पाकों के लक्षण नीचे स्पष्ट किये जाते हैं।

चरक मतानुसार मुट्ठ पाक उसे कहते हैं, जिसमें अवशिष्ट भाग में कल्क और स्नेह की तुलना होती है, मध्यपाक में मिट्ठी कोमल और सादृ होती है तथा कर्कटे को चिपटी नहीं है, खरपाक उसे कहते हैं जिसमें मिट्ठी को दबाने से उसकी बर्ती बन जाती है।<sup>६९</sup> सुश्रुत ने मुट्ठपाक के लक्षण में औषधि और स्नेह का पृथक् रहना, मध्यपाक में औषधि में समान निर्मल, चिपटनेवाला होना और खरपाक में औषधि काला, जला हुआ,

विषद और चिक्कण होना ये लक्षण कहे हैं। इसके बाद यदि स्नेहपाक बंद न करें तो वह जल जाता है जिसे दग्धपाक कहते हैं।<sup>७०</sup> शार्दूलर ने मुट्ठपाक के पहले जो कवचा स्नेह होता है उसे 'आमपाक' कहा है। इसमें अमिमाद्य बढ़ता है और उसमें औषधिवीर्य 'भी' नहीं उतरता। यह पचने में गुर होता है। दग्धपाक के सेवन से दाह होता है।

वार्षट ने पाक तीन प्रकार के ही दिये हैं लेकिन उनके नाम उपर्युक्त न देकर अलग दिये हैं। वे हैं— १. मध्यपाक, २. चिक्कणपाक, ३. खरपाक। मध्यपाक के लक्षण मुट्ठपाक के समान हैं, अर्थात् औषधि और कल्क का समान रहना और अंगुली से ग्रहण न होना यह कहा है। चिक्कण पाक में स्नेह हल्लवे के समान अंगुली ग्राहकता होती है और काले रंग का और कुछ जला हुआ पाक खरपिक्कण है।<sup>७१</sup> अरुणदत्त ने इन तीनों में चरकादि के लक्षण घटाए हैं। वार्षट ने भी दग्धपाक कहा है जो आग्निमांद्रकारक निष्ठयोज्य कहा है। ऊपर के पाकों में केवल नामांतर मात्र है, न कि इनके लक्षणों में कोई अंतर है। शार्दूलर ने इन पाकों का लक्षण सरल भाषा में इस तरह किया है— जिस पाक में कल्क द्रव्य जलीयांश समन्वित होता है वह मुट्ठ जब कल्क द्रव्यांशरहित हो किन्तु मुट्ठ हो वह मध्यपाक और जब कल्क खरदरा एवं काठिन हो वह खरपाक होता है।<sup>७२</sup>

पाक भेद से प्रयोग भेद— स्नेह का अध्यांग, पान, नस्य, बस्ति आदि में प्रयोग होता है। विशेष प्रयोजन से विशेष पाक का स्नेह निर्दिष्ट किया है। चरक ने अध्यांग के लिए खरपाकवाला, स्नेह, नस्य के लिए मुट्ठपाकवाला स्नेह, पान तथा बस्ति के लिए मध्यपाकवाला स्नेह प्रयोगार्ह माना है।<sup>७३</sup>

सुश्रुत ने अध्यांग के लिए मध्य, पान में मुट्ठ, नस्य में मध्य, बस्ति में खर तथा कण्ठपूरण में खरपाक का उपयोग बताया है।<sup>७४</sup> वार्षट ने— नस्य में मुट्ठपाक, अध्यांग में खरपाक और पान तथा बस्ति में चिक्कण कण्ठपूरण का उपयोग कहा है।<sup>७५</sup>

शार्दूलर ने नस्य में मुट्ठ और बाकी सब में मध्यपाक का उपयोग करने को कहा है।<sup>७६</sup> पाक भेद से उपयोग भेद की तुलनात्मक तालिका नीचे दी जाती है।

प्रयोग	चारकोक्त पाक	सुश्रुतोक्त पाक	वार्षटोक्त पाक	शार्दूलरोक्त पाक
अध्यांग	खर	मध्य	खर	मध्य
पान	मध्य	मुट्ठ	चिक्कण (मध्य)	मध्य
नस्य	मुट्ठ	मध्य	मुट्ठ	मुट्ठ
बस्ति	मध्य	खर	चिक्कण (मध्य)	मध्य
कण्ठपूरण	—	खर	—	मध्य

तालिका से स्पष्ट है कि अध्यांग में खर या मध्य का उपयोग किया है किन्तु मुट्ठ सुश्रुत ने कहा है कि अध्यांग में खर या खर दोनों के बीच की अवस्था अध्यांगार्थ चल सकती है। अतः मध्य या खर दोनों के उपयोग हो सकता है। लेकिन मध्य से कम पका नहीं चलेगा। पान में मध्य और मुट्ठ का उपयोग हो सकता है।

लोकन खर का नहीं। नस्य में मृद्ग और मध्य का उपयोग होगा लोकन खर का नहीं। बस्ति में खर और मध्य का हो सकता है किन्तु मृद्ग का नहीं। कण्ठपूरण में मध्य और खर का प्रकार का नहीं। कण्ठपूरण से नासा, योनि इत्यादि का पूरण भी उक्त है। सब में मध्यपाक कहते हैं—

**स्नेहन विधि—** जैसा कि पहले कहा है कि स्नेह का प्रयोग आध्यात्मर तथा बाह्य दो प्रकार से होता है। यहाँ प्रथम आध्यात्मर स्नेहन अर्थात् स्नेहपान का विचार किया जाता है। मुश्तुत ने स्नेहपाक की विधि को बड़े सुन्दर और प्रायोगिक ढंग से रखा है। मुश्तुत कहते हैं—

**“अत ऊर्वं स्नेहयनकर्म उपदेश्यामः। अथ ऊर्वं लघुकोष्ठायतुराय कृतमगलस्वस्त्रिवदनाय उद्यग्निरिशेषरसांस्थिते प्रतसकनकनिकरपीतलोहिते साक्तिरियथाजलं तेलस्य धूतस्य वा गांत्रो यस्तु प्रयच्छेत्। पीतमात्रे चोष्णोदकोनोपस्पृश्य सोपनलो चथा मुखं विहरेत्।”** सु. चि. ३१-१४

इस पर डहणा का विमर्श देखिये—

“अथशब्दीय पंचकर्मदि मांगलार्थः। ..... लघुकोष्ठायं जीणहित्र प्रदर्शनार्थम्! ..... कृतमगलस्वस्त्रिवदनाय उद्यग्निरिशेषरसांस्थिते प्रतसकनकनिकरपीतलोहिते साक्तिरियथाजलं तेलस्य धूतस्य वा गांत्रो यस्तु प्रयच्छेत्। पीतमात्रे चोष्णोदकोनोपस्पृश्य सोपनलो चथा मुखं विहरेत्।” सु. चि. ३१-१४

**अर्थात्—** जिसको शोधन विधि से स्नेहन करना है उस आत्मर का रोग, शरीर बल तथा दोष बल जानकर, पूर्व दिन सायंकाल का खाया हुआ भोजन अच्छी तरह पच जाने पर, प्रातः कोष्ठ लघु होने पर, जलपूर्ण कृषभादि रख मांगल वाचन कर, रक्त ताप पित वर्णबाले सुर्द के समय (सूयादय के बाद १५ मिनट से २०-२५ मिनट तक) उसे तेल या घृत की मात्रा पिला दें। पश्चात् वह आत्मर गरम पानी से मुख को स्वच्छ कर पात्राण पहनकर विहरण करें। इत्यादि। उपर्युक्त विवरण से स्थूल होता है कि, स्नेहपान के पहले कुछ विधि है, मुख्य विधि का विशेष प्रकार है तथा स्नेहपान के बाद भी कुछ कर्म करने होते हैं। अतएव इसी प्रकार से ‘पूर्व कर्म प्रधान कर्म और पश्चात् कर्म की विधि से’ शोधन स्नेह का यहाँ विचार किया जाता है।

**१. पूर्वकर्म—स्नेहपान के पूर्व निम्नोक्त विषयों का वैद्य को श्वान रखना चाहिये।**

**१. आत्मर परीक्षा।**

**२. स्नेहन कालावधि तथा मात्रा का निर्णय।**

**३. स्नेहकार्य द्रव्य संग्रह।**

**४. स्नेहपूर्व भोजनादि की व्यवस्था।**

**५. आत्मर परीक्षा—** आत्मर स्नेह है या नहीं इसे विद्यवत् परीक्षा कर जान लेना की है। चरक ने वर्मनादि प्रयोजन के लिए आत्मर की परीक्षा अत्यन्त सूक्ष्म प्रकार से वर्णन की है। प्रत्यक्ष अनुमान और आसेपदेश इनके द्वारा आत्मर देखें। आत्मर की परीक्षा में दो मुख्य प्रयोजन हैं। एक है उसके आयुष का प्रमाण का ज्ञान करना, अर्थात् पीछे कहे हुए

मुमुर्षु लक्षणान्तित एवं अरिष्ट लिङ्गान्तित आत्मर को छोड़ देना। द्वारा प्रयोजन है आत्मर के रोग, दोष और शरीर बल का प्रमाण मालूम करना।<sup>१०</sup> इसके ज्ञान से औषधिमात्रा निश्चय होता है। आत्मर परीक्षा में आत्मर की प्रकृति की परीक्षा, विकृति की परीक्षा तथा सार, स्नेहन, प्रमाण, सात्य, सत्त्व, आहारशक्ति, व्यायाम शक्ति, वय इन दो भावों की विधिवत् परीक्षा करें।<sup>११</sup> इनमें क्या क्या परीक्षा विधि है। प्रकृति परीक्षा से सभाव्य रोगों की कल्पना होती है, विकृति में रोग ज्ञान निश्चित किया जाता है। सार स्नेहन तथा प्रमाण से स्नेहपान विमान स्थान त्वे अध्यात्म से देखना चाहिये। प्रकृति परीक्षा से सभाव्य रोगों की कल्पना होती है, विकृति में रोग ज्ञान होता है। सात्य से परिहार काल तथा सासर्वन ज्ञान होता है। सात्य से परिहार काल तथा सासर्वन ज्ञान में आहार का निश्चय होता है तथा योगों की विनाश-भिन्न कल्पना (धृत, तैल, अवलह, क्वाशादि) में से विवरण निश्चित की जा सकती है। सत्त्व से मन की प्रवाचनता से आगे के कर्म में सावधानी रखी जा सकती है। आहारशक्ति से संसर्जन कर मात्र की अवस्था तथा व्यायाम शक्ति से परिहार काल के नियम इसमें मार्गदर्शन कर सकते हैं।

इनके द्वारा स्नेह रोग की तथा आत्मर की बलादि परीक्षा होने के बाद स्नेहन मात्रा कालादि का निश्चय करें। इसके बाद आत्मरात्म में (या अन्तर) प्रतिदिन नाड़ी, मूत्र, मल, जिहा, शब्द, सर्प, चक्षु और आकृति इनकी परीक्षा करें, क्योंकि यह संभव है कि स्नेह रोगी में भी कभी कोई दिन (स्नेह काल में) अस्तहावह रोग उत्पन्न हो। जिस दिन स्नेहपान करना हो उस दिन तथा आगे स्मृप्ति स्नेह काल में नाड़ी-आहि से आवस्थिक परीक्षा करें। यदि नाड़ी अधिक तेज हो तो ज्वर, पित रोगादि का सदेह करें। मानसिक उद्घो या भय भी हो सकता है। मूत्र या जल की अप्रवृत्ति, अतिप्रवृत्ति का ज्ञान करा लें। जिन्हाँ साग हो तो आम, अनिमाद्य समझकर स्नेहपान न करावे, शब्द परीक्षा में उद्घार आकोलन से आनह, आधान, कूजन, पुम्पुक्स के शब्द, हृत्य के शब्द इनका प्रतिदिन ज्ञान करावे। चक्षु यह मुख्य की स्थिति का परिचायक शीशा है। कोई भी विकृति, वेदना हो तो उसका प्रत्यावर्द्धन चक्षु में होता है। बहुत कम लोग, जो उच्च कोटि की संज्ञा में आते हैं, अपने वेदनादि भावों को आँखों में प्रकट नहीं होने देते। इसी तरह ज्वर विकार, नेत्र पीठादि वर्ण से कमलादि की प्रवृत्ति का इनसे ज्ञान करा लें। आत्मर परीक्षा में धृत स्नेहाह, तेल स्नेहाह, वसा, मज्जा स्नेहाह इत्यादि का भी निश्चय कर लेना चाहिये।

**२. स्नेहकलालवधि तथा मात्रा का निर्णय—** शोधनार्थ प्रयुक्त स्नेह अस्थिक मात्रा में और अधिक दिन देना होता है। स्नेहपान की अंतिम मर्यादा सात दिन है। लघुकोष्ठी में तीन दिन में स्नेह होता है, मध्यकोष्ठी ४, ५ या ६ दिन में स्नेह होता है और क्षार कोष्ठी में सात दिन स्नेहन के लिए आवश्यक होता है।<sup>१२</sup>

चरकादि आचार्यों ने स्नेहन कालावधि तीन से लेकर सात दिन माना है। तथापि तीन दिन से कम दिन तक स्नेहन नहीं करना चाहिये या सात दिन के बाद स्नेहन नहीं करना चाहिये ऐसा कोई साक्ष नियम किसी ने माना नहीं है। स्नेहपान के विषय में कितने दिन स्नेहन करना है यह निर्णय करना आवश्यक है अतः इस विषय पर जो भिन्न-भिन्न तथा यहाँ में हैं उसकी समग्र चर्चा की जाती है। सात्य हुआ

स्नेह शरीर में शोधन का कार्य नहीं कर सकता। वह स्नेहन कोष्ठप्रेक्षा है। कोष्ठ यह अग्नि की अपेक्षा रखता है। अतएव सूक्ष्म ने तीन, चार, पांच या छः दिन और अधिक से अधिक सात दिन स्नेह पीने को कहा है तो बाध्यत ने 'स्निध लक्षण उत्पन्न होने तक स्नेह पीना चाहिये' ऐसा माना है।<sup>५०</sup>

यहाँ चक्रपाणि का कथन है— स्नेह का प्रकर्ष सात दिन का है। सात दिन के अन्तर सातस्थूल मात्रा शरीर में अधिक कान नहीं करती तथापि सात दिन के स्नेहन में जो मात्रा सातस्थूल है, उसके अतिरिक्त अधिक मात्रा जो सातस्थूल न हुई हो वह दी जा सकती। अतः वैद्य लोग सात दिन में स्निध लक्षण उत्पन्न न होने पर कुछ दिन विश्राम कर पुनः अधिक मात्रा में स्नेह प्रयोग करते हैं। यह विषय मृदु कोष्ठादि पर निर्भर है आगर कुर कोष्ठी को हीन मात्रा से प्रारंभ करते हैं। तंत्रांतर में तीन, छः और नव दिन भी स्नेहपान करता है। अतः सात दिन से अधिक या तीन दिन से कम भी स्नेह दिया जा सकता है। स्वाधनेह में एक दिन में स्नेहन होता ही है।<sup>५१</sup> तथापि जो ये अर्थ लगाते हैं कि मृदुकोष्ठ में भी तीन दिन से अधिक स्नेह देने पर वह सातस्थूल होता है, अतः न दे, यह हमें (च. पा. को) उत्पन्न नहीं लगता। क्योंकि सातस्थूलीभाव सात दिन के बाद ही आचार्य को अधिमत है। मध्यकोष्ठ की दिनसंख्या दी नहीं है तथापि मध्यविधि के अनुसार पांच दिन प्रकर्षकाल समझे।<sup>५२</sup>

अष्टांग हृदय में बाध्यत ने यह कालमध्यादि तो स्वीकृत की किञ्चु आगे कहा कि स्निध लक्षणों की उत्पत्ति तक स्नेहन करना चाहिये। अतः दिनों का महत्व नहीं है। यहाँ अरुणदत्त ने कहा है, "अथवा नैष नियम, सम्यग्स्त्रिध लक्षणोंत्पत्तिर नियमः अतः सप्ताहादययूर्ध्वं स्नेह पेयो यावत् स्निध लक्षणं स्यात् । ... सातस्थूलूर्धेति कुरुते न मलानपुरुणम् । अतियोगेन वा व्याधीन् यथां भो द्वृति योजनात् इति । यदि तु सप्ताहेनापि स्नेह लक्षणं नोत्पद्यते तदा विन्मेमकं विश्रम्य पुनः स्नेहो योज्य इति॒ सदृशेद्याः ॥ १ ॥"

अर्थात्— सम्यग्स्त्रिध लक्षणोंत्पत्ति तक स्नेह पान करावें। सात दिन के बाद भी अधिक मात्रा में स्नेह दिया जा सकता है। अशंग संग्रह में सातस्थूल मात्रा के दोष कहते हुए कहा है कि यह मलों का उदायण नहीं कर सकती अथवा अतियोग से अनेक योग उत्पन्न करती है, जैसे अधिक जल खेतोंमें कहता है।

इस समय चर्चा का सार यह है—

१. सामान्यतया स्नेह का प्रकर्ष तीन दिन, पांच दिन और सात दिन का है।
२. मृदुकोष्ठ में तीन दिन में मध्यकोष्ठ में पांच दिन में और कुर कोष्ठ में स्नेहन होता है।
३. सात दिन के बाद स्नेहन—स्नातस्थूल होता है। सातस्थूल दोष और मलों को शुद्ध नहीं कहता। वैसे ही वह अति मात्रा के दोष उत्पन्न करता है।
४. सात दिन के बाद यदि स्नेहन न हो तो अधिक मात्रा में स्नेह दे और स्निध लक्षण मिलने तक स्नेहन करें।
५. तीन दिन से पहले भी स्निध लक्षण मिल सकते हैं।
६. तीन दिन के बाद स्नेह देने से मृदुकोष्ठ को स्नेह सातस्थूल होता है यह बात ठीक नहीं है।

७. कुर कोष्ठ को पहले से ही ऐसी मात्रा निश्चित करें कि सात दिन में वह स्निध हो जाए।

८. मृदु कोष्ठ को यदि अधिक मात्रा से स्नेहन करें तो वह तीन दिन से जल्दी भी स्निध होगा, या तो स्नेहजीर्ण होगा। वैसे ही कुर कोष्ठ पर निर्भर है।

याहाँ 'सातस्थूल' का स्वरूप समझना चाहिये। प्रत्यक्ष में यह देखा जाता है कि असात्य विष द्रव्यों को भी धीरे-धीरे देने से वे सातस्थूल होते हैं और फिर ज्यादा प्रमाण में भी उक्सान नहीं करते। स्नेह द्रव्य आहार द्रव्य है। बुहुण है। उनका देने का उद्देश्य यदि शोधन हो तो सात दिन में उस पूरा करना उचित है। धातु पेणण क्रम में भी आहारसेवनोंसे धातु उत्पत्ति काल पांच से सात दिन मात्रा है। प्रति दिन का स्नेह रस के साथ निष्क्रिप्त होकर रक्तादि धातु में पहुंचकर वहाँ क्लेदनादि कार्य करता है, किञ्चु सात दिन में उसका धातु निर्माण चक्र पूर्ण होता है, अतः स्नेह से धातुओं का निर्माण प्रारंभ हो तब वह शोधन कार्य नहीं कर सकता। सभवतः उसे ही 'सातस्थूल' कहा हो। प्रयोगशाला अध्ययन पद्धति से (Laboratory methods) स्नेह काल में रक्त की परीक्षा करने पर वह अपने प्राकृत प्रमाण से (350 mg. to 480 mg. Per 100 ml.) डुग्नाता तक बढ़ा दुआ मिला है। इस क्रम से अधिक दिन चलने पर धातु निर्माण कर शरीर उसे व्यवस्थित (Adjustment) करने लगता है। अस्तु इसकी चर्चा आगे—'स्नेह का कामुकत्व' के विचार में की है।

इस विषय की चर्चा पूर्व कर्म करने का कारण यही है कि प्रत्येक आतुर में किसने दिन तक स्नेहन करना होगा इसका निर्णय पहले करना चाहिये और स्निध लक्षणों का निरीक्षण करना चाहिये। इसे ठीक न समझने पर स्नेहन ठीक नहीं होगा, या तो काकतालीय चाय से होगा, या अति स्नेहन के परिणाम थोड़ा न पहुंचे। काल निर्णय के लिए कोष्ठ की परीक्षा करनी चाहिये। कोष्ठ भी मृदु, पश्च और क्लू ऐसे तीन प्रकार के हैं। जिनमें गुड़, इक्सरस, दूध, दही, दधिप्रस्तु, पायस, खिचड़ी, घृत, दाक्षास, मध्य, उण जल इनके सेवन से भी विशेषन होता है, उसे मृदुकोष्ठ कहते हैं। इससे जिनको विशेषन नहीं होता उन्हें क्लूकोष्ठ कहते हैं।<sup>५३</sup> इनसे जिनको विशेषन (अधिक टट्टिया) तो नहीं होता किञ्चु एक बार स्पष्टकृप योग्याधन होता है, उसे मध्यकोष्ठ कहते हैं।

**मात्रा निर्णय—** मात्रा का निर्णय बड़ा महत्व रखता है। अमात्रा युक्त स्नेहपान करने से शोथ, तंद्रा, संज्ञाहानि, कंडू, ज्वर, वसेश, शूल, आनाह, भ्रम आदि रोग उत्पन्न होते हैं।<sup>५४</sup> मात्राएं, हृद्दामात्रा, मध्यमात्रा तथा उत्तम मात्रा ऐसी तीन प्रकार की हैं।<sup>५५</sup> किञ्चु स्नेहन में आगे की मात्रा निश्चित करने के लिए हस्त के भी कम मात्रा दी जाती है उसे हसीयसी मात्रा कहते हैं। इसका प्रयोगिक दृष्ट्या बहुत महत्व है। अतः चार मात्राएं होती हैं।

१. हसीयसी मात्रा— सुश्रुत कहते हैं कि स्नेह अधिक मात्रा में देने पर प्राणसंशय उत्पन्न करता है। अतः पहली मात्रा अन्न को देखकर देनी चाहिये।<sup>५६</sup> अतएव बाध्यत भी मानते हैं कि देष (दूध, शरीर बल) आदि देखकर बुद्धिमान वैद्य पहले 'हसीयसी' मात्रा का ही प्रयोग करें।<sup>५७</sup> हसीयसी का अर्थ है बहुत अल्प मात्रा। हस्त मात्रा की कल्पना है। अमुक

आतुर में यह हस्त है; वह उससे भी हस्त है, वह उन सबसे हस्त है ऐसा अनुमान कर सकता है कि इसी मात्रा निश्चित करें। कोई लोग दो पल (८ तोला), चार पल (१६ तोला) और छः पल (२४ तोला) को हस्यिसी मात्रा कहते हैं, किन्तु अनिबाल की परीक्षा निए बिना दी इद्द हस्यिसी मात्रा भी हानिकारक हो सकती है। अतः यह मत स्वीकार्य नहीं है।<sup>१७</sup> प्रायः प्रारंभिक मात्रा २। तोला दी जा सकती है, इसे हस्यिसी मात्रा कहना उचित है। २। तोला से बढ़कर प्रतिदिन क्रमशः अग्निबल की अपेक्षा स्वेच्छा बढ़ाये।

<sup>२.</sup> हृष्व मात्रा— जिनका कोष मुँह है, अनिखल अत्य है उनमें हृष्व-मात्रा से मात्रा कहते हैं। यह मात्रा अल्पतरीजे में सी जाती है।<sup>१०</sup> यह अनि को प्रवीस करती है। हृष्व मात्रा अति दृढ़ों में, अति बालों में, जो सुकुमार हैं उनमें, जो अपना जीवन सुखपूर्वक लालनपालन में बिताते हैं उनमें अनिमाद्य बाले व्यक्तियों में तथा चिरकाल से जब पीड़ितों में काम, अतिसारवालों में, दुर्बल आरुओं में प्रशस्त होती है।<sup>११</sup> यह मात्रा परिहारकाल के लिए अच्छी होती है, क्योंकि इसमें अधिक दिन परिहार और पथ्यापथ्य करना नहीं पड़ता। यह स्नेहन करती है, बृहण करती है, वाजीकरण करती है तथा चिरकाल तक बिना व्यापद के लीजा सकती है।<sup>१०</sup>

<sup>३</sup>. मध्यम मात्रा—जो स्नेहमात्रा बाहर घटा म (चार यामों म). जरण होते हैं उस (अरुणिका—सिर में होनेवाली छोटी पिङ्काए), स्फोट, पिङ्का, कुँड़, पामा, कुष्ठ, प्रमेह, वातरक्त में जिनका आहार बहुत अधिक नहीं है, तथा जिनका कोष्ठ मुड़ है उनमें प्रशस्त होती है। यह मात्रा शरीर बल का अधिक क्षय नहीं करती, इनमें ज्यादा व्यापद् भय नहीं होता और सुखपूर्वक स्नेह और शोधन करती है।<sup>६९</sup>

४. उत्तम मात्रा—इसी को प्रधान मात्रा भी कहा जाता है। जो स्नेहमात्रा जौबीस घटे में (आठ याम बे) पचन होती है उसे उत्तम मात्रा कहते हैं।<sup>७०</sup> यह अत्यधिक दोषबल में दी जाती है। प्रधान मात्रा—कुष्ठ, उम्माद, विषविकार, ग्रह, अपस्मार को नष्ट करनेवाली कही गई है। जो हमेशा स्नेह सेवन करते हैं, जो भूख, यास इनके बेंगों को स्नेह कर सकते हैं, जिनमें वात की प्रधानता होती है तथा गुल्म, समर्दश, विसर्प, उम्माद, मूत्रकृच्छ एवं अत्यंत कठिन मल प्रवृत्तिवालों में यह मात्रा देनी चाहिये। यह मात्रा तीक्ष्णानि में खास देनी चाहिये।

ये सभी मात्राएं अनि सामेश्य हैं और स्वेच्छा की गई हैं। अतः किस आतुर में कितने दिन में स्नेह होगा इसके लिए अनुभवी वैद्य निम्नलिखित प्रकार से निर्धारण करते हैं। समझ लीजिए कि हसीपसी (Test dose) मात्रा २। तोला प्रातः ७ बजे की और उसे पचन होने के लिए ३ घंटा लगा, तो २४ घंटे में जरण के लिए उसे १६ तोला मात्रा लेगी जो सातवें दिन की होगी। अब २। तोला से १६ तोला के बीच प्रतिदिन मात्रा ऐसी बढ़ाए कि जब दिन तक स्नेहजीर्ण न होते हुए १६ तोला की मात्रा आए। यह गणित है। शरीर में यह बिल्कुल वैसा ही काम करेगा ऐसा नहीं है। अनि तथा साम्यता के अनुसार इसमें फ़रक होगा। लैकिन इससे अंदर आ सकता है। इसी तरह मध्य और हङ्कारमात्रा का निर्णय कर सकते हैं।

क्र.	मात्रा नाम	लक्षण	गुण एवं उपयोग
१.	हसीयसी मात्रा	हस्य से भी हस्य छः घटे में जरण होती है।	परीक्षण मात्रा है। वृद्ध, बाल, मुकुमार मुखोपचित, मदानि, चर, आत्सार, कास, अवरबल में दे।
२.	हस्य मात्रा	१३ घटे में जरण होती है।	अरुक्ष स्फोट, पिङ्का, कंड़, पामा, कुष्ठ, प्रमोह, वातरक्त मुद्द कोष्ठी, मध्यम शारीरबल और अनिबलबालों में दे। नित्य सेहोपयोगी, कुष्ठ, अपस्मार, उम्माद, सप्तदश, मनकृद्ध विसर्प, विक्रंघ गुल्म में दे।
३.	मध्यम मात्रा	१३-१८ घटे में जीर्ण होती है।	बद्धोष, तीक्षणानि उत्तम शारार बल में।
४.	उत्तम मात्रा	३-२४ घटे में जीर्ण होती है।	

उत्पर्युक्त मात्राओं के अतिरिक्त सुअृत ने १८ घंटे में पचन होनेवाली मात्रा भी निर्दिष्ट की है जो बहुदोष में दी जाती है। सुअृत ने ८ घंटे में १२ घंटे में, १२ घंटे में १८ घंटे में पचन के आधार पर चार मात्राएँ दी हैं।

चरक ने उत्तम मात्रा की खुब प्रशस्ति नहीं है। यह विकारों को तुरन्त प्रशम करती है, ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक सभी मार्गों में प्रसरण करती है, दोषों का क्षय करती है और ग्राहीर बल को बढ़ाती है, तथा शरीर इंद्रिय और मन इनको नवचैतन्य देती है ऐसा कहा है। सभी मात्रा का तुलनात्मक अध्ययन तालिका में देखें।

तालिका	प्रशस्त गुण	चरक	वाभट	वर्त्म दोष	चरक	वाभट
द्रव्य आहार	+	+	+	अधिष्ठिती आहार	+	+
उष्ण आहार	+	+	+	संकीर्ण भोजन	+	+
प्रमाण युक्त	+	+	+	अतिस्थिति भोजन	+	+

देवे।<sup>५४</sup> आहार में द्रव पदार्थों का प्रमाण अधिक होने से उनका पचन जल्दी होता है और कोष्ठ हारी नहीं रहता। स्नेह देवे के पहले, रात का भोजन पचन और कोष्ठ हल्का होना आवश्यक होता है। अतः द्रव भोजन करें। उष्ण आहार का भी पचन जल्दी होता है, उण से स्वाद बढ़ता है, अग्नि दीप होती है, वात का अनुलोमन होता है और कफ कम होता है। इसलिए गरम भोजन देना चाहिये।<sup>५५</sup> प्रमाणयुक्त या मात्रायुक्त भोजन से बात, पित का किछु गुद तक पहुँचता है और सारभाग का पचन और शोषण बिना तकलीफ से होता है। अग्नि, काल तथा खाद्य द्रव्य की अपेक्षा से प्रमाण बदलता है। असंकीर्ण अथवा अविरुद्ध वीरियवाला भोजन करने से विरुद्धान्व पान के द्वारा संभाव्य अनेक रोग उत्पन्न होने का भय नहीं रहेगा।<sup>५६</sup> विरुद्धान्व अनेक प्रकार का होता है। चरक ने देश, काल, मात्रा, सात्य, संस्कार, वीर्य, कोठ, अवस्था, क्रम, परिहार, पाक, संयोग, संपद् एवं विधि भेदों से विरुद्धान्व का वर्णन किया है।<sup>५७</sup> इसका विस्तार पूरकस्थान अथाय २६ में देखना चाहिये। अतिस्निध आहार का जल्दी पचन नहीं होता, लिंग्घता से कफ बढ़ता है और अग्निमांद्य उत्पन्न होता है, अतः स्नेहपान के पूर्व अतिस्निध आहार न करें।

**४. स्नेहार्थ द्रव्यसंग्रह—** जिस स्नेह से स्नेहपान करना हो उसका पर्याप्त प्रमाण में संग्रह करना चाहिये। अन्यथा ऐसा होता है कि प्रारंभ में एक स्नेह दिया गया और बीच में वह खत्म होने से स्नेह बदलता पड़ा। यह अच्छा नहीं है। इससे अग्नि पर ऊरब असर होता है, दोष दूष्य और रोग बल पर भी परिणामकारक, उपाय नहीं हो सकता। अतः प्रारंभ में निश्चय किया हुआ स्नेह सातात्पूर्वक रखने के लिए पर्याप्त संग्रह करें। घृत, तैल, वसा, मज्जा में से रोग; क्रुतु और आहुर के अनुकूल स्नेह चुनें। स्नेहों की उपयोगिता की चरकोक्त नामावली का इस अध्याय के अंत में दी है, उससे तथा तपकल्पिय विज्ञान में कहीं हुई कोई औषधि संग्रहीत करें। फिर स्नेहपान में संभाव्य व्यापद का ख्याल रखकर उसकी उचित प्रतिकारक औषधि तैयार रखें।<sup>५८</sup> इसमें अग्निमांद्य, अरुचि, शूल, भ्रम, मूँह, अतिसार और छाइ के लिए प्रतिकारक औषधियां संग्रहीत करें। प्रायः संजीवनी बटी, आमपचन बटी, शंख बटी, शिवाक्षारपाचन चूर्ण, चित्रकादि बटी, सूतशेखर, प्रवालपिणी, शंखमस्म, हेमार्घ रस, कुटजधनबटी इत्यादि का संग्रह उपयोगी होता है। अनुपानार्थ उज्जोदक, मंड, यूष, निंबुक रस प्रतिदिन तैयार करें।

**प्रथान कर्म—स्नेह** आहुर को पूर्कर्म में कहीं हुई सभी बातों का ध्यान रखकर, विशेष दिन स्नेह पिलाने के लिए प्रारंभ करना यह प्रधान कर्म है। स्नेहपानक्रम में निनलिखित विषयों का ध्यान रखना चाहिये।

१. स्नेह प्रश्नन विधि
२. स्नेहजीर्ण लक्षणों का निरीक्षण
३. स्निधात्मिन्ध लक्षणों का निरीक्षण
४. स्नेहव्यापत् का निरीक्षण तथा प्रतिकार।
५. स्नेह प्रश्नन विधि— सुश्रुत का उद्धरण जो पहले दिया गया था, तदनुसार।

लघुकोष्ठी आहुर को मांगल वाचन कर प्रातःकाल में सामान्यतया सुर्योदय के १५ मिनट से ३० मिनट के अंदर स्नेह पिलावे। मांगलवाचन आहुर को मानसिक शांति देता है। आगे वमन विरेचन प्रकारण में भी मांगलवाचन तथा औषधि का मंत्रपूर्वक (खुति) दान आता है, भारतीय परंपरा तो आस्तिक प्रधान हैं ही, किन्तु द्विनिया के सब कोने कोने में आदिकाल से औषधि देते समय मांगलवाचन, ईश्वर की प्रारूपना की जाती थी ऐसा इतिहास मिलता है। स्नेहपान के प्रथम दिन २॥ तोला (लाभग्रा एक और स) स्नेह पिलावे। स्नेहों में स्नेहानुसार कौनसा स्नेह देना है, इसका निर्णय देवा करें। उदाहरण ल्वग्रोगों में तिक्कायुत, महातिक्त घृत, पंचतिक्त घृत, युगुलु, श्वास में वसादि घृत उम्मादापम्पार में कल्याणक घृत, साक्ष्वत घृत, ब्राह्मी घृत वातव्याधि पक्षाधाया में तिल तैल आदि ढान से निष्क्रय करें। अध्यायांत में चारकोक्त अर्नेक प्रयोग संसदर्भ दिये हुए हैं उनमें से सुविधानुसार चुन सकते हैं।

कोई भी शोधन मात्रा में (बहुत मात्रा में) देते समय उड़ा होता है और आहुर को आश्वासन देकर विश्वास में लेकर, द्विरूपर्वक उत्साहित कर पिलाना पड़ता है। विश्वासः लियों में स्वभावतः ही किसी गंध के प्रति उड़ा और किसी स्वाद के प्रति अरुचि होती है और उनकी ग्राणोङ्दिय भी तेज होती है। अतः स्नेह द्रव्य जो गंध और स्वाद से तीव्र होते हैं, पिलाते समय मन को उत्साहित कर पिलाना पड़ता है। अब यह थोड़ासा पीलो, अब थोड़ासा रहा, यह तुम्हरे रोग को जरूर दूर करेगा, आदि हितकर आश्वासन देवे। प्रधूत गध, वर्ण के कारण उड़ा हो तो अच्छा तरीका यह है कि आहुर के नाक और आँख पर पट्टी बांध दे और स्नेह पिलावे। प्रारंभिक २।। तोला के बाद सामान्यतः अन्न को देखकर निनलिखित प्रकार से स्नेह मात्रा बढ़ावे। (उत्तम स्नेह मात्रा में) प्रथम दिन २ और स्नेह प्राणोङ्दिय भी तेज होती है। अतः स्नेह द्रव्य जो गंध और स्वाद से तीव्र होते हैं, पिलाते समय मन को उत्साहित कर पिलाना पड़ता है। अब यह थोड़ासा पीलो, अब थोड़ासा रहा, यह तुम्हरे रोग को जरूर दूर करेगा, आदि हितकर आश्वासन देवे। प्रधूत गध, वर्ण के कारण उड़ा हो तो अच्छा तरीका यह है कि आहुर के नाक और आँख पर पट्टी बांध दे और स्नेह पिलावे। प्रारंभिक २।। तोला के बाद सामान्यतः अन्न को देखकर निनलिखित प्रकार से स्नेह मात्रा बढ़ावे। (उत्तम स्नेह मात्रा में) प्रथम दिन ३ और स्नेह प्राणोङ्दिय भी तेज होती है। अतः स्नेह द्रव्य जो गंध और स्वाद से तीव्र होते हैं, पिलाते समय मन को उत्साहित कर पिलाना पड़ता है। अब यह थोड़ासा पीलो, अब थोड़ासा रहा, यह तुम्हरे रोग को जरूर दूर करेगा, आदि हितकर आश्वासन देवे।

स्नेहपान के समय हल्लास, छर्दि, अरुचि उद्गार ये लक्षण उत्तर हो तो स्नेह को निंबुक शर्वत के साथ पिलावे। साधारणतः तीसरे चौथे दिन से जब कि स्नेहमात्रा बढ़ जाती है, निंबुक शर्वत के साथ पिलावे। एतदर्थं एक ग्लास (या आठ और स) पानी में शर्करा एक पूरा निंबु निचोड़ कर तैयार करें। निंबुक शर्वत के तीन चार घूट और घृत के ३-४ तोला इस तरह काके धी या स्नेह पिलावे। कोई भी घृत पिलाना हो तो उसे सुखोषण कर पिलावे। गंध में मंड, उच्छोटक और यूष ये अनुपान इस प्रकार के हैं। ये अनुपान इस प्रकार के हैं।

रहित यूष, मास स अथवा अत्यंत कम प्रमाण में भी डलकर बनाई हुई विलेपी खाने को करें।<sup>१०५</sup>

१. उज्जोदक— सभी स्नेहों में अनुपात है। विशेषतः घृत में। उबर का तैल और भूलातक तैल में न दे। शीतल जल दे।

२. यूष— तैल पान में अनुपान है।  
३. मङ्ग— वसा एवं मज्जापान में अनुपान है।

दोषउत्सार भी स्नेहान समय अनुपान भेद यूष वाभट ने और सुश्रूत ने किया है। वात के प्राधान्य में लवण के साथ यी देने का, पित के प्राधान्य में केवल यी, कफ के प्राधान्य में शार और क्रिकट्ट के साथ यी पिलने का दिवेंगा किया है।<sup>१०६</sup> अन्यत्र केवल पित में घृतपान कराने का निर्देश है यह भी स्मर्तव्य है।<sup>१०७</sup>

२. स्नेह जीर्णलक्षणों का निरीक्षण— स्नेह पिला देने के बाद, स्नेह का पचनकाल, पच्चांगानवस्था के लक्षण तथा जीर्ण लक्षणों का अच्छी तरह निरीक्षण करें। यह बात व्याधान में रखें कि स्नेह पचनकाल को व्याधान में रखकर ही दूसरे दिन मात्रा किनारी बढ़ानी है यह निरीक्षण किया जाता है, अतः इनके निरीक्षण में सावधानी होनी चाहिये। स्नेह के जीर्णमाण (पच्चांगान) और जीर्ण लक्षण निम्नलिखित प्रकार हैं।<sup>१०८</sup>

#### जीर्णमाण—जीर्ण लक्षण—तालिका

क्र.	जीर्णमाण लक्षण	क्र.	जीर्ण लक्षण
१.	शिरोरुजा	१.	शिरोरुजादि जीर्णमाण लक्षणों का प्रशम
२.	भ्रम	२.	शरीर लक्ष्यता
३.	लालासाव	३.	वातानुलोमन
४.	मूर्ढ्धा	४.	शुद्धा प्रवृत्ति
५.	साद	५.	रुज्जा प्रवृत्ति
६.	कल्पम	६.	उद्धार शुद्धि
७.	रुषा		
८.	दाह		
९.	अरीति		

स्नेह जीर्ण लक्षण में अजीर्ण लक्षणों की शांति और भूख-प्यास की प्राकृत प्रवृत्ति यह मुख्य लक्षण है। स्नेहान के बाद प्रतिदिन भूख किन्तु बड़े लगती है इसकी जानकारी रखें। अगर स्नेह जीर्ण हुआ या नहीं इसमें संदेह हो तो गरम पानी पिलावे। इससे यूष डकार आये तो स्नेह का जरण नहीं हुआ ऐसा समझना चाहिये।<sup>१०९</sup> स्नेह यदि प्रभूत मात्रा में मल से निकल आये तो भी स्नेह का अजीर्ण समझना चाहिये। बिना पचन से मल में गया हुआ स्नेह शरीर को निर्गंध नहीं कर सकता। अगर स्नेह पाचनकाल में रुज्जा लगे तो उसे स्नेह जीर्ण लक्षण की रुज्जा न समझो। जीर्ण लक्षण की रुज्जा के साथ लक्ष्यता, भूख अदि अन्य लक्षण मिलें जो जरण लक्षण रुषा में नहीं होते। इस तरह अगर बहुत प्यास लगे तो गरम पानी पीकर भी प्यास न हुज्जो तो गरम पानी से स्नेह वर्मन करावे, शीतल चंदन आदि का शिर पर लोप करावे तथा शीतल जल से अवगाहन (Tub Bath) करावें।<sup>१०४</sup>

कम और पानी ज्यादा डालकर बनाई हई पतली यवागु खाने को दे। सुगंध और स्नेह से जब स्नेह जीर्ण हो जाए तो गरम पानी से स्नान करने की अनुमति दे। किंतु चावल कम और पानी ज्यादा डालकर बनाई हई पतली यवागु खाने को दे। सुगंध और स्नेह से

स्नेह-विज्ञान

इस तरह निरीक्षण के बाद, यथावश्यक उपचार के बाद आगर कोई व्यापद-ज्वर, अतिसार, छर्दि, आधान आदि उत्पन्न न हो, तो दूसरे दिन प्रातः पुनः लघु कोषादि देकर स्नेहान क्रमार्थ स्नेह पिलावे।

३. त्रिघात्मिक्य लक्षणों का निरीक्षण— जिस प्रयोजन से स्नेहान किया जाता है, उसकी सिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि स्निधि, अस्निधि, अतिस्माधादि लक्षणों का अच्छी तरह निरीक्षण करें। अन्यथा अस्मिक्य आतुर का ही आगे स्वेदन और शोषण होगा, या अतिस्माधादा से उपद्रव उत्पन्न होंगे और प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

सम्यक् स्निधि के लक्षण<sup>१००</sup>— जिसका स्नेह ठीक हुआ है, उसका मूल गाढ़ा और काठिन नहीं होता, शरीर में लक्ष्यता उत्पन्न होती है। उसके गात्र पुद्द बनते हैं। मूल स्निधि होता है। व्याध का अनुलोमन होता है। अस्मिक् स्निधि लक्षण<sup>१०१</sup>— जिसका स्नेह ठीक न हुआ है, उसका मूल काठिन होता है और रुक्ष होता है, अतिनि मंद होती है, शरीर में रुक्षता होती है। अस्मिक् प्रयुक्त स्नेह से उनमें सुधार नहीं होता ऐसा अर्थ करें, अन्यथा अनर्थ होगा। स्नेह अल्पमात्रा में प्रयोग करने पर भी वह कभी भी रुक्षता तो उत्पन्न नहीं करता है। अस्मिक् प्रयुक्त स्नेह से उनमें सुधार नहीं होता ऐसा अर्थ करें, अन्यथा अनर्थ होगा। स्नेह अल्पमात्रा में प्रयोग करने पर भी वह कभी भी रुक्षता तो उत्पन्न नहीं करता।

अतिस्मिक्य के लक्षण<sup>१०२</sup>— स्नेह बहुत ज्यादा मात्रा में प्रयोग करने पर पांडु, शरीर गुरुता, जाड़ा, गुरीष अपक्वता, तंद्रा, अग्निक्षय उक्लेश, मुख्यालय, गुदसाव और गुद दाह ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। स्निधि लक्षणों की उलाल्सक तालिका देखें।

#### सम्यक् स्निधि लक्षण-तालिका

क्र.	लक्षण नाम	चरक	सुश्रूत	वाभट
१.	अनि दीप्ति	+	+	+
२.	स्नेहद्वेष	+	-	+
३.	असंहत वर्चा (मल पतला होना)	+	+	-
४.	अंग लाघव	+	+	-
५.	गात्र मार्दव	+	+	-
६.	गात्र निर्गंधता	+	+	+
७.	पुरीष स्निधिता	+	+	-
८.	त्वचा स्निधिता	-	+	-
९.	वातानुलोमन	-	-	-
१०.	अधोमार्ग (गुद) से स्नेह निकलना	-	+	+
११.	शैशिल्य	-	+	-

११.	गुद दाह	+	+
१२.	(भक्तद्विष)	-	+
१३.	(प्रवाहिका)	-	+
१४.	(पुरीषाते प्रवृत्ति)	-	+

निम्नलिखिक तालिका में जहाँ + (धन) चिह्न है वहाँ उस संहिता का सकारात्मक लक्षण मात्र समझना चाहिये। जहाँ - (ऋण) चिह्न है वहाँ उस लक्षण का उस संहिता में निषेध न समझे। केवल पारिभाषिक शब्दों की विज्ञासा से तालिका उपयोगी है। उदाहरण वाघट ने केवल 'सुस्थिनिध लक्षण विपर्यय' ऐसे एक ही लक्षण में अस्थिनिध लक्षण कह दिये हैं। अतः पुरीष रुक्षतादि सभी समाविष्ट होते हैं। कोठक के लक्षण अन्यत्र गुदताव, पुरीष अपवर्तादि में समाविष्ट होते हैं।

#### अस्थिनिध लक्षण-तालिका

क्र.	लक्षण नाम	चरक	सुश्रुत	वारभट
१.	ग्रथित पुरीषता	+	+	-
२.	रुक्ष पुरीषता	+	+	-
३.	अग्निमांध	+	+	-
४.	बायु प्रतिलोमता (अग्रगुण)	+	+	-
५.	गात्र खरता	+	-	-
६.	गात्र रुक्षता	+	-	-
७.	उरोविदाह	-	-	-
८.	दोर्बल्य	-	-	-
९.	दुर्वर्णता	-	-	-
१०.	कृद्वयता से अवपचन	-	-	-
११.	सुस्थिनिध लक्षण विपर्यय	-	-	+

#### अतिस्थिनिध लक्षण-तालिका

क्र.	लक्षण नाम	चरक	सुश्रुत	वारभट
१.	पांडुता	+	-	+
२.	गौरव	+	-	-
३.	जाङ्घ	+	-	-
४.	पुरीष अपवर्ता	+	+	-
५.	तंद्रा	+	-	-
६.	अरुचि	+	+	-
७.	उत्क्लेश	+	+	+
८.	मुखताव	+	-	+
९.	ग्राणताव	+	-	+

लिंगाधिनिध लक्षण स्नेह कालावधि के लक्षण हैं। प्रत्येक दिन उनकी बराबर परीषा करें। स्नेह काल में पुरीष डालने से ऊपर स्नेह का तंबग दिखाई दे तो स्थिनिध पुरीषता समझे। इस तरह उचित लक्षण मिलने पर तीन पाच छः या सात दिन के बाद स्नेहानन बंद करें और स्वेदन तथा शोधन की तैयारी करें। ४. स्नेह व्यापद् एवं प्रतिकार—स्नेहपान में प्रमादवश उपद्रव उत्पन्न होते हैं उन्हें व्यापद कहते हैं। वैद्य तथा आत्मर दोनों के प्रमाद से व्यापद उत्पन्न होती है। स्नेह का उचित निषय न करना, मात्रा का उचित निषय न करना तथा काल का निषय न करना और स्नेहानन्द में योग्य निषय न करने से वैद्य प्रमाद द्वारा व्यापद उत्पन्न होती है। ११० स्नेहानन उच्छावकोपचारी स्थाने परिशराम में पश्च न संभालने से आत्मर निमित्त व्यापद उत्पन्न होती है। व्यापदों में सामान्यतः आशुचिकित्स्य जिनकी उत्तर चिकित्सा करनी चाहिये, ऐसी और चिरचिकित्स्य जिनको दीर्घकाल तक चिकित्सा करनी चाहिये। स्नेह व्यापद् निमोक्त प्रकार की है। १११ प्रकार की व्यापतियां निर्माण होती हैं। स्नेह व्यापद् निर्माण होती है।

५. स्नेह व्यापद् एवं प्रतिकार—स्नेहपान में प्रमादवश उपद्रव उत्पन्न होते हैं उन्हें व्यापद कहते हैं। वैद्य तथा आत्मर दोनों के प्रमाद से व्यापद उत्पन्न होती है। स्नेह का उचित निषय न करना, मात्रा का उचित निषय न करना तथा काल का निषय न करना और स्नेहानन्द में योग्य निषय न करने से वैद्य प्रमाद द्वारा व्यापद उत्पन्न होती है। ११० स्नेहानन उच्छावकोपचारी स्थाने परिशराम में पश्च न संभालने से आत्मर निमित्त व्यापद उत्पन्न होती है। व्यापदों में सामान्यतः आशुचिकित्स्य जिनकी उत्तर चिकित्सा करनी चाहिये, ऐसी और चिरचिकित्स्य जिनको दीर्घकाल तक चिकित्सा करनी चाहिये। स्नेह व्यापद् निर्माण होती है। स्नेह व्यापद् निर्माण होती है।

उपर्युक्त उपद्रवों में अजीर्ण के बारे में कहा गया है कि बहुत अधिक प्रमाण में स्नेह देने से अथवा स्नेहानन तर मिथ्याचार करने से स्नेह का अजीर्ण होता है और अपचित संह स्विष्टभ (व्यापद क्र. ८) उत्पन्न कर धीमे-धीमे पचता है। इसे गरम पानी देकर वर्मन करावें। १११ वातपित भूयिष्ठ आत्मर में उण्ठु में स्नेह देने से मूर्छा, तृष्णा (क्र. २), उत्पन्न हो सकते हैं। ११३ चारक कहते हैं कि मिताधिक्ष्य में केवल धी (असंस्कृत) देने से संज्ञानाश करता है। १४ तथा ज्वर, संभ उत्क्लेश आनाह करता है। इनकी चिकित्सा में उष्णोदक मुख्य औषधि है। गरम पानी स्नेह को पचाता है, आम को पचाता है और वात को अनुलोमन करता है। उष्णा बहुत ज्वाया हो तो वर्मन करावें। तक प्रयोग, अस्ति प्रयोक, रुक्ष अन्तपान, गोमूत्र, त्रिपला ये स्नेह व्यापद में औषधियां कही गई हैं। १५ भूख लगने पर भोजन न करना, वर्मन, स्वेदन, रुक्ष अन्तपान,

तक्रारिष्ट, कोद्रेक, यव, श्यामाक (सामा), पिपली, त्रिपला, मधु, हरीतकी, गोमत्र, गुग्गुल इनके द्वारा यथायोग्य चिकित्सा करने का बाब्धाट निर्देश करते हैं। ११६. अर्थात् इनमें लेघन, रुक्षण, वर्मन, पाचन औषधि और अजुलोमन का प्राधान्य है। भावप्रकाश ने स्नेहजन्य तुष्णा में ठंडा दृश्यपाक (पायस) पिलाने को कहा है। ११७. उपर्युक्त आशु चिकित्स्य व्यापद में शंखवटी, शिवाक्षार पाचन चूर्ण, सूतशेखर, शंख भस्म, संजीवनी इत्यादि का प्रयोग करें।

चिर चिकित्स्य व्यापद— स्नेह व्यापद के कारण चिर चिकित्स्य स्वरूप के निम्नलिखित रोग उत्पन्न हो सकते हैं—

१. कुष्ठ
२. कंडु
३. पांडु
४. शोथ
५. उदर रोग
६. प्रहृणी
७. अर्श
८. स्तैमित्य
९. वार्दू
१०. प्रहृणी
११. गत में जागरण न करें।
१२. अनभिष्यांदी, रक्षात्र पान का सेवन न करें।
१३. शमन एवं बृहण स्नेह—यह तक शोधन प्रकार से दिया जानेवाला 'स्नेह विधान' का विचार प्रस्तुत किया। स्नेह शमन और बृहण विधि से भी दिया जाता है यह पहले कहा गया है।
१४. अधिक सोना नहीं चाहिये।

अपव्यु) ये अति निन्गथता से उत्पन्न होते हैं। शोथ, उदर भी अतिन्हेह से होते हैं। इन रोगों में तत्तद् रोगों की चिकित्सा करनी चाहिये।

**पश्चालर्म—स्नेहनोत्तर काल** में जो पश्चापथ संभालना चाहिये, उनका पालन करना यह स्नेह का पश्चालर्म है। स्त्रिय आत्मर को चाहिये कि वह निम्नलिखित विषयों का आचान रखें। ११८. जितने दिन स्नेह करें, उतने ही दिन आगे ये आचार पालन करना चाहिये। ११९.

१. उष्णोद्वेषपचार—खाने में, पीने में गरम पदार्थों का महत्व है। सतत गरम पानी पीवें; गरम पानी से स्नान करें। ठंडा जल अधिक्षयता होता है और स्नेह पचाने में देर करता है। यवागु यूष स्स, विलेपी इनका सेवन करें।

२. ब्रह्मचर्य का पालन करें। ब्रह्मचर्य को एक उपर्युक्त (जिसके आधार पर बलादि उक्त शरीर की स्थिति रहती है) माना है। इससे शरीर बल, वर्ण, उपचयादि कायम रहते हैं।

३. क्षपाशय— गत में ही सोना चाहिये। दिन में सोने से कफ वृद्धि होती है। जो स्नेहापान काल में अनिमांद्य, गुरुतादि व्यापद करता है।

४. बोगावरोध न करें। मल, मूत्र, वात, डकार, इनके आए हुए बोग धारण न करें।

५. जोर से बोलना नहीं चाहिये। इससे वार्ग्रह होता है।

६. गुस्सा न करें और अधिक दुःख न करें। ये मानसिक भाव पचन तंत्र पर बुरा असर कर स्नेहापान नहीं होने देते।

७. शीत (ठंडी) और गरमी से अपने को बचावे।
८. खुली हवा में घूमना नहीं चाहिये।
९. व्यायाम और परिश्रम नहीं करना चाहिये।

१०. शम्या पर लेटे रहे, या बैठकर विश्राम करें।

११. ज्यादा पैदल चलना, या सवारी पर घूमना नहीं चाहिये।

१२. बहुत ऊँचा या नीचा सिराला नहीं लेवे।

१३. शुल्क एवं धुएँ से बचे। धूप्रापन न करें।

१४. अधिक सोना नहीं चाहिये।

शमन स्नेह—उसे कहते हैं 'जो रोग श्रमनार्थ दिया जाता है। इसमें भूख लाने पर, भोजन न तेकर स्नेह ही दिया जाता है। अर्थात् क्षृत्काल में पहले स्नेह देवे। शोधन स्नेह भोजनोत्तर भोजन के पाक के बाद देने का विधान है। क्षुल्काल में दिया हुआ यह स्नेह सर्व शरीर में जल्दी व्याप्त होकर प्रभुत्वपूर्ण दोषों का शमन करता है। यह मध्यम मात्रा में दिया जाता है अगर इसे जीणांत्र के काल में (शोधन सदृश) दिया जाए, जीणांत्र का उद्दीत कफ स्तोत्रमुख पर लिपित किए रहता है, जिससे स्नेह का सर्व शरीर प्रसरण जल्दी नहीं हो सकता और उसका शमन कार्य भी जल्दी नहीं होगा। इसे भक्षात्र की विचारणा के बिना देना चाहिये। अर्थात् अच्छेय प्रकार से दें। मध्यम मात्रा के कारण ६. घंटा के बाद, १२ घंटा के बाद स्नेहपचनोत्तर भोजन करने की विधि जो भोजन स्नेह में है, इसमें अमोक्षित नहीं है। अतएव शमन स्नेह में लघु भोजन दे। सायंकाल में मास स्स, भात आदि का भोजन दे। शमन स्नेह में विरोधोत्तर जो कर्म करने की कहा गया है, वह अर्थात् येया, विलेपी यूषादि से भोजन देने का क्रम उपर्युक्त कहा है। ११०. प्रायः शमन स्नेह के लिए संस्कारित स्नेह प्रातः ६ से १० बजे तथा सायं ५ से ६ बजे के बीच ४ तोला से ८ तोला की मात्रा में देना चाहिये। कोई भी स्नेह २ तोला दिन में ३ बार देने से भी शमनकार्य होता है।

यहां अरुणदत्त ने यहांपि रात्र्यारंभ या रात्रि के मध्य में भोजन करने को कहा है, तथापि यहां गति से यह अर्थ नहीं करना चाहिये। गति का अर्थ २४ घंटे से उक्त एक दिन लेना चाहिये। 'मुद्गुकोष्ठलिंगात्रेण स्निहात्यच्छोपवेक्ष्या। स्निहाति क्ष्वर कोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः।' (च. द्यू. १३) तथा 'त्रिष्टक नवरात्रेण स्नेहापान विधीयते। इत्यादि में गति शब्द का प्रयोग 'रात' अर्थ में नहीं लेनेकिंत 'दिनरात' के अर्थ में देखा ही गया है। अतएव यहां गति प्रारंभ में इसका अर्थ स्नेह ६-१० बजे देने के बाद १० से ११ के बीच में दिन में तथा मध्यरात्रि का अर्थ—सायंकाल में भोजन करना चाहिये। सारांश भूख के समय स्नेह दे और तदनंतर एक डेंड घटे के बाद भोजन की अनुज्ञा दे।

बैंहण स्नेह—बैंहण स्नेह भोजन के बाद मास स्स, मध्य अथवा अन्य भोजन कल्पों के साथ अत्यधिक रूप से देना चाहिये। जहां पर 'रस' कहा हो और दूसरा विशेष रस नामाच्चित न किया हो वहां मास स्स लेने की प्रथा है, तथापि दूध, खाड़, दही, यूषादि किसी द्रव

के साथ मिलाकर स्नेह दिया जा सकता है। इसी तरह भात, रोटी इत्यादि के साथ भी स्नेह दे सकते हैं। यह स्नेह 'हसीयसी' स्नेह मात्रा से भी प्रमाण में अल्प देना चाहिये।<sup>११३</sup> अब तक स्नेहपान का विचारणा वर्णन किया गया है। आगे बाहु स्नेहन का विचार करना है, तथाव आध्यतर स्नेह में कुछ अनुषांगिक (स्नेह संबंधित अवांतर विचार यांह प्रस्तुत किया जाता है। ये निम्नलिखित विषय हैं।

१. अच्छेय स्नेह
२. स्नेह विचारणा
३. सद्यः स्नेह
४. स्नेह में ऋत्वादि विचार
५. स्नैहिक धूम
६. स्नेहोत्तर स्वेदन वर्णन का विचार।

१. अच्छेय स्नेह—अच्छेये स्नेह उसे कहते हैं जिसमें केवल शुद्ध स्नेह का प्रयोग किया जाता है और भोज्यादि किसी वस्तु की कल्पना के साथ स्नेह नहीं दिया जाता। यह श्रेष्ठ प्रकार का स्नेह है। जिनको स्नेह जल्दी पच जाता है, स्नेह सात्य होता है, जो शारीरिक कष्ट सहन करने में समर्थ होते हैं, उनको अच्छेये स्नेह देना चाहिए। अल्पुष्ण एवं अति शीतकाल न हो तब अच्छेय स्नेह देवे। यह जल्दी स्नेहन करता है, इसलिए श्रेष्ठ समझा गया है।<sup>११४</sup> चक्रपणि ने अच्छ शब्द का अर्थ केवल स्नेह ऐसा कर भोज्य कल्पना को विचारण कहा है।<sup>११५</sup> और उनसे गहित स्नेह अच्छ कहा है, लेकिन अरुणदत्त ने केवल पीने का स्नेह अच्छ मानकर मूर्धा रूपण वस्त्यादि को (चरकोक्त) विचारणा माना है।<sup>११६</sup> यहां विचारणा का अर्थ वक्ष्यमाण २४ विचारणा कर उसके सिवाय देनेवाला केवल स्नेह 'अच्छ' समझना उचित है।

२. स्नेह विचारणा—जिनकी स्नेहपान के लिए स्वाभाविक अरुचि है, जिनका कोष्ठ मुडु रहता है, जो मध्यपान के आदि हैं, उन लोगों में भोज्य अन्न के साथ मिश्रण कर स्नेह दिया जाता है उसे स्नेह की विचारणा कहते हैं।<sup>११७</sup> स्नेह की २४ धारणाएं होती हैं जो निम्नलिखित प्रकार की हैं।<sup>११८</sup>

१. ओदन-भात
२. विलेपी
३. रस
४. मांस
५. यवागु
६. यूष
७. कांबलिक
८. स्वतु
९. लेह
१०. घृष्ण
११. कांबलिक
१२. खड (कढ़ी)
१३. मध्यपिण्ड
१४. तिलपिण्ड
१५. भक्षान्न
१६. गंडुस्
१७. कर्ण पूरण (तपिण)
१८. बस्ति
१९. अक्षितरपण

उपर्युक्तों में क्र. १८ से २४ तक जो विचारणाएं हैं वे वस्तुतः स्नेहपान नहीं कही जा सकती। अतः स्नेह द्वितीय, मुडु कोष्ठादि में अन्य द्रव्य के साथ मिश्र कर स्नेहपान कराने का मुख्य उद्देश्य इनमें स्थान नहीं है, तथापि ओदनादि कल्पों के साथ भी जिन्हें स्नेहन करना संभव न हो उन्हें अध्यंग, गंडुष, बस्ति इत्यादि उपयोग स्नेहन करना चाहिये ऐसा इसका अर्थ करें।

मांसस्त—मांस में जल डालकर सारभाग अलग होने तक पकाना मांसस्त है। गाढ़ मांस रस बनाना हो तो ३२ तोला (लगभग ३२० ग्राम) मांस और ६४ तोला (६४० मि. लि.) जल डालकर पकावे, अगर मध्यम मांसस्त बनाना हो तो मांस २४ तोला (लगभग २४० ग्राम) और पतला मांसस्त बनाना हो तो १६ तोला (लगभग १६० ग्राम) मांस लेकर ६४ तोला जल में पकावे। इस सारभाग को मांसस्त कहते हैं।

यवागु—इसके मंड, पेया और विलेपी तीन प्रकार हैं। सिक्ख को छोड़कर ऊपर द्रवधाग को लेना मंड है, सिक्ख भाग अधिक और द्रवधाग कम हो तो वह यवागु पेया कहलाती है, और जिस यवागु में सिक्ख अधिक हो और द्रव कम हो तो वह विलेपी कहलाती है। यवागु के लिए भोजन में एक समय आवश्यक चावल के चौथाई चावल लिया जाता है। मंड बनाना हो तो उसमें ४ गुना पानी डालकर पकावे। चावल पकने पर ऊपर का पानी (मंड) पीने को देवे। पेया के लिए छ: गुना पानी डालकर चावल पकावे। द्रवाश अधिक सिक्ख कम ऐसा पकावे। विलेपी बनानी हो तो चावल में ४ गुना पानी डालकर सिक्ख अधिक और द्रव कम ऐसा पकावे।

यूष—जल, छाठ, कवात, चावल आवश्यक चावल के चौथाई चावल मीठ, आदि शिवी धान्य पकाकर जो कल्प किया जाता है, उसे यूष कहते हैं। यूष अगर तीक्ष्ण वीर्य औषधि से बनाना हो तो औषधि कल्प १ तोला मध्यवर्ण औषधि से बनाना हो तो २ तोला और मृदुवीर्य औषधि से बनाना हो तो चार तोला कल्प, चार से आठ तोले मूँग आदि शिवी धान्य और ६४ तोला पानी डालकर पकावे। आधा या चौथाई शेष रहने पर, या मूँग इत्यादि अच्छी तरह पक जाने पर कपड़े से छानकर पीने को दें।

कांबलिक—यूपक खद्य यूष को कांबलिक कहते हैं। वही में तवण, तिल, मांस कांबलिक बनाते हैं।

स्वतु—जबके की दाल, गोड़ (चना दाल १ भाग : २ भाग) इनको अच्छी तरह भून कर उसमें जीरा १ तोला, धनिया १ तोला डालकर उसे पीसकर आटा बनाया जाता है—इसे स्वतु कहते हैं। यह रुक्ष संतरपण है, लघु है और भूख को शमन करने के लिए अच्छा खाद्य है। केवल पानी में आटा मिलाकर गुड़ या शक्कर मिलाकर स्वतु बनाया जाता है। शेष विचारणा एं स्थान है।

विचारणाओं के प्रमुख चरक ने इस प्रकार लिये हैं—

१. लाव, तीतर, मोर, हस, सुअर, मुर्गा, गाय, बकरा, मैदा, मछली इनके मासों के रस के साथ दे।<sup>११९</sup> इसके साथ यव, कोल, कुलथ, दही, त्रिकुटु ये मास स में मिला सकते हैं।

२. भोजनपूर्व तिलों को कूटकर खाने से तथा फाणित (गुड़ की गर्व) स्नेह के साथ देने से, अधिक स्नेह मिश्रित चावल, तिल या उड्डं को खिचड़ी ये स्नेहार्थ दे।<sup>११८</sup>

३. मध्य के साथ-स्नेह में फाणित, सोंठ और तैल मिलाकर पीवे। पचन होने के बाद मास का रस का भोजन करें।<sup>११९</sup>

४. सुरा (मध्य) के मट्ठ (ऊपर का भाग) तथा तैल को, वसा या मज्जा को मिलाकर सेवन करावे अथवा दूध और फणित मिलाकर पीवे। यह वातिक प्रत्यक्ष का स्नेह करता है।<sup>१२०</sup>

५. धारोण (तल्काल निकाला हुआ दूध) दूध और खांड मिलाकर पीने से तथा वही के मलाई में फाणित मिलाकर सेवन करने से स्नेह होता है।<sup>१२१</sup>

स्वभेदों के अनुसार विचारणा—आहार कल्पों के ऊपर आधारित तथा अध्यादि के अतिरिक्त, विचारणा रसों के भेद के अनुसार दृष्ट प्रकार की होती है। इसके एक स्वतंत्र अध्यादि में प्रयुक्त विचारणा और दृष्ट स्वभेद में प्रत्येक स्नेह मिलाकर तैयार की हुई विचारणा, इस तरह कुल ६४ कल्पनाएँ होती हैं। इनका प्रयोजन, ओक, सात्य, क्रहु, व्याधि, शरीर बलादि देखकर भिन्न-भिन्न प्रकार को स्नेह योजना कर सके यह है।<sup>१२२</sup>

३. सद्यः स्नेह—जब किसी विशिष्ट अवस्था में जल्दी से स्नेह करना अपेक्षित हो, तीन, पांच, सात आदि दिन मार्यादा तक न रुकते हुए शीघ्र शोधन करना हो, उस समय जिस प्रकार से स्नेह दिया जाता है उस स्नेह को 'सद्यःस्नेह' कहते हैं। यह सद्यःस्नेह हुरन यानी एक ही दिन में स्नेह करता है।<sup>१२३</sup> सद्यःस्नेह में कुछ खास द्रव्ययोगों के साथ स्नेह दिया जाता है। इनमें कुछ योग उपर्युक्त चरकोवत् योग के सदृश ही है। वापर्ट और सुश्रुत के 'सद्यस्नेह' शीर्षक से नर्णित योग नीचे दिये जाते हैं, उनमें से उनका यथा योग उपयोग करें।

वापर्टोक्त सद्यःस्नेह के योग—वापर्ट कहते हैं कि छोटे बच्चों में अधिक दृढ़ों में जिनमें स्नेह परिहार काल नियमों का पालन करना संभव न हो उनमें उद्धा न करनेवाले निम्नांकित सद्यःस्नेह के योग देना चाहिये।<sup>१२४</sup>

१. प्रदुर्मास सद्यःस्नेह के योग देना चाहिये।

२. घी में भूनी हुई पेया पिलावे।

३. स्नेह + तिल चूर्ण + फाणित मिलाकर देवे।

४. स्नेह + तिल + पाणित + कुशरा (खिचड़ी)

५. घी मिलाई हुई दूध की पेया।

६. वही की मलाई + गुड़ इनका प्रयोग।

७. पांच प्रसूति की पेया—चारों स्नेह प्रत्येक एक प्रसूति (अर्थात् ८ तोले) और चावल एक प्रसूति इनकी पेया पांच प्रसूति की पेया कहलाती है जो सद्यःस्नेह है। और चावल एक प्रसूति इनकी पेया पांच प्रसूति की पेया कहलाती है जो सद्यःस्नेह है। यह कोई भी स्नेह लवण के साथ मिलाकर देने से, तथा ऊपर लिखे हुए सात योग तुरन्त स्नेह करते हैं।

चरक ने पांच प्रसूति की पेया और पायस (दूध पाक) जिसमें उड्डं मिलाया हो, इसे देने से तुरन्त स्नेह होता है ऐसा कहा है।<sup>१२५</sup>

४. सुश्रुत ने सद्यः स्नेह के योग—सुश्रुत ने 'सद्यःस्नेह; मुच्यते इस तरह वर्णन कर

निम्नांकित प्रयोग दिये हैं।<sup>१२६</sup>

१. पिपली, लवण, घी, तैल, वसा, मज्जा, चारों स्नेह, तंदी, मस्तु इनको मिलाकर पिलाने से तुरन्त स्नेह होता है।

२. मांसरस में भूनी हुई स्निध यवागु और राब मिलाकर पिलावे।

३. घोड़ से चावल और दूध मिश्रित यवागु और ज्वादा प्रमाण में घी मिलाकर सेवन करावे।

४. पिपली, सैंधव, घी, तिल पिट, सूअर की वसा इनको मिलाकर पिलावे।

५. दोहनपात्र में घी और खांड रखकर दूध का दोहन करें और वह दूध पिलावे।

६. जब, बेर, कुलत्य इनका क्वात्राथ, पिपली कल्प मिलाकर, दूध, दंडी, तुरा और घी मिलाकर घी सिद्ध करें। यह घृत तुरन्त स्निध करता है। राजाओं तथा श्रीमतों और वैधवशाली लोगों को यह घी देने का निर्देश है।

सद्यः स्नेहार्थ प्रायः देने जैसा योग्य सैंधव लवण मिश्रित स्नेह यह है। सैंधव अरुष तथा अधिष्ठिती होने से सुख्म, उर्जा और व्यावायी ऊण युक्त होने से तुरन्त स्नेह करता है।<sup>१२७</sup> एतदर्थ—उपर्युक्त घी और सैंधव एक से ३ माशा मिलाकर देना चाहिये। संभवतः इसी कारण से प्रायशः बस्तिकल्पों में घी स्नेह जहां है, वहां लवण घी मिलाने का निर्देश मिलता है।

४. स्नेह में क्रहुदादि का विचार-सामान्यतः जिस दिन सूर्य प्रकाश स्वच्छ हो, आहूदकरक हो, ऐसे समय स्नेह दिया जाता है। जिनकी वात पित कफ की साम्यावस्था हो उर्वर्ण साधारण क्रहु में स्नेह उपर्युक्त प्रशस्त दिन में है। कफाद्विक्य में तथा वातकफ में दिन में स्नेह देने वाले तेज में रात में स्नेह दे ऐसा कुद्दलवाप्त का मत है।<sup>१२८</sup> चारक ने घी वाताद्विक्य में तथा उष्णकाल में रात में कफाद्विक्य में तथा शीतकाल में दिन में स्नेह देने को कहा है।<sup>१२९</sup> वर्षा क्रहु में तेल का, शरद में घृत का, तथा वसंत क्रहु में वसा और मज्जा का प्रयोग प्रशस्त है।<sup>१३०</sup> यह अत्यावश्यक हो तो तैल को शीत क्रहु में तथा घृत को ग्रीष्म क्रहु में गत में दे सकते हैं। पित प्रकोप में वात प्रकोप में तथा पिताद्विक्य संसार में ग्रीष्म में गत में घी दे। अन्यथा शीतकाल में रात में घी पिलाने से वात कमज़ गो और ग्रीष्म काल में दिन में स्नेह पिलाने से पित गो रोग संभव होते हैं।<sup>१३१</sup>

५. स्नैहिक शूष्म—औषधि शूष्मपान दिनचर्या में स्वस्थ कुत्त कर कर्म बताया गया है। शूष्मपान के प्रायोगिक, स्नैहिक और वैरचनिक ऐसे तीन भेद हैं। जिसमें, वसा, घी, मोम इनके साथ जीवनीय गणों की औषधियां मिलाकर बत्ति बनाकर शूष्मपान करना स्नैहिक शूष्म कहलाता है।<sup>१३२</sup> यह वस्तुतः आध्यात्म पान नहीं है तथा पि अनेक आध्यात्म योग का शामक होने से तथा विशेष प्रकार होने से यहां उल्लेख मात्र किया है। शूष्मपान का विस्ता—कृत्वा विचार आगे योग स्थान में किया है।

बाद और दिन स्वेदन करें, मध्य स्नेहन में पांच दिन के स्नेहन के बाद छठे दिन स्वेदन करें और उत्तम या प्रवर स्नेह में ७ दिन के स्नेहन के बाद आठवें दिन स्वेदन करें। इसी तरह वर्मन देना हो तो स्नेहन के बाद एक दिन छोड़कर वर्मन देना चाहिये। अश्रुत अवस्थेन में ४थे दिन स्वेदन तथा द्रव, मासरसादि युक्त भोजन करावे और पांचवें दिन वर्मन करावे। मध्यम स्नेह में छठे दिन स्वेदन और उपर्युक्त भोजन कराकर छठे दिन वर्मन करावे। और उत्तम स्नेह में छठे दिन स्वेदन, योग्य भोजन कराकर दर्जे दिन वर्मन करावे। स्नेहोत्तर विरचन देना हो तो तीन दिन ठहरकर विरचन देने का नियम है। इन तीन दिन में रोज दर्जे दिन विरचन और प्रवर स्नेह में १२वें दिन विरचन देना चाहिये। प्रायः वर्मनादि के बाद ही आगे के बख्त्यादि कर्म किये जाते हैं, उनका काल विचार आगे करें। लेकिन वर्मनादि के बिना बस्ति आदि करना हो तो क्या विधि है। ग्रंथ में पुख और गुद से एक साथ स्नेह मना किया है और सभी बस्तियों में स्लेह दिया जाता है, अतागुव बस्ति पूर्व स्नेह की अवश्यकता नहीं होती, तथापि इस विषय में मतभेद हो सकता है। बस्ति पूर्व 'स्निग्ध' को देने का उल्लेख है, वह स्थानिक अथंग है, ऐसे ही नस्य में भी समझे। रक्तमोक्षण पूर्व भी स्नेहपान का बहुत अधिक निर्देश नहीं है। स्नेहरूपीत का सिरामोक्षण मना ही किया है। वर्मन विरचन की दिनावधि तालिका में स्पष्ट की है।

#### स्नेहोत्तर-स्वेदनादि कर्म-दर्शकिणा

क्र.	स्नेहन प्रकार	स्वेदन-दिन	वर्मन-दिन	विरेचन-दिन
		४थे दिन	५वें दिन	७वें दिन
		दर्जे दिन	जब्ते दिन	ध्वंसे दिन
१.	अवर स्नेह (हस्त)			
२.	मध्य स्नेह			
३.	प्रवर स्नेह (उत्तम)			

आयुर्विक स्नेह द्रव्य— चरकादि संहिता के अनुसार भिन्न-भिन्न स्नेह द्रव्यों का वर्णन पीढ़ि कर दिया गया है। अब अधुनिक विकितसा शास्त्र में दिन तैलों का स्वाह स्मान उपयोग निर्दिष्ट किया है। उनका वहां संक्षेप में विचार करें। चरकादि वर्णित स्नेहों में स्नेहन, बृहण और शोधनोपयोगिता अधिक है, जहां आयुर्विक स्नेहों में औषधि-उपयोगिता की (Medicinal Value) प्रमुखता है। इनके नाम, उपयोग और मत्रा का तालिका में निर्देशन किया जाता है।

ये स्नेह ३ प्रकार के हैं—

१. स्निग्ध स्नेह— इनमें उत्तम तैलों का समावेश होता है जो वायु के संपर्क में आने पर उड़ नहीं जाते और अपनी स्थिति स्थिर बनाये रखते हैं, इन्हें स्थिर तैल (Fixed Oil) कहा जाता है। यहां ग्राह हथर हथर तैल वर्णित हैं।
२. अस्थिर तैल— जिन तैलों का स्वभाव उड़ानील होता है और हवा के संपर्क से वे उड़ जाते हैं उड़े अस्थिर तैल या उड़नशील तैल (Volatile oil) कहा जाता है। इनकी संख्या दस हैं।
३. मिश्र तैल— इनमें वे तैल हैं जो उड़नशील और मिश्र तैलों के समया से बनते हैं।

हैं। इन्हें मिश्र तैल या संसृष्ट तैल (Compound oils) कहा जाता है। इनका निर्माण दो प्रकार से किया जाता है। स्थिर तैल वानस्पतिक द्रव्यों के बीजों को निचोड़कर प्रपीड़न द्वारा तैयार किये जाते हैं, चरकोक्त तैल तैल इत्यादि इसी प्रकार किये जाते हैं। दूसरे उड़नशील तैल हैं उड़े तीर्थकपातन द्वारा (Distillation) निर्माण किया जाता है। इनमें शातपुष्णा (सौफ) का तैल, लवणग तैल इनका समावेश होता है तालिका देखें।

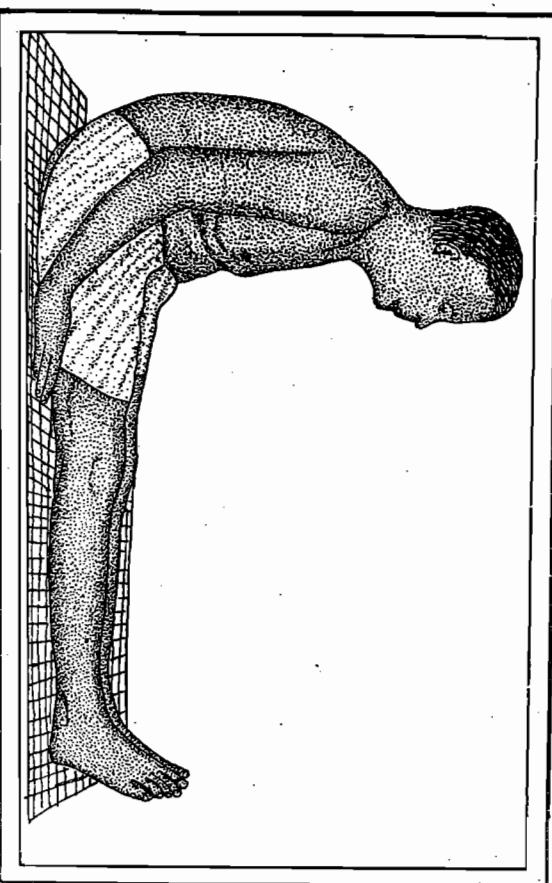
#### आयुर्विक स्नेह

क्र.	तैल नाम	उपयोग	मत्रा
१.	स्थिर तैल	स्नेहार्थ	१ औस तक
२.	ऑर्डिल ऑफ एमेडेली oil of amygdali बालम तैल	त्वचा को पूढ़ करते में स्नेहन, लवक् मादवकर लवग्रा कुष्ठ में, बाल	१ औस तक
३.	ऑर्डिल ऑफ एरिकस मूंगापलती का तैल	कालप सीपाई सेमिनिस कालप बीज तैल	१ औस तक
४.	ऑर्डिल ऑफ हिड्नोर्चिपि तैल oil of Hydnocarpus	ऑर्डिल ऑफ हिड्नोर्चिपि तैल आयुर्वर और योग्य भोजन कराकर छठे दिन वर्मन करावें। स्नेहोत्तर विरचन देना हो तो तीन दिन ठहरकर विरचन देने का नियम है। इन तीन दिन में रोज दर्जे दिन विरचन और प्रवर स्नेह में १२वें दिन विरचन देना चाहिये। प्रायः वर्मनादि के बाद ही आगे के बख्त्यादि कर्म किये जाते हैं, उनका काल विचार आगे करें। लेकिन वर्मन स्नेहन की अवश्यकता नहीं होती, तथापि इस विषय में मतभेद हो सकता है। बस्ति पूर्व 'स्निग्ध' को देने का उल्लेख है, वह स्थानिक अथंग है, ऐसे ही नस्य में भी समझे। रक्तमोक्षण पूर्व भी स्नेहपान का बहुत अधिक निर्देश नहीं है। स्नेहरूपीत का सिरामोक्षण मना ही किया है। वर्मन विरचन की दिनावधि तालिका में स्पष्ट की है।	१ से १५ बूँद
५.	ऑर्डिल ऑफ हाईपो ग्लासाई हेलीबट मछली का तैल	पोषण, यकृत रोग में स्नेहन, लवक् मादवकर	१ से ५ बूँद
६.	ऑर्डिल ऑफ लिनिअर्इ। अलतसी तैल	अलतसी तैल लवीवर तैल	१ औस तक
७.	ऑर्डिल ऑफ मारहवी कोडलीवर तैल	लवीवर तैल लवक् मादवकर विरेचन मूँगकरण, बल्य, रसायन	६० से १५० बूँद
८.	ऑर्डिल ऑफ आलिक्वी जैतुन तैल	ऑर्डिल ऑफ आलिक्वी जैतुन तैल लवक् मादवकर विरेचन मूँगकरण, बल्य मुद्रामें बर्ति डालने में स्पष्ट	६० से २४० बूँद
९.	ऑर्डिल ऑफ सिसमाई एंड तैल	ऑर्डिल ऑफ सिसमाई एंड तैल कोकोबटर-तैल (Suppository)	१ औस तक
१०.	ऑर्डिल ऑफ मिस्ट्रोमेटिम	ऑर्डिल ऑफ मिस्ट्रोमेटिम	—
११.	ऑर्डिल ऑफ थियाब्रोमेटिम	ऑर्डिल ऑफ थियाब्रोमेटिम	—
१२.	अस्थिर तैल (Volatile oil)	अस्थिर तैल ऑफ एमेडेली बोलेटाइल पूरी पिक्किटस (oil of Amygdali Volatile purificatum)	अन्य योगों में उपयोग किया जाता है, जिससे सुखात्करण हो। बालात्मोमान,
१३.	ऑर्डिल ऑफ एनिथाई अनीमू तैल	ऑर्डिल ऑफ एनिथाई अनीमू तैल	१ से ३ बूँद

आरुकेंद्रीय पंचकर्म विज्ञान  
अध्याय : अवस्था क्र. १

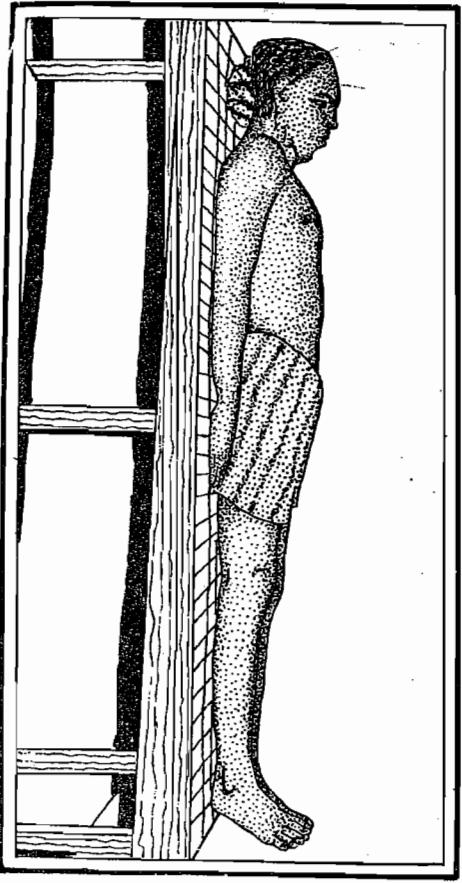
मो-विज्ञान  
अध्याय : अवस्था क्र. ३

मो-विज्ञान

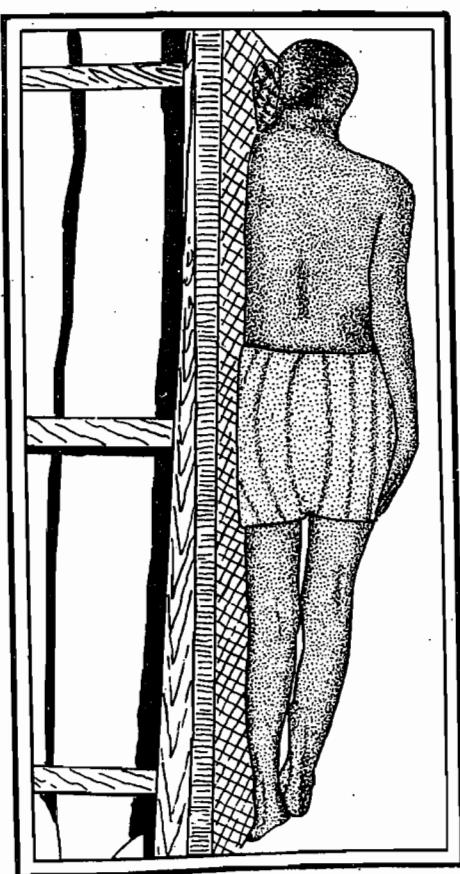


**विशेष—**आतुर को अभ्यंग टेबल पर दोनों पाँव सीधे रखकर बिठाया है।  
**पृष्ठ—**कटिगत वात के कारण पृष्ठ में इष्ट-विनमन हुआ है। इस अवस्था में कम्चारी बाहु उथय आंग, पृष्ठ, मन्त्रा तथा पाँव के पुरोवर्ति भाग पर अच्छी तरह अभ्यंग कर सकता है। पिंड स्वेद के लिये भी वह अवस्था दी जा सकती है।

अभ्यंग : अवस्था क्र. २

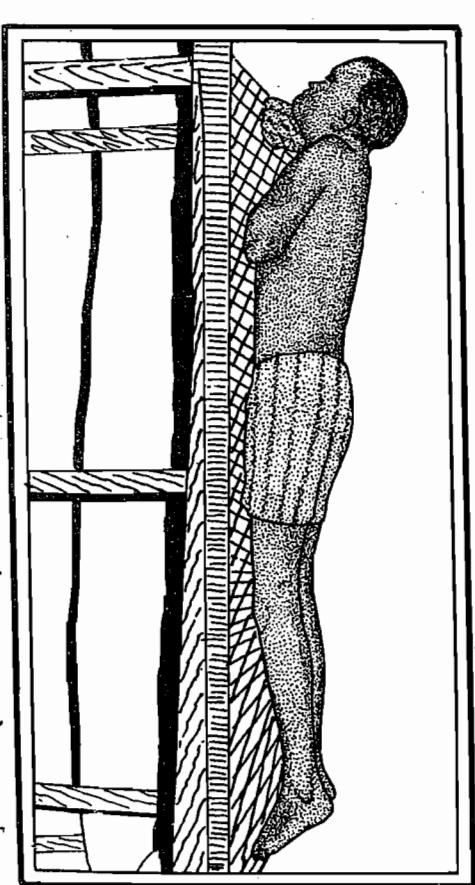


**विशेष—**पृष्ठ के बल सीधे लिटाया गया है। इस अवस्था में वक्ष, पार्श्व, सामने का भाग तथा जंधा पर अच्छी तरह अभ्यंग अथवा स्वेद कर सकता है।



**विशेष—**आतुर को वामपार्वत पर सीधे सुलाया गया है। इस अवस्था में दक्षिण बाहु का पार्श्व भाग, ऊरु, जंधा, पार्श्वी का बाहवर्ति भाग, पृष्ठ इत्यादि अवयवों पर अभ्यंग—स्वेद अच्छी तरह किया जा सकता है।

अभ्यंग : अवस्था क्र. ४



**विशेष—**इसमें आतुर को वक्षोद बल पर लिटाया गया है। इस अवस्था में पृष्ठ, पार्श्व, श्रोणि, स्फिंग, ऊरु, जंधा का पार्श्ववर्ति भाग—इन अवयवों का अभ्यंग—स्वेद अच्छी तरह किया जा सकता है।

पालनार्थ भी अधिक महत्व होने के कारण इनका वर्णन विनयर्था, ऋतुचर्या आदि प्रकरण में किया गया है। बाह्य स्तेहन के निम्नलिखित प्रकार आयुर्वेद में वर्णित है।

१. उद्भर्तन-उत्सादन २. लेप
३. उद्भर्तन हर ४. मर्दन-उत्पर्दन
५. पादाधात ६. परिषेक
७. संवाहन ८. गंडूष
९. मुर्धा तैल-शिशतर्पण
१०. आक्षितर्पण ११. नासा तर्पण १२. कण्ठपूरण
१३. मात्सिष्ठक्य १४. स्नेहावाहान।

२. अध्यंगा—अध्यंग का अर्थ है—शरीर पर तैलादि लगाना। बुद्धुतः अन्य सब लेप-उद्भर्तन-मर्दनादि विधि में कुछ फरक से अध्यंग ही किया जाता है। 'अग्न' धातु गति के अर्थ में प्रस्तुत है—उसमें 'अभिं' उपसर्ग से अध्यंग शब्द बनता है। इसका शब्दशः अर्थ होगा कुछ गतिया करना। तैल, वसा, मूतादि स्वेहों को शरीर पर राङकर, हाथ से उन स्वेहों को अच्छी तरह शेषार्थ 'गतियाँ' ही की जाती है। अध्यंग स्वस्थों में स्वास्थ्य रक्षणार्थ प्रति दिन प्रशस्त है। अध्यंग में कोई भी स्नेह उपयोग किया जा सकता है, लेकिन सस्ता होने से और गुणकारी होने से तैल का ही अधिक प्रचार है। अतएव 'तैलाध्यंग' भी कहा जाता है। बुद्ध वायाख्य ने ऋतु के अनुकूल, वाताघ और सुगंधित तैलों से नित्य अध्यंग करने को कहा है।<sup>१४५</sup> बुद्धुत ने तैल, धी या अन्य किसी भी स्नेह से, प्रकृति, ऋतु, साल्य, दोष, देश और रोग इनका विचार करते हुए, अध्यंग करने का निर्देश किया है।<sup>१४६</sup> वात व्याधि प्रकरण में धूत के अध्यंग का निर्देश मिलता है। सामान्यतः तैल, धूत और वसा इनका उपयोग किया जा सकता है। (चित्र देखें)

अध्यंग किसका न करें? — जिनको कफ रोग या कफप्रथान रोग हुआ हो, जिन्हें वसन या विशेषन दिया गया हो, जो अजीर्ण से पीड़ित हो उनको अध्यंग नहीं करना चाहिये। जो अप से पीड़ित हैं, या दोषों की सामावस्था है, उनमें भी अध्यंग न करें। तरुणज्ञर से पीड़ित, निरुद्ध (दलबलसि) का भी अध्यंग न करें, तथा संतर्पण के द्वारा उत्पन्न रोगों में अध्यंग न करें। इनमें अनिन्माद्य उत्पन्न होता है और तत्तद रोगों की वृद्धि होती है, अतः अध्यंग मना है।<sup>१४७</sup> आगे जैसा कि कहा जायेगा कि अध्यंगादि से त्वचा में स्वोतोमुख विकास होता है—उपर्कृत रोगों में प्रारंभ से ही त्वचा के स्त्रोतों में कफ, आम का संचय होता है—जिससे इनमें सामान्य गुण से सामान्य की वृद्धि होकर व्याधि कृच्छराध्य या असाध्य हो जाती है।

अध्यंग विधि—सुखोष्ण, सुगंधी, वाताघ, ऋतु, दोषादि के अनुकूल तेल लेकर सुखपर्क, धीर-धीर अनुलोम गति से शरीर पर मलना अध्यंग है। अध्यंग सिर में, पांव में और कान पर (या कण्ठपूरण से) विशेषतः करना चाहिये।<sup>१४८</sup> सिर में अध्यंग के लिए, शीत स्नेह या सुखोष्ण स्नेह का उपयोग करें। सिर इंद्रियायतन है और प्रधान मर्म है, अतः उसे उच्छाता से बचाना चाहिये। हाथ-पांव इत्यादि भागों पर उष्ण स्नेहों से अध्यंग करें। इसी तरह शीत ऋतु में उष्ण तैलों से और उष्ण ऋतु में शीत तैलों से अध्यंग करना उचित है। दीघाकावले अवयवों पर हाथ पांव पर अनुलोमतः ऊपर से नीचे की ओर, समिथस्थान में कूपी, अंस, जानु, गुलक, कटी में बर्तुलाकार अध्यंग करें। अध्यंग का मुख उद्देश्य भीतर के अवयवों की गतियों को उत्तेजित करना है। इसलिए कमधारी को प्रत्येक अवयव चाहिए, इसका निर्देश किया है। अध्यंग, उद्भर्तनादि प्रकारों का दैनिकनाम जीवन में स्वास्थ्यत

क्र.	तैल नाम	उपर्योग	पात्रा
१४.	आईल ऑफ केडिनम अलकतरा तैल	त्वग्रोग में, रक्त विक्षेपण को बढ़ाने के लिये उद्देश्य हर उद्देश्य हर	१ से ३ बूंद १ से ३ बूंद
१५.	ऑईल ऑफ करेबी द्वीपांतर कृष्णा	उद्देश्य हर, शूलहर	१ से ३ बूंद
१६.	ऑईल ऑफ करेबी द्वीपांतर कृष्णा	वातव्याधि तथा अद्युक्ता मुखी कूपमें उद्देश्य हर उद्देश्य हर	३ से १५ बूंद
१७.	ऑईल ऑफ करियो फिलाई लव्हा तैल जीरक का तैल	उद्देश्य हर उद्देश्य हर उद्देश्य हर उद्देश्य हर	१ से ३ बूंद १ से ३ बूंद १ से ३ बूंद १ से ३ बूंद
१८.	ऑईल ऑफ चिनापोडाई सुगंधी बशुवा का तैल	उद्देश्य हर उद्देश्य हर उद्देश्य हर जीवाणु विरोधक कुष में	१ से ३ बूंद १ से ३ बूंद १ से ३ बूंद १ से ३ बूंद ४ से १२ बूंद
१९.	ऑईल ऑफ सिनेमापाई दालचिनी का तैल ऑईल ऑफ कोरियेंड्राई धात्यक तैल	१ से ३ बूंद १ से ३ बूंद	—
२०.	ऑईल ऑफ युकेलियाई	उद्देश्य हर	—
२१.	ऑईल ऑफ युकेलियाई	उद्देश्य हर	—
२२.	आईल ऑफ हिडनो कापाई एथेलिकम चालमोरा के समान वृक्ष के बीज का तैल	औषधि निर्माण में सुगंधित द्रव्य	—
२३.	ऑईल ऑफ लेबेझिली	वातानुलोपन	१ से ३ बूंद
२४.	ऑईल ऑफ लाईमोनिस निंबूप्ल	उद्देश्य हर	१ से ३ बूंद
२५.	के छिलके का तैल	वातानुलोपन	१ से ३ बूंद
२६.	ऑईल ऑफ मेंथारिंगप्रेटी पिपरमेंट तैल	वातानुलोपन	१ से ३ बूंद
२७.	ऑईल ऑफ स्टेकी जायफल का तैल	ल्क् प्रसादन	१ से ३ बूंद
२८.	ऑईल ऑफ रोजमेरीनाई	लव्हा में रक्त वर्ण निर्माण, कूमिनाशक	१२० से २४० बूंद

**बाह्य स्नेह** आध्यंग त्रेहण का अब तक समय विचार प्रस्तुत किया गया। इसके आगे बाह्य स्तेहन का विचार किया जाता है। बाह्य स्तेहन में अध्यंगादि का समावेश होता है। बाह्य स्तेहन के अध्यंगादि प्रकारों का उल्लेख चरकादि आवायों ने स्नेहाभ्याय के प्रकरण बाह्य स्तेहन में वर्तुलाकार अध्यंग करें। अध्यंग का मुख उद्देश्य में कूपी, अंस, जानु, गुलक, कटी में वर्तुलाकार अध्यंग करें। अध्यंग का प्रत्येक अवयव में नहीं किया है, तथापि स्नेह का अध्यंग, गंडूष, शिरोबस्तर्पण विधि से उपयोग करना में वर्तुलाकार अध्यंग की गतियों को उत्तेजित करना है। इसलिए कमधारी को प्रत्येक अवयव चाहिए, इसका निर्देश किया है। अध्यंग, उद्भर्तनादि प्रकारों का दैनिकनाम जीवन में स्वास्थ्यत

के कर्मों का ज्ञान सिखाना चाहिये। तत्त्व मांस पेशी के कार्यों में अनुकूल गतियों से अध्यंग कराने। प्रत्येक अवयव को अध्यंग अच्छी तरह हो। इसलिए अध्यंग में निमोक्त सात अवस्थाओं में आत्म को रख कर अध्यंग करना चाहिये।

१. पांच सीधा रख बैठाकर

२. पीठ के बलपर लिटाकर

३. वामपाश्व पर लिटाकर

४. वश्व-उदर के बल पर लिटाकर

५. दक्षिण पाश्व पर लिटाकर

६. उन्न: बिठाकर

७. उन्न: शरीर पर लिटाकर

**अध्यंग काल-** अध्यंग कितनी देर तक करना चाहिये इसके बारे में लैण ने एकीय मत का संदर्भ दिया है।<sup>१५५</sup> तीन सौ मात्रा तक अध्यंग करने से (१ मात्रा = १६/६० सेकंड अतः लाभा ६५ सेकंड) स्नेह त्वचा के रोमान में पहुँच जाता है। ४०० मात्रा तक (लगभग १३३ सेकंड) करने से त्वचा में पहुँच जाता है। ५०० मात्रा तक (लगभग १६० सेकंड) करने से स्नेह त्वचा में पहुँचता है। ६०० मात्रा तक (लगभग १६० सेकंड) करने से नास में पहुँचता है। ७०० मात्रा (२२८ सेकंड) तक अध्यंग करने पर मेद में पहुँचता है, ८०० मात्रा तक करने से (लगभग २४० सेकंड) अस्थि में स्नेह पहुँचता है। इस क्रम से अध्यंग में तक (लगभग २८५ सेकंड) करने पर अस्थि में स्नेह पहुँचता है। इस क्रम से अध्यंग में कुल लाभा तक करने हें अतः सर्व शरीर में अध्यंग अच्छी तरह हो इसलिए उपर्युक्त प्रत्येक अवस्था में २ मिनिट से ५ मिनिट तक अध्यंग करें। इस तरह कुल १५ मिनिट से ३५ मिनिट तक अध्यंग करना हितकर है। यदि एकाग्र पर, हाथ-पाव-सिर इत्यादि पर भी अध्यंग करना हो तो कम-से-कम १५ मिनिट तक अवश्य करना चाहिये। पांच मिनिट का यह क्रम प्रतिदिन स्नानादि पूर्व त्वचाओं में अध्यंग के लिए अनुकूल है। गोगवस्था में इससे अधिक अपेक्षित है। अध्यंग के बाद १५ मिनिट तक विश्राम करें। फिर नेपेकिन साईंज का (या १८" x १८" का) कारड़ा या टॉवेल गरम पानी में डुबोकर, पानी निचोड़कर-अध्यक्षत भाग पर थीरे-थीरे रख कर स्नेह पोछ ले। फिर उण्डाकर में स्नान करें। स्नान के लिए चर्ने के आटे का उपयोग करें। साबुन न लगाए। साबुन से स्नातोमुख में प्रविष्ट तेल भी छुल जाने की संभावना होती है। (चित्र देखें)

**अध्यंग के उपाय<sup>१५०</sup> —** अध्यंग तातोगनुसार तो अनेक प्रकार लाभप्रद होना ही है, तथापि स्वस्थों में अनेक गुणों को करता है। इसके प्रधान गुण इस प्रकार के हैं।

१. जराहर— नित्य अध्यंग से बुढ़ापा देरी से आता है। शारुओं को बल प्रदान करने से यह गुण मिलता है।

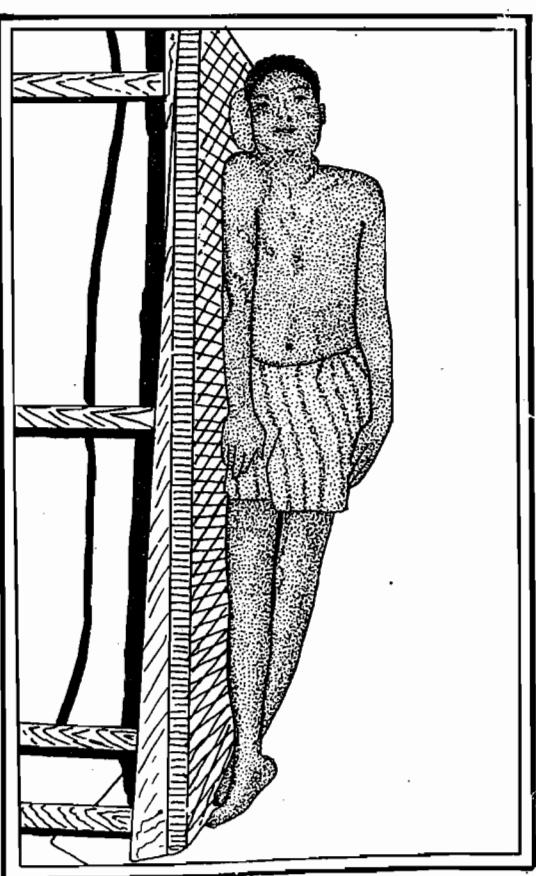
२. श्रमहर— अधिक काम, व्यायामादि से मांसपेशियों में उत्पन्न होनेवाली थकावट अध्यंग से दूर होती है।

३. वातहर— स्नेह गुणों से यह चात को नष्ट करता है।

४. दृष्टि प्रसादकर— आँखों की रोशनी बढ़ता है।

५. पुष्टिकर— सभी धातुओं को बढ़ाकर शरीर को पुष्ट करता है।

६. आयुर्चकर— धातुदाढ़कर होने से आयु बढ़ता है।



**विशेषक—** इसमें आत्म को दक्षिण पाश्व पर सीधे लिटाया गया है। इस अवस्था में वाम बाहु वाम पाश्व भाग, पृष्ठ वाम ऊरु, जंधा का बाह्यवर्ती भाग—इत्यादि अवयवों का अध्यंग अथवा स्वेद अच्छी तरह किया जा सकता है।

अवस्था क्र. १ और अवस्था क्र. ७ समान है, तथा अवस्था क्र. २ और अवस्था क्र. ६ समान है, एवं दर्थ तत्त्व चित्रानुसार समझ लें।

**८. त्वचनकर—** अध्यंग से अच्छी नींद आती है।

**९. त्वचक ढाळ्यकर—** त्वचा को कोमल तथा दृढ़ बनाता है।

**१०. कलेश सहत्व—** अध्यंग से दृढ़शरीर अनेक कष्टों को सहन करने में समर्थ होता है।

**११. कफवातनिरोधन—** मुख्तुने अध्यंग को कफ और वात दोनों को कम करनेवाला बताया है।

**१२. मृजावर्ण बलप्रद—** अध्यंग से त्वचा शुद्ध होती है, मुख्य का रंग निखर उठता है और बल बढ़ता है। रूप प्रिय लगता है।

चरक ने कहा है कि स्पर्शनिदिय में वायु का स्थान रहता है और स्पर्शनिदिय का अधिष्ठान त्वचा है। अध्यंग त्वचा—(त्वचा के लिए हितकर) होने के कारण उसका हमेशा उपयोग करना चाहिये।<sup>१५१</sup> जिस तरह से चमड़े को स्नेह लगाने से वह दृढ़ होता है, यदे (कुंभ) को स्नेह लगाने से वह दृढ़ होता है और रुख या गाढ़ी की आँख में स्नेह करने से वह मजबूत बनती है वैसे ही अध्यंग करने से मुख्य का शरीर दृढ़ होता है।<sup>१५२</sup>

१. पादाभ्यंग<sup>१३</sup>—पांव पर अध्यंग करने के पांव की छाता-तला-पांव में दर्द पड़ना, स्तब्धता, रुक्षता दूर होती है, पांव की थकावट दूर होती है, सुस्ति (स्पश्चिन्नान न होना) दूर होती है और पांव स्थिर और बलवान होते हैं। पांव को मौल रहते हैं, द्रुष्टि प्रसालयुक्त रहती है, पादाभ्यंग करनेवालों को कभी गृद्धसी (कटि से जो वेदना प्रारंभ होकर उरु, जातु, जंधा, प्रपद तक जाती है उसे गृद्धसी कहते हैं) नहीं होती। उसके पांव कभी नहीं फूटते तथा सिरा और स्नायु का संकोच कभी नहीं होता।

शिरोउभ्यंग का वर्णन आगे 'मूर्ध तैल' शीर्षिक में किया है। अध्यंग के कार्यकलाव के चरक ने ऊपर जो तीन दृष्टांत दिये हैं— उससे केवल अध्यंग के कार्य न समझकर मर्दनादि कार्यों का बोध होता है ऐसा कुछ लोग मानते हैं। अष्टग स्प्रह में इडु की टीका में किया है—

'शासादि वदध्यादुणा: भवति । रथाङ्कं चक्रनाभिः । तस्य चर्म घटयोऽस्व यथा भ्यंगेन श्वस्कृतं, यथा पादवं यथा च दाढ़वं तथा शारीरस्य स्नेह स्पर्शनं मात्रेण, चर्मणो मर्दनेन, घटस्य स्नेह संस्कारेणेति एवमाह ॥'

इस तरह अध्यंग, मर्दनादि विविध उपयोग यहाँ बोक्ख है ऐसा समझना अनुचित नहीं है।

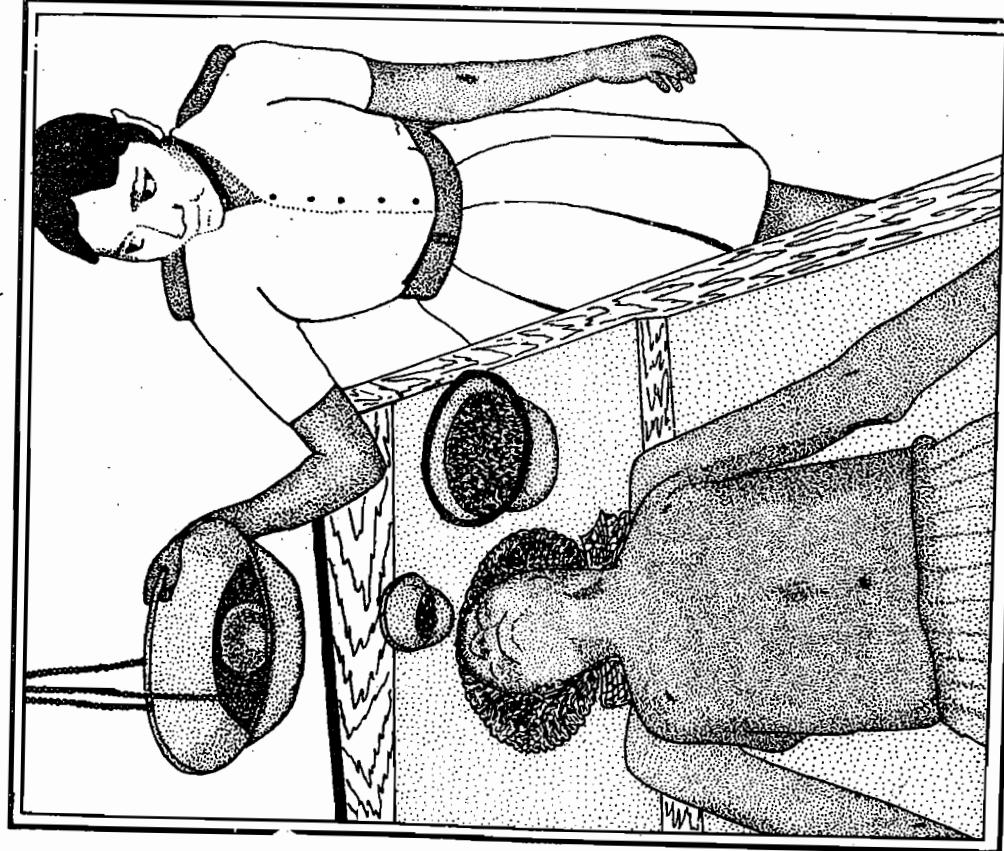
२. लेप<sup>१४</sup>—किसी औषधि का शरीर के अवयव पर लिंपन करना लेप कहलाता है। यह प्रलेप, प्रदेह और आलेप ऐसे ३ प्रकार का होता है। जब स्नेह द्रव्यों का तावन्मात्र उपयोग किया जाता है—यावमात्रा में लेपन हो तब उसे स्नैहिक लेप कहा जायेगा। स्नेह द्रव्यों से लेपन के अनेक प्रयोजन कहे गये हैं। लेप यह अध्यंग से कम गुणवाला है। इसमें दबाना, भार देना, गति करना ये कियाएं नहीं हैं। केवल विशिष्ट समय तक गत्र को स्नेह से युक्त रखना यह इसका प्रयोजन है। प्रलेप शीतल, पतला तथा शोषी या अविशेषी होता है। स्नेह प्रलेप अविशेषी (न सुखनेवाला) होता है। प्रदेश उच्च या शीत, जाड़ा और अविशेषी होता है। अलेप मध्यम होता है। सुश्रुत ने त्वागत वात में, मांसागत वात में, स्नायु गोरों में अनेक लेपों का वर्णन किया है। चरक और सुश्रुत दोनों ने कुछ वातव्याधि तथा वातवृत में स्नेहलेपों का उल्लेख किया है। जिनमें से कुछ निम्नलिखित प्रकार के हैं।

३. दाह और गण तथा वेदनायुक्त स्थान में, रक्तमोक्षन के अनंत लेप करें— यह लेप—मधुयष्ठी, पीपल, दलचीनी, जटामासी, खिरनी, उड़बर इनके चूर्ण में दूध और धी मिलाकर करें, या केवल यव को दूध और धी के साथ लेप करें या मधुयष्ठी को धी और दूध में मिलाकर लेप करें।

४. जीवनीय धूत का लेप रुजा और दाह का प्रशम करना है।

५. तिल, चिरौजी, मधुयष्ठी, कमलबिस, बांस के मूल इनको बकरी के दूध में पीसकर लेप करें। दाह और रुजा को कम करता है।

६. वाताधिक्य में—वाताधि द्रव्यों के लेपों को (धी के साथ या तैल के साथ) स्निग्ध कर क्षार, मुंग का पायस, तिल, सरसू इत्यादि के साथ मिलाकर लेप (उपनाह) करें।



**विशेष**—धारा टेबल के शिरोविभाग में आतुर का सिर स्थित है। धारापात्र, तदर्तात तैल, तथा शिरोभाग के तैल विशावानार्थ स्रोत दर्शनीय है।

५. धूत, तैल, वसा, मज्जा के साथ अनेक योगों का लेप खंज, अर्दित, वातरक्ति विकार में वर्णित है।<sup>१५५</sup>

६. माषपणी, महदेवी, चंदन, मूर्वा मुस्ता, चिरौंजी, शतावरी, कसेल, पद्माख, मुलेठी, सौफ, विदारी, मुष्ठ इनको दूध में पीसकर धूतमांड मिलाकर प्रदेह करें।<sup>१५६</sup>  
(वातरक्ति) में—

७. द्विटी, अझासा, वसा, अतिबला, जीवंती, सुष्वी इनके कल्क का बकरी के दूध में पीस कर लेप करें। (स्नेह = बकरी का दूध)

८. गांधारी, मुलेठी, जी का सूख इनको गाय के दूध के साथ लेप करें।

९. पित्र प्रधान वात में— साठी चावल, नस, जलवेत्स, तालीम सिंधाड़ा, कमलबीज, हल्दी, गेल, सरवाल, पचाख, कमलपत्र आदि को कांजी में पीसकर यी के साथ लेप करें।<sup>१५७</sup>

१०. शार्दूलधर ने केशवर्धनार्थ, केश दुड़ीकरणार्थ, रोमोत्सादनार्थ अन्यान्य द्रव्यों के साथ न्हेमिश्रित लेप करें।

३. उद्धर्तन-उत्सादन—प्रतिलोम गति में अधिक भार या पीड़न के साथ अभ्यं करना उद्धर्तन है। ग्रंथ में चूपोंद्वारा का उल्लेख किया है। यह स्थिर एवं रुक्ष दो प्रकार का होता है। चरक ने स्थूल्य चिकित्सा में रुक्ष उद्धर्तन और कृशों की चिकित्सा में स्थिर उद्धर्तन करने की कहा है। उद्धर्तन के लिए चरक ने 'शरीर परिमार्जन' ऐसा पर्याय दिया है। जिसकी टीका में चक्रपणि ने शरीर परिमार्जन का अर्थ उद्धर्तन किया है।<sup>१५८</sup> सुशुन ने उद्धर्तन उद्धर्षण और उत्सादन ऐसे तीन कर्म दिये हैं। इनमें उद्धर्तन का अर्थ है— ऐनिंगथ द्रव्यों का उपयोग जो प्रविलापन और विम्लापन करते हैं। उद्धर्षण का अर्थ है— अनिंगथ द्रव्यों का शरीर पर घरण और स्नेह कल्कों का उद्धर्षण उत्सादन कहा है।<sup>१५९</sup>

४. यह स्मष्ट है। उत्सादन और उद्धर्तन में फक्त प्रतीत नहीं होता। उद्धर्तन और उत्सादन के द्वारा सिरा मुखों का विकास होता है, त्वचा के अनि का (रुक्क पित्र) दीपन होकर वर्ण प्रसादन होता है। अतएव विशेषतः लियो में गौदर्य बढ़ाने के लिए उत्सादन का उपयोग प्रसन्न है। उद्धर्तन के निमालिखित युग्म होते हैं।<sup>१६०</sup>

१. उद्धर्तन से कफ का शमन होता है। २. मेद का विलयन होता है।  
३. शरीरावचव त्त्विर और दुःह होते हैं। ४. त्वचा का प्रसादन होता है—  
संग खुलता है।

५. वात का प्रसादन करता है। ६. उत्सादन से शिरा मुखों का अवरोध दूर होता है।

७. त्वगागत अनि का दीपन होता है जिससे लेप, प्रदेह-अध्यादि प्रयुक्त द्रव्यों का शोषण अच्छी तरह हो सकता है।

८. शरीर की दुर्गाध दूर होती है।  
९. तंद्रा नष्ट होती है।

११. कंद्रु प्रशमन होता है।

१२. स्वेद से उत्सन मलों को दुर्गाधता को उद्धर्तन दूर करता है।

अभ्यंग और उद्धर्तन में भिन्न-भिन्न द्रव्यों का प्रयोग किया जा सकता है। दोष, रोग, क्रह्तु, अवस्था के अनुसार भिन्न-भिन्न तेल, धी, वसा तथा दूध, मांस, पायस और अन्य निःध द्रव्यों का प्रयोग कहा गया है।

४. मर्दन-उमर्दन—अभ्यंग, लेप तथा उद्धर्तन में तैल लगाकर अधिक पीड़न नहीं किया जाता। मर्दन उसे कहते हैं जिसमें तैल लगाकर जोर से पीड़न (Pressure) किया जाता है। अश्रांत हृदय में तैलाभ्यादि विधि के बाद 'मर्दन' करना चाहिए ऐसा निर्देश किया जाता है।<sup>१६१</sup> द्विनव्यर्थ के क्रम में अभ्यंग फिर व्यायाम का वर्णन कर त्यस्यात् यथा सुखशरीर को धीरे-धीरे द्वाना (मर्दन) हितकर है ऐसा उल्लेख है। यद्यपि ही मर्दन में तैलादि स्नेहों का मर्दन में ऐसा स्थानिदश नहीं है तथापि अभ्यंग से पहले ही तैलादि प्रयोग शरीर पर किया गया होता है अतः पुनरुल्लेख अनावश्यक समझा गया होगा, यही इसका कारण है। फिर भी मात्र मर्दन स्नेहों के द्वारा और बिना स्नेह से दोनों प्रकार से इसका कारण है। ऐसा इसका अध्य जरूर होगा। सुशुन ने वातव्याधि चिकित्सा प्रकरण किया जा सकता है, ऐसा इसका अध्य जरूर होगा। सुशुन में रक्तमोरण तथा में त्वगात वात, मांसगत वात, रक्तगत वात, तिरगत वात, इनमें रक्तमोरण तथा करना उद्धर्तन है। ग्रंथ में चूपोंद्वारा का उल्लेख किया है। यह स्थिर एवं रुक्ष दो प्रकार का होता है। चरक ने स्थूल्य चिकित्सा में रुक्ष उद्धर्तन और कृशों की चिकित्सा में स्थिर उद्धर्तन करने की कहा है। उद्धर्तन के लिए चरक ने 'शरीर परिमार्जन' ऐसा पर्याय दिया है।<sup>१६२</sup> सुशुन ने उद्धर्तन उद्धर्षण और उत्सादन ऐसे तीन कर्म दिये हैं। इनमें उद्धर्तन का अर्थ है— ऐसे द्रव्यों का उपयोग जो प्रविलापन और विम्लापन करते हैं। उद्धर्षण का अर्थ है— अनिंगथ द्रव्यों का शरीर पर घरण और स्नेह कल्कों का उद्धर्षण उत्सादन कहा है।<sup>१६३</sup>

५. यह पेशी थकावट, स्नायु शूल को कम करती है और शरीर में लघुता करता है।  
६. पादाधात—पादाधात का अर्थ है— पांव के द्वारा पीड़न करना या दबाना। मर्दन से भी अधिक पीड़न पादाधात में होता है, वापर्त ने 'पादाधात' का वर्णन क्रतुवर्य प्रकरण में किया है। हेमत क्रतुवर्य में कहा है कि— बत्ता-तैल जैसे वातनशक तेल पहले शरीर पर लगावे। शिर पर तैल का अभ्यंग और रिंग (तैल में) शरीर मर्दन कर, पांव के द्वारा शरीर पर पीड़न करावे।<sup>१६३</sup> यहाँ भी तैल से पादाधात ऐसा उल्लेख नहीं है कि भी जिस क्रम से पादाधात करने को कहा गया है उसमें तैल अभ्यंग और मर्दन ही है और स्थिर गत पर पादाधात किया जाता है। अतएव तैल का शरीर में और अच्छी तरह मर्दन होना यही इसका प्रयोजन प्रतीत होता है। सुशुन ने द्विनव्यर्थ क्रम में पहले अर्थ शक्ति में व्यायाम करने को कहा है। व्यायाम के द्वारा पसीना आने के बाद अर्थात् अभ्यंगदि कर व्यायाम कर, पांव से उमर्दन करने को कहा है। अर्थात् पादाधात करने को कहा है। इस तरह से ऐसा करनेवाले का शरीर कुछ छोता है। जिससे हिस्से सिंह से दूर भागते हैं वैसे ही व्यायाम इससे दूर भागते हैं और आक्रमण नहीं करती।<sup>१६४</sup> यहाँ उद्धर्तन कहते हैं कि— 'पद्भ्यां उमर्दितस्य' से पांवों के द्वारा अच्छी तरह से मर्दन करना

पादाधात दक्षिण भारत में प्रचलित है। इसके लिए जो व्यक्ति पांव से पीड़न करेगा उसके पांव स्वच्छ हो, अकठोर हो, फूटे हुए फरे हुए परफूम न हो, और व्यक्ति न ज्यादा बजनबाला न ज्यादा कुश ऐसा हो। शयनस्थान से ऊपर एक शुखला बांधकर उसमें एक चक्क लगा रखे जिसको पकड़कर कर्मचारी रुणशरीर के (या स्वस्थ पुरुष से) अवश्यक पर सुखपूर्वक पादाधात करें।

६. परिषेक— औषधि कवाथ, दूध, तैल, धी, तर्क, मांस रसादि द्रव्यों की आतुर से भी कहा गया है। जब-स्वेह द्रव्यों के साथ परिषेक किया जायेगा तो वह बाह्यस्नेह में समाविष्ट होगा। चरक ने वातरक्त विकितसा अनेक परिषेकों का वर्णन किया है। वाभट ने शिर पर जो तैलविधान का वर्णन किया है उस 'मूर्धा तेल' का 'सेंक' यह एक प्रकार कोल, देवदार्यादि गण इनके कवाथ में अनूप मांस रस, अस्त, कांजी, दूध, मधुर स्कंद्य के प्रक्षेपण द्रव्य डलकर 'महा स्वेह' तैयार कर उसका परिषेक, अश्वगादि में उपयोग करने को कहा है।<sup>१६</sup> मुश्तुत ने प्रतिदिन के करने योग्य कर्मों में भी सेंक का समावेश किया है और इसे डलहृण ने सर्वांग पर परिषेक करना यही सेंक है, ऐसा कहा है<sup>१७</sup> और परिषेक के गण में बताया गया है कि इसमें थाकवट दूर होती है और वात का प्रशमन होता है। भग्न संधियों को जोड़ने में मदद मिलती है। क्षतों में, अग्निदृष्ट में, अभिघातज क्वणों में, विपुष्ट क्वणों में रुजाशमन् होता है।<sup>१८</sup> मुश्तुत ने क्रणकर्मों में 'भी परिषेक यह एक उपक्रम माना है और भिन्न-भिन्न दोषानुसार भिन्न-भिन्न औषधि से संयुक्त सम्बन्ध परिषेक वर्णित किये हैं।<sup>१९</sup> यहां केवल सेहपरिषेकों का ही प्रयोगन है। सुशुत कहते हैं कि जैसे जल सीधने पर बक्षों के मूलों से अंकुरों की बुद्धि होती है वैसे ही स्नेहद्रव्यों के परिषेक से धारावृद्धि होती है।<sup>२०</sup> इस स्नेह परिषेक का ही इस ग्रंथ के प्रस्तुत पंचकर्म विषय में महत्व

परिषेक के लिए धारापात्र की सहायता ली जा सकती है और सर्वांग परिषेक करना होतो केवल १८° x १८° प्रमाण के कपड़े स्नेहादि में भिगोकर शरीर पर निचोड़कर परिषेक किया जा सकता है। धारापात्र की पद्धति मुर्धे तेल में और दसरी पद्धति पिण्ठिवल स्नेहन में अनुष्ठा। परिषेक के लिए आहुर को तैल द्रोणि (विशेष अवगाहन पत्र) में शिरया जाता है। जिसका वर्णन उचित स्थान में किया है। चरक ने जो अनेक परिषेक

१. वातरक्त में परिषेक यह सामान्य चिकित्सा सूत्र में कहा गया है। दशमूल बवाथ से संदर्भ कहे हैं उनमें से कुछ यहां दिये जाते हैं। १७९

सिद्धकीर्ति का वातावरण में शूल निवारणार्थ उपयोग करें।

२. वात प्रधान वातावरण में सुखोषण घृत का परिषेक करें।
३. मधुर गण की औषधियोंके व्यापार में चारों सेव मिलाकर उनका परिषेक करें।

४. गाय एवं बकरी के दूध में तेल मिलाकर परिषेक करें।

५. जीवनीय गण के क्वाथ अपानी अम्लकांजी डालकर सेंक करें।

६८. सुश्रुत ने भी वातरक्त प्रकरण में—देववाय्यादि गण की औषधियाँ, वातज्ञ गण की औषधियाँ यव, कोल, कुलथ, आनृप मांसरस पंचवर्ण (कुलत्वर, यव, कोषथ, पंचवाले तथा मत्त्य इनके मास रस) इनका वायाथ बनाकर, कषाय, अम्ल, क्षीर, सपि, तेल, वसा, मज्जा चारों स्नेह मिलाकर मधुर गण औषधियों के प्रक्षेप द्वारों के साथ स्नेह सिद्ध करने को कहा है। इस स्नेह से अपतानक में परिषेक करने का निर्देश है। इसी तरह मूलक, उत्तरवक, फणिङ्जक, अर्क, सप्तला, शखिनी इनके स्वरस में सिद्ध तैल से परिषेक करने को कहा है।

७. संवाहन—संवाहन ‘मुख्यकारक स्पर्श’ को कहते हैं। हाथ से धीरे-धीरे अधिक बल प्रयोग न करते हुए, जिसमें केवल सुखाउभूति हो लतने प्रमाण में स्नेहों को मलना स्वेह संवाहन है। संवाहन में भी स्नेह का उपयोग करना ही चाहिये ऐसा नहीं है। सुश्रुत ने अस्थायादि दिनचर्या प्रकरण में इसका निर्देश किया है, वहाँ पर अस्थाया तेल, मदन इत्यादि कम पहले हो जाने के कारण संवाहन भी अस्थायक व्यक्ति का ही होता है। सुश्रुत कहते हैं कि— संवाहन प्रीति (मुख) उत्पादक है, निद्राकार है, बुध्य है और कपम्बवात को नष्ट करता है। इससे थकावट दूर होती है। मांस, खक्त और लवचा को संवाहन प्रसव रखता है। यहाँ डहण—ने संवाहन से मुख स्पर्श अर्थ किया है और अमितप्रभ ठीकाकार का मत दिया है कि वे हाथ से धीरे-धीरे थपकी माने (आहन) को संवाहन कहते हैं।<sup>१७३</sup>

सुश्रुत ने वातरक्त में संवाहन का उपयोग किया है और वहाँ डहण ने संवाहन का अर्थ हाथ से मर्दन करना यह किया है।<sup>१७४</sup> यहाँ खास कर सुश्रुत ने ‘मुदु संवाहन’ करने को कहा है। जिसमें संवाहन के संभाव्य मुदु और तीव्र ऐसे दो भेद हो सकते हैं।

**५. गंडूष —** द्रव्यों को मुख में धारण करते की विधि गंडूष कहलाती है। यह स्नेह द्रव्यों से किया जाए, तो स्नेह गंडूष कहलाता है। सुश्रृत ने गंडूष और कवल ग्रह ऐसे दो पारिभाषिक शब्द प्रयोग किये हैं। वारभट ने भी गंडूष और कवल ग्रह में दो अलग प्रक्रियाएँ दी हैं। जिस विधि में मुंह में इतनी मात्रा में द्रव भरा जाए जो कि आपानी से प्रक्रियाएँ दी जा सके केवल ग्रह कहते हैं और यह विधि जिसमें मुख के अदर छुमाई-फिराई जा सके (इतनी मात्रा में भरे), केवल कुछ मात्र चुम्बांतर्गत द्रव को फिराया नहीं जा सके (इतनी मात्रा में 'कुल्ले' रखकर निकाल दे, उसे गंडूष कहते हैं। १०८ दोनों को बोलचाल की परिभाषा में 'कुल्ले' करना कहा जा सकता है। शार्दूलधर में गंडूष में द्रव का उपयोग और कवलग्रह में कल्क

वार्षिक गंडूष के चार प्रकार किये हैं। स्निग्ध गंडूष, शोधन-गंडूष और रोपण गंडूष। इनमें वातोदेष में स्निग्ध, पित्त में शपन, कफ में शोधन और ब्रण में द्वान्य की कांजी, इनके साथ कल्प द्रव्य का सिद्ध क्वायादि का उष्ण या शीत प्रयोग स्मृति और पानी, शुन्त, मर्दी, मांसस, मूँह, स्नेहों का प्रयोग होता है। गंडूष में स्मृति दूष, मृदु और पानी, शुन्त, मर्दी, मांसस, मूँह, द्वान्य की कांजी, इनके साथ कल्प द्रव्य का सिद्ध क्वायादि का उष्ण या शीत प्रयोग किया जाता है। नित्य गंडूष के लिए तैल और मांस सप प्रस्रस्त कहा है। १७७ सुश्वत्त ने अपना गंडूष के चार प्रकार किये हैं कि जिसमें वात में कवल ग्रह के स्नेही, प्रसादी, शोधी और रोपण ऐसे चार भेद किये हैं कि जिसमें वात में स्निग्ध और उष्ण कवल ग्रह दिया जाता है। प्रसादन (शमनवत) स्वादु शीत द्रव्य से, कटु अम्ल लवण से पित्त में शोधन तथा रक्ष उष्ण से कफ में शोधन कवल ग्रह कहा गया

है। १७५ वृद्ध वार्षट ने सौहिल शमन, शोधन तथा रोपण चार भेद कर शमन गंडूष में—संत्थन, प्रसादन, निवापण इन प्रकारों का समावेश किया है।<sup>१७६</sup>

गंडूष के गुण और उपयोग— चरक-सुश्रुत ने स्नेह गंडूष धारण के निम्नलिखित लाभ बताए हैं।<sup>१८०</sup>

१. स्नेह गंडूष से हुवटी बलवान बनती है। २. स्वर घोषवान् और प्रसादुक्त होता है।

३. मुख का उपचय-पुष्टि होती है।

४. स्मशान में जिहा का प्रकर्ष होता है।

५. स्नेह गंडूष से हुवटी बलवान बनती है। ६. स्वर घोषवान् और प्रसादुक्त होता है।

७. औंठ कभी नहीं पटते।

८. अन्न में ऊचि बढ़ती है।

९. स्नेह गंडूष धारण करनेवाले का गला कभी नहीं सूखता।

१०. अन्न कभी नहीं गिरते (दर से गिरते हैं)।

११. दात के मस्तुके मजबूत होते हैं।

१२. दात के मस्तुके मजबूत होते हैं। दातों में कभी शूल नहीं होता और यहै पदार्थों के खाने पर दंतहर्ष भी नहीं होता।

१३. दात ऐसे मजबूत बनते हैं कि खूब कठिन

वस्तुओं को भी चबा जाते हैं।

वार्षट ने भिन्न-भिन्न रोगों के लिए भिन्न-भिन्न गंडूष बताए हैं। उनमें जिनका सेहुकृत उपयोग है वे निम्नोक्त हैं।

१. दंतहर्ष, दंतचाल, मुखरोग (वातिक) में सुखोष्ण या शीत तिलकलक भिन्न जल से गंडूष।

२. दाह, पाक, आगंतुक श्वत में, विष अनि श्वार से जल जाने पर दूध या धी का गंडूष धारण।<sup>१८१</sup>

कवलग्रह से मन्याशूल, शिरःशूल, कर्ण रोग, अक्षिरोग, लालाताव, कंठरोग, मुखशोष, हृल्लास तंद्रा, अरुचि, पीनस इनका प्रशम होता है।<sup>१८२</sup>

गंडूष कवलग्रह की कालावधि— एकाय मन से तब तक गंडूष धारण करें जब तक गले में दोष न भर जाये और नाक और आँख से पानी न जाए। फिर द्रव निकालकर दूसरा द्रव मुख में भरें।<sup>१८३</sup>

गंडूष के योगायोग के लक्षण— रोग का घटना, मुख की प्रसन्नता, निर्मलता, मुख में लघुता, इंद्रियों की निर्मलता, ये सम्पूर्ण शूद्ध कवल के लक्षण हैं और मुख में पाक, शोष, धारा, अरुचि कल्प ये शोधनकवल के अतियोग होते हैं। हीन कवलयोग में जाड़ा, कफ का उत्तरोत्तर, रसजान की अप्रतीति ये लक्षण होते हैं।<sup>१८४</sup>

६. मूर्धा तैल शिरस्त्वयां— मूर्धा—अर्थात् शिर पर तेल को विशिष्ट समय तक धारण करना ‘मूर्धा तैल’ कहलाता है। वार्षट ने मूर्धतेल चार प्रकार में विभक्त किया है।

१. शिरोऽध्यां,

३. शिरः पितृधारण

२. शिरःसेंक्,

४. शिरोबेस्ति १८५

इनके प्रत्येक के अपने-अपने गुण और उपयोग हैं। चरकने मूर्धतेल के सामान्य गुण-उपयोग में कहा है कि—प्रतिदिन शिर पर तैलधारण करने से शिरःशूल नहीं होता। बात नहीं पक्ते और गिरते नहीं हैं। शिर की हड्डियां मजबूत बनती हैं और केश लंबे, दुड़मूल और काले होते हैं। इंद्रियाएं प्रसन्न रहती हैं। मुँह की त्वचा मुंद्र होती है। मुखदूर्वल की नीट आती है।<sup>१८६</sup>

सिर में अधिक से अधिक समय तक स्नेह रखना यही मूर्धतेल का उद्देश्य है। अतएव वार्षट ने चार प्रकार में उत्तरोत्तर अधिक गुणवत्ता बताई है। अर्थात् शिरोऽध्यां से शिरःसेंक् अधिक गुणकारक हैं और शिरसेंक् से पितृ और पितृ से शिरोबेस्ति गुणकारक कही गई है। यहां पर अधिक गुणवत्ता का सामान्य अर्थ ही लेना उचित है। अन्यथा प्रत्येक रोमां छिद्र धारा से तैल का अंशतः शोषण आवश्यक है और शोषण के लिए उसको समय मिलना चाहिये। वह इन विधि में दिया जाता है।

१. शिरोऽध्यां— सिर पर तैल की मालिश करना शिरोऽध्यां है। इसमें शीत या मंद सुखोष्ण तैल का उपयोग करें। प्रायः सर्वांगाध्यां में भी सिर का ही अर्थांग प्रारंभ किया जाता है। शिर यह इंद्रियों का मूल है और प्रशान मर्म है। शिर पर अर्थांग करने से शिरोरोग दूर होते हैं। बालों की कोमलता होती है, बाल लंबे होते हैं। बाल का बहुत होता है अर्थात् बाल खूब धने हो जाते हैं तथा काले और स्त्रिय रहते हैं। शिर का पोषण होता है, मुख की त्वचा कोमल सुन्दर होती है, इंद्रियों का तर्पण होता है।<sup>१८७</sup> सुश्रुत ने शिर के अर्थांग के लिए खास चक्रतेल प्रयोग करने को कहा है। चक्रतेल यज्ञ से दबाकर निचोड़कर निकाला जाता है— जिससे चक्रतेल नाम कहा जाता है।<sup>१८८</sup> यष्टीमधु, विदरो मंद सुखोष्ण तैल का उपयोग करें। प्रायः सर्वांगाध्यां में भी सिर का ही अर्थांग प्रारंभ किया जाता है। शिर यह इंद्रियों का मूल है और प्रशान मर्म है। शिर पर अर्थांग करने से शिरोरोग दूर होते हैं। बालों की कोमलता होती है, बाल लंबे होते हैं। बाल का बहुत होता है अर्थात् बाल खूब धने हो जाते हैं तथा काले और स्त्रिय रहते हैं। शिर का पोषण होता है, मुख की त्वचा कोमल सुन्दर होती है, इंद्रियों का तर्पण होता है।<sup>१८९</sup> सुश्रुत ने शिर के अर्थांग के लिए खास चक्रतेल प्रयोग करने को कहा है। चक्रतेल यज्ञ से दबाकर निचोड़कर निकाला जाता है— जिससे चक्रतेल नाम कहा जाता है।<sup>१९०</sup> यष्टीमधु, विदरो सरल का काष्ठ, वेवदारु और लंगूपचमूल इनको समान मात्रा में लेकर इनके कल्प और क्वाय से कोल्हू का ताजा (चक्र से निष्पीड़ित) तैल डालकर तैल तैयार करें। इस तैल को ठंडा और शिर पर लाना चाहे।<sup>१९१</sup> डुहण ने चक्रतेल विधि दी है— वह इस प्रकार है। यष्टीमधु आदि द्रव्य एक सौ पल (४०० तोला) ले। इसमें १२ पल (२०४८ तोला) पानी डालकर ११० पल (४०० तोला) शेष रहने तक उबालकर पाचन करें। कम्फड़ से छानकर इसमें उत्पुरुक्त यष्टीमधु आदि द्रव्यों में कल्प ८ पल (३२ तोला) डाले, तैल तैल (चक्र से पीड़ित ताजा तैल) ३२ पल (१२८ तोला) डालकर तैलपाक विधि से (तैल शेष) तैल तैयार करें। यह तैल अर्थांग के लिए प्रशस्त है। वार्षट ने सिर की रक्षता सिर में खुली और पत्त के जमा होने पर शिर का अर्थांग करने का निर्देश किया है।<sup>१९०</sup>

२. सिरःसेंक्— सिर पर विशेषतः कपात प्रदेश पर औषधि-क्वाय, दूध, छाँ, शिरोधर, धी, तैल इत्यादि से लिषिष्ट प्रकार से धारा छोड़ना शिरः सेंक कहलाता है। इसे शिरोधर धी कहते हैं। वार्षट ने मूर्धा तैल के भेद में जहां ‘सेंक’ का उल्लेख किया है वह धी अरुचिका-सिर में उत्पन्न होनेवाली पितृकाएं, शिर में सूई तुधने की सी वेदना, दाह, पाक और वर्ण में इसका उपयोग जताया है।<sup>१९१</sup> इससे यह धारा कपात पर न गिराकर बिल्जुल सिर पर गिरानी चाहिये ऐसा लगता है। अन्यत्र शिरोरोग, प्रकरण में भी वार्षट

ने दशमूल सिद्ध क्षीर, वातचन द्रव्यों के सिद्ध क्षीरों से परिषेक करने को कहा है जिससे यह परिषेक कपाल पर भी निर्णित होता है। १६२ चारक और सुश्रुत ने भी धूत्र-ध्वन शिरोरोगों में शिर पर परिषेक करने का विधान किया है। उदाहरण शंखक रोग में चारक ने शिरो-विरेचन (नस्य) और शिरो-सेंक करने को कहा है। १६३ पितज शिरोरोग में धी या दूध से शिर-सेंक कहा है। १६४ सुश्रुत ने वातचन शिरोरोग में वातधृष्टिद्वय से परिषेक, वित्त तथा रक्तचन शिरोरोग में धी से परिषेक करने को कहा है। १६५

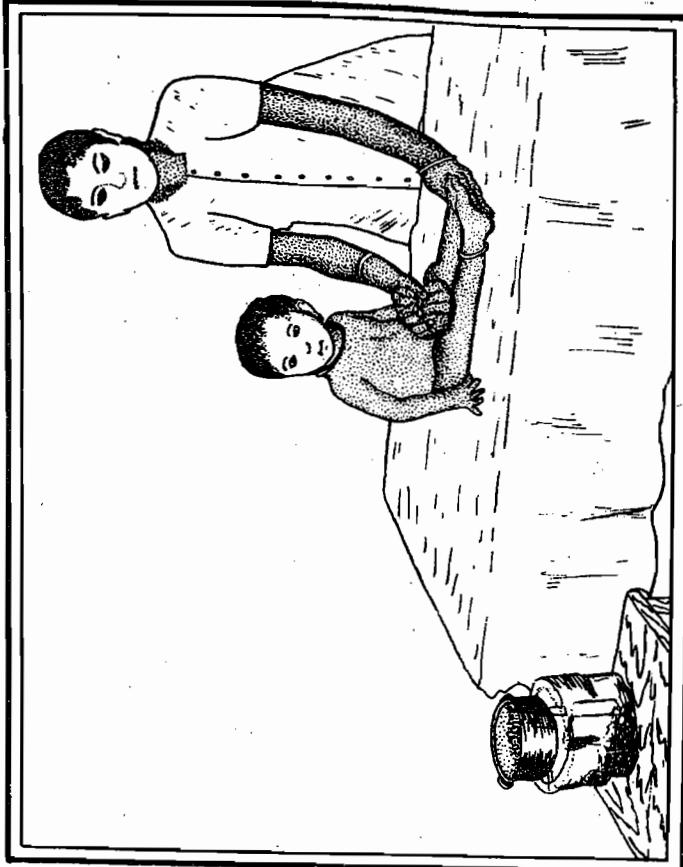
**विधि—**शिरोधारा या परिषेक करने के लिए एक विशिष्ट पात्र का उपयोग किया जाता है उसे धारापात्र कहते हैं। यह धारापात्र एक छोड़े मुखबाला पांच से छः इंच गहरा और नीचे की ओर सिकुड़ा—दो प्रस्थ या ६४ औस द्रव धारा जा सके ऐसा एक धातु-मृत्तिका या काष्ठ निर्मित पात्र है जिनके तल में करांगुली (कनिष्ठिका) प्रमाण का छिद्र होता है और इस छिद्र में वर्ति लगाई जाती है जो तैलादि को सम्प्रप्रण में गिराती है। धारापात्र का प्रयोगार्थ वर्णन उपकल्पना विज्ञान अध्याय में किया है, धाराकल्प नामक पुस्तक में कहा है—सुवर्ण-न्लोह—अथवा मिट्टी से वह पात्र बनाए। यह दो प्रस्थ द्रव्य भनने की क्षमता का हो। पात्र के मध्य में कनिष्ठिका गुल परिणाह (रोगों की) का एक छिद्र खेड़े जिसमें वर्ति लगाई जाती है—ऐसे घट का शिर-सेंक में उपयोग करें। १६६

**परिषेक** से वात या वातप्रधान दोष हो तो सुखोष्ण औषधिद्वय प्रयोग करें और पित-रक्त का प्राधान्य हो तो शीत द्रव का प्रयोग करें। सामान्यतः सिर पर उष्ण-स्वेद की प्रथम तैल के स्नान में जैसे सुखोष्ण जल होता है उनना गरम द्रव बाधक मनाई है। लेकिन उष्ण जल के स्नान में जैसे सुखोष्ण जल होता है उनना गरम द्रव बाधक नहीं है। शास्त्र में दशमूलादि तथा वातहर कवाय से सिद्ध दूध, धी, तेल, ईख का रस, काजी, दधिमस्तु (तक), मधु और शर्करोदक—(बांड का पानी) इनका उपयोग बताया है। केरलीय वैद्य संस्तान ज्वर के संतप्त को कम करने के लिए “स्नी दुध” की धारा भी कहने हैं।

शिरोधारा योग्य आतुर को धाराटेबल या द्रोणी में (उपकल्पना विज्ञान का अध्याय १६७) लियावें। उसका शिर इस टेबल के छास ‘शिरोधारा’ के लिए निर्मित विभाग की ओर है। इस विभाग में एक काष्ठ पट्टिका आहि लाई होती है—जिस पर नाम तकिया रखकर शिर को उच्चत ऐसा रखे की धारापरित द्रव—उसके नीचे की गर्त में जाए और वहां से पुनः ग्रास कर सके। प्रथम तैल का अभ्यंग सर्वांग में करना चाहिये। आतुर जिस टेबल पर लिया जाता है, उसके शिर के ठीक ऊपर धारापात्र मजबूत डोरी या लोह शूब्खला की सहायता से लटकता रहेगा ऐसी व्यवस्था करें। आतुर की और्ध्वों पर कपास के बड़े-बड़े पैड रख दे—और आवश्यक हो तो हलका बंधन बांध दें, ताकि तैलादि औषधि और खाने का न जाए। इसी तरह—औषधि द्रव्यों के वर्णन-रूप इत्यादि से अक्षम आतुर को उत्तेजना न होने पाये। अब धारापात्र में तैलादि भर दे। धाराविधि में दो कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। एक कर्मचारी टेबल के शिरात धारा में ठीक बीच में खड़ा रहकर धारापात्र की हाथ से पकड़कर (लटका हुआ) उसके वर्ति में से धारा बराबर कपालप्रदेश पर गिराता है। यह गिरा हुआ द्रव टेबल के छिद्र में से नीचे लवित होता है—जो उसके ठीक नीचे होने पाये। यह गिरा हुआ द्रव टेबल के छिद्र में से नीचे लवित होता है। यह प्राप्त तैल दूसर कर्मचारी

ठीक ध्यान रखकर पुनः धारापात्र में डालता है। इस तरह यह विधि एक से डेढ़ घंटे तक करनी चाहिये। **षष्ठ्यक्षाली पिंडस्वेद :** एकां धाराकल्प में—वात दोष में तिल तैल से, पित और रक्त में धूत से, कफ में तिल तेल से, वात और रक्त संसुष्टि में तथा वातप्रतरक्त संसुष्टि में तेल और धी को समझा लेकर उससे, कफ संसुष्टि में तेल और आधे धाग घृत मिलाकर धारा करने का निर्देश किया है। १६७

शिर में धारा करते समय ४ अंगुल ऊँचाई से वर्ति से धारा गिरनी चाहिये। १६८ एक अंगुल लगभग ३-४ ईंच का होता है—अतएव धारा तीन से चार ईंच पर से गिरावे। बहुत बंद धारा न होनी चाहिये। मंद धारापात्रन से रोगवर्धक होती है। धारा के लिए योग्य समय प्रातःकाल का है। जब अधिक धूप न हो तब प्रातः ७ से १० बजे तक धारा करें। मध्याह्न में और रात में परिवर्षक न करें। १६९ धारा काल में परिहार तथा अन्यविधि पिण्डिचल के निर्देश प्रकारारुपासर करें। धारा कर्म पूर्ण होने पर तत्त्वेणातुसार धी सेवन करावे और प्रसव मन से विश्राम करावे। शरीर को कट्ट न दे, चिह्नालैल्य न रख ब्राह्मण के समान आवश्यक करें। १०० (चित्र देखें)



**षष्ठ्यक्षाली पिंडस्वेद : एकां** तकधारा—एक वर्ष तक धूप और वायु में बुखाये हुए आवलते का चूर्ण । प्रस्थ (५० तोला) लें, जिसमें आवलतों का बीज न हो। इसमें १८ कुड़व (१८ × १८ = २३६ तोला) जल डालकर षष्ठ्यक्षाली अथर्व ३५ तोला के लगभग शेष हो एसा बवाघ बना ले।

इसमें ३८ तोला खट्टा छाछ डालकर इसको उपर्युक्त विधि के अनुसार क्षिरेशारा करें। १०१

डॉ. मूस ने ४० पत्ते (१६० तोला) आंवले में ६ प्रस्थ (५७६ तोला) जल में पकाकर १।।। प्रस्थ (६६ तोला) शेष रखने को कहा है। इसमें समभाग तक डालकर धारा की जाती है।

प्रत्यक्ष प्रयोगार्ह विधि के लिए उनका कहना है कि २ प्रस्थ (१२८ तोला) गाय का दृष्ट लेकर, ८ प्रस्थ जल (५१२ तोला) और दो पत्ते मुस्ता चूर्ण (८ तोला) डालकर तब तक

पकाकर जब तक दुष्ट शेष (२ प्रस्थ = १२८ तोला) रह जाये। ठड़ा होने पर इसमें खट्टी छाछ थोड़ी मात्रा में डालकर उसका दही बनावे। इसमें १ प्रस्थ आमल की कवाथ (४ पर आमलकी में ४ प्रस्थ जल डाल कर १ प्रस्थ शेष क्वाथ) डालकर छाछ बनाकर उसकी धारा शिर पर करें। १०२

**तक्रधारा के गुण—** तक्रधारा से केशों का सफेद होना बंद होता है। शरीर की थकावट दूर होती है। शिरःशूल प्रशमित होता है। दोष प्रकाप का शमन होता है। ओजस्य दून होता है। लाय और पात्र के तलवे में दराव पड़ने को तक्रधारा दूर करती है। मूत्र रोग दूर करती है। संघियों का शैश्वित्य कम होता है। हृदयरोग, अनिमाद्य, अरुचि, कणरोग, नेत्ररोग में लाभ होता है। १०३

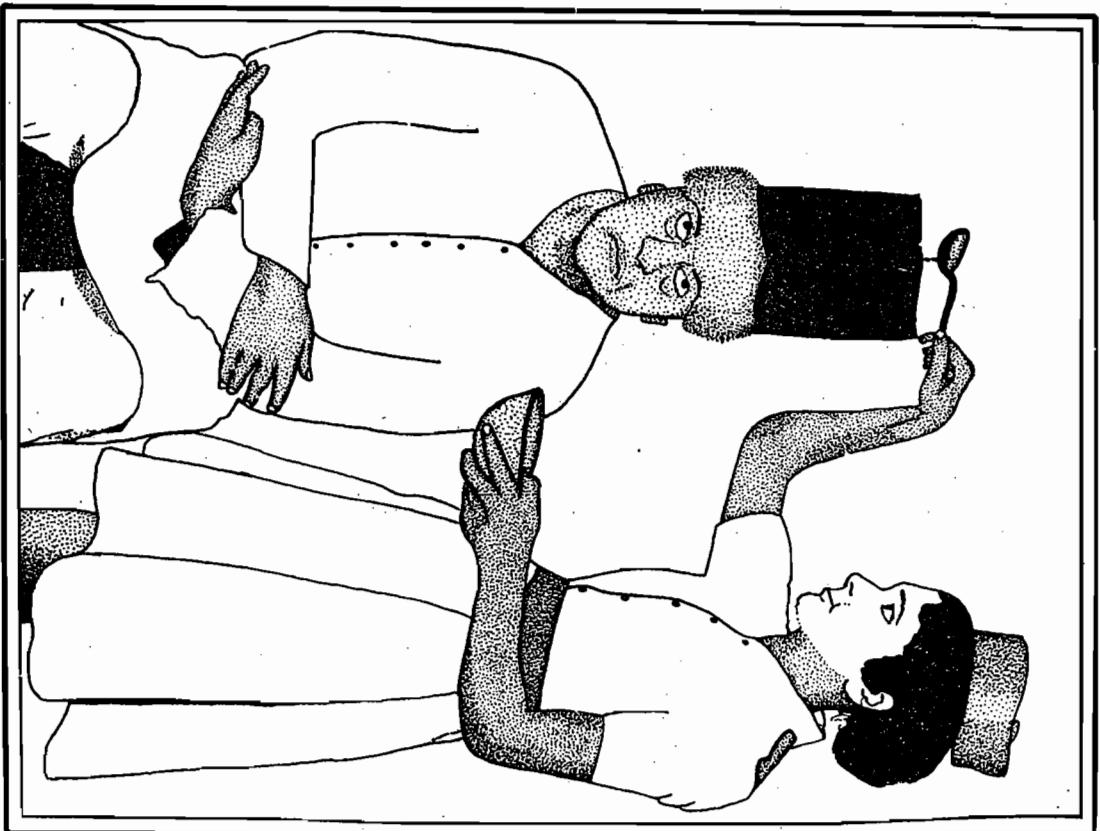
**तलधारा तथा घृतधारा के गुण—** तैल और धी की धारा की जाने पर वाचा और मन की स्थिरता होती है। शरीर का बल बढ़ता है। भीजन में रुचि लगती है। धृति-धारणा शक्ति बढ़ती है। स्वर माधुर्यवृक्त होता है। त्वचा को मल होती है। आंख के तिमिरादि रोग में लाभ होता है। शुक्र, रक्त, इन धातुओं का पोषण होता है। रतिकर्म में प्रीति होती है। शरीर की गर्मी कम होती है। नीद अच्छी आती है और आयुष्य बढ़ता है। १०४

तैलधारा में चेदनबला लाशादि तैल, शीरबला तैल, धान्वंतर तैल, शतावरी तैल, घट्टमधु तैल, ये प्रस्तुत तैल हैं, इनका यथावस्तु उपयोग करें।

**३. पितृ—** कार्पस खेंड या गोंजपीस तैलाक्त या घृताक्त कर शिर पर रखना पितृ धारण है। (बह्दारंध पर Anterior Frontinale) इसका धारण करावें। क्षेत्रपात (सिर के बाल गिरना), सिर की त्वचा पटना, सिर के बाल पक्कना तथा क्रण में नेत्रतंभ में, पितृ रखना चाहिये। १०५ शिर की तरह योनि पितृ, गृह पितृ, नासा पितृ भी रखा जा सकता है। यौनित: रक्तस्राव में पद्यकादि तैल से पितृ धारण करें, गुदा में अर्ण में काशीसादी तैल का पितृ, रक्तस्राव-क्रण-भगद्वर में जट्यादि और पद्यकादि तैल का पितृ और नासागत रक्तस्राव में पद्यकादि तैल का सोरार्थी मिश्र पितृ रखना चाहिये। कभी-कभी स्मैयुक्त ल्लोत रखने का शास्त्र में निर्देश मिलता है। ल्लोत बड़े कपड़े के द्वारा या गाजपीस के लिए कहा जा सकता है। पितृ को वाराहट ने परिषेक से भी उपातर माना है। संभवतः धीरे-धीरे ल्लोह के शोषण करने में उपयोगी होने से कहा होगा।

**४. शिरोबस्ति—** सिर पर तैल धारण करने का चौथा प्रकार शिरोबस्ति है। बस्ति शब्द से इसे बस्ति प्रकार में लेने का भ्रम पैदा नहीं होना चाहिये। बस्ति में जिस तरह प्रणियों के बस्तियों का प्रयोग किया जाता है, वैसे इसमें तैल धारण करने के लिए ग्रणियों के चर्म से बनाये हुए 'शिरोबस्ति यंत्र' का उपयोग किया जाता है। यह चमड़े की टोपी के सदृश होता है जो शिर के आकार का परिणाम में तथा १२ अंगुल विस्तीर्ण की छाँचा होता है। यह ऊपर और नीचे दोनों बाजू में खुला होता है। (चित्र देखें)

स्नेह-विश्वान  
शिरोबस्ति विधि



विशेष— शिरोबस्ति यंत्र आतुर के सिर पर रखकर माषकल्क के अंतर्बिन्दि लेप कर, बाहूत बहु द्वारा बंधन बांधा गया। उपचारिका सुखोष्ण तैल सिर पर डाल रही है।

## आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान

७. शीणपद्धम  
८. कृच्छोन्मीलीन—पलके ठीक बद्द  
न होना और ठीक न हुलना  
९. शिरोत्त्सात नेत्रोग  
१०. शिरोहर्ष—नेत्रोग  
११. अर्जुन (निर रोग)  
१२. अर्जुन (निर रोग)  
१३. अधिष्ठान  
१४. अधिष्ठान  
१५. वातपर्याय  
१६. जिसकी आँख से पानी न आता  
हो, शूल हो, वणनाश हो,  
संरंभ (टक्कट्की) हो।

**विष्णु०६** — जिस आहुर की शिरोबस्ति करनी है उसे स्नेहन-स्वेदन कर शोधन करें। यहां स्वेदन शिर का अपेक्षित नहीं है। शोधन में वमन या विरेचन का यथार्थग्रय शोधन करें। फिर अपराह्न काल में या सायंकाल में आहुर को बस्ति दें। एतदर्थं जानु के जितनी ऊंचाईवाली (सामान्यतः १।।। फीट) एक कुर्सी पर आहुर को (दिखें—उपकल्पना विज्ञान अध्याय) बिठाकर उसके सिर पर चमड़े का यह यंत्र व्यवस्थित रखकर बैंडेज से बांधकर उसे फिट कर दे। फिर आध्यात्म भाग में रोपात के स्थान में माधवकल्प (उड्ड के आटे को पानी में गंगथ कर) को भरकर अवकाशशिरहित कर दें। यदि आवश्यक हो तो बाहर आटे की ओर से लिपित कर कोई भी स्थान से तैल स्वविनित होने पाये व्यवस्था करें। बंधन भी उड्ड से लिपित कर कोई भी स्थान से सिर पर घूमते हुए सात-आठ बार स्तर करें इतना ऐसा लंबा हो कि वह कान के बाजू से सिर पर बैठ सके इसलिए पर्याप्त हो। गाँठ कनपट्टी पर आवें। शिरोबस्ति यंत्र अच्छा होता है। फिर आहुर को सूचना दे कि वह पुलष आहुर का पहले से मुँहन करना अच्छा होता है। किंवित तरह सिर पर बैठी या पाली—(चमचा) सिर को हिलावे नहीं। व्यायामनुसार उचित तैल लेकर सुखोषा कर दर्भि-या पाली—(चमचा) के द्वारा चमड़े के बाजू से धीरी-धीरी अंदर भरे। केशभूषी के ऊपर दो अंगुल ऊंचाई तक (लगभग १।।। इच्छ) तैल पर दे और इसका भलीभांति तब तक धारण करने का लक्षण है। २०९ प्रशम हो या मुँह, नाक से क्लेन होने लगे। यह बस्ति समय पूर्ण करने का लक्षण है। इस तरह चमड़े से थोड़ा थोड़ा तैल निकालकर उतना बीच बीच में तैल अधिक ठंडा न हो, एतदर्थं चमड़े से थोड़ा थोड़ा तैल निकालकर उतना पास तैल डालते रहें। जब शिरोबस्ति समय पूर्ण हो जाए जब तैल निकालकर, चमण्ड से निकालकर सिर को स्वच्छ करें। फिर कंथे, पृष्ठ, सिर, मन्या, ग्रीवा इनका सहेलाई से पास तैल डालते रहें। जब शिरोबस्ति समय पूर्ण हो जाए जब तैल निकालकर, चमण्ड मसलना चाहिये। फिर गरम पानी से उसको स्नान करावें। पीड़स्वेदादि में कहे हुए परिहारादि का पालन करें।

**शिरोबस्ति में कालतमर्यादा—** वातज रोगों में १००० मात्रा तक, पित्तज रोगों में ५००० मात्रा तक, कफजन रोगों में ६००० मात्रा तक और स्वस्थों में १००० मात्रा तक शिरोबस्ति धारण करें। २०८ एक अक्षिनिमेष एक चुटकी या एक लघु अक्षर उच्चारण के लिए जितना समय लगता है वह एक मात्रा है। इसका काल लगभग १५६० सेकंड माना गया है। इस तरह—

वातज रोगों में— लगभग ५३ मिनिट, पित्तज रोगों में लगभग ४३ मिनिट, कफजन रोगों में ३१ मिनिट और स्वस्थों में ५ से ६ मिनिट तक शिरोबस्ति करें। इस तरह ७ दिन शिरोबस्ति दें।

**गुण और उपयोग—** शिर में और शरीर में प्रसुति— (स्पर्श जान का अभाव) अद्वित, नोंद का न आना, नासाशीष, आस्पशीष, तिमर शिरोरोग, दारुण (सिर पर उत्पन्न पिङ्कड़ि) में शिरोबस्ति लाभप्रद कही गई है। २०६ चरक ने अधारवभेदक में शिरोबस्ति उत्पन्न कहा है। २१०

**अक्षितर्पण—** आँख में स्नेह धारण करने के लिए जो विधि की जाती है उसे अक्षितर्पण कहते हैं। आँख का तर्पण निमलितिवत रोगों में करना चाहिये। २११ आँखों के सामने अंधेरा छा जाना २. आँख स्वच्छ होना ३. आँख सुख जाना—और रुखी होना ४. नेत्राभिष्ठान ५. नेत्र जिस्का आँख टेढ़ी होना

**विष्णु०७** — नेत्र तर्पण के पूर्व आहुर का वमन, विरेचन और नस्य से शोधन करें। फिर साधारण काल में प्रातः निवासस्थान में उसे शाय्या पर चित लियावें। यव और उड्ड के चूर्ण को गुण्ठकर उससे नेत्रोष के ऊपर ब्राह्मतः पाली (आलवाल) तैयार करें। उड्ड के अंगुल ऊंचा हो। दूर न जाये ऐसा हो। फिर इसमें यथोक्त सिद्ध धूत तसजल में यह दो अंगुल ऊंचा हो। दूर न जाये ऐसा हो। अगर ग्रन्थांवल्त भांड रखकर पिघलाकर सुखोषण आँख बंद किये हुए नेत्र में डाल देवे। अगर बाब-बाब धीरे-धीरे आहुर हो, आँख जल्दी न खुलती हो, तो वसा का प्रयोग करें। फिर बाब-बाब धीरे-धीरे आहुर को आँख खोलते और बंद करने को कहे। इस तरह विशिष्ट समय तक स्नेह धारण करें, फिर अपांग की ओर से आलवाल को छेड़ कर स्नेह निकाल दें। इसका उपयोग प्रकाश में न जाये, भास्वर (तेजस्वी) रूपों को न देवें और आकाश की ओर न देवें।

**पस्यातलकर्म—** धूप्रापान करावें। एकदम प्रकाश में न जाये, भास्वर (तेजस्वी) रूपों को न देवें और आकाश की ओर न देवें।

**अक्षितर्पण काल—** वातज रोग, सांधि रोग, सित-असित-द्वृष्टि रोगों में क्रमशः वर्त्तमान में १००० मात्रा (३०-३२ सेकंड), संधिरोगों में ३०० मात्रा (लगभग ६५ सेकंड) —१।।। मिनिट), असित रोग में ७०० मात्रा (लगभग ३।।। मिनिट), असित रोग (लगभग ४।।। मिनिट) और अधिष्ठान रोग (लगभग ३।।। मिनिट), द्वृष्टिरोग में ५०० मात्रा (लगभग ४।।। मिनिट) और अधिष्ठान सिद्ध धूत (लगभग ५।।। मिनिट) तरह वात रोगों में १००० मात्रा, पित्त रोग में ६००० मात्रा (लगभग ५ मिनिट ४ सेकंड) तर्पण करें। इसी तरह वातरोगों में प्रतिदिन मात्रा, पित्त रोग में ६००० मात्रा और स्वस्थों में ६००० मात्रा तर्पण करें। वातरोगों में दो-दो दिन के अंतर से तर्पण करावें, अथवा सम्यक् द्वृष्टिलक्षण उत्पन्न होने तक तर्पण करावें। ११३ सम्यक् त्रुम में (तर्पण) लक्षण— जिनका तर्पण बराबर हो गया हो उसकी आँख में प्रकाश को सहन करने की क्षमता, वैशष और हल्कापन ये लक्षण उत्पन्न होते हैं और प्रकाश को सहन करने की क्षमता, वैशष और हल्कापन ये लक्षण अक्षमता, अक्षित्रप्रकाश को सहन करने की अक्षमता, अंधें भारी पड़ना और अतितृप्ति में कफ के रोग उत्पन्न होते हैं। ११५ अंधें क्लानत होती हैं अतः पुटपाक करना चाहिये। वात में स्नेहन स्नेह तर्पण के बाद द्वृष्टि क्लानत होती है अतः पुटपाक करने की ओर इसके विपरीत लक्षण अथवा प्रकाश को सहन करने की अक्षमता, आँखों का मैला होना, आँखें भारी पड़ना और अतितृप्ति में कफ के रोग उत्पन्न होते हैं। ११६ पुटपाक, कफपवात में लेखन और द्वृष्टि रोगों में प्रसादन पुटपाक करें। पुटपाक में मास सर, दूध-धी-वसा का पुटपाक तर्पण के समान डाला जाता है।

**११७. नासातर्पण—** नासा में स्नेह डालकर नासा तथा शिरस्थ इदियों का तर्पण

करना नासा तर्पण है। सुश्रुत ने स्नेह को नस्य विष्णि में खास निर्दिष्ट किया है।<sup>११५</sup> चरक ने 'द्वात् नासापुटे स्नेह तर्पणं बुद्धिमान भिषण्' (नि. ६-१०) ऐसा कल्पकर तर्पण नस्य और सुश्रुत ने स्नेह नस्य में स्नेह का प्रयोग लिखा है। वाग्भट ने अभ्यंगाति दिनचर्या में नाशन नस्य करने को कहा है जो नासातर्पण ही है।

१२. कर्णपूरण—कान में तैल भरना कर्णपूरण है। कान में तैल डालनेवालों को वातज कर्ण रोग उत्पन्न नहीं होते। कर्ण बाहिर्य नहीं होता।<sup>११६</sup> वाग्भट ने अभ्यंग का वर्णन करते हुए कान पर अभ्यंग करने को कहा है।<sup>११७</sup> सुश्रुत ने कर्णपूरण से हृशुश्ल, मन्या शूल, शिरःशूल और कर्ण शूल नष्ट होने कहा है। कान में डालने के लिए निर्जिँतैल, बिल्कू तैल, लशुन सिद्ध तैल, पञ्चगुण तैल, अमामार्ग शार तैल इत्यादि का प्रयोग प्रशस्त है। स्नेह के कर्णपूरण १०० मात्रा तक धारण करें।

१३. मास्तिष्क्य—मातिष्क पर स्नेह, स्नेह भिष्ठित कल्क आदि का प्रयोग करना 'मास्तिष्क्य' कहलाता है। सुश्रुत ने मास्तिष्क और मास्तिष्क्य ऐसे दो प्रयोग मिलते हैं।<sup>११८</sup> डहूण कहते हैं कि मास्तिष्क यह शिरोबस्ति का एक प्रकार है। शिरोबस्ति में जैसे टोपादि से तैल धारण करते हैं, वैसी ही रचना (बिना टोप की) मास्तिष्क कहलाती है। यहां विसी ने 'मास्तिष्क्य' ऐसा पाठ पढ़ा है—उसका अर्थ है मातिष्क के लिए हितकर अभ्यंग तैल—पितृधारण, शिरोबस्ति इत्यादि। यह सिर पर करने का विशिष्ट द्रव्यों का सनेह लेप है।<sup>११९</sup> सिर पर शिरोरोग प्रकरण में अनेक लेप बताये हैं। उसमें प्रदेह लेप और उपनाह ऐसे शब्द बारबार प्रयुक्त किये हैं। उपनाह उषा द्रव्यों से किया जाता है और लेप शीत द्रव्यों से। केरल में जू़ा द्रव्यों से किये जानेवाले शिरोलेप को 'पोतिक्कल' ऐसी संज्ञा है। वातज औषधि से सिद्ध शीर पायस इत्यादि के द्वारा सिर पर शिरोरोग (वातज) में लेप का उल्लेख है। सुश्रुत ने द्वारा निर्दिष्ट कुछ मास्तिष्क्य प्रयोग दिये जाते हैं।<sup>१२०</sup>

### १. वातज शिरोरोग में वातज द्रव्यों से सिद्ध खीर का लेप।

#### २. मछली का मांस गरम कर सिर पर लेप।

#### ३. पितृज शिरोरोग में नडसर (नल), वेतस, शैवल, लालकमल, चंदन, उत्पल,

पद्माख, बास, शौ. मुलेटी, मुस्ता झनको धी में गीतकर सिर पर लेप करें।

केलत में शिरोलेपन यह एक विशिष्ट चिकित्सा मानी जाती है। एक कुड़व (३२ तोला) लेकर उसे २ कुड़व (३२ तोला) गाय के दूध से बीं छाड़ और ३२ तोले जल डालकर पकावे। जब द्रव्याशा बिल्कुल समाप्त हो जाए तब इस कल्क को शलक्षण पीस ले। आतुरके सिर पर अभ्यंग कर इस आमलकी कल्क ('न्दिसिद्ध') का १/४ से १/३ इन्च ऊंचा स्तर उपुक्त लेप सर पर करें। आतुर का मुँडन करना लेपिक्या में आवश्यक है। यह ३ से १।। घंटा रखा जाता है। फिर निकालकर सिर को कमाड़े से साफ कर पुनः शिरोऽध्या करें। ७ दिन तक यह क्रिया की जाती है। इसके गुण त्रिकथाराके समान, किन्तु कुछ कम हैं।<sup>१२१</sup>

१४. स्नेहवाहान—अवगाहन का अर्थ है मज्जन। स्नेह में डबना—मज्जन करना स्नेहवाहन है। सानार्थ उपयुक्त अवगाह कोष्ठ (Tub) में स्नेह भर कर गते तक उसमें बैठना या लेटा स्नेहवाहन कहलाता है। स्नेहवाहन से शरीर का बल बढ़ता है।<sup>१२२</sup>

### १. स्नेह की कारुकता

स्नेह एवं स्वेद पंचकर्मों के सभी कर्मों के लिए पूर्वकर्म तरीके से किये जानेवाले आवश्यक कर्म हैं। स्नेह से शरीर में स्निधत्ता, विष्वंदन, मुट्ठा और कलेन होता है। स्नेह द्रव्य अपने सूक्ष्म, स्निधादि गुणों के द्वारा शरीर के अपु परमाणु तक पहुँचकर ये कार्य करते हैं। सुश्रुत ने कहा है कि— मनुष्य स्नेहमय ही है और प्राण भी स्नेह के आधार से रहते हैं।<sup>१२३</sup> इसका यह अर्थ है कि शरीर के सब अवयवों में स्नेह होता ही है और स्नेह प्राण का धारण करता है। प्राण शब्द की सुश्रुत की व्याख्या व्यापक है। वह है— अनि, सोम, वातु, सत्त्व, रज, तम, पञ्चद्रिघ और भूतात्मा इनको प्राण कहते हैं।<sup>१२४</sup> डहूण ने कहा है— यहां अनि से पाचक, रुक्क, साधक, अलोचक, श्राजक ये (पितृ) अनियां पाच— भौतिक अनि, धातुगत अनि इनके शक्तिरूप में अधिक्षित अनि समझना चाहिये। सोम शब्द से कफ, शुक्रादि जलीय धाव, रसनीद्रि ये शक्ति रूप अवस्थित सोम समझे और वायु प्राणादि धेत से पाचों प्रकार का समझो। सत्त्व, रज तमादि प्रकृति के आठ गुण इंद्रियों में चक्षु, श्रवण, रसन, प्राण-स्पर्शन से पाच और भूतात्मा कर्म पुरुष हैं— इनका सबका प्राण से बोध होता है। क्योंकि अनि आहारपाक कर्म से प्राणन करते हैं। सोम सोम्य धातु के पोषण से सत्त्वादि मन के कार्य के हेतुल से चक्षुरादि रूप ग्रहणादि कार्य से और भूतात्मा चेतना रूप से प्राणन करते हैं। इस तरह यह प्राण का अर्थ व्यापक है और इसमें शरीर की सभी क्रियाएं आती हैं। वातस्व में स्नेह का महत्व ऐसा ही है। स्नेह आय द्रव्य है— और शरीर में आय घटकों से अत्यंत महत्वपूर्ण भाग बना हुआ है। सभी धातुओं में आय घटक पर्याप्त प्रमाण में रहते हैं। अतएव स्नेहन कर्म केवल एक पूर्वकर्म ही नहीं है— अपितु चिकित्सा में प्रधानकर्म भी है। इस तरह स्नेह कारुकता को देखते समय हमें उसके दृष्टि से तथा

१. स्नेह-प्रधान कर्म की दृष्टि से कारुकता—स्नेह शरीर में निमोक्त गुण उत्पन्न करता है।<sup>१२५</sup>

२. स्नेह वात को नष्ट करता है।

३. जाठरानि तथा सभी अनियों को दीप्त करता है।

४. कोष्ठ को शुद्ध रखता है।

५. मल संघात को नष्ट करता है।

६. शरीर में अहर्निश नये नये धातुओं का निर्माण करता है— जिससे शरीर की पुष्टि होती है।

७. शरीर का बल बढ़ता है।

८. शरीर-वर्ण का प्रसादन करता है।

६. इंद्रियों को डूँढ़ बनाता है-- जिससे वे अपने-अपने काम में अत्यंत कार्यक्षम रहती है।
७. स्नेह से ध्रुवबल बढ़ता है जिससे बुद्धापा देरी से आता है।

८. दीधियु-एकसौ वर्ष की प्राप्ति होती है।

९. स्नेह का भी धातुओं को स्नेह द्वारा चिकित्सा की जाने पर उनका बल अर्थात् शरीर की व्याधिक्षमता को बढ़ाता है।

१०. व्याधि पीड़ित मंदानि युक्त डुर्बलों को स्नेह द्वारा चिकित्सा की जाने पर उनका बल ऐसा बढ़ता है कि बाद में अप्यथादि भोजन भी उनको रोगाकांत एकदम नहीं कर सकता। अर्थात् शरीर की व्याधिक्षमता को बढ़ाता है। स्नेह का भी धातुओं के निर्माण में आप्यत्व के कारण महत्वपूर्ण भाग है। रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र सब धातुओं में स्नेह होता है। विशेषतः रस, मांस, मेद, मज्जा और शुक्र में तो स्नेह का प्रकर्ष होता है। मज्जा सभी अस्थियों में पूरण करने का कार्य करती है और मस्तिष्क रचना मज्जा से ही बनती है। सुश्रुत ने मस्तिष्क के लिए मस्तुंग कहकर उसका आकार जमे हुए धी के स्ट्रुक्चर बताया है। १२५ इसे चरक ने मस्तिष्क कहा है— और इसका प्रमाण अर्थात् जली बताया है। 'चक्रपाणि' कहते हैं कि मस्तिष्क यह शिर में रहने वाला स्नेह है। १२७ इस तरह शिर (Brain) की रचना में स्नेह का अधिक भाग होता है यह स्ट्रुक्चर है। शिर इंद्रियायातन है और वातव्याधि के अनेक गोरों का अधिष्ठान है। चरक ने कहा है कि शिर में सभी इन्स्निय, इन्ड्रियों के प्राणों का बहन करने वाले स्नोतस, ऐसे स्थित हैं जैसे सूर्य में किएं अश्रित रहते हैं। इंद्रियों के प्राण इंद्रियार्थ हैं-- और उनके भी केन्द्र सिर में हैं। शिरोभिषयत होने से मन्थासंभ, अर्दित, चश्चर्त्तिष्म, मोह (मुख्य), उद्भृत, चेष्टानाश, कास, श्वास, हृत्प्रह, मूकत्व, गदगदत्व, अधिनिमीलन, गंडप्रदन, ऊंचा, लालात्वात्, खरहानि, बदन जिहवा इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं। १३० इनमें स्नेह की प्रधान उपयोगिता स्पष्ट है-- क्योंकि उसी से शिर बनता है। अतएव स्नेह को और रचना वैग्राण्य ठीक होने पर उन व्याधियों का प्रशम होता है। अतानाशक कहा है। त्वचा भी नायु का मुख्य स्थान है वहां स्नेह करने से वहां सामुओं, सिराओं, वातवाहिनियों और मज्जा का पोषण होता है।

स्नेह के द्वारा दोषों का मुट्ठकण, शरीर का क्लेंसेन इत्यादि विचार स्नेहणों को स्पष्ट करते समय कर आये हैं। स्नेह से अग्निदीपि कही है। स्नेह आय होते हुए भी अग्निदीपन है। "घृतं अग्निमेधे करोति" ऐसा कहा है। वह अग्नि और मेघा को (मस्तिष्क की शक्ति) बढ़ाता है। बाहू स्थिति में भी हम स्नेह को अग्नि बढ़ाते हुए देखते हैं। स्नेह की व्याख्या करते समय उसके बाहुतुकूल पुण्यभेद का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः आय प्रधान स्नेह अग्निकर करने हो सकता है, यह प्रशम है। स्नेहों से दीप जलाये जाते हैं, यज्ञ में आहुति प्रज्वलित होती है-- फिर भी शरीरस्थ अग्नि पर स्नेह का कार्य कैसे होता है यह विचारणीय विषय है। ग्रहणी यह अत्र का मुख्य आधार स्थान है और वहा अन्न का पचन, शोषण, सारकिंडु विभजन होता है। स्नेहों के द्वारा ग्रहणी की बल मिलकर अग्निवर्धन हो सकता है। ग्रहणी को पितॄधरा कला कहा गया है और जो पितॄधरा कला है वही मज्जाधारा कला है ऐसा कहा गया है। १२६ इस तरह मज्जाधारकला से ग्रहणी की रचना का बोध होता है। यह स्पष्ट है कि ग्रहणी में मज्जा का प्राधान्य है और मज्जा स्नेह से बढ़ती है। संभवतः इसी कारण से ग्रहणी का (मज्जा का) शिरस्थ मज्जा से संबंध होकर

वातव्याधि में स्नेहों का कार्य होता है। उसी तरह ग्रहणी के अनेक पाचक चाव, जिनकी उत्तेजना शिरस्थ मज्जा केंद्रों से संबंध रखता है, संभवतः स्नेहों से नियमित होकर अग्नि कार्य होता होता है।

आइनिक शरीरक्रिया विज्ञान के अनुसार स्नेहों द्वारा प्रथम आमाशय में अग्निकार्यों का क्षय होता है। फिर जब स्नेह ग्रहणी (Duodeum) में पहुँचते हैं, उस समय भी पहले अग्निनाशकों को कम करता है। अगर ढेला स नर्व (Vagus nerve) के कोष्ठ के संपर्क तोड़ दिये जाएं तो यह अग्निमांथक कार्य नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि पहले उस पर कार्य होता है। लेकिन दूसरी अवस्था में (Second phase) इस स्नेहों से अग्निकार्य उत्तेजित होने लगते हैं। स्नेह द्वारा उनके घटक लिल्सरोल (Glycerol) का विशेष कार्य नहीं होता, किन्तु केटो एसिड (Fatty acids-स्नेहाम्ल) और उत्पन्न सोप (Soaps-- साबुन के घटक) ये घटक अमाशयिक प्रथमियों को उत्तेजित कर अग्निनाशकों को बढ़ाते हैं। १२०

स्नेह का तीसरा कार्य है कोष्ठशुद्धि। यह स्निग्धता से कोष्ठांगों को स्निग्ध रख, मल को ढीला बनाकर वहां से निकालता है। इंद्रियों की शक्ति बढ़ाने का कार्य शिरस्तंपण (Brain की रचना में मदद कर) कर किया जाता है, इस विषय को स्नेह शरीर में और स्पष्ट किया है।

२. स्नेह पूर्वकर्म की दृष्टि से कामुकता—पूर्वकर्म में पूर्वकर्म की दृष्टि से स्नेहन की जगह जाह महाता बढ़ाती है। अग्नादादि कर्मों में पहले स्नेहन और स्वेदन तथा अंत में बल वर्धनार्थ पूनः स्नेहन करने को कहा गया है। १३१ स्नेह का यह कार्य शोधन में सहायक होने से होता है। स्नेहन और स्वेदन से चिकित्सा की जाने पर बात जीता जाने से मल, मूत्र और शुक्र की गतियों का संग कभी नहीं होता। १३२ शरीर शोधन कार्य में स्नेह की कार्पुकता बताते हुए आचार्यों ने विविध दृष्टांत दिये हैं।

३. जिस तरह, किसी पात्र को स्नेहाक्त कर उसमें जल भर दिया जाये और उसको फिर औंधा कर खाली करते पर जग भी जल पान के दीवारों में नहीं लाता, संपूर्णतः खाली हो सकता है, वैसे ही स्नेहन स्वेदन के द्वारा उत्कलनेश्वर शरीर में कोई दोष धातुओं में विहीन नहीं होता-- अपितु शोधन से निकल जाता है। १३३

४. गंडे कपड़े को स्वच्छ करने के लिए वैसे मेहादि (साबुन) प्रयोग से मल की उत्कलन (स्थान से च्युत) कर, जल से धोना होता है-- वैसे ही शरर के मल को साफ करने के लिए स्नेहों द्वारा उत्कलनेश्वर करना आवश्यक होता है। १३४

५. जिस तरह की जल को जल में डूँबने पर वह कुछ जल का ग्रहण करता है और निचोड़ने पर अधिक जल को छोड़ देता है-- वैसे ही शरीर भी स्नेह प्रयोग में अग्नि बल के अनुसार कुछ स्नेह को जरण कर अधिक स्नेह को छोड़ देता है। १३५ यहां केवल जाठराज्ञि ऐसा अर्थ न कर धात्वानि भी करना संगत है और जरण का अर्थ पाचन न और निचोड़ने पर अधिक जल को छोड़ देता है। यहां धात्वानियों के द्वारा आवश्यक होकर निकल जाता है यह संगत कल्पना है-- जिससे धातुगत अनेक मल भी उसके माथ निकल जाते हैं। 'यथानिजीवति स्नेहः'। इसके टीका पर चक्रपाणि कहते हैं कि यहां अग्नि से

अधिक स्नेह का निकल जाना कहा है— वह चरक के सम्पूर्ण लक्षण के 'अधस्ताद् स्नेह दर्शनम्' लक्षण से सांत है। ३६ सम्यक् लिनिथ लक्षण तो स्नेहजीर्ण लक्षण नहीं है। अतः यहां जाठरानि से अपाचित स्नेह निकल जाता है ऐसा अर्थात् न कर थारुओं से अधिक तभी स्नेह को बंद भी किया जाता है। इसका विचार आगे शारीर में किया है।

४. यदि किसी निटी के द्वेषे पर बहुत-सा जल जल्दी से गिरने से वह उसे भिगाए बिना या अत्यधिक में भिगोकर बह जाता है वैसे ही एक दिन में अधिक मात्रा में स्नेह करने पर वह जाठरानि से ही पचन न होकर निकल जाता है। ३७ यहां पर सद्यम्भ के एक दिन में होनेवाले स्नेह का सभाव्य दुष्परिणाम बताया गया है।

संक्षेप में स्नेह के द्वारा थारुओं के दोषों का उत्क्लेश होता है। क्लेट-आप द्रव्यों का बाहुल्य होने पर दोष उसमें घुल जाते हैं। वैसे ही नेहद्रव्यों को अच्छे दर्जे के घोल करनेवाले मान गया है। मार्ग में लिनिथता होती है, और स्वेदादि से त्वातों का विकास होने पर ये स्नेह द्रव्य त्वत्वण प्रक्रिया से कोष्ठ में आते हैं— जहां से शोधन द्वारा उनको निकाल दिया जाता है। ३८

इस तरह स्नेह के मुख्य तीन कार्य स्पष्ट हुए हैं, जो ये हैं—

१. बृहंण— मास, मेद, मज्जा शुक्रादि थारु को बढ़ाकर, सिर के पसुलंग को व्यवस्थित कर, थारुओं को पुष्टकर और अन्न को प्रदीप कर स्नेह शरीर बुहित करता है।

२. शोधन— दोषों को स्थिर कर, विलयन कर, उत्क्लेशन कर थारुओं में से कोष्ठ में लाकर मल के साथ निकाल कर यह कार्य सम्पन्न होता है।

३. शम्न— लिनिथ, शीत, तुख्यादि गुणों के द्वारा तरटु दोषों के शम्न में पद्धत करता है। ये कार्य भलीभांति समझ में आये, तथा स्नेहपान प्रक्रिया में उपयुक्त स्नेह की मात्रादि प्रयोग विषय अच्छी तरह समझ में आये— इसलिए 'स्नेहों का शारीर'— शारीर में जने पर क्या कहा होता है— उसका विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। जो संक्षेप में यहां प्रस्तुत करते हैं।

स्नेह शरीर ३६— स्नेह यह एक अन्न द्रव्य है। शरीर में प्रतिदिन अन्न में स्नेह जाता है। शरीर निर्माण में स्नेह द्रव्यों का एक महत्वपूर्ण भाग है। आहार स्नेह द्रव्य अनेक प्रकार के होते हैं उनमें शरीरविचार से निम्नलिखित वर्गीकरण किया जाता है।

१. फैट Fats (स्नेह)— इसमें फैटी एसिड (स्नेहास्त्र) के ईस्टर (Esters) और ग्लिसरोल (Glycerol), के ईस्टर (Esters) का समावेश होता है।

२. लायपोइड्स (Lipoids)—लायपोइड्स में फास्फोलिपिड (Phospho lipid), सेरिब्रोसाईड (Cerebrosides), वेक्स (Waxes)— नोम का समावेश होता है।

३. स्टीरोल (Sterol) और

४. हाइड्रो कार्बन (Hydrocarbon)— इनका एक वर्ग है। फास्फोलिपिड में फास्फोरस और फैटी एसिड इनका संयोग होता है। सेरिब्रो साईड में फैटी एसिड और शर्करा इत्यादि का संयोग होता है। वेक्स में ईस्टर और फैटी एसिड का अलबोहल के

साथ संयोग होता है। स्टीरोल में मुक्त कोलीस्टीरोल इत्यादि होते हैं, फास्फोलिपिड में शरीर में लिसिथिन (Lecithin-स्नेहघटक), सिफेलिन (Cephalin-स्नेहघटक) और स्पिन्गोमाइलीन (Sphingomyline- स्नेहघटक) ये घटक महत्वपूर्ण होते हैं।

जब स्नेह द्रव्यों के पाचन का विचार किया जाता है तो इसका अर्थ जो स्थूल स्नेह उपर्युक्त कई प्रकार हैं जो कोष्ठ में से बिना पचन के ही शोषित हो जाते हैं। प्रथम आमाशय में स्नेह का पचन होता है। वहां स्नेह का विभाजन होकर केटो एसिड अल्प हायड्रोक्लोरिक एसिड से पचन होता है। यहां स्नेह का विभाजन होकर लैस्ट्रिक लैपेज और लैपेज और एजिटेशन (Agitation) का कार्य होकर स्नेहों का सूक्ष्म विलयन याय इन्स्टाइनल फाईड फैट तैयार होती है। इस पर पैनक्रियाटिक लैपेज, एंटिक लाइपिज पाचन कार्य कर स्नेह के अंतिम घटक—फैट्रीएसिड, लिसरोल और लिंसराईड तैयार होते हैं। जिनका आंत के लिंसाईड (अप्रवह त्वात्स) में सोजण होता है। इसे आड़ुनिक ग्रंथ में इस प्रकार प्रष्ट किया है—

$$\text{Fat} - \frac{\text{Gastric lipase} + \text{HCl}}{\text{Emulsified Fat} - \frac{\text{Pancreatic lipase}}{\text{Enteric lipase}}} = \left\{ \begin{array}{l} \text{Fats} \\ \text{Fatty Acids} \\ \text{Glycerol} \end{array} \right.$$

जुछ संशोधनकर्ता मानते हैं कि स्नेह में बहुतसी मात्रा पूर्णतः पचन न होकर केवल गुद्धम स्नेह कणों में परिणत होकर उनका विना पचे ही शोषण हो जाता है। स्नेह जल में अधुलनशील होने से उसका शोषण कैसे होता है इसका निश्चित ग्रन अब तक इन्हीं हैं, तथापि माना जाता है कि विलाई (Villi) में सतत संकोच विकास के गति से उनके द्वारा शोषित किया जाता है। शोषित स्नेह लिंग (लिंसीकावह) चैनेल में मिलकर उनके द्वारा रक्त में पहुँच जाते हैं। लिंग में जो स्नेह रहते हैं उनको काइलो माइक्रोन (Chulomicros) कहा जाता है। यह अति सूक्ष्म रहते हैं। इसका परिणाह १ माइक्रोन से भी कम होता है। रक्त में पहुँचने पर इनका प्रमाण वहां बढ़ते रहता है। अगर प्रथुत स्नेह लिंग जाये तो वो से चार घंटे तक इनका प्रमाण रहता है और ८ से १० घंटे रक्त में निकलकर स्नेहशयों में या अन्य थारु में चला जाता है।

स्नेह शरीर में यकृत, स्नेहशयों में (Fat tissue) रहते हैं। इसका मुख्य कार्य है— शरीर में शक्ति उत्पन्न करना, रक्तात्मक अवयव उत्पन्न करना और अवसर आने पर शरीर के दृसे त्वातों में (कार्बोहाइड्रेट) परिणति में भाग भजना।

स्नेहों के शरीर में मेदथारु (Fat cells) में जो स्थिति रहती है वह महत्व की है। प्रायः १० से २० दिन में स्नेह द्रव्यों का एक-एक सेल में से संपूर्ण परिवर्तन होता है।

इसका यह अर्थ हुआ की भुक्तान का स्नेह शरीर में १० से २० दिन तक कार्य करता है। संभवतः इसीलिए सात दिन में स्नेह को खुब बढ़ाकर शोधन करना उचित माना गया है। यह स्नेह शरीर में से स्वित होकर प्रमाण करीब से निकल जाते हैं। शेषित स्नेहों में से ही पुरीष में स्नेह जाता है और उसका प्रमाण करीब ६ से १२ प्रतिशत होता है। कुते पर प्रयोग कर यह सिद्ध किया गया है कि उसे पांच या अधिक सप्ताह तक उपवास पर रखने के बाद भी उसके मल में प्रथम स्नेह निकलते हैं। यह इस जात का समर्थक है कि मल के स्नेह के बावजूद अन्य के स्नेह नहीं होते लेकिन उसमें अधिक स्नेह शरीर के शोषण (Metabolism) के बाद जाते हैं। मल में प्रतिदिन आनेवाले स्नेहों में न्यूट्रल फैट (Neutral Fat) ६० प्रतिशत और ४० प्रतिशत फैटी एसिड होते हैं।

फैट के फास्टो लाईपिड और कोलिस्टरोल से सेल में ब्लेन (कोर्झों की दीवारें) बनती हैं। इसी तरह सेल के अंदर जानेवाले अन्य द्रव्यों को स्वचन कराने की क्षमता में भी फास्टोलाईपिड भाग भजते हैं। इसका मस्तिष्क के निर्माण में भी महत्व का भाग होता है।

शरीर के प्रधान घटकों में स्नेह का कितना महत्व है यह समझने के लिए स्नेहों का भिन्न-भिन्न अवयवों में होनेवाला प्रमाण नीचे दिया जाता है।

लाईपिड के लिंसिथिन, सिफेलिन और सिंगोमाईलीन प्रकार कहे जाते हैं। उनका शरीर अवयवों में प्रमाण देखिये।

#### तालिका

अवयव नाम	लेसिथिन	सिफेलिन	सिंगो माईलीन
१. मस्तिष्क	५.८१	२०.४२	५.६६
२. फूफ्फुल	३.८५	२.००	१.४५
३. लीहा	३.५४	४.१६	०.८६
४. वृक्ष	५.१०	३.२६	०.७२
५. यकृत	४.८१	४.६२	०.३८
६. हृदय	४.४७	२.०६	०.३४

उपर्युक्त प्रमाण मिलियाम का है और प्रति एक सौ मि. ग्रा. में उतनी मात्रा समझें। इसी तरह कोलिस्टोरोल नामक स्नेहद्रव्य का प्रमाण देखिये।

#### तालिका

अवयव	प्रमाण
१. एड्जुनल गैर्ड	४.७४
२. मस्तिष्क	१.६३
३. ल्वचा	०.६३
४. वृक्ष	०.३३
५. द्वाहा	०.३६
६. यकृत	०.३२

अवयव	प्रमाण
७. केश	०.१७
८. रक्त-	०.१७
९. प्लाइमा (रस)	०.२३
१०. कापिसल्स	०.१२
११. हृदय	०.१४
१२. मासपेशी	०.०९७

उपवास की स्थिति में लाईपिड रक्त के ज्वाइमा में जितने प्रमाण में रहते हैं वह देखिये :—

#### तालिका

स्नेह द्रव्य	प्रमाण
१. टोटल लैपिड	५३० मि. ग्रा. प्रति १०० मि. ग्रा.
२. टोटल फैल्टी एसिड	३१६ मि. ग्रा. प्रति १०० मि. ग्रा.
३. च्यूट्रल फैट	१४२ मि. ग्रा. प्रति १०० मि. ग्रा.
४. फास्टोलाईपिड	१६५ मि. ग्रा. प्रति १०० मि. ग्रा.
५. टोटल कोलिस्टोरोल	१५२ मि. ग्रा. प्रति १०० मि. ग्रा.

उपर्युक्त स्नेह शरीर से आयुर्वेद में कहे हुए स्नेह के इस कार्यक्रम की पुष्टि होती है।

१. स्नेह सभी शरीर में महत्वपूर्ण (प्राण धारक) अवयवों में व्यास और शरीर का उपचय, बल इनका निर्माण करता है। चरकाचार्य ने स्नेह की इस महत्व को बराबर समझ लिया था और इसी दृष्टि से स्नेहाध्यायों के अतिरिक्त अन्यत्र भी स्नेहों ने अनेक गुणों की अनेक बार प्रशस्ति उठानी की है। आधुनिक शरीर से हृदय, मस्तिष्क, पृष्ठपुरुषादि अवयवों में तथा ल्वचा इत्यादि में स्नेहों का प्रयोग पर्याप्त है, यह देखा गया है और ये सेल की भित्तियां स्नेह से बनती हैं। चारक ने ग्रंथ के प्रारंभ में प्रथम अध्याय में दीर्घजीवितीय नामक में ही स्नेह के गुणों को बताते हुए उसके जीवन, वर्णकर्ता, बलकर, उपचयकर कार्य सम्पूर्ण करते हैं। १२०० मि. जीवन के अवश्यक घटकों को निर्माण करता है, ल्वचा में रक्कर वर्ण का प्रकाशन करता है, मांसपेशी, मेद के द्वारा बल उत्पन्न कर शरीर को पुष्ट करता है। चारक ने एतदर्थ प्राणिज स्नेहों का विवृत्त प्रयोग किया है, मस्तिष्क सुषुमा कांड और वातवाय्यां चिकित्सा में चारक ने एक प्रयोग बताया है, जिसमें कहा है—ग्राम्य-आनूप-औदक (बकरे-गाय-मस्त्य इत्यादि) प्राणियों की हड्डियां (ताजी-स्नेह युक्त) लेकर उनके तोड़कर पानी में डालकर खब पकावे। जिससे अस्थि मज्जा का स्नेह उत्तम प्रस दोगा—यह स्नेह

दशमूल कलाश में मिलाकर पुनः पकावे। फिर जीवक, अष्टभक, विदारी, कपिकच्छ, बातज गण और जीवनीगण के कल्प और दुगुना दूध डालकर स्नेह सिद्ध करो। यह स्नेह बलप्रद होता है।<sup>२५०</sup> इस तरह नक्क (मगर मच्छ), मछली, कछुआ, उत्तु, इनके बसा को (चरबी को) सिद्ध कर प्रयोग करने का निर्देश है।<sup>२५१</sup> इसी तरह स्नेहों की अनिवार्यता के लिए अनेक बार प्रसास्ति की गई है। स्नेहों से तुर्त अग्निमांड्य होता है यह स्नेह व्यापद से आयुर्वेद में भी स्पष्ट है। तथापि जैसे सारलाली अच्छी लकड़िया धीमे-धीमे जलकर अनिवार्यता है ऐसा कहा गया है।<sup>२५२</sup>

२. स्नेह द्रव्य सभी धारुओं में अपने-अपने कार्य करते हुए अंत में पुरीष में से निकल जाते हैं। यदि अधिक स्नेहों का सेवन करें तो रक्त में कुछ काल तक स्नेहांश बढ़ते हैं। १० दिन के भीतर स्नेहांशों में नया स्नेह जाता है। अशार्त अधिक स्नेह देने पर यह नया स्नेह पुराने स्नेहों को निकाल लेगा जो पुरीष से बाहर निकलता है। स्नेह जब वहां से निकलता होता है तो उसके साथ दूसरे अनेक शरीर को आबाधक द्रव्य भी निकल जाते हैं।

अधिक स्नेह लेने पर फैलीवर इत्यादि कुछ विकितियां भी उत्पन्न होती हैं। आयुर्वेद में अधिक स्नेहन करनेपर, प्रमोह, कौष्ठ, पिङ्का, कोष्ठ, पांडु, च्वर, कुष्ठ, आमप्रदोय, मूत्रकुच्छ, अरुचि, तंद्रा, करैत्य, अति स्थौल्य, आलाल्य, गुरुग्रावत्, दृद्रिय और लोटों के मुखों का उपलेप, बुद्धिकारों की मदता, शोष ये रोग उत्पन्न होते हैं। ऐसा कहा गया है।<sup>२५३</sup>

संक्षेप में स्नेह यह अमृतोपम चिकित्सा है किन्तु इसका प्रयोग अत्यंत सावधानी से और वैज्ञानिक उपचारों के साथ करना चाहिये।

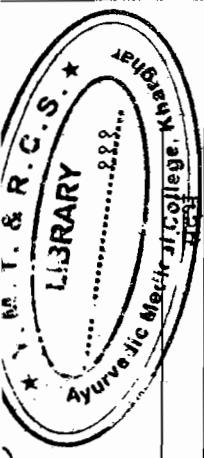
चरक, चुश्मा-वार्षट में भिन्न-भिन्न स्नेहों का भिन्न-भिन्न अवस्था में उपयोग जाते हैं। उनका यथायोग्य उपयोग करें।

चरकोक्त कठित्य स्नेह प्रयोग—‘चरकस्तु चिकित्सते’ इस उक्त के अनुसार चरक का चिकित्साक्रम श्रेष्ठ है। अतः चरक से स्नेह प्रयोगों को संदर्भ और अवस्था के अनुसार यहां उद्भृत किया जाता है। वैसे तो वार्षट और सुशुत के भी स्नेह प्रयोग अव्ययनीय हैं किन्तु उनमें अनेक प्रयोग तीनों में सामान्य हैं और ग्रंथाविस्तार यथ से एक प्रयोगिक निर्देशका के तौर पर ही तालिकाबद्ध विवरण दिया जाता है, जिसामुओं को चाहिये कि मूल प्रयोग देखकर यथायोग्य उनका प्रयोग करें।

### चरकोक्त कठित्य आधार स्नेह प्रयोग-तालिका

क्र.	स्नेहान्म	अधिकार	संदर्भ
१.	पृष्ठपान	ज्वर	विच. ३-१६४
२.	पिण्यल्यादि घृत	ज्वर (जीर्ण)	चिक. ३-२१६

क्र.	स्नेहान्म	अधिकार	संदर्भ
३.	वासाघृत	ज्वर	चिक. ३-२२२, २२३
४.	द्राक्षाघृत		चिक. ३-२५६
५.	ग्रायमाणादि घृत	रक्तपित	चिक. ४-६०
६.	वासाघृत	रक्तपित	चिक. ४-८८
७.	शतावर्यादि घृत	रक्तपित	चिक. ४-८८
८.	शृतपान		चिक. ५-६०
९.	ऋग्युसोवर्चलादि घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. ५-६५, ६६
१०.	ल्लुमुषादि घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. ५-७०
११.	पिपल्यादि घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. ५-७१ मे ७३
१२.	तैल पंचक	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. ५-७४
१३.	नीलिल्यादि घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. ५-११८ से ११७
१४.	ग्रायमाणादि घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. ५-११८ से १२१
१५.	आमलक्यादि घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. ५-१२२
१६.	ग्राक्षाद्य घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. १२३ से १२५
१७.	वासा घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. ५-१२६, १२७
१८.	द्राप्ताली घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. ५-१४३ से १४२
१९.	भल्लातकादि घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. ५-१२३ से १४२
२०.	श्रीरष्टपलक घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. ५-१४३ से १४२
२१.	मिश्रक स्नेह (घृत + एरंड तेल + निर्वतादि)	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. ५-१४७, १४८
२२.	प्रमेह	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. ५-१४६, १५१
२३.	प्रमेह	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. ६-३७ से ४०
२४.	प्रमेह	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. ६-४०
२५.	श्वेतकरवीर तैल	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. ७-१०८, ११०
२६.	तिक्त इक्षवाङुक तैल	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. ७-१४० से १४३
२७.	तिक्त प्रद्युप घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. ७-१४४ से १४०
२८.	महातिक्त घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. ७-१०८ से ११८
२९.	महा खदिर घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. ७-१५२ से १५६
३०.	चतुःस्नेहान्म	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चिक. ८-३३ से ४६
३१.	कल्पाणक घृत	उमाद	चिक. ८-४२ से ४४
३२.	महाकल्प्यण घृत	उमाद	चिक. ८-४५ से ४८
३३.	महापैश्चिक घृत	उमाद	चिक. १०-१६, १७
३४.	पर्वत्य घृत	अपस्मार	चिक. १०-८
३५.	यमक स्नेह-तैल + घृत + जीवनीय गण	अपस्मार	चिक. ११-४१ से ४३
३६.	अमृतपान घृत	भत्तशीण	चिक. ११-४४ से ४७
३७.	स्वदध्यादि घृत	शतक्षीण	



अधिकारी

1

ପ୍ରକାଶକ

1

७५.	चव्यादि धूत	गुदध्रेश में निम्नोय चिकित्सा में आगाह गुलमादि में	चि. १६-४८ चि. २६-११
७६.	सौकीरक तैल	निम्नोय पित हृद्योग निम्नोय	चि. २६-८२ चि. २६-६० चि. २६-६४
७७.	पुर्वनवासिष्ठ तैल	निम्नोय पित हृद्योग निम्नोय	चि. २६-८२ चि. २६-६० चि. २६-६४
७८.	सापि:पान	शिरोरोग	चि. २६-१८३, १८५
७९.	द्राक्षादि धूत	शिरोरोग उरुसंभ	चि. २६-१७४ चि. २७-३६, ४०
८०.	स्त्रियादि धूत	उरुसंभ	चि. २७-३६, ४०
८१.	मायूर धूत	उरुसंभ	चि. २७-३६, ४०
८२.	महामायूर धूत	वातव्याधि	चि. २८-१९६
८३.	संधेवादि तैल	वातव्याधि	चि. २८-१९६
८४.	अष्टकट्वर तैल	वातव्याधि	से १२१
८५.	महास्नेह पान	वातव्याधि	चि. २८-१९२२
८६.	दशमूलादि धूत	वातव्याधि	चि. २८-१९२३
८७.	चित्रकादि धूत	वातव्याधि	चि. २८-१९४ से १२७
८८.	बलादि धूत मंड	वातव्याधि	चि. २८-१९४ से १२७
८९.	अस्थिस्नेह प्रयोग	वातव्याधि	चि. २८-१९४ से १२७
९०.	वसा प्रयोग	वातव्याधि	चि. २८-१९४ से १२७
९१.	निर्णिप्ती तैल	वातव्याधि	चि. २८-१९४ से १२७
९२.	मूलकादि तैल	वातव्याधि	चि. २८-१९४ से १२७
९३.	पचमूलादि तैल	वातव्याधि	चि. २८-१९४ से १२७
९४.	सहचरादि तैल	वातव्याधि	चि. २८-१९४ से १२७
९५.	श्वरदंष्ट्रादि तैल	वातव्याधि	चि. २८-१९४ से १२७
९६.	बला तैल	वातव्याधि	चि. २८-१९४ से १२७
९७.	ग्रास्नादि तैल	वातव्याधि	चि. २८-१९७
९८.	महास्नेह	अस्थिमज्जा- गत वात	चि. २८-१९७
९९.		वातरक्त	चि. २८-५५ से ६०
१००.	जीवनीय धूत	वातरक्त	चि. २८-६१ से ७०
१०१.	जीवकादि महास्नेह	वातरक्त	चि. २८-७१ से ७५
१०२.	मधुषेष्टयदि स्नेह	वातरक्त	चि. २८-६९ से ६५
१०३.	सुकुमार तैल	वातरक्त	चि. २८-६६ से १०२
१०४.	अमृतादि तैल	वातरक्त	चि. २८-१०३ से १०६
१०५.	पारुषक धूत	वातरक्त	चि. २८-११५ से ११८
१०६.	जीवपाकी मधुपूणी तैल	वातरक्त	चि. २८-११६ से १२१
१०७.	शतपाकी बला तैल	वातरक्त	चि. २८-११६ से १२१
१०८.	सहस्रपाकी बला तैल	वातरक्त	चि. २८-११६ से १२१
१०९.	बलाद्य यमक	योगीन व्यापद्	चि. ३०-४६ से ५१
११०.	काशमयादि धूत	योगीन व्यापद्	चि. ३०-५२ से ५४

क्र.	स्नेहनाम	योगिनि व्यापद्	अधिकार	संदर्भ
११०.	बृहत् शतावरी घृत	बाह्य स्नेहन प्रयोग	चि. ३०-६४ से ६८	
१.	सहजघोतं घृताभ्यंग	ज्वर	चि. ३-२५८	
२.	चंदन तैल अभ्यंग	ज्वर	चि. ३-२५८	
३.	अग्निवादि तैल अभ्यंग	ज्वर	चि. ३-२६७	
४.	क्षीर परिषेक	ज्वर	चि. ३-२६८	
५.	दधि-परिषेक	ज्वर	चि. ३-२६८	
६.	घृत-परिषेक	ज्वर	चि. ३-२६८	
७.	अभ्यंग सामान्य चिकित्सा	खत्तिगिरि	चि. ४-१०५	
८.	घृत प्रदेह तैल प्रदेह	खत्तिगिरि	चि. ४-१०५	
९.	परिषेक	खत्तिगिरि	चि. ४-१०५	
१०.	घृताभ्यंग	गुल्मे-दाहे	चि. ४-१०५	
११.	चंदन तैल अभ्यंग	गुल्मे-दाहे	चि. ५-१३१	
१२.	घटीमधु तैल अभ्यंग	गुल्मे-दाहे	चि. ५-१३१	
१३.	अभ्यंग	राजयक्षा	चि. ८-८५	
१४.	घृत आलेपन	शिरःशुल	चि. ८-७७	
१५.	कांकशीरी तैल अभ्यंग	कुष्ठ	चि. ७-१११ से ११६	
१६.	विपादिकाहरघृत तैल अभ्यंग	अपस्मार	चि. ७-१४० से १४१	
१७.	सर्वपै तैलाभ्यंग	अपस्मार	चि. १०-१६, १७, ३२, ३३	
१८.	पलंकथादि तैल अभ्यंग	अपस्मार	चि. १०-३४ से ३६	
१९.	पलंकथादि लेपन	अपस्मार	चि. १०-३४ से ४८	
२०.	शैलेयादि तैल अभ्यंग	श्वयसु	चि. १२-६४ से ६७	
२१.	शैलेयादि प्रदेह	श्वयसु	चि. १२-६४ से ६७	
२२.	शैलेयादि परिषेक	हिङ्का श्रास	चि. १२-६४ से ६७	
२३.	लवणजीत अभ्यंग	हिङ्का श्रास	चि. १२-६४ से ६७	
२४.	स्नेह-सेंक	कास	चि. १२-६४ से ६७	
२५.	स्नेहाभ्यंग	कास	चि. १२-६४ से ६७	
२६.	स्नेहाभ्यंग परिषेक	विसर्प	चि. १२-७२, ७४, ७७, ८०, ८१, ८४, ८५, ८६, ८७	संदर्भ
२७.	स्नेहत-प्रदेह स्नेहत-प्रलेप	विसर्प	चि. १२-७२, ७४, ७७, ८०, ८१, ८४, ८५, ८६, ८७	संदर्भ
२८.	घृत-परिषेक	विसर्प	चि. २१-८४, ८५	
२९.	दध्नपूलसिद्ध तैल परिषेक	विसर्प	चि. २१-१२२	
३०.	अभ्यंग सामान्य	(मूत्रकृक्ष)	चि. २६-४५	
३१.	चिं-त्रिमर्मीय			
३२.	प्रदेह			

क्र.	स्नेहनाम	योगिनि व्यापद्	अधिकार	संदर्भ
३३.	परिषेक	(मूत्रकृक्ष)	चि. २६-४६	
३४.	घृत परिषेक	शिरःशूल	चि. २६-४७६	
३५.	तुष्टि	शिरःशूल	चि. २६-४७६	
३६.	प्रदेह	शिरःशूल	चि. २६-४७६	
३७.	शारतैल कण्ठपूरण	त्रिमर्मीय	चि. २८-२२१ से २२६	
३८.	महानील तैल शिरपर	त्रिमर्मीय (पालित)	चि. २६-२७१ से २७५	
३९.	अभ्यंग	अभ्यंग-सामान्य चिकित्सा	चि. २८-७२ से ८२	
४०.	अभ्यंग-सामान्य चिकित्सा	वातव्याधि अर्दित	चि. २८-७२ से ८२	
४१.	मूर्धा तैल	वातव्याधि	चि. २८-८६ से १३३	
४२.	त्रिफला मधुस्नेह अभ्यंग	वातव्याधि	चि. २८-१२६ से १३५	
४३.	सहवरादि तैल अभ्यंग	वातव्याधि	चि. २८-१४२, १४५	
४४.	शवदंशादि तैल अभ्यंग	वातव्याधि	चि. २८-१४७	
४५.	बला तैल अभ्यंग	वातव्याधि	चि. २८-१४८ से १५६	
४६.	अमृतादि तैल अभ्यंग	वातव्याधि	चि. २८-१५७ से १६४	
४७.	राजनादि तैल अभ्यंग	वातव्याधि	चि. २८-१६५	
४८.	राजनादिमूलक तैल अभ्यंग	वातव्याधि	चि. २८-१७३, १७६	
४९.	मधुयष्टी तैल परिषेक	वातव्याधि	चि. २८-१७७	
५०.	मधुयष्टी तैल अभ्यंग	वातव्याधि	चि. २८-१८७	
५१.	बला तैल-घृत परिषेक	वातव्याधि	चि. २८-१९७	
५२.	अभ्यंग परिषेक	वातव्याधि	चि. २८-१९७	
५३.	तेप सा. निचि.	वातरक्त	चि. २८-४२ से ४५	
५४.	पिढ तैल अभ्यंग	वातरक्त	चि. २८-१२३	
५५.	कोणा सर्पि: परिषेक	वातरक्त	चि. २८-१२४	
५६.	महास्नेह परिषेक	वातरक्त	चि. २८-१२५	
५७.	श्रीरतैल मिश्र परिषेक	वातरक्त	चि. २८-१२६	
५८.	लवण तैल अभ्यंग	योगिनिव्यापद्	चि. ३०-४८	
५९.	उदुबंधादि तैल पित्तु	योगिनिव्यापद्	चि. ३०-७७	
६०.	धातव्यादि तैल योनिश्वावन	योगिनिव्यापद्	चि. ३०-७८ से ८३	
६१.	सोह मित्र		चि. ३०-१०८	

- ‘वाचस्पत्यम्’ लेखक तारानाथ भट्टाचार्य पृष्ठ भाग, पृष्ठ ४३-४६ देखें।
- आग्रापि व्यानादि प्रवृत्तो स्नेहस्नेह प्रथम विधीयमनतया दोष प्रधानस्य वातस्य निधान भेषजताया तस्मिनपदक एव स्नेहउत्थायेऽमिथीयते। । च. सु. १३-२ परं च. प.

३. स्नेहमप्रे प्रयुक्तीति: स्वेदनंतरम्।  
स्नेह स्वेदोपपत्रस्य संशोषणमथेतरतः।। च. सु. १३-६६
- स्नेह स्वेदवनभ्यस्य कुर्यात्स्थोधनं तु यः।  
दारु शुष्कगिराइनाम् शरीरं तस्य दीर्घतः।। अ. ह. सु. १८-२६
- दारु शुष्कगिराइनाम् नायम्यानं यथा भवेत्।  
तथा विरेचने हयात् स्नेह स्वेदानुपस्थिते।। भेल सु. १४-३
४. द्रवं सूक्ष्मं मर्त्रं स्निधं पिच्छिलं गुरु शीतलं।  
प्रायो मंदं गुरुं च यत् द्रव्यं स्नेहानुच्छेत्।। च. सु. २२-१५
- गुरु शीत सर निधं मंदं सूक्ष्मं गुरुं द्रवं। औषधं स्नेहं प्रायो...।। अ. ह. सु. १६-१
५. स्निधं रक्षी जक्षुषा। सु. सु. ४१-११
६. स्नेहोऽपाणं गुण विशेषः। प्र. प्रा.. भा.
७. पृथिव्यमनु गुण भूयिष्ठः स्नेहः। सु. सु. ४१-११
८. यस्य क्षेत्रेदेव शक्तिः स्त्रियः। हेमादि
९. स्नेहार्दिवकृत स्निधो बलवणकरसतया।। सु. सु. ४६-५१६
१०. १. सादोपलेप बलकृत् गुलतर्पणं बृहणं। सु. सु. ४६-५१६
२. सादोंजा गलानि: उपलेपो मलवृद्धिः, बलं इतेभा, तर्पणः  
तृष्णजनकः। बृहणो देह वृद्धिकरः। डह्णा
३. यस्य द्रव्यस्य बुङ्लेणे शक्तिः स्त्रुगुरु। हे.।।
४. गौरवम् पार्थिवं आयं च। र. वै. अ. ३ स. ११६
५. तत्र द्रव्यं गुरु ... पार्थिवं।। अ. सं., अ. ह. सु. ६-१०
६. तत्र स्थूलं गुरु मधुरमिति पार्थिवं। सु. सु. ४१-४
७. गुरुवतिहं पुष्टि इतेष्व कृच्छ्रपारकिं च। भा. प्र.
११. हादनः स्त्रीभनः शीतः मूर्ढा उट् स्वैदपारिजित। सु. सु. ४६-५१५
१२. १. दाहनाशक्तं शीतलं। आ. द.
३. स्तंभने हिमः।। हे.।।
४. तेषां गुरु शीतोष्णाः स्पर्शशार्णा।। सु. सु. ४१-११
५. द्रवं शीतं स्त्रुगुरु बहुलानि वायव्यानि। च. सु. २६-११  
लघु शीत स्पर्शं गुरुं बहुलानि वायव्यानि। च. सु. २६-११  
शिशिलावयतं मृदुत्वं।। अ. द.।।
१२. १. शिशिलावयतं मृदुत्वं।। अ. द.।।
२. यस्य द्रवस्य रस्याने शक्तिः स मृदुः। हे.।।
३. .. मृदुन्यथा (तीक्ष्णादन्यथा)। सु. सु. ४६-५१८
४. तेषां गुरु शीतोष्णाः स्पर्शशार्णा।।
५. .. गुरु बहुलानि आयानि . मृदु बहुलानि आयानस्त्रकानि। च. सु. २६-११
१३. १. द्रवः प्रक्लेदनः शोक्तः। सु. सु. ४६-५२०।।
२. द्रवत्वं स्न्यन्दनं कर्म कारणं।। प्र. भा. भा.।।

३. स्वंदनकारकत्वं द्रवत्वं।। अ. द.।।
४. द्रवः क्लेदकरो व्यापि।। भा. प्र.।।
५. यस्य विलोड्ने शक्तिः स द्रवः।। हे.।।
६. द्रवगुणं बहुलानि आयानि।। च. सु. २६-११।।
७. १. पिच्छिलो जीवने बल्यः संघातः इतेष्वलेगुरुः।। सु. सु. ४६-५१७
२. पिच्छिलः विशदे चक्षुः स्पर्शशार्णा।। सु. सु. ४१-११
३. सांद्र विक्षिप्तात्वं पिच्छिलत्वं। चक्कवायमानं बा।। आ. द.
४. यस्य तेपने शक्तिः स्त्रियः। हे.
५. पिच्छिलं आय्यम्।। र. वै. सु. ३-११-१२
६. द्रवं पिच्छिलं ... प्रायः आय्यम्।। सु. सु. ४१-४
७. द्रवं पिच्छिलं रस गुणबहुलानि आयानि।। च. सु. २६-११
१५. १. सरोड्जुलोमनः शोक्तः।। सु. सु. ४६-५२२
२. अनुलोमणी वातमल प्रवृत्तिः।। डलहण।।
३. सरसेषां (वातमलानां) प्रवर्तकः।। भा. प्र.।।
४. यस्य प्रेरणे शक्तिः स सरः।। हे.।।
५. शीत सर ... आय्यम्।। सु. सु. ४१-३।।
१६. १. मंदो यात्राकरः स्तृतः।। सु. सु. ४६-५२२।।
२. चिरकारित्वं मंदत्वम्।। आ. द.।।
३. यस्य मने शक्तिः स मंदः।। हे.।।
४. तत्रद्रव्याणि द्रवं मंद ... गुण बहुलानि आयानि।। च. सु. २६-११
१७. १. सूक्ष्मस्तु तीक्ष्णात् स्रोतः स अनुचरः स्त्रूतः।। सु. सु. ४६-५२४
२. देहस्य सूक्ष्म छिद्रेष्व विशेषतः सूक्ष्मस्युते।। भा. प्र.
३. यस्य विवरणे शक्तिः स सूक्ष्मः।। हे.।।
४. उष्ण सूक्ष्म ...।। तेजसः।। सु. सु. ४१-४
५. उष्ण सूक्ष्म बहुलानि आग्नेयानि।। लघु सूक्ष्म बहुलानि ... वायव्यानि।।
६. लघु सूक्ष्म बहुलानि वायव्यानि ... मृदु सूक्ष्म बहुलानि आकाशात्कर्त्ता।।
७. १. सेहानां द्विविद्या चासौ योनिः स्थावरं जंगमा।। च. सु. १३-८
२. तत्र द्विदेनिः चतुर्विकल्पोऽधिभृतः स्नेहः स्नेह गुणाश्च। तत्र  
जंगमेभ्यो गव्यं घृतं प्रधानं, स्थावरेभ्यो तिलं प्रधानमिति।। सु. चि. ३३-३
३. डलहण-द्विदेनिः द्वि प्रकारकः।।
४. तिल प्रियालाभिषुकौ विभीतकश्चित्राभ्ययैरं मृदू सूक्ष्मः।।
५. .. गुरु बहुलानि आयानि . मृदु बहुलानि आयानस्त्रकानि। च. सु. २६-११
६. तिल प्रियालाभिषुकौ विभीतकश्चित्राभ्ययैरं मृदू सूक्ष्मः।।
७. .. मृदु बहुलानि आयानि . मृदु बहुलानि आयानस्त्रकानि। च. सु. २६-११
८. यस्य द्रवस्य रस्याने शक्तिः स मृदुः। हे.।।
९. .. मृदुन्यथा (तीक्ष्णादन्यथा)। सु. सु. ४६-५१८
१०. तेषां मृदु शीतोष्णाः स्पर्शशार्णा।।

## स्नेह विज्ञान

२०. एते चाविक्षत तमेन उक्ताः । तेन निब तजादयोपि लोल्द्व्या: ॥ च.पा.
२१. तत्त्व बिल्वकौड कोशाप्र दंती द्वंती सप्तला शंखिनी, पलाश, विशाणिका, गवाशी, कौपिल्ला, शंगाक नीलिनी स्नेहः विरचयति।
२२. जीमूत कुट्टज कृतवेष्टनेश्वाङ्क थामार्व भद्र स्नेहः वामयंति।
२३. विडंग खरमंजरी, मधुशिष्ठु, सूर्यवल्ली, पीलु, सिद्धार्तक, ज्योतिष्मती स्नेहः शिरोविरेचयति।
२४. करंज-पूतिक-कृतमाल मातुरुंग इंगुदी किरात स्नेहः दुष्ट क्रणेषु उपदुर्जते । तु. चि.
- ३१-५
२५. तुवरक कापित्य कौपिल्लक भल्लातक पटोल स्नेहः महाव्याधिषु ।
२६. त्रिपुर्वेदर्वालकर्कारु हुंबी कूज्ञाड स्नेहः मूत्रसंगेषु ।
२७. कपोतवक्ता, अबलुज हरीतकी स्नेहः शकरास्परिषु ।
२८. तुवरक कापित्य कौपिल्लक भल्लातक पटोल स्नेहः महाव्याधिषु ।
२९. कुसुंभ सर्वपातसौ पित्रुमदाति मुक्तक भांड कट्टुबंधी कटभी स्नेह प्रमेहेषु ।
३०. ताल, नारिकेल पनस मोत्र प्रियाल बिल्ल्य मधुक रसेभातका भ्राताक फल स्नेह पित्तसंसुष्टे वायौ।
३१. श्रवण कंगु कंटक स्नेहः पांडुकल्पे ।
३२. सरल पीत दारु शिशपालुसर स्नेहः बद्धुष्ट किटिथेषु । सु. चि. ३१-५
३३. सुजंगमा मस्यमुग्ना: स पक्षिणः । तेषां वीथिक्षीर घृतामि व वसा। स्नेहुषु मज्जा च तथोपदिष्यते ॥ च. सु. १३-१९
३४. हृस्तने जीर्ण एवाचे स्नेहोच्छ: शुद्धये बड़ु: ।
३५. शुद्धयर्थ पुनराहतनेशो जीर्णे पिकेन्नरः । अ. ह. सु. १६-१६ च. सु. १३-६१
३६. शमनः शुद्धतोनशो मध्यमारेष्व स्यते ॥ अ. ह. सु. १६-१६ च. सु. १३-६१
३७. शुद्धयोग्य उपवासनेशो जीर्णे पिकेन्नरः ॥ अ. ह. सु. १६-१६
३८. शुद्धयोग्य प्रक्रियात्मक भ्राताक फल स्नेह स्नेहं अवकाले प्रक्रियात्मकः ॥ अ. ह. सु. १६-२०
३९. स त्र त्रिविधः पुद्दुर्भयः खर इति ॥ सु. चि. ३१-१९
४०. स त्र त्रिविधः खर इति ॥ सु. चि. ३१-१९
४१. उपयोजनं उपयोगः बाह्याधार्थातरस्व ।
४२. उपयोजनं उपयोगः बाह्याधार्थातरस्व ।
४३. उपयोजनं उपयोगः बाह्याधार्थातरस्व ।
४४. सर्विमज्जा वसा तैलं स्नेहे औ प्रवरं मतं ॥
४५. अ. व. ठीका, उपयुक्त पर ।
४६. शृतातैलं गरु वसा तैलाभ्याजा ततोऽपि च ॥ अ. ह. सु. १६-३
४७. शृत पित्तानिलहं रससुख्योज्जात्त हिं । निवारिण्य मुद्दकां स्वरवर्ण प्रसादनं ।
४८. मारुतञ्च न च स्लेष्यवर्धनं बलवर्धम् । च. सु. १३-१४, ३५
४९. तत्र शो मृति भेषा कांशीणां शस्ते शृतं ॥ अ. ह. सि. १६-८
५०. समिः शरदि पातथ्यम् । च. सु. १३-१६
५१. वातापित्र प्रकृतयो वातापित्र विकारिणः । चुम्बुकामा: क्षतक्षीणा वृद्धा बाला स्त्रयाबला: आया: प्रक्रक्षकामास्त बलवर्णस्मरणिनः । उष्टिकामा प्रज्ञा कामा सोकुमार्यार्णिनस्त ये वीत्योजः स्मृतियोग्यानि दुष्कीर्तिय बलार्थिनः । पिकेयु सारितार्थं दाह शस्त्रविषादिभिः । च. सु. १३-४१, ४३
५२. रुक्ष गीत विषार्तानां वातापित्र विकारिणां ।
५३. हीनमध्यस्मृतीनां च समिधानं प्रशस्यते । तद् युग्माताच्च तैलत्वमितेषु च ॥ च. सु. ४५-४३०
५४. सर्वेषास्तिवह तैलेष्टिलतैलं प्रशस्यते ।
५५. निष्ठते: तद् युग्माताच्च तैलत्वमितेषु च ॥ च. सु. ४५-४३०
५६. तैलं प्रावृषि ॥ च. सु. १३-१८
५७. १. तैलतु आनेयं उज्जं तीक्ष्णं मधुरं मधुरीविपाकं वृहृणं प्रीणनं व्यवायि सूक्ष्मं विशदं गुरु च विकासी तीक्ष्णं लक्ष्मप्रसादं भेदा मारुतं गांस स्वैर्व वर्णं बलकरं चक्षुषं
२. कलायुरसं स्वादु... सर्वरोगापहं मतं ॥ च. सु. २७-२८, २६०
३. तद्दृ बालिषुपानेऽ नसे कण्ठस्थि पूर्णे ।
४. अन्नपानविधोचादि व्रयोज्यं वातशांतये ॥ सु. सु. ४५-११३

५४. १. प्रवृद्ध श्लेष्म मेदस्कः चल स्थूल गलोदारा:। वातव्याधिभिराविद्या वातप्रकृतयश्च  
ये। बलं तनुलं लघुतां दुहतां स्थिरावताम्। स्निग्ध श्लेष्म तनुत्वक्ता ये च  
कांक्षति देहिनः। कूरकोष्ठात्वं तथा नाडीभिराविद्या। पिवेयुः शीतले काले  
तैलोचितात्वं ये॥। च. सू. १३-४४, ४५, ४६

२. ग्रंथि नाडि कूर्मि श्लेष्म मेदो भारतोरेण्यु। तैलं लाघव दाढ़ीर्धं क्षुर कोर्क्षु  
देहिनाम्। अ. ह. सू. १६-६

५५. ग्राम्याद्यौदकानां च वसा मेदोमज्जानः; गुरुणा मधुणा वातला, जांगलैकशब्दव्यादादीनां  
लघु शोत कथाया रक्तपित्राम्, प्रदुष विष्कीरणा इत्येवप्नाः॥। सु. सू. ४५-१३१

५६. वातातपसहा ये च रुक्षा भारात्व कर्तिता। संशुक्ष रेतोलिधिः निष्ठीत कफमेदसः॥  
अस्थि संचिक्षिरा स्नायु मर्मकोष्ठ महारुजः। बलवात् मारुतो द्वीषां खानिचावृत्य तिष्ठति॥  
वाताताः कूरकोष्ठात्वं हेषा वसासात्पात्वय ये नराः। तेषां स्नेहवित्यवानं वसपानं विधीयते॥।।  
च. सू. १३-४७ से ४८

५७. बलशुक्र रसश्लेष्म मेदो मज्जा विवर्धनः। मज्जा विशेषतोऽस्थां च बलकृत् स्नेहन हितः॥।। च. सू. १३-१७

५८. दीपाननयः वसेशसहा घस्सरा स्नेह सेविनः। वाताताः कूरकोष्ठात्वं स्नेहा मज्जामान्युः॥।। च. सू. १३-५०

५९. सर्पिः शरीर्दि प्रताव्यं कसा मज्जा च माधवे। तैलं प्रावृद्धि नाड्युणा शीते स्नेहं पिवेन्नः। च. सू. १३-१६

वातपित्तादिको रात्रौ उज्जे चापि गिवेन्नः। इत्येषांप्राधिको दिवा शीते, विकेच्चपल भास्करे॥। च. सू. १३-१६  
अस्थुणो च दिवा पीते वातपित्तादिको इत्येषांप्राधिको आनाहमरुति शूलं पाङ्कुतां वा समृच्छिति॥।।  
शीते रात्रौ पीवेत् स्नेहं नर इत्येषांप्राधिको इत्येषांप्राधिको आनाहमरुति शूलं पाङ्कुतां वा समृच्छिति॥।।  
च. सू. १३-२०. २१

६०. स्नेह्या; शोधयित्वात्वच रुक्षा वातविकारिणः। स्नेहास्युर्युच चिंतका:। च. सू. १३-५२  
देव्यासंशोध्य मध्यलीं व्यायामाहृत्व चिंतका:। वृद्धा बालाबला रुक्षा कृशा क्षीणात्वरेतसः:।।

वातातिसंद तिमिर दारण प्रतिवाविधिनः॥। अ. ह. सू. १६-५६  
(कुछ परिवर्तन के साथ यही इलोक शार्दूलर में तथा भावप्रकाश में है)।।  
६१. १. संशोधनाद्वारा येषां रुक्षां संप्रक्षस्ते। न तेषां स्नेहं शर्श उत्तरकृपक भेदसां॥।।  
अचिक्षणानन गृदा नित्य मंदानयश्च ये। उष्णामुच्छ्व परीताश्च स्नेहलालाना  
शोषिणः। अश्रादिश्वर्वदियंतो जठरामगराविद्या: दुर्बलात्वं प्रतातात्वं स्नेहलालाना  
मदातुरा:। त स्नेहा वर्तमानेषु न नस्तो बस्तिकमसु। स्नेहपानात्वयते तेषां रोगाः  
सुदारुणः॥।। च. सू. १३-५३ से ४८

६२. २. विवर्जयेत् स्नेहपानं अजीर्ण तरुण ज्वरी ...। स्नेहास्युर्युच चिंतका:।। अकाले च प्रसूता श्वी ...। स्नेहास्युर्युच चिंतका:।। अ. ह. सू. १६-६ से ७५  
३. न वित्मदानं तीक्ष्णानं नस्य ...। बस्तो विक्रमे। अ. ह. सू. १६-६ से ७५  
४. विवर्जयिदित्यादि। अजीर्ण अजीर्णमिव च पवन अनिः स्तोकं स्नेहं पचति तरुण ज्वरे  
पुनर्व निषेधः॥।। डहण सु. चि. ३१-४६-४८ पर

६३. १. जल स्नेहोषधानां तु प्रमाणं यज्ञ नेतितम्। तत्रस्यादैषधात् स्नेहस्तोयं चतुर्णां॥।।  
च. क्र. १२-६६

२. स्नेह भेषजतोयानां प्रमाणं यज्ञ नैरितं। तायां विधिरात्येयो निर्दिष्टे तद्वेव हु। अनुक्ते  
द्रव्य कार्ये तु सर्वत्र सलिलं मतं। कल्पक्षयायोजयेत्॥।।  
यु. चि. ३१-६-१०

३. स्नेहाच्चतुर्णां प्रवृत्तः, स्नेह चतुर्धाश्चो भेषजकल्पः, तदैकार्थं विपचेत् इत्येषः  
स्नेहपात्रकल्प्य।। अ. ह. सू. ३१-६-१०

४. स्नेहपाके त्वानोक्ते चतुर्णां प्रवृत्तः, कल्पक्षयायोजयेत्। कल्पक्षये स्नेहं योज्यं अधीते शौनकः पुनः॥।।  
योगरत्नं स्नेहपात्रकल्प्य।।

५. स्नेहस्य त्वानोक्ते चतुर्णां प्रवृत्तः, कल्पक्षये चतुर्धाश्च चतुर्णां प्रवृत्तः, कल्पक्षये  
निष्क्रान्त्यापहर्दित्येषः क्रषायकल्प्यः। स्नेहप्रसुतिषु षट्शु चतुर्णां प्रवृत्तः, कल्पक्षये  
चतुर्णां प्रवृत्तः, कल्पक्षये चतुर्णां प्रवृत्तः, कल्पक्षये चतुर्णां प्रवृत्तः, कल्पक्षये चतुर्णां  
प्रवृत्तः।। सप्रहे। यो. र. सं.

६. पंच प्रसूति तु द्वयं प्रसूति स्नेहं सम्पूर्णं कुर्यात्, निरपितं कल्पनं च धैर्यं कल्पी  
कुर्यात्॥।। सप्रहे। यो. र. सं.

७. न मंचविति सं प्रद्यं क्षीणादिभूप्रस्त्रस्तं। तोयं चतुर्णां तत्र वीर्यादार्थं भावयेत्।  
अष्टधानि ख्ववीयणि जले मुच्चत्यपेषतः॥।। यो. र. स.

८. १. तत्र केविधाहुः लक्षकप्र पल मुलादीनां भासास्यच्चतुर्णां चलं चतुर्भागावशेषं  
निष्क्रान्त्यापहर्दित्येषः क्रषायकल्प्यः। स्नेहप्रसुतिषु षट्शु चतुर्णां प्रवृत्तः, कल्पक्षये  
चतुर्णां प्रवृत्तः, कल्पक्षये चतुर्णां प्रवृत्तः, कल्पक्षये चतुर्णां प्रवृत्तः, कल्पक्षये चतुर्णां  
प्रवृत्तः।। सप्रहे। यो. र. सं.

९. २. तत्रात्यन्तम् परिमाण संभितानां यथायोगां लक्षपत्रं फल मूलादीनां अताप परिशोक्तिनां  
छेद्यानि खंडश्चेष्टयित्वा भेदान्तशुशो भूदशित्या .... इत्येष स्नेहपात्रकल्प्य।।  
३. तत्रात्यन्तम् परिमाण संभितानां यथायोगां लक्षपत्रं फल मूलादीनां अताप परिशोक्तिनां  
छेद्यानि खंडश्चेष्टयित्वा भेदान्तशुशो भूदशित्या .... इत्येष स्नेहपात्रकल्प्य।।

४. १. स्नेहपाक का विस्तुत वर्णन देखें— ‘द्रव्यगुण विज्ञानम् उत्तरार्थ-प्रथमः परिभाषा  
खडः’। लेखक आचार्य यादवकी विज्ञानर्थी पृष्ठ ५५ से ६१

२. वर्तिकत्वेत्वे कल्पः स्नात अंगुला च चिमिदितः। शब्दहीनेऽनुत्तिनि निष्क्रियः स्नेहः स्निद्धो  
तिष्क्रियताद्वा भवते॥। यो. म. अ. ६-१२, १३

५. १. स्नेहपाक का विस्तुत वर्णन देखें— ‘द्रव्यगुण विज्ञानम् उत्तरार्थ-प्रथमः परिभाषा  
खडः’। लेखक आचार्य यादवकी विज्ञानर्थी पृष्ठ ५५ से ६१

६. २. वर्तिकत्वेत्वे कल्पः स्नात अंगुला च चिमिदितः। शब्दहीनेऽनुत्तिनि निष्क्रियः स्नेहः स्निद्धो  
तिष्क्रियताद्वा भवते॥। यो. म. अ. ६-१२, १३

७. १. स्नेहपाक का विस्तुत वर्णन देखें— ‘द्रव्यगुण विज्ञानम् उत्तरार्थ-प्रथमः परिभाषा  
खडः’। लेखक आचार्य यादवकी विज्ञानर्थी पृष्ठ ५५ से ६१

८. २. कवायेन केवलनैव पाको योवेति: कवायिता!।  
कवायेन द्रव्यस्य कल्पकोपि तत्र स्नेहं प्रयुक्तते॥। शा. म. अ. ६-१२, १३

९. ३. कवायेन प्रयुक्तस्य कालोन्नेत्रं वासरे!।  
प्रयुक्तस्युषिता होते विशेषाद्युणं साच्चयम्॥। शा. म. अ. ६

१०. ४. अतऊर्क्ष द्रव्यस्य कालोन्नेत्रं भवति॥।। सु. चि. ३१-११

११. ५. आपाक्ष निवर्यो विहिमांशको गुरुः ...।  
तदूर्ध्वं द्रव्यस्य कल्पकोपि तत्र वासरे!। शा. म. ६-१२, १३

१२. ६. स्नेहपाकालिकाद्येषो मृदुर्मध्यः खरस्तथा।।  
हुत्य कल्पके नियसि भेषजानां मृदुः स्मृतः॥।।

१३. ७. स्नेहपात्रकल्प्य इत्येष स्नेहपात्रकल्प्य इत्येष स्नेहपात्रकल्प्य।।  
आपाक्ष निवर्यो विहिमांशको गुरुः ...।  
तदूर्ध्वं द्रव्यस्य कल्पकोपि तत्र वासरे!। शा. म. ६-१२, १३

७०. तत्र स्नेहैष्य विवेक मात्रं यत्र भेषजं स मृदुरिति मधुचिक्षेष्मिव विशदमविलेपि यत्र भेषजं स मध्यमः, कृष्णमसत्रमीष्टद विशदं च यत्र भेषजं स खर इति। । शु. ३१-११
७१. पाकस्त्र विविधो गृद विक्रिणः खर विक्रिणः।  
मंदः कल्पक समे किंचित् विक्रिणो मदनोपमे।  
किंचित् सीदिति कृष्णो च वर्तमाने च पाणिनमः।
७२. दधीष्य ऊर्ध्वे निःकार्ये: स्यादामस्त्वानिमात्कृत्। । अ. ह. क. ६-१६, २०
७३. स्नेहाकस्थिया प्रोक्तो मृदुर्मध्यो खरस्थाः।  
ईष्वस्तरस कल्पकस्त्र स्नेहाको मृदुर्भवेत्।
७४. मध्यप्रकार्य सिद्धिर्ण लक्ष्मे नीरस कोमलः।  
ईष्वलठिन कल्पकस्त्र स्नेहाको भवेत्तदः। । शा. म. ६-१४, १६
७५. खरोभ्यंगः स्मृतः पाको मृदुर्नस्तः कियासु च।  
मध्यप्राक्तं तु पानाये बस्तो च विनियोजयेत्। । च. क. १२-२०१
७६. पानाभ्यवहरयोः मृदुः।  
नस्यभाग्योर्मध्यमः। बास्ति कर्णपूरणयोस्तु खर इति। । शु. चि. ३१-११
७७. मृदुर्स्ये खरोभ्यंगो पाने बस्तो च विक्रिणः। । अ. ह. क. ६-२१
७८. नस्यार्थं स्यान्मुदुपाको मध्यमः सर्व कर्मसु ॥। शा. म. ६-१७
७९. आतुरस्तु खर्तु कार्य देशः। तस्य परीक्षा आयुषः प्रमाण ज्ञान हेतोघर्षः स्यात् बल दोष  
प्रमाण ज्ञान हेतोवार्ता ॥। च. वि. ८-६४
८०. तस्मादतुरं परीक्षेत प्रकृतिर्ण विकृतिर्ण सारातस्त्र महनतस्त्र य, प्रमाणतस्त्र सात्यतस्त्र,  
सत्यतस्त्र, आहरशक्तिर्ण, व्यायामशक्तिर्ण द्यतस्त्रेति बलप्रापाविशेष प्राह्ण  
हेतोः ॥।
८१. ज्यवहरं समदिनं परार्जु लिङ्गायो नः स्वेदयित्वा उक्तः।  
सप्तरात्मां च लिङ्गायो नः लिङ्गायो नः स्वेदयित्वा उक्तः। । च. सि. १-६
८२. आतुरस्तु खर्तु कार्य देशः। तस्य परीक्षा आयुषः प्रमाण ज्ञान हेतोघर्षः स्यात् बल दोष  
प्रमाण ज्ञान हेतोवार्ता ॥। च. सि. ८-६
८३. ज्यवहरं समदिनं परार्जु लिङ्गायो नः स्वेदयित्वा उक्तः।  
सप्तरात्मां च लिङ्गायो नः स्वेदयित्वा उक्तः। । च. सि. १३-८५
८४. यथानि प्रथमां मात्रां पापयेत् विवर्किणः।  
पीतो हृति बहुसोहो जनयेत् प्राण संशयम् ॥। शु. चि. ३१-३०
८५. वाय्यां च हसीयसीम्।  
कल्पयद्विक्ष्य दोषादीन प्रागेव तु बुद्धिमान् । अ. ह. सु. १६-१७
८६. प्राकृपूर्ववेचाजातकोष्ठे पुरुषे उत्तममात्राविषये पूर्वहसीयसीं कर्तव्येत्। ततो हस्या,  
ततोमध्यमा तत उत्तमात्र प्रकृत्येत्। एवं मध्यममात्रा विषये हसीयसीम्, मध्यम मात्रा  
विषये हसीयसीम्, लेवामात्रा विषयेऽपि हसीयसीं प्राकृत्येत् अन्यथा प्रत्यावाय भयं स्यात्।  
इयं हस्या, इयं हस्यत अनयोगितशयेन हस्या इति हसीयसीम्। अन्येत् पलद्य  
पलचतुर्थट्यम्, पलष्टक सञ्चादच्छिन्ना मात्रा उक्ता । न चेतन् उज्ज्वते यतो जननात्  
शक्तिमनपश्य प्रयुज्माना स्नेहामात्रा अनशयिव, अतोऽस्माभिः पलद्यादि सञ्चावच्छिन्ना  
नोक्ताः ॥।
८७. द्वायां चतुर्भृत्याभियमिं जीर्णिति याः क्रमात् ।  
हृत्यां च लिङ्गायो नः स्वेदयित्वा उक्तः। । अ. ह. सु. १६-१७
८८. अहोरात्रमः कृत्तन्त्रअद्बोहं च प्रतीक्षेते। प्रधाना मध्यमा हस्या स्नेह मात्रा जां प्रति।  
इति तित्वः समुद्धिष्ठामात्रा स्नेहस्य मानतः। । च. सु. १३-२६
८९. चक्रपाणिः—प्रतीक्षित स्नेह प्रकर्ष कालादधिना समदिनं व्याया लिङ्गायः। ततस्त्र कालं  
प्रकर्षात् क्रियमाण शोषणांग स्नेहस्ये समदिनं यावत् लिङ्गायः। कालादकर्षे तु ज्यवहरं  
स्निग्धता। उक्तं समदिन स्नेहन कालानिक्रियां सोपापातिकमाह नातः परं आदि ...।  
सप्तरात्मायेण क्रियमाण स्नेहः सप्तरात्रयोरेण सात्यीभूतत्वात् स्नेहमधिकं शरीर करोति  
इत्यर्थः। तेल यावन्नात्र स्नेह प्रयोगेण स्नेहनं वृत्तं सा मात्रा सात्यीभूतैव,  
आधिक मात्रा या सात्यां न गता सा सप्तरात्रयोरेणापि कर्तव्या एव, वैद्यासु सप्तरात्रय  
स्निग्धे उपर्युक्ते किंचित् लिङ्गां फूलां उत्तर्थिकामात्रा स्नेहां प्रत्युज्यते। एतत्र ज्यवहरं स्नेहं  
सप्तरात्रम्भनं मुद्दक्षरकोष्ठविषय भेदेन। ..... कूर कोष्ठः सप्तरात्रेण सिद्धयति। परं कूर
९०. परिहरे सुखः वैयामात्रा स्नेहं बृहणी।  
बृद्ध्या बल्या निराबाधा चिरं वाय्यनृतते। च. सु. १३-४०
९१. १. अरुक स्पोट पिडका कड़ प्रामाणिर्दिति। कुर्तिर्ण यमात्रा द्वारा शोभितकार्य  
ये। नाति बहाशिनस्वरूप मुद्दुकोष्ठस्त्रशेषवत्ता। पिबेत्युर्मध्यभा मात्रा मध्यमाश्वापि ये

- बले। मत्रशा भंद विश्वाशा न वातिबलहारिणी सुखेन न स्नेहयति फोधनार्थे च  
युज्नते। च. सु. १३-३५, ३६, ३७
२. या मत्रा परिजोर्यति तदर्थं विवसे गते। सा वृष्णा बुंहणी या च मध्य दोषे च  
पूजिता।। सु. चि. ३१-२६
  ६२. १. प्रभूतसेह नित्याश्व शृतपिपासा सहा नरा। पावकश्वोत्तमबले देषा ये वोतमा  
बल। गुलिन्न सफदश्व विसमेपहलाश्व ये। उन्मत्ताकृच्छ भूत्राश्वाढवर्चस एव  
च। विषयुत्तमां मत्रा तस्या: पाने पुणान् शृणु। दोषानु कृषिणी मत्रा सर्व  
मार्गानुसारिणी। वल्ला पुरनवकर्ती शरीरसंद्रिय द्रेतसा। च. सु. १३-३१ से ३४
  २. या मत्रा परिजीर्णेत तथा परिणतेऽहनि।  
गलानि मृच्छानिदान विला सा मत्रा पूजिता भवेत्।
  ६३. स्नेहनीया च सा मत्रा बहुदेहि च पूजिता।। सु. चि. ३१-२८
  ६४. १. द्रवोष्णामनभिपंथी भोजयन्न त्रप्यमन्तः।  
नाति स्निधमसंकरिणिः स्वेहं पात्रिमिच्छता।। च. सु. १३-६०
  २. भोज्योन्न मत्रया पात्रयन् स्वः पिबन् पीतावानपि।  
द्रवोष्णमनभिपंथी नातिस्निधमसंकरम्।। अ. ह. सु. १६-२६
  ६५. उमणमन्त्रीयत्। उण्ठं हि भुज्यमानं स्वदेते, भुक्तं चान्नमैर्य उदीर्यति, क्षिपं जरा  
गच्छति, वातं चातुलोभयति, फ्लेषाणं च परिहसयता।। च. चि. १-३७
  ६६. मात्रावदस्तीयात्। मात्राबुद्धि भुक्तं वातपित्रकमनपीडयन् आयुरेव विवर्धयति  
केवलम्। सुखं गुदमनुपर्यति। न चौषाणमपुंहति। अव्ययं च परिपक्वमेति।  
च. चि. १-३६
  ६७. वीर्यविरुद्धमन्त्रीयात्। अविरुद्धवीर्यमन्त्रं हि न विरुद्धवीर्यहाते: विकारैः  
अयमप्यसुखते॥।
  ६८. यच्चापि देश कालान्नि मात्रासात्यानिलादिभिः।  
संस्कारतो वीर्यतश्व कोषावश्या क्लैरिपि।।  
परिहारेपचाराभ्यां पाकात्पर्यागतोऽपि च।।
  ६९. स्नेहादिष्पयोगाय तद् व्यापद् शमनाय च।  
विकर्द्धं तच्च न हितं हृत् संपत् विधिभित्त्व यत्। च. सु. २६-६१, ६२
  ७०. स्नेहादिष्पयोगाय तद्वारालक्ष्मे न तु।। अ. ह. सु. १६-२३
  ७१. वायुष्णामच्छेनुग्रहिते त्वेहि तस्युत्त्वं उप्तः तेत्तेऽप्यस्त्वते।  
आस्योपलेय शुद्धादृच तोत्वारालक्ष्मे न तु।। अ. स. सु. २५
  ७२. वसा मज्जोद्धु मङ्डः स्वात् सवस्तुष्मामवाङु वा।। च. सु. १३-२२
  ७३. वाते सलवणं सप्तिः पितो केवलम् विषयते।  
वैद्यो दद्यात् बहुकम्फे क्षारात्रिक्कुच्छान्वितम्।। अ. सं. सु. २५
  ७४. केवलं पैत्रिक सप्तिः वातके लवणान्वितं।  
देयं बहुकम्फे चापि कोषक्षार समचित्तम्।। सु. चि. ३१-१८

१०२. न सप्तिः केवलं वेते पेवे सामे विशेषतः।। च. सु. १३-७४
१०३. शिरोक्त भ्रम निष्ठिव मुच्छर्णा सादवगति कलमैः।  
जानीयात् भैषजं जीर्यत् ...।। अ. सं. सु. २५
- .... जीर्णं तद् शाति लघवात्।  
अतुलोमानिलः स्वात्यं शृतुज्ञोद्गारा शुद्धिभिः।। अ. सं. सु. २५
- स्वुः पच्यमाने दृष्टिहृ श्रम सादवरति वस्तमा:।। सु. चि. ३१-३३
१०४. जीर्णजीर्ण विशंकाम् पुनराणोदकं पिबेत्।  
तेदेऽग्नार विशुद्धः स्वात् ततश्च लघुता रुचिः।। अ. ह. सु. १६-२४
१०५. स्नेहपीतस्य वेतुज्ञा पिवेतुज्ञोदकं नरः।।  
एवं चातुरपश्यान्यं तां स्वेतुज्ञाङ्गाङ्गुना वमेत्।।
१०६. परिच्छालिकाद्विरुद्धाण्याथि जीर्णं स्नेहं ततो नरम्।  
यवागृं पाययेत्योर्ध्वां कामं विलात्त्वं तंदुलाम्।  
देहे युष्मसो चापि सुगंधिः स्नेहं वर्जितो।।
१०७. कृतो वाऽत्तव्यप तर्पिक्षो विलेपी वा विधीयते।। च. सु. ३१-३४, ३५
१०८. १. वातागुलोन्यं दीपान्निः वर्चः स्निधमसंहतम्। मार्दवं लिनाथातो  
चांगे स्निधानामुपजायते।। च. सु. १३-५८
२. सुमिधालाकृ विट् शैवित्य दीपोनिर्मुद्गात्राता।।  
ग्लानिलात्तव गांगानं अस्थानाद् स्नेहं दर्शनम्।। सु. चि. ३१-५३
३. वातानुलोन्यं दीपोनिर्वर्चिः स्निधमसंहतम्।  
स्नेहोद्गा: वस्तमः स्निधे सम्यां रुक्षे विपर्ययः।। अ. ह. सु. १६-३०
१०९. १. पुरीष ग्रीषितं रुक्षं वायुरप्रणो मृदुः।।  
पक्ता खलत्वं रोक्षं च ग्रातस्या स्निध लक्षणं।। च. सु. १३-५७
२. पुरीष ग्रीषितं रुक्षं कृक्ष्युद्गत्रं विपर्यये।। उते विद्युते वायुः।।  
कैषात्प्रपति धावति। दुवपां दुवतात्पैव रुक्षे भवति मानवः।।  
सु.चि. ३१-५१, ५२
११०. १. पांडुतो गोर्वं जाइयं पुरीषस्याविपक्वता।।  
तंद्रामुचिकृत्वलेशः स्यादतिस्निध लक्षणं।। च. सु. १३-५६
२. भवत्ता द्वेषो मुखत्वायोगुद्दहः प्रवाहिका।।  
प्रवृत्तिश्व भूशनिग्राधस्य लक्षणम्।। सु. चि. ३१-५४
३. अति लिनाये तु पांडुत श्राण वक्तव्य गुदस्तवः।। अ. ह. सु. १६-३१
१११. अकाले च हितश्वेव मात्रया न च योजितः।।  
स्नेहमिष्योपचाराश्व व्याप्तेवति सेवितः।। च. सु. १६-७६
११२. १. तंद्रा सोलक्षेश आनाहो ज्वरः संभो विसंजता। कुषानि कंडः।  
पाङ्कुनं शोकाशास्यालिनिग्राधा। जठरं प्रहणी दोषः स्नेहिमत्त्वं वाक्यनिग्रहः।।  
शूलमानप्रदोषस्व जायते नेहविश्वामात्।। च. सु. १६-७५, ७६
११३. मिथ्याजागत् बहुताहीं यस्य स्नेहो न जीर्णति।  
विष्ट्य चापि जीर्णनि वारिणोऽन वामयेत्।। सु. चि. ३१-३१

११३. बातपिताधिकत्योणे तुण्डुङ्गेन्माद कारकः। सु. चि. ३१-२३
११४. .... सर्वहुनरेहेह हत्या संज्ञाच मारयेत्॥ च. सु. १६-७५
११५. तक्कारिष्ट प्रयोगाश्व रुक्ष पानान् सेवेनम्।  
मूत्राणां विफलाश्व स्नेह व्याप्तिभेदज्ञम्॥ च. सु. १३-७८
११६. शुद्धुष्ठोल्लेखन स्वेद रुक्ष पानान् सेवनम्।  
तक्कारिष्ट खलोद्दाल यव शामाक कोद्रवम्।  
पिपली त्रिपला शीद पश्चा गोमूत्र गुणुद्धु।  
यथास्वं प्रतिरोधश्व स्नेह व्यापादि साधनम्॥ अ. ह. सु. १६-२३, २४
११७. स्नेहेन पैतिकस्यानिवैद्य तीक्ष्ण तरी कृतः।  
तदस्योदीरयेत् तुण्डा विभान् तस्य पायेत्।  
शीतेत्तं पायसे तेव तुण्डा तस्य प्रशास्यति। भा. प्र. पू. छं.
११८. १. उज्ज्वलेकोपचारी स्यात् ब्रह्मचारी श्वपणेयः। शक्तमूत्रानिलोद्यारान् उदीणश्व न  
धारयेत् व्यायामपूर्वकेवचनं क्रोध शोको हिमा तदो।  
बर्जत् प्रवातं च स्वेद शेषनाशनम्॥ च. सु. १३-६२, ६३
२. उज्ज्वलेकोपचारी स्यात् .....। प्रवात् यानाध्वमावात्यासनं संस्थिति।  
नीजात्युत्योपथनाहः स्वन् धूम ज्ञाति च। अ. ह. सु. १३-२६, २७
३. .... प्रजागरन् दिव्यस्वर्जनमध्येदी रक्षान् च विकर्षेत्। शा. उ. १-३५
११९. याच्यहानि पिवेतानि तार्कत्यन्यान्यपित्यजेत्॥ अ. ह. सु. १६-२७
१२०. सामा शुद्धतोऽनन्त्रो मध्यमात्रश्व शास्यते। अ. ह. सु. १६-६
- अ. द.—शनने यो रोगस्य शमनाय युज्यते स्नेहः स शुद्धतो जात दुष्कृतिरस्य श्रस्यते,  
जातायां जुःशास्यां, न जीर्णमाने एवावै शोधन इव शमनः स्नेहः पत्र त्रास्य दोषं  
कुपितं सवशेत्तर व्यापितात् शमयाति। यदि युनजीर्ण मात्रेबाने स्नेहोऽयं  
उत्तुभुजितस्येद उत्तुभुजिते तदनी त्वात्सां क्रफादि उपलेपनियन्तरात्पत्तिकोऽसो  
स्नेहो न सर्व शरीर व्याजुते अथात्पृथक्ष न दोषं शमयेत्। तस्माद् शुद्धतः एवाय  
स्वस्यते। स च मध्यम मात्राय अमत्रः केवल एव। ... अच्छ एव येद इत्यर्थः।  
... प्रथमात्राया स्नेहान्ते तु लादु भोजिनो न पापमात्रे आकांक्षा भवति। तदा  
च स्नेहप्रयोगे राजनां च राजियामार्गं गते वा सौकदम प्रायं भोजनं भोजनं मात्रा  
एव।
१२१. १. बृहणो स्स प्रधादैः सभक्तोल्य। अ. ह. सु. १६-१६
- अ. द.—बृहणः स्नेहो स्सः प्रधादैः सह शस्यते। स्स इति अविशेषोक्तो जेषो मांसश्वो  
स्स इति तत्रतोक्ता रसशब्देन मांस स्सोऽत्र वोऽक्त्वा। आध शब्देन शीर खंडादः  
द्ववरुपर्य ग्रहणम्। तथा सहभक्तेनौद्दोऽसी वतते इति सभक्तः शस्यते। एष च  
स्नेहो हस्मियसीतोष्टि मात्रातोऽत्यः॥ अ. द. उत्तुभुजत श्लोक पर।
१२२. १. अच्छयेयस्तु यः स्नेहो तामाहुर्विचारणाम्।  
स्नेहस्य स विषदुष्टः कल्पः प्रायस कोत्यकः॥ च. सु. १३-२६
२. स्नेह सात्यः कल्पेत् स्नेह अच्छयानं हि पूजितम्॥ उ. चि. ३१-२१  
अच्छयेव पिवेत् स्नेह अच्छयानं हि पूजितम्॥

३. यथोक्त हैत्यभावात्त नाच्छयेयो विचारणा।

स्नेहस्य कल्प स प्रेष्ठः स्नेहमिश्रसाधनात्॥ अ. ह. सु. १६-१७

१२३. अच्छश्व पेयः अच्छयेयः ओदान्त्रसंबंधे सति पेय इत्यर्थः॥ च. पा.

१२४. अच्छः केवलो यः स्नेह पीयते सा विचारणा न भवति।

मूर्धादितपर्णादिना तु केवलस्य स्नेहस्य यः उपयोगः सा च विचारणा॥ अ. द.

१२५. स्नेहद्विषः स्नेहतिया: पुद्गुकोष्ठश्व ये नराः।

कल्पेशसहमध्य नित्यास्तोषामिष्टा विचारणा॥ च. सु. १३-२२

१२६. ओदान्त्रश्व विलोपी च रसो मांसं पयोदीषि।

यवाहुः स्पृशाके च गूषः काबलिकः खडः॥।।।

सक्तवात्तिल पिण्ठं च मद्यं लेहस्तावै च।।।

भक्षान्त्रश्वयजन गास्ति: तथा चोत्तरबत्तयः॥।।।

गृह्णः कर्जतेलं च नास्त कणाक्षि तर्पणम्।।।

चतुर्विशतितित्वेतः स्नेहस्य प्रविचारणा॥। च. सु. १३-२३ से २५

१२७. लाक्वतैरिमायूरहंसवाराहा रससंयोगसंग्रह। च. सु. १३-८३, ८४

१२८. स्नेहयंति तिलाः पूर्वं कांबलिकास्तथा। च. सु. १३-८५

१२९. फणितं शूगवेच च... भोजनम्॥ च. सु. १३-८६

१३०. तेल मुराया मडेन .. वातिकः॥ च. सु. १३-८७

१३१. धारोणं स्नेहसुंते .. दद्यः स फणितं। च. सु. १३-८८

१३२. स्सेस्चोपहितः स्नेहः समासव्यासयोगिभिः।।।

षट्भिर्मिष्टिष्ठिष्ठा संख्यां प्राप्नोत्येक्षव्य केवलं।।।

एवमेष्व चतुःष्टिः स्नेहान् प्रविचारण।।।

ओर्केष्व चतुःष्टिः स्नेहान् प्रविचारण।।।

ओर्केष्व चतुःष्टिः पुरुषान् प्रयोग्या जानता भवते॥। च. सु. १३-२७, २८

१३३. सद्य स्नेहमिति तदहरेव। डल्लण सु. चि. ३१-३ पर ८

१३४. बालवृद्धाद्युष्टु स्नेहप्रयोग्या सहित्युष्टु।।।

योगानिमानुद्गान् सद्यः स्नेहप्रयोगाजयेत्।।।

प्रज्यमात्रसत्त्वस्तु येया या स्नेह भर्जिता।।।

तिलचूर्णाश्व स्नेह स्नेहो योग्या द्वयो वा सुगुडः सरः।।।

भीरपेया धूतद्वयो द्वयो वा सुगुडः सरः।।।

पेया च पाचप्रसूतः स्नेहसुंत चंपवेषः।।।

सक्तेस्ते स्नेहाः सद्यः स्नेहस्य लवणान्विताः॥।।। अ. ह. सु. १६-४० से ४३

१३५. चरक में पाच प्रसृति की पेया—  
सापित्तैलवसामज्जा तडुल प्रसृते: शूता

पांचप्रसृतिकी पेया पेया स्नेहान्वित्ता॥। च. सु. १३-६०

१३६. पांचप्रसृतिकी पेया पायसो माष मिश्रकः।।।  
शीरसिद्धो बहुः स्नेहः स्नेहस्य विचारन्तम्॥। च. सु. १३-८६

१३७. पिपलयो लवणं स्नेहाश्वत्वारो दधि मस्तकः।

रजे रज समेश्यो वा देयमेतद् घृतोत्तमम्॥ सु. चि. ३१-३८ से ४४

१३८. लवणेऽपहिताः स्नेहाः स्नेहांत्यविवाक्रमम्।

तदध्यभिद्वरकश्वच सूक्ष्मपुण्यं व्यदायिः च। च. सु. १३-६८

१३९. सर्वं सर्वस्य च स्नेहं चुम्चान्त्यास्वति निर्मले।

ऋतौ साधारणे दोषसाम्येऽनिलकफे कक्षे। अ. सं. सु. २५

दिवाः निशानिते पिण्ये संसर्गे फितवत्यपि। अ. स. सु. २५

१४०. वाताधिके रात्रे उष्णे जापि पिण्येतः।

झतेष्वाधिके दिवा शीते पिण्येत्वामलभास्करे॥। च. सु. १३-१६

१४१. सर्पि शरिति पातव्यं वसा मज्जा च माद्वेदे।

तैलं प्रावृष्टि नाथ्यु शीते स्नेहं तिकेत्वरः॥। च. सु. १३-१८

१४२. तैलं त्वरण्यां शीतेऽपि धर्मेऽपि धूतं निशि।

निश्वन्ध्या वातकप्रकृत रोयास्युः पिततो दिवाः॥। अ. ह. सु. १६-१३, १४

१४३. वसा धूत मश्यच्छिद्युक्ति धूतेवरीरोधैः।

वर्ति मधुतैः कृत्वा लैहिकी धूम माद्वेत्॥। ६-२५

१४४. १. ऋग्वाचरं समिदिनं पं तु स्तिथो नः स्वेदपित्य उक्तः। च. सि. १-६

२. एकाहो परतस्तद्वृत् भुवत्वा प्रचर्दनं पिबेत्॥। च. सु. १३-८१

३. स्नेहाश्वसद्वनं जटुः विरापोपरःः पिबेत्। च. सु. १३-८०

४. न चैव गुदं कंठाभ्यां द्वात्तनेहमन्तरम्॥। च. चि. ४-८

१४५. अथ जाताक्षं पानेभ्यो मारुतहैः सुगंधिभिः।

यथर्तु सरपश्चुत्वेत्वैः। अथगंभाचारेत्॥। अ. सं. सु. ३

१४६. तत्र प्रकृतिं सात्यर्थं देशदेवविकारवित्।

तैलं धूतं वा मतिमान् युज्याद्यंगसेक्योः॥। सु. चि. २४-३४

१४७. १. वर्ज्ञोऽध्यंग कपमस्त कृत संशुद्धानीर्मिभिः॥। अ. ह. सु. २-६

२. केवलं सामदोषेषु त कर्मचनं प्रयोजयेत्।

तथा वित्विलो वातश्च निरूलो यश्च मानवः।।

पर्वयोः कृद्युक्ता व्याधेरसाच्चमथापि नाम॥।

शूष्णां तबहः प्रोक्ता अग्निमाद्यादो गवः।।

संतप्तं समुद्धानं रोणां नैव कारयेत्॥। सु. चि. २४-३५ से ३७

१४८. शिरः श्रवणं पादेषु तं विशेषणं शीलयेत्॥। अ. ह. सु. २-६

१४९. डह्ण-अथंगोऽत्र सकलं शरीरं कणांदितं स्नेहस्य शिरमुखादिभिः। शरीरसंतर्पणकाल

केवलकृ पठति— ‘रोमांतेष्वनु देहस्य त्वित्वा भावं शतत्रयम्।

ततः प्रविशति स्नेहाश्वत्वाभिन्नाति त्वचम्।

एकतं गच्छति मात्राणां शैतैः पंचभिरेव तु।

षड्भिर्मसि प्रपद्येत् मेदः सत्तमिषेव च।

प्रतीस्तप्ताभिरस्थीनि मज्जानं नवभिर्विजेत।

तत्रस्थान् शमयेत् रोगान् वातपित कफात्सकम्॥।’

१५०. १. अथंग आवर्तेन्तरं स जरा-श्रम-वातहा।

दुष्टिः प्रसाद पृथग्युः स्वन सुत्कृ दार्ढ्यं कृत्॥। अ. ह. सु. २-४

२. तथा शरीरमध्यगात् दूँहं सुत्कृ च जायते।

न चाभिधताभिहतं गात्रमध्यं संसहम्॥। च. सु. ५-८५

विकारं भवते इत्यर्थं बलकर्मणि वा कवचित्॥। च. सु. ५-८८

सुप्यशोपितागश्च बलवान् प्रियदर्शिनः।।

भवत्यथग्या नित्यत्वाद् नरोऽल्पजर एव च॥। च. सु. ५-८८

३. अथंगो मार्तिवकः काकवात निरोद्धिनः।।

धातुनां द्विजनानो मुञ्च वर्ण बलप्रदः॥। सु. चि. २४-३०

४. स्पशनिभ्याधिको वायुः स्पर्शं च त्वग्याश्चित्॥। च. सु. ५-८७

त्वचश्व परमोऽयगः तस्मात् शीलयेत्रः॥। च. सु. ५-८७

५. स्नेहाश्वाध्याद्या कुंभश्चर्चम स्नेह विमर्द्धात्।।

भवत्युपांगं दक्षश्च दृढं क्लेश सहो यथा।।

तथा शरीरमध्यगात् . . . . .॥। च. सु. ५-८५

१५३. खरवं स्तव्यता रौक्ष्यं श्रमः सुप्तिश्च पादयोः।।

सद्य एवोपशाख्यति पादाभ्युग्यं निष्विवात्॥।

जायते संकुमार्यव बलं स्वैर्यं च पादयोः।।

दुष्टिः प्रसाद लभते मारुतश्चेषप्राप्यन्यत्य।।

न च स्याद् गृष्णसी वातः पादयोः स्पृत्वां न च।।

न शिरा सायुं संकोचः पादाभ्योन पादयोः।। च. सु. ५-६० से ६२

१५४. देवे प्रलेपनार्थं तल्लेप इत्युच्यते द्वयैः। परिशाशा खंड-द्रश्युणविज्ञान स त्रिविधः प्रलेपः।।

प्रेदेहः आलेपश्व।।

तत्र प्रलेपः शीतस्तु रविशोषी द्य, प्रदेहस्तु उष्णः, शीतो वा, बहुतोऽजहलो

बहुरिशोषी, मध्याऽयत्र आलेपः॥। सु. सु. १८-८

१५५. च. चि. २६-१२४ से १४६ तक में लेप, सेंक, उपनाहादि का वर्णन है।।

१५६. सु. चि. ५-८, १२

१५७. शार्ङ्गाद्य-उत्तराखंड अ. ११

१५८. अस्यापूर्वकत्वाद् उद्वर्तनस्य तमुत्परिमाजनमुद्धरनं छूते। च. पा. च. च. ५-६३,

६४ पर

१५९. शिरः श्रवणं पादेषु तं विशेषणं शीलयेत्॥। अ. ह. सु. २-६

१६०. उद्वर्तनद्वारं प्रविलापनीय विलापन काम्।।

उद्वर्तनमस्नेहैषश्च द्वृणादिभिर्गम्॥।

स्नेह वर्तनेन्द्रियविषय उत्तादनम्॥। डहण सु. चि. २४-५६ पर

१६०. १. वौरीधिं गौरवं तद्रा केहमलमरोचकम्।  
स्वेद बीभत्सता हृति शरीरपरिमार्जनम्॥। च. सु. ५-६३
२. उद्भृतिने कफहृद मद्दसः प्रविलापनम्।  
स्थिरीकरणमगान् त्वक् प्रसादकरं परं॥। अ. ह. सु. २-१५
३. उद्भृतिने वातहरं कफमेवो विलापनम्।  
उद्भृणोल्लातनाभ्यां जायतेनसशयम्॥।
४. सिरामुख विविकात्वं त्वक्शस्यामेष्व तेजसो।  
उद्भृणोल्लातनाभ्यां जायतेनसशयम्॥।
१६१. तं कृत्वाऽनुजुखं देहम् मद्दिव्यां समंततः।। अ. ह. सु. २-१२
१६२. न्मेहाभ्योपनाहस्व शिरो प्राते कुर्याद्याम्बिमोक्षणम्।। सु. चि. २४-५१  
लक्षणमासुक् शिरो प्राते कुर्याद्याम्बिमोक्षणम्।। सु. चि. ४-६  
न्मेहोपनाहानिकम्-बधनोभूद्धनादि च।
१६३. वातव्य तैलैरभ्यं गौजिं तैलं विमर्दनम्।  
न्मेहोपनाहानिकम्-बधनोभूद्धनादि च।
१६४. व्यायाम स्विन्न गात्रस्य पद्म्यां उद्भृतिस्य च (उन्मादितस्य च पाठतरं)  
व्याख्यो नोपसर्पति सिंह शुद्ध मुगा इव।। सु. चि. २४-४०  
डल्हण, सु. चि. २४-४० पर
१६५. कुलत्वय यथ कोलति न्मेहोल्लात विप्रावयो।  
सकार्यांगावाहात्र पान नस्याऽवासने:। अ. ह. चि. २१-२६
१६६. सेकः सर्वागणितेकः। सु. चि. २४-२६ पर डल्हण
१६७. सेकः श्रमग्रोनिलहृ भ्यनर्मिधि प्रसादकः।  
क्षतानिदधाधोभितः विष्टुष्टानं रुजापहः।। सु. चि. २४-२६
१६८. सु. चि. १-२२ तथा २६, ३०, ३१, ३२।
१६९. जल-सिक्तस्य वर्धते यथा मूद्देऽनुजुक्तरात्सरो:।।
१७०. तथा धातु विवृद्धिं न्मेह-सिक्तस्य जायते। सु. चि. २४-३०
१७१. च. चि. २६-३२ च. आगे।
१७२. सु. चि. ५-१८
१७३. ग्रीति निद्राकरं वृष्णं कफवात श्रापहम्।  
संवाहनं मास त्वक् प्रसादकरं परो।। सु. चि. २४-६१
१७४. डल्हण— संवाहनं सुखकरपर्याप्ति, मद्दिव्यां गौदं पात्राभ्यां आत्रभ्य कटि पर्याप्तम्।  
अमितप्रभ-टीकाकारस्तु हस्ताभ्यां शनैः शनैः आवाहनं इति वदति।।
१७५. वातरक्ते प्रशस्येते मृदु संवाहनानि च। सु. चि. ५-१६
१७६. तत्रद्रवेष्ण गंड्सः कल्पेन कवलः स्मृतः॥। शा. उ. १०-४
१७७. चतुर्षकारो गंड्सः स्त्रियः शमनशोधनै।  
रोपणस्वं प्रयत्नं क्रियु योज्या चलात्सु।  
अंतो व्रणजः स्त्रियाऽत्र स्वाद्वस्तु पृष्ठ साधितैः।
१७८. चतुर्षकारो गंड्सः कल्पेन कवलः स्मृतः॥। सु. चि. ४०-६२  
असचार्या तु या मात्रा गंड्सः परि कीर्तिः॥। सु. चि. ४०-६२
१७९. हनोर्बलं स्वरवलं वदनोपचयः परः। स्यात्सरं च रसज्ञानेमन्त्रे च गोविरुतमा। न चास्य  
कठं शेषः स्यात्रोष्योः सुर्त्नाद्वयम्। न च दंता क्षयं यांति-उद्धृत्वा भवतित्वं।।  
न शूल्यते न चाल्लोने हृष्टयते भक्षयतित्वं। परानगिखरान् भक्ष्यान् तैलं गंड्स धारणात्॥।  
च. सु. ५-७८ से ८०
१८०. दंतदार्ढयकरं रुच्यं सोहं गंड्स धारणाम्। सु. चि. २४-१२
१८१. दंत हृष्टं दंतवाले गुच्छरोगे च वातिके।  
सुखोपायमयाशीति तिलकल्पोदकं हिंतो:।। अ. ह. सु. २-५
१८२. विष्टारात्मि दर्घेत्वं सार्पिधार्यं पद्मोद्धवा। अ. ह. सु. २-६
१८३. मन्त्राशिरः कर्णं मुखाक्षिरोगः, प्रसेक कठामय वक्त्रं शोषणः।  
हृल्लासत्रां रुचि योग्यां विशेषत् कवलं ग्रहेण।। अ. ह. सु. २-१९
१८४. कफपूर्णस्यता यावत् त्वक्त् ग्राणाक्षतोऽथवा।। अ. ह. सु. २-१९  
तावत् धारयितव्योऽन्यमनसोऽन्त देहेन यावद्वेष परिपूर्ण कपोलतं नासा स्त्रोतो नयन  
परिष्ठावस्व भवति तद्रा विमोक्षव्यः पुनर्शायाच्यो गृहीतव्य इति। सु. चि. ४०-६३
१८५. व्याधोपचयस्युत्तिवैश्वयं वक्त्रं लाघवं।  
इंद्रियाणां प्रसादस्त्वं कवलते शुद्धिलक्षणं।।  
हीने जाइय कपोलतेशावस्त्रसामेव च।  
अतियोगान् मुखे पाक शोषस्तुज्ज्ञा शीघ्रकलमाः॥। सु. चि. ४०-६५-६६
१८६. नित्यं स्नेहाद्व शिरसः शिरः शूलं न जायते।

- न खलित्यं न पालित्यं न केशा: प्रपतंतिच ।।  
बतं शिरः कपालानां विशेषणाभिवर्धते ।।  
दुष्ट मूलाक्ष दीर्घाक्ष कृष्णा केशा भवति हि ।।  
इदियाणि प्रसीदति सुखं भवति चाननम् ।।  
निद्रालाभः सुखं च स्यात् पूर्णितेल निषेवणात् ।। च. सू. ५-८९ से ८३
१८६. अध्यंग सेक पिचवः बहिस्वेति चतुर्विष्म ।।  
मूर्धैतेलं बहुणं तद्विद्यातुरोत्तरम् ॥ अ. ह. सू. २-२३
१८७. विशेषणांस्तथा रोगाच्छिरोऽन्यांप्रवर्णति ।।  
केशाना मार्दवं दैर्घ्यं बहुत्वं लिप्तकृतात्मम् ।।
- संतप्तं चौंदियाणां शिरस्तुमि सुलक्षणम् चाननम् ।।
१८८. मधुकं क्षीरं शुक्लां च . . . इ. पर इहान— (क्र. ३ देखेः)  
चक्रतेलं यंत्रपाडितं तेलम् ॥ सु. चि. २४-२७, २८ पर
१८९. मधुकं क्षीरं शुक्लां च सरलं देवदानं च ।।  
क्षुद्रदकं पंचनामानं समभागादि संहोतैः ।।
- तेषां कलकं कथायाऽयां चक्रतेलं विपाचयेत् ।।  
सदैव शीतलं जटोमूचिं तैलं प्रदापयेतः । सु. चि. २४-२९, २८
१९०. त्राघ्यंगो प्रयोक्तव्यो रोक्षं कंडं मताद्विष्म ॥ अ. ह. सू. २२-२४
१९१. अरुणिका शिरस्तोदं दहं पाक वणेषु तु । परिषेक . . . अ. ह. सू. २२-२४
१९२. वातच दशमूलादि सिद्धं क्षीरेण सेचनं । अ. ह. ३. २४-३
१९३. शिरोविरक संकादि सर्ववीरीपं तृच्छ यत् । च. सि. ६-७३
१९४. पैते धूतं पयः सेंका: शीता लेपा: सनावनाः ।। च. चि. २६-१७६
१९५. १. वातश्चिद्दैः क्षीरश्च सुखोष्णैः सेकमाचरेत् । सु. चि. ३. २६-५  
२. पितालकं समुत्त्यानौ शिरोरोगे निवारयेत् ।  
शिरोलेपैः स सप्तिकैः परिषेकैऽवृश्च शीतलैः ।।
१९६. क्षीरशुक्लस्तथान्याम्बलं मस्तु क्षीरस्तिता जर्तैः ।। सु. उ. २६-१२, १२  
स्वर्णाद्युत्तमलोहजस्तु करको मूलं भवते वात्र तत् ।।  
द्विप्रस्थःप्रग्नितो निधयं इति वा मध्यस्त्रादद्याहो ।।
१९७. योज्यं स्वेहं चतुर्ष्टयं च तिलजं वा तत्र शुद्धेऽनिलेऽपि ।  
पितेऽन्ने च धूतं, कफे तु तिलजं वा तत्र पिताविते ।।  
तैलाज्ञं तु समं कफेन सहिते तैलार्धं भागं धूतम् ।। धाराकल्प
१९८. धारोच्यं चतुर्गुलं तु शिरसः सेंके ।।  
अल्पुण्ठिपं च मद्कोपसमये मदात्मे शीतले ।।
१९९. कुर्वन्नवरहकेऽपि च भिषण् रात्रौ तथा सेचनम् ।। धाराकल्प

२००. धारायाश्चावसने निजादशमप्रोक्तं सार्पिण्व सेव्यम् ।।  
तत्काले चावसंस्थः कथमपि वस्तु प्रीतिमारेष रोगी ।।  
कायवक्त्वेशानशेशान् मनिसि सुखहान् वक्त्रविळिहा सुखादीन् ।।  
तत्काला पाठीर शुद्धाक्षरं विष्वृत वपुवेद विनान्तुल्यः ।। धाराकल्प
२०१. धारायत्स्वेकं वर्षातप हिमं परि शोषातिशुद्धं प्रकीर्णिम् ।।  
धात्री प्रस्यं सपादं, भिषणं पटुथीः संस्तजेत्त्रिभास्याः ।।  
उत्कालायाश्चात्मकारव्यमित कुडवं जले षष्ठ्यागावशिष्ठु ।।  
तच्युल्यं चाम्लतत्रं विधिरिति मुनिभिः प्रोक्तं आत्रेयमुख्ये ।। धाराकल्प
२०२. Ayurvedic Treatment of Kerala, Page 37 to 39.
२०३. केशादीनांश्वं शौकर्वतं वलमपि तुरुतां दोषकोपं शिरोकालाबाधानोजः क्षयं  
तत्करवरणप्रस्तमोटनं मूत्रदोषेन । संविधानं विस्तरश्वतं हृदयलालुचीं जाठरानेश्व माय्यम् ।।  
धात्रीं तकोत्थारा हरति शिरसि वा कणिनिमायोध्यम् ।। धाराकल्प
२०४. स्त्रैविष्वाण् मनसौः शरीरबलं मध्याहारं कलंका शूर्तिमाधुर्यं वचस्त्रत्ववोऽपि शुद्धता नेत्रे  
प्रकाशोऽग्नः । शुक्राहुं यागियोषाणं रत्नतिदीयायुर्लपाभ्याता । सुखानं शूततेलसेचन  
गुणोनाऽस्तीह जाग्रस्तुम् ।। धाराकल्प
२०५. पिचुः केशपात सुटनं धूपने-नेत्रसंभेद्व ।। अ. ह. २२-२५
२०६. विधितस्य निष्पात्य पीठे जातुसमे मुंदो ।।
१. शुद्धाक्षरं स्विन देहस्य दिनोति गज्यभाषिम् ।।  
द्वादशगुलं वित्तीणं चम्पाङ्गुः शिरः सम्पम् ।।  
आलकणं बंधनं स्थानं लालाटं वस्त्रं वेष्टित् ।।  
चैलवेणिक्या बद्धा भाष कल्केन लोपयेत् ।।  
ततो यथा ल्याधि शुतं स्नेहं कोणं निषेचयेत् ।।  
त्रिव्यक्तिशूलो यावद् द्वयगुलं धारयेच्च तम् ।। अ. ह. सू. २२-२६ से २६
२. शिरोबस्ति विधिस्तु बल्ति सुमुदितं . . . वा भवति ।। अ. सं. सू. ३-३०  
स्वंस्यादि मद्येत् मुक्तासेहस्य ।। अ. ह. सू. २२-३०
२०८. दशाहीच चलाद्विषु । मात्रा सहस्राणि ।  
नामास्य शोषे तिमिरं शिरोरोगेच दारुणे । अ. मे. सू. २२-३०  
अर्हन्ते त्वेकम् ।।
२०९. उपनाहः शिरोबस्तिर्दहनं चात्र शस्यते । च. सि. ६-७८
२१०. त्यजे ताप्याति स्वर्णे शूक्रं स्फङ्गविलेशणे ।  
कृच्छ्रिम्नलाशिराहर्व शिरोत्तात तमाजुनिः ।।  
स्वंस्यान्त्यतोवात वातपर्यायं शुक्रकैः ।।  
आत्मे शातारागाशूलं सर्वभूषिकैः ।।  
निवाते तपणं योज्य ।। अ. ह. सू. २४-१, २, ३

२१२. निवाते तर्पणं गोद्वं शुद्धवोर्धि काययोः।  
काले साधारणे प्रातः सायं चौतान शायिनः॥  
यवमाषमयी पाली नेत्रलोषाद् बहिः समाप्त।  
इयंगुलीच्छां दुडा कृत्वा यथात्वं सिद्धमावपेत।  
मार्पनीमीलिते नेत्रे रुसांतु प्राविलापिते।  
नक्ताधवात तिमिर कृद्धन्वाधादिके वसाम्॥  
आपक्षमाग्रात् अथोन्मेषं शनकैतस्य कुर्वते। अ. ह. सु. २४-४ से ६
२१३. कुलवाऽपगे ततो द्वारं स्नेहं पाते तु गलयेत्।  
पिबेच्च धूमं नेश्वत व्याम रूपं च भास्वरे। ख्लोक ६
१. मात्रा विगणयेत्र वर्त्त संधि सितासिते।  
द्वितीये च क्रमशः व्याधी शत ग्रीष्मि च पञ्च च।
२. शतानि सप्त चाष्टी च दश मध्ये द्विसानिले।  
पिते शट् स्वस्यवृते च बलासे पञ्च धारयेत्।
३. इत्यं प्रतिदिनं वायौ पितोनेवतरं कर्कं।  
स्वत्थे च द्व्यतेर दधादत्वसेति योजयेत्।
२१४. प्रकाश भमता स्वास्थ्यं विशदं लघु लोचनं।
२१५. औषधं औषधं सिद्धो वा स्नेहं नासिकाभ्यां दीयत इति नस्यां। सु. चि. ४०-१९
२१६. न कर्णरोगा वातोल्पा न मन्या हुं संग्रहः।
२१७. शुद्धन्यां औषधं शूलाङ्गं कर्म तर्पणात्॥ च. सु. ५-५४
२१८. शिरःश्रवणं पादेषु स विशेषणं शीलयेत्॥ अ. ह. सु. २-८
२१९. मस्तिक्के चैव नस्ये च तैलं वातहरं हितम्॥ सु. चि. २२-२३
२२०. डुङ्गण—मतिक्कः: शिरोबलिं प्रकारः॥  
अन्ये तु पठति 'मस्तिक्के चैव नस्ये च' इत्यादि।  
अत्र मालिक्यं मतिक्के हिं आयंगा तैलं पितु धारणशिरो इत्यादि।
२२१. तत् सिद्धधर्यसैः: वापि उच्चाब्लूप्तां लेपयेत शिर।  
स्त्रिवैर्वा मत्यं निशितैः कृशेवं समेच्छैः॥ . . . . .
- नलं बंजुर कहवार चद्वात्पत्त एव्यक्तैः।  
कंशं शैवल यष्ट्वाद्वृत्ताभोरुह सद्युतैः।
- शिरः प्रलेपे स घृतैः: वैसिरिष्व तयाविधैः॥ सु. उ. ३६-६, १३, १४
२२२. देव्य— The Ayurvedic Treatment of Kesarī, पृष्ठ ४५.
२२३. शरीरबलमाधाते युक्तं सोहावगाहने। सु. चि. २४-३१
- डुङ्गण—अवाहनम् भजनम्।
२२४. सोहमयोऽयं (स्नेह सारोऽयं-पाठतर) पुरुषः।  
प्राणस्त्र स्नेह शूष्यिष्वाः स्नेहसाधार्थं भवति। सु. चि. ३१-१
२२५. १. स्नेहोऽनिलं हीति मुद्द करोति देहं मलानां विनिहति संगम्। च. चि. १-१७  
२. वीसतांतरानिः: परियुक्तोष्ठः प्रत्यप्रथातुर्लवण्युपुत्तः।  
दुर्बेन्द्रियो मंत्तरः शतायुः स्नेहोपयोगी पुरुषो भवेत्॥  
स्नेहो हितो दुर्बल वह मैद्वेदः संशुद्धणे व्याधि निपीडितस्य।  
बलान्वितो भाजन वोष जाते: प्रमादिते तो सहसा न साध्यौ। सु. चि. ३१-५६,
२२६. मस्तुलुगं क्रणात् स्वेतो। सु. चि. २-६६.  
डुङ्गण—मस्तुलुगमिति शिरसो बलाधानं स्वानधृताकारं मस्तुलुगमुच्यते॥ ५७
२२७. मासिक्कस्याधार्जिलिः॥ च. शा. ७-१५
२२८. शिरसिं च इंद्रियाणि इंद्रियं प्राणवहनि च स्नोतांसि सूर्यमित्र गायत्र्यम्: संश्रितानि॥  
च. सि. ६-४
२२९. शिरस्याभिहते मन्यास्तंभादितं चक्षुविभ्रम मोहोद्वेष्टनं चेष्टानाश कास-श्वासहनुग्रह मूक  
गद्यदत्ताक्षीतीमीलनं गड्डपद्मनं चूर्भाण लालात्तात्र खरहनि वदनं जिह्वात्तादीनि।  
च. सि. ६-६
२३०. गैव पित्तधारा सैव मजनधारा इति . . . . .॥ डुङ्गण—सु. उ. ४-४० पर  
during the first 2-3 hours and causes weak digestive juice during the  
subsequent hours. The stimulating effect of fat during the second phase of  
its action must be attributed to the products of fat conversion and  
transformation. In this respect glycerol has proved inactive; where is the  
fatty acids and the soaps stimulate the gastric glands.  
"Text book of physiology by K. M. Bykov. Page 265
२३१. कर्मणां वमनादीनां पुनरर्थतेरउत्तरे।  
स्नेहस्वेतै प्रयुजीत लहमते बलाचन। अ. ह. सु. १८-५७
२३२. स्नेहद्वर्तं प्रयुक्तेन स्वेदनावजितेऽनिले।  
पुरीष मूत्रतोत्तासि न सज्जांति कर्यचन। च. सु. १४-४
२३३. तित्तिनाथात् पाप्रात तथा तेऽयं अयलेन प्रयुद्यते।  
कर्मात्वात् पाप्रात तेऽयलेन प्रयुद्यते।  
तित्तिनाथात् तित्तिनाथाहृतथौषधे॥ च. सि. ६-११
२३४. किनाटं वासो यथोत्तेनेष्य मलः संशोध्यतेऽभसा।  
स्नेहस्वेतस्तथोल्लेश्य शोधते शोधनमतिः॥ च. सि. ६-१२
२३५. गुलात्यु यथा वस्त्रं प्रत्यवत्याधिकं यथा।  
यथानिजर्जियति स्नेहस्वा स्ववति चाधिकः॥ च. सु. १३-६६
२३६. च. पा.—'नु अन्याधिकश्वेतत्ववति, तदविधि च स्नेहतक्षणमुक्तं युज्यते अथसात्  
स्नेह दर्शनमिति।'

२३७. यथा चाक्कलेश मूर्तिरुद्धमसिकं त्वया जर्णः।  
त्ववति, तंसते स्नहतश्चा त्वरित सेवितः ॥ च. सु. १३-६७
२३८. सोहस्रेद् प्रवालिता स्वेस्थिरादीरिता ॥
- कोषा कोषागता जातौ सुखाहंतु विशेषयैः ॥ सु. चि. ३३-४७
२३९. देव्ये—संदभग्रथी की यादी के ग्रन्थः ।
२४०. सेहना जीवना वर्षा वलोपदय वर्धनः ॥ सेहनः च. सु. १-८८
२४१. ग्राम्यात्पौदकानां तु भित्वास्थिति पवेत् जले ।  
नं स्मैह दशमूलस्य कणायेण पुनः पवेत् ॥
- जीवकर्षभक्ता स्मैत विदरी कपिलद्वयेभिः ।  
वातैर्वैर्जीवनीयेश्व कलैकैर्द्विर्भागांकां ॥
- तस्मिन्द्वं नावनाभ्यांगातश्च पानानुवासनात् ।
- सिरा पर्वास्थि कोष्ठस्यं प्रणुदव्याशु मारुतम् ।
- दे स्युः प्रक्षीणमज्जानः क्षीण शुक्रजसाश्च ये ॥
- बल पुष्टिकरं तेषां एतां स्वादमूलोपमम् ॥ च. चि. २८-११४ से १२७
२४२. तद्वत्सिद्धा वसा नक्त मस्त्य कूर्म तुलू कजा ।  
प्रत्यग्रा विद्यना तेन नस्य पानेषु शस्यते । च. चि. २८-१२८
२४३. सेहमेव परं विद्याद् तुर्बलानल दीपनं ।  
नालं स्वेह सामिद्द्यश्च शामायानं सुणुर्विषम् ॥ च. चि. १५-२२८
- यथाहि सारदवर्णनः स्थिरः: संतिष्ठते चिरम् ।
- सेहान्न विधिभासद्वल अंतरानभवेत् स्थिरः ॥ च. चि. १५-२१३
२४४. संतर्पयति च: स्त्रियमधुर्युकुरु पिच्छितैः ।  
रोगास्तस्योपजायते सतर्पण निमित्तानां ॥
- प्रमेहकंडू पिडका: कोष्ठ पांडवामय ज्वराः ॥
- कुष्ठान्यास प्रलोषेऽश्रु मूरुक्क्षमरोचकः ॥
- तद्रा क्लैव्यमति स्थोल्यमालस्य गुरु ग्रात्रता ॥
- इदियः त्वोत्सां लेपी बुद्धेऽर्थाः प्रमीलकः ।  
शोफाश्वैर्वं विद्याश्चान्य शीघ्रमप्रति बुर्वतः ॥ च. सु. २३- से ७

## स्वेद-विज्ञान

स्वेद की व्याख्या—जिस प्रक्रिया में शरीरस्थ स्वेद या पसीना निकला जाता है

उसे स्वेद करना या स्वेदन कहा जाता है। स्वेदन की व्याख्या करते हुए कहा गया है, जो शरीर की जकड़ाहट दूर करें, भारीपन दूर करें, शीत को दूर करें और पसीना लावें उसे स्वेदन कहते हैं। स्वेद शब्द वैय्याकरणीय निरुक्तिं इस प्रकार है—  
‘स्वेदन कहते हैं।’ स्वेद भावे घञ् पु.., पाकभेदे, धर्मे ग्रात्रादितो जलादेः निःस्वेदने । घिञ् भावे त्विद् भावे घञ् पु.., पाकभेदे, धर्मे ग्रात्रादितो जलादेः निःस्वेदने । घिञ् भावे अच् ।

‘स्वेदन्-न, त्विद्-पिञ् त्वुद् । ग्रात्रादितो अमदि: निस्सारण व्यापारे । स्वेदशब्दे दुष्यम् ।’

अर्थात् ‘स्विद्’ घञ् प्रत्यय से तथा भाव वाचक णिञ् और अच के द्वारा ‘स्वेद’ शब्द बनता है। जिसका एक अर्थ है—पाक भेद और दूसरा अर्थ है—गीष्ठ ऋतु में शरीर से निःस्वेद निरुक्तिं पसीना। पाकभेद से मतलब ‘पचाना’ है। सामान्य बोलचाल में भी तड़ल को स्विन्न करना इत्यादि प्रयोग स्वेद पाकार्थ में प्रयुक्त है। स्वेद जो शरीर का धर्म है—उससे करणाधिकरण करण बोधक णिञ् और त्युट्र प्रत्यय से स्वेदन यह नपुंसक लिंगी शब्द बनता है—इसका अर्थ है—शरीर से पसीना निकलना ।

स्वेद का सामान्य परिचय—स्वेद यह एक शरीरांतरत मल है। मेद थातु का मल स्वेद है।<sup>३</sup> शरीर को मलिन करने के कारण इसकी मल मजा होती है। तथापि प्रत्येक मल का अपना एक विशिष्ट कार्य भी होता है। स्वेद से शरीर के क्लेद का धारण किया जाता है।<sup>४</sup> क्लेद यह एक आप्य घटक है, जो शरीर के आप्यधक्कों को नियत प्रमाण में रखने के लिए महत्वपूर्ण काम करता है। मूत्र के द्वारा क्लेद का बहन होता है और स्वेद से बाहर धारण। इस तरह शरीर के कई सारे आयांश क्लेद में रहकर मूत्र और स्वेद से बाहर निकल जाते हैं। शरीरस्थ उदक का प्रमाण दस अंजली बताया है और कहा गया है कि यह मूत्र में, मल में, व्रण के लक्षिका में, सस में, रक्त में तथा त्वचा में होता है। उषा के द्वारा स्वोतोविकास होने पर त्वचा से स्वेद के साथ निकल जाता है। अरुणदत्त का कहना है कि शरीर की मध्यम त्वचा क्लेद के बिना रह नहीं सकती। स्वेद से केश और रोमों का भी धारण होता है।

स्वेद की उपति उषा से होती है। स्वेद का निकलना यह शरीर की एक प्राकृति है। स्वेद के अस्वेद और अतिस्वेद रोगों के सूचक होते हैं।

शारीर में स्वेद या पसीना उत्पन्न करने की प्रक्रिया ही पर्याकरणकृत (पूर्व कर्मोंका) स्वेद प्रक्रिया है। जैसे वर्मनादि सभी कार्यों में स्वेद पूर्वकर्म है, जैसे ही स्वेद भी पूर्वकर्म है। यह वर्मनादि के पहले और स्वेद के बाद में किया जानेवाला कर्म है। प्रायः सभी शोधनों में स्वेद पूर्वकर्म है। प्रायः कहने का कारण तुच्छ खास अवस्थाओं में बिना स्वेद के भी वर्मनादि किये जा सकते हैं, यह है। कुछ ऐसा जहां पितृ प्रधान है तथा अन्य रोगों में भी पितृ लक्षणों को देखकर स्वेद न कर वर्मनादि किये जाते हैं।

स्वेद यह वात और कफ के रोगों के लिए बहुत अच्छी चिकित्सा पद्धति मानी गई है।<sup>१</sup> वातकफात्सक रोगों का समान्यतः स्वेद से प्रशम होता है। लेकिन कहां वातकफात्सक सभी रोग स्वेद से अच्छे होते हैं ऐसा नहीं है। अगर वातकफ के समष्टि विकार हो—उदर, कामलादि उनमें स्वेद का उपयोग नहीं है। अतः स्वेदसाध्यों की जो नामावली दी है उनमें वातकफात्सक रोगों पर विशेष उपयोग समझना चाहिये।

वर्मन-विरेचन-बस्ति इत्यादि के पूर्व स्वेद करना होता है। ततस्तु पुरुषं यथोक्तं स्नेहस्वेदास्थापुपाद्येत् । 'ततस्तु पुरुषं यथोक्तं स्नेहस्वेदोपचारं' ऐसे वचन बाबार मिलते हैं। कुछ प्रक्रियाओं में प्रधानकर्म के बाद भी स्वेद-पश्चात्कर्म के रूप में करने का आदेश मिलता है। उदाहरण बस्ति के बाद मुखोजा जल का स्वेद या अवाह करने का निर्देश है। यद्यपि स्वेद पूर्वकर्म है और कभी-कभी पश्चात्कर्म भी होता है, तथापि इसका 'प्रधान कर्म' की चूषि से भी प्रयोग चाहीर है। चास्फ ने षड्प्रक्रमों में इसका समावेश कर इसे चिकित्सा का मुख्य प्रकार माना है। जहां शोधन के लिए इसका प्रयोग किया जाए वहां इसे पूर्वकर्म मानना चाहिये और स्वेदसाध्य व्याधियों के लिए जहां इसका प्रयोग किया जाएगा, वहां इसे प्रधान कर्म मानना चाहिये। चास्फ ने षड्प्रक्रम में इसका समावेश किया है यह बात इसके चिकित्सा में श्रेष्ठत्व की ओर महत्व की पूरक है।

स्वेद के विपरीत कर्म को 'संतंभन' कहते हैं। षड्प्रक्रम में संतंभन चिकित्सा का भी समावेश किया जाता है। संतंभन वह कर्म है जो गर्तिमान-घृणने-फिरने-बाले शरीर पदार्थों को स्थिर करता है। यहां गतिमान का अर्थ केवल वायु ऐसा नहीं है— अधिक अतिसार, रक्तात्मा और विषवेग, दाहवेग, वेदनावेग इन सभी के लिए रोकनेवाली चिकित्सा संभन होती है।

ख्वेद का चिकित्सा शास्त्र में बहुत महत्व है। स्नेह के बाद ख्वेद प्रयोग से (स्नेहनखेदन से) मल मूत्रादि की गतियां अबाधित रहती हैं, स्नेहवेद किया जाए तो सूखी लकड़ी भी नमाई जा सकती है, फिर सत्त्व और संकुचित जीवित-शरीर के अवयवों को नमाया जा सकता है इसमें क्या सन्देह ? इस गुणकारी ख्वेद प्रयोगाका विचार प्रस्तुत किया जाता है।

ख्वेदन द्रव्यों के गुण एवं कर्म— ख्वेद द्रव्यों में प्रायः निम्नोक्त गुण होते हैं— अथवा यूं कहिएँ कि इन गुणों से उपकृत द्रव्य प्रायः ख्वेदन करते हैं—

१. उच्चा	२. तीक्ष्णा	३. सर्
४. स्त्रिगम	५. रुक्षा	६. सूक्ष्म
७. द्रव	८. स्थिर	९. गुरु
इनमें से सर, स्त्रिगम, द्रव और गुरु ये उपन स्वेच्छाओं में भी होते हैं— और इन विचार पीछे किया गया है। शेष गुणों के लक्षण एवं कर्मों का यहां विचार करेंगे।		

३. रक्ष—यह स्त्रियों का विपरीत हुआ है। लक्षण में इसलाल का अभाव है। इसलाल अर्थात् एक दूसरे का विरोधी न समझे औपरु आगे कहे गये अनुसार बताये गये हैं। इसलाल अर्थात् एक दूसरे का विरोधी न समझे औपरु आगे कहे गये अनुसार रक्षस्वेद में रक्ष गुण और स्त्रियों स्वेद में स्त्रियों गुण की आवश्यकता है। ऐसा करना चाहिये। स्त्रियों का उत्तादन बल उत्पादन ये स्त्रियों के कार्य हैं। तदिपरीत रक्ष स्त्रियों के उत्तादन करता है। यद्युता को दूर कर दुड़ता करता है। वर्ण नाश और बल नाश करता है। रक्ष का विशेष गुण है संभन्न करना और खतरा उत्पन्न करना। १३ यह स्पर्शग्राह्य गुण है। रक्ष का विशेष गुण है। १४ हेमाद्रि ने जो शोषण करें वह रक्ष है। ऐसी गुण है। वायव्य और आनेव प्रधान है। १५ जहां आम का प्राधान्य हो, शोषण व्याख्या की है। यह वातकर और कफहर होता है। १६ जहां आम का प्राधान्य हो, शोषण की आवश्यकता हो, गुर्ज और शिथिल अवयवों को कठिन करना हो वहां रक्ष का उपयोग स्वेद में होगा।

४. स्थिर<sup>१७</sup> — स्थिर गुण सर के विपरीत कर्म वाला है। सरगुण के अनुलोमन होता है—आगे बढ़ने की, बढ़ने की प्रवृत्ति होती है। स्थिर प्रतिलोमता कारक वात और मल को रोकने वाला गुण है। यह वास्तव में संभन्न द्रव्यों का गुण है। यहां विपरीत होते हुए भी उसे लेने का कारण स्थिररक्ष के समान प्रयोग भेद जाना चाहिये। अर्थात् जहां सर्वांग स्वेद हो वहां सर्वांग प्रधान (द्रव्य सर द्रव्य) द्रव्य और जहां एकाग्र में स्वेद करना हो वहां स्थिर गुण प्रधान तिपक कर जैठनेवाले और बहनेवालों को रोकनेवाले द्रव्य प्रयोग (जानलाईटि) किये जायें। हेमाद्रि धारण करना यह स्थिर का लक्षण कहते हैं। सभी स्वेद गुणों की कर्मजुसार भौतिकतादर्शक तालिका नीचे दी जाती है, जो विविक्तसा में स्मरण योग्य है।

आयवेंटीय पंचकर्म विज्ञान

स्वेदनद्रव्य—गणकर्म—भौतिक संगठन दर्शक तालिका

क्र.	गुण	प्रमुख कर्म	महाभूत प्राशान्त्र
१.	उषा	अनुस्ताहकारक, मूर्च्छा, उट स्वेद, दाहकारक	आग्नि
२.	तीक्ष्ण	दाहपाककर, शोधन, स्वावन	अग्नि
३.	स्निग्ध	स्नेहकृत्, मार्दवकृत्, बलवर्णकृत्	आप, पृथ्वी
४.	रक्ष	तद्विपरीत संभन्, खर	वायु, अग्नि
५.	सर	अनुलोमन, घोकता, प्रवृत्तिशील	वायु, जल
६.	स्थिर	विरकारिता, स्थिरता, स्तंभकरता	पृथ्वी
७.	द्रव	क्लेदन, आलोडन, स्पंदन कारक	जल
८.	सूक्ष्म	सूक्ष्मादिक्रों में प्रवेश योग्यता, विवरणशीलता	आकाश, वायु, अग्नि
९.	गुरु	साद, उपलेप, तर्पण, बुङ्हण कृत्	पृथ्वी जल

स्वेदन द्रव्यों का परिचय—स्वेदनार्थ चाक, सुश्रुत और वागभृत ने अनेक द्रव्यों का उपयोग किया है। उन सब द्रव्यों का विस्तृत परिचय देना होता है, एक द्रव्यगुण की पुस्तक ही लिखनी पड़ेगी इन्हीं यह संख्या विपुल है। अतएव इनका सामान्य परिचय ही दिया जाएगा। स्वेदन, वमन और विशेषन में द्रव्यों का आध्यात्म प्रयोग होता है और उनके रस-पाकादि की अपेक्षा होती है। जहां स्वेदन में प्रायः बाहु प्रयोग की किया जाता है और उनके गुण-विवरं तथा मर्यादित कार्य में रस का उपयोग होता है अतएव स्वेदन द्रव्यों का नामः उल्लेख कर उनके प्रमुख गुण, वीर्य रस तथा दोषक्ता का सामान्य विवरण तालिका में दिया गया है। इससे अधिक ज्ञान के लिए तत्त्वद् ग्रंथों का अवलोकन करना चाहिये।

१. स्वेदोपण गणा<sup>१७</sup> — स्वेद में जो सहायकारी द्रव्य होते हैं, उसे स्वेदोपण द्रव्य कहते हैं। ऐसे १० द्रव्यों का गण चरक ने गिनाया है।

  १. शोभाजन-सहितजन
  २. एंड
  ३. वुर्चर (श्वेत पुनर्जनवा)
  ४. यव
  ५. तिल
  ६. कुलस्त्य
  ७. माष-उड्ड
  ८. बदर-बेर
  ९. अर्क
  १०. पुनर्जनवा (रक्त पुनर्जनवा)

२. पिण्डस्वेद में प्रयुक्त द्रव्य<sup>१८</sup> —

  १. तिल
  २. माष,
  ३. कुलस्त्य
  ४. ओदन
  ५. आनन्दवर्ण के द्रव्य
  ६. घृत
  ७. तैल
  ८. मांस
  ९. पायस
  १०. कृशरा
  ११. प्राणी
  १२. तुष
  १३. यव
  १४. वाटुका।

(गवादि)

३. नाडीस्वेद तथा अवगाहस्वेदोपयोगी द्रव्य —

१. वरुण	७. वंश-बांस	४५. क्रष्णभक्त
२. गुड्डया	८. वासा	४६. शेरीय
३. वरुण	९१. मालती	४७. महामेदा
४. सर्षप	१०. अशमतंक	४८. पद्मक
५. अर्क	१४. पंचमूल	४९. गंधतुण।
६३. उलसी	४५. उपनाहार्थ सुख्तोक्त काव्योत्तमादि गणा <sup>१०</sup> —	५०. ऋषिगुड्डक (मरुवान्)
१. काकोली	३. जीवक	५१. पफिगुड्डक (मरुवान्)
२. काकोली	७. मेदा	५२. वृश्चिकोत्तम
३. मुद्दापणी	६. माशपणी	५३. वृश्चिकोत्तम
४. गुड्डाचि	१०. कर्कट शृंती	५४. मुद्दीका-द्रक्षा
५. प्रपोंडरिक	१४. चूड़ि	५५. मुद्दीका-द्रक्षा
६३. सपेद कमल		
१७. यथीमधु !		

## आयुर्वेदिय पंचकर्म विज्ञान

१६. सर्जरस	२०. तुरुषक (सिंहारक)	२१. कुन्द्रु (गोद भेंद)	१६. हंसपाणी	१७. वृश्चिकाली	१८. श्रम्भभी (कौच का फल)।
२२. अगुरु	२३. सूक्ष्मा (गंध द्रव्य)	२४. उशीर	२२. गोद्धुर	२३. छोटी कटेरी	२४. अरणी
२६. भद्रताल	२६. कुन्द्रुम	२७. पुश्चग केशर।	२५. पृष्ठपर्णी	२६. बिल्ल	२७. खोनाक
३. गोहू के छिलके का चूर्ण	३. यव चूर्ण	४. सन्हे	३. अस्ल द्रव्य	४. पाटला	५. किष्व-सुराबीज।
६. प्रस्तर स्वेदोपयोगी द्रव्य <sup>२४</sup>	६. लवण	६. किष्व-सुराबीज।	२. शमीधान्य—मूँग, उड्ड, मुलत्थ, मोट, चना, मसूर, लिल, इत्यादि	१०. कासमरी (गंभारी) ये दृश्मूल हैं।	११. दो पंचमूल <sup>२५</sup> — वाताज्ज्वाकृत स्वेदोपयोगी—
७. सूक्ष्मधान्य-त्वाल चावल, महाशाली रामाक, गोहू इत्यादि	७. शाल्वणादि स्वेद में प्रयुक्त उश्चिलेक्त वाताज्ज्वागण <sup>२६</sup> — (भद्राव्यादि)	८. शमीधान्य—मूँग, उड्ड, मुलत्थ, मोट, चना, मसूर, लिल, इत्यादि का उपयोग।	१. शोधांजन	१. शोधांजन	१२. कुन्द्रु (गोद भेंद)
४. वरुण	८. कुष्ठ	८. कुष्ठ	२. लूहु, रुक्ष, तीक्ष्णा, सर रस-कट्ठ, शार	२. एंड	१३. वृश्चिकाली
९. अतिबला	९. मेषशूरी	९. मेषशूरी	२. गुरु, लिंग, तीक्ष्णा, सूक्ष्म रस-मधुर, कट्ठ, कशाय	३. पुनर्नवा	१४. अनिमंथ (आरणी)
१०. शाल्वणी	१०. आतीबला	१०. आतीबला	२. यव, रुक्ष, रस-मधुर, लूहु, रुक्ष, रस-मधुर, लूहु, रुक्ष, रस-मधुर, कशाय	४. यव	१५. अस्मंतक (पात्राण भेद)
१३. सहचर	११. कुबेराशी (पात्राण-पीटिका)	११. कुबेराशी (पात्राण-पीटिका)	३. यव, रुक्ष, रस-मधुर, लूहु, रुक्ष, रस-मधुर, कशाय	५. तिल	१६. अलर्क (स्वेत पुष्प का अकी)
१६. एंड	१२. अस्मंतक (पात्राण भेद)	१२. अस्मंतक (पात्राण भेद)	४. तिल	६. कुलत्थ	१७. अस्मंतक (पात्राण भेद)
१६. शतावरी	१३. उनर्नवा	१३. उनर्नवा	५. तिल	७. कुलत्थ	१८. अलर्क (स्वेत पुष्प का अकी)
२२. बाष्णिर (सूख्यवर्ती)	२३. कांचनक (धूत्र)	२३. कांचनक (धूत्र)	६. तिल	८. कुलत्थ	१९. अलर्क (स्वेत पुष्प का अकी)
२५. कापासी (बनकपासी)	२६. वृश्चिकाली (बिज्जटी)	२६. वृश्चिकाली (बिज्जटी)	७. माष	९. माष	२०. अलर्क (स्वेत पुष्प का अकी)
२८. बेर	२८. जी	२८. जी	८. यव	१०. पुनर्नवा	२१. अलर्क (स्वेत पुष्प का अकी)
३१. कुलत्थ-भाष आदि तथा विदारी गंधादि गण और दशमूल से वातसंशमन गण हैं।	३०. कोल (झाड़ी का बेर)	३०. कोल (झाड़ी का बेर)	९. यव	११. पुनर्नवा (झाड़ी का बेर)	२२. अलर्क (स्वेत पुष्प का अकी)
१. विदारी गंधा (शालपणी)	१. विदारी (भूमि कूमांड) २. विदारी (भूमि कूमांड) ३. विश्वदेवा (झेते जला-नगोरन)	१. विदारी (भूमि कूमांड) २. विदारी (भूमि कूमांड) ३. विश्वदेवा (झेते जला-नगोरन)	१०. बदर	१०. बदर	२३. अलर्क (स्वेत पुष्प का अकी)
४. खदान्धा (गोखरू)	५. पृथक्पणी (पिठबन)	५. पृथक्पणी (पिठबन)	११. गुरु, लिंग, पिच्छिल रस-अस्त्र, मधुर, कशाय	११. गुरु, लिंग, पिच्छिल रस-अस्त्र, मधुर, कशाय	२४. अलर्क (स्वेत पुष्प का अकी)
६. सारिवा	६. कृष्ण सारिवा	६. कृष्ण सारिवा	१२. यूत	१२. यूत	२५. अलर्क (स्वेत पुष्प का अकी)
१०. क्रष्णभक्त	१०. जीवक	१०. जीवक	१३. मृगसहा	१३. मृगसहा	२६. अलर्क (स्वेत पुष्प का अकी)
१३. दोनों कंटकारिका	१४. उनर्नवा	१४. उनर्नवा	१४. उनर्नवा	१४. उनर्नवा	२७. अलर्क (स्वेत पुष्प का अकी)
	१५. एंड	१५. एंड	१५. एंड	१५. एंड	२८. अलर्क (स्वेत पुष्प का अकी)

क्र.	द्रव्य नाम	गुण एवं स	वीर्य	दोषघटना
१.	शोधांजन	लूहु, रुक्ष, तीक्ष्णा, सर रस-कट्ठ, शार	उष्ण	कफव्यातज्ज्वर
२.	एंड	गुरु, लिंग, तीक्ष्णा, सूक्ष्म रस-मधुर, कट्ठ, कशाय	उष्ण	कफ वातशामक पितवधक तैल-पितशामक
३.	पुनर्नवा	लूहु, रुक्ष, रस-मधुर, लूहु, रुक्ष, रस-मधुर, कशाय	उष्ण	रक्तपु-शीत रक्तप्रसादक पितव्यातज्ज्वर
४.	यव	रुक्ष, लूहु, शीत, सर-मधुर	उष्ण	वातकृत् कफप्रित कारक
५.	तिल	स्त्रिघ, गुरु, रस-मधुर	उष्ण	कफव्यात शामक रक्तातिप शामक
६.	कुलत्थ	लूहु, रुक्ष, तीक्ष्णा, रस-कशाय	उष्ण	मितकारक वातशामक
७.	माष	गुरु, लिंग, रस-मधुर	उष्ण	मितकारक वातशामक
८.	बदर	गुरु, लिंग, पिच्छिल रस-अस्त्र, मधुर, कशाय	शीत	मित शामक
९.	यूत	गुरु, लिंग, मधुर	शीत	स्वत्त पितशामक वातशामक
१०.	तैल	सोहाय्य देखें	—	—
११.	वासा	लूहु, रुक्ष, रस-तिक्त, कशाय	शीत	पित शामक

क्र.	द्रव्य नाम	गुण एवं रस	वीर्य	दोषमता
१२.	बंश	रुक्ष, लघु, तीक्ष्ण, रस-मधुर, कषय	शीत	कफपित शामक पितवर्धक (फल)
१३.	बरुण	लघु, रुक्ष, रस-तिक्त, मधुर, कषय	उष्ण	कफवात शामक पितवर्धक
१४.	गुह्यचि	गुरु, स्निग्ध, रस-तिक्त, कषय	उष्ण	त्रिदोषघ कफपित शामक
१५.	मूलक	लघु-मूलक, लघु-बृहस्पूलक, गुरु, तीक्ष्ण रस-कटु	उष्ण	लघु मूलक त्रिदोषहर बृ. मृ.
१६.	सर्प	शाक-तीक्ष्ण, रुक्षण, बीज-तेल, स्निग्ध रस-कटु, तिक्त	उष्ण	कफ वातशामक पितवर्धक
१७.	करंज	लघु, तीक्ष्ण, रस-तिक्त, कटु, कषय	उष्ण	कफ वातशामक पितवर्धक वातादि दोषहर
१८.	अशंकरक	तिक्त, कषय	शीत	कफवात शामक पितवर्धक
१९.	तुलसी	लघु, रुक्ष, रस-कटु	उष्ण	कफपित शामक वातादि, पित्त-शामक
२०.	भूतिक	लघु, रुक्ष, रस-तिक्त	शीत	वातादि, पित्त-शामक कफवातशामक
२१.	लघु पच्चमूल	रस-कषय, तिक्त, मधुर	—	वातादि, पित्त-शामक कफवातशामक
२२.	बृहत्पच्चमूल	लघु, रस-तिक्त, मधुर	—	कफवात शामक
<b>सुशुत्-वातादि—द्रव्य—</b>				
२३.	देवदार	लघु, स्निग्ध, रसतिक्त, कटु	उष्ण	कफवात शामक
२४.	कुष्ठ	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण, रस-तिक्त, कटु, मधुर	उष्ण	कफवात शामक
२५.	हेरिदा	लघु, रुक्ष, रस-तिक्त, कटु	उष्ण	कफवात शामक पितरेचक पित शामक
२६.	मेष शंगी	लघु, रुक्ष, रस-कटु, कषय	उष्ण	महासहा (माषपणी)
२७.	बला,	गुरु, स्निग्ध, पित्तिक्त	शीत	बहती लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण
२८.	अतिबाला	स-मधुर	—	रस-कटु, तिक्त
२९.	कच्छुरा,	लघु, स्निग्ध, रस-मधुर	शीत	हंसपादी गुरु, स्निग्ध, रस-मधुर,
३०.	यवाता	तिक्त, कषय	—	तिक्त कषय
३१.	कुबेराक्षी (पटला)	लघु, रुक्ष, रस-तिक्त कषय	उष्ण	एलादि तथा अन्य द्रव्य—

क्र.	द्रव्य नाम	गुण एवं रस	वीर्य	दोषमता	कफपित शामक
३०.	बीरदरु (अर्जुन)	रस-कषय	शीत	कफवात शामक	कफवात शामक
३१.	सहजर	लघु, स्निग्ध रस-तिक्त मधुर	उष्ण	लघु, रुक्ष, रस-तिक्त	कफवात शामक
३२.	अग्निमय	लघु, रुक्ष, रस-तिक्त	उष्ण	कटु, कषय, मधुर	कफवात शामक
३३.	अर्क	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण रस-कटु, तिक्त	उष्ण	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण रस-कटु, तिक्त	कफपित शामक
३४.	शतावरी	गुरु, स्निग्ध, रस-मधुर, तिक्त	शीत	गुरु, स्निग्ध, रस-मधुर, तिक्त	वातापित शामक
३५.	कांचनक	लघु, रुक्ष, रस-कषय	शीत	लघु, रुक्ष, रस-कषय	कफदात शामक
३६.	भारी	लघु, रुक्ष, रस-कषय	शीत	लघु, स्निग्ध, रस-मधुर, कषय	वात शामक
३७.	कापासी	लघु, स्निग्ध, रस-मधुर, कषय	शीत	लघु, स्निग्ध शीत	पित वर्धक
३८.	विदरी गंधा (शालपणी)	गुरु, स्निग्ध, रस-मधुर, तिक्त	उष्ण	गुरु, स्निग्ध, रस-मधुर, तिक्त	निदोष शामक
३९.	विदरी	गुरु, स्निग्ध, पित्तिक्त	शीत	गुरु, स्निग्ध, पित्तिक्त	पित शामक
४०.	बदर	रस-अम्ल, मधुर कषय	शीत	रस-अम्ल, मधुर	वातापित शामक
४१.	सहेदवा (महाबला)	गुरु, स्निग्ध, पित्तिक्त, रस-मधुर	शीत	गुरु, स्निग्ध, पित्तिक्त, रस-मधुर	पित शामक
४२.	गोशुर	गुरु, स्निग्ध, पित्तिक्त	शीत	गुरु, स्निग्ध, पित्तिक्त	वात शामक
४३.	पृथक्यणी (पिठवन)	रस-मधुर, सर	शीत	गुरु, स्निग्ध, पित्तिक्त, रस-मधुर, सर	निदोष शामक, वात शामक
४४.	सारिवा	गुरु, स्निग्ध, रस-मधुर, तिक्त	शीत	गुरु, स्निग्ध, रस-मधुर, तिक्त	निदोष शामक, वात शामक
४५.	जीवक	मधुर रस	शीत	मधुर रस	वातम पित्तम
४६.	ऋणभक	महासहा (माषपणी)	शीत	लघु, स्निग्ध, रस-मधुर, तिक्त	वातापित शामक
४७.	बृहती	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण	उष्ण	रस-कटु, तिक्त	कफवात शामक
४८.	हंसपादी	गुरु, स्निग्ध, रस-मधुर, तिक्त	शीत	हंसपादी गुरु, स्निग्ध, रस-मधुर,	वातापित शामक
४९.	एला	लघु, रुक्ष, मधुर	शीत	लघु, रुक्ष, मधुर	कफ निःसारक
५०.	छाल-कफवात	तिक्त, कषय	—	तिक्त कषय	तिक्त कषय
५१.	शाल	गुरु, स्निग्ध, पुष्पक	शीत	गुरु, स्निग्ध, पुष्पक	वात शामक

क्र. द्रव्य नाम	गुण एवं रस	वीर्य	दोषज्ञता
५०. तागर	लघु, स्निध, मर, स्प-तिक्त,	उष्ण	निदेष हर कफपित शामक
५१. कुष्ठ	मधुर, कषाय, कट्ट, कषाय लघु, रुक्ष, तीक्ष्णा रस-तिक्त,	उष्ण	निदेष हर कफपित शामक
५२. लक्ष पत्र	लघु, रुक्ष, तीक्ष्णा, रस-कट्ट, तिक्त, मधुर	उष्ण	कफवात शामक
५३. नागपुष्प	लघु, रुक्ष, रस-कषाय, तिक्त	उष्ण	पितवर्धक
५४. प्रियंगु	गुरु, रुक्ष, रस-तिक्त, कषाय, मधुर	शीत	कफपित शामक
५५. हेरेणुका	लघु, रुक्ष, रस-कट्ट, तिक्त	अनुष्ण	पितला, कफवातकृत्
५६. व्याघ्रानखी	लघु, स्निध, रस-कट्ट, तिक्त	उष्ण	कफवात शामक
५७. श्रीतष्टक	लघु, तीक्ष्णा, निन्दा, रस-कट्ट, तिक्त मधुर	उष्ण	कफवात शामक
५८. गुग्गुल	लघु, तीक्ष्णा, निन्दा, सूक्ष्म, पिच्छल, सर	उष्ण	निदेषहर, कफशामक
५९. सर्जरस	लघु, रुक्ष, कषाय, कट्ट, तिक्त	शीत	कफवात शामक
६०. तुरुष्क (सहलक)	स्निध, लघु, रस-तिक्त, मधुर, कट्ट	उष्ण	१. व्यायाम— व्यायाम यह स्वेद का एक उत्कृष्ट उपाय है। व्यायाम से शरीर के अवयवों में आयास से स्वर्य होती है। शरीर में शक्ति का सतत निर्माण होता है। यह शक्ति उष्णता से निर्मी जाती है जो शारीरिक मेहनत का काम और व्यय होता है। यह शक्ति उष्णता से निर्मी जाती है जो शारीरिक मेहनत का काम करते हैं उनमें सतत अधिक शक्तिक्षय होता है। व्यायाम से ग्राहक्षेत्र होता है। व्यायाम सावैदीक है सकते हैं वैसे ही किसी एक अवयव को भी दे सकते हैं। शरीर के किसी एक अवयव की मास-पेशी को उसकी प्राकृत गतियों से खुमा फिराकर व्यायाम कराना वायव्याधि में बहुत लाभप्रद होता है। आजकल स्थानिक पौधों के व्यायाम का शास्त्र (Physical exercise) बहुत विकसित हुआ है। व्यायाम से अवयवों में स्वेद जनन खोते विशेषण और कायों की प्राकृत गति मिलती है।
६१. उशीर	रुक्ष, लघु, रस-तिक्त, मधुर	उष्ण	—
६२. कुकुम	तिक्त, लघु, कट्ट, तिक्त	उष्ण	गुण में कहाँ है— व्यायाम से शरीर की पुष्टि होती है, अवयव सम सुविभक्त (सुसंहत) होती है अनि प्रदेश होती है, शरीर में स्फुरति रहती है, लभुता होती है, शरीर शुद्ध रहता है और श्रम, ध्यास, थकावट, उष्ण शीतादि सहन करने की समता बढ़ती है। स्थूलता रस-मधुर, तिक्त
६३. विडंग	लघु, रुक्ष, तीक्ष्णा, रस-कट्ट	उष्ण	कम करने के लिए व्यायाम सुझू अच्छा दूसरा उपाय नहीं है तथा जिनको वातपितज रोग हो तो बहुत छोटी उम्रवाले हों, जो बूढ़े उम्रवाले हों, जिन्हें अजीर्ण हुआ हो उनको व्यायाम नहीं करना चाहिये। <sup>३१</sup>
६४. निर्जुड़ी	लघु, रुक्ष, रस-तिक्त, कट्ट, कषाय	उष्ण	सुशुत ने व्यायाम से मांसपेशियों की स्थिरता होती है यह एक खास कर्म बताया है। <sup>३२</sup> अतएव जिन वात व्याधियों में मांसपेशी शिथित (Flaccid) होती है, उनमें उनको स्थिर करने के लिए, उनके उपचय और बल के लिए व्यायाम कराना चाहिये। व्यायाम
६५. कट्टफल	तीक्ष्णा, रस-कट्ट, तिक्त, काषाय	उष्ण	कफवात शामक

स्वेद-विज्ञान

क्र. द्रव्य नाम	गुण एवं रस	वीर्य	दोषज्ञता
७०. काकमाची	लघु, स्निध, रस-तिक्त	अनुष्ण	कफवात शामक
७१. कारस्कर	रुक्ष, लघु, तीक्ष्णा, रस-तिक्त, कट्ट	उष्ण	पित शामक
७२. अगर	लघु, कट्ट, तिक्त	उष्ण	पितजनक

हमेशा आधी शक्ति कम होने तक—आधे यकूने तक करना चाहिये। ललाट पर परीना आने पर व्यायाम बंद करें। शीत काल में और बंसत में अच्छी तरह व्यायाम किया जा सकता है। अन्य ऋतु में अल्प व्यायाम करें।<sup>३५</sup>

**२. उष्णासदन—** गरम मकान को उष्ण सदन कहते हैं। अगे कृटीस्वेद आदि सानि स्वेदों में अग्निसंस्कार से मकान को गरम कर स्वेद करने का आदेश है। यहाँ अग्नि संस्कार के बिना जो कमरा गरम होता है उसी के द्वारा स्वेद का समावेश होता है। ऐसे कमरे की दीवारें खुब मोटी (जाड़ी) होना चाहिये और हवा के आने जाने के लिए, वातायन इत्यादि नहीं रखने चाहिये।<sup>३६</sup> एक ही द्वार हो जो बंद किया जाने पर आतुर का आश्यतर गरम हवा से स्वेदन होगा।

**३. गुरु प्रावरण—** गरम कंबल ओढ़कर, स्वेदन करना यह विधि “गुरु प्रावरण” है। उष्ण सदन सब लोगों को निरापद करना संभव नहीं है। कंबल ओढ़कर स्वेदन करना सबको सभी अवस्थाओं में सहज शक्ति होती है।

**४. कुष्ठा—** भूख लगने पर भोजन न करना, शुद्धें का धारण करना यह ‘कुष्ठा’ नाम स्वेदन है।

**५. बहुपान —** बहुपान का अर्थ अधिक मात्रा में मध्यपान है।<sup>३७</sup>

**६. भय —** भय-भीति उत्पादन है। मन के भयादि भावों से आक्रोत होने पर शरीर के कुछ वाताहिनियों का कार्य बढ़कर उनका स्वेद ग्रन्थि पर प्रभाव होता है ऐसा माना जाता है। आयुर्विक शरीर क्रिया विज्ञान के अनुसार भय से सिंपाथिटिक और पेरासिंपाथिटिक (Sympathetic and Parasympathetic) नर्व की उत्तेजना होती है। जिनमें पेरासिंपाथिटिक उत्तेजना होती है उनमें स्वेद का निकलना, मलनि:स्सरण और मूत्र विसर्जन ये प्रक्रियाएँ हो जाती हैं।<sup>३८</sup>

**७. क्लोथ—** भय की तरह क्रोध से भी स्वेद आता है, यह प्रत्यक्ष है। क्रोध से पित का प्रकोप होकर पित के उष्ण गुण से स्वेदन होता है। क्रोध से शिरस्थ (Hypothalamus) का प्रकोप होकर निरापद के लक्षण उत्पन्न होते हैं जिनमें स्वेदनादि के अतिरिक्त से पाश्वर्वति केन्द्र की उत्तेजना के लक्षण अनेक संस्थानों पर असर होता है ऐसा माना गया है।<sup>३९</sup> पाचन-स्थान, रक्तसंवरहन तथा अनेक संस्थानों पर असर होता है ऐसा माना गया है।<sup>३०</sup>

**८. उपनाह—** उपनाह स्वेद का सानिस्वेद में भी समावेश किया गया है। यहाँ अग्नि के प्रत्यक्ष संबंध के बिना जिस औषधिद्वय का शरीर पर लेप किया जाता है उसका ही समावेश है।<sup>३१</sup> उपनाहों के कुछ प्रयोग आरबधीय अध्याय में कहे गये हैं। इनमें से कुछ उदाहरण निम्नलिखित प्रकार के हैं।<sup>३०</sup>

**९. बेर, कुलस्थ, कुष्ठ, वाता, सौफ, रासा, उड़द, अलसी का तेल, मदनपत्ता, यवचूर्ण, देवदार इनको कांजी के साथ मिलाकर किया हुआ प्रदेह वातव्याधि में हितकर होता है।**

**१०. आनुपू, मत्स्य, मांस बेसवार इनका उष्ण प्रदेह वातहर है।**

**११. घी, तेल, वसा और मज्जा से चारों सेह, कशमूल और अग्नीवादि औषधियों का लेप वातहर है।**

४. यव चूर्ण को छाल में मिलाकर गरम लेप उदर पर करने से उदरशुल प्रशम होता है।

५. कुष्ठ, सौफ, यव, वाता इनका चूर्ण तेल और कांजी में मिलाकर बिया हुआ प्रदेह वात व्याधिहर है।

६. रासा, हरिद्रा, नलद, सौफ, देवदार, सितोपत्ता, जीर्विमूल इनको घी और तेल में मिलाकर प्रदेह करने से पार्श्वशुल प्रशम होता है।

७ गेहूं का आटा, घी और बकरी का दूध मिलाकर प्रदेह करने से वातरक्त में लाभ होता है।

८. इस तरह अनेक लेप और प्रदेहों का निर्देश इस अध्याय (च. सू. ३) में किया गया है जिन्हें चक्रपाणि अनग्नि उपनाह मानते हैं। इनमें कुष्ठ किटिभ, दुः, भागदर, अर्श, अपचि, पामा, शोफ, विचर्चिका, वातव्याधि, उदरशुल, वात-रक्त, विषाक्त, शिरोरुजा आदि रोगों के लिए लेप और प्रदेह बताये गये हैं। इनमें से वातव्याधि संबंधित कुछ का ऊपर निर्देश किया है।

९. आहत—मुष्टियुद्ध को आहत कहते हैं। सुश्रुत ने ‘नियुद्ध’ ऐसा नाम दिया है।

यह शरीराग्रासजनकारक होकर स्वेदन करता है।

१०. आतप—सूर्यकिरणों से स्वेदन करना आतप स्वेद है। आतप स्वेद का बहुत महत्व है। सूर्य के बालकिरणों में अल्ट्रा ल्यॉगोलेट रेज (Ultra Violet Rays) होते हैं जो कुष्ठादि लव्हग्रोगों में लाभप्रद होते हैं ऐसा माना जाता है। वरक ने सिष्माकुष्ठ में आतपस्वेद का प्रयोग किया है। जो इस प्रकार है—

११. कुष्ठ तमलपत्र, मरिच, मनःशिला, कासीस, तेल में मिलाकर तांबे के पात्र में सात दिन तक रखें और इसका लेप करके आतुर को आतप में (शूप में) बिठावें।<sup>११</sup> इस प्रकार सात दिन करने से सिष्मा-किलास दूर होता है।

१२. शिवत्री को मलपू, स्वरस (काकोटेंबुर का रस) गुड के साथ पिलावे। इसके बाद स्नेहन कर सूर्य किरणों का सेवन करायें।<sup>१२</sup> सुश्रुत ने अनग्नि स्वेद का उपयोग कफ और मेद से संसृष्ट वात में करने को कहा है और अनग्नि स्वेद के निवात, आतप, पुरुषावरण, नियुद्ध, अव्यग्रमन, व्यायाम, भारहण, अमर्ष-क्रोध, ये प्रकार बताये हैं।<sup>१३</sup> इनमें निवात यह उष्मसदन के सद्गुश है। आतप, गुल प्रावरण, व्यायाम और क्रोध चरक में भी कुपर कहे गये अनुसार बरिंत है। नियुद्ध-आहव है। अश्वगमन-चूल चलना, भारहण-बौद्ध उठाना ये व्यायाम (शरीरायास जनन कर्म) के प्रकार हैं।

१३. **गुणातुसार द्वेद\*\*** — स्वेद द्रव्यों के गुणातुसार स्निध स्वेद तथा रुक्षस्वेद के लिए गुणातुसार रुक्ष स्वेद इस प्रकार स्वेद के दो प्रकार होते हैं।

१४. **स्निध स्वेद—स्निध द्रव्यों से किया जाता है।** वातदोष में तथा पवाशय प्राप्त किसी भी दोष में स्निध स्वेद किया जाता है। तेल, वसा, मज्जा और घी तथा अन्य स्निध द्रव्यों के संयोग से स्निध स्वेद किया जाता है।

२. रुक्ष स्वेद— रुक्ष द्रव्यों से किया जाता है। कफदोष में, मेवे-दृष्टि में, कलेत बाहुल्य में, आमदोष में रुक्ष स्वेद किया जाता है। आमाशय में बात के प्राधान्य में भी रुक्ष स्वेद किया जाता है। बालुका, ईंट, पथर, लौह कपाल, तुष, करीष, इनके द्वारा रुक्षस्वेद किया जाता है। इस द्रव्यों को अनिपर तथाकर प्रत्यक्ष गात्रपर लाकर या कपड़े की पोटली में बांधकर गात्रोंपर रखकर स्वेद किया जाता है।

३. स्थान स्वेद में द्वारा— स्थान के अनुसार स्वेद के एकांग स्वेद और सर्वांगस्वेद ऐसे दो प्रकार होते हैं।

१. एकांग स्वेद— में नाड़ी स्वेद, संकर स्वेद, बालुका स्वेद इत्यादि प्रकारों का समावेश होता है— जो एक मर्यादित स्थान में ही स्वेदन करते हैं।

२. सर्वांगस्वेद— में प्रस्तर, कुटी, जेतांकादि लक्ष्यमाण उपायों से संपूर्ण शरीरपर एक साथ किये जानेवाले स्वेद का समावेश होता है।

३. स्वेद में द्वितीय— दो-दो प्रकार के स्वेद द्वारा स्वेद हैं। जैसे ही स्वेद में 'तीन-तीन' प्रकार से वित्त भी हो सकता है। प्रयोगानुसार ये प्रत्यक्ष प्रयोजनीय भी हैं। ये वित्त निम्नोक्त प्रकार के हैं।

(अ) १. रुक्ष स्वेद २. लिंगस्थ स्वेद ३. लिंगस्थ स्वेद स्वेद— वातवोष में लिंगस्थ स्वेद और कफदोष में रुक्षस्वेद करना चाहिये। इसी तरह लिंगस्थ रुक्ष स्वेद का एक साथ भी प्रयोग बाध्नीय है, यह वातकफ के समुच्चित में करना चाहिये। प्रत्यक्ष प्रयोगार्थ-विषार्थ तेल, पच्चुण तेल इत्यादि से अध्ययन कर बालुका स्वेद, ईंट का स्वेद करना चाहिये। यह जीर्ण आमवात में लाभप्रद होता है।

(आ) १. मुद्दस्वेद या डुर्बल स्वेद २. मध्यम स्वेद और ३. महान स्वेद। यह स्वेद का दूसरा विक्रम है।<sup>५५</sup>

१. जब व्याधि का बल अत्यन्त हो, आतुर का बल अत्यन्त हो तब मुद्द स्वेद करें। वृषण, हृदय और नेत्र पर मुद्द स्वेद करें; मुद्द स्वेद मंदोज्ञा द्रव्यों से तथा स्वेदायोगी मुद्द गुणवुक्त द्रव्यों से करना चाहिये।

२. व्याधिबल मध्यम हो, शरीर बल मध्यम हो तब मध्यमस्वेदकिया जाना चाहिये।

३. महान स्वेद— व्याधिबल अधिक हो, शरीर का बल भी अधिक हो तब, तथा हाथ-पावं, पीठ, कमर, लिंग, स्कंधादि अवयवों पर महान स्वेद होता है।

४. चारकोक्त स्वेद के तेह प्रकार— चारक ने तेह स्वेदों का स्वेदाध्यय में वर्णन किया है। नाम वैषिष्ठ्य के कारण उनका पृथक्षांश यहां निर्देश किया जाता है। अन्यथा सुश्वेत और वारभट के अनुसार बताये गये चार प्रकार के तापादि स्वेदों में ही उनका समावेश हो जाता है। इन तेह प्रकार के स्वेदों का मुख्य उद्देश्य द्रव्यभेद, आकार भेद, उच्चाता की शक्ति में न्यूनाधिकता, ये प्रतीत होते हैं। इसी तरह रुण कभी शहर में होगा, ऐसे कभी गात्र में होगा, कभी घर में होगा तो कभी खेती-चर्ची के लिए जंगल में होगा, ऐसे

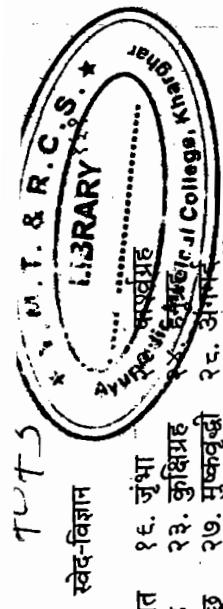
सम्य यथा योग्य प्राप्त द्रव्यों को लेकर होकर रोग में ताल्कालिक स्वेद आतुर स्वयं कर सके ऐसा जानपदलाभ का उद्देश्य भी इसमें प्रतीत होता है। ये तेह स्वेद निमोन्त हैं।<sup>५७</sup>

- |                  |                  |                 |
|------------------|------------------|-----------------|
| १. संकर स्वेद    | २. प्रस्तर स्वेद | ३. नाड़ी स्वेद  |
| ४. विषेक स्वेद   | ५. अवाह स्वेद    | ६. जेतांक स्वेद |
| ७. अश्मधन स्वेद  | ८. कुर्ज स्वेद   | ९. कुटी स्वेद   |
| १०. भू-स्वेद     | ११. कुर्भी स्वेद | १२. कूप स्वेद   |
| १३. होलाक स्वेद। |                  |                 |

इनका विवरण आगे किया जायेगा। काश्यप ने नामतः तेह के बदले—हस्तस्त्रेप प्रदेह स्वेद, नाड़ी स्वेद, प्रस्तर स्वेद, संकरस्वेद, उपनाह स्वेद, अवाह स्वेद और परिषेक स्वेद ऐसे आठ स्वेदों का वर्णन किया है।<sup>५८</sup> जमोत बालकों को हस्त स्वेद तथा आगे वयमान के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वेद करने का निर्देश काश्यप करते हैं।

५. मुश्तुत और वारभटक स्वेद के चार प्रकार— मुश्तुत ने मूलतः चार स्वेदों के वर्णन किये हैं। वारभट ने इसी का अनुसरण किया है। ये स्वेद हैं— ताप स्वेद, उपनाह स्वेद, उष स्वेद और द्रव्यस्वेद।<sup>५९</sup> कोई भी पदार्थ भौतिकशास्त्र के अनुसार स्वेद, उष स्वेद और द्रव्यस्वेद। और वारभट ने लिंगस्थ यन (Solihi), तरल (Liquor) और बातु या वाष (Guay) में रुक्ष स्वेद की होती है। इस मुलत अवस्था भेद से ही उपर्युक्त चार प्रकार के स्वेद होते हैं। ताप स्वेद में चन द्रव्यों का उपयोग किया जाता है जिसमें द्रव्य प्रायः गुरु, खर, कठिन, स्थूल और सवातकर प्रकार के होते हैं। उपनाह स्वेद में नातिघन तरल द्रव्यों का उपयोग स्वेदनार्थ किया जाता है। उष स्वेद में वायवीय और वाषावस्था में द्रव्यों का उपयोग किया जाता है, जो प्रायः लघु, चल, गुणों से युक्त होते हैं और द्रव्यस्वेद में तरलावस्था द्रव्यों का उपयोग किया जाता है, जो द्रव, सर, मंद, कलेवबहुल गुणों से युक्त होते हैं। मुश्तुत कहते हैं इन चार स्वेदों में ही सभी अन्य स्वेदभेदों का समावेश हो जाता है। डल्हण ने तापस्वेद में जेतांक, कर्जु, कुटी, कूप, होलाक स्वेद का उपस्वेद में संकर, प्रस्तर, नाड़ी, अश्मधन, कुर्भी, भू-स्वेद का, और द्रव्यस्वेद में परिषेक और अवाह स्वेद का अंतर्भाव किया है।<sup>६०</sup> तापस्वेद के द्रव्यभेद से पाणि (हाथ), कांसा कंडुक कपाल, बालुका, वाषावस्था में प्रदेह होते हैं। उपनाह में प्रदेह लेप, बंधन और पोटली से स्वेदन करना ये प्रकार होते हैं। उष स्वेद के कथात, पाषाण, ईंट, लोहपिण्ड, कुर्भी, संकर, भू-स्वेद, कुटी स्वेद, पाणि, उषावस्था अनेक प्रकार होते हैं। इनकी विधि आगे दी जाएगी।

६. डल्हणोन्त स्वेद के कार्यक्रम— मुश्तुत के टीकाकार डल्हण ने स्वेद के कार्यक्रम के अनुसार और दो भेद किये हैं। १. संशमनीयस्वेद और २. संशोधनां भूत स्वेद। संशमनीय स्वेद वह है जो साम-दोषों में दोष पाचनार्थ तथा रुक्ष स्वेद किया जाता है। यह स्वेद अनि को (धात्वानि भी) प्रदीप करता है, त्वचा को मुद्द करता है जोतों को निर्मल (शुद्ध) करता है। स्नेहान के बात वर्मन या विरेचन देने के पूर्व जो स्वेद किया जाता है उस स्वेद को संशोधनां भूत स्वेद कहते हैं, और स्नेह के द्वारा क्लिन इए दोषों को धातु में से निकालकर कोष्ठ में लाना यह इसका कार्य होता है। स्थानस्य दोषों को वहाँ से निकाल देने के कारण, तथा संशोधन पूर्व किये जाने के कारण यह संशोधनां भूत स्वेद है।



स्वेद-विज्ञान

६. स्वेद के अवांतर भेद—यहां संहिता में अप्रत्यक्ष निर्दिष्ट और दो स्वेदों का विचार अवश्य उपलेख है। वे हैं— १. बाह्यस्वेद तथा २. आध्यात्र स्वेद। प्रायः सभी स्वेद बाह्य प्रकार के कहे गये हैं। आध्यात्र सेवन करने पर जो औषधियां स्वेदन कराती हैं वे आध्यात्र स्वेद के प्रकार में आती हैं। चरक ने स्वेदन द्रव्यों के गुणों में—उष्ण, तीक्ष्ण, सर, इत्यादि जो गुण बताएँ हैं—वहां ‘प्रायस्ताद्धि स्वेदनमुच्यते’ ऐसा कहा है। जिससे आध्यात्र स्वेद द्रव्यों का निर्देश मिलता है। इसी तरह ज्वर, दाह्य, तथा त्वग्रोगों में प्रयुक्त अनेक औषधियां इस प्रकार की मिलती हैं। वामक और विरेचक औषधियों की कार्यकृता बताते हुए भी—स्वेदजनन यह एक लक्षण औषधिसेवन के बाद बताया है—जो चरकमत से जो औषधियां स्वेदन करती हैं उनमें कुछ निमोक्त प्रकार की हैं:—

१. ज्योतिष्मती २. अहिकेन ३. त्वचा ४. जटामांसी
५. कट्टफल ६. एंड ७. अंकोल ८. रसोन
६. देवदान १०. सुदर्शन ११. वस्तनाभ १२. शोभाजन
१३. धूमराज १४. राजिका १५. अजांशा १६. कुंकुम
१७. केतक १८. जयंति १९. भल्लाटक २०. बाङ्गुची
२१. वनपत्र २२. वासा २३. बोल २४. लोबान
२६. मदनपत्र २६. पुष्करमुल २७. भार्ग २८. वित्रक
३३. पालु ३०. नाडीहिं ३१. अर्क ३२. दंती
३७. कालमेष ३४. कीटमारी ३५. काकमाची ३६. अपमार्ग
४१. हुलसी ४२. चोपचिनी ४३. सौरेयक ४०. करबोर
४५. आगस्त
१७. विंबंध २१. पृष्ठग्रह २३. कटीग्रह २४. कुक्षिग्रह
२१. पृष्ठग्रह २५. गृष्मसी २६. मृत्रकुचुल २७. मृत्रकुचुल
२६. पादार्ति ३०. जघाति ३१. जान्वर्ति ३२. कठ अर्ति
३३. पाद जानु ३४. शोष ३५. त्वलली ३६. आमदेश
३७. शैत्य ३८. वेपशु ३९. वेपशु ४०. संकोच
१८. शैत्य ४१. आयास ४२. संभ-अंग ४३. सुसि-स्पर्श ४४. नस्याह—जकड़ जाना
४५. बस्ति योग्य ४६. वमन योग्य ४७. विरेचन योग्य ४८. शल्य निकाल दिया हो उनको स्वेदन देना चाहिये—
४६. सम्यक प्रजाता ४०. मृदु गर्भ ५१. भांदर में ५२. अर्थ-पूर्व और पहले और पश्चात्स्वेद बाद में स्वेदन करना चाहिये।
५२. अस्त्रमी पूर्व ५४. अर्डुद ५५. ग्रन्थि ५६. आड्यवात् और पश्चात् स्वेद।

उपर्युक्त का विचार करने पर स्पृष्ट होता है कि इनमें तीन प्रकार के विकार हैं। यह पहले कहा गया है कि स्वेदन वातकफ के विकारों में लाभप्रद होता है। पित त्वयं उष्ण तीक्ष्णादिगुण भूयिषु होता है, अतः उष्ण तीक्ष्णादिगुणयुक्त स्वेद पित प्रकोप में कारण जाना गया है और पितज विकारों में स्वेद निषिद्ध किया गया है। फिर भी कुछ पित विकारों में स्वेद मुहुर्या किया जा सकता है। इसी तरह शोधन योग्य पित विकारों में स्वेदन अहितकर ही किया जा सकता है, तथापि जो अस्वेद कहे गये हैं उनमें सामान्यतः स्वेद करना अहितकर ही समझना चाहिये।

**स्वेदननाह॑३** — जिनमें स्वेदन किया जाता है, वे स्वेद योग्य निम्नलिखित प्रकार के जिनान्यैः।

१. प्रतिश्वाय २. कास ३. हिक्का ४. श्वास
५. अंगारोव ६. कण्ठशूल ७. मन्याशूल ८. शिरःशूल
६. स्वरभेद १०. गलग्रह ११. अर्दित १२. एकांगवात
१३. सर्वांगवात १४. पक्षाधात १५. विनामक १६. आनाह (जिसमें शरीर इक जाता है)

१४. स्थूल शरीरवाले १५. पितज प्रमेही
१७. शुद्धा से पीड़ित १८. स्थूल शरीरवाले १९. कुद्द

उपर्युक्त का विचार करने पर स्पृष्ट होता है कि इनमें तीन प्रकार के विकार हैं। एक वे हैं जो बातप्रधान है। इनमें मन्याशूल, अदित, पक्षाधात, ग्रह-संभ, संकोचादिविकार हैं। दूसरे कफ प्रधान हैं जो प्रतिश्वाय, कास, श्वासादि हैं। तीसरे शोध्य रोग और शल्यकर्म योग्य विकार हैं जिनमें पहले, बाद में या दोनों अवस्था में स्वेदन किया जाता है।

अस्वेदनाह॑३ — निम्नोक्तों का स्वेदन नहीं करना चाहिये।

१. जो हमेशा मध्यपान करते हैं। २. गर्भिणी स्त्री
४. अतिसार से पीड़ित ५. मध्यमेही
७. विद्युद, जिनकी जलने से त्वचा ढुलस गई है।
१०. विषपीति ११. मध्यज विकार
१३. संज्ञानाश वाले १२. परिश्रम कर थे के द्वारा
१६. तुष्णा रोग से पीड़ित १७. शुद्धा से पीड़ित

१६. शोक ग्रस्त  
२२. उरःक्षत वाले रोगी

२०. कामला से पीड़ित २१. उदर रोगी  
२३. आङ्घा रोगी- २४. अति दुर्बल

२५. जिनके अवयव सूख गये हैं २६. सुक्र और ओजोक्षय वाले

२८. पाङ्गोरोगी २९. अजीर्ण में चिकित्सा साध्य है

३०. जो रोग संभव

३१. विसर्प से पीड़ित ३२. कुर्षी ३३. शोषी

३४. दूध पिये हुए ३४. मध्य पिये हुए ३५. पीत दाख दही पिये हुए

३७. पीतमेह ३८. जिन्हें निरेचन कराया गया है

४०. ग्लानि वाले ४१. रजः स्वला लियाँ।

३८. दूध पिये हुए ३९. विसर्प से पीड़ित  
३९. पीतमेह ॄ०. ग्लानि वाले

४१. रुक्ष संकर स्वेद— ऊपर लिखे हुए प्राणियों के सूखे हुए पुरीष, लोहे के पिंड, बालुका, पाण्य आदि से किया हुआ स्वेद रुक्ष स्वेद है। इसका कफ्फधान वोगों में, आम में, मद में, आमवात में, उपयोग लाभप्रद होता है। संकर स्वेद का ऐसा ही वर्णन काश्यप में होता है।

अष्टांग संग्रहकार वाथट ने संकर स्वेद को स्पष्टतः पिंड स्वेद से अधिन्य माना है और इसकी विधि भी कुछ अलग प्रकार की दी है। यह विधि इस प्रकार की है।<sup>१७</sup> मिट्टी के खर्पर, पत्थर, मिठ्ठी का ढेला, लोहे के गोलकों की अन्न में लाल होने तक तपा तपा कर संदर्श से पकड़कर पानी में डाल दें। वैसे ही उन्हें फिर निकालकर गोले ऊनके कपड़े में लपेटकर स्वेदन करें। यह स्वेद में कफ प्रधान और प्रणित में तथा बैदना में करें। (यह स्वेद है) पांसु (रेती) बालुका, और गाय आदि के सूखे पुरीष, धान्य, भुसा, (भूसा), पुलाक नामक धान्य की पसली (तुण) इन्हें, कोंजी आदि अल्प के साथ उबालकर पहले जैसे ही गोले ऊनी कपड़े में लपेटकर स्वेद करें अथवा गाय इत्यादि के ताजे पुरीष को पिंडिकर जनाकर उससे स्वेद करें। अथवा गातरों के उपनाह द्रव्यों सरसू, उत्तरिका, कुशरा, मांसरसादि इत्यादि के द्वारा पिंड बनाकर स्वेद करें। इसे ही संकर स्वेद भी कहते हैं।

४२. शष्टिकशाली पिंडस्वेद— साठी के चावल से पिंड बनाकर स्वेद करना शष्टिकशाली ऐसा चक्रपाणि कहते हैं। आङ्घरोगी का अर्थ वातरक्त भी किया है। उपर्युक्त सभी रोगियों में यदि अत्यावश्यक हो तो मृदु स्वेद किया जा सकता है। क्योंकि जहां पर अस्वेदों में स्वेदन करने पर ऐसे रोग की संभावना हो जो स्वेदन करने पर उत्पन्न होनेवाले संभाव्य विकार की अपेक्षा दुर्लक्ष करने गोय हों, वहां महाव्याधि भय को ध्यान में रखकर अल्पव्याधि की अपेक्षा कर अस्वेद्य का भी स्वेदन किया जाना चाहिये।<sup>१८</sup>

### शिव्र-धित्र स्वेद की विधि

१. संकर स्वेद— संकर स्वेद यह आयुर्वेद में परंपरा सिद्ध नाम है : अत्यावश्यक नहीं।<sup>१९</sup> संकर स्वेद में कहे गये द्रव्यों की वस्त्र में पोटली बनाकर उन्हें सुखोला करना यह संकर स्वेद कहा जाता है।<sup>२०</sup> संकर स्वेद बिना वस्त्रावर्गित पोटली के द्रव्यों का प्रत्यक्ष भागों पर संपर्क लाकर भी किया जा सकता है। इसमें तिल, उड्ढ, कुलत्यादि द्रव्यों का उपयोग किया जाता है। इसे ही पिंड स्वेद भी कहते हैं। तिल, उड्ढ, कुलत्यादि, पायस रेस तथा यथावोय द्रव्यों को पका कर, इनको पिंड बनाकर (पोटली), दूध, मांसरस, पुरीष, इत्यादि में पुनः पुनः डुबाकर स्वेदन किया जाता है। वैसे ही गाय, गधा, ऊट, सुअर, घोड़ा, इनके सूखे हुए पुरीष को गरमकर बिना वस्त्र के शरीर पर रख स्वेद किया जा सकता है। इसी तरह बालुका, बारीक रेती, पाषाण, करीष (शुष्क गोमयादि) लोहे

के गोले इन्हें तपा कर स्वेद करें। उपर्युक्त विवरण से संकर स्वेद दो प्रकार का प्रतीत होता है।

(अ) निधि संकर भेद— तिल, माष, चावल इत्यादि को पायस, मांस रस, और इसका वातव्यादि में वात प्रधान वोगों में उपयोग लाभप्रद होता है।

(आ) रुक्ष संकर स्वेद— ऊपर लिखे हुए प्राणियों के सूखे हुए पुरीष, लोहे के पिंड, बालुका, पाण्य आदि से किया हुआ स्वेद रुक्ष स्वेद है। इसका कफ्फधान वोगों में, आम में, मद में, आमवात में, उपयोग लाभप्रद होता है। संकर स्वेद का ऐसा ही वर्णन काश्यप में होता है।

उपर्युक्तों में प्रायः तीन प्रकार के रोगी हैं। एक वे जो पित्र प्रधान रोगों से पीड़ित हैं। जैसे मध्यज्ञ तिलार, तुणा, रक्तपित्त इत्यादि। दूसरे वे जिनमें रोग की अत्यधिकता की अवस्था है जैसे उरःक्षत, संजानाश (मृद्घ्छी), इत्यादि। तीसरे वे जो स्वेदन प्रक्रिया दौर्बल्य से सहन नहीं कर सकते जैसे— परिश्रान्त, अति दुर्बल, शोषी, इत्यादि। उपर्युक्त रोगों में स्वेद करने से रोग वृद्धि होती है, या उनकी मृद्घ्छी भी हो सकती है। मध्यापन के कारण शरीर अत्यंत रुक्ष हो जाता है। अतः मधुमेह में ज्योषध है। यहां मधुमेह कहने से अन्य सभी प्रमेह अस्वेद्य माना जाता है। अतः मधुमेह में ज्योषध है। पार्श्वाणि को अर्थ वातरक्त भी किया है। उपर्युक्त सभी रोगियों में यदि अत्यावश्यक हो तो मृदु स्वेद किया जा सकता है। क्योंकि जहां पर अस्वेदों में स्वेदन करने पर ऐसे रोग की संभावना हो जो स्वेदन करने पर उत्पन्न होनेवाले संभाव्य विकार की अपेक्षा दुर्लक्ष करने गोय हों, वहां महाव्याधि भय को ध्यान में रखकर अल्पव्याधि की अपेक्षा कर अस्वेद्य का भी स्वेदन किया जाना चाहिये।<sup>२१</sup>

### शिव्र-धित्र स्वेद की विधि

औषधि सिद्धता— १२ पल (४८ तोला) बलामूल लेकर उसे अच्छी तरह पानी से धोकर स्वाल्प कर बारीक बारीक टुकड़ों में विभक्त करें। इन्हें १२ प्रस्थ (७६ तोला) जल में डालकर उबाल कर ३ प्रस्थ (१६२ तोला) शेष रुख क्वाथ बना लें। इनमें से आधा क्वाथ (६६ तोला) समान भाग दूध में मिलाकर मिश्रण तैयार कर लें। इस मिश्रण में आधा प्रस्थ साठी चावल (३२ तोला) डालकर उसे अच्छी तरह पका लें। जो चावल रसेदार्थ उपयोग करना है वह पहले धोना नहीं चाहिये। पका हुआ चावल अच्छा घोटकर रसेदार्थ उपयोग करना है वह पहले धोना नहीं चाहिये। पका हुआ चावल अच्छा घोटकर उनका ऊपर का भाग पर्याप्त चौड़ा और ताथ में पकड़ने के लिए योग्य हो। इनको स्वेदनार्थ

उपयोग के लिए रख दे। अब आशा क्वाश जो शेष रखा गया था उसे पुनः समान भाग दूध के साथ मिलाकर सेंगड़ी पर मंद अग्नि पर यह मिश्रण चढ़ा दें, और इसमें पोटलियां रख कर उन्हें गरम होने दें।

**आमलकी कल्पक—‘तल’ निर्माण** — आतुर को पिंडस्वेद के पहले सिर पर तल धारण करना होता है। यह तल आमलकी कल्पक से निर्माण किए और विधि का होता है। इसकी विधि ऐसी है कि— पिंडस्वेद के पहले दिन-रात में १० तोला आमलकी छूटन् और २० तोला छाड़ को इकट्ठा कर पका लें। बिल्कुल अच्छी तरह पक कर गाढ़ा हो जाए तब उसे अच्छी तरह इलक्षण पीसकर शीत होने के लिए रख दें। यह कल्पक दूसरे दिन सिर पर तलधारणार्थ उपयोग में लायें। अब आतुर को पिंडस्वेद के लिए स्वेद भवन में लाना चाहिये।

**पूर्वकर्म**—आतुर के सभी कपड़े उतार कर उसे कौपीन पहनावे। फिर उसे काष्ठ टेबल पर या दोणी में बिठावे। मंगल वाचन करावे। फिर संपूर्ण शरीर का अभ्यंग करावे। प्रथम सिर पर करें। सिर और शरीर के लिए अलग-अलग अध्यान तैल का प्रयोग होता है शिर के लिए क्षीरबलातैल, चंदनबला लाक्षादि तैल, शातवरी तैल, लाक्षादि तैल, इत्यादि तैलों का प्रयोग होता है। शरीराभ्यंग के लिए सहवरादि तैल, क्षीरबला तैल, चंदनबला लाक्षादि तैल, धाचन्तर तैल, कारपासस्त्यादि तैल, गस्ताड्युण भागादि तैल, पंचगुण तैल इत्यादि को भी तेल दोषानुसार प्रयोग करें। आशा घंटा तक अभ्यंग करने के बाद—आमलकी कल्पक को चक्रिकाकार बनाकर उसे सिर पर बहारांश के स्थान पर रख, उसमें एक आलबाल बनाए और आलबाल में चंदनबला लाक्षादि तैल या कोई भी शीतोल भरकर निर्णीडीपत्र इत्यादि बालहरप्र आलबाल पर रख स्वत्स्तिक बंधन ऐसा बांध दे कि गांठ कनपट्टी पर आये। यह तलधारण कहलाता है। शिरोध्यंग और तलधारण अत्यन्त आवश्यक विधि है, क्योंकि पिंडस्वेद में करीब १।। घंटे तक सतत उष्णसंस्कार संपूर्ण शरीर पर होता है। अतएव इस गरमी से शिर को बचाने के लिए शिर पर तलधारण करना होता है। यदि न करें तो मूँछा, भ्रम, दाह, तिमिरदरशन, तुषादि पितलक्षण उत्पन्न होते हैं यह अनुभव है। यदि एकांग पिंडस्वेद करना हो तो वह तलधारण के बिना भी किया जा सकता है, किन्तु अभ्यंग प्रत्येक पिंडस्वेद में करना ही चाहिये। अब आतुर पिंडस्वेद के लिए तैयार हो गया— उसका स्वेद करें।

**प्रथम विधि**— पिंड स्वेद में उपर्युक्त और विधि से मिश्रण में डुबाइ हुई पोटली के द्वारा सेंक करते हैं। आतुर के दोनों बाजू में दो-दो कर्मचारी खड़े हैं—और एक कर्मचारी सेंगड़ी पर रखें क्वाथमिश्रण के पास खड़ा है। ये चार कर्मचारी कर्मदक्ष, सुहृद और सहानुभूति से काम करने वाले होने चाहिये। इनको स्वेद के टेक्निक में निष्णात करना चाहिये। दो कर्मचारी कटि के ऊपर तक अर्थात् कटि, सिक्का, पाशर्ब, पृष्ठ, दंक्ष, अंस, हस्त, मन्था तक के शरीर अवर्यव पर स्वेदन के लिए, और दो कर्मचारी कटि के नीचे अर्थात् कटि, सिक्का, उरु, जातु, जंघा, प्रपाद तक के अवर्यवों पर स्वेदन करने के लिए दाये और बांग बाजू पर अनुकूल अवस्था में खड़े हैं। फिर बचाय से उष्ण पोटली लेकर—प्रथम अपने हाथ पर रख सहवयासहवद्यता का जान कर आतुर के गांतों पर विशिष्ट हस्त को शल्य से बुमा धुमा कर स्वेद करें। कटि के ऊपर के अवर्यवों में कर्मचारी मचा

से नीचे कटि तक अनुलोम गति से स्वेद करें। और दूसरे दो कर्मचारी कटि से नीचे अनुलोम गति से स्वेद करें। स्वेद में गरम पोटलियों से घर्षण के साथ दक्षिण हाथ गति से आगे बढ़ाये और बाएं हाथ से उस अवर्यव को योग्य अवस्था में रखें। इस तरह संधियों पर बर्तलाकार और दीर्घ अवर्यवों पर दीर्घाकार स्वेद करें। जब पोटलियों नहीं तो पांचवा कर्मचारी शेष चार पोटलियों को द्रव में से उन्हें दे, और ठंडी पोटलियों पुनः द्रवमिश्रण में गरम करने के लिए रख दे। इस तरह पांच से दस मिनिट में बार बार पोटलियों अदल बदल कर सतत गरम पोटलियों से स्वेद करें। स्वेद करते समय यह ध्यान हो रहे कि त्वचा पर दधक्कवण हो इतनी गरम पोटली न रहे और न एकदम अतुणा हो जाए ऐसी ठंडी हो। एक ममान तापमान रखना आवश्यक है। पोटली की पकड़ करने की सतत अभ्यास से ही आदत होती है। अन्यथा पहले बहुत गरम होने से पकड़ नहीं सकते, और बाद में पोटली ठंडी हो जाती है। पिंडस्वेद सर्व शरीर में अच्छी तरह हो जाये। इसलिए अभ्यंग इसमें भी देनी चाहिये। अर्थात् आतुर को प्रथम बिठाकर, फिर पृष्ठ पर बक्षोदरपर लिटाकर, फिर दक्षिण पाश्वर पर लिटाकर, फिर पुनः पृष्ठ पर लिटाकर और पुनः बिठा कर स्वेदन करें। इन सब अवस्थाओं में १० से १५ मिनिट तक इस तरह कुल ७० से १०५ मिनिट तक स्वेदन करें। अर्थात् पिंडस्वेद एक से डेढ़ घंटा या पवने दो घंटे तक किया जा सकता है। पोटली के कपड़े से पाइक्कशाली पायास स्ववित होकर प्रत्येक स्वेद की गतियों में आतुर के शरीर पर उसका धरण होता है और औषधि मिल, इस शाली से शरीर पर संस्कार होता है। इतने समय में प्रायः सेंगड़ी पर रखा हुआ द्रव भी पूर्ण होता है। जब पिंडस्वेद पूर्ण हो जाये तो पोटलियों खोलकर उसमें रहे हुए शाली ढूपों को हाथ में लेकर अभ्यास उद्धरन प्रकार से आतुर शरीर पर उसे राखें। इस तरह ५-१० मिनिट करने के बाद शरीर पर से इस लेप को स्वच्छ करें।

**प्रथमांकर्म**— प्रथिक शाली को शरीर पर से हटाने के लिए नारियल के पते, एंड फिर शिर से तैल निकाल कर कपड़े से सिर को साफ करें। फिर गरम पानी में नेपिकिन जैसे वस्त्रांश डुबो कर, निचोड़ कर उनसे शरीर स्नेह को स्पून कर साफ करें। केलालीय वैद्य स्वेद के बाद पुनः तेलांयंग स्नान करवाते हैं। स्नान के लिए गरम पानी का उपयोग किया जाता है।

यह चिकित्सा प्रतिदिन या एक दिनांतर से करें, और ७ दिन, ६ दिन, ११, १४ दिन, २३ दिन या २५ दिन तक यथानुकूल आगे चलावें। फिर शिर से तैल निकाल कर कपड़े से सिर को साफ करें। फिर गरम पानी में नेपिकिन जैसे वस्त्रांश डुबो कर, निचोड़ कर उनसे शरीर स्नेह को स्पून कर साफ करें। केलालीय वैद्य स्वेद के बाद पुनः तेलांयंग स्नान करवाते हैं।

यह स्वेद वातव्याधि में विशेषतः श्वास, पंगु, अवबाहक शोष, में लाभप्रद होता है। रक्त प्रकोपज रोग में भी यह लाभप्रद है।<sup>१६</sup>

**अन्नलेपन**—अन्नलेपन यह प्रदेह-या उपराह के प्रकार का स्वेद है। इसका भी केरल में अच्छा उपयोग किया जाता है। यह धृष्टिक शालीपिंड स्वेद के समान ही है, केरल पर्क यह है कि इसमें पोटली बनाने के बदले पाइक्कशाली का प्रत्यक्ष लेपन किया जाता है। बलामूल तीन पल (१२ तोले) लेकर स्वच्छ कर दुक्कड़ कर, ३ प्रस्थ (१६२ तोला) जल में डालकर उबाल कर चतुर्थांश ४८ तोला तक शेष करावा करें। इसको मोटे कपड़े

से छान ले और समान भाग गाय का दूध डाल कर, इस मिश्रण में (१६ तोला) एक कुड़व षष्ठिकशाली पकावे। अच्छी तरह पकने पर उसे पीसकर शलक्षण बनावे।

आतुर को प्रथम, सिर पर तथा सगार्वा पर विधिवत् अभ्यंग करावे। फिर दोणी में या टेबल पर लिटावे। फिर दो कर्मचारी दो बाजू में खड़े रहकर शलक्षण तथा गरम चावल को थोड़ा-थोड़ा हाथ में लेकर, आतुर के शरीर पर लगाकर गरम गरम अवस्था में ही उस पर उहरन की तरह राढ़ता जाये। आतुर को किसी भी प्रकार से पीड़ा हो, या वाह हो इस तरह लेप न करें। सुखपूर्वक लेपन करावे। अंश से नीचे ही इस तरह लेपन किया जाता है। यह प्रक्रिया एक से डेंड बंदे तक चलावे। प्रत्येक मासपेशी, हाथ, पांव, पृष्ठ, कटिपर भलीभांति गरम चावल से राढ़ता हो। जब चावल पूरा हो जाये तब पिंडस्वेद के समान ही शरीर पर से लेपयुक्त भात के अवशिष्ट भाग को स्वच्छ कर पुनः तैल से अभ्यंग कराकर, गरम पानी से स्नान करावे।

यह षष्ठिकशाली पिंडस्वेद के समान गुणकारी है। इसमें संस्कृत चावल का प्रत्यक्ष गात्र पर मर्दन होता है। शोष, कार्यक्षम्य और शूल में यह लाभप्रद है। केरलीय वैद्य वात और रक्त से उष्टु विकारों में तथा आमवात के कुछ प्रकारों में (Rheumatoid Arthritis) और जहां दाह की प्रधानता है ऐसे गोंदों में इसे उपयुक्त मानते हैं। यदि बहुत ज्यादा दाह हो तो भात पकाते समय घी मिलाना चाहिये। आमवात के प्रकारों में गोदूम की दूध में पकाकर, या दूध और गोहं का दूर्घ इनसे भी लेपन किया जा सकता है। बलादूल कवाय आवश्यक नहीं है।

पिंडस्वेद की तरह यह किया ७ दिन या १४ दिन तक की जा सकती है। अन्नलेप, पिंडस्वेद और मोहधारा स्वेद के चिकित्सा काल में आतुर को प्रतिदिन गधबहस्तादि क्वायथ २। तोला दो बार पिलावे। आवश्यक हो तो सायं क्वाय के साथ १ से २ तोला एंड तैल दे। कोष्ठ शुद्धि पर विशेष आन रखे।

१. बालुकास्वेद—पिंडस्वेद में ही बालुका स्वेद का समावेश होता है यह पहले देखा गया है। यह अत्यंत सरल, कहीं भी करने योग्य, और डिना व्यय का स्वेद है तथा अत्यंत गुणप्रद है। आमदोषों में और कफदोषों में तथा साशोष शूल में इसका बहुत उपयोग होता है। आमवात रोग में आधारत स्वेद के साथ बालुकास्वेद यदि न किया जाए तो लाभ पहुंचना बहुत कठिन है।

**पूर्वकर्म—** शुद्ध-पवित्र स्थान की नदी की स्वच्छ, कटकादि विरहित, नाति स्थूल, नातिसूक्ष्म बालुका पर्याप्त मात्रा में जमा करें। नाम्बखंड-१८×१८इंच के पर्याप्त पोटली के लिए लें। इसी तरह बस्त्र से हाथ, पांव, पृष्ठ श्रोणि इत्यादि के आलार के दीर्घ और बर्तुलाकार शैलिया भी बनाकर रखें। सामन्यतः हाथ पर ३'×१२' की, जंघा पर ४'×१२' की, और पृष्ठ श्रोणि के लिए ६'×१२' प्रकार की शैलियां बनावें जो नीद के समय बालुका भर, लिए रेती को सेण्डी पर कड़ाही में गरम करें। मंद आंच पर उत्तरात पावे जितने से बालुका जल्दी ठंडी न हो जाए और खूब देर तक धीरे धीरे खेद हो।

आमवात उल्संथ, मेदोरोग, प्राणि इनसे मीडित सशोष आतुर हो तो स्वेद के पूर्व

में विषार्थ तैल का मृदु अभ्यंग करें।

**प्रथम कर्म—** गरम बालुका की पोटली से सशोष या शोथरहित गात्र पर पिंडस्वेद प्रकार से स्वेद करें। संधिस्थान में बर्तुलाकार स्वेद करे या गात्रों के नीचे शैलियां ऐसी रख दें जिससे तत्त्व अवयवों को आराम मिले और चिकित्सा तक स्वेदन हो।

**स्वेद के पचात्—** शृण्या से रेती इत्यादि साफ करें, पोटलियां निकाल दें। आतुर को चढ़ार ओढ़ाकर मुला देवे। इसी विष्णि से उष्टु, गोदूम शक्तल (गेहूं का छिलका), धान्य की भूसी इत्यादि का स्वेदन करें। यह स्वेद आधे से एक घंटे तक दिन में एक या दो बार अधिक बार भी किया जा सकता है।

२. प्रस्तरस्वेद<sup>१०</sup>— शयन विस्तार के पाषाण पर शुक शमी धात्यादि विश्वाकर आतुर को उस पर मुलाकर स्वेदन करना प्रस्तर स्वेद है। इसके लिये ४ फीट ऊंचा हो जिससे टेबल का आकार स्वयं बन जाए, या इसके लिए एक दो फीट ऊंचा सीमेंट का ओटा तैयार कर उस पर प्रस्तर रख दें। प्रस्तर स्वेदार्थ शूकशान्त्य-चावल, गेहूं, जै, इत्यादि और शमीधान्य-मूगा, मकोठ, उड़द, कुलत्य, चणक, तुअर आदि पुलाक (शुद्रधान्य), बेशवार (मांस), पायस (जीर), कृशरा (तिल), चावल, उड़द की चवायु या खिचड़ी उत्कारिका (रोटी का आकार) आदि, का उपयोग किया जाता है। इन द्रव्यों को पकाकर-पथर पर शयनविस्तार (आतुर को सोने को जितनी जगह लगेगी उतनी) पर विष्णए-टुए रेशम या ऊनके कपड़े पर बिछाकर उस पर पुनः उसी कपड़े को आवृत करें। या तो केवल प्रथर पर पके हुए गरम द्रव्य रखकर उस पर एंड पत्रादि, अकर्पत्र इत्यादि ढककर उस पर अभ्यंग किये हुए आतुर को लिटा दें।

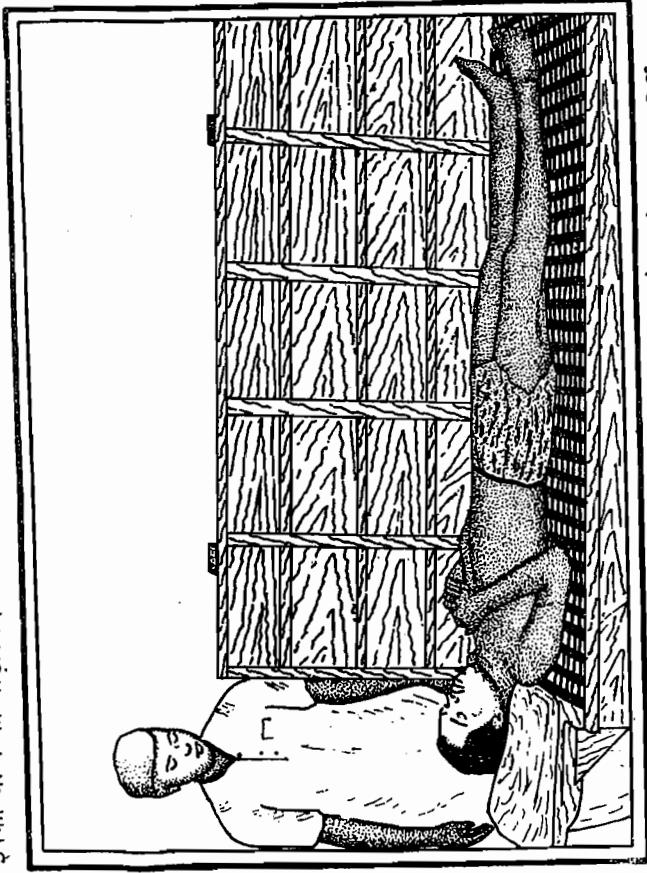
स्वेदन में अनिदंध व्रण न हो इसका ध्यान रखें। प्रस्तरस्वेद विधान का उद्देश्य संपूर्ण गात्र का एक साथ औषधिसिद्ध वाष्प तथा तापस्वेद हो यह प्रतीत होता है। यह पृष्ठशूल, पार्श्वशूल, श्रोणि शूल, कठियुल गृष्टसी, पृष्ठकटि-संकोच, खल्ती, इनके लिए लाभप्रद है।

प्रस्तरस्वेद के उपयुक्त द्रव्यों में यव-रुक्ष है, कफ शामक है शाली त्विग्राम वैंहण है, श्यामाक की द्रव रुक्ष कफस्त्र है, गेहूं संधानकर मधुर बूँदेण है। जुआर रुक्ष है। गेहूं लघु कफस्त्रपतह है, माष वातहर स्त्रिय है, कुलत्य उष्ण कफ वातप्र है मकोठ रुक्ष है, आढ़की कफपिततम है और कफवातप्र है। इनका यथायोग्य प्रयोग करें।

अष्टांग संग्रह में संस्तरस्वेद नाम से इसकी विधि यामा है इसकी बताते हुए कहा है—यथोपयोगी स्वेदन द्रव्यों को बद मुह वाली हड्डी में रख कर पकावें। इसमें कोजी आदि अम्लद्रव भी डालना चाहिये। पक जाने पर निवात कमरे में गेहूं आदि के रुग्ण लिए रेती को सेण्डी पर कड़ाही में गरम करें। मंद आंच पर उत्तरात पावे जितने से बालुका जल्दी ठंडी न हो जाए और खूब देर तक धीरे धीरे खेद हो।

३. नाड़ीस्वेद<sup>११</sup>—नाड़ीस्वेद वाष्पस्वेद का प्रकार है। नाड़ी नलिका की कठिनते हैं।

नलिका से वाष्ठ को विशिष्ट अवधार तक ले जाकर स्वेदन करना नाईस्वेद है। यह अन्वयार्थिक नाम है।<sup>६३</sup> नाईस्वेद के इत्य—पूर्वोक्त स्वेदोपत्र शिष्य, पुरननवा, कुलथ माषादि, वरुण गुद्यादि इत्यादि के मूल फल, पत्र, शृंगा आदि के वकाश, हिन आदि प्राणि या पश्चिमों के सिर पैर आदि का मास, अम्ल, काञ्जी, लवण, प्राणियों के पितस्नेह तिल, तंडुल, गोमूत्र दूध इनकी वाष्ठ का नाईस्वेद में उपयोग होता है।



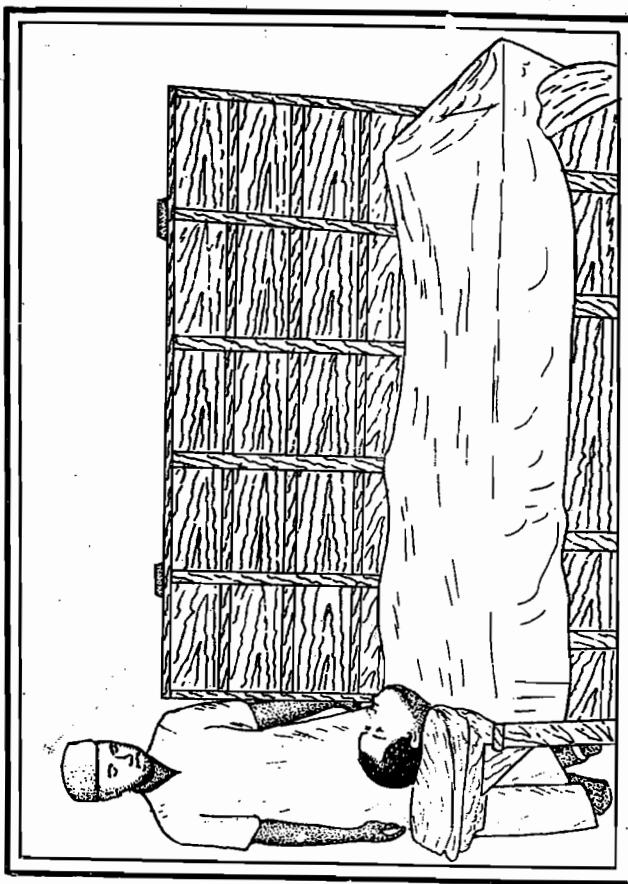
विशेष—बाष्ठस्वेदन यंत्र के ऊपर अध्यक्त आतुर लेटा हुआ है। सिरोभाग खास निर्मित सिरः फलक पर, जालीदार चौकोनों का दिखाने के लिये प्रथम चित्र में आतुर को अनावृत रखा है।

#### बाष्ठस्वेद : ?

विधि—नाईस्वेद के लिए एक ऐसी कुंभी (घट या कलशी) तैयार करें जिसका पुख पेशदार छक्कन से बंद हो, और इसके पार्श्व में एक छिद्र कर नाई जोड़ दी जा सके। नाई के लिए पहले शेरेविका (सरकड़ा); बांस करंजपत्र की नाई या अर्कजपत्र की नाई बनाई जाती थी। चरक ने अच्यतम अर्थात् तत्त्वदृश कोई अन्य साधन का उपयोग करने को कहा है। जिससे धातुनिर्मित नलिका या रबर की नलिका लार्गाई जा सकती है। नलिका एक व्याम लंबी अथवा दोनों हाथ फैलाकर जिनता अंतर होता है— लाभ्या छः फीट लंबी होनी चाहिये। वाष्ठेवंग को रोकने के लिए दो या तीन जगह नलिका टेढ़ी रखनी (मुझी हुई) चाहिये। नलिका की लंबाई अर्धव्याप्त-तीन फीट, एक चतुर्थांश व्याम १। फीट या व्यामाट भाग ६ इच्छी भी रखी जा सकती है। अथवा प्रशस्त गात्र पर व्यापक शरीर पर स्वेद करना हो तो बड़ी कुंभी और छः फीट लंबी नलिका लगावे, छोटे से

मर्यादित अवधार पर करना हो तब आवश्यकतानुसार छोटी कुंभी और ३ फीट, १। फीट या ६' लंबी नलिका लगाकर स्वेदन करें। कुंभी का छिद्र नाई के परिणाह का होना चाहिये। कुंभी में उपर्युक्त द्रव्य जल के माथ भरकर उसे सेगड़ी पर रख दे। जब वकाश तैयार होकर वाष्ठ निकलने लगे तब नाई से रुजाते गात्र का अधर्तीतर स्वेदन करें। यह स्वेद आधे से एक घंटे तक, सात से इक्कीस दिन तक किया जा सकता है। शूल और संकोच प्रधान वातव्याधि में यह अच्छा लाभ करता है।

बाष्ठस्वेद का अन्य प्रकार—नाईस्वेद में वाष्ठ से एकांगस्वेद होता है। सर्वांग में वाष्ठस्वेद करना हो तब कुछ विकसित साधन वाष्ठस्वेदन यंत्र द्वारा स्वेदन करना प्रशस्त होता है। इसमें प्रस्तरस्वेद, भूस्वेद, कम्फिस्वेद के सिद्धांत का वाष्ठस्वेद के सिद्धांत से संयोग कर एक विकसित स्वरूप में स्वेद किया जाता है ऐसा समझा जा सकता है।



विशेष—आतुर को कम्बल से आवृत किया है। नीचे के कोष्ठक का बंद द्वारा दर्शनीय है। आध्यतर कोष्ठ में अगार धनिका एवं कवाश। कम्फिचारी स्वेदावस्था के निरिक्षण में।

#### बाष्ठस्वेद : ?

विशेष—आतुर को कम्बल से आवृत किया है। नीचे के कोष्ठक का बंद द्वारा दर्शनीय है। आध्यतर कोष्ठ में अगार धनिका एवं कवाश। कम्फिचारी स्वेदावस्था के देखें। इस टेबल के नीचे, बंद कोष्ठक (Compartment) में सेगड़ी पर उबलता हुआ दशमूल वकाश या निर्गुही, रस्सा, एंड-मूलादि वातहर वकाश के पात्र रख दें। टेबलपर पतली चादर या कम्बल बिछाकर उस पर अध्यांग किये हुए आतुर को ऐसा सुला दें कि उसका

शिर-खास निर्माण किये हुए शिरः फलक पर रहे—ताकि शिर का स्वेदन न हो। अब आतुर के शरीर पर दूसरा कंबल गले तक ओढ़ा दे। जब वाष्प पात्र से बाहर आएगी तब टेबल के ऊपरी सतह पर रखे हुए जलनीवार चौकनों में से ऊपर आकर आतुरागत का एक साथ पूरे शरीर का स्वेदन करेगी। स्वेद के समय बीच बीच में बैद्य कंबल के अंदर हाथ डालकर कितनी गरमी है यह जान करता रहे। दरधारण होने से बचावे। आवश्यक हो तो वाम-और दक्षिण पार्श्वपर आतुर को उम्रकर स्वेदन करें। लालि, ब्राम, भोह, तिमिरदर्शन, ऐसे लक्षण उत्पन्न हो तो स्वेद तुरन्त बंद करें। स्वेद के बाद गरम पानी से स्पर्शिंग करें। टीवेल से शरीर पोछ ले और आधे घंटे तक निवात करने में कंबल ओढ़कर बैठें। फिर एक घंटे के बाद गरम पानी से स्नान करावे। वाष्पस्वेद गृहस्ती, पृष्ठगतवात, पक्षाघात, और मासंगतवात में देना चाहिए।

४. परिषेक स्वेदः— वातघ या वातकफ्य औषधियों के क्वाय से शरीर पर धारा गिराना यह परिषेक कहलाता है। आतुर शरीर का विश्वित अभ्यंग कर दृश्मूलादि क्वाय से कुंभी (छोटा सा घड़ा) भर कुंभी के सिकुड़े मुख से औषधियों की धारा शरीर पर गिरावे। अथवा वर्षलिल्का— जिसे सहस्रधारा कहते हैं जिसमें कुंभी को एक ऐसी नाड़ी संलग्न होती है जिसके अंत में अनेक छिद्र (ज्ञारी) रहते हैं—उस में औषधि क्वाय भरकर या केवल प्रानडी (Dubcue) में क्वाय भरकर उसके गात्र पर धारा करें। इस तरह क्वाय, तेल, धी, दूध इत्यादि से धारा की जाती है— उसे परिषेक स्वेद कहते हैं।

(या पिरिचिल) नामक स्वेद है जो पक्षाघात में पहुँच बड़े पैमाने पर किया जाता है। इसे कायासेंक भी कहते हैं। कायासेंक धाराकल्प नामक श्री कालीदास वैद्य विरचित पंथ में वर्णित है जिसमें परिषेक का बड़े ही विस्तार से वर्णन किया है। उसके कुछ खास अध्ययत्व विषय नीचे दिये जाते हैं।

### धाराकल्प में वर्णित स्नेहधारा स्वेद

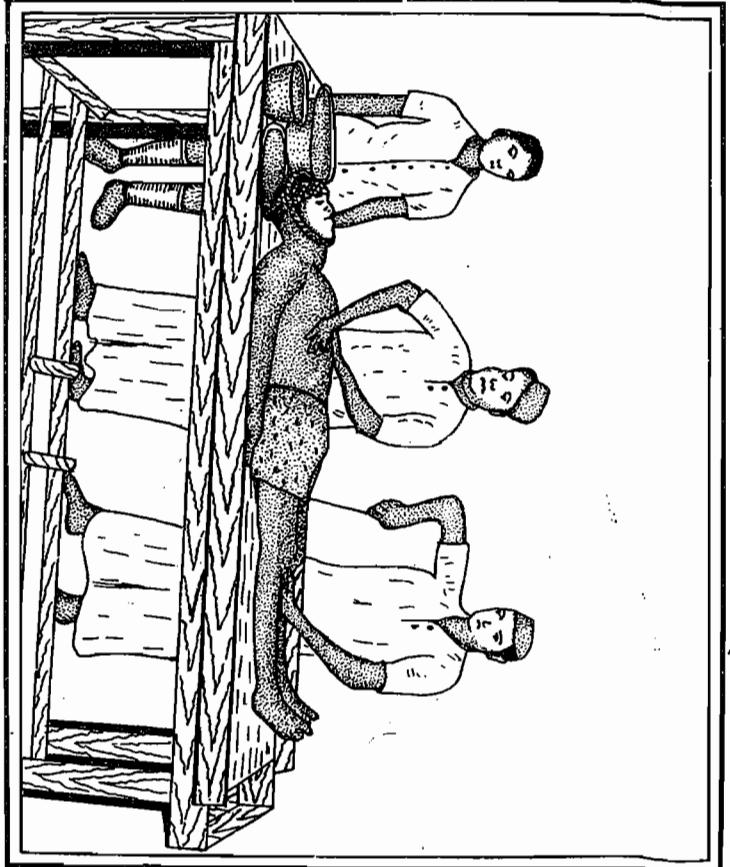
सर्वांगधारा के गुण<sup>४४</sup>—सर्वांगधारा से शरीर में ढूँढ़ा, वृषता, अन्न, ओज और अस्थिश्वन में लाभ होता है। वातादि दोष दूर होते हैं। इस तरह सुखोष्ण स्नेह का सर्व शरीर पर की दृश्य धारा सभी दोषों को दूर करती है।

यह धारा आतुर को द्रोणी में लिटाकर की जाती है। द्रोणी का वर्णन उपकल्पना विज्ञानाध्याय में दिया है। इसकी ग्रंथोंका समान्य कल्पना यहां वर्णित की जाती है।

कैथ, चोच, बालु, उड़ुब्बर, चंदन, वरुण, पिपल, तेवदारु, पुश्चाग, अर्जुनादि वृक्षों में से किसी एक की लकड़ी पसंद करनी चाहिये। यह चार हाथ लंबी और १ हाथ चौड़ी होनी चाहिये। दोनों बाजू में जंबी पिति होनी चाहिये। पादां भाग में बाहर की ओर निकलनेवाला एक रुंग होना चाहिये और शिर के बाजू में एक हाथ ऊंचा शयन विस्तार का एक गत छोड़ा चाहिये। द्रोणी बीच के बाजू में किंचित निम (Slope युक्त) होनी चाहिये और चारों बाजू में चार हृत्ये लगाए हुए हो।<sup>४५</sup>

**परिषेक योग्य परिचारक—** परिचारक कहा हुआ मानवोंवाले, सावधान, और पवित्र हो।<sup>४६</sup>

**धारापात्र<sup>४७</sup>—** शरीर पर धारा करने के लिए स्पष्टिक का, चांदी अथवा ज्ञासादि वृक्षों का, या मिट्टी का पात्र या तांबे का पात्र या वरातिका (कवड़ी) का उपयोग करना उत्तम है। इसमें रोगी के करांगुली के नाम का छिद्र रखे। कोई लोग अंगुली पवों के माप का छिद्र रखना भी प्रशस्त मानते हैं। इस छिद्र से परिचारक इस तरह धारा गिराये कि आतुर को भय न लो।



विशेष—धारा टेबल पर आतुर को लिटाया गया है। दो कर्मचारी वाम ओंग पर धारा कर रहे हैं। फोटो की मुद्रिति वृक्षों के लिये दक्षिणांग के दो कर्मचारी बताये नहीं हैं। उपचारिका निरोक्षण कर रही है। सिसरस्य बहारंध पर आमलकी कल्पक तत तेल और धी से मिश्रणादा करें। पित में कोण्डा धी या तेल से करें। बात में तेल, धी, रुखकर बंधन बांधा हुआ है।

### विरचित अथवा स्नेहधारा स्वेद

**औषधिः<sup>४८</sup>—** व्याध्युक्तल औषधियों के सिद्ध क्वाय से धारा करें, या स्वस्यों में विशेष धारा तरीके से निरोक्षण कर रही है। सिसरस्य बहारंध पर आमलकी कल्पक तत वसा से, पित और रुक्त में धी से, कफ में तिल तेल से, बात और पित रुक्त के संसर्ग होनी चाहिये।

में तेल और धी सम भागायुक्त तथा कफ संसुष्ठि में तेल से आद्धा भाग धी मिलाकर धारा करनी चाहिये।

**सेवनकाल**<sup>७०</sup>—शरीर के अत्यंत रुक्ष होने पर तथा पित्तयुक्त वात में अड़ई मुहूर्त (लगभग ७२ मिनिट) तक धारास्वेद करें, निध कफ मिश्रित आतुर में १। मुहूर्त (३२ मिनिट) धारा करें। अथवा सभी में स्वेदागम यह प्रमाण मानाकर बाद में धारा बेद करें।

जब दृश्य से धारा की जाती है तब प्रतिदिन दूसरा दूष लेना चाहिये। धात्याम्ल तीन दिन में एक बार कर बदलना चाहिये। स्नेह से धारा करनी हो तब पहले दिन के बाद दूसरा स्नेह उसमें मिलाकर दोनों से सेंक करें, और ७ दिन के बाद दूसरा स्नेह उपयोगार्थ होता है<sup>७१</sup>।

**पश्चात्याम्ल**<sup>७२</sup>—यदि शीत परिस्थिक किया हो तो ठंडे जल से सिंचन करें, कुल्ले करें। फिर आराम कर शरीर का मंद मंद मर्दन करावें। फिर गरम जल से स्नान करावें, और धोनिया से सिद्ध जल पिलावें अथवा छाड़ में चिकन्डु, और धी डालकर पिये या धू पीवे। भोजन ताजा और गरम है। जब तक धारास्वेद किया गया हो उतने ही दिन तक और परिहार्य वस्तु का ल्याग कर संयम से रहना चाहिये।

**परिस्थिक साथ रोग**<sup>७३</sup>—गुल्म, आनाह, भगांदर, ब्रण, दूरी, प्रतिदूरी, शूल, अधिग्राह, तोद, उदावर्त, कोठ, मूँहबात (आवृत वात), अष्टीला विसर्प, प्लीहा, आध्मान, विद्रिधि, इनमें एकांग सेंक करना चाहिये।

### पिण्डिचिल—(Pizichili) की प्रयोगिक विधि

पिण्डिचिल की प्रयोगिक विधि, धाराकल्प के मूल पाठ को आधार मानकर ही का जाती है। केलीय चिकित्सा पद्धति के अनुसार यह पद्धति निम्नलिखित प्रकार की है। कायासेक या पिण्डिचिल यह वह प्रक्रिया है जिसमें सतत गरम तैलधारा के द्वारा शरीर का स्वेदन (स्वेद लाना) किया जाता है। पिण्डिचिल योग्य आतुर को कोपीन पहनाकर मंगल और स्वस्तिवाचनोत्तर तैलदोणि में बिठवे। तैल दोणी ज्वालादि काष्ठनिर्मित सेहधारा योग्य ऐसा प्रकोष्ठ है जिसमें से पतित तेल को पुनः जमाकर उपयोग किया जा सकता है। प्रथम औषधि सिद्ध तेल से शिर और शरीर का अध्ययन करें। तेल रोगातुसार अलग-अलग प्रकार का शरीर पर गरम तेल का अध्ययन करें। शिर पर शीतेल और शरीर नानता में क्षीरबला होता है। सामाचातः कफ की प्रधानता में सहचरादि तैल, पित्त, प्रधानता में क्षीरबला तैल, चंदनबला लाक्षादि तैल, और वात प्रधानता में बान्चरादि तैल, महानारायण तैल इत्यादि का उपयोग करें। अध्यगोत्तर आतुर के शिरपर आमलकी कल्प से तलधारणकर, कपाल पर कपास का पैद रखकर स्वस्तिक बंधन ऐसा बाध दे कि वह ऊपर तेल को, और कपाल के कर्मसंघंड को आधार देकर पक्का रखे। 'आयुर्वेदिक ट्रिटमेंट ऑफ केला' इस पुस्तक में तलधारण का उल्लेख नहीं है। केवल कपालपर स्वच्छ कपड़ा बांध देने का निर्देश है, जिसका उद्देश्य है— धारा पतित तेल से आंखों की बचाना तथापि तलधारण करना पर्याप्त है। यदि तलधारण कर, कपास घंड के साथ बंधन बांधें तो, तेल से आंखों को बचाना यह उद्देश्य सावध होता ही है, और साथ-साथ शीत कल्प तलधारण से सर्वांग

स्वेद के बीच उपन उषा से इंद्रियायतन--शिर का रक्षण करने का उद्देश्य भी साध्य होता है।

पिण्डिचिल निरोगी रोगी को आरोग्य रक्षणार्थी भी किया जा सकता है। स्वस्थों में तेल का तैल और गाय का धी मिलाकर पिण्डिचिल करें। रोगियों में पिण्डिचिल के लिए तैल का चुनाव रोगातुसार चिकित्सा का कोर्स आतुर की शारीरिक तथा मानसिक अवस्था को देखकर निश्चित किया जाता है। आग अच्छा स्वस्थ शरीर और स्वस्थ मस्तिष्क का व्यक्तिसंहार हो तो दो दिन में एक बार सेंक करें। प्रतिदिन भी कर सकते हैं, और वार बल में ४ से ६ दिन में एक बार करना चाहिये। पित्त प्रभुता हो तो बार करें, और अब बल में ४ से ६ दिन में एक बार करना चाहिये। पित्त प्रभुता हो तो शीत तेल से और वात दोष की प्रधानता हो तो सुखोष्ण तैल का प्रयोग करें। पिण्डिचिल-स्नेहधारा स्लेड शरीर पर किया जाता है— किंतु इसके साथ वैद्य जरूरी समझे तो शिरोधारा (शीरातेल से) भी कर सकते हैं।

आतुर को तैल दोणी में बिठाने के बाद चार कर्मचारी में से दो-दो आतुर के दायें और बायें ऐसे छड़े गए कि उनमें से उम्य बाजू के दो कर्मचारी अंस से स्फिङ्गा, तक, और दूसरे दो कर्मचारी उम्य के दो कर्मचारी को आकार की छोटी स्फिङ्ग से प्रपाद तक धारा कर सकते हैं। धारा करने के लिए कर्मचारी जारी के आकार की छोटी कुंभियां हाथ में लेकर उससे धारा गिरा सकते हैं, याते अच्छा उपाय यह है कि १०'' x १०'' के आकार का वस्त्र अंडे तैल पात्र में ढुकाकर, किंचित नियोजित तैल अंगुठे से धारा के स्वरूप में को ऐसा झुकावे कि गुर्टी से दबाया हुआ दस्त नियाडित तैल अंगुठे से मुद्द अध्यांग करते हुए आतुर के विशिष्ट गत्र पर पढ़े। यह गिरा हुआ तेल, कर्मचारी बायें हाथ से मुद्द अध्यांग करते हुए पोछता है। धारा का वेग न बहुत शीघ्र हो और न बहुत मंद हो। शरीर धारा में १२ अंगुल अर्थात लगभग नौ इंच की ऊंची से धारा गिराई जाती है। बहुत नजदीक से, बहुत कंचाई से, बहुत वेग से या बहुत मंदनाति से धारा स्वेद करने से आतुर को लाभ नहीं पहुँच सकता, और नुकसान होने का भय रहता है। तेल उतना ही उषा हो जितना आतुर सहन कर सके। बहुत अधिक ग्राम तेल से दधन्यवाण होगा, और अनुष्णा तेल से व्याधि में लाभ नहीं होगा। कर्मचारियों को यह किया अभ्यास द्वारा आत्मसात करसी चाहिये। अन्यथा पहले तेल बहुत गरम है इसलिए, कर्मचारी उसमें हुबे वस्त्र को पकड़ नहीं सकते और कुछ देर के बाद तेल शीत हो जाता है। अतएव नियाधास से उषासपहल की कला सीखनी होगी। वैसे ही तेल की धारा गिरने के पूर्व कर्मचारी अपने बायें हाथ पर (ऊपर) तेल गिराकर देखें कि गिरना गरम है और रोगी उसे सहन कर सकेगा या नहीं। बायें हाथ के ऊपर तेल डालने का कारण यह कि गिरना गरम है और रोगी उसे सहन नियाधास से कुछ उषा-महत्व आता ही है, जितना रोगी को नहीं होता। अतएव खुद समझकर धारा करें। धारा से द्रोणी में जो तेल गिरता है वह द्रोणी के ढलाव के कारण पादात भाग में जाकर वहाँ से छिद्र से नीचे गिर जाएगा जिससे संलग्न नलिका से वह एक पात्र में पुनःजमा किया जाएगा। यह जमा किया हुआ तेल पौच्चवा कर्मचारी फिर से गरम करके इन कर्मचारियों को धारा के लिए देता रहेगा।

**समय**—यह प्रक्रिया बातव्यादि में ५ नाड़िका तक अर्थात् लगभग २ घंटे तक करें। बात और कफरोंगों में १ घंटा तक करें। सामान्यतः स्वेद निकलना यही पर्याप्त समय का निर्देशक है। इस काल में अध्यागोक्त सभी ३ ३/४ नाड़िका या १ १/२ घंटे का काल पर्याप्त माना जाता है।

सात अवस्थाओं में होकर मैं १० से १५ मिनिट तक पिण्डिचल करना चाहिये। शारकल्प में कहा है कि ३०० मात्रा या लगभग आधे मिनट में तेल त्वक् खोते से अन्दर चला जाता है और ३०० में ५०० मात्रा तक पिण्डि-मिन्न थातु में जाता है।

**अयोग्य पिण्डिचल**—अधिक गरम, अधिक या कम ऊन्चाई से धारा गिराना इत्यादि करने से शरीर दाढ़, विसर्प, थकावट, स्वरभेद, संष्ठि में भेदवत् पीड़ा, छेदि, रक्तसाव, (स्वतप्ति<sup>१</sup>), ज्वर, शीतप्ति, उदर्द, कोठ, इत्यादि विकार उत्पन्न होते हैं। ऐसे उपचार उत्पन्न हों तो चिकित्सा बढ़ करके निमलिष्वित प्रकार की चिकित्सा करें। प्रथम दिन आत्मा को गंधर्ष और कबलप्रह करें और नस्य दे और शुंठीक्वाय २ तोला २ या ३ बार पिलावें। उस दिन शाम को लघु भोजन दे। भात, कटी, शुगादि दे। दूसरे दिन स्नेह व्यापद में कही दिन निलह दें, जिसमें सुखोष्ण जल और पांचवें दिन से पुनः पिण्डिचल प्रारंभ करें। इस तरह चिकित्सा द्वारा चूरु करने पर पुनः उपचार उत्पन्न उपचारों से पिण्डिचल में व्यत्यय हो कर चिकित्सा करना असंभव हो जाएगा।

**औषध परिवर्तन<sup>२</sup>**—क्षीरधारा की जाती हो तो दृढ़ प्रतिदिन नया लेना चाहिये। धान्याल्प धारा हो तो एक बार बनाये हुए धान्याल्प से तीन दिन तक परिषेक करें और बाद में बदल दें। स्नेहधारा का तेल भी तीन दिन के बाद बदलना चाहिये। साधारणतः पहले लिया हुआ तेल तीन दिन तक चलाकर बाद में उसे सुरक्षित रखें। फिर चौथे दिन से छठे दिन तक दूसरा तेल उपयोग करें। फिर पहला सुरक्षित तेल, और दूसरे बार लिये हुए ३ दिन तक का उपयुक्त तेल दोनों मिलाकर ज्वें दिन परिषेक करें। आठवें दिन से पुनः नया तेल लेना चाहिये। जिनको प्रतिदिन नया तेल लेना संभव हो उनको तेल बदलकर नया लेना ही प्रयत्नकर है, क्योंकि तेल के साथ शरीर के मल भी तेल में मिल जाते हैं, तो दूसरे दिन के धारास्वेद में पुनः शरीर पर लगाना संभव है। तथापि सामान्य लोगों में सात-सात दिन में एक बार तेल बदलना चल सकता है।

पिण्डिचल के बाद आत्मा को थोड़ा व्यजन दिया जा सकता है अथवा उसके शरीर पर शीतजल से छिपका दिया जा सकता है, ऐसा केलीय नैयों का मत है। यह धारा कल्प में भी बहुत है, किंतु उषास्वेद के बाद तुरन्त शीत सपकं शास्त्र-संमत नहीं है, और प्रत्यक्ष में भी उससे प्रतिश्याय, वातकटक (मासमेशी की ऐठन), इत्यादि विकार उत्पन्न हुए मिलते हैं। थोड़ा आरम कर मुहुर अभ्यंग करावें। शरीर और शिर का भी अभ्यंग करावें और गरम पानी से या तो निरुण्डी, दशमूल, निबसिद्ध जल (क्वाय नहीं) से उसे स्नान करावें। स्नान के बाद शूंठीक्वाय, या जीरकादिक्वाय, या गंधर्वस्तादि क्वाय दे। गंधर्वस्तादि क्वाय पिण्डिचल विधि में प्रतीक्षित २ से ४ तोले प्रमाण में प्रातः सायं दे। गंधर्व हस्तादि क्वाय अनुलोमन है, और परिषेक द्वारा जो मल ज्वों किकास से कोष्ठ में आते हैं उनको अनुलोमन से निकालना चाहिये। परिषेक काल में विक्षेप जरा भी न रहे

इसका अवश्य ध्यान रखें। अन्यथा कोष्ठ में आये हुए मल आनाह, आध्यान, अनिमाद्या, अन्जीर, असूच तथा रोगवृद्धि भी करते हैं।

भूख लगने पर लघु, पावक, शुंठी, आद्यक युक्त सद्व आहार लें। पिण्डिचल इसके अतिरिक्त अपतंत्रक, तथा ज्वीरोगों में भी इसका अच्छा उपयोग होता है। केलीय वैद्य इसका उन लियों में जिनकी प्रसूति प्राकृत नहीं होती, प्राकृत प्रसूति के लिए भी उपयोग मानते हैं। जिनको प्रसूति में बहुत तकलीफ होती है, फौरस्य इत्यादि का उपयोग करना पड़ता हो उन लियों में दूसरी बार गाधणी अवस्था में नवे मास में पिण्डिचल प्रारंभ करें। दो या तीन सप्ताह तक उनको धारा चिकित्सा करने से प्रसूति में तकलीफ नहीं होती। यदि चिकित्साकाल में ही प्रसूति हो जाये तो आगे धारास्वेद बढ़ कर दें।

**परिषेक में परिहार<sup>३</sup>**—परिषेक सात दिन, चौह दिन, इक्षीस दिन या अड्डाइस दिन किया जाता है। जितने दिन परिषेक करें, उतने ही दिन आगे तक निमलितित परिहार संभालें। लियों की स्पर्श भी न करें। लियों को देखना भी नहीं चाहिये, और उसका स्मारण भी न करें, क्योंकि दर्शन, स्मरण तथा स्मरण मात्र से ही शुक्रत्युति की संभावना होती है। व्यायाम, स्वर्पांताप, वेगावरोध, अत्यंत शीत वस्तु का सेवन तथा धूप्रापन चर्ज है। बहुत ऊँचा या बहुत नीचा सिरहाना सोने के लिए न ले। बहुत अधिक सोना नहीं चाहिये। घूल में, ठंडी हवा में बहुत अधिक समय तक खड़े न रहें। शोक, क्रोध न करें, रात्रि जाराण न करें। बहुत जोर से और बहुत अधिक पैदल न चलें। बहुत जोर से और बहुत अधिक भोजन न करें और ब्रह्मचर्य न करें। स्नान तथा पान में गरम पानी बरसें। बहुत अधिक भोजन न करें और ब्रह्मचर्य का पालन करें।

धान्याल्प तैयार करने की विधि, गंधर्वहस्तादि क्वाय की विधि उपकरण-विज्ञान नामक अध्याय में देखें।

**१. अगवाह स्वेद**—अगवाह का अर्थ है मज्जन। वातहपत्रों के क्वाय, क्वायाद्यस्त्र दृढ़, तेल, धी, मातस्त्व, गरमपानी इत्यादि से कोष्ठक (Tub-Tub) या कटाह (कठाई) भरकर उसमें उभयों किये हुए आत्मा को गते तक डूबे हुए, बिठावे या तो लिटा दें। यह अवगाह स्वेद है।<sup>४</sup> स्वदोक्तो औषधि सुखोष्ण ही रहनी चाहिये। अगवाहार्थ त्वं का उपयोग प्रस्तुत है। चार से छः फीट लंबे और नीं फीट चौड़े तथा १।। से दो फीट ऊंचे त्वं जिनके एक बाजू में नीचे जलनिष्कासनार्थ रंग हो, ढकने के लिए पक्के ढक्कन से सज्ज रखना चाहिये। सीमेट का हौज लोहे की कढ़ाई, या तामादि थातु के पात्र या फायबरगलास के ट्वं लिये जा सकते हैं। इस त्वं को संलग्न गरम और ठंडे जल के नल हों, जो जरूरत के अनुसार कम ज्यादा जल गरम करने में सहायक होते हैं। प्राचीन काल में संभवतः घर-घर में 'अगवाह' का उपयोग स्नानार्थ किया जाता है। चक्रपाणि ने अगवाह स्नेह की टीका में लिखा है कि यह तो लोकप्रसिद्ध ही अगवाह है। जिससे इसका पराप्त प्रचार सिद्ध होता है। साधारण उपयोग में दशमूल-क्वाय या दशमूल संस्कारित जल, निबपत्र जल, निर्गुडी जल बलादिक्वाय सिद्ध जल, एंडमूलादि सिद्ध जल से अगवाह स्नेह किया जाता है। अगवाह स्वेद-अस्मारी शूल, काटियूल, काटिपृष्ठात वात, गृजसी, संधिगतवात,

\* एकहावरन सेचनविधि क्षोरादिकं गृह्णते। इत्यादि ..... क्र का संदर्भ देखें।

भावप्रकाश ने कहा है कि नाभि से ऊपर छः अंगुल तक का शरीरभाग जलादि में डूबता है इस तरह आतुर को बिठावे, और कंधे पर गरम धार डालनी चाहिये। एक पुहुंत (४५ मिनिट) से ४ मुहुर्त तक (१६२ मिनिट) अवगाह कर सकते हैं अथवा स्वेदागम तक अवगाह करें। इस तरह तेल, दूध, धी से एकात्र से दो दिन अंतर से अवगाह करावें।<sup>१७६</sup>

**भेलसंहिता में अवगाह के बारे में कहा है—अवगाहार्थ द्रेणी काठ की बनाए।** इसमें वातहर कवायु कृशरा, दूध भरकर अश्वकत आतुर का अवगाहन करावें। स्वेदवागम तक अवगाह करें। इसी तरह कढ़ाई में आधे तक जल भरकर स्वेदन करें। इसे 'उदकोष्ठ' कहते हैं।<sup>१७७</sup>

**६. जेनाक स्वेद**<sup>१७८</sup>— जेनाक स्वेद यह अनन्वयार्थक संज्ञा है। अर्थात् यह भी पांपरा सिन्ड नाम है—सार्थ नाम नहीं, तथापि प्राचीनकाल में यह स्वेद कार्पी प्रचलित था ऐसा बौद्धकालीन इसके किये गये प्रथम अव्यापोक्त उत्तेष्ठ से स्पष्ट होता है। जेनाक स्वेद के लिए पहले एक विशिष्ट आकार का कमरा बनाना चाहिये जिसे कूटागर कहा जाता है।

**कूटागर—कूटागर निर्माण के लिए प्रशस्त भूमि की परीक्षा करनी चाहिये।** कूटागर शहर या गांव के उत्तर दिशा में या पूर्व दिशा में ऐसी जगह बनावें जहाँ कि मिट्टी काली, या सुनहरी रंग की ओर स्थित हो। कूटागर परिवाप (बावली) या पुक्कलिणी (छोटे पोखर), आदि जलाशयों के समीप हो। जलाशय के परिचम या दक्षिण की ओर जहाँ अच्छा सा घाट हो—समतल और सुविभक्त भूमि में जल से सात या आठ अली दूर (१० से १२ फीट दूर), गोलाकार का पूर्वदिशा की ओर या उत्तरदिशा की ओर जलाशय की ओर छारवाला कूटागर (गोल कमरा) बनावे। इस कमरे का विस्तार १६ अंगुली हाथ (लगभग २४ फीट) और ऊचाई परम प्रमाण १६ हाथ होनी चाहिये। अर्थात् गोलाकार कमरा है अतः अंदर का क्षेत्र १६ हाथ व्यास का होना चाहिये। इस कमरे की दीवार मिट्टी की तथा अच्छी तरह लिपी हुई होनी चाहिये। सभी बाजूं में अनेक छोटे छिद्र-वातावरण होने चाहिये। कूटागर में दीवार को लगकर चारों बाजूं में एक पिंडिका बनावें। पिंडिका एक थड़ी या ओटा है जो एक हाथ (१। १ फीट) ऊची और उतनी ही चौड़ी होती है। इसकी व्यासि द्वार पर्यंत होती है। अर्थात् दरवाजा छोड़कर पूर्ण गोलाकार में थड़ी होगी। यह पिंडिका आतुर को सोने के लिए होती है।

इस कूटागर के बिल्कुल बीच में अंगारकोष्ठक संभ तैयार करें। यह

अंगारकोष्ठकसंभ कंडुक (तंडुर) के आकार का, चार हाथ (६ फीट) प्रमाण का, पुरुषप्रमाण का ऊचा जिसमें बहुत से छोटे-छोटे छिद्र वायु के आवागमनार्थ हो, ऐसा बनाये। इस

संभ को ऊपर से बंद करने के लिए ढक्कन होना चाहिये। यह संभ अंगर के लिए होता है यह स्पष्ट है। इसमें छोर, अश्वकर्ण, इत्यादि की सुखी लकड़ी डालकर उसे भरकर आग जलायें। जब अच्छी तरह हो जल जाये, और धुआ निकल जाये, और केवल अंगर से कूटागर गरम हो जाये, तब आतुर स्वेदनार्थ कूटागर का उपयोग करें।

**स्वेदनविधि—आतुर का प्रथम यथोक्त औषधिसिद्ध तेल से सर्व शरीरपर अभ्यंग करें।** अभ्यंग के बाद उसे मानसिक बल दिलाना चाहिये। उसे कपड़े से ओढ़कर कूटागर स्वेदन से करें। ऊपर से सूती मोटी चहर, या मृगचर्म या रेशमी चहर गले तक ओढ़ा

में प्रचिष्ट किया जाता है। प्रवेश के पूर्व उसे समझावे कि— यह स्वेद उसके कल्याण के लिए और रोग की निवृत्ति के लिए किया जा रहा है। अतः अबत्र प्रवेश करो। अब्द जानेपर पिंडिका के ऊपर कपड़ा ओढ़कर लेट जाये। स्वेद के समय जिस प्रकार से उसे अच्छा लगे उस प्रकार करक्वट बदल करें, तथा कूटागर का छार बंद होता है— और स्वेद से दाह, मूँछन्ड आदि उत्पन्न होने पर भी वह पिंडिका को न छोड़े। अर्थात् पिंडिका के सहरे ही धीरे-धीरे बाहर आना चाहिये। पिंडिका यदि छोड़ देगा (तो बीच में जाकर) तो वह छार की ओर (अंधेरे के कारण) पहुंच नहीं पायेगा, तथा स्वेद मूँछन्ड से (अगार संभ पर टक्करकर) उत्तन प्राण खो देगा। इसलिए किसी भी हालत में उसे पिंडिका को छोड़ना नहीं चाहिये। (आजकल जेनाक के कूटागर में विद्युत प्रदीप लगाये जा सकते हैं— जिससे भरपूर प्रकाश मिल सके)। जब उसे प्रतीत हो कि स्वेदन भलीभांति हुआ है, शरीर में अभिष्वद के (लिये हुए के समान प्रतीत) का हास हुआ है, पिछा और स्वेद का अच्छी तरह स्थाव हुआ है, शरीर हल्का हुआ है, गोरब, विंध्य और स्तंभ (जंक्शन्हृष्ट) का नाश हुआ है, तब पिंडिका को सहारा बनाकर धीरे-धीरे चलकर छार के बाहर आ जाए। बाहर आते ही आंखों के रक्षणार्थ एकदम ठंडे जल का स्पर्श उसे नहीं करना चाहिये। ऐसा शीतलस्पर्श उष्णशरीर में वाष्प निर्माण कर उसकी आंखों पर छारब असर कर सकता है। अतः शरीरोंषा धीरे-धीरे शांत होने पर, श्याकावट दूर होने पर एक मुहूर्त (४५ मिनिट) के बाद गरम पानी से परिषेक या स्नान करें। यह जेनाक स्वेद है।

इस स्वेद में रोगी का सर्वांग में एक साथ बड़े तापमान पर स्वेदन होता है। यह वाष्पस्वेद का प्रकार समझना चाहिये न कि तापस्वेद का। इसमें वैश स्वयं कूटागर में रह नहीं सकता। अतः व आतुर को अनेक आवश्यक सूचनायें देकर अंदर भेजा जाता है। इस स्वेद में अधिकतर हमें आतुरपर ही निर्भर रहना होता है। अतः वह बुद्धिमत्त (Intelligent) अनुरक्त (Cooperative) और वैद्यानुकारी होना चाहिये। अपास्त्रार उन्माद जैसे बुद्धिविश्वामादि अवस्था में, डृष्ट नियतवाले आतुर में यह स्वेद न करें, क्योंकि वे अंगर कोष्ठक पर टक्करकर खुद का और वैद्य कीर्ति का नाश करते हैं। इसी तरह सर्वांगाधात, या पक्षाधात में जहाँ आतुर स्वयं चल न सके, वहां बांबार कर्मचारियों को अंदर जाकर आतुर की परिस्थिति देखकर समयानुसार उसे बाहर निकालना चाहिये। यह कूटागर इतना प्रशस्त होता है कि इसमें एक साथ तीन चार आतुरों का भी स्वेदन किया जा सकता है। केवल विशेष चिंता इस बात की कोरे कि प्रत्यक्ष का सम्यक स्वेदन अलग-अलगा समय होने के कारण यथावत उहें बाहर आने पर पश्चात्कर्म का प्रबंध रखना होगा। जेनाक स्वेद के बाद कुछ देर तक (४५ मिनिट) आतुर को जलसमीपवर्ति अन्य छोटे से कमरे में विश्रांति करना हितकर है, जहाँ उसे प्रत्यक्ष वायु का संपर्क न हो और प्रत्यक्ष शैत्य का संपर्क न हो।

७. अश्वस्त्रन स्वेद<sup>१७९</sup>— एक व्यक्ति से शयन प्रमाण की अर्थात् छः फीट लंबी और ढाई फीट चौड़ी ऐसी एक शिला संग्रहित करें। इस शिला पर बातहर देवदार आदि काढ़ों से आग जलाकर उसे गरम करें। फिर शिलापर जल डालकर आग बुझावे, और वहाँ से काष्ठादि की हटाकर उस पर रेशम का कपड़ा बिछाकर अभ्यंग किये हुए आतुर को उस पर लियावें। ऊपर से सूती मोटी चहर, या मृगचर्म या रेशमी चहर गले तक ओढ़ा

दे। इस प्रकार तसीशिला के वाष्प से स्वेदन करना अशमधन स्वेद है। अशमधन स्वेद और प्रस्तरस्वेद में बहुत अधिक फरक नहीं है। दोनों में शयान प्रमाण की शिला ली जाती है तथापि प्रस्तर-स्वेद में शिला की जगह, निवात कमरे में केवल शयानप्रमाण में भी स्वेद किया जा सकता है। प्रस्तर स्वेद में काष्ठशिला भी चल सकती है। उस पर शमीधात्यादि पकाकर बिछाकर स्वेद किया जाता है जो स्थान स्वेद है, और अशमधन में लकड़ी को शिलापर ही जलाया जाता है और उससे सतत शिला की भाष्प स्वेदन में प्रयुक्त होती है जो स्थिथ स्वेद नहीं है—अपृष्ठुं कुछ रुक्ष स्वेद ही है।

५. कुर्झस्वेद<sup>३०</sup>—कुर्झ का अर्थ है ऐसा गर्त (गढ़ा) जो अंतर से विसीण और मुख में कम चौड़ा होता है। चौपाई खने के लिए आवश्यक जाह के नीचे ऐसा एक गड़ा योग्य स्थान में (निवात, पवित्र) बना जाता है। इस कुर्झ में औषधिकार्षियों को जलाकर, कुर्झ के ऊपर चौपाई पर (जन के कंबल पर) अध्यक्षता आत्मा को लिटाकर स्वेदन करना कुर्झस्वेद है। आंगार का प्रत्यक्ष संपर्क है—जहाँ अशमधन में वाष्प का संपर्क होता है। यह भी रुक्ष स्वेद है।

६. कुटी स्वेद<sup>३१</sup>—कुटी स्वेद के लिए गोलाकार, न बहुत बड़ी और न बहुत छोटी कुटी (झोपड़ी या कमरा) बनाये। इस कुटी की अंतर की दिवारें कुष्ठादि उष्ण सुगाढ़ी औषधियों के कल्पक से लिपित कर ले। इस कुटी में खिड़की या झारोंका इत्यादि नहीं होना चाहिये। इसमें एक खटिया रख कर उस पर मोटा कमबल, मूगचर्म या गोणिक (सन) का कपड़ा लिया दें— इस पर अध्यक्षता आत्मा को लिटाकर उसके चारों बाजू में निर्धूम जलाती हुई अग्निठिया रखकर स्वेदन करें—यह कुटी स्वेद है। कुटी स्वेद में और जेताक स्वेद में और जलाकर खेद प्रतीत होता है। वैसे ही जेताक स्वेद में बीच में आंगार और दीलाक के तरफ ओटेपर आत्मा का स्वेदन किया जाता है तो कुटी स्वेद में बीच में आंगार और चारों बाजू में आंगार रखकर स्वेदन किया जाता है। कुटी में आंगार से संतस हवा से (वाष्प स्वेद) स्वेदन होता है। अष्टांग संग्रह में भी ऐसा ही कुटी स्वेद का वर्णन है।

१०. घू-स्वेद<sup>३२</sup>—अशमधन स्वेद में जो विषि बताई गई है वही विषि भूमिपर करना घू-स्वेद कहलाता है। निवात स्थान में प्रशस्त और समतल भूमि पर काष्ठादि जलाकर उस पर पानी डालकर बुझा दें— और उनको हटाकर वहाँ रेशम का कपड़ा बिछा कर आत्म को लिटा कर स्वेद करें।

तैयार करें। इसे अंदर से भिट्ठी से अच्छी तरह लीपकर साफ करें। इसमें हाथी, गधा, उंट, गाय, घोड़ा, इनमें सूखे हुए पुरी भर दे और आंगर जलाये। जब थुआ निकलना बंद हो जाये तब ऊपर चारपाई पर अच्छी भोटी सी कब्जल या चहर—या बिछोना बिछाकर अध्यग किये हुए आत्म को लिटाकर स्वेदन करें। यह कूपस्वेद कुर्झस्वेद से बड़ा है। इसका मुख शयन विस्तार से बड़ा है, जो कुर्झ में संकृचित मुख है। कुर्झ में काष्ठ की अग्नि है, जहाँ कूप में प्राणियुरीष से अग्नि जलाई जाती है। यह कुर्झ की अपेक्षा ज्यादा उष्णतावाला स्वेद है। रुक्ष प्रकार का है।

१३. होलाक स्वेद<sup>३३</sup>—चारपाई के अंदर के प्रमाण की—एक धीतिका सेगड़ी तैयार करें। अर्थात् लाभग ५ फीट ६ इंच लंबी और दो फीट चौड़ी। इनमें हाथी, घोड़े आदि की सूखी हुई लीद भर कर, आग जलाकर, चारपाई पर बिछाने पर अध्यग किये हुए आत्म का स्वेदन करें। इस स्वेद में कूप स्वेद का ही छोटा सा स्वारूप है, और कहीं पर भी कभी भी करने योग्य स्वेद है। यह शयनविस्तार की सेगड़ी न हो तो चौपाई के नीचे स्मार्त से ४ सेगड़ियां (छोटी) रखकर भी स्वेद किया जा सकता है।

१३. तापादि चार प्रकार के स्वेद—सुधूत और वारभट ने ताप स्वेद, उष्मस्वेद, उपनाह स्वेद और द्रव स्वेद ऐसे चार प्रकार के स्वेद कहे हुए हैं, उनका वर्णन संक्षेप में यहाँ वर्णित किया जाता है, क्योंकि इनका विस्तार ही चरकोक्त तेरह स्वेद है।

१३. तापस्वेद<sup>३४</sup>—तापना यह तापस्वेद है। तापने का मतलब प्रत्यक्ष अग्नि-संपर्क है। इसमें अग्निद्वारा गरम किये हुए—हाथ से, कांसे से, कटुक से, कपाल-खर्पर से, बालुका से, वस्त्र से, लोहे के फलकों से गात्रपर स्वेदन किया जाता है। कटुक को अपूपचन घांड कहा है जो गोल होता है। यह दाल पकाने का गोल, कम बैड़े मुख का तथा पेने में गोलाकार से पर्याप्तर बाला पात्र होता है। अरुणदस्त ने फल-लौहे के तरे के सदृश फलक के, तथा आदि शब्द से काष्ठ, बालुका घड़, कांसे के पात्र त्यादि का उपयोग करने को कहा है। यह विशेषतः रुक्ष स्वेद है। क्योंकि इसमें केवल तापने के माध्यम स्वरूप कामालादि बहुतओं का सहाय्य लिया जाता है। सुधूत ने तापस्वेद का एक और प्रकार भी कहा है, जो कूप, कुर्झ होलाक स्वेद के समान है। शया या खटिया के नीचे खदिरादि आंगर जलाकर खटिया पर लेते हुए आत्म का स्वेदन करने को कहा है। डहण ने कहा है कि तापस्वेद में निर्दिष्ट कठुकादि साधन को उत्पत्क्षणमात्र समझ कर जेताक, कुर्झ, कूप, कुटी, कूप होलाक ये पाच प्रकार के (चरकोक्त) स्वेदों का इसमें अंतर्भवि होता है, तथापि यहाँ द्यान देने योग्य विषय यह है कि कठुक को तापाकर उसका त्रयत्व मात्रस्तर ताप स्वेद में अपेक्षित है। कपाल, बालुका, इत्यादि भी इसी तरह प्रत्यक्ष मात्रस्तर ताप स्वेद में आते हैं, किंतु जेताक, कुर्झ, कूप और होलाक स्वेद में इस तरह त्वचापर संपर्क में आते हैं, किंतु जेताक, कुर्झ, कूप और होलाक स्वेद में इस तरह त्वचापर संपर्क द्वारा अग्नितस द्रव्यों का गात्रपर स्वर्ण नहीं होता बातिक इन सभी में गरम हवा से ही स्वेदन किया जाता है। अतएव इनका समावेश उष्मस्वेद में कला अधिक उचित है और डहण ने उष्मा का अर्थ वाष्प ही किया है—१० सुश्वत ने अंत में तापस्वेद में 'शयानस्य चांग तापो बहुशः खदिरागौरित' वचन से जो और एक स्वेद कहा है इसी से डहण ने उपर्कृत प्रकार का व्याख्यान किया है ऐसा प्रतीत होता है। अर्थात् यह

असंत मृदु स्वेद है। शारीर की प्राकृतउषा से अथवा निर्झम अग्नि पर हाथ गरम कर निवातस्थान में बैठकर बच्चों का धूति-धूरी मृदु स्वेद करें।<sup>५५</sup> हाथों को एक दूसरे पर गाड़कर गरम करके भी स्वेद किया जा सकता है। वरक्षस्वेद भी मृदु है। बालकों की सुकुमरता जैसे-जैसे कम होती जायेगी, और वयानुसार अवयवों में काठित्य आने लगेगा जैसे-जैसे उनको उपनाहादि आगे करें हुए स्वेद करना चाहिये।

२. उष्मस्वेद<sup>५६</sup> — उष्मा का अर्थ है वाष्प। वाष्प से स्वेद करना उष्मस्वेद कहा जाता है। सुश्रुत ने उष्मस्वेद निम्नलिखित प्रकारों से करने को कहा है।

१. खर्पर, पत्थर, ईट, लोहे के गोले इनको आग में तपाकर इन पर ठंडा पानी या कांजी डालकर बूझावें, और गोले वक्ष में उड़े लपेट कर अंग का स्वेदन करें। जेज्जटाचार्य के मतानुसार गोले वक्ष से गात्रपरिवेष्टन कर स्वेदन करें।

२. मांसस्र, दूध, दही, तैल, कांजी, वातहरपत्र क्वाथ इत्यादि से कुंभी (घड़े को) भरकर दब्बों को खूब उबालकर उसके वाष्प का स्वेदनार्थ ग्रहण करें। चारकोक्त कुंभी स्वेद में इस क्वाथ में लोहे के गोले डालकर कुछ फरक किया है।

३. इसी कुंभी पर दूसरी कुंभी उलटी (अशेषमुख) रखकर संधान करके ऊपर के कुंभी के पेन्द्र में छिद्र कर उसमें हाथी के सूँड के समान नाड़ी लगाकर उस नाड़ी से वाष्प को विशिष्ट अवयव पर ले जाकर स्वेदन करें। नाड़ी अर्धव्यास (३ फीट) लंबी तथा निलिङ्ज (कुशादि चटाई निर्माण के दब्बों) की बनी हुई और दो तीन जगह मुड़ी हुई हो। यह स्वेद चालकोक्त नाड़ीस्वेद के समान है।

४. पुरुष के लंबाई और चौड़ाई के प्रमाण का ( $6'' \times 21''$ ) एक गर्त (नाति गंभीर) खोदकर उसमें खादिरादि से आग जलायें। पिर पानी, दूध, धान्याद्य डालकर बूझाकर उस पर वातवृष्टि की शय्या (बिल्लोना) बना कर उस पर आतुर को लिटा कर स्वेदन करें। यह स्वेद अस्मधन और भूस्वेद के समान है।

५. किसी शिलापर खदिरादि काष्ठ जलाकर, पूर्ववक्त उसे बुझा कर गाख हला कर उस पर आतुर को लिटा कर स्वेद करें। यह अश्वधन के समान है।

६. इसी तरह चार दीवार में एक-एक ऐसे चार द्वारवाली कुटी बनाकर इस कुटी में आतुर को बिठाकर या लिटाकर प्रत्येक द्वार में एक सेघाई रखकर स्वेदन करें। यह कुटी स्वेद के समान है।

७. कोष धान्य और शमीधान्य माष, मूंगा, आदि को अच्छी तरह पका कर रेशम के वक्ष पर, या चटाई पर बिछाकर, या, किसी अन्य साधन पर (प्रस्तार, काष्ठादि) बिछाकर उस पर आतुर को लिटाकर कपड़ा ओढ़कर स्वेदन करें। यह प्रस्तर स्वेद के समान है। इस तरह रेती, गवादि के पुरीष, तुष, इत्यादि का उपयोग करें।

वार्षण ने उल्कारिका, खर्पर रेती, पत्रभंगक्वाथ, धान्य, गवादि पुरीष, बालुका, तुष इत्यादि को तपा कर अनेक प्रकार से स्वेद करने को कहा है।<sup>५०</sup> अश्वांत् इसमें उपर्युक्त सभी उपयोग करने चाहिये।

८. उपनाह स्वेद<sup>५१</sup> — जिसमें उपनाहन अश्वान अथवा बंधन किया जा कर स्वेद किया

जाता है उसे उपनाह स्वेद कहते हैं। “णहूं बंधने” प्रकार से बंधनार्थक धातु से उपनाह शब्द बना है। उपनाहस्वेद की जो विधि सुश्रुत ने कही है, उस पर से इसके तीन प्रकार सभावित होते हैं।

९. प्रदेह—वातहर औषधियों के मूल, पप्र, इत्यादि को कल्क बनाकर अम्ल कांजी आदि के साथ खूब पीसकर सेंधव लवण डालकर किंचित् स्नेह मिलाकर प्रदेह या लेप से घेवेदन करना यह प्रथम प्रकार है।

१०. संकर या पिंडस्वेद—काकोल्यादि गण, एलादि, गण, सुरसादि गण में कही औषधियों, तिल, अलसी, सरसू इत्यादि के, कल्क, कृशग पायस, उल्कारिका, बेशवार (मांसचूरण) इनको कपड़े में बांधकर पोटली तैयार कर स्वेदन करना यह दूसरा प्रकार है।

११. डहण ने इसे सकरस्वेद कहा है, और उपनाह का भेद माना है।

३. बंधन—उपर्युक्त दब्बों को गरम कर पतले कपड़े में बांधकर रुजाते गात्र पर रखकर पट्टी बांध देना यह तीसरा प्रकार है।

दागभट ने वच्चा, किशव, सौंफ, देवदारु, धनिया, गंधद्रव्य, रासना, एरंड, जटामांसी, मांस इनमें लवण स्नेह, छाछ, दूध, अमल्युका इत्यादि मिलाकर, चर्म पद्द (चमड़े का पहुँच) द्वारा बंधन करने की उपनाह कहा है। चमड़े के पहुँच के अभाव में वातहर पत्रों के द्वारा, रेशम के कपड़े से या ऊन के कपड़े से दब्ब गात्र पर बांधने को कहा है।<sup>५२</sup> इस तरह चमड़े के भिन्न-भिन्न आकार के जातु, कूर्फ़र, गुल्फ़, पृष्ठ, असादि संधियों में तथा हाथ, पांव, जघा, उर्मी, बाहु आदि लंबगाल आकृति के सामान्य प्रमाण के उपनाह पट्टे तैयार करना बहुत अच्छा है। चर्मपट्ट से अधिक दर तक गरमी रहती है, और अवयव को भलीभांति बांधने में मदद होती है। सुश्रुत ने साल्वणरेवेद नामक उपनाह स्वेद कहा है, इसका वातव्याधि चिकित्सा में विस्तार से वर्णन किया है। इसमें चर्मपट्टादि बंधनों से बांधने का निर्देश है।

४. साल्वण उपनाह स्वेद<sup>५३</sup> — साल्वणरेवेद एक रुद्ध संज्ञा है। डहण ने ‘उल्कणेन वर्तते साल्वण उपनाह स्वेद’ भी दी है। इसमें गुणाधिक्य तथा क्रमाधिक्य उपनाह ऐसा इति साल्वणः। ऐसी व्युत्पत्ति भी दी है। इसमें काकोल्यादि उपनाह के प्रचुर प्रयोग के कारण साल्वण स्वेद ऐसा कहा है। अन्यथा इसे काकोल्यादि उपनाह करें। इस नाम देना चाहिये था।

५. साल्वण के कारण साल्वण वात में करें और केवल वात में वेशवारादि उपनाह निनोक्त प्रकार से करें।

६. साल्वण के लंबाई और चौड़ाई के प्रमाण का ( $6'' \times 21''$ ) एक गर्त (नाति गंभीर) खोदकर उसमें खादिरादि से आग जलायें। पिर पानी, दूध, धान्याद्य डालकर बूझाकर उस पर वातवृष्टि की शय्या (बिल्लोना) बना कर उस पर आतुर को लिटा कर स्वेदन करें। यह स्वेद अस्मधन और भूस्वेद के समान है।

७. कोष धान्य और शमीधान्य माष, मूंगा, आदि को अच्छी तरह पका कर रेशम के वक्ष पर, या चटाई पर बिछाकर, या, किसी अन्य साधन पर (प्रस्तार, काष्ठादि) बिछाकर उस पर आतुर को लिटाकर कपड़ा ओढ़कर स्वेदन करें। यह प्रस्तर स्वेद के समान है।

वार्षण ने उल्कारिका, खर्पर रेती, पत्रभंगक्वाथ, धान्य, गवादि पुरीष, बालुका, तुष इत्यादि को तपा कर अनेक प्रकार से स्वेद करने को कहा है।<sup>५०</sup> अश्वांत् इसमें उपर्युक्त सभी उपयोग करने चाहिये।

८. वित्तानुगत वात—काकोल्यादि गण की ओषधियां आनूप मांस + मत्स्यादि + वातगत गण की ओषधियां या एलादि + वातगत गण की ओषधियां आनूप मांस + मत्स्यादि + अम्ल कांजी आदि + चार स्नेह धी आदि + सेंधव इनको गरम कर बांध दें।

२. कफानुपत वात—सुरसादि, गण की औषधियां + वातध गण की औषधियां का कल्क + आनुपमास + मत्त्य + अम्लकांजी इत्यादि + चार स्नेह + सैंधव इनको विधिवत् बांध दें।

३. केवल वात में—वेशवार + वातध गण की औषधियों का कल्क + मत्त्य + आनुप मास + अम्ल कांजी इत्यादि + सैंधव इनका उपनाह करें।

साल्वण स्वेद किसे करें? —वातव्याधि से पीड़ित रुण जिनके शरीर में अत्यंत रुजा है, गांतों का सकोच हुआ है, गात्र स्तब्ध (Contractures) हुए हैं, उनको सालवण उपनाह करें।

उपर्युक्त औषधियों में प्रमाण के बारे में डहण ने कहा है कि मास और कालोल्यादि औषधि के कल्प समझाग ते, इसमें अम्ल द्रव्य उत्तीर्ण मात्रा में डाले जितने से सभी द्रव्य खद्दे हो जायें, और स्नेह उत्तीर्ण प्रमाण में डाल दे जितने से सभी द्रव्य स्तिथ तो जायें। इन सबको अच्छी तरह पकाकर एकत्र पीसकर उपनाह कर दे। इसी पद्धति से माषसेव उपनाह, निंबपत्र उपनाह, आदि किये जा सकते हैं।

४. द्रव्यस्त्रेद<sup>५४</sup>—द्रव्य के द्वारा स्वेद करने के कारण द्रव्यस्त्रेद कहते हैं। द्रव्यों में वातहस्त्रवाय, दृथ, मासरस, युष, तेल, धात्याप्त धृत, वसा गोमूत्र, उनका उपयोग किया जाता है। इस स्वेद के परिषेक और अवगाह ऐसे दो प्रकार हैं। परिषेक में इन द्रव्यों की सूखेज्ञ धारा निराई जाती है और अवगाह में पूर्वोक्त प्रकार से दोणी या कटाह में भजन किया जाता है। यह अर्थ, अश्मरी शूल में लाभप्रद है।

कुंभी और नाड़ी पहले कहीं जा चुकी है। गलती यह गागर आकार का अधिष्ठेता पात्र के समान पात्र है। जो सुखर्ण, रुजत, ताप्र, इत्यादि धातु से बनाया जाता है। इसके छिद्र से धारा निराई जाती है। विस्तृत वर्णन उप-कल्पना विश्वान नामक अध्याय में देखें। गांतों को कपड़े से ढक कर पारिषेक करने का निर्देश वाभाट करते हैं।

### स्वेदविधि विधान

स्वेदविधियों का एकक्षणः वर्णन पीछे कर दिया है। अब इस प्रथ के उपक्रमानुसार स्वेदविधि विधान की कुछ सामान्य बातें पूर्वकर्म, प्रधानकर्म और पश्चात्कर्म के क्रमानुसार वर्णित की जाती है।

१. पूर्वकर्म—स्वेदविधि के पूर्वकर्म में निम्नलिखितानुसार विचार करना चाहिये।
२. स्वेदपूर्व सामान्य नियमों का विचार

३. आतुरगत पूर्वकर्म

१. साधन सामग्री—स्वेद के अनेक प्रकारों का वर्णन पीछे कर चुके हैं। उनको सुचारुलूप से संपन्न करने के लिए सभी सामग्री प्रयत्नपूर्वक जमाना चाहिये। जिसमें जैतोकस्त्रेद का कुटागार निर्माण, कुटीस्त्रेद से कुटी निर्माण प्रस्तरस्त्रेद, अश्मधन स्वेद के लिए पत्थर, थूस्त्रेद के लिए निवात कोठी, कुरु, कूप स्वेद के गर्ता का निर्माण, अवगाह के कंटाह, टब, परिषेक के तैल द्रोणी, कुमिया, झारिया, गलती, नाड़िकाएँ, वाष्पस्त्रेदन

यंत्र इत्यादि का समावेश होता है। रेशम के वस्त्र, सूती सफेद मजबूत कपड़ा, ऊन के कंबल, चहर, पतली एवं जाड़ी चहर, चमड़े की घिरन-घिर आकार की थैलियां, कपड़े बड़े-बड़े आकार के तथा छोटे आकार के पात्र—१० पौँड, ८ पौँड, ६ पौँड इत्यादि क्रमसे बैलियां इन सबको संग्रहीत करें। एल्यूमिनियम, स्टील, ताम्र, पीतल या धातु के द्रव रखने की श्रमता वाले संग्रह करें। जो व्यायाम निर्माण में, स्वेदन में, वाष्प प्रयोग में, तेल कांजी, मासरस दृश आदि संग्रह करने के लिए तथा अन्यान्य प्रयोजन में आवश्यक होते हैं। बड़ी एवं छोटी आकार की अंगीठियां स्टोल्ड, हॉल्टेट, तवा, दर्वा, सरोते, संदंश अंगार डब्बी (मेच बॉक्स), कपास, बैंडेज, गोजपीस, रस्सी, अलग-अलग प्रकार के ड्रॉन, इत्यादि छोटी-छोटी सामग्री भी जुटावे। स्वेदप्रयोगी औषधियों जो पीछे कहीं गई हैं,— कालोल्यादिगण, उरसादिगण, एलादिगण, वातधगण, अलवरी, स्वेदप्रयोग गण, शूक्रधात्य, शमीधात्य, पिंडस्वेद उपनाहादि के द्रव्य, मास, मत्त्य, दृथ, तेल, धी, वसा, मज्जा, बालुका, पायु, भस्म, धात्य, गोधूमसकल, कंकड़, छोटे-छोटे पत्थर, लोहे के गोले, गाय, घोड़े, ऊँट, गधे इत्यादि प्राणियों के सुखे पुरीष, खर्पर आदि का संग्रह करें।

स्वेदोत्तर उपद्रवों को ध्यान में रखकर आवश्यक औषधि सूतशेखर रस, प्रवालपीटी, शंखभस्म, चंद्रकला, गोदंती, छर्दिषु, हेमार्थ, दशपूलारिष्ट, जात्यादितैल, पचाकादितैल, जात्यादि मरहम तथा कमलपत्र, उझोर, नागरमोथा कंदलीपत्र, चंदन इत्यादि का संग्रह करें।

स्वेद के अलग-अलग प्रकारानुसार कर्मवक्ष, निरुण और वैद्यानुकारी, सुहृदकर्मचारी-ज्ञाएवं पुरुष—प्रयाति सच्चा में स्वेदध्वन में तैयार रखने चाहिये।

२. स्वेदपूर्व सामान्य नियमों का विचार—स्वेद की चिकित्सा सफल तभी हो सकती है जब रोग, ऋतु, व्याधित या रोगी, देश, व्यादि का विचार कर अवस्थानुसार योग्य स्वेद किया जाता है।<sup>५५</sup> इनका संक्षेप में विचार करें।

३. रोग—रोगानुसार कहीं कौनसा स्वेद करना चाहिये, तथा अमुक रोग स्वेदनाहै या नहीं। इसका प्रथमनिर्णय करना चाहिये। अन्यथा महान अनर्थ संभव है। वातव्याधियों में यूल, संकोच संभंप्रधान हो तो उपनाह करना चाहिये, कर्मक्षय प्रधान पश्चात, खंज, पंगु, अदित में पिण्डिचित, षाष्ठिक शाली पिंडस्वेद, अज्ञलेप इत्यादि आम प्रधान सशोथ अवस्था में लेप-प्रतेहयुक्त उपनाह, बालुकास्त्रेद ईंट गुण, खर्पारादि रुक्ष स्वेद करें। गृह्णसी, विश्वाची, खल्ली पृष्ठकटिगत वात इत्यादि में वाष्पस्त्रेद करें। अश्मरीशूल, काटिशूल इत्यादि में अवगाहस्त्रेद करें। इस तरह तत्त्व रोग और उनके चिकित्सा का स्पष्ट ज्ञान चिकित्सक को कर लेना चाहिये।

४. ऋतु—ऋतु के अनुसार शीत ऋतु में महान स्वेद और उष्ण ऋतु में (ग्रीष्म में) मुँह स्वेद करें।<sup>५६</sup>

५. व्याधित या रोगी—रोगी अगर उत्तम शरीर बलवाला, दुःख मानसिक बलवाला हो तो तो तीक्ष्ण या महान स्वेद करें, यदि मध्यम शरीर और सामान्य मनोबल वाला हो तो प्रथम स्वेद, और दुर्बल शरीर वाला तथा अवर मनोबल वाला हो तो मुँह स्वेद करें। यहां पर महान स्वेद, मध्यम स्वेद और मुँहस्त्रेद से कुटी, जैताक, प्रस्तर, इत्यादि सर्वांग, एकांग स्वेद का तथा किसी एक स्वेद से तीक्ष्णानि, मध्यमानि और हीनानिताप का ग्रहण करें। काश्यप ने रोगियों के बारे में एक विचार बात कही है। वे कहते हैं कि कुछ

आतुर (बालक) ऐश्वर्यवान श्रेणी के तथा धनिक लोगों के संतान होते हैं। कुछ मध्यम आतुर के और कुछ दरिद्र लोगों के संतान होते हैं। अतः निषेच उपति को देखकर, उनका पालन पोषण करने हुआ यह सात्य देखकर स्वेद का प्रयोग करें। ७७ वैसे तो काशयप मानते हैं कि रोगा तो सभी को बिना भेदभाव किये होते रहते हैं, किन्तु मुख्य फ्रक तो इसमें रहता है कि धनिक लोग सभी सामग्री बारबर जुटा सकते हैं और तैयार को उचित (दिक्षिणा) धन दे सकते हैं, वैसे ही वैद्य के कहे हुए अनुसार से सभी पश्चों को संभाल सकते हैं। ६६ वैसे तो उपर्युक्त उचित अलंत कठु है लेकिन व्यवहार में यह सब है। काशयप ने एक व्यवहारी मार्ग का ही यहां संकेत किया है ऐसा कहना अनुचित नहीं है। पिंडस्वेद चावल, गेहूं, घमीधारा, शुक्कधारा के किसी भी शाखा से कर सकते हैं। औषधि भी कम ज्यादा गूँह, बालुका, पुरीषादि का भी स्वेद होता है— और अवगाह में मूल्यवाली होती है। रेती, बालुका, पुरीषादि का भी स्वेद होता है। अतः प्रश्न यह है कि कोन रोगी कितना व्यय उठा सकेगा? तथापि किसी भी रोगी की ऐसे के लिए वंचना नहीं करसी चाहिये। धनवान है अतः बालुकादि के स्थान पर अन्य मांसादि के पिंडस्वेद, भी मान्य नहीं है। मानवताधर्म का पालन करने का निर्देश आयुर्वेद में जगह-जगह मिलता है। यहाँ सामान्य निर्देश ही समझना चाहिये, और शासकीय आतुरालय में उपर्युक्त विचार गौण रहता है।

५. देश—आतुर शरीर के भिन्न-भिन्न देश को ध्यान में रखकर स्वेद करना चाहिये। आमाशयात वात में स्वेदपूर्वक स्वेद करें, पक्वताशयात कफ में स्वेदपूर्वक स्वेद करें। वृषण, हृदय, नेत्र इनको हमेशा स्वेद से बचाना चाहिये। अत्यावश्यक हो तो मुद्द स्वेद करें। बड़े स्वेद के समय भी इन पर कमलपत्र रखना, कापास, पट्टबंधन मणिमुक्तादि स्पर्श, गेहूं का आटा गुंदकर उन पर रखना, ठंडे बर्तन, ठंडे हाथ से स्पर्श करना इत्यादि उपाय करते रहें। काशयप ने गले, कान, मन्त्रा, शिर, नेत्र, विषुक (हृजु) उर उनके सशोथावस्था में प्रवेद प्रकार का स्वेद करने को कहा है। बंकण में रख करें।

५. वय—वयानुसार शरीर भेद होता है और पश्यभेद होता है, इसे ध्यान में रख कर, बल, काल, और पश्चाहारादि के अनुसार मुद्द, मध्यम, तीक्ष्णादि प्रकार का स्वेद करें।

३. आतुराल पूर्वकर्म—आतुर को यदि वमन या विरेचन द्वारा शोधनार्थ स्वेदन करना हो तो, प्रथम स्नेहपान क्रमानुसार ३ से ७ दिन तक सेहन करावे और चौथे दिन या द्वें दिन स्वेदन करावें, १०० और यदि केवल सशमन स्वेद करना हो तो यथानिर्दिष्ट उपाय करें। उदाहरण— आम, कफ, और मेंद के प्राधान्य में अचंगा न कर रुक्षण स्वेद करना अधिकृत होता है। अन्यत्र प्रत्येक स्वेद में पहले आतुर का विधिपूर्वक एकांग या सर्वागाम्यग करके ही स्वेदन करना चाहिये।

११. प्रधान कर्म—‘स्वेद प्रधानकर्म’ में निम्नोक्त विषयों का समाहार होता है।

१. स्वेदवचारण।
२. निरीक्षण।

आतुर (बालक) ऐश्वर्यवान श्रेणी के तथा धनिक लोगों के संतान होते हैं। कुछ मध्यम पालन पोषण करने हुआ यह सात्य देखकर स्वेद का प्रयोग करें। ७७ वैसे तो काशयप मानते हैं कि रोगा तो सभी को बिना भेदभाव किये होते रहते हैं, किन्तु मुख्य फ्रक तो इसमें रहता है कि धनिक लोग सभी सामग्री बारबर जुटा सकते हैं और तैयार को उचित (दिक्षिणा) धन दे सकते हैं, वैसे ही वैद्य के कहे हुए अनुसार से सभी पश्चों को संभाल सकते हैं। ६६ वैसे तो उपर्युक्त उचित अलंत कठु है लेकिन व्यवहार में यह सब है। काशयप ने एक व्यवहारी मार्ग का ही यहां संकेत किया है ऐसा कहना अनुचित नहीं है। पिंडस्वेद चावल, गेहूं, घमीधारा, शुक्कधारा के किसी भी शाखा से कर सकते हैं। औषधि भी कम ज्यादा गूँह, बालुका, पुरीषादि का भी स्वेद होता है— और अवगाह में मूल्यवाली होती है। रेती, बालुका, पुरीषादि का भी स्वेद होता है। अतः प्रश्न यह है कि कोन रोगी कितना व्यय उठा सकेगा? तथापि किसी भी रोगी की ऐसे के लिए वंचना नहीं करसी चाहिये। धनवान है अतः बालुकादि के स्थान पर अन्य मांसादि के पिंडस्वेद, भी मान्य नहीं है। मानवताधर्म का पालन करने का निर्देश आयुर्वेद में जगह-जगह मिलता है। यहाँ सामान्य निर्देश ही समझना चाहिये, और शासकीय आतुरालय में उपर्युक्त विचार गौण रहता है।

१. स्वेदवचारण—स्विन्ध अध्यक्षत अथवा अन्यत्र आतुर को यथोपचार प्रकार से तद्व प्रकार का स्वेदन करना यह स्वेदवचारण है। स्वेदवचारण का उत्तम अवस्था और अवस्थाओं में करना बुताकार में करना चाहिये। और आवश्यकतानुसार सात अवस्थाओं में करें।

२. निरीक्षण—स्वेदकाल में निरीक्षण का बहुत महत्व है। निरीक्षण में स्वेदन समय, स्पष्टक स्विन्धनादि लक्षण, तथा उत्तद्वयादि का सतत निरीक्षण करना चाहिये। प्रत्येक स्वेद में कहे गये अनुसार विशिष्ट समय तक स्वेदन किया जा सका है या नहीं इसका ध्यान रखें। अत्युष्ण या अत्युष्ण स्वेद होता हो तो हानिप्रद है अतः बीच-बीच में परीक्षण करता रहे। वायुस्वेद, परिशेषक स्वेद, अवगाह स्वेद तथा संकर स्वेदादि के द्वयों को बार-बार चिकित्सक स्वयं स्पर्श से परीक्षा करता रहे। आतुर में स्वेद प्रवृत्ति उत्तम हो तब स्पष्टक स्विन्ध लक्षणों की परीक्षा कर स्वेद से निर्वृति करें। यदि दाह, भ्रम, विस्फोटादि उत्पन्न हो तो भी स्वेद हुर्तन बंद करें। स्विन्धतिक्रिया इत्यादि की परीक्षा निये लिखित लक्षणानुसार करनी चाहिये।

३. स्विन्ध स्विन्ध के लक्षण<sup>१०१</sup>—स्पष्टक प्रकार से स्वेदन के ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

१. शैतोपरम—ठंडी लगना बंद होता है।
२. शूलोपरम—रुजा या शूल का प्रशमन होता है।
३. स्तंभ नियह—गांत्रों की जकड़ाहट दूर होती है।
४. गोरव नियह—शरीर का भारीपन कम होता है।
५. मार्दव—शरीर में कोमलता उत्पन्न होती है।
६. स्वेद प्रादुर्भाव होता है।
७. रोग लक्षणों का प्रशमन होता है।
८. शीतसेवन की इच्छा उत्पन्न होती है।
- उपर्युक्त लक्षणों में क्र. २ से ५, और ७ के लक्षण ऐसे हैं जो स्वेद के तत्त्वमकाल के लक्षण नहीं अपितु स्वेद कोर्स के बाद उत्पन्न होनेवाले लक्षण हैं। इनला भी द्वितीय स्वेद कोर्स का निर्धारण करने के लिए निरीक्षण जरूरी है। क्र. १ और ६, ८ में ऐसे लक्षण हैं जो उसी काल में उत्पन्न होते हैं और इनके उत्पन्न पर स्वेदन बंद करना चाहिये। अस्विन्ध लक्षण—स्वेद अल्प प्रमाण में होने से अयोग्य अथवा मिथ्या स्विन्ध के लक्षण उत्पन्न होते हैं, जिसमें ऊपर लिखे हुए लक्षणों के विपरीत लक्षण मिलते हैं। अर्थात् स्वेद न आना, शैत कम न होना, शीत की अभिरुचि न होना, और शूल का प्रशमन न होना ये अयोग्य के लक्षण हैं। स्वेद प्रादुर्भाव तक स्वेदन समय लंबाता जाये। कभी-कभी बिना स्वेद प्रवृत्ति के ही भ्रम, दाहादि लक्षण होते हैं जो रोगी की स्वेदन बंद करने की अक्षमता दिखाते हैं उनका ही भ्रम, दाहादि लक्षण होते हैं जो रोगी की स्वेदन प्रारंभ करें।

होते हैं—

अस्विन्धतिक्रिया के लक्षण<sup>१०२</sup>—बहुत ज्यादा स्वेदन करने से निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न

१. पित का प्रकोप होता है।  
३. आहुर मूर्च्छित हो सकता है।

५. स्वर डुब्बल होता है।

७. संधियों में पीड़ा प्रारंभ होती है।

८. भ्रम होता है।

११. तुणा लगती है।

१३. जर आता है।

इन लक्षणों के उत्पन्न होने पर ग्रीष्म चर्चा में कहे गये शीतोपचार करना चाहिए और मधुर तथा शीत औषधि का सेवन कराये। ग्रीष्म चर्चा में कहे हुए और अतिस्विन्न में करने योग्य उपाय इस प्रकार के हैं।

१. मधुर, शीत, द्रव, द्विष्ठ अन्नपान खिलावें।  
२. शीतमंथ शर्करा मिश्रित (शर्करा) पिलायें।

३. ऋतशीत जल पिलायें। भोजन में चावल ही दें।  
४. मध्याह्नी आहुर हो तो, मध्याह्न तुरन्त बंद कर दें।

५. लवण, अस्त, कट्ट, उष्ण, पदार्थों को वर्ज करें।  
६. दिन में शीतगृह (Air Conditioned Room) और रात में चंद्रकिरणों के

- मकान के छतपर सोयें।

७. गात्र पर चंदन का लेप करें।  
८. चंदनोदूक से पंखों को सीचकर उस पंखे से व्यजन करें।  
९. ठंडे रस्य बगीचों में जलाशयों के समीप, गुण्डों से लदे दुए वेलियों के निकट बैठें या लैटे।

इसमें उपर्युक्त प्रकारों में जिसको जो संभव है, करना चाहिये। वाराघट ने अतिस्विन्न के लिये स्तंभन चिकित्सा करने को कहा है, जिसका आगे वर्णन किया गया है।

३. पश्चात्कर्म—स्वेदोत्तर करने के कर्मों की सूचना तत्त्व स्वेदों में दी गई है। साधारणतः एकदम खुली हवा का संपर्क, ठंडे जल का संपर्क न करना चाहिये। गरम पानी से शरीर का संर्जिंग कर स्वेद द्रव्यों को शरीर पर से हटावे। पसीना पोछ लेवे। आत्मर को विश्राम करावे और कुछ समय बाद गरम पानी से स्नान करावे और द्रव, लघु, अवधिश्चंदी भोजन कराकर सुला देवे। लगानि, भ्रम, मोह, मूर्च्छा, तुणा उत्पन्न हो तो तत्तद उपाय करें। उपद्रवों में मुख्य शरीर पर विस्पृष्ट होकर दग्धकरण उत्पन्न होना और द्रव्य-भ्रम-मूर्च्छा ये प्रायः मिलते हैं। इनमें स्नोट और ब्रान हो तो स्वेदन बढ़ कराकर, जात्यादि तेल, जात्यादि मरहम, पद्मादि तेल से ब्रान रलेप और लंबनकर्म करें। दाहादि में— (१) सूतशेखर २ रसी, प्रवलापिष्ठि २ रसी, शख्खभ्रम ४ रसी, यह मिश्रण दो या तीन बार दिन में, खंडशकरा और दूध के साथ दें।

स्वेद के बाद में दूसरा महत्वपूर्व पश्चात्कर्म होता है— वह है वसनादि शोधन का

विचार। आगर स्वेदन शोधकार्य किया हो तो आगे शोधन करावे। स्वेद के बाद वमन देना हो तो द्रव्य से दिन दे, और यदि विरेचन देना हो तो तीन दिन तड़कर (३ दिन स्वेद नहोत्तर कर) विरेचन दे। बस्ति, नस्य, स्वत्मोक्षण तुरन्त करना चाहिये।

१०. रक्तप्रकोप के लक्षण उत्पन्न होते हैं।  
१२. कलम उत्पन्न होता है।  
१४. छटि होती है।

पड़प्रकाम में समावेश किया है। जो गतिमान, चल, पदार्थों को अवशोष कर गेक देते हैं, उसे संभन्न कहते हैं। १०३ जो द्रव्य शीत, मंद, मुँद, रुक्ष, सूक्ष्म, द्रव, स्थिर और लघु होते हैं वे प्रायः संभन्न होते हैं। १०४ संभन्न और स्नेहन द्रव्यों के गुणों की तालिका तौलनिक अव्यव्याख्यार्थी दी जाती है— वह देखें। तिक्त, कषाय और मधुर स्तव ये इनमें विशेष गुण होते हैं। १०५

### स्वेदन संभन्न गुणों की तालिका

क्र.	संभन्न	स्वेदन
१.	शीत मंद	उष्ण सर
२.	मुँद लघु	तीक्ष्ण गुरु
३.	रुक्ष	स्थिर
४.	सूक्ष्म	रुक्ष
५.	स्वत्मोक्षण	सूक्ष्म
६.	द्रव	—
७.	स्थिर	द्रव
८.	तिक्तकषाय	स्थिर
९.	मधुर	—
१०.	स्वेदन संभन्न	—

उपर्युक्त गुणों में मुख्य कार्यकुण्डल गुण शीत, मंद और मुँद हैं। जिनके विपरीत गुण उष्ण, सर और तीक्ष्ण स्वेदन में होते हैं। इसी ताह काशय स्तवा से द्रव्य संभन्न होते हैं। अन्य रुक्ष, सूक्ष्म द्रव, स्थिर ये उभयतः सामान्य हैं जो उष्ण तीक्ष्णादि और शीतमूद्रादि सभी द्रव्यों में हैं। अतः प्रत्यस्य विरोध समझने का कोई कारण नहीं है। तिक्त रस शोषण करता है, और मधुर रस बृहण होकर धातुवृद्धि करता है। शीतगुण में विशेषतः स्तंभन होता है। लघु गुण शरीर में लाघवाकाळ होता है।

स्तंभनीय कौन होते हैं—जो पित प्रधान व्याधि से मीडित हैं, शार एवं अन्नि से तथा द्रुप हैं, वमन और अतिस्विन्न से उत्पन्न होते हैं। स्नायु और त्वचा का संकोच, जनका स्तंभन करना चाहिये। १०६

अति स्तंभित के लक्षण—शरीर काला पड़ना, गांतों की जकड़ाहट, उद्धा, हुग्रह, हृद्यह, मलविबंध, ये अतिस्विन्न से उत्पन्न होते हैं। स्नायु और त्वचा का संकोच, वक्सन, ओषध्याकृता, हस्त श्यावता ये वाराघट ने अतिस्विन्न के लक्षण कहे हैं। १०७

### स्वेद-की कार्यक्रम

स्वेद की व्याख्या में जैसा कि पहले कहा गया है, इसके द्वारा मुख्य चार कर्म शरीर में उत्पन्न होते हैं। वे ये हैं।

१. स्तंभन—स्वेद स्तंभ को दूर करता है। स्तंभ का अर्थ है जकड़ाहट। यह शीतला से होती है और स्तंभ करने में धातु के अनिस्तर पर काम करनेवाला समानवायु, संधिस्थानों में रहनेवाला इलेषक कफ और आमरस, मांस, वसा, मेद इनका महत्व का भाग होता है। समानवायु रक्षण ग्रुण प्रधान होने के कारण शोषण कारक होकर संकोच और संभ करता है। इलेषक कफ स्तिथ और पिच्छलता प्रधान है। इनके कर्मशय से स्तंभ होता है। अतः स्तंभ में स्तिथ और उष्ण स्वेद करता है। उष्ण गुण धातुओं के अनुसरों में विवरण करता है, आम को पचाता है—जिससे संभन दूर होता है।

२. गौरवश—शरीर में भारीपन हो तो स्वेद से दूर होता है। स्वेदन से आप्य घटकों का स्वेद द्वारा निकलण होता है जिससे आयतलों की गुरुता कम होकर हलकापन महसूस होता है। स्वेद से पेशियों में, वातवाहिनियों में उत्तेजना मिलने से भी शरीर में लघुता होती है।

३. शीतल—स्वेद से ठंडापन दूर होती है ऐसा कहना चाहिए। अन्यथा स्वेद से पसीना लगती हो तो स्वेद करने से ठंडी दूर होती है ऐसा कहना चाहिए। अर्थ—आग ठंडी खबू निकलता है जिससे यह बस्तुतः शरीर के ऊपर का नाशकारक होता है।

४. स्वेदकालकर्ता—स्वेद से पसीना आता है। जो एक मल है। इस मल के साथ त्वचा के सातों स्तरों पर रही हुई तथा पेशियां, वातवाहिनियां, रस, रक्त, मेद इनकी अशुद्धियाँ निकल जाती हैं। शरीर के धातवनि व्यापार और भौतिकानि व्यापार (Metabolism) में स्वेद, क्लेद इनका अन्य साधारण महत्व है। अतएव स्वेद आने पर न केवल लक्षकर्तरीय स्वेदन समझना चाहिये अपितु वह अंतस्तरीय, धातुस्तरीय, सभी अनिवार्य से संबद्ध है ऐसा मानना चाहिए। अतएव स्वेदन का शोधन के पूर्वकर्म के तौर पर बाहरां निर्देश किया गया संहिता में मिलता है।

५. स्वेदस्तु दोष नर्थि द्रवत्वम्<sup>१०५</sup>—स्वेदन के पूर्व स्वेदन किया जाता है जो दोषों को मुट्ठ करता है और मलों के संग को दूर करता है। तपश्चात् किया हुआ स्वेद दोषों को द्रव करता है ऐसा कहा है। धातुओं में सूक्ष्म स्रोतसों में (छिद्रों में) जब कि स्वेद से अभिष्टन हुए दोष लीनावस्था में रहते हैं तब स्वेद उष्ण और तीक्ष्णता से उत्तमं द्रवत्वं करता है। यह द्रवत्व क्या है? अगर द्रव का अर्थ तरलत करे तो क्या वात, पित और कफ अपने-अपने गुण छोड़कर द्रवीभूत हो जाते हैं? यह प्रश्न है। पित में द्रवत्व रहता ही है। कफ में अधिक द्रवता डूँड़ि मानी जाती है और वात तो वायवीय द्रव्य है। यह द्रवत्व यहाँ भौतिक द्रव गुण न मानकर कार्मुक मानना संगत है। “द्रवः प्रक्लेदने प्रोक्ताः” और “आलोड़ने द्रव” के अनुसार द्रव गुण घोल तैयार करने का और विलव करने का कार्य करता है। स्वेद से धातु स्तर पर जब स्वेदप्रयाण बढ़ जाता है, तो उस समय किये जाने वाले स्वेदन से दोष और मल इनमें घुल जाते हैं या ऐसे मिल जाते हैं, कि एक दूसरे

के साथ ही निष्कासित होते हैं। ऐसे समय कुछ कोष्ठ में आकर वमनादि से निकाले जाते हैं, कुछ मूत्र प्रवृत्ति से चले जाते हैं और कुछ स्वेद से निकल जाते हैं।

२. वात का नियमन<sup>१०६</sup>—स्वेदन और स्वेदन से वात को जीता जाता है। चरक ने कहा है कि स्वेदपूर्वक स्वेद करने से वात का जय न होने पर, शरीर में पुरीष, मूत्र और शुक्र का कभी भी संग नहीं होता। यहाँ पर पुरीष, मूत्र और शुक्र इनको उपलक्षण मानना चाहिये। क्योंकि इनमें दो मल और एक धातु जो शरीर में सतत भ्रमण करते हैं उनका बोध होता है। इसमें गतिमंतों सभी का बोध होता है। वात से ही शरीर में सभी गतियाँ होती हैं। वायु शरीर का तंत्र और यंत्रधर है। वह मन का निर्यता है, ईद्रियों को प्रेरणा देता है, और धातुओं का व्यूहन और संधान करता है। अग्नि को बढ़ाता है, मलों को बाहर निकाल देता है।<sup>१०७</sup> इन सब कर्मों के द्वारा नियमित वायु शरीर को दूँड़ बनाता है।

वायाख्य ने वात के उपक्रम में स्वेदन, स्वेदन और मूदू शोषण करने का निर्देश किया है।<sup>१०९</sup> वात, शीत, रुक्षादि गुण युक्त है अतः स्वेदन इसको प्रश्ननित करने में श्रेष्ठ है। यह पहले कहा गया है कि दोषों को कोष्ठ में से शाखा में लाने के लिए वात का छुतव (चल गुण) छुतव काम करता है, वैसे ही कोष्ठ में उठें पुनः लाने के लिए वायु का महत्वपूर्ण भाग है। अतः वायु का नियमन कर स्वेद शरीर में व्यापक तैरपर कार्य करता है।

३. गात्र विनाम<sup>११०</sup>—स्वेदन और स्वेदन गात्रों में मृदुता उत्पन्न कर उठें चाहे जैसे विनाम करने में सहायक होता है। जिससे स्तव्य, भान, पिच्छित, शिलाष्ट अवयवों को स्वेदन स्वेदन कर उठें स्वस्थान में कार्यक्षम किया जा सकता है। चरक ने कहा है कि सुखी लकड़ी भी स्वेदन स्वेदन से नामाई जा सकती है, फिर जीवित गात्रों को नमाया जा सकेगा इसमें क्या आश्चर्य? आगे भी अद्वित खल्ली, योनिअंश इत्यादि में सेहन स्वेदन उपक्रम दिया है, वह यह कार्यक्षमता स्पृष्ट करता है।

४. अनिदित्वन<sup>१११</sup>—स्वेद से अग्नि प्रदीप होती है। यह उष्ण गुण से होता है। उष्ण और तीक्ष्ण विनाम करने से जाठरानि और भूतानि सभी का बोध लेना चाहिये। यह उष्ण गुण से जाठरानि तथा धातवर्णन होता है और भूतानि सभी बी बढ़ाता है।

५. लक्षकालिक एवं प्रसादन—स्वेद क्रिया का अधिष्ठान लवचा है, और लचा में रोमकूप भी स्थित है जो स्वेदवह स्रोतस के मूल है। लवचा से स्वेद निकल जाने से, तथा मलों के निष्कामण से लक्षकालिक एवं स्वेदन से भोजन में रुचि बढ़ती है। यह ऊपर कहे हुए अनुसार अमपचन होने से, धातुस्तरीय तथा कोष्ठाशयगत अवृ की आकांक्षा प्रारंभ होती है।

६. लक्षकालिक एवं शुष्किद्वय—स्वेद से लोतस निर्मल होते हैं। यद्यपि इसका प्रत्यक्ष प्रभाव लवचापर स्वेदवह स्रोतस पर होता है, तथापि अप्रत्यक्षतः वात नियामन से सभी लोतों की शुष्कि होती है। क्योंकि वात से मल, मूत्र, इत्यादि की गतियाँ नियमित होती है। दूसरी बात, स्वेद यह मेद का मल है। अतः मेद से लक्षकालिक सभी स्तरों के मलों का निहण होना संभव है।

करता है। निश्च इदियों के थकावट से आती है। स्वेद इदियों को बात द्वारा प्रेरणा देता है। इस तरह नीद कम होती है। उसी तरह मेद, कफ गुरुता की दूर करने में भी वह निश्च होता है।

**५. सांघि चेष्टाकर—स्वेद संधियों में स्वेद चेष्टा उत्पन्न करता है। यह सांघिस्थान में वात, कफ, आम के नियमन से होता है। सांघिस्थ धात्वानि दीपन से यह कार्य होता है।**

**६. निश्च चेष्टाकर—स्वेहन से दोषों का कलेदन होने पर स्वेद उनको द्रवित कर कोष में लाता है जहां से उनका शोधन किया जाता है। यहां स्वेद का कैवल कोष में आना अधिग्रेत नहीं है, अग्रितु सभी शरीर में से जहां-जहां से दोष निकाल दिये जाते हैं, वहां-वहां पर उनका स्थानिक शोधन ही समझना चाहिये।**

सुशुत के तीकाकार डल्हण ने कहा है कि स्वेद के मुख दो कार्य होते हैं। एक है संशमन—जिसमें ज्याकरण कोष को कार्य होता है, और दूसरा कार्य है—संयोग्याम्बृत व्यापार—जिसमें ज्योक्तिन दोषों को कोष में से जाना यह कार्य है—संयोग्याम्बृत किया जाता है। स्वेद के अपर जो कुछ कार्य होते हैं उनको अच्छी तरह समझने के लिए स्वेद शरीर का विचार करना चाहिये।

**स्वेद शरीर—**यह कहा गया है कि स्वेद यह मेदधातु का मल है। अधिक मेदधी लोगों को स्वेद भी अधिक आता है यह प्रत्यक्ष है। शरीर में स्वेद का बहन करनेवाली स्वतंत्र प्रणाली (System) है उसे 'स्वेदवह लोतस' कहते हैं। स्वेद आप्य द्रव्य है।<sup>११४</sup> स्वेद का कार्य है कल्पन का धारण करना। कल्पन यह शरीर का जल तत्व है। यह ऐसा जल तत्व है जो निर्हर्णीय है। जलतत्व का शोषक भाग—'अप्थातु' है, और इसका किंवद्विभाग कलेद है—जो मूत्र से, स्वेद से निकाला जाता है। मूत्र और स्वेद में ज्यादा फरक नहीं है। दोनों आय हैं। उदकधातु ही शारीर में मल, मूत्र, स्वेद, तत्वा, लसीका, रक्त इनमें तथा अन्य शरीरधातु में रहता है और जीवन, तदपन, आशवासन तथा मलशोधन का कार्य करता है। यहां मलों में शरीर के केवल भाग जो आबोधकर है, उनका समावेश होता है। स्वेदवह लोतस के दो मूल हैं। एक है मेद और दूसरा है रोमकूप।<sup>११५</sup> मेद से स्वेद निर्माण होता है। मांसधातु निर्माण होते समय सूक्ष्म मांस पर मांसानि कार्य करके स्थित मांस उत्पन्न करता है जिसका कार्य लेपन है। वसा उत्पन्न होती है जो उपधातु है, और तत्वा उत्पन्न होती है जो उपधातु है। खमलतोतो के (निश्चादि) मल उत्पन्न होते हैं और सूक्ष्म मेद उत्पन्न होता है। इस पर—

**सूक्ष्म मेद + मेदोनि + भूतनि = सूक्ष्मलमेद + सायु + स्वेद + सूक्ष्म अस्थि।**

मेदोनि का कार्य होकर सूक्ष्मलमेद जो स्वेहन कार्य करता है, उत्पन्न होता है। सायु उत्पन्न होते हैं जो उपधातु है—और भास्क्रमतत्व का कार्य करते हैं, और मल में स्वेद उत्पन्न होता है। इसका प्रसाद भाग सूक्ष्म अस्थि है जो आगे अस्थिअनि से पांचित होता है। यहां यह स्पष्ट है कि तत्वा जो सूक्ष्मलमेद के पहले या साथ में उत्पन्न होती है, और मेद के पाचन के साथ—स्वेद उत्पन्न होता है। इस क्रम में तत्वा से लेकर मेद का कलेद के साथ में संबंध स्पष्ट होता है, क्योंकि ये सब मल कलेद के आश्रय से रहते हैं। यह कलेद दूसरा

कुछ नहीं बल्कि मूल और स्वेद ने धारण किया हुआ आपदव्य है रोमकूप स्वेद-वह के द्वारा मूल है जो स्वेद की गत्ता केरक निकाल करते हैं। इस तरह मेद और रोमकूप इन दो मूलों से स्वेद का नियमन होता है। मेदोवह लोतस के मूल वृक्ष और वापावहन होते हैं।<sup>११६</sup> वृक्ष किड्नी है जो मूत्र को निर्माण कर निकालने का कार्य करते हैं। इस तरह मूत्रधारा वापावहन संदिध अवयव है जो पैनिक्रियाज के लिये विद्वन लोग मानते हैं, और इन्सुलीन निर्माण में वह कारबकर होता है जिसकी विकृति में मधुमेह (प्रमोह) उत्पन्न होता है। मेदो अत्यन्वेतन, अतिस्वेदन, तत्वा पारुष्य, अति रक्तश्थाता, दाह, रोमहर्ष ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।<sup>११७</sup> व्यायाम न करने से मेदोवह की दृष्टि होती है, तो अति व्यायाम से स्वेदवह लोतो की दृष्टि होती है। इससे स्पष्ट है कि व्यायामादि से स्वेद की प्रवृत्ति होती है जो मेद का नियमन करती है और अव्यायाम से मेद दृष्टि होती है, जो स्वेदवह पर भी मूलतः कार्य करता है।

### आयुर्वेदिक दृष्टिकोण से स्वेद में सोडियम क्लोरोराइड (नमक), यूरीया जल, लैविस्ट्रिक एसिड और पोटेशियम ये तत्व रहते हैं। इनमें अतिमात्रा का प्रमाण अल्प होता है। श्री गायटन कहते हैं कि स्वेद में वे सब तत्व होते हैं जो शरीर के एक्स्ट्रा सेल्यूलर प्लॉइड (extra cellular fluid=कोबोंको बाइवर्टिड लेवल धातु) में होते हैं।<sup>११८</sup> वस्तुतः ये सेल के पोषकतत्व ही होते हैं। अत्युवेद भी स्वेद को आप्य कहता है और जल का अधिक व्याप्ति में: मूत्र होता है तब उसमें एक्स्ट्रा सेल्यूलर प्लॉइड के घटकों का प्राप्त घट जाता है। स्वेद में अधिकतर लवण होने के कारण अतिप्रवृत्तस्वेद में लवण का आध्यतर प्रयोग जरूरी होता है। संभवतः इस्तिलाप अत्युवेद में भी स्वेदन द्रव्यों में लवण का प्रयोग किया है, उपनाहों में लवण का प्रयोग किया है, और स्वेद पूर्व स्वेहन में भी लवण का प्रदुर्योगोनिर्दिष्ट किया है।

अतिस्वेदन से मांस पैशियों में ऐनन (Cramp) होती है और ऐसी ही ऐनन उदा कहते हैं। स्वेद से शरीर की उम्मा का नियमन होता है और औद्यकतत्वों का भी नियमन होता है ऐसा आयुर्वेदिक शरीर क्रिया विज्ञान मानता है। स्वेदव्याधि जो तत्वा के नीचे स्थित है उन पर शिरस्य केन्द्र का भी नियमन का कार्य होता है। शरीरपैशियों को सिंपेथिटिक और पेरेसिपैथिटिक नर्क का केन्द्र शिर में हायपोथेलेमस के पार्श्वधारा में और सिंपेथिटिक का पुरुषोधारा में होता है। पार्श्ववर्ति धारा की उत्तेजना से स्वेद प्रवृत्ति बढ़ती है। बाहर से कोई गरम वस्तु का स्पर्श किया जाने पर तत्वा में उत्तेजना होती है। शरीर के उम्मा को बाहर जाने से रोकने में तत्वा की उपतत्वा, मेद (fat) का प्रमुख धारा होता है। तत्वा के नीचे ही रस, रक्त इनका बहन होता है। स्वेदन के उम्मा गुण से इन सबको उत्तेजना मिलती है। और उम्मा गुण विकास (expansion) करने में हुत होता है जो तत्वा के अन्दर की कैपलेरीज के मुखों को विकसित करता है। जिससे आध्यतर द्रव्यों का संवहन वेग बढ़ जाता है। स्वेद के उम्मा गुण से नर्क-वातवाहिनियाँ, मांसपैशियाँ भी उत्तेजित होती हैं। इनमें भी सहेघ घटक होते हैं और

उष्णता से स्नेहाणप्रमाणुओं का स्थानांतर होता है जिससे इनकी रखना में नवनिर्माण का संभव बलत्तर होता है।  
स्वेद के चरकोकत करितपय प्रयोग—चरक चिकित्सास्थान से स्वेद को रोगनुसार वर्णित करितपय प्रयोग आगे संसदर्भ तालिका में दिये गये हैं।

### रोगनुसार चरकोकत करितपय स्वेद संदर्भ

क्र.	अधिकार	स्वेद विषय	संदर्भ
१.	ज्वर चिकित्सा	ज्वर की सामान्य चिकित्सा में स्वेद जीणज्वर में प्रदेह, परिशेक, अवगाह इत्यादि शीतोष्ण भेद से स्वेद	चि. ३-१४२
२.	ज्वर चिकित्सा	शीत ज्वर में अवस्थानुसार संकर प्रस्तरादि १३ स्वेद तथा योग्य करने का निर्देश	चि. ३-३६६
३.	ज्वर चिकित्सा	कुटी स्वेद, शयन विस्तार के स्वेद, शूष्प अगुवादि प्रतेरण की प्रशस्ति 'स्वेदन अन्नपान'—आग्न्यंतर च. पा.—स्वेदनानि उष्णानि कुक्कट मदिरा कुलथारीयनि (अन्नपानानि) वात सम्पर्श में वात प्रश्यान हो तब गुरु, उष्ण, त्रिष्ठ, भूषिष्ठ (स्वेदन) अन्न, पान, कफ बलावान हो तो लघु, उष्ण, रुक्ष अन्नपान विषमज्वर में सोहस्रवेदन कर त्रिफलादि कवायथ देने का निर्देश	चि. ३-२७१
४.	ज्वर चिकित्सा	रक्ताग गुलम में सामान्य चिकित्सा में स्वेदन	चि. ३-२६६
५.	ज्वर चिकित्सा	रक्ताग गुलम में सोहस्रवेदन कर त्रिफलादि कवायथ देने का निर्देश	चि. ३-३१६
६.	ज्वर चिकित्सा	रक्ताग गुलम में सामान्य चिकित्सा में स्वेदन	चि. ४-२२,
७.	गुलम चिकित्सा	कफज्जलम में स्वेद	२३.
८.	गुलम चिकित्सा	अपद्रव गुलम में उपराह	४-५२
९.	गुलम चिकित्सा	आनाह, विकंध युक्त कठिन गुलम में स्वेद	४-४९
१०.	गुलम चिकित्सा	कफज्जलम में स्वेदन	४-५१
११.	गुलम चिकित्सा	कफज्जलम में स्वेदनोत्तर घटीयंत्र प्रयोग	४-१३७
१२.	गुलम चिकित्सा	स्थिर कठिन, मंडल कुष्ठ में प्रस्तर, नाड़ी स्वेद कर रक्तमाल्कण का विधान आनुपामास, औदक मास से पोटली से पिण्डस्वेदन	१४०
१३.	कुष्ठ चिकित्सा	कुष्ठ चिकित्सा अपद्रव गुलम में उपराह	७-५०
१४.	कुष्ठ चिकित्सा	बद्धुदोदर में शोधनपूर्व स्वेद	७-५१

क्र.	अधिकार	स्वेद विषय	संदर्भ
१५.	कुष्ठ चिकित्सा	गोमय प्रदेह कुष्ठ में भिन्न भिन्न प्रदेह-प्रतेप सिथ में प्रलेप	चि. ७-५७ चि. ७-८८ से ६६ चि. ७-११७, ११८ चि. ८-६५
१६.	कुष्ठ चिकित्सा	गोमय प्रदेह कुष्ठ में भिन्न भिन्न प्रदेह-प्रतेप	चि. ८-७१
१७.	कुष्ठ चिकित्सा	सिथ में प्रलेप	चि. ८-७२
१८.	पीनस में स्वेद, परिशेक	पीनस में स्वेद, परिशेक	चि. ८-७४
१९.	राजयक्षमा चिकित्सा	कृशरा, उल्काकिका, माषकुलश यव, पायस से संकर स्वेद पत्रभंग चूर्णों से पत्रपिंड स्वेद	चि. ८-७१
२०.	राजयक्षमा चिकित्सा	मांस रस, पंचमूलों से नाड़ी स्वेद कंठ, शिर, पाश्वर पर जीवंती, सौफ, वचादि द्रव्यों का तथा वेसवार का उपनाह प्रदेह	चि. ८-७५
२१.	राजयक्षमा चिकित्सा	मुडु शोधन के लिए पूर्व कर्म में स्वेद उम्माद में शोधन पूर्व स्वेद	चि. ८-७६
२२.	राजयक्षमा चिकित्सा	अतत्वाभिनिवेश में शोधन के लिए स्वेद वातज शोथ में परिशेक और प्रदेह स्वेद कफज्जल शोथ में लेप	चि. ८-७६
२३.	राजयक्षमा चिकित्सा	श्लीपद में सरसों का लेप	चि. ८-७६
२४.	राजयक्षमा चिकित्सा उम्माद	वातज उदर में स्वेद विशेषन के लिए स्वेद	चि. ८-३३
२५.	उम्माद चिकित्सा	अतत्वाभिनिवेश में शोधन के लिए स्वेद वातज शोथ में परिशेक और प्रदेह स्वेद कफज्जल शोथ में लेप	चि. १०-६० चि. १२-६५ से ६७ चि. १२-७० से ७२ चि. १२-६५
२६.	अपस्मार चि.	श्लीपद में सरसों का लेप	चि. १०-६०
२७.	श्लीपशु चिकित्सा	वातज उदर में स्वेद विशेषन के लिए पूर्वकर्म कफज्जल उदर में शोधन पूर्व स्वेद	चि. १२-६६
२८.	श्लीपशु चिकित्सा	लीहा दुष्टि में शोधन पूर्व स्वेद	चि. १२-६६
२९.	गुलम चिकित्सा	वातज गुलम में सामान्य चिकित्सा में स्वेदन	चि. १३-७२
३०.	उदर चिकित्सा	वातज उदर में स्वेद विशेषन के लिए पूर्वकर्म कफज्जल उदर में शोधन पूर्व स्वेद	चि. १३-७२
३१.	उदर चिकित्सा	लीहा दुष्टि में शोधन पूर्व स्वेद	चि. १३-७२
३२.	उदर चिकित्सा	बद्धुदोदर में शोधनपूर्व स्वेद	चि. १३-८६
३३.	उदर चिकित्सा	बद्धुदोदर में शोधनपूर्व स्वेद	चि. १३-८६



क्र.	अधिकार	स्वेद विषय	संदर्भ
६७.	वातशोषित चिकित्सा	सामान्य चिकित्सा में उपनाह	चि. २६-४३
६८.	योनिव्यापद्	वातज योनिरोग में स्वेद	चि. ३०-४३
६९.	योनिव्यापद्	दुस्थित योनि में स्वेदन	चि. ३०-४३
७०.	योनिव्यापद्	वातरोगों में नाड़ी, कुंभी,	चि. ३०-४६, ४५
७१.	योनिव्यापद्	अशमधन, प्रस्तर संकर स्वेद	चि. ३०-१६६
७२.	योनिव्यापद्	क्लैव्य में स्वेद-शोधन पूर्व स्वेद	चि. ३०-१६६
		स्तन्यरोग में शोधन पूर्व स्वेद	

四

सामग्रीस्वेद			
ताप	उपराह	उष्म स्वेद	द्रव स्वेद
पाणि	- बंधन	- कपाल	- परिषेक
कार्य	- प्रदेह	- पाषाण	
कमाल	- पोटली	- इष्टिका	- अवगाह
कांडुक		- लोहपिंड	
बालुका		- सकर	
वर्जन		- कुंभी	
		- प्रस्तर	
		- अश्रमघन	
		- जेताक	
		- कुटी	
		- भूमि	
		- नारी	

३८

१. संभ गौव शीतां स्वेदनं स्वेदकारकम् । च. सू. २२-११

२. वाचस्पत्यम् — ले. तारानाथ भट्टाचार्य प. ५३-५१

३. मलः स्वेदसु मेदसः ॥ च. घि. १५-१८

४. तस्य पुरुषस्य पृथक्षी मूर्तिः, आपः क्वेदः । च. शा. ५-५२  
पृथक्ष्य क्लेदवाहनम् । स्वेदस्य क्लेद विद्युतिः ॥ अ. ह. सू.

क्र.	अधिकार	स्वेद विषय	संदर्भ
६७.	बातशोणित चिकित्सा	सामान्य चिकित्सा में उपनाह	चि. २६-४३
६८.	योनिनिवापद्	वातज योनिरोग में स्वेद	चि. ३०-४३
६९.	योनिनिवापद्	इस्थित योनि में स्वेदन	चि. ३०-४३
७०.	योनिनिवापद्	वातरोगों में नाई, कुंभी,	४५ चि. ३०-४६,
७१.	योनिनिवापद्	अश्वघन, प्रस्तर संकर स्वेद करेव में स्वेद-शोधन पूर्व	चि. ३०-१६६
७२.	योनिनिवापद्	स्तन्यरोग में शोधन पूर्व स्वेद	चि. ३०-२५५

सामग्रीस्वेद			
ताता प	उपराह	उष्म स्वेद	द्रव स्वेद
पाणि	- बंधन	- कपाल	- परिषेक
कार्य	- प्रदेह	- पाषाण	- अवगाह
कपाल	- पोटली	- इष्टिका	- लोहपिंड
काढ़ुक		- संकर	- संकर
बालुका		- कूर्भी	- प्रस्तर
वर्च			- अशुद्धन

संदर्भ	चिर. २६-४३	चिर. ३०-४३	चिर. ३०-४३	चिर. ३०-४६,	चिर. ३०-४६
				४५	चिर. ३०-४६

५. कलेदाभावे हि त्रैव देहस्य मध्यम त्वक् ।

६. स्वेदस्य कवचोरमधारणमपि । ह. सू. १२-५ पर

७. स्वेद साध्या प्रशास्यमति गदा: वातकप्रतिक्रिया: । च. सू. १४-३

८. च. पा.—वातकप्रतिक्रिया इति असमुष्टु वातकप्रतिक्रिया, वातकप्रतिक्रिया उत्तराद्या: व्यावर्तने ॥

९. न प्रशास्यति, अतआह स्वेद स्वाध्या' इति एतेन उत्तराद्योऽस्वेद्या व्यावर्तने ॥

१०. स्तं भन्नं स्तंभयति यदु गतिमंतं चलं धूवं ॥ च. सू. ३२-१२

च. पा.—एतत्त्वातिकार शोणितं स्तुतविषयदह वेदानाद्यु बोद्धव्यम् ॥

न तु केवल वाते ।

११. शुक्लाण्यपि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपादने: ।

१२. नमयन्ति यथा चायं किं पुनर्जीवितो नरान् । च. सू. १०-५

१३. उष्णं तीक्ष्णां संस्कृतां रुक्षं द्रवं स्थिरम् ।

१४. द्रवं गुरुक्षं सद् प्रायस्तद्विद्धं स्वेदनमुच्यते । च. सू. २२-१६

१५. ह्लादनः स्तंभनः शीतो मूर्च्छा लट्ट स्वेदं दाहजित् ।

१६. उत्तरस्तद्युवपरीतः स्थात् प्रयत्नश्च विशेषतः ॥ च. सू. ४६-५१६

स्वेदनं उष्णः ॥ हे. ॥ तीक्ष्णोषाङ्गावानयौ ॥ सु. सू. ४१-११ ॥

१७. तेषां मृदु शीतोष्णा स्पर्शग्राहा ॥ सु. सू. ४१-११

१८. दाहप्रकरकरसीक्षणः स्तावणो मुडरक्ष्यामा ॥ सु. सू. ४६-५१८

१९. शोधने तीक्ष्णः ॥ हे. ॥

२०. तीक्ष्णं औच्यं तैक्ष्ण्यं च । र. वै. ३-११३

तीक्ष्णं प्रितकरं प्रायो लेखनं कफवात् हृत ॥ भा. प्र. पू. खं

२१. रुक्षस्तद्विपरीतः स्थात् विशेषात् स्तंभनः खरः ॥ सु. सू. ४६-५१६

२२. द्रव्याणी रुक्षं गुण बहुलानि आग्नेयानि वायख्यानि ॥ च. सू. २६

२३. शोषणे रुक्षः ॥ हे. ॥ रुक्षं सापरिकरं परं कफहरं भतं ॥ भा. प्र. सू. खं.

२४. स्त्रियो वातमलसंसंभी ॥ भा. प्र. पू. खं. ॥ घाणे स्थिरः ॥ हे. ॥

२५. शोषानंकैरंडार्क बृश्चीर पुरुषवा यव तिलं कुलत्थं माष बदराणि इति दर्शमानिः ॥

२६. स्वेदोपागानि भवति ॥ च. सू. ४-२२

२७. तिलमाषं कुलतथात्पूर्णं धृतं तैलमिषोदनं ॥

२८. पायसे: कृष्णमसि: पिडस्वेदं प्रयोजयेत् ॥

२९. गौखरोदृष्ट वाराहाश्च सकृताम्भः सर्वथर्विः ॥

३०. सिकताप्राप्तुं पाषाणं कर्त्रिषायास पूढके: ॥ च. सू. १४-२५, २६

३१. वारुणमुतेकंड शिष्मुलकं सप्तिः ।

बासापवंश कलंजार्क यत्र रसमत्तवस्य च ॥

शोभांजनकं शैरिय मालतीं सुरसाजंकः: ।

प्रत्रेश्वरात्कवाच्य सलिलं नाहुं स्वेदं प्रयोजयेत् ।

एतएव च निपुणा प्रयोज्ञा जसकीष्टके ॥ च. सू. १४-३०, ३१, ३३

काकोलीं क्षीरं काकोलीं जीवकं कृशभकं प्रयोज्ञाणीं मायापणीं मेदा महामेदा चित्रकरुहान्

कर्कतश्चार्णी तुगाकिसी पद्मकं प्रयोज्ञीकरं वृद्धिका जीवंस्तो-मधुक्षेचेति । च. सू. ३५-३६

मुरसाशेषते मुरसा फणिङ्गकार्जं भृसण सुगंधकं सुमुखालमालकुठोरं कामसमदं क्षवकं

खपुष्ट विड्गा करपत्त दुरुसी निर्जिद्धि कुलाहलोदुरं कर्णिका फंडी प्राचीबलं काकमाच्ये

विषमृष्टिक्षेचेति । च. सू. ३५-३६

२२. एलाकार कुष्ठमासोद्यामक ल्वक्षपत्र नागपुष्प प्रियंगु हेरुणका व्याघ्रनख शुक्लिं चंडा स्थोणेयक श्रीबेष्टक चोच चोके ब्राह्मण के शरेर चेति ।। सु. सू. ३८-३८ प्रद्वारु कुम्भमानि पुत्रागकेशर चेति ।। सु. सू. ३८-३८
२३. गोधूम राक्तलेस्तृणीयवानामस्त सुयुतैः ।।  
सम्नह किञ्च लवणोरुपनाहः प्रशस्पते ।। च. सू. १४-३५
२४. शूक शमीधात्य पुलाकानां . . . . . विद्यात् ।। च. सू. १४-४२
२५. भद्रारु कुष्ठ हीराद्वा च लग्नमेष्टशूगीबलातिबलातीत कच्छुरा सल्लकी मुबोक्षी वीरतरु सहवर्णनिमय वत्साद्वयेऽद्वाशमभद्रालकार्कं शतावरी पुनर्नवा वसुक वासिरकाचनक भार्गो कापसी दुर्झिकाली परस्तः बद्र, यत् कौल कुलत्य प्रभूतौनि विदासिंधादिश्च द्वे चाचे पञ्चमुलादै समासन वातसंशमनो वर्ता ।। सु. सू. ३६-७
२६. जीवकर्कथभक्तो महासह्य श्विद्रसाह बहत्यो पुनर्नवा एर्डो हसपती वृश्चकालीं कृष्णसारिदा विदारीगंधा विदारी सहदेवा श्वदंदा पुथक्षपणीं शतावरी मारिदा कृष्णसारिदा अवृक्षाभक्तो महासह्य श्विद्रसाह बहत्यो पुनर्नवा एर्डो हसपती वृश्चकालीं कृष्णसारिदा चेति ।। सु. सू. ३८-२
२७. तत्र विकटं वृहतीद्वय पुथक्षपण्ये । विदारीगंधासज्जेति करीयः ।।  
बिलवानिमय द्विद्विक पाटलोः काशमरीचेति महत् ।।
२८. अनयोदर्शमूलपुत्र्यत्य ।। सु. सू. ३६-३७, ६८, ६६, ७०  
इत्येतत् द्विविधं द्वं खेदम्भूत्यिष्य कीर्तितम् ।। च. सू. १४-६६
२९. च. पा. — द्वेदं परस्परं विपरीतं युग्मम् ।।
३०. इुडुक्तो द्विविधः स्वेदः संयुक्तोऽन्तिं पुरुषेन्द्रियाः ।। च. सू. १४-६५  
च. पा. — अनिगुणावते साक्षात् औन संबंधेन कृता तु भावाद्विक्षिणा ।।
३१. व्यायाममुक्त्यसदनं गुरुप्रावरणं कृष्णाधा ।।  
बहुपांतं भवत्तो धारुपनाहवत्यतपः ।।
३२. शरीरायात् जननं कर्म व्यायाम् संज्ञितम् ।। सु. चिं. २४-३६  
(१) शरीरोपेच्यः कातिराग्निं गुविभक्तता ।।  
वीसानित्वमनालस्य स्थिरत्वं लाघवं मुजा ।।  
श्रापकल्पम् विपासोऽन्नं शीतादीनां सहिष्णुता ।।  
आतोयचालि परमं व्यायामाङ्गुष्ठायते ।।
३३. न चास्ति मद्गुणं तेन किंचित् स्थोत्रात्यापकर्षणम् ।। सु. चिं. २४-३७, ३८  
स्थिरीभवति यासंच व्यायामा भित्तत्य च ।। सु. चिं. २४-४०  
ड़हण—स्थिरीभवति मांसंच इति-उपचय लक्षणस्थापिलस्य हेतुरित्वर्थः ।।
३४. शीत काले वसंते च मद्वेत ततोऽन्यदा ।। अ. ह. सू. २-२१  
ड़हण—स्थिरीभवति मांसंच इति-उपचय लक्षणस्थापिलस्य हेतुरित्वर्थः ।।
३५. उषा सदनं इत्यानिसंताप व्यतिरेकेण निर्जलकतया घनभित्तिया यद् गृहं स्वदेवति, तत् बोद्धव्याम् ।। च. पा. च. सू. १४-६४ पर
३६. बडुपानं बहुमध्यपानम् ।। च. पा. च. सू. १४-६४ पर
३७. Fear probably causes very intense activity of both the sympathetic and the Parasympathetic – nervous systems, . . . . . while at the same time promoting parasympathetic effects such as sweating defecation and urination. Text Book of Medical Physiology by Gyton, Page 646.

३८. Angers—page 646 उपर्युक्त पुस्तक।
३९. 'अनाहो द्विविधः सानिस्तानिन्द्रियः। तत्रयः सानिस्तानाहः: संकर एव बौद्धव्यः यद्वक्तं 'कोलकुलत्या: मुरदान् रास्ता: ।। इत्यादिन आत्मवधीये, यस्त्वननि वलेन शरीरोजारो धं कृत्वा स्वदयति स इह बोद्धव्यः ।। च. पा. च. सू. १४-६४ पर

४०. कोलकलत्या: मुरदान् रास्ता भाष्टतसीं तेन फलानि कुष्ठं ।।  
कवा शताह्न यवद्वृणमलमुष्णानि वातामयिनो प्रदहेः ।।  
तेनालिसं सिञ्चनं सासाहद्वयति तिष्ठतो धर्मे ।। च. चिं. ७-११७, ११  
तेनालिसं सिञ्चनं सासाहद्वयति तिष्ठतो धर्मे ।। च. पा: धर्मेऽत्यतपे ।।

४१. ज्विते तं सनमयग्रं गल्पृ रस इष्टते सुगुडः ।।  
तं पीता मुनिगंधो यथाबलं सूद्याद संतापं ।। संसरेत . . . . . च. चिं. ७-१६२, १६३  
कफ मेवाक्तिवायो निवातातप गुप्रावरण नियुद्ध व्यायामभारहरणमर्देः

४२. इत्येतत् द्विविधं द्वं खेदम्भूत्यिष्य कीर्तिते ।। च. सू. १४-६६  
एकांगः सर्वागातः, लिंगधीरुक्षस्तथेत्वं च ।।

४३. इत्येतत् द्विविधं द्वं खेदम्भूत्यिष्य कीर्तिते ।। च. सू. ३२-१५  
सर्वसिंहेत्वं द्वेदु देहस्यवयवेत तथा ।। सु. चिं. ३२-१६  
वातश्लेषमणि वाते वा कमेवा स्वेद इष्टते ।।

४४. तु द्वेदेने द्वर्बलोः स्वेदः मध्यमे मध्यमो हितः ।। च. सू. १४-७  
(२) वृषणो हृदयं दुर्दी खेदम्भूत्येत्वं ।।  
मध्यमं वक्षजै शोषणामावयवमिष्टतः ।। च. सू. १४-१०  
(३) वृषणो हृदयं क्षुर्मुहं ना स्वेदयेत्वेत्वं ।।  
शोषो वेक्षणं संधीस्तु मध्यमं शोषमिष्टतः ।। का. सू. २३-६

४५. संकरप्रस्तरो नाडी परिषेकोऽत्वगाहनम्!  
जेताकृतोऽस्मवनः कर्तुङ्कुटी भू कुम्भिकवच ।।  
कपो होलाङ्क इत्येते स्वेदत्यति त्रयोदसा ।। च. सू. १४-३८, ४०  
जन्मप्रभुति बालानां स्वेदमष्टविधं हितम् ।।

४६. प्रयुजीते यथाकालं गोदादेव व्योक्षया।  
हत्स्वेदः प्रदेहस्त नाडीप्रस्तर संकरा  
उप्यनाहोऽवाहस्त्रं नाडीप्रस्तर संकरा  
अन्तसर्व स्वेदोक्तत्यवरोधः ।। सु. चिं. ३२-१  
स्वेदत्यापोपनाहोजा नाडीप्रस्तर संकरा  
चतुर्विधः स्वेदः तद्यथा: तापस्वेदः उप्यनाहस्त्रो द्रवत्स्वेद इति ।।

४७. डल्हण—तापनं तापः, उषा वायाः उपनाहिते इुपुनाहो बंधन-मित्यर्थः द्रवतीति द्रवः ।।  
तत्र तापस्वेदे कटुक ग्रहणदेव जेताकृतुङ्कुटी कृष्ण होलाङ्क इत्येता: पैचै अंतर्भवति  
उप्यस्त्रेदे सकर प्रस्तरामध्यन नाडी कुम्भी भू स्वेदः घड्यतभवति। द्रवत्स्वेद  
परिषेकाक्वाहाक्वतर्भवतः ।। सु. चिं. ३२-१ पर

आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान

५१. डहण—द्विविधः स्वेदः संशमनीय सशोधनां भूतश्च।  
तत्र संशमनीयः सामेषु व्याधिषु रुक्ष एव प्रयोज्यः ।

५२. तद्दणः पुनरानेदीप्तिमित्यादि इलोकाकृत्या ज्ञातव्यः ।  
संशाधनाग्रभूतस्य स्वेद पूर्वो योज्यः तस्य गणास्तु स्वेहक्लिन्ना  
इत्यादि इलोकन ग्रोक्ता इति ज्ञेयम् । सु. चिँ. ३२-२१ पर

५३. (१) प्रतिशयायेच कारसेच हिक्का इवासेबलाघवे । कारगमन्या शिरःशुले स्वरमेदे गलग्रहे ॥  
आदिकंकां पक्षाघाते विनाप्ते । कोषाणाह विनेष्टु शुक्रायात्यतोविन्यज्ञेभक्ते । पाशवपृष्ठक्लिन्ना  
कुक्षीं संग्रहे गृष्णसीचु ॥ मूर्तिकुच्छु महेवयं पुष्करयारा मर्दिका । पादजानुरु जंघाति  
सग्रहे इवयावपि । खल्लाष्टाम्यु शोतिच वेपथो वातकटके । संकोचयाम शोतिशु  
संस्थग्राह शुस्तिशु । सरविष्टु विक्रारपु खेदनं हितमुच्यते ॥ । च. मू. १४-२०-२४ ।  
(२) येषां नस्य विद्यातां बास्तिश्वेति दो हिमा । शोधनीयाश्च से किंचित् पूर्वस्वेदशास्तु  
ते मता । पश्चात स्वेदादते शाल्ये मृद्गार्भं उपदवा । सम्यक् प्रजाता कालेया  
पश्चात्स्वेद्या विजानता ।

५४. स्वेद्यः पूर्वच पश्चात्च भागं बद्येयैस्तस्या ।

अशमयो चातुरो जडुः शेषानुशास्त्रे प्रक्रमहे । सु. चिँ. ३२-१७ से ११

५५. (१) कषयमय नित्याना गर्भिण्यां रक्तस्पितिनां । पितिना सातिसाराणां रुक्षाणां मधुमेहिना ।  
विद्युष्ट ब्रह्म ब्रह्मानां विषमय विकरिणां । श्राताना नष्ट संज्ञाना श्वूलानां पितमेहिना ।  
दुष्टानां शुष्टिनां च कुङ्कानों शोचतामपि । कामल्यदरिणा चैव क्षतानां आङ्गरोरेणिं ।  
दुर्बलातिवशुक्षणापुरक्षीणीजसां तथा । भिषज् तीमिकरणां च न स्वेदमवतारयेत्—

५६. (२) पांडुमेही पितरकृती क्षयातः क्षामोजीर्णो चोदरातो विषाटः ।  
तत् छद्यतांति गर्भिणी पीतमयो नैते स्वेद्या यज्ञ मत्यातिसारा ॥ । सु. चिँ. ३२-२५

५७. (१) एतेषां स्वेद साध्या ये व्याधायास्तेषु बुद्धिमान । मृदून् स्वेदाश्रयुजीद् ॥ । सु. चिँ. ३२-२७  
(२) च. पा.—एषु चात्वेदविषयेषु यदि स्वेदेकसाध्यः संन्यासादिभिर्भवितातवा  
महाप्रत्यवाय भयात् अल्पप्रत्यवायपुष्पेक्ष्य यदि च भूयो विरोधे स्वल्पमत्यायम् ॥ च. मू. १४-१६ पर  
यदहुन्याधिवदो, ‘यद् भूयो विरोधे स्वल्पमत्यायम्’ ॥ च. मू. १४-१६ पर

५८. संकरादि स्वेदाश्चायुवेदं पंपरा सिद्धाः ॥ । च. पा. च. मू. १४-४० पर

५९. तत्रवाचातरितैरवस्तातिरितैर्वा विड्यर्योक्तेऽपवेदनम् संकर स्वेद इति विधात् ॥  
च. मू. १४-४१

६०. (३) पैदेयशोकत्रैति तिलमाषादि पिण्डे तथा गोखरादि ग्रंथोक्त संपुटकल्पैश्च पिण्डः  
स्वेदनमेवोपस्वेदनम् । ।

६१. तत्र मूल्कपाल पाषाणलोहपिण्डानान्तिकरणन् संदशेन गृहीत्वा भ्रमत्वे वा निमज्जयेत् ।  
तैराद्वाक्विक वस्त्रे वेष्टते । इतेष्वमेदो श्रीष्टिः प्रशिष्ट अंशिनद्वा सरुजमांसं स्वेदयेत् । पाशु स्तिक्ता  
गवादि पुरीष धाराभुस्तुलाकपलालेत्वा अम्लोत्वक्वायिते पूर्ववददेष्टैः । गवादि  
शक्तादिं पूर्विक्तेन वा उपवान द्रव्यतेलालकां कुशरामांसं पिण्डवात तरोग्न्यति पिण्डलेदा ।  
स एव संकरात्यः ॥ । अ. सं. मू. २६

६२. पंपरा से प्राप्त इस पिण्डलेद विष्ट के बारे में निम्नलिखित संदर्भ प्राप्त हैं ।  
६३. संशोधितानां कुडवहयं प्राक् संसाधितं षष्ठिं तंडुलानाम् ।  
बला क्षाये पथसा युतल्वान् लिपाव्ययेत् षष्ठिणित षष्ठिणित षष्ठिणित षष्ठिणित षष्ठिणित ।  
पिण्डान् विद्याद् अमुनाष्टेव खेद्यै नूलेषु नूलेषु नूलेषु नूलेषु बद्धान् ।  
विषपृच्छानां व्यवहैते वलाया: क्षिपेदवैतान पवसा समेते ।

६४. अर्मीक्षा विक्षेपकवोल्लिङ्गास्तीर्भव्यम् मुदनां व्यशोपदेशम् ।

६५. संशोधितानां कुडवहयं प्राक् संसाधितं षष्ठिं तंडुलानाम् ।  
बला क्षाये पथसा युतल्वान् लिपाव्ययेत् षष्ठिणित षष्ठिणित षष्ठिणित षष्ठिणित ।



आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान

۸۳

८६. धनीतिकांतु पुरीषां यथोक्तानां प्रदीपयेत्।  
शायनात्प: प्रमणेन शश्यामुपरि तत्र च।  
सुदवश्यां विद्धुमायां यथोक्तामुपकल्पयेत्।

८७. स्ववच्छन्तः स्वप्तस्त्राभ्यक्तः स्विद्धति ना सुवृत्।  
होलाकस्वेदं इत्येवं सुखः प्रोक्तो महर्षिणा ॥ च. सु. १४-६९ से ६३

(१) तपनं तापः ॥ डलहण  
(२) तत्र तापस्वेदः पाणिकांत्य कंडुकवाल बालुका वर्त्ते: प्रयुज्यते, शायनस्थ चांगतापे

बहुशः खिदिंगारैरिति ॥ सु. चि. ३२-३

(३) कंडुकं अनुपावनभाङ्गम ॥ डलहण

(४) तापादिक्षितवसनं फालहस्त तलादिभिः ॥ अ. ह. सु. १७-१  
अ. द. —प्रत्येन अयोमयेनानि तसेन तथाहस्त तलेनापि, आदि ग्रहणात् दारुबालुका  
घटिका कास्यपात्रादयो गृहंते ॥

(५) तत्र तापस्वेदं कंडुकं ग्रहणादेव जेताकं कुरुकुर्ती कूपं होलाक स्वेदः । पंचैवतिभवंति ॥  
डलहण ॥

८८. उषा वाष ॥ ड. सु. चि. ३२-२ पर  
जातस्य चतुरोमासानं हस्तस्वेदं प्रयोजयेत् ।

अप्रमादी नितस्थो विभूषामन्त्रज्ञाना इति ॥ १। का. सु. २३-२७

८९. निवर्तमाने बालस्य सोऽकुमारे यथाक्रमम् ।  
प्रवर्तमाने काठिन्यं तेषा स्वेदं प्रवृद्धयेत् ॥ १। का. सु. २३-२८

९०. उषरवेदस्तु 'क्षयालपापणोष्ठिकालोहं पङ्गानन्दवर्णनदिविभिंस्वेद् अस्त द्रव्यैर्बा,  
तेराद्वालवक्तव्यित्वैतराग्रप्रदेशं स्वेदयेत् । मासप्रयोगाद्य स्वेहं धन्याल्स वातहपत्र  
भांगवक्वाथप्राप्नावा कुंभामनुतसा प्रावृत्येषामां गृहणीयात् । पाशविच्छिद्रेण व  
कुंभेनाथोऽपुरुषेन तस्याखुमध्यं भस्त्रधाय तस्मिंश्चिद्रे हस्तिशृङ्गुडकारां नाडीं प्रणायाम  
स्वेदयेत् । सु. चि. ३२-५ आगे भी देवं

व्यामाधेयपात्रा विर्वका हस्तिहस्त समवृक्षतः ।  
स्वेदनार्थं हिता नाई॒ कैलंगी॑ हस्तिशृङ्गुडिका ॥ १। सु. चि. ३२-७

पुरुषायाम मात्रां च भूष्ममुत्कर्य खविरिः ।  
काठर्धव्या तथाख्युक्षम् क्षीरं धान्यामवारिभिः ।  
पत्रभूष्मवर्क्षाद्य शयनं स्वेदयेत् । सु. चि. ३२-८

पूर्ववद् स्वेदेवद्यथा भस्मापोद्विषि वा शिलाम् । सु. चि. ३२-६  
पूर्ववद् कुर्त्तीं वा चतुर्भारांकुला तस्मामुचिष्टस्यात्प्रतिष्ठानं उत्तराग्रपुणसंशयाय तं स्वेदयेत् ।  
कोशाधानयनि वा सम्यग उपस्वेद्याद्यत्येवं किंतिज्जन्यतमस्तिन् वा तत्प्रतिकृपक वा शया  
प्रावृत्य स्वेदयेत् । एवं पाण्यं गोशकृषुष त्रुपं पलातोष्मभिः स्वेदयेत् ॥  
सु. चि. ३२-१०, ११

९१. उषा दूलाकारिका लोपलोपाकं पांसुभिः ।  
पत्रभूष्मन धान्येन करीष सिकता तुयः ।  
अनेकोपाय सतसः प्रयोज्यो देशकालतः ॥ अ. ह. सु. १७-६, ७

९२. (१) उपानाहाते इत्युपनाहौ, बंधनमितर्थः ।  
उपानाह शब्दस्तु इह 'पाहौ, लंधने इत्यस्येति उपनाहौ बंधनम् ॥  
डलहण. सु. चि. ३२, १ तथा १२ पर

(२) उपानाहस्तु वातहरं मूलवक्तव्येत्वम् पिष्टै लवणं प्रगाढैः सुस्निधैः

(३) संयुक्तेन्द्रियकैः पिङ्गला गोधूमानामथापि वा।

पद्मावत्पल पलाशीर्वा स्वेद्या संवृत्य चश्चयि।

जलादीजिलजैः हस्तैः स्थिरातो हृदयं स्पृशेत्।। च. सू. १४-११, १२

(४) गलकर्णं शिरोमन्या कणाक्षिं चिक्खुकोरीसि।

अभिष्ठदत् समुच्छेने प्रदेहे स्वेद इज्यते।। का. सू. २३-२४

१००. ऋग्वावरं सप्तदिने पर्यु निषिद्धो नः स्वेदयितव्य उक्ततः।। च. सि. ३-६

१०१. (१) शीतमूलं व्युपरमे संभू गौरव निषिद्धे।  
संजात मादेवे चैव स्वेदनात विरामता।। सु. चि. १४-१३

(२) स्वेदतावो व्याधिहानिलिङ्गते शीताथित्वंमात्वश्चातुरस्य।

सम्युक्ति स्विचे लक्षणं प्राहुदत्वं निष्यास्विचे व्यत्ययेनतदेव।। सु. चि. ३२-२३

१०२. (१) पित्र प्रकोपे मूर्ढ्यं च शरीर सदन तथा।  
वाहः सर्वां दोर्बल्यमतिस्थित्यन्य लक्षणम्।। च. सू. १५-१२

(२) स्विचेऽत्यर्थं संषिधीड़ा विदाहः स्नोटोत्पत्तिः पित्रकृत प्रकोपः।  
मूर्ढ्यं भ्रातिदाह तुष्णा कलमश्च कुर्यात्पूर्ण तज शीत विद्यान्।। सु. चि. ३२-२४

(३) पित्रात्क्रोप तृष्णूर्ढ्यं स्वरांगसदन भ्रामः।  
संषिधीड़ा जर श्यावतरक्तमङ्गलं लर्णनम्।।

स्वेदातिरोगात् लघीदिश्च तज संभृतमधौषधम्।। अ. ह. सू. १७-१६, १७  
१०३. संभंन संभयति यत् गतिमते चले श्वेदां। च. सू. २२-१२

१०४. शीतं मंदं मुद्दु रूतश्च रुक्षं गूक्षं द्रवं स्थिरं।। च. सू. २२-१७

१०५. प्रायत्सिक्तं काशायं च मधुरं च समाप्ततः।। अ. ह. सू. १७-१९

१०६. पित्रशारानिदरथा ये वस्त्रतीसार पीडिताः।।

विषख्यादाति योगाति संभनीयास्था विद्याः।। च. सू. २२-३३

१०७. श्यावतात्स्तब्ध्याग्रात्वं उद्देवो हनुं संग्रहः।।

हङ्करो निग्रहश्च स्थाद् अतिस्त्रभित लक्षणम्।। च. सू. २२-४०

१०८. स्त्रिघटस्य सूक्ष्मोच्यनेषु लीनं स्वेदस्तु योगे नयति द्रवत्वम्।। च. सि. ३-७

१०९. स्नेहपूर्वं प्रयुक्तेन स्वेदनाविजितेनिते।  
पुराष मूत्र रेतांसि ना स्वज्ञति कयचल।। च. सू. १४-४

११०. वायुस्तंप्रयत्थर . . . . . नियंता प्रणेताव मनसाऽ . . . . . सर्वैत्तियाणां उद्योजकः।  
सर्वशरीर आतुव्युहकरः संधानकरः शरीरस्य . . . . . च. सू. १२-८

१११. वातस्योपक्रमः स्नेहः स्वेदः संशोधनं मुद्दुः अ. ह. सू. १३-१  
११२. सुषुक्षणयिहि काष्ठनि स्नेहस्योपपादनैः।  
नमयति यथान्याय किं पुनर्जारीवितो नरान्।। च. सू. १४-५

११३. अनेदीति मादेवं त्वक् प्रसादं।  
भक्तश्चादां व्योतसां निर्मिलत्वं।  
कुर्यात्स्वेदो हृति निदां स तंद्रा।

संधीनं साब्धांस्येष्येवादयु युक्तः।।  
स्नहाक्लिना (कोष्ठगा) धातुं सम्याश्च दोषाः।।  
स्वस्थानस्या यच मानुषु लानाः।।

सम्यक्स्वेदेयोंजितसे द्रवत्वम्।  
प्राप्ता कोष्ठे स्वेदान्यर्थत्येषम्।। सु. चि. ३२-१९, २२

११४. पद् द्रव समरद त्यिन्ध विच्छिलं स्वस्थानस्या कर्मणित पूत्र स्वेदादि तदायं स्वो रसनंच ।।

११५. स्वेदोवहना स्वोतसां मदेमूलं गोमक्षपाश्च। च. चि. ५-१६

११६. वेदोवहना स्वोतसा वृक्षो पूत्रं वापवहनं च। च. चि. ५-१२

११७. मेदःसंश्राद्ध व्याघ्रस्यहे। निदित्वानि प्रमहाणां पूर्वस्पाणि यानि चं।। च. सू. २८-२८

११८. प्रदुषणां तु खलु एषामित विशेष विजानं भवति।

तद्यथा अत्वेदन-मातोवेदनं पारुष्यमति रस्त्वाताभास्य परिदाहं

लोमहर्षस्च दुश्वा . . . . च. चि. ५-१६.

११९. Sweet contains same electrolytes at those found in the extra cellular fluid.

(Text Book of Medical Physiology —By Gyton)

## चतुर्थ अध्याय

# वमन-विज्ञान

**ब्लारड्या-**वमन का सामान्य अर्थ है उलटी कथ्य-जिस प्रक्रिया में उलटियों कराई जाती है वह 'वमन' कहलाती है। वमन ऊर्ध्व भागहर शोधन है। वमन शब्द की वैद्याकरणीय उत्पत्ति इस प्रकार की है।

“वम-उद्दारे, यक्ष सेद्। वमाति, अवमीत्।  
वमन-वमने ल्युद् (पु.) मर्दने छ्वर्दने निःसारणे  
च स्वगार्भाच्छंद वमनम्। कुमारः। आहौती (विश्व)  
वग्नि (स्त्री) वम इन् छ्वर्दैं छ्वर्दि शब्दे।”

**बमशुः-वम-अथुचा।**

वमन से संबंधित वम, वमन, वग्नि और वमशु इन चारों शब्दों का स्वरूप ऊपर वर्णित है। वम शब्द उद्गार के अर्थ में प्रयुक्त है और इससे 'वमति'—उद्दर्शीण कहता है, या अवमीतप-उद्गारण किया ऐसे शब्द बनते हैं। वम में ल्युट् प्रत्यय से पुल्लिग वमन शब्द बनता है। जिसके चार अर्थ हैं। एक अर्थ है छ्वर्दि या उलटी होना, दूसरा अर्थ है मर्दन करना, तीसरा है निःसारण या निकाल देना, और चौथा अर्थ है—सर्वा या अभिष्वदन। इसका अन्य अर्थ 'आहरण'—खींच लेना यह होता है। वग्नि यह स्थितिगी शब्द है जो च्वर्दि के अर्थ में हुआ है। अर्थ है छ्वर्दि। वमशु शब्द वम में अस्तु चूं प्रत्यय से बनता है जो च्वर्दि के अर्थ में हुआ है। यहाँ स्पष्ट कि वम, वमशु और वग्नि—ये छ्वर्दि (या उद्दर्शीण) कहलाते हैं और वमन—का अर्थ छ्वर्दि करना ऐसा होता है। आयुर्वेद में भी ये चार अर्थ—छ्वर्दन, निःसारण, अभिष्वदन, और आहण-वाचक में वमन का प्रयोग होता है। ये चारों शब्द वस्तुतः वमन की कार्मिकता को ही स्पष्ट करते हैं।

आयुर्वेद में वमन की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि दोषों को ऊर्ध्वमार्ग से अर्थात् ऊख से बाहर निकलना यह वमन है। यहाँ दोष की विकितसा है। अन्यत्र दोष से वातादि दोष, मल, मृत्र, पुरीष, तथा वमन प्रथानात्या कफ दोष की विकितसा है। अन्यत्र दोष से वातादि दोष, मल, मृत्र, पुरीष, तथा शरीर के सभी बाधा और दुष्टि उत्पन्न करने वाले घटक 'दोष संशक' मल संशक कहे जा सकते हैं। वमन की व्याख्या करते हुए शर्क्खिर कहते हैं कि—अपक्व पित्त तथा कफ को जो बलपूर्वक ऊपर ले जाकर निकाल देता है वह वमन कहलाता है, जैसे मदनफल।<sup>१</sup> भावप्रकाश ने भी यही व्याख्या दी है। यहाँ आपक्व शब्द से जो पित्त और कफ उचित प्रकार से तैयार नहीं

हुए हैं—वे दुस्त पित्त और कफ ऐसा अर्थ करना चाहिए। वमन संशोधन का प्रकार है। अपने स्थान से हटाकर ऊपर या नीचे ले जाकर मुख या गुदा से दोषों को निकालना संशोधन कहलाता है।<sup>२</sup> संशोधन-उर्ध्वभागहर तथा अधोभागहर ऐसा द्विविध है। अधोभागहर संशोधन विरेचन कहलाता है, तथापि कभी-कभी दोनों को शरीरमल को निकाल देने के कारण 'विरेचन' कहा जाता है। अर्थात् वमन को ऊर्ध्व विरेचन भी कहा जा सकता है। वरक ने सूत्रस्थान का चौथा अध्याय 'षड्विरेचन शातान्त्रिय' नामक द्रव्यों के ३५५ अध्याय में छः सौ विरेचनों का वर्णन है वस्तुतः यहाँ मदनफलादि नामक द्रव्यों के ३५५ योग कहे हैं, और १४५ योग विरेचन योग कहे गये हैं। इनके बीच, त्वक, मूल, पत्र पुष्प और फल ये छः। आश्रय होते हैं। यहाँ चक्रपाणि कहते हैं कि विरेचन शब्द से वमन का भी बोध होता है। यहाँ दोष और मलों के विरेचन से यदि 'विरेचन शब्द' वमन में प्रयुक्त होता है, तो बास्ति, शिरोविरेचन के लिए भी विरेचन संज्ञा की जा सकती ऐसा न समझे। क्योंकि यह तंत्रकार की योग रूढ़संज्ञा है, और तंत्रकार ने वमन और विरेचन के लिए ही प्रयुक्त की है। यहाँ पर व्यान में रखना चाहिए कि नस्य को शिरोविरेचन कहा ही गया है। वैसे ही—सहिता गंधों में 'शुक्र विरेचन' (वाजीकणप्रौद्योधयस्तु शुक्रं शुक्रं विरेचयति), तथा मत्रविरेचन (च. सू. ४-१, ५-३५) ये भी शब्द प्रयोग मिलते हैं। अतएव यह उचित है कि विरेचन से प्रायः अधोभाग हरण अर्थ करे और 'वमन शब्द' उर्ध्वभाग हर छ्वर्दन में प्रयुक्त है, उसे वमन ही कहा जाये।

शास्त्र में वमन, वग्नि, छ्वर्दन, छ्वर्दि ऐसे शब्द भी प्रयुक्त हैं। यहाँ यह विभाजन कठिन है कि दोनों को पर्याय माने या अलग। 'छ्वर्दि' नाम से गोग दिया गया है और 'वमन' कठिन है कि दोनों को पर्याय माने या अलग। 'छ्वर्दि' कराये उसे वमन 'वमन यह उपक्रम में निर्दिष्ट चिकित्सा है अतः चिकित्सक जो 'छ्वर्दि' कराये उसे वमन कहलाता संगत है, और स्वयं जो कथ होती है उसे छ्वर्दि कहना चाहिये, "इह खलु गजानं गजमात्र मन्यं वा....वमन विरेचनं वा पायशितुकामेन शिष्जा..." (च. सू. १०)। इस तरह वैद्य के उपक्रम में वमन शब्द प्रयुक्त है और छ्वर्दि लक्षणों में और रोग में प्रयुक्त शब्द है। वैसे तो स्वयं प्रवृत्त कथ के लिए भी वमन, वग्नि, वमशु शब्द और चिकित्सक के उपक्रम में भी छ्वर्दन शब्द 'एकाहो पतत्सद्भृत्युक्त्वा प्रच्छर्दनं गिबेर॒' (च. सू. १३) प्रयोग मिलते हैं, तथापि बाहुल्येन प्रयोग का नियम कर स्वशास्वसिद्धांत के अनुसार इस प्रथमें 'वमन'—चिकित्सक द्वारा प्रयुक्त उपक्रम के वमन के लिए और 'छ्वर्दि' या छ्वर्दन शब्द स्वयं प्रवृत्त लक्षणों के लिए सीमित रखा जाएगा।

दोषों का हरण यह शब्द के बहल सीमित दोषवाचक लेना संतान नहीं है। अन्यथा वमन में जो अन्य मलों का निहरण होता है, उसका बोध नहीं होगा। दोषधातु और मल इनमें तीनों में तीनों संज्ञाएं अवश्यनुसार होती हैं, और 'मल विरेचन' शब्द से इनकी व्याख्या में मल शब्द का प्रयोग किया ही है। मल की व्याख्या में चरक ने कहा है कि—शरीर के लिए बाधा करने वाले, सभी घटक मल होते हैं। जिनमें शरीर के स्त्रोतों में विपक्वनेवाले अलग से उत्पन्न तथा बाहर की ओर जानेवाले, परिपक्व धातु, वातापित्त कफ तथा जो कोई दूसरे भाव होंगे वे सब शरीर का उपधात करते हैं, उनको 'मल' ऐसा कहा जाता है।<sup>३</sup> इनका वमन में निर्हण होता है यह आगे वमनकार्मकता में स्पष्ट किया जाएगा। इस तरह, 'ऊर्ध्वमार्ग से अर्थात् मुख से

प्रकृष्टित चालादि दोष और शरीर में बाधा करनेवाले मलों को निकालना वमन है। यह व्याख्या करनी चाहिये।

### वमन का सामान्य परिचय

शरीर दोषों को बाहर निकालने के लिए-वात के लिए-बरित, पित्त के लिए विरोचन और कफ के लिए वमन ये सबस्त्रेष्ठ उपाय कहे गया है। कफ का स्थान उर्ध्व भाग में है, और आमाशय यह इसका प्रमुख स्थान कहा गया है और सत्रिकट मार्ग से दोषों को निकालना यह स्वीकृत सिद्धान्त है। दोषों को तथा दुमों को मूलतः छेदन करने से उनकी जुनः प्रवृत्ति नहीं होती। कफ के लिए आमाशय मूलस्थान है। मूल में कफ का नियामन किया जाने पर वह सभी कफों का नियामन करता है। जैसे केदार में यदि अधिक जल से जगह-जगह के चावलों का अतिकर्णदन होता हो तो, सुन्तुष्ट (बांध तोड़ना) करने पर सभी स्थानों के जल का शोधन होता है वैसे ही वमन से आमाशयस्थ पोषक दोषों का शोधन होने पर उनसे पुष्ट होनेवाले पोष्य दोषों का स्वयं शोधन होता है।

सुश्रुत ने क्षीण दोष में बृहण, प्रकृष्टित दोषों में शामन और वृद्धदोष में निर्हरण करने को कहा है और निर्हरण में प्रमुखता वमन और विरोचन का समावेश किया है। यहाँ डल्हण कहते हैं कि प्रकर्ष से वृद्ध हुए और अपने स्था. से प्रचलित दोषों का निर्हरण करना चाहिये। वृद्धि दो प्रकार की होती है। चय लक्षण और प्रकोप लक्षण। जब सचय रूप वृद्धि होती है तो यह 'चय वृद्धि' है और जो विलयन रूप वृद्धि है-वह-प्रकोप वृद्धि होती है। विलयनरूप वृद्धि में निर्हरण चिकित्सा करनी चाहिये। प्रकोप भी चय प्रकोप और अचयपूर्वक प्रकोप द्विविध है। चयपूर्वक ऊपर आये हुए दोषों का निर्हरण किया जाता है। वमनविरोचन को प्रमुखता देने का कारण यह है कि धूम नस्यादि में बड़ल्यने शोधन नहीं होता। यहाँ कफ और पित्त दोनों का ही शोधन अपेक्षित हो तो दोषाणां क्यों कहा- 'दोषयोः' कहना चाहिये। किन्तु-वायु का भी अपने आशय से च्युत होने पर वमन विरोचन से शोधन होता है अतः वह संगत है।<sup>१०</sup>

वमन के बाल रोगों में दोष निर्हरणार्थ प्रयुक्त है ऐसा नहीं है-प्रत्युत स्वस्थों में भी वमनविरोचन होता है अतः वह संगत है।

### वामक द्रव्यों के उपचारकम्

वमन करने वाले द्रव्य वमन द्रव्य या वामक द्रव्य कहलाते हैं। वामक द्रव्यों में निम्नलिखित प्रकार के गुण होते हैं।<sup>११</sup>

१. उषा
२. तीक्ष्णा
३. सूक्ष्म
४. व्यवायि
५. उच्चारशी
६. उच्चर्भाग प्रभाव
७. उच्चर्भाग प्रभाव-वामक औषधियों का सबसे प्रमुख गुण उच्चर्भाग प्रवृत्ति होती है। वैशिष्ट्य करते हैं, और सारे शरीर में तुलनविकसित होते हैं।<sup>१२</sup> विकाशी गुण से वामक द्रव्य में व्यवायि गुण के कारण उनका पाक होने के पहले ही सर्व शरीर में व्याप्ति होकर उच्चा, तीक्ष्णा, इत्यादि गुणों का कार्य शुरू होता है।
८. उच्चर्भाग प्रभाव-वामक औषधियों का सबसे प्रमुख गुण उच्चर्भाग प्रभाव ही है। वै अग्नि और वायु महाभूत भूयिष्ठ होने के कारण, उनकी उच्चर्भाग प्रवृत्ति होती है, तथापि उच्चर्भाग प्रवृत्ति और अधोभाग प्रवृत्ति यह द्रव्यों का प्रभाव ही है। प्रभाव यह ही वमन में हेतु है ऐसा कहना संगत है। चक्रभागि कहते हैं कि-वमन जो उच्चर्भागहर प्रभाव करता है उसमें अग्नि-वायु हेतु है ऐसा कहना ठिक नहीं है। क्योंकि प्रभाव तो अचिंत्य कहा है-और जिसमें उत्तित कही जा सकती है वह प्रभाव नहीं हो सकता। अतः वाच्यनिगुण का वमन प्रभाव ऐसा नहीं, अपितु वमन यह उच्चर्भागहर प्रभाव से ही होता है और इसमें वायु-अग्निगुणता एक हेतु ही सकता है, न कि वमन में, वह स्वतंत्र हेतु है। यदि वाच्यनिगुणता को स्वतंत्र हेतु वमन में कहा जाये तो वे द्रव्य जिसमें अग्निवायु की गुणभूयिष्ठता है, किन्तु उच्चर्भागहरण प्रभाव नहीं, वे भी वामक होने चाहिये। जैसे कटु रस अग्निवायात्मक है-उससे वमन होना चाहिये, किन्तु सब कटु ऐसे नहीं होते। अतः प्रभाव स्वतंत्र हेतु है।<sup>१३</sup>

गाया है, यह आनेय गुण है, विरोषण: पाचन करता है, दाह जनक है, स्वेदन करता है और विवरण करता है। रसों में कटु, अम्ल और लवण उत्तरोत्तर उत्ता होते हैं।<sup>१४</sup> वामक द्रव्यों में उषा गुण के साथ वामन द्रव्यों में लवणों का अतएव प्रयोग होता है।<sup>१५</sup> वामक द्रव्यों के द्वारा विवरण

होता है।<sup>१६</sup> अर्थात् दोषों को पकाकर गताने का काम उषागुण से होता है जिससे उनकी कोष्ठगभिमुख प्रवृत्ति होती है।

२. तीक्ष्णा- तीक्ष्णा गुण भी दाह, पाक, तथा स्राव करने में हेतु होता है। तीक्ष्णा गुण से वामक द्रव्यों में शीघ्रता से कार्य करने की क्षमता होती है।<sup>१७</sup> तीक्ष्णा गुण से दोषों को अपने स्थान से बाहर करने का कार्य होता है।

३. सूक्ष्म- जो स्रोतों में प्रवेश करने योग्य होता है उसे सूक्ष्म कहते हैं। यह आकाशीय, वायव्य तथा तैजस गुण है। सूक्ष्म गुण से वामक द्रव्यों का सूक्ष्म और अग्नि स्रोतों में प्रवेश होता है। वामक द्रव्य अपुर्ववन भाव से दोषों को कोष्ठ में लाते हैं। अपुर्ववन भाव का अर्थ है-अग्नुत्व, तथा प्रवणत्व अग्निमार्गों में प्रवेश करना अग्नुत्व है और कोष्ठ की तरफ आने को प्रवृत्त होना यह प्रवणत्व कहलाता है।<sup>१८</sup> यह गुण ज्ञानाधारा के कारण अधिक कार्यकर होता है। सूक्ष्म गुण से अणु स्रोतों में प्रवेश के बाद उच्च तीक्ष्णादि से पाचन, विलयन और कोष्ठगभिमान होता है।

४. व्यवायि- जो द्रव्य उत्तराणिन के द्वारा पाक होने के पूर्व ही अपने प्रभाव से समग्रशारीर में व्याप्त होकर अपने गुणकर्म दिखलाते हैं, उन्हें व्यवायि कहा जाता है।<sup>१९</sup> वामक द्रव्य में व्यवायि गुण के कारण उनका पाक होने के पहले ही सर्व शरीर में व्याप्ति होकर उच्चा, तीक्ष्णा, इत्यादि गुणों का कार्य शुरू होता है।

५. विकाशी- विकाशी उसे कहते हैं जो थातुओं से ओज को पृथक करते हैं, संधियों में शैथिल्य करते हैं, और सारे शरीर में तुलनविकसित होते हैं।<sup>२०</sup> विकाशी गुण से वामक द्रव्य में व्यवायि गुण के कारण उनका पाक होने के पहले ही सर्व शरीर में व्याप्ति होकर उच्चा, तीक्ष्णा, इत्यादि गुणों को पृथक करने में सम होते हैं।

६. उच्चर्भाग प्रभाव- वामक औषधियों का सबसे प्रमुख गुण उच्चर्भाग प्रवृत्ति होती है। वै अग्नि और वायु महाभूत भूयिष्ठ होने के कारण, उनकी उच्चर्भाग प्रवृत्ति होती है, तथापि उच्चर्भाग प्रवृत्ति और अधोभाग प्रवृत्ति यह द्रव्यों का प्रभाव ही है। प्रभाव यह ही वमन में हेतु है ऐसा कहना संगत है। चक्रभागि कहते हैं कि-वमन जो उच्चर्भागहर प्रभाव करता है उसमें अग्नि-वायु हेतु है ऐसा कहना ठिक नहीं है। क्योंकि प्रभाव तो अचिंत्य कहा है-और जिसमें उत्तित कही जा सकती है वह प्रभाव नहीं हो सकता। अतः वाच्यनिगुण का वमन प्रभाव ऐसा नहीं, अपितु वमन यह उच्चर्भागहर प्रभाव से ही होता है और इसमें वायु-अग्निगुणता एक हेतु ही सकता है, न कि वमन में, वह स्वतंत्र हेतु है। यदि वाच्यनिगुणता को स्वतंत्र हेतु वमन में कहा जाये तो वे द्रव्य जिसमें अग्निवायु की गुणभूयिष्ठता है, किन्तु उच्चर्भागहरण प्रभाव नहीं, वे भी वामक होने चाहिये। जैसे कटु रस अग्निवायात्मक है-उससे वमन होना चाहिये, किन्तु सब कटु ऐसे नहीं होते। अतः प्रभाव स्वतंत्र हेतु है।<sup>१३</sup>

### वमन द्रव्य

वर्तमन द्रव्यों का अतएव प्रयोग किया गया है। वमन द्रव्यों के

अतिरिक्त चरक में वमनोपाया गया थी दिया है। वमनोपाया शब्द से अधिकहृत द्रव्य बै हैं जो वमन प्रक्रिया में सहाय्यक होते हैं। कहीं-कहीं अद्व्यभूत वमन का भी उल्लेख किया गया है। दुर्धी प्रदार्थों से, वीथर्टस दर्शन से, भयानक त्वचरूपों को देखकर भीति उत्पन्न होते से भी वमन होता है, किन्तु यह च्छादि है और चिकित्सा में इसका उपयोग करना सांतान नहीं है। वैसे ही केंठ में जिक्कामूलकों-उपजिविका और अन्ननितिका के प्रारंभिक भाग को अंगूली, कमलनाथ, रबर इत्यादि किसी मृदु वस्तु से स्पर्श कर यांत्रिक उत्तेजना से भी वमन किया जाता है। यह उपाय वामक तरीके से आयुर्वेद को सम्मत है, इसका आगे वमन विधि में विचार करेंगे। यहाँ वमन द्रव्यों का विचार करना है।

चरक, सुश्रुत, वाघट तथा उत्तरवर्ति सभी आचार्यों ने वमन द्रव्यों में एकमुख से जिसकी प्रशंसा की है वह द्रव्य है मदनफल, या मैनफल। इस मदनफल का यहाँ समर्पक विचार प्रस्तुत कर अन्य द्रव्यों का सामान्य परिचय भाव दिया जाएगा।

मदनफल—मदनफल प्रसिद्ध वृक्ष है। सब वर्मन द्रव्या में यह अपारहत हानि के श्रेष्ठ है ऐसा चारक कहते हैं। मुश्तुत ने भी मदनफल को श्रेष्ठ वामक द्रव्य कहा है।<sup>१०</sup> चारकादि आचार्यों ने मदनफल के कापर स्वतंत्र अध्याय लिखकर इसके अनेक योगों का वर्मन में प्रयोग किया है। मदनफल के कुल १३३ योग वर्मनार्थ चरक ने प्रयोग किये हैं।<sup>११</sup> जिसमें कथाय के ६, योग, मात्रा के आठ, दृष्ट और धी के ५ योग, फणित और चूणों के दो, ब्रेय और वर्ति के ६, अवलेह मोदक में २०, उत्करिका के योग, शाकुली पूप में १६ योग, शाडवादि में १० योग ऐसी चित्र-विवर कल्पना योगा है।<sup>१२</sup>

चरक ने मूलनकल के लिए काहाट, राठ, पिंडीतक, कफल, श्वसन से प्रयोग नाम दिये हैं। १३ इसका फलिनी (च.मू.१) वर्ण में समावेश किया है, और सुकृत ने ऊर्ध्व भागहर, आराघ्यवादि मध्यकक्षादि गण में कर्णन किया है।

**परिचय**—इसका बुक्स छोटा, (मध्यम आकार का), ज्ञानीतार और कंटक युक्त होता है। ऊंचाई साथारणतः १५ फीट तक रहती है। शाखायें छोटी, श्वेत और कांटेदार होती हैं। प्रारंभ में समांतर होने से बुक्सलूप होती है, पश्चात् सीधी होती है। शाखाएं बहुत सरलता से ढूट सकती हैं। कंट के सिकाय कोई प्राणी कुंचाई के कारण इसके पत्ते खा नहीं सकता। पत्र अंडाकार अपार्मार्ग के पत्ते की तरह गोल रहते हैं। इन पर अक्षेत्रश में दो-गोली ओर लम्बे और तीक्ष्ण काटी होते हैं। एक से दो इंच लम्बे रहते हैं। एक शाखा में ६ से १० जोड़ पत्ते के निकलते हैं। पुष्प श्वेत या पीलाभ रहते हैं, एक या कमी-कमी दो लगते हैं। पुष्प सुगंधी, चमली के आकार के ३ से ५ से. मी. लम्बे होते हैं। इसके भीतर दूसरा आवरण रहता है और पीला रहता है। इसमें लम्बाई में द्वितीय रहती है। फलमण्डा मधुर और तिक्त होती है और इत्याची के जैसे सेकड़ों दीज अन्दर भेर रहते हैं। फलमण्डा तोड़ने पर कृष्णावर्ण बीज के ४ खण्ड निकलते हैं। जिन्हें मदनकल पिपली कहते हैं : ग्रीष्म ऋतु में पुष्प आते हैं और अन्तिकल में फल आते हैं।

उत्पत्ति स्थान-हिमालय के नीचे की पहाड़ियों में जामू से लेकर सिंधिकम तक और सिंध, कच्चविहार, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में पाया जाता है।

रासायनिक संगठन-मदनकल में सेपोनिन (Saponin) नामक तत्व होता है जो पूरे फल के  $\frac{1}{3}$  में भाग होता है। इसका प्रमाण लगभग २ रत्ती निकलता है। इसके अतिरिक्त वेलेशियनिक अम्ल (Valerianic) मोम, राल, रंजक, दूध होते हैं। बीजों में सुगन्धित तेल होता है।

मदनपल के शिव-भित्र पर्याय-शिव निषंडु ग्रंथों में पर्याय है।

क्षेत्रवाचक—महजक, महवक, राठ।  
बाचक—शल्य शब्दक।

नलवाचक—पिडीफल, पिंडीतक, गोलफल, ग्रीष्मफल, थाराफल, घंटाल।

ध्वनियाचक्—विष पुष्टक (मादकता के कारण), घंटाल (आकार के कारण),

पर्याय-मदन, चृद्दन, हर्ष बस्तिशोधन, श्वसन।

શ્રી માત્રાંદુર પત્ર

गोदान्द-भनकल, पयनफल, करहर, महफल, भनर, मन्युल-  
प्रसंगी-Emetic nut (इमेटिक नट). Bushy *Gardenia* (बड़ी गार्डेनिया) |

लिंगेटिन-*Randia Dumetorum* (रेडिया ड्यूमेटोरियम)।

गांगाली—मथना, भयनाफल, मयना, कांटा, मेंदफल।

अमराती—मौड़वा बोला ढैल मिठेल।

वीनग्रे एंड हू, मारेगिड !

ललाटु-मंग, मंगचेट्ठ, उन्मत चेट्ठु।

डिया-पातर, पत्तिरि !  
मल—मेवकलम् ।

नारसी, अरबी-जोड़कै।

१-ण—लंघु, रुक्ष, विपाक-कटु, रस मधुर, तिक्त, कषाय और कटु। वीर्य-उष्ण।

प्रभु-मूडनकल वस्तु करता है बिद्धि पवित्राय वस्तु को दग करता है बक्ष

वात का अनुलोभन करता है। वात का अनुलोभन करता है।

**ग्रंथविधि**—चरक ने मदनपत्र संग्रहीत करने की खास विधि

मैंने फलों की विविधता से अपने बच्चों को खाना दिया है। उस समय ली जाती करते हैं। जिस समय औषधि अपने बीर्य में प्रकर्षणकृत होती है उस समय ली जाती है।

प्रेरणाएँ तो जो पक्के हुए हों, मध्यम आकार के हों, जन्मतुओं से खाए हुए-

जिनमें से किसी एक में ६ दिन तक रखें। जब वे मट हो जायें।

सूखने पर बीजपिंडों (मदनकल बीज) इनमें आये तब निकाल कर सूखा दे। सूखने पर बीजपिंडों (मदनकल बीज)

में या अच्छे पात्र में प्रयोगार्थ सुरक्षित (छिक्के पर) रख दें। इन पिपलियों का उपयोग वमनार्थ करें।<sup>१७</sup>

### चरकोक्त वामक द्रव्य

चरक ने भिन्न-भिन्न स्थान में वामक औषधियों का वर्णन किया है। उनमें कुछ प्रमुख हैं, और कुछ सहायक हैं, तथापि अध्ययन अन्वेषणादि हेतु से उन्हें संसदर्भ यहाँ लिखा जाता है।

१. मूलिनी वामक द्रव्य-जिनके मूल या जड़ प्रयोग में उपयुक्त होते हैं उन्हें मूलिनी कहते हैं। वामक मूलिनी में हैमवती (वचा), शणपुष्णी, बिंबी (कड़वी कंडुरी) ये तीन निमाये हैं।<sup>१८</sup>

२. फलिनी औषधियों-जिनके फल उपयोग में प्रशस्त हैं उन्हें फलिनी कहते हैं। इनमें वामक फलिनी ने है—<sup>१९</sup>

१. धामागव (पीले फूलवाली घोषलता) २. ईश्वाकु (कट्टुंबी)

३. जीमूत (देवदाली)

४. मदनफल

५. नेपुष (कड़वा खीरा)

६. वामक लवण द्रव्य—लवण सभी वमन कराते हैं। चरक ने स्नेह, स्वेद, वमन, विरेचन, बस्ति, अस्थांग, नस्य, उत्सादनादि विविध प्रयोगों में लवण का प्रयोग निर्दिष्ट किया है। लवण अधिष्ठानी, सूक्ष्म तथा अत्युत्था होता है, दीपन और तीक्ष्ण होता है अतः सर्वद लाभप्रद होता है। ये लवण हैं—सौवर्चित, (सौचैत नमक-काला नमक) सैंधेव लवण, बिड लवण, औद्दिद लवण (रेह का नमक), और सामुद्र लवण।<sup>२०</sup>

७. वामक लवण द्रव्य—लवण सभी वमन कराते हैं। चरक ने स्नेह, स्वेद, वमन, विरेचन, बस्ति, अस्थांग, नस्य, उत्सादनादि विविध प्रयोगों में लवण का प्रयोग निर्दिष्ट किया है। लवण अधिष्ठानी, सूक्ष्म तथा अत्युत्था होता है, दीपन और तीक्ष्ण होता है अतः सर्वद लाभप्रद होता है। ये लवण हैं—सौवर्चित, (सौचैत नमक-काला नमक) सैंधेव लवण, बिड लवण, औद्दिद लवण (रेह का नमक), और सामुद्र लवण।<sup>२०</sup>

(रेहेत कांचनार), नीप (करदं), बीबी, शणपुष्णी, सदापुष्णी, (अर्क), प्रत्येक पुष्णी (अपामगी), ये १० औषधियों वमन में सहायक होती हैं।<sup>२१</sup>

### अन्यान्य संदर्भों से वमन द्रव्य

१. सूत्रस्थान के प्रथम अस्थाय में क्षीर प्रयोग के बारे में कहते हुए अस्थमतक का क्षीर

वमनार्थ तथा, अर्केशीर वमन और विरेचनार्थ प्रयोग करने के कहा गया है।<sup>२२</sup> यहाँ अस्थमतक का अर्थ चक्रपाणि ने मलत्या के पत्तों के सदृश पत्रवाला वृक्ष ऐसा किया है। गांधर और योगीद्वये पात्रण ये ऐसा अर्थ किया है, किन्तु शीर प्रयोग की अपेक्षा यह पं. हरिदत्त शास्त्री को मान्य नहीं है।

२. अपामार्तंडुलीय नामक द्वितीय अस्थाय में मदनफल, यस्तीमधु, निंब, जीमूत, कुतूबेधन, पिपली, कुट्टज, ईश्वाकु, एला, धामागव इनका कफपित्त युक्त आमाशयाश्रित व्याधियों में वमनार्थ प्रयोग कहा गया है।<sup>२३</sup>

३. चतुर्थ अस्थाय में मदनफलादि के वामक योगों की संज्ञा बताकर छः वामक द्रव्य बताये हैं जो प्रथान हैं। इनमें मदनफल के १३ योग, जीमूत के ११ योग, ईश्वाकु के ४५

योग, धामागव के ६० योग, कुट्टज के १० योग, और कृतवेधन के ६० योग इस तरह ३१५, वामक योग कहे हैं।<sup>२४</sup> इनका विस्तृत विवेचन आगे इसी अस्थाय में किया गया है।

४. विमान स्थान के आठवें अस्थाय में भिन्न-भिन्न द्रव्यों का भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयोग करने को कहा गया है। वे इस प्रकार हैं।<sup>२५</sup>

१. मदनफल, देवदाली, कड़वी तुम्बी, पीली घोषा इनके फल, पत्र और फूल वमन में प्रयोग करें।

२. कुट्टज और कृतवेधन के फल प्रयोग करें।

३. आरवथ, वृक्षक, स्वादू कंटक, पाठा, पाटला, शार्मेष्टा (गुंजा), मूर्वा, सदपर्ण, नक्तमाला (नाटा करंज), पिन्नमद (नीम) पटोल, (परवर), मुष्टी (करेला), गुडूची सोमवल्क (सफेद खैर), चित्रक, द्विपी (कट्टी), शियुमूल (साहिंजन), इनके कषायों का वमन के लिए प्रयोग करें।

४. मधु (मुलेटी, या शहद), मधुक (महुआ), कोविदार (कंचनार) कुर्बादार (लाल कंचनार), नीप (करंब), निन्दुल (वेतम), बिंबी, शणपुष्णी, सदापुष्णी (मदार) प्रत्यक्ष पुष्णी (अपामार्ग) इनके कषायों से वमन कराये।

५. एला (छोटी), हरेणु, प्रियंगु, बड़ी एला, कुस्तुंबक (नेपाली धनिया), तगर, नलद (जटामांसी) हीवेर (गंधवाला), तालीशा, गोपी (सारिवा), इनके कषायों से वमन कराये।

६. इश्वु, कांडेश्वु (ईख का प्रकार), ईश्वालिका (खागड़उण या ईख का भेद), दर्ढ, पोटगल (होगल-नल-नडा) कालकृत (कासमदी), इनके क्वाष से वमन कराये।

७. सुमना (चमेली), सौमनस्यायनी, (जावित्री), हल्दी, वारु हल्दी, वृश्चिर (श्वेत पुनर्नवा), महासहा (माष पर्णी), सुद्रसहा (मुद्रगण्डी), इनके कषायों से वमन कराये।

८. शाल्मली (सेमल), शाल्मलक (रोहेड़ा), भद्रपर्णी (गभरी या प्रसारणी), एलापर्णी (रास्ना), उपेतिका (गोई शाक), उद्दालक (वनकोइव), धन्वन (धामन), राजादन (खरनी), उपचित्रा (पुशिनपर्णी, गोपी (सारिवा), शृंगाटिका (जीवंती) इनके कषायों से वमन कराए।

९. पिपलीमूल, चत्व, चित्रक, शृंगवर (सोंठ), सर्वप, फणित, क्षीर, शार, नमक इनसे सिद्ध जल से वमन करायें।

उपर्युक्त द्रव्यों में से प्रमुख द्रव्यों का परिचय आगे तालिका में दिया गया है।

१. मदनफल २. जीमूत ३. ईश्वाकु ४. कृतवेधन ५. धामागव

७. पिप्पली
८. कांरंज
९. कोविदार
१०. अशवांधा
११. पुष्कर, मरुनियांगा
१२. इति लोकेड
१३. विचारिका

पटोला फलाकार फलाड़।

इनमें कोविदार के पूर्ववर्ति (क्र. १ से १ तक) के फल लेना चाहिये और कोविदारादि शेष (क्र. १० से २० तक) द्रव्यों के पूल वमन में प्रयुक्त करना चाहिये।<sup>३३</sup> इनमें कुछ द्रव्य प्रत्यक्ष वामक हैं जैसे—मदनफल, कृतवेधनादि, तो कुछ द्रव्य वमनद्रव्यों के क्वाशादि में सहायक होकर वमनोपचयोंहोते हैं—जैसे निब, पिण्ठी, इत्यादि।

### वारभटोकस वामक द्रव्य<sup>३४</sup>

१. मदन फल
२. मधुका
३. लंबा (कड़वी तुंबी)
४. निब
५. बिबी (कंदुरी)
६. विशाला (इंद्रधण्य)
७. त्रपुष (कड़ुआ खीरा)
८. कुटज (कूड़ा)
९. शुबर्वा
१०. देवदाली
११. कृमिष्ठ (बिंडा)
१२. विदुल (वेत)
१३. दहन (चित्रक)
१४. चित्रा (मूलिक पाणी)
१५. कण्ठ (पिप्पली)
१६. लवण
१७. कांरंज
१८. वचा
१९. एला
२०. सर्धप।

उपर्युक्त सभी प्रमुख द्रव्यों का परिचय तालिका में देखें।

### वमन द्रव्यों के प्रयोग भेद

वमन द्रव्यों का चित्र-चित्र प्रकार से प्रयोग होता है। भैषज्यविज्ञान के आधार पर तथा आहारशास्त्र की जो कल्पनायें हैं उनमें वमनद्रव्यों को मिलाकर ये कल्पनाएं सिद्ध होती हैं। चरक कहते हैं कि वमनद्रव्यों का वर्ति, चूर्ण, अचलेह स्नोह, कषाय, मांसरस, यवाग, यूष, कांबलिक, क्षीर उपधेया, मोदक तथा अन्यान्य भक्षण प्रकार के साथ प्रयोग करना चाहिये।<sup>३५</sup> इसी तरह सुश्रुत और वारभट ने भी चित्र-चित्र कल्पनाओं में इन द्रव्यों का प्रयोग किया है।

चरक ने कल्पस्थान नामक स्वतंत्र स्थान इसी विषय पर लिखा है और इसमें वमन तथा विरेचन द्रव्यों के सैकड़ों कल्पों का वर्णन किया है। इस प्रकार चित्र-चित्र कल्पना में वमन द्रव्य प्रयोग करने के हेतु ये हैं कि—

१. प्रत्येक व्यक्ति की स्वाभाविक रुचि अलग-अलग होती है। किसी को चूर्ण से, किसी को स्वरस से, कषाय से, तैल इत्यादि से नफकत होती है। उनको अनुकूल द्रव्य कल्पना के साथ प्रयोग किया जा सके। जैसे किसी को वर्ति से, तो किसी को ब्रेय वमन (केवल सुधाकर) दिया जा सकता है। किसी को मोदक किसी को पूप दिये जा सकते हैं।

१. प्रपुनाड (चक्रमर्द)	२. अरिष्ट (निब)	३. विचारिका	४. विचारिक (चित्रक)	५. विचारिका	६. विचारिक (चित्रक)	७. विचारिका	८. विचारिक (चित्रक)	९. विचारिका	१०. विचारिक (चित्रक)	११. विचारिका	१२. विचारिक (चित्रक)	१३. विचारिका	१४. विचारिक (चित्रक)	१५. विचारिका	१६. विचारिक (चित्रक)	१७. विचारिका	१८. विचारिक (चित्रक)	१९. विचारिका	२०. विचारिक (चित्रक)	
११. कर्बुद्वार	१२. विचुल (वेतस)	१३. विचुल (वेतस)	१४. विचुल (वेतस)	१५. विचुल (वेतस)	१६. विचुल (वेतस)	१७. विचुल (वेतस)	१८. विचुल (वेतस)	१९. विचुल (वेतस)	२०. विचुल (वेतस)	२१. विचुल (वेतस)	२२. विचुल (वेतस)	२३. विचुल (वेतस)	२४. विचुल (वेतस)	२५. विचुल (वेतस)	२६. विचुल (वेतस)	२७. विचुल (वेतस)	२८. विचुल (वेतस)	२९. विचुल (वेतस)	३०. विचुल (वेतस)	
१५. विचुल (वेतस)	१६. (श्वेत वचा)	१७. शणपुष्णी (हुलहुली)	१८. शूरीक (हंडवारुणी)	१९. विची	२०. विचारिका (चित्राङ्गिका,	२१. विचारिका (चित्राङ्गिका,	२२. विचारिका (चित्राङ्गिका,	२३. विचारिका (चित्राङ्गिका,	२४. विचारिका (चित्राङ्गिका,	२५. विचारिका (चित्राङ्गिका,	२६. विचारिका (चित्राङ्गिका,	२७. विचारिका (चित्राङ्गिका,	२८. विचारिका (चित्राङ्गिका,	२९. विचारिका (चित्राङ्गिका,	३०. विचारिका (चित्राङ्गिका,	३१. विचारिका (चित्राङ्गिका,	३२. विचारिका (चित्राङ्गिका,	३३. विचारिका (चित्राङ्गिका,	३४. विचारिका (चित्राङ्गिका,	३५. विचारिका (चित्राङ्गिका,
१६. (श्वेत वचा)	१७. शूरीक (हुलहुली)	१८. शूरीक (हुलहुली)	१९. शूरीक (हुलहुली)	२०. शूरीक (हुलहुली)	२१. शूरीक (हुलहुली)	२२. शूरीक (हुलहुली)	२३. शूरीक (हुलहुली)	२४. शूरीक (हुलहुली)	२५. शूरीक (हुलहुली)	२६. शूरीक (हुलहुली)	२७. शूरीक (हुलहुली)	२८. शूरीक (हुलहुली)	२९. शूरीक (हुलहुली)	३०. शूरीक (हुलहुली)	३१. शूरीक (हुलहुली)	३२. शूरीक (हुलहुली)	३३. शूरीक (हुलहुली)	३४. शूरीक (हुलहुली)	३५. शूरीक (हुलहुली)	

## तालिका

क्र.	ग्रंथोक्त नाम	अन्य परिचायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
४.	धारागवि	धियातुर्ई, नेनुआ राज-कोषातकी	Laffa Aegyptica	तुरई के समान किन्तु धारदार रेखाएँ नहीं होती। मीठा और कड़वा दो जातियाँ। कड़वा औषध में प्रयुक्त। मीठा शाक में उपयोगी।	फल	वामक है। कफ विकारों में तथा आमाशयगत वात में उपयोगी। कफ के कंठ के मुँह में होने पर तथा गर गुल्म में और खाँसी में प्रयुक्त। मीठी तुरई त्रिदोषज कडुआ नेनुआ कडवे तुरई के समान।
५.	कृतवेधन	कोषातकी तुरई, तोरई	Luffa Amara	दो जातियाँ होती हैं। कड़वी और मीठी। कड़वी जंगल में स्वयं उत्पन्न होती है। मीठी लगाई जाती है, औषध में कड़वी प्रयुक्त होती है। कटु तुम्बी की लता और फल लौकी के समान होते हैं।	फल	वामक तथा विरेचक। अत्यन्त तिक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, कुष्ठ, पांडु, प्लीहा, शोथ, गुल्म, गर आदि में प्रशस्त।
६.	ईश्वाकु	कटुकलाबू कटली तुबी, कड़वी लौकी	Legnaria Vulgaris			तिक्त कटुविपाकी शीतवीर्य, अहृद्य, वामक, शोधन तथा कास, विष, पित्त, ज्वर, शोथ, ब्रण, शूल, वात और कफापह। मधुर, कषाय, लवण, शीत, गुरु, सर, रुक्ष कफ और स्तन्य दोष को दूर करता है।
७.	नीप	कदंब	Anthocle phalus Cadamba	उत्तर तथा पूर्व बंगाल में उत्पन्न बड़ा वृक्ष। पत्र महुवे के पत्तों के समान। फूल १-२ इंच धेर में गोलाकार, नारंगी रंग के। रात में सुंगंधी।	—	

## तालिका

क्र.	ग्रंथोक्त नाम	अन्य परिचायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
८.	सदापुष्पी	अर्क मदार आक	Calotropis Procera	भारत में सर्वत्र होता है। पते लंबे, मोटे और चौड़े, पत्र-कोण से पुष्पदण्ड निकलता है। जिस पर छताकार में पुष्पगुच्छ लगता है। फूलबहार से सफेद और ललाइलिये बैगनी रंग के सफेद पुष्पवाला भी आक होता है। फलों में से रुई निकलती है।	क्षीर (च)	तिक्त, कटु, उष्णवीर्य, शोधन, भेदन, स्वेदोपग, दीपन, कंडू, ब्रण, वात, शोथ कुष्ठ, कृमि, प्लीहा, गुल्म, अर्श, कफ और उदर रोग में प्रशस्त। इसका दूध तिक्त, किंचित लवण, उष्ण वीर्य, स्निग्ध, वमन और विरेचन कारक, कुष्ठ, गुल्म उदररोग नाशक।
९.	वचा	वचा घोडवच	Acorus Calamus	वचा की जड़ अंगुली जितनी स्थूल ५, ६ पर्ववाली, खुरदरी, रोमावृत, अरुण वर्ण, सुंगंधी तथा स्वाद में तिक्त चरपरी होती है।	जड़ मात्रा- १-५ रत्ती वमनार्थ १५-३० रत्ती	यह तिक्त कटु, कटुविपाकी, उष्णवीर्य, वामक, विरेचक, लेखन है। अशोघ्न तृप्तिघ्न, आस्थापनोपग, शीत प्रशमन, संज्ञा स्थापन, मेध्य, कंठग, कृमिहर, बाणी और स्वर की प्रसादन। आम-पाचन, दीपन, मलमूत्र विशोधन, उन्माद, अपस्मार, आधमान, शूल, कफ और वात नाशक।

۱۴۲

۱۴۰

### तालिका

४८

क्र.	ग्रंथोक्त नाम	अन्य परिचायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
१७.	निम्ब	नीम	Azadirachta Indica	भारत में सर्वत्र होता है। काफी ऊँचा, डेरेदार और छांव वाला वृक्ष होता है।	काष्ठ छोड़कर सभी अंग वमन में पत्र स्वरस फल मज्जा फल पत्र	तिक्क, कटु-विपाकी, शीतवीर्य। लघु, वामक। पित्त, कफ, कंडु, कुष्ठ, रक्त विकार, ब्रण में लाभप्रद।
१८.	करंज	करंज	Pongamia Glabra	वृक्ष सदा हरा रहता है। शाखा ४-७ इंच लंबी ५-७ पत्ते। पत्र नोंकदार, अंडाकार फूल गुच्छों में सफेद। इसकी दो जातियाँ होती हैं। छोटी पीपल, बड़ी पीपल। बड़ी गजपीपल है। इसके काण्डे को चव्य या चविका कहते हैं। छोटी के मूल को पिप्ली मूल कहते हैं।	फल मूल	उष्णवीर्य, लघु, शेदन। पत्र कृमि, वात, अर्श में प्रशस्त। ब्रण कुष्ठ, कफवातध्न।
१९.	पिप्ली	पीपल	Piper longum	प्रसिद्ध सुगंधी द्रव्य है। दो जातियाँ—बड़ी और छोटी।	फल	कटु, मधुर विपाकी, उष्ण, लघु, दीपन, पाचन, वृद्धि, रसायन, शिरोविरेचन वामक। पित्त को न बढ़ाने वाली कफ वाता शामक। हिक्का, कास, शूल, उदर, ज्वर, जवर, कुष्ठ, प्रमेह, गुलम, अर्श, प्लीहा, रोग और आमवात की नाशक है।
२०.	एला	इलायची	Elettaria cardomum	प्रसिद्ध सुगंधी द्रव्य है। दो जातियाँ—बड़ी और छोटी।	फल	कटु, मधुर, शीत, शिरोविरेचन, हृदय, रुचिकर, दीपन, श्वास, अंगमर्द, मूत्रकृच्छ्र को दूर करती है। वमन में सहायक।

### तालिका

अन्यवैज्ञानिक नाम

अन्यवैज्ञानिक नाम

क्र.	ग्रंथोक्त नाम	अन्य परिचायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
२१.	शणपुष्पी घंटारवा	झनझनिया घुघरियासन	Crotalaria Vorticosa	दो से चार फीट ऊँचा, पत्र अंडाकृति एकांतरा। पुष्प पीले जामुनी रंग के। बीज १०-१५ सूखी सेम हिलाने से धुंधरु जैसी आवाज होती है।	—	तिक्क, कषाय, वामक, कफ, पित्त, कण्ठरोग, हृद्रोग और मुखरोग को दूर करती है।
२२.	बिम्बी	कंदुरी	Coccinia Indica	बिबी-जंगली कडवी और मीठी दो जाति की होती है। कडवी औषध में प्रयुक्त	फल	कडवी बिबी वामक। कफपित्त, रक्त-विकार, शोथ, पांडु, ज्वर को दूर करती है। फल श्वास, कास, कफ नाशक।
२३.	चक्रमर्द प्रपुत्राड	पवाड चकवड	Cassiautora	क्षुप २-५ फीट ऊँचा, पर्ण संयुक्त दल, फूल पीले। सेम लम्बी, पतली एक में २०-३० बीज रहते हैं।	—	कटु, मधुर, उष्ण, रुक्ष, लघु वात, कफ, दाह, कंडु, कुष्ठ, कृमि नाशक।
२४.	त्रपुष	खीरा	Cucumis Sativus	लता फैली हुई होती है। पत्र ५-६ इंच धौरे के गोलाकार। फल ६-१२ इंच लंबे उनमें ककड़ी के जैसे बीज होते हैं। बंगाल, बिहार में होता है। सदा हराभरा वृक्ष।	फल	लघु, स्वादु, दाह, तृट्-जित। पित्तापह, रक्तपित्तहर, वमन में उपयोगी।
२५.	मधुक	महुवा	Basia latifolia		पुष्प फल	पुष्प-मधुर, शीत, गुरु, वृहण, वृद्धि वातपित्तापह। फल-स्वादु-शीत गुरु वातपित्तध्न। रक्तविकार, दाह, श्वास, कास क्षय नाशक।

अन्यवैज्ञानिक नाम

३. कुछ कल्पनाएं औषधिवीर्य को अधिक काल तक स्राक्षण करती हैं। जस मध्य,  
आमत तेह इत्यादि।

४. कुछ कल्पनाएं उषा तीक्ष्णादि गुण से जलदी असर कारक होती हैं।  
५. तीक्ष्णाऔषधियों के साथ मिश्र वामक दव्य जलदी काम करते हैं। यथोपलब्धि के अनुसार तिये जा सकते हैं।

६. कुछ कल्पनाओं में वमन के शोधन के अतिरिक्त—वल्च, बृहण और तपण गुण भी होते हैं। उदाहरण मध्य तपण पानक।

६. रोगोक्त चिकित्सा दवायों के साथ उपयोग करने से इनमें रोगशमन का भी गुण आता

प्रमुख ग्रयोग भेद-चरकादि आचार्यों ने निम्नलिखित कल्पनाओं में मदनफलादि दृश्यों का उपयोग किया है।

- |             |                   |
|-------------|-------------------|
| १०. कधाय    | ३०. कल्क          |
| ४४. वर्ति   | ६०. स्नेह         |
| ७७. मांसरस  | ५०. लेह           |
| १००. यूष    | ८०. यावाणु        |
| १३०. दधिमसर | ११०. क्षीर        |
| १६०. नवनीत  | १४०. मस्तु        |
| १९०. मोदक   | १७०. घृत          |
| २२०. मदिरा  | २००. उत्करिका     |
| २५०. अपूप   | २३०. सुरामंड      |
| २८०. आमुत   | २६०. शाडव         |
| ३४०. सलिल   | २९०. पलल          |
|             | ३७०. इक्षुरस      |
|             | ३०. द्रेय योग     |
|             | ३३०. कृशारा इत्य- |
|             | ३७०. मथ           |

मुद्दनकलाई छले: वैभव की लिखना आधार से भरक द्वारा दा हुए संख्या नाम  
तालिका में विषय की जाती है।

उपर्युक्त कल्पनाओं में से प्रमुखों का वर्णन उपकल्पनाविश्वान अध्याय में दिया गया है। इनमें जहाँ + चिन्ह लिखकर मार्ग्यांकन किया है, यहाँ ग्रन्थोक्त निर्णित कल्पना के अतिरिक्त अन्य नाम से आई हुई वह कल्पना जो उसमें समावेश योग्य दी है। उदाहरण जीपूतक के ११ कथाय के बाद +१७ योग कथाय ही है। किन्तु चरक ने इनको आरबधादि योग ऐसा कहा है और +४ ये जीवकादि योग नाम से दिये हैं, वे भी कथाय हैं। मदलफल की उत्कारिका योग संख्या २० है। मोदक भी २० है। इनमें 'षाडवादि' नाम से दिये हुए बदर ओवलेट का १, बड़ा मोड़क का एक-एक योग मिलाया गया है।

संस्कृत तथा अध्याय का विचार

जिनको वमन कराना योग्य है वे वास्य और जिन्हें वमन कराना योग्य नहीं है वे अवास्य कहलाते हैं। प्रायः कफप्रधान—रोगों में आमशयस्थ उत्क्लेशावस्था में वमन निर्दिष्ट किया

## वमन इत्यर्थों की प्रयोग भेद दर्शक तालिका

क्र. कल्पना	मदनफल जीभूतक इश्वाकु गंक	धारा-वस्त्रक	कृत-
			बैधन
१. कषाय	१+६	१३+७	३+६
२. शीरपाक	१	६	६
३. घृत	१	१	१
४. चट्टी, चपिस्पर तत्क नवनीत	१	१	१
५. ब्रेष्य	१	१	१
६. फणित	१	१	१
७. चूर्ण, कल्क	१	१	१
८. वर्तिकिया	१	१	१
९. लह	१	१	१
१०. उत्कारिका	१	१	१
११. मोदक	१	१	१
१२. अपुष	१	१	१
१३. शाक्ती	१	१	१
१४. गगडाडव	१	१	१
१५. तर्पण, पानक, मँथ	१	१	१
१६. सुरामंड, मद्य	१	१	१
१७. मांसरस	१	१	१
१८. यूष	१	१	१
१९. तैल	१	१	१
२०. गुटिका	१	१	१
२१. सलिल	१	१	१
२२. कुशरा, अन्न (भात)	१	१	१
२३. पिछ्ठा	१	१	१
२४. इधुरस	१	१	१
२५. शक्कद्रस	१	१	१
कुल	१३३	३१	४५
		६०	६०
		१६	६०

है। वमन योग्यों को चारक, सुश्रूत और वाम्प के बारे में कोई एक सिद्धान्त लगाना कठिन जाता है।

उपर्युक्त रोग नामावली देखने पर वाम्प के बारे में कोई एक सिद्धान्त लगाना कठिन

लगता है। प्रायः कफप्रथान दोषों से उत्पन्न विकारों में और आमाशय के शोधन की आवश्यकता हो वहाँ पर वमन निर्दिष्ट किया है। मुश्त ने अधिजिह्विका, कर्णाली व जैसे कुछ रोगों में वमन कहा है। वाम्पट ने उत्थरोगों में वमन देने का निर्देश किया है। जिसमें उपर्युक्त रोग समाविष्ट हो सकते हैं। कफप्रथान रोगों में कास, श्वास, अजीर्ण, अग्निमात्र, हृल्लास अरुचि, स्तन्यदोष, पीनस, स्लीपट, पुख्स्रसेक, अपची, पांडु इत्यादि का समावेश होता है। विद्ध, पिषदाय में शोधन की प्रथानात होती है। कुष्ठ, विसर्प, प्रमोहादि कुछ रोगों में बहुदोष के कारण शोधन अपेक्षित होता है। अधोग रक्तपित में मार्ग विरोधी चिकित्सा वमन है। अर्ष, ग्रीष्म, विद्रधि, अबुट, अधिजिह्विका, मेदोग इत्यादि में मास में वमन की दृष्टि है, वहाँ सामान्य शोधन हेतु यहीं प्रतीत होता है। अपस्मार, उन्माद ये शोधन प्रधान व्याधियाँ हैं।

इस नामावली से स्पष्ट होता है कि वमन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। यहाँ पर यह शंका की जा सकती है कि उपर्युक्त रोगों में विकृति भिन्न-भिन्न स्थान में रहती है। आमाशय पर शोधन कार्य करनेवाला वमन इन में कैसे कार्य करता है। इसका निरासन करते हुए चरक कहते हैं कि आमाशय में कफ के मूल स्थान में अवज्यन करने पर संपूर्ण कफ को जीता जाता है।

## वमन चरकादि में तोलनिक तालिका

क्र. वाम्प	चरक	सुश्रूत	वाम्प
१. पीनस	+	+	+
२. कुष्ठ	+	-	+
३. नवज्वर	+	+	+
४. राजयस्मा	+	+ (शोष)	+
५. कास	+	+	+
६. इवास	+	+	+
७. गलग्रह	+	-	-
८. रसीपद	+	+	+
९. गलगाड	+	-	-
१०. प्रमोह	+	+	+
११. मन्त्रानि	+	+	+
१२. विस्त्रद्वाजीर्ण	+	+ (सं.)	+
१३. विसृचिका	+	+ (सं.)	+
१४. अलसक	+	+ (सं.)	+
१५. विषपीत	+	+ (सं.)	+
१६. विषदरग्ध, दष्ट	+	+ (सं.)	+
१७. विद्ध	+	+ (सं.)	+
१८. अधोग रक्तपित	+	+ (सं.)	+

क्र.	अदाक्ष्य	चरक	फुकुत	वारषट्
११.	मुखप्रसेक	+	-	+
१०.	कुर्मध (अरणी)	+	-	+
११.	हल्लास	+	+	+
१२.	अरुचि	+	+	+
१३.	आविपाक	+	+	+
१४.	अपचि	+	+	+
१५.	ग्रथि	+	+	+
१६.	अपस्मार	+	+	+
१७.	उम्नाद	+	+	+
१८.	अतिसार	+	+	+
१९.	शोफ	+	+	+
२०.	पांडु	+	+	+
२१.	मुखपाक	+	+	+
२२.	सतन्य डुष्ट	+	+	+
२३.	अर्खुद	+	+	+
२४.	विदातिका	+	+	+
२५.	मेदोरोग	+	+	+
२६.	हृदोग	+	+	+
२७.	चित्त विश्रम	+	+	+
२८.	विसर्प	+	+	+
२९.	विदधि	+	+	+
३०.	पुतिनास	+	+	+
३१.	केठपाक	+	+	+
३२.	कणस्त्राव	+	+	+
३३.	अधिजिह्वका	+	+	+
३४.	गलशुङ्किका	-	+	+
३५.	कफ व्याथियाँ	+	+	+
अवास्थ-जिसको वर्मन कराना हितकर नहीं है उन अवास्थाओं को चरक, सुशुत और वारषट के अनुसार नीचे तालिका में प्रदर्शित किया जाता है। ३८				
अवास्थ तौलिनिक तालिका				
१.	रक्तक्षीण	+	+	+
२.	अतिश्वूल	+	+	+
३.	अतिकृष्ण	+	+	+
४.	बाल	+	+	+
५.	शंख-सिंह-शूल	+	+	+
६.	कर्ण शूल	+	+	+
७.	अद्वितीय शूल	+	+	+
८.	नित्यदुःखी	+	+	+

२२०

## आयुर्वेदिय पचकर्म विज्ञान

४३. अर्थ	-	-	-	-
४४. ब्रेम	-	-	-	+
४५. पाश्वर्क	-	-	-	+
४६. वात व्याधि	-	+	+	+

उपर्युक्त गोंदों में निषेध का अर्थ सामान्यता इनमें वर्मन करना हितकर नहीं है इतना ही किया जाना चाहिये। सुश्रुत ने कहा है कि इनमें वर्मन प्रयोग करने पर इनकी रोगवृद्धि होती है, रोग कष्टसाध्य या असाध्यता में चले जाते हैं।<sup>१४</sup> तथापि इनमें भी यदि अजीर्ण हो, विषपीड़ित हो और कफ अत्यधि प्रकृति हो जाये तो वर्मन दिया जा सकता है ऐसा सुश्रुत और वायट ने स्पष्ट किया है।<sup>१५</sup> चरक ने भी इसी अवश्वाद को लेकर अवास्य अथवा वस्त्रमाण अविरेच्यादि सभी अवस्थाओं में सामान्य नियम बताते हुए कहा है कि यद्यपि निर्देश किया गया हो तो भी वैद्य को चाहिये कि वह स्वयं बुद्धिपूर्वक तर्क करें, और प्रत्येक व्याधि में उत्पन्न वैष, देश, बल, काल इत्यादि का विचार कर किस व्याधि में कर्म करना उचित है और किस में उचित नहीं है स्वयं नियम करें।<sup>१६</sup> क्योंकि हो सकता है कि जिनमें वर्मनादि करना निषिद्ध है तब उनमें भी उपर्युक्त अवस्थानुसार कर्म किया जाना संभव है।

इसी दृष्टिकोण में चरक कहते हैं कि छार्दि, हृद्रोग और गुल्म में वर्मन निषेध होते हुए भी अवस्थानुसार किया जाता है। अतः उहापेहृपूर्वक चिकित्सा करें।<sup>१७</sup> वातज गुल्म में कफ वृद्ध होने पर, अस्वित तंद्रा, गौरव, हल्तासादि लक्षण मिलने पर वर्मन करने का निर्देश किया है।<sup>१८</sup> छार्दि में तथा कफज हृद्रोग में इसी तरह वर्मन योग्य कहा गया है। उदावर्त में फलवर्ति, बस्ति आदि का उपयोग न होने पर वर्मन (ऊर्ध्व शोधन) कराने का निर्देश है। (च. चित. २६-११)

अयोन्यों को वर्मन कराने से संभाव्य विकार<sup>१९</sup>

१. शतस्थीण में वर्मन कराने से शत में व्रणोत्पत्ति होकर रक्त की अति प्रवृत्ति होती है।

२. धीर, अतिस्थूल, अतिबाल, वृद्ध, उर्बल, इनमें वर्मन से औषधि द्वारा आवेगजन्य क्षलेश, सहन करने की क्षमता न होने से प्राणोपरोध (भयंकर रुज) होता है।

३. यके हुए, घूँघे, यासे, आतुरों में भी वर्मन कराने से उपरोक्त प्रकार से प्राणोपरोध होता है।

४. काम करने से यके हुए, गस्ता चलने से, उपवास, भैंस, व्यायामादि से यके हुए, चिंताप्रसवत, क्षाम (जज्जेर) आतुरों में पहले ही रुक्षता होती है, वर्मन से रुक्षता बढ़कर वातप्रकोप से रक्तस्राव अथवा थंथ का भय होता है।

५. गर्भिणीयों में गर्भव्यापद आमगर्भ, गर्भप्रशंस उत्पन्न होकर भयंकर प्रकार के उपद्रव होते हैं।

६. संवृतकोष्ठ, तुच्छदर्दनों में (जिन्हें वर्मन जल्दी नहीं होता) वर्मन से बहुत कुथन करना पड़ता है और प्रवाहण से अतः कोष्ठ में प्रसूत होकर वीसर्प स्तम्भ, जाइय, वीचत्वं या मरण भी उत्पन्न करता है।

७. मुकुमारों में वर्मन कराने से हृदय में अपकर्षण (खींचा जाने जैसी पीड़ा) होकर, ऊर्ध्व भाग या अधोभाग से रक्त निकलता है। यहाँ हृदय से आमाशय अर्थ करने पर आमाशय नितियों के अपकर्षण से कला विच्छेद से रक्त की प्रवृत्ति होना सात और प्रत्यक्ष है।

८. ऊर्ध्वरक्तपिती आतुर को वर्मन दिया जाये तो उदानवायु को ऊपर द्विष्ट कर प्राण को ह्रस्ता है तथा रक्त की भी अति प्रवृत्ति होती है।

९. जिन्हें पहले से ही छार्दि हो रही हो उन प्रस्तुत छार्दि आतुरों में भी उपर्युक्त दोष है। अर्थात् उदानवायु उत्स्वेच्छित होकर अतिछार्दि कर प्राण हरण करता है।

१०. ऊर्ध्वरक्तपित में (डकार) जिनको निरुल्ल बलित दी है, अनुवासन बसित दी है, उनको वर्मन से वायु को ऊपर की तरफ प्रवृत्ति होती है।

११. हृद्रोगी आतुर को वर्मन कराने से हृदयोपरोध (हृदय बंद होना-Heart Fail) होता है।

१२. उदावर्ती आतुर को घोर उदावर्त होता है।

१३. मूत्रावाता दि से पीड़ितों को वर्मन अत्यन्त तीव्र शूल करता है।

१४. तिमिररोग में तिमिरवृद्धि, शिर-शूल में शूल वृद्ध होती है।

१५. इस तरह अवास्य में साधारणता निर्माणकित बातों को ध्यान में रखा हुआ प्रतीत होता है।

१६. ऐसी व्याधियों जो बहुत कर्षण करती हैं— शतस्थीणादि।

१७. वे व्याधियों जो बहुत कर्षण करती हैं— शतस्थीणादि।

१८. वर्मन में दोषों को गति ऊर्ध्वरक्तामा में होती है। ऐसे रोग जो इसी प्रकार के गति करते हैं— उदाहरण ऊर्ध्वरक्त, उदावर्त, उदावर्ती रक्तपित, छार्दि इत्यादि।

१९. अत्यंत उर्बलावस्था— बाल, वृद्धादि।

२०. मर्मस्थान के रोग हों— उदाहरण हृदय, शिर, बस्ति के रोग।

२१. नाजुक अवस्था— जैसे गर्भिणी, मुकुमार आदि।

## वर्मन विधिविधान

वर्मन कराने की पद्धति वर्मनविधि है। वर्मनविधि विधान का अब विचार करें। चरक ने वर्मन पद्धति के विषय में कहा है—

“तत्सं पुरुषं स्नेहस्वेदोपपत्रं, अनुपहतमानसमिसमीक्ष्य, सुखोवितं सुप्रजीर्ण भवतं, शिरस्तानियेत्वन्तमिष्टे गुरुवृद्धवैद्यानीयेत्वन्तमिष्टे, नक्षत्रतिथिकरणमुहूर्ते, कारायित्वा ब्रह्मणान्वस्तिवाचनं, प्रयुक्ताराशिरिमन्त्रिता मधुमधुक संध्यव फायितोर्पते मदनफलकषायमात्रा पायव्यते!...”

अर्थात् वास्य आतुर का स्नेह स्वेदन करा कर, जिसका मन प्रसन्न है, गतमरुखूपर्वक जिसे नीद लगी हो, रात्रि का भोजन अच्छी तरह जिसका पचा है, शिरपर्यट जिसको स्नान कराया है। शरीर पर सुगंधी लेप किया है, सुगंधी फूलों की मालाएं पहनाई हैं, अच्छे न कर्टे हुए कपड़े पहनाए गये हो, जिसने देवता, आमि, गुरु, ब्राह्मण और वृद्ध वैद्य

की पूजा (सत्कार) की हो ऐसे व्यवित को इष्ट तिथि, शुभ नक्षत्र दिन देखेकर, ब्राह्मणोंद्वारा स्वस्ति वाचन (कल्याणार्थक प्रार्थना) कराकर अभिभावित की हुई मदनफल कथाय मात्रा संभव और फागित के साथ पिलावें।

इस सूत्र के अनुसार वमन की क्रिया में कुछ विशिष्ट मानस और शारीरिक कर्म करने का बोध होता है और तुप्रान्त वमन किया जाता है। अतएव यहाँ भी पहले क्रम के अनुसार पूर्वकर्म, प्रथमकर्म और पश्चात्कर्म के अनुसार विस्तृत विचार की अपेक्षा है। इसी क्रम से वमनविधि का विचार करेंगे।

(१) पूर्वकर्म- वमन के पहले किये जानेवाले कर्म निम्नोक्त शीर्षकों में विभक्त किये जा सकते हैं।

१. संभार संग्रह २. आतुर परीक्षा ३. मदनफल मात्रा विनियोग
४. आतुर सिद्धा :— १. वमन पूर्व भोजनादि व्यवस्था
२. स्वेहन-स्वेदन ३. मानसोपचार

१. संभार संग्रह— वमनोषधि पिलाने के पूर्व वमन क्रिया में तथा आगे जो-जो सभावनाएँ हैं, उनकी सिद्धता करनी चाहिये। वामक औषधि के उचित प्रयोग से वमन उचित प्रकार का होगा, किन्तु किसी भी प्रकार से भूल होने पर महान उपद्रव हो सकते हैं अतएव उपद्रवों को भी ध्यान में रखकर पहले तैयारी करनी चाहिये क्योंकि क्रयविक्रय होते हुए भी अर्थात् पैसा और बाजार होते हुए भी ऐन समय पर इष्ट वस्तु इकट्ठी मिलेगी ऐसा नहीं है।<sup>१५</sup> उपद्रव उत्तरन होने ही ऐसा नहीं है तथापि “उपायं चिंतयन् प्राणोऽपायमति चिंतयेत्”। के अनुसार सभी सिद्धता करनी चाहिये। वमनादि कर्मों के लिए वक्ष्यमाणा (उपकल्पना अध्याय) गृह बनाना पहला संभार समझना चाहिये। इसे गृह कहने से गृह के केलिये आवश्यक पाचक, स्नापक (स्नान करनेवाले सेवक), संचाहक (ले जानेवाले, लानेवाले, शरीर दबानेवाले सेवक) उत्थापक (उठानेवाला) संवेशक (कपड़े पहननेवाले) इत्यादि चिरालकों का भी समावेश होता है। वमनकर्म में आतुर का सतत निरीक्षण में इन्हा आवश्यक है, अतः अपर्युक्त प्रकार का गृह (आतुरालय और पचकर्म भवन) जाहों हैं, वे वमन में प्रवृत्त होते हैं। प्रत्यक्ष वमन में निम्नोक्त परिचारक आवश्यक हैं।

१. नंबाहक—लाना, ले जाना, बैठाने, उठाने के लिए—।
२. ललाट प्रतिग्रह—कपाल पर मुद्रुलया मलने के लिए तथा शंख प्रदेश को—।
३. पाशोपग्रह—पसनियों को मसलने के लिए—।
४. पात्र प्रतिग्रह—जिस पत्र में वमन किया जाता है, उसे पकड़ने के लिए एक व्यक्ति हो। वस्तुतः वमन पीठ पर आतुर को बिठाकर उसके सामने स्टूल पर पात्र रखते हैं, तथापि प्रतिवेग में पत्र में विसर्जित वमन द्रव्यों को दूसरे बड़े बक्किट में डालने के लिए, वमित द्रव्यों की प्रयोग शालाकीय (Laboratory test) परीक्षा न्वर्नी हो तो अलग-अलग नमूने (Specimen) तैयार करने के लिए पत्र के बाहर उत्सर्जित मलों के द्वारा उत्पन्न गंदगी साफ करने के लिए यह सेवक दक्ष है। सामान्यतः इस काम में एक झाड़ूवाला (Sweeper) घंगी नियुक्त करें।
५. नंबाहक—वमन पीठ पर आतुर को बिठाकर उसके सामने स्टूल पर पात्र रखते हैं, तथापि प्रतिवेग में पत्र में विसर्जित वमन द्रव्यों को दूसरे बड़े बक्किट में डालने के लिए, वमित द्रव्यों की प्रयोग शालाकीय (Laboratory test) परीक्षा न्वर्नी हो तो अलग-अलग नमूने (Specimen) तैयार करने के लिए पत्र के बाहर उत्सर्जित मलों के द्वारा उत्पन्न गंदगी साफ करने के लिए यह सेवक दक्ष है। यहाँ मानसिक तथा शारीरिक उपचार करें। आपर परीक्षा के संभव हैं। प्रम इत्यादि होता है। यहाँ मानसिक पृष्ठ का संभव होता है। प्रायः वमन के भय से आतुर को मनसोपथात, हृदद्रवत्व, ज्वर, अतिसार या संछर्दि (स्नेहपान से ही संभव है)। भ्रम इत्यादि होता है। यहाँ मानसिक पृष्ठ का संभव होता है। वैद्य तो सम्यक् प्रयोग से सम्यक् फल मिलता है और असम्यक् प्रयोग से व्यापद होती है। वैद्य तो सम्यक्

प्रयोग ही करेगा—फिर आप कहते हैं, उन व्यापद का डर क्यों है? इसका अर्थ है कि जान और अज्ञान में कोई फरक नहीं रहा। सायक्-प्रयोग करने पर भी व्यापद हो सकती है और असायक्-प्रयोगसे भी रोग शार्ति और कर्म साफल्य हो सकता है। अतः वैद्य के ज्ञान की शोषण सकते हैं जिनसे प्रयुक्त औषध एकान्ततः सिद्ध हो, किन्तु सब लोग शास्त्र में उपचिष्ट में व्यथावत उत्साह नहीं दिखते अतएव व्यापद ही संभावना होती है। वैसे ही दोष, घृण्ण, देश, बल, काल, शरीर, आहार, सात्य, सत्त्व, प्रकृति, वय इनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएं इतनी सूक्ष्म होती हैं कि ये तो विमल और विमुल बुद्धिमान (राम्यज्ञातथा अनुभवी) वैद्यों को भी भ्रम उत्पन्न करती है (कर्म करें कि न करें यह भ्रम) फिर अत्यं भवित्वातों की तो क्या कहनी? १५ अतएव सभी सामग्री भी होनी चाहिये और निरीक्षण तथा परीक्षण में भी सतर्क रहे।

यहाँ आतुर को दोष, वैष्णवादि ११ विषयों से परीक्षा करने का उपदेश है। दोष, क्षय, वृद्धि, समत्व, ऊर्जागमन, अधोगमन, तिर्यगमन, शाखाश्रय, कोष्ठाश्रय, प्रमोश्रय, स्वस्थान में रहना, अन्य स्थान में जाना, स्वतंत्र दोष, परतंत्र दोष, साम, निराम बहुदोष, मध्यदोष, अल्पदोष इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकार से दोष की परीक्षा कर वाम्यादि का विचार करें। वैष्णविस्थानतों से को तरुणत्व, वृद्धत्व, आर्द्धत्व, शुष्कत्व, इत्यात्मस्युक्तत्व, स्वरसादि कल्पना योगित्व रसवीर्य विपाक, प्रभाव इत्यादि से आतुर शरीर में किस तरह कार्यकर होगा यह परीक्षण करें। देश-आनुप, जांगल, साधारण, प्रस्तावि भेद से परीक्षित करें। काल-ऋतुभेद, रोगी अवस्था के अनुसार व्यायामस्थादि से देखें।

शारीर-स्थूलकृशसारात्म, निःसारात्म रक्षणीय पर्म, दृष्टि इत्यादि अवयवों की परीक्षा से परीक्षा करें। आहार परीक्षा में प्रकृति, करण, संयोग, गशि इत्यादि भेद से, सात्य-देशसात्य, कालसात्य, व्याधिसात्य भेद से तथा प्रकृतिसात्य और अभ्यास सात्य के अनुसार परीक्षित करें। सत्त्व-भव, शौर्य, विषाद, द्वेष, हर्ष इत्यादि से तथा प्रवर, मध्य, अवर प्रकार से परीक्षित करें।

**प्रकृति-**में वातादि प्रकृति, कालग्नीशयादि प्रकृति इत्यादि द्वारा परीक्षण करें। वय-बल्य, यौवन, वार्द्धक्य इत्यादि तथा अवांतर भेदों से परीक्षित करें। इस तरह से परीक्षाएं व्यापक और समर्पक ढंग से कर वमनादि के लिए आतुर को सिद्ध करना चाहिये।

### ३. वमन योग मात्रा विनियोग

मदनफलादि वमन योगों की मात्रा प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग होती है। चरकादि आचार्यों ने मात्रा देते समय विचारणीय निम्नलिखित प्रकार का निदेश किया है।

(१) मदनफल कथायमात्रा सभी संशोधनघोषिति के समान प्रत्येक पुरुष में अलग-अलग प्रकार की होती है। जिसको जितना शोधन द्रव्य देने से वैकारिक दोषहरण होता है, अयोग या अतियोग उत्पन्न नहीं होता उतनी मात्रा में ही उसे औल्या पिलाना चाहिये।<sup>१६</sup>

(२) सुश्रुत ने कहा है कि व्याधि, बल, पुरुष बल (शरीर) और अग्नि बल देखकर मात्रा निश्चित करें। क्योंकि

१. व्याधिभल से अधिक बी हुई मात्रा अजीर्ण और विष्टंभ कर पचन होती है। और अज्ञान में कोई फरक नहीं रहा। सायक्-प्रयोग करने पर भी व्यापद हो सकती है और असायक्-प्रयोगसे भी रोग शार्ति और कर्म साफल्य हो सकता है। अतः वैद्य के ज्ञान की शोषण सकते हैं जिनसे प्रयुक्त औषध एकान्ततः सिद्ध हो, किन्तु सब लोग शास्त्र में उपचिष्ट में व्यथावत उत्साह नहीं दिखते अतएव व्यापद ही संभावना होती है। वैसे ही दोष, घृण्ण, देश, बल, काल, शरीर, आहार, सात्य, सत्त्व, प्रकृति, वय इनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएं इतनी सूक्ष्म होती हैं कि ये तो विमल और विमुल बुद्धिमान (राम्यज्ञातथा अनुभवी) वैद्यों को भी भ्रम उत्पन्न करती है (कर्म करें कि न करें यह भ्रम) फिर अत्यं भवित्वातों की तो क्या कहनी?<sup>१७</sup>

यहाँ आतुर को दोष, वैष्णवादि ११ विषयों से परीक्षा करने का उपदेश है। दोष, क्षय, वृद्धि, समत्व, ऊर्जागमन, अधोगमन, तिर्यगमन, शाखाश्रय, कोष्ठाश्रय, प्रमोश्रय, स्वस्थान में रहना, अन्य स्थान में जाना, स्वतंत्र दोष, परतंत्र दोष, साम, निराम बहुदोष, मध्यदोष, अल्पदोष इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकार से दोष की परीक्षा कर वाम्यादि का विचार करें। वैष्णविस्थानतों से को तरुणत्व, वृद्धत्व, आर्द्धत्व, शुष्कत्व, इत्यात्मस्युक्तत्व, स्वरसादि कल्पना योगित्व रसवीर्य विपाक, प्रभाव इत्यादि से आतुर शरीर में किस तरह कार्यकर होगा यह परीक्षण करें। देश-आनुप, जांगल, साधारण, प्रस्तावि भेद से परीक्षित करें। काल-ऋतुभेद, रोगी अवस्था के अनुसार व्यायामस्थादि से देखें।

शारीर-स्थूलकृशसारात्म, निःसारात्म रक्षणीय पर्म, दृष्टि इत्यादि अवयवों की परीक्षा से परीक्षा करें। आहार परीक्षा में प्रकृति, करण, संयोग, गशि इत्यादि भेद से, सात्य-देशसात्य, कालसात्य, व्याधिसात्य भेद से तथा प्रकृतिसात्य और अभ्यास सात्य के अनुसार परीक्षित करें। सत्त्व-भव, शौर्य, विषाद, द्वेष, हर्ष इत्यादि से तथा प्रवर, मध्य, अवर प्रकार से परीक्षित करें।

**प्रकृति-**में वातादि प्रकृति, कालग्नीशयादि प्रकृति इत्यादि द्वारा परीक्षण करें। वय-बल्य, यौवन, वार्द्धक्य इत्यादि तथा अवांतर भेदों से परीक्षित करें। इस तरह से परीक्षाएं व्यापक और समर्पक ढंग से कर वमनादि के लिए आतुर को सिद्ध करना चाहिये।

- (३) इसी को अष्टांग संग्रह में वाभट ने भी विशद करते हुए कि मात्रा की कोई निश्चित नहीं है। व्याधिभल, कोष्ठ, वय, देश और काल को देखकर मात्रा निर्णय करें। यहाँ वाभट ने कोष्ठ, वय, देश और काल ये अधिक कहे हैं।<sup>१८</sup>
- (४) बहुत बार पुरुषभल, वैष्णवल और व्याधिभल देखने में भूल हो सकती है। व्याधिभुवल व्यक्ति में इनका विचार निश्चय करना बहुत कठिन होता है। अतएव दोषादि की सूक्ष्म अवस्थाएं निचाराह होती हैं। दोष अपने स्थान से यदि चर्तारायमान हुये हों और कोष्ठ मृदु हो, ऐसे आतुर में शारीरिक बल का विचार न करते हुए दुर्बल को भी शोषण देने को कहा है।<sup>१९</sup>
- (५) चरक ने मात्रा के बारे में कहा है कि वह मात्रा श्रेयस्कर है, जो अन्य प्रमाण में प्रयुक्त करने पर अधिक दोषों को निकालने में सम हो, वेंग अच्छी तरह लाती हो, जो सुखपूर्वक पच जाती हो, व्याधि को दूर करने में क्षम हो और कोई दूसरे विकार या व्याधि को उत्पन्न न करती हो, जो अधिक लानि न करें और जिसका गन्ध, चर्ण, रस सेवन करने योग्य हो, वह श्रेष्ठ है।<sup>२०</sup>
- इस तरह मात्रा के सामान्य सिद्धान्त ध्यान में रखते हुए नीचे के विशेष सिद्धान्तानुसार व्यक्तनुसार मात्रा दें।
१. व्याधिभल, अग्निभल, गोगीभल मध्यम हो तो क्वायथ की मात्रा एक अंजली (४ पल-१६ तोला) देनी चाहिये। चूर्ण की मात्रा विडालपदक-एक तोला और कल्क की मात्रा भी एक अस्थ अर्थात् १ तोला हो। यहाँ क्वायथ का अर्थ शृतशील, फोट की ही मात्रा १६ तोला है। स्वरस, शीरादि युरु होने के कारण इससे कम देने चाहिये।<sup>२१</sup>
  २. चरक ने मदनफल पिण्डियों को अंतर्निख मुष्ठि (नखों को अंदर की ओर कर मुखर्ती में समाए उतना प्रमाण) प्रमाण में देने को कहा है।<sup>२२</sup> अथवा वयादि ३ प्रस्थ = ५७६ तोला, मध्यम प्रस्थ = ६ प्रस्थ = ३८४ तोला, और कनीयसी मात्रा (हीना) ३ प्रस्थ = ११३ तोला देनी चाहिये और कर्त्तव्य, अवलोह तथा चूर्ण की उत्तममात्रा-३ पल (१ तोला), अद्यम गत्रा-२ पल (२ तोला) और कनीयसी मात्रा १ पल (४ तोला) की होनी चाहिये।<sup>२३</sup> यह चार्याद्यज्ञेयत होती है। अन्यथा क्वायथ की मात्रा-बारंबार दी जाती है वह क्वायोंपन का तात्पर्य मात्रा समझनी चाहिये। जो करीब ५-६ सेर प्रमाण में लग सकता है। वमन द्रव्यों की अनुभूत मात्रा मुश्तुत के यत के अनुसार मेल खाती है। क्वायथ देना हो तब ४ औंस से ८ औंस (१० तो-२० तो) तक दे सकते हैं और चूर्ण-कल्क १ तोला तक देना चाहिये।

वमन द्रव्यों की अनुभूत मात्रा मुश्तुत के यत के अनुसार मेल खाती है। क्वायथ देना हो तब ४ औंस से ८ औंस (१० तो-२० तो) तक दे सकते हैं और चूर्ण-कल्क १ तोला तक देना चाहिये।

यहाँ उपयुक्त किया हुआ मदनफल योग भी १ तोले प्रमाण में देना चाहिये।  
 ४. आतुर सिन्डूता-वमन के लिए आतुर को सिद्ध करना यह सबसे महत्व का पूर्वकर्म है। आतुर सिद्धता में आहार व्यवस्था, स्नेहन, स्वेदन और मानसोपचार का विचार है।

(१) **वमनपूर्व भोजनादि व्यवस्था-** वास्त्र आतुर की भेजन व्यवस्था, स्नेहकाल में, स्नेहात काल-अर्थात् वमन के पहले दिन और वमन के दिन ऐसी-तीन काल में अलग-अलग होती है। स्नेहकाल की भोजन व्यवस्था स्नेहाध्याय में कह आये हैं। वैसी अर्थात् नाति स्निध, लघु, उष्ण, अनभियंखी भोजन दे। स्नेहपान यदि उत्तम प्रकार का हो तो वह १४ घंटे में जीण होता है—अतः पूर्ण नहीं लगती, तथापि स्नेहात्ता दिन और विश्रामदिन-वमन स्नेहपान के एक दिन के बाद किया जाता है उसे विश्रामदिन कहते हैं— उस दिन सायंकाल को ग्राम्य, आनुप, औदक मांसपरस (मछली इत्यादि) दूध, दही, उड़द, तिल तथा अन्य अभियंखी शाकादि भोजन देकर कफ का उत्तेश करना चाहिये।<sup>५०</sup> वस्त्रोक्ति कफेत्वलेश से वमन अच्छा होता है।<sup>५१</sup> दोषोच्चत्वेश कारक आहार कराकर वमन करना सुश्रुत और वाग्मट ने भी कहा है।<sup>५२</sup> तथापि कोई ऐसा मतभेद बताते हैं कि यह वमन के दिन देना चाहिये, तथापि चारक ने वमन के दिन और वमन के पहले दिन का आहार अलग-अलग स्वेद करना किया है। अतः संदेह का क्षेत्र नहीं है। सामान्यतः वमनपूर्व रात्रि में उपरोक्त प्रकार का भोजन होता है। इसमें द्रवांश अधिक होने से जलदी पचन होता है, और साथं भोजन पचने के बाद ही वमन दिया जा सकता है। अतः यह आहार उपकारक होता है। यह आहार कफ, स्वेद और द्रव धातु को बढ़ाकर उन्हें कोपोन्मुख करता है।

वमन के दिन प्रातः जो अधिक स्निध न हो ऐसी यवागु थी के साथ दें।<sup>५३</sup> वमन के दिन यवागु या दूध या धी देने को कहा है। रिक्तामाय में वमन नहीं करना चाहिये। यदि आतुर को इतने सुबह भोजन लेना ठीक न लगता तो— उसे १ से २ सेर दूध पिला देना चाहिये।<sup>५४</sup> वाग्मट ने भी नित्रातुर को ईच्छा निष्ठादेया, या धी देने का निर्देश किया है।<sup>५५</sup>

संकेत में—

१. स्नेहकाल में अनभियंखी, लघु उष्ण भोजन दे।
२. स्नेहात और विश्रामकाल में वमनपूर्व दिन दूध, दही, मांसरस, तिल, उड़द इत्यादि से कफोच्चत्वेशकर भोजन दे।
३. वमन के दिन—पेया, धृत यवागु या तो केवल दूध पिला दे।
- (४) **स्नेहन स्नेदन--** वमन के पूर्व स्नेहन स्वेदन कराकर ही वमन किया जाता है।<sup>५६</sup> चारक, सुश्रुत, वाग्मट तीनों ने स्निधं स्विन के बाद ही वमन का निर्देश किया है। यहाँ स्नेहन से आन्धंतर, वास्त्र दोनों का ग्रहण करना चाहिये। आन्धंतर स्नेहपान ३ से ७ दिन तक करना चाहिये। यह रोगानुसार अलग-अलग प्रकार का होना चाहिये।
- सम्प्रक्रमित लक्षण के बाद आतुर को स्वेदन करें। आन्धंतर स्नेहपान के बाद एक दिन उठाकर वमन किया जाता है। चारक ने वाय्य आतुर को १ या ३ दिन तक (बाय्य) अन्धंग और स्वेदन करने को कहा है। जिस दिन स्नेहपान पूर्ण होना हो (पानस्नेहात) उस दिन, उसके दूसरे दिन अथर्विश्रामदिन (एकाहोपरतस्तादृ भुक्त्वा प्रच्छर्दनं पिबेत्) और

वमन के दिन प्रातः ऐसे तीन दिन अन्धंग और स्वेद करना चाहिये।<sup>५७</sup> स्वेद में वाष्ठ स्वेद करना चाहिये। स्वेद प्रकार में, वाष्ठ स्वेद में “वाष्ठ स्वेद” का अन्य प्रकार से जो स्वेद कहा है— वह वाष्ठ स्वेदन यंत्र पर किया जाता है अतः वह सार्वदैहिक होने से यहाँ प्रशस्त समझे। स्नेहपान, अन्धंग तथा वाष्ठ स्वेद दोषों का स्वेदन, द्रवीकरण तथा कोष्ठाचिगमन होता है जिससे वमन से उनको सुख पूर्वक निकलना संभव होता है।

(३) **मानसोपचार-आतुर को हमेशा प्रसव रखना बहुत आवश्यक है।** उसे पहले ही वमन में कथा-कथा किया जाएगा वह समझाना चाहिये। स्नेहपान, स्वेद, भोजन तथा वमनोपयोग इत्य (आंकेंठ पिलाये जाएंगे) सेवन, वमनोत्तर संसर्जन क्रम इत्यादि सभी उसे पहले करना और उसकी सम्मति लेना अच्छा होता है। अन्यथा समय पर किसी विधान में अनानाकानी करें तो मुश्किल होती है। वमन उसकी व्याप्ति के लिए नितांत आवश्यक और लाप्रद है यह उसे समझाकर उसे तैयार करें। इसी तरह वमन के लिए उसके मन में उपस्थित भय, ताज्ज्ञा को दूर करना चाहिये। क्योंकि भय, चिंता, लज्जा इत्यादि भावों से युक्त होने पर वमन ठीक नहीं होता। आतुर की मानसदशा उत्तम हो इसीलिये संभवतः चरक ने अनेक कर्मों की मालिका—

१. शिरपर्यन्त अच्छी तरह स्नान कराना
२. शरीर पर सुगंधी तेल लगाना
३. सुगंधी फूलों की मालाएं पहनाना
४. अच्छे-अच्छे शोभावंत न फटे हुए कपड़े पहनाना
५. देवता, आर्जन, ब्राह्मण, गुरु, वैद्य का सत्कार करना
६. ब्राह्मणों द्वारा स्वत्स्त वाचन होना तथा मंगल की कामना करना और
७. शुभ नक्षत्र शुभ तिथि करण मुहूर्त देखकर वमन कराना, ये क्रियाएं—इसी हेतु से चीं हैं ऐसा प्रतीत होता है, और इसीलिये जो प्रवरसत्य है, इन सबमें मानता न हो, तो उसे वमन के आवश्यक स्नेह विद्यादि से स्वच्छ कपड़े पहनाकर वमन कराया जावे।

### पूर्वकर्म का सारांश

१. सभी वमनोपयग सामग्री बुद्धि पूर्वक संग्रह करें।
२. आतुर की दोष, भेषज, देश कालादि भावों से परीक्षा करें, तथा प्रतिदिन नाईं, गूद, मल, चिह्न, शब्द, स्पर्श, दृग्, आकृति वृक्षी परीक्षा से अवास्था व्याप्ति उत्पन्न नहीं हैं इसकी खानी करें।
३. मदनकलादि द्रव्यों की आतुर परीक्षा पूर्वक मात्रा निश्चित करें और प्रधान कर्म
४. आतुर को कफोच्चत्वेशकर आहार, स्नेहन, स्वेदन तथा मानसोपचार से वमन के लिये सिद्ध करें।
५. प्रधान कर्म

वमनोपयग पिलाकर, वमनवेग पूर्ण होने तक जो कार्य किये जाते हैं उनका प्रधान

कर्म में अंतर्भाव होता है। प्रधान कर्म निम्नलिखित विषयों के आधार पर किया जाना चाहिये अथवा इसमें अध्ययनीय तथा कर्म करणीय ये अवस्थाएं (Stages) होती हैं ऐसा समझना चाहिये।

### १. उन्नफल योग का सेवन

#### २. तुरपरिचर्चाएं एवं निरीक्षण

#### ३. लमनवेगों का विनियोग एवं कर्तव्य

#### ४. सभ्यग-हीन-आति वात के लक्षणों का निरीक्षण तथा कर्तव्य

#### ५. वमन व्याप्ति निरीक्षण एवं तत्त्वतीकार

यहां पदनफल योग सेवन उपलक्षण मात्र है। अन्य किसी भी वामपक औषधियों का सेवन करना हो तो भी यही विधि है, किन्तु विशेषत, मुकर होने से, तथा वमन में प्रेष्ट होने से मदनफल योग ही दिया जाता है, तथा प्रथम में भी औषधि सेवन के समय इसी नाम से उल्लेख किया गया है अतः यहां वही शारीरिक दिया गया है।

### १. मदनफल योग का सेवन<sup>१३</sup>

ज्ञेहन और स्वेदन के बाद आतुर को वमन कथ में जानु के जितने ऊंचे आसन पर अथवा बमनपीठ पर बिठावें। यह आराम की कुर्सी-प्रशस्त और पृष्ठ (spring या कुशन की) तथा बाजू में भी नरम गाढ़ी से स्पर्श सुखवाली, और पीछे यता-कदा आवश्यकतानुसार सिर को आराम से दिका सके ऐसी शिर-गोड़ वाली विशिष्ट पीठिका (कुर्सी) होती है। आतुर को गते से लेकर ऊंचे तक सर्वांग में स्वच्छ एवं सुख वस्त्र से आवृत करें। यह वस्त्र बमनोत्सर्जित द्रव्य आतुर शरीर पर या उसके कपड़े पर न गिरे इसलिये है। कुर्सी के दोनों बाजू पर एक-एक सफेद उपवस्तु-टॉबेल या नेपकिन लटकाकर रखें। यह बारंबार पुख साफ करने के लिए उपयोगी होगा। आतुर की पुनः नाड़ी, रवास, नाप (और ल्लडप्रेशर भी) देखकर परीक्षा कर नोट रखें। तत्प्रथात् आतुर को दूध, इक्सुरस, मांसरस, मध्य कोई भी वस्तु आकंठ (पेटभर) पिला दें। साथारणतः इक्सुरस ४ से ६ पौँड जरूरी होता है और दूध या इक्सुरस ही देना अच्छा है। इक्सुरस मध्यर शीत के कारण कफ वर्धन होता है, और पीने के लिए सुखकर है, तथा इसमें एक विशिष्ट प्रकार का उत्स्तेशकर स्वाद होता है जो ज्यादा मात्रा में रस पीने पर गते में सतत उत्तेजित करता है। यह पिलाने की विधि ऐसी है कि १० से १२ औंस वाली एक कट्टी, गलास या मेजर-गलास पास में रखें और जितने बार उसे पिलावे उसको नोट रखें। साथारण आतुर में ३० से ४० औंस पीने पर तुल्सि होती है। कभी-कभी १५ औंस तक पिलाना होता है। इक्सुरस पिलाने के बाद मदनफलयोग आधे से एक तोले तक मात्रा में मध्य नहीं होगा। मुड़ एवं सुकुमार प्रकृतिवालों को अच्छा तरीका यह है कि आंख और नाक पर पट्टी बांध दे और आषध पिला दें। चारक ने यष्टीमधु आदि कथाय में मदनफल पिण्डियों को रखकर (अंतर्ख मुष्टिकीब १ से १। तोला) उसे गतिशर रख, प्रातः हाथ से अच्छी तरह मलकर पिलाने को कहा है। सुश्रुत ने सुकुमार, बाल, कृश, वृद्ध, भौंड इनको दूध, छाछ, यावा या रक्षा वातानुसार वगनोपाग यष्टीमधु आदि काट पिलाकर वमन कराना प्रशस्त है।

यावा या रक्षा वातानुसार वगनोपाग यष्टीमधु आदि काट पिलाकर वमन कराना प्रशस्त है। अतुर के मुख, वक्ष, पृष्ठ, पार्श्व पर सुखोष्ण स्पर्श करें और एक मुहर्त तक निरीक्षण करें।

वमनद्रव्य—मदनफल योग इत्यादि पिलाते समय निम्नोक्त मंत्र का घोष करने का विधान है—

**मंत्र— “ॐ ब्रह्मवक्षासिवक्रद्रेत्रं भूचंद्रकानित्वान्तलाः॥**

**ऋषयः सौर्यधिग्रामा भूतसंधारण पातुते॥ (व.)॥**

**रसायनमिवर्णिणां देवानाममृतं यथा॥**

**मुधवोत्तम नागानां भैषज्यमिदमस्तुते॥**

वाम्पट ने इसमें कुछ फरक कर नीचे और इस तरह अधिक मंत्र दिया है—

**ॐ नमो भगवते भैषज्यगुरवे वैद्यूर्यं भराजाय॥**

**ॐ भैषज्ये भैषज्ये महाभैषज्ये समुद्गते स्वाहा॥**

**ॐ भैषज्ये भैषज्ये समुद्गते स्वाहा॥**

इस मंत्र का अर्थ यह है—“ब्रह्मवक्ष, वक्ष, आश्विनीकुमार, रुद्र, इंद्र, पृथ्वी, चार्द, देखकर परीक्षा कर नोट रखें। तत्प्रथात् आतुर को दूध, तुम्हारी रक्षा करें। देखकर प्रकार से बनी हुई औषधि—के लिये जैसे अमृत, नागों के लिये जैसे सुधा (अमृत) उत्तम है, वैसे ही यह औषधि तुम्हारे लिये प्रशस्त हो जाये।

भैषज्य के गुरु, वैद्यूर्य के समान प्रभावाले भगवान के लिये तथा आये हुए ‘अहंता’ के लिये जो ज्ञानवान है (अथवा भगवान बुद्ध को) ॐ नमस्कार है। ॐ भैषज्ये, भैषज्ये महाभैषज्ये अच्छी प्रकार से बनी हुई औषधि—के लिये स्वाहा है।”

इस मंत्र से अधिमंत्रित औषधि पूर्व या उत्तर की ओर पुख किये हुए आतुर को पिलावें। भारतीय संस्कृति आस्तिक परंपरा की ओर देव तथा देवतावादी है। अतः मंत्र, स्वस्ति वाचन, होम, इत्यादि का निर्देश स्थान-स्थान पर मिलता है। वमन यह पंचकर्म में एक महाभैषज्ये कर्म (Major operation) है। अतः रोगी के कल्याण की कामना करना और इसमें नैहिकी उपाय करना अभिप्रेत है। वैसे ही सामान्यतः आतुर मन की अवस्था को देखकर ये विधियां उसको मानसिक शांति, विश्वास और दूँढ बल उत्पन्न करने में सहायक होती हैं, और मनोबल से ही अनेक कठिन परिस्थितियों का आसानी के साथ महन किया जाता है।

वमनोषधि पिलाने में शास्त्रसंमत ३ प्रकार के मत द्विष्टिगोचन होते हैं:-

(१) एक मतानुसार दूध, दही, यवाग, मांसरस, मध्य इत्यादि द्रव्यों को वामपक औषधि (मदनफलादि) से संस्कारित कर, पिलाकर वमन कराये।

(२) दूसरा मत ये पिलाकर पुनः मदनफलादि औषधि सेवन कराये।

(३) यष्टीमधु आदि कथाय (मदनफल युक्त) बारंबार पिलाकर वमन कराये।

**प्रत्यक्षतः** वमन में दूध, गत्रे का रस आकंठ पिलाकर औषधि सेवन कराकर,

आवश्यकतानुसार वगनोपाग यष्टीमधु आदि काट पिलाकर वमन कराना प्रशस्त है।

**२. आतुर परिचर्चाएं एवं निरीक्षण<sup>१४</sup>**

एक मुहूर्त ४८ मिनिट का होता है। इसकाल में आतुर के ललाटपर स्वेद बिंदु दिखाई देते हैं, उनके गोंगटे खड़े होते हैं और ऐट फूलता है, तथा मुख से लालाक्षाव होने लगता है। जब कपाल पर पसीना आता है तो स्पष्टना चाहिए कि दोष स्रोतों में शिंशिरत हो रहे हैं और उत्तरव्य चलायमानता, इवत्व, कठ्ठगामित्व उत्पन्न हो रहा है। गोमहर्ष से समझना चाहिए कि दोष अपने स्थान से कोष्ठ की ओर आ रहे हैं, कुक्षि फूलने से समझे कि कोष्ठ में आ गये हैं और हलास-लालाक्षाव से समझे कि वह आपाशय से ऊपर मुख की ओर आ गये हैं। जब रखे हुए वमन पत्र में, मुख तालु औष्ठ कठ को निहृत कर ज्यादा परिश्रम न करते हुए अनुदीर्घित या अल्पोदीर्घित वेंगों को प्रवृत्ताकर यात्र में वमन करें। यदि वमन न होता होते ही, आतुर अपने अंगुली से कमलनाल से, एंड की शाखा की डंडल से (या एवर नालिका से) गले के अंदर स्पर्श करते हुए वेंगों को प्रवृत्त करें। यदि आतुर को तब भी वमन न होतो में स्पर्श करें और प्रतिसारण करें। इससे कुछ सेकंड में ही वमनवेग प्रारंभ होता है। औषधिपान के अनंतर स्वेद प्रादुषशिवादि लक्षणों के समय तथा वमनवेग में आतुर के पीछे खड़ा हुआ परिचारक आतुर की पीठपर प्रतिलोम (नीचे से ऊपर) सहलाता रहे और शंख ललाट को हाथ से दबाए रखें—जिससे आतुर को सुख मिलता है और वेंग भी प्रवृत्त होता है।

वास्तव में मुहूर्त—४८ मिनिट का कालावधि है, उसमें २-३ वेंग निश्चित ही होते हैं, तथापि यह कालावधि इतनी हो जाती है कि तब तक राह देखना रोगी के लिए बहुत कठात्प्रद होत है। ४८ मिनिट के बाद यदि वेंग प्रवृत्त न हो तो वमन के लिए—स्पर्श, आमलक, पिष्पली इनके कल्क से या जल से या लवणोंदक से (नमक का जल) पिलाकर वमन करने को कहा है। ये सुखोष्ण होने चाहिये। भेल ने वेंगप्रवृत्त न होने पर केश चूण और मस्किका तक्रमंड के साथ देने को कहा है इससे वमन होता है।<sup>११</sup> तथापि इस विधि में समयापहण और रोगी को तकलीफ दोनों की संभावना रहती है। अतः प्रत्यक्ष प्रयोग में औषध पिलाने के बाद १५ से २० मिनट तक राह देख कर चरकोक्त यष्टीमधु फांट को बांगबार पिलाना चाहिये। इस तरह जिनीं बार क्वाय पिलाया जायेगा उनीं बार वमन होगा। इससे तैद्य जब उचित समझे तब वमन बंद करा सकता है अतएव प्रत्येक वमनवेग के बीच में फांट पिलाकर वमन करना प्रशस्त है। अगर वमन को अधिक समयतक प्रतीक्षा करते हैं तो बहुत बार वमन औषध जीर्ण होने का तथा, इक्षुरस इत्यादि द्रव ऊर्ध्व आमाशय से अधो आमाशय की ओर चले जाकर आमाशय रिक्त होने का संभव रहता है और आमाशय रिक्त होने पर वमनवेग में रोगी को अधिक कष्ट होगा।

रोगी का निरिक्षण करते हुए वेंगकाल में वेंद्यों को निम्नलिखित वमन पत्रक के अनुसार नोंद रखनी चाहिये।  
प्रत्येक समय—आतुर की नाड़ी तथा श्वास संख्या नोट करें। तथा हृदय परिश्या करें।  
जलस्तर हो तो ब्लडप्रेशर भी ले और उसका स्तर निरीक्षण करता रहे। वेंगकाल में उत्पर्जित द्रव्यों का मान तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध की परिश्या करें। इससे दोषों की आव्यंतरवस्था में संभाव्य गुणकर्मों का विकृति के साथ रहनेवाला कार्य कारण भाव समझा

जा सकता है और आगामी चिकित्सा में उसका लाभ होता है। शब्द परिश्या से वमन में घोष होता है विना घोष का वमन होता है यह देखे। अति घोष और अल्प द्रव्यों से उत्पर्जित द्रव्य में पैच्छल्य, वैशाद्य, तंतुमत्ता का ज्ञान होगा। रूप परिश्या से वर्ण देखे—वर्ण में कांटवर्ण को ध्यान में रखकर परिश्या करें। कफ का वर्ण देखे। पीताम्, हलास-लालाक्षाव उत्पन्न हो रहे हैं और उत्तरव्य से समझना चाहिये कि दोष अपने स्थान से कोष्ठ की ओर आ रहे हैं, कुक्षि फूलने से समझे कि कोष्ठ में आ गये हैं और लालाक्षाव उत्पन्न होते हैं और उत्तरव्य से उत्पन्न हो रहा है। गोमहर्ष से समझना चाहिये कि दोष अपने स्थान से कोष्ठ की ओर आ रहे हैं, कुक्षि फूलने से समझे कि कोष्ठ में आ गये हैं और लालाक्षाव उत्पन्न होते हैं और उत्तरव्य से उत्पन्न हो रहा है। इससे कफ तथा क्वेद का ज्ञान होगा। रूप परिश्या से वर्ण देखे—वर्ण में कांटवर्ण को ध्यान में रखकर परिश्या करें। कफ का वर्ण देखे। पीताम्,

वमन पत्रक	तिंग-	रोगनाम-	समय	अवस्था	अंतर्गत द्रव्य	प्रमाण	उत्पर्जित द्रव्य	प्रमाण	शब्द स्पर्शदि विशेष	अधिप्राय
उदा.—	प्रा.८ बजे	नाड़ी ७२ श्वास १८ अवस्था उत्तम	इशु रस	३२ औंस	—	—	—	—	—	—
प्रा.८.३५	नाड़ी ७२ श्वास १८ अवस्था उत्तम	पदन फल योग	१ तो	—	—	—	—	—	—	अवस्था उत्तम
प्रा.८.३०	नाड़ी ९० श्वास २०	—	—	१ वेग	१५ औंस	पिच्छल, निर्धोष गंध	—	—	—	—
प्रा.८.४५	नाड़ी १५ श्वास २२	वर्षी मधु फांट	—	—	१२ औंस	—	—	२० औंस	—	अविशेष
प्रा.८.५०	नाड़ी १०० श्वास २५	वर्षी मधु फांट	—	—	१२ औंस	—	—	—	—	—
प्रा.९.१०	नाड़ी १०० श्वास २५	वर्षी मधु फांट	—	—	३ वेग	२४ औंस	—	—	—	कफ + घोषरहित मधु-रस्ता ... इत्यादि

श्यामाश वर्ण देखे। यदि रक्ताश वर्ण, रक्तन चंद्रिका का वर्ण हो तो रक्ता प्रवृत्ति समझकर वमन बंद करें। रस परीक्षा में आतुर मुख स्वाद पूछें—प्रायः वैसा ही स्वाद उत्सर्जित द्रव्य होता है। उत्सर्जित द्रव्यों को याकिका, पिपीलक, वायस, इवान इत्यादि के साथने डालकर भी देखा जा सकता है। उत्सर्जित रस के अनुसार मधुर से कम, कटु तिक्तत से पित्त का गोत्त होता है। गंधपरीक्षा में दुर्गन्ध की प्रभूतता, अल्पता अथवा अमाव की परीक्षा करें। यदि संभव होतो प्रत्येक वेग में उत्सर्जित द्रव्य को अलग-अलग कांच नीलिका (Test tube) में भरकर विश्लेषण परीक्षा (Laboratory analytical methods) के लिये भेजे और परीक्षा करावे।

वह अवस्था बहुत महत्व की है। इसमें थोड़ी सी भी भूल नहीं करनी चाहिये। अंतर्गत द्रव्य का कुल प्रमाण और उत्सर्जित द्रव्य का कुल प्रमाण अंत तक नोट करें और ध्यान में रहें कि अंतर्गत द्रव्य से उत्सर्जित द्रव्य अधिक रहना ही प्रशस्त है। यदि ऐसा न हो तो अंतिम वेग के बाद युनः अंगूली स्पर्श आदि से वमन करावे। अंतर्गत द्रव्य का प्रमाण १० से १५ औंस तक अधिक-से-अधिक वेग में १० से १० औंस फाट इस तरह चार या पांच बार पिलाना अपेक्षित है। अधिक-से-अधिक आठ बार। जिसमें आतुर को ४ से १० तक वमन वेग होकर सम्यक् शुद्धि होनी।

**३. वमनवेगों का विनियोग एवं कर्तव्य**

वमनकाल में प्रवृत्त वेगों की संख्या अच्छी तरह गोननी चाहिये। वेगों को भयी प्रकार देखनेवाला वेद्य ही वमन के योगायोग को अच्छी तरह समझ सकता है और आगे क्या करना चाहिये उसे ठीक समझ सकता है, अतएव बिना भूल के वेगों का निरीक्षण करने का आदेश चरक ने दिया है।<sup>१९</sup> औषधिपान के बाद जितने बार वमन होगा उसे वेग कहते हैं। यद्यपि मधुर फाट पिलाने के बाद कितने बार वमन होता है, उसको नोट करते हुए दूसरे बार यथातशयक यस्तीमधुर फाट पिलावे। वेगों का विनियोग—वेगसंख्या, वेगोस्तुट द्रव्य का रूप, द्रव्य का प्रमाण तथा वेगांतर्गत लक्षणों के आधार पर करना चाहिये।

#### वेगसंख्या—प्रकार वमन अर्थात् उत्तम वमन में ८ वेग, मध्यम वमन में ६ वेग और

हीन वमन में ४ वेग आना चाहिये। वेगों को गिनते समय वमनोषधि पिलाने के बाद तुरन्त अनेवाला वेग छोड़ देना चाहिये—क्योंकि यह वेग नहीं होता अपितु हल्लास और आस्थाक्षण होता है।<sup>२०</sup> वेगोस्तुट द्रव्य का वर्ण देख पिलात आदि का नियम करें। वेगोंत्सुट द्रव्य का प्रमाण प्रकार में दो प्रस्थ, मध्यम वमन में १।। प्रस्थ और जघन्य या हीन वेग में १ प्रस्थ होना चाहिये।<sup>२१</sup> वमन, विरेचन और रक्तमोक्षण के उत्सुट द्रव्यों को जहां प्रस्थ में लिखा है वहां प्रस्थ से १।। पल लेने का निर्देश है।<sup>२२</sup> एक पल ४ तोले का होता है। अतः उत्तम वमन में द्रव्य प्रमाण ३ प्रस्थ—१० तोले, मध्यवेग वमन में ११ तोले और जघन्यवमन में ६४ तोले होना चाहिये। यहां पर ध्यान रखने योग्य बात यह है कि आकंठपीत द्रव्य जो करीब ३२ से ४० औंस होता है—के बाद प्रथम वेग २५ से ३० औंस प्रमाण में निकलता है। उसको प्रमाण में न ले और उसके बाद के उत्सुट द्रव्य का प्रमाण गिनकर ही प्रवर, मध्य, जघन्य का निर्णय करना चाहिये। वेगांतर्गत लक्षणों को देखकर साम्यक् शुद्धि, असाम्यक् शुद्धि तथा आतियोग का निर्णय करना चाहिये। ये लक्षण नीचे स्थान किये जायें।

#### ४. सम्भवगाहीन तथा अतीतोत्तम के लक्षणों द्वारा निरीक्षण तथा कर्तव्य

सम्भवक् योग, अच्युत, अति योगादि का विचार उपर्युक्त चार विषयों के आधार पर ही किया जाता है। चारक ने फूल में चार भेद नहीं किये हैं किन्तु चारों प्रकार से शुद्धि लक्षणों का विचार जल्लर किया है। कोई आचार्य वमन शुद्धि को चार प्रकार से विभक्त कर आतिकी, मानिकी, वैगिकी तथा लौगिकी शुद्धि मानते हैं इसको ऊपर कहा ही है। आतिकी का अर्थ—वमनवेग के अंत में कोनसा दोष आता है उसके अनुसार शुद्धि निश्चित करना है। वमन में पहले कफ फिर पित्त और फिर वात इस क्रम से उत्सर्जन होता है, और वमन 'पित्तातक' ही इष्ट है वात आते तक वमन करना इष्ट नहीं। पित्त का स्वाद कटु होता है। मुख में कटुता होने पर वमन बंद करावे—यह आतिकी शुद्धि का अर्थ है। मानिकी के अनुसार—२ प्रस्थ और १। प्रस्थ और १ प्रस्थ का मान देखकर प्रवराति भेद से सम्भवक् लक्षण मानकर वमन बंद करना यह मानिकी शुद्धि है। वैगिकी के अनुसार ८ वेग, ६ वेग और ४ वेग की संख्या देखकर प्रवराति भेद से सम्भवक् लक्षण समझकर वमन पूर्ण करना यह वैगिकी शुद्धि है और लौगिकी शुद्धि के अनुसार—सम्भवक् हीन, अति वातादि के वस्त्रमण लक्षण देखकर ही तत्त्व प्रकार की शुद्धि समझ कर वमन पूर्ण करें, यह लौगिकी शुद्धि है तथापि चक्रपाणि कहते हैं कि ये चार प्रकार से शुद्धि मानना असंगत है। लौगिकी शुद्धि का (लक्षणों के द्वारा) ही वर्तुत होने पर वमन बंद करावे—यह आतिकी शुद्धि का अर्थ है। मानिकी के अनुसार—२ प्रस्थ और १। प्रस्थ और १ प्रस्थ का मान देखकर प्रवराति भेद से सम्भवक् लक्षण मानकर वमन बंद करना यह मानिकी शुद्धि है। वैगिकी के अनुसार ८ वेग, ६ वेग और ४ वेग की संख्या देखकर प्रवराति भेद से सम्भवक् लक्षण समझकर वमन पूर्ण करना यह वैगिकी शुद्धि है और लौगिकी शुद्धि के अनुसार—सम्भवक् हीन, अति वातादि के वस्त्रमण लक्षण देखकर ही तत्त्व प्रकार की शुद्धि समझ कर वमन पूर्ण करें, यह लौगिकी शुद्धि है तथापि चक्रपाणि कहते हैं कि ये चार प्रकार से शुद्धि मानना असंगत है। मुश्तुत ने भी लक्षणों के द्वारा ज्ञाने वाली शुद्धि ही प्रधान मानी है। टीकाकार डल्हाना कहते हैं कि वैगिकी आदि तीन प्रकार की शुद्धि कहना ठीक नहीं है। वैगिकी मानिकी दोसी कोई शुद्धि कहनी सकते हैं कि वैगिकी प्रत्येक अनुसार और आदेश का आकार—ऊंचा कद या छोटा कद, स्थूलता या कृशता, शरीर के मांसादि अवयवों का सहनन, वातादि प्रकृति रक्तसार, मांससार आदि प्रकार के अलग-अलग सार का रहना है। अतएव उन सबको एक ही प्रकार से प्रवर में २ प्रस्थ, मध्य में १।। प्रस्थ, जघन्य में १।। प्रस्थ इत्यादि मान से कैसे कहा जाये? इसी तरह वैगिकी शुद्धि कहना भी ठीक नहीं है! क्योंकि मानिकी दोसी कोई शुद्धि कहनी सकते हैं कि वैगिकी प्रत्येक अनुसार और आदेश का आकार—ऊंचा कद या छोटा कद, स्थूलता या कृशता, शरीर के मांसादि अवयवों का सहनन, वातादि प्रकृति रक्तसार, मांससार आदि प्रकार के अलग-अलग सार का रहना है। अतएव उन सबको एक ही प्रकार से प्रवर में २ प्रस्थ, मध्य में १।। प्रस्थ, जघन्य में १।। प्रस्थ इत्यादि मान से कैसे कहा जाये? इसी तरह वैगिकी शुद्धि कहना भी ठीक नहीं है! क्योंकि उत्सुक्त शरीरके अनुसार ही सकता है कि बहुत वेग(८) आने पर भी उसकी सम्भवक् युहि न हो। प्रकृति, वय, बल, शरीर और वोष की अपेक्षा किसको कम वेग से सम्भवक् शुद्धि हो सकती है, कम वेगों से अति शुद्धि भी हो सकती है, किसको बहुत वेग से सम्भवक् शुद्धि होगी या बहुत वेगों के बाद अशुद्धि भी हो सकती है। अतएव लक्षणिक शुद्धि ही मुश्तुत को समत है।<sup>२३</sup> यहां लाक्षणिक से पित्तात आदि का भी बोध डल्हना ने किया है। चक्रपाणि ने इसी मत का पुरास्कार करते हुए कहा है कि वैगिकी, मानिकी आदि प्रस्थ में लिखा है वहां प्रस्थ से १।। पल लेने का निर्देश है।<sup>२४</sup> एक पल ४ तोले का होता है। अतः उत्तम वमन में द्रव्य प्रमाण ३ प्रस्थ—१० तोले, मध्यवेग वमन में ११ तोले जघन्यवमन में ६४ तोले होना चाहिये। यहां पर ध्यान रखने योग्य बात यह है कि आकंठपीत द्रव्य जो करीब ३२ से ४० औंस प्रमाण में निकलता है। उसको प्रमाण में न ले और उसके बाद के उत्सुट द्रव्य का प्रमाण गिनकर ही प्रवर, मध्य, जघन्य का निर्णय करना चाहिये। ये लक्षण नीचे स्थान किये जायें।

हो वहां प्रवर शुद्धि, जहां ६ वेगों में १।। प्रस्थ मान युक्त दोष साव हो वहां मध्यम शुद्धि और जहां ४ वेगों में १ प्रस्थ मान ये दोष स्फुटि हो वहां जघन्य शुद्धि कहना चाहिये।<sup>१७</sup> तथापि उक्त एकार से हमेशा होगा ऐसा नहीं है। यदि आठ वेगों में २ प्रस्थ में कम इन्स्ट्रूमेंट हो, या ४ वेगों में या ६ वेगों में २ प्रस्थ उत्सृष्ट हो तो क्या? अतः यह मत भी दोष रहित नहीं है। अतः चक्रपणि ने व्यापत् प्रकरण में आगे टीका करते हुए कहा है कि पितातत्त्व, कफांतत्त्व इत्यादि असभ्यक् शुद्धि में भी हो सकते हैं— अतएव इनके साथ सहचरी लक्षण कारण्य, दौर्बल्यादि लक्षणों को भी देखना आवश्यक है।<sup>१८</sup> वेदों को इन सब बातों का सामान्य विचार कर उपरोक्त और तर्क से काम लेना चाहिये।

**सभ्यक् शुद्धि लक्षण—** देखों की यथाकाल प्रवृत्ति होना, क्रमशः कफ, पित्त और वात निकलना, स्वयं प्रवृत्त होना, हृदय में हलकापन महसूस होना, पार्श्व मूर्धा (शिर) और स्नोतस में हलकापन लगाना, मन प्रसन्न होना, शरीर का हलकापन, कार्य, दौर्बल्य होना और अधिक पीड़ा न होना ये सभ्यक् वात के लक्षण हैं।

**असभ्यक् (या अयोग) वात के लक्षण—** जिसको वमन ठीक नहीं होगा उसे— वेग की बराबर प्रवृत्ति न होना, केवल औषध मात्र निकल जाना, वेग काल में रक्त कर प्रवृत्त होना, इनसे तथा हृदय में अशुद्धि, स्नोतों की अशुद्धि मात्र गार्व। स्फोट, कोठ, कंडु, कफ प्रसेक और ज्वर इन लक्षणों से जाना जाता है।

**अतिवात के लक्षण—** बहुत ज्यादा वमन हो जाने पर वमन में ज्ञाग का आना रक्त मंडल आना, तृष्णा लगाना, मोह, मूच्छा, वात प्रकोप, निद्रा हानि, बल हानि, हृतीझा, कंठपीड़ा, तमः श्रम, पित्त की अधिक प्रवृत्ति, अत्यंत रक्त-साव (और उससे मृत्यु) और दाह ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

उपर्युक्त सभी लक्षणों को चरक, सुश्रुत और वाभट के मतानुसार तुलनात्मक अध्ययनार्थ तालिका में स्पष्ट किया जाता है।<sup>१९</sup>

#### सभ्यक् वात लक्षण-तालिका

क्र.	लक्षण नाम	चरक	सुश्रुत	वाभट
१.	काले प्रवृत्ति:	+	—	+
२.	यथाक्रम कफ, पित्त, वात दोष हरण	+	+	—
३.	स्वयं अवस्थान (प्रवृत्ति तथा स्वयं बंद होना)	+	—	—
४.	हृदय शुद्धि	+	+	—
५.	पार्श्व शुद्धि	+	—	—
६.	मूर्धा शुद्धि	+	+	—
७.	स्नोतो शुद्धि	+	—	—
८.	इंद्रिय शुद्धि	+	—	—
९.	लघुत्ता	+	+	—

क्र.	लक्षण नाम	चरक	सुश्रुत	वाभट
१.	वेग की अप्रवृत्ति	+	—	+
२.	केवल औषध प्रवृत्ति	+	—	+
३.	वेग विवंध	—	—	+
४.	हृदय शुद्धि	+	—	+
५.	स्नोतो अशुद्धि	—	—	—
६.	गुरुगत्वा	+	—	—
७.	स्फोट	—	—	—
८.	कोठ	—	—	+
९.	कंडु	—	—	+
१०.	कफप्रसेक	—	—	+
११.	ज्वर	—	—	+
अतिवात लक्षण तालिका				
क्र.	लक्षण नाम	चरक	सुश्रुत	वाभट
१.	फेनिल वमन	+	—	—
२.	रक्त चींदिकायुक्त वमन	—	—	+
३.	तृष्णा	—	—	—
४.	मोह	—	—	—
५.	मृच्छा	—	—	—
६.	वातप्रकोप	—	—	—
७.	निद्रा हानि	—	—	—
८.	बल हानि	—	—	—
९.	हृतीझा	—	—	—
१०.	कंठ पीड़ा	—	—	—
११.	तमः प्रवेश	—	—	—
१२.	प्रमः	—	—	—
१३.	पित्तातियोगः	—	—	—
१४.	अत्यंत रक्तसाव से मृत्यु	—	—	—
१५.	वाह	—	—	—

सूख्यक्लूमन में कफ और दोषों के निकल जाने से तथा शरीर के द्रव बहुत अंश के शुद्धि हो जाती है। जब वमन ठीक नहीं होता तो क्लेव और कफ तथा अन्य आप्याश उत्क्लावस्था में अमण करने के कारण अनेक गोंगों में कारण हो जाते हैं और अतिवमन के कारण द्रव, आप्याधातु तथा कफ के अधिक निकल जाने से दाह, मोह, पूर्ढा, ब्रम, रुषा तथा धातुशय से बात व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।

वैद्य को चाहिये कि वह प्रत्येक वमनवेग के समय आतुर का आतुरगत दाह, मोह करते रहे और योग्य समय में वमन कर्म पूर्ण करें।

#### ५. वमन व्यापद् एवं तत्प्रतीकार

**वस्तुतः व्यापद् और उनका प्रतिकार** यह विषय प्रथान कर्म के अन्तर्गत न कहकर प्रथानकर्म में कहना चाहिये, तथापि वमन की कुछ व्यापदितयां ऐसी हैं, जो प्रथानकर्म—वमनोषष्ठि पिलाने पर वेगकाल में ही उत्पन्न होती हैं और उनका प्रतीकार वहीं पर करना तथा पुख्य कर्म चालू रखना या बंद रखना इसका नियमित वैद्य को करना होता है। अतएव उनका समावेश प्रथानकर्म में करके वर्णन किया जाता है।

स्नेहन, स्वेदन-ठीक ढंग से कर जिन्हें मात्रायुक्त औषधयोग्याद्या जाता है, उनमें औषध की सम्यक् प्रवृत्ति होकर वमन अच्छा होता है।<sup>१५</sup> व्यापद के पुख्य के मुख्य कारण चार हैं। एक तो वैद्य की निर्णयशक्ति ठीक न होने से भूल होकर व्यापद होती है दूसरा कारण भैषज्य है जो उत्त्युक्त न हो या अतित्युक्त हो तो व्यापद है और तीसरा कारण प्रेष्य या प्रेषक है—जो उपचारक है और औषधि को सम्यक् तथा संस्कारित न करने से उत्पन्न होती है और चौथा कारण आतुर है—जिसमें उसके ठीक सहकार न मिलने से, वैद्यानुकारिता न होने से तथा कीष्टादि भेद से विचित्रता होने के कारण व्यापद उत्पन्न होती है।<sup>१६</sup> चारक ने वमन तथा विचेन को निम्नलिखित १० व्यापतियाँ कहीं हैं<sup>१७</sup>

#### १. आध्यान

#### २. परिकर्ता

#### ३. लाव

#### ४. हृदयग्रह

#### ५. ग्रन्थार्थ

#### ६. जीवादान

#### ७. विप्रेशा

#### ८. स्तोभ

#### ९. उपद्रव

#### १०. कस्तम

**इन व्यापद में प्रायः आयोग या अतियोग कारण होते हैं।** विषया योग नामक एक प्रकार कभी-कभी कहा गया है, किन्तु विषद्वेगों का चार प्रकार से प्रवृत्ति भूत्या साध्य होता है। जैसे वेगों को बिल्कुल प्रवृत्त न होना, वेगों की अल्प प्रवृत्ति, असम्यक् प्रवृत्ति अर्थात् प्रतिलोम प्रवृत्ति और अतिप्रवृत्ति—ये चार प्रकार हैं।<sup>१८</sup> उपर्युक्त व्यापद में आध्यान, परिस्तात, हृदयग्रह अंगग्रह कल्प में अयोग से उत्पन्न होते हैं और परिकर्ता, जीवादान, विप्रेशा ये अतियोग से उत्पन्न व्यापद हैं। सुश्रुत ने १५ व्यापद कहे हैं ये निम्नलिखित प्रकार हैं।<sup>१९</sup>

#### अयोग अवस्थाएं तथा प्रतिकार

#### १. आतुर को

#### २. अग्राह

#### ३. लाव

#### ४. हृदयग्रह

#### ५. ग्रन्थार्थ

#### ६. जीवादान

#### ७. विप्रेशा

#### ८. स्तोभ

#### ९. उपद्रव

#### १०. कस्तम

इन व्यापद में प्रायः आयोग या अतियोग कारण होते हैं। विषया योग नामक एक प्रकार कभी-कभी कहा गया है, किन्तु विषद्वेगों का चार प्रकार से प्रवृत्ति भूत्या साध्य होता है। जैसे वेगों को बिल्कुल प्रवृत्त न होना, वेगों की अल्प प्रवृत्ति, असम्यक् प्रवृत्ति अर्थात् प्रतिलोम प्रवृत्ति और अतिप्रवृत्ति—ये चार प्रकार हैं।<sup>१८</sup> उपर्युक्त व्यापद में आध्यान, परिस्तात, हृदयग्रह अंगग्रह कल्प में अयोग से उत्पन्न होते हैं और परिकर्ता, जीवादान, विप्रेशा ये अतियोग से उत्पन्न व्यापद हैं। सुश्रुत ने १५ व्यापद कहे हैं ये निम्नलिखित प्रकार हैं।<sup>१९</sup>

१. वमन की अधोमार्ग से प्रवृत्ति अर्थात् वमनोषष्ठि से विचेन होना :

२. औषधि का सावशेषत्व

३. जीर्णोषष्ठत्व

४. हीन दोषापहरण

५. वातशूल

६. अयोग

७. अतियोग

८. जीवादान

९. आध्यान

१०. परिकर्ता

११. परिकार  
१२. प्रवाहिका  
१३. हृदयपसरण  
१४. विबंध और  
१५. पंद्रहनी व्यापद, विचेन औषधि की ऊर्ध्वगति होना अथवा विचेन से वमन होना यह विचेन व्यापद है। इनमें वमन और विचेन में बीच की १३ व्यापद सामान्य है। किसी प्रथम में 'आग्रह' नामक व्यापद बताइ गई है लेकिन डल्हण टीका में स्पष्ट कहा है कि वमन की विचेन प्रवृत्ति तथा विचेन की वमनवत् उत्प्रवृत्ति ये दो और शेष १३ व्यापद रहती हैं जो सामान्य हैं। अतः आग्रह का पाठ शिष्ट प्रतीत होता है।

पंचदशाधा का अर्थ ऐसी कई व्यापद हो सकती है ऐसा भी कर सकते हैं। डल्हण ने कहा है कि पंचदशाधा का अर्थ तंत्रातर की संख्या (चरकोक्त १०) का निषेध दर्शक है। चरक के टीकाकार जेजट ने 'दसौव' व्यापद बताते हुए अन्य तन्त्र के अधिक व्यापद (सुश्रुत के १५) के निषेध का बोधन किया है।<sup>२०</sup> यह मतभेद का विषय मनोज़क का है। वस्तुतः पूल में ऐसा कोई निषेध नहीं है। व्यापद कई प्रकार की अवस्था और उक्त व्यापद से वे अधिक जीर्णों में लिया है और अगे तत्त्वाकार की अवस्थाएं स्पष्ट की है। आध्यान, जीवादान, हृदयपसरण, परिकर्ता, प्रवाहिका, परिसात, विलंब ये दोनों में सामान्य हैं। यहां वमन विरेचन की व्यापद सामान्य है अतएव कुछ खास व्यापद जो वेगकाल में प्रधान कार्य में विचारणीय है उनका मात्र विचार कर बाकी सबका विचेन के अध्याय में आगे विचेन किया जायेगा। यहां विचेन में जो परिकर्ता है वह वमन में कंठ क्षणन है, विचेन में जो परिसाव हैं वह वमन में श्लेष्म प्रसेक है, विचेन में जो प्रवाहिका है वह वमन में शुष्कोद्धार है ऐसा समझना चाहिए।<sup>२१</sup> जीवादान का अर्थ युद्ध रक्त की अतिप्रवृत्ति है। अयोग और अतियोग के कारण व्यापद होती है यह देखा गया है—अतः उसी दृष्टि से उनके प्रतीकार का विचार किया जाएगा।

आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान  
और वृष्णा, मूँछर्ण, हल्लास, अरुचि, और उद्दार अशुद्धि तथा पाशवर्षशूल, पर्वभेद उत्पन्न करती है। इसमें गरम पानी पिलाकर वर्मन करती है।<sup>१३</sup>

३. जिनका स्लेहन स्वेदन ठीक न किया हो, जो रुक्ष शरीरवाला हो उसे अल्पोषधि, पुरानी या अल्प गुण युक्त औषधि पिलाने से दोष हरण बाबर नहीं होता। दोषोत्त्वेश से गोरव, उत्त्वेश, हृदय में अशुद्धि, व्याधि वृद्धि, विषंश, शोथ, हिमादर्शन, पिंडिकोद्देष्टन, कंडू, अंगवाह आदि लक्षण होते हैं। उसे फिर तीक्ष्ण वर्मन देना चाहिए।<sup>१४</sup>

४. स्लेहन स्वेदन के अनन्तर दीपालाग्नि वाले आतुर को औषध जीरी हो जाती है अथवा आम वृद्धि में दी हुई शीतोषधि भी दोषों का उत्त्वेशन कर-शोधन नहीं करती और उपर्युक्त अदोषजन्य राग, गौरव, हृदयाशुद्धि इत्यादि करती है। सुश्रुत ने इस भवतवत् पचे गये औषध को जीर्ण औषध व्यापत् माना है और अनित्यमान औषध व्याधि विष्म बलत्र्यंश करता है ऐसा कहा है—इसमें मात्रा में अशुद्धि और तीक्ष्ण वर्मन औषध पिलावे। चरक ने इसमें पटुतेल (सैधव युक्त तेल) से अच्छा कर, प्रस्तर और संकर स्वेद कर पूर्व औषध जीर्ण होने के बाद पुनः वर्मन करने को कहा है। अथवा गोमूत्र युक्त निरुद्ध देकर, मांसरस युक्त भोजन देकर मदनकल सिद्ध, बालहरिदा सिद्ध तेल से अनुवासन देने को कहा है और बाद में फिर तीक्ष्ण शोधन देना चाहिए। इस तरह करने पर अत्यंत तीक्ष्णोषध से भी अतियोग नहीं होता।<sup>१५</sup>

५. अजीर्ण में वर्मन औषध देने पर गलानि होती है, विकंध होता है और औषध की अधो भाग में प्रवृत्ति होती है। यहां सब आम दोष हण का उपाय करना चाहिए। पाचनोषध का प्रयोग करना चाहिए और आवश्यक हो तो कालांतर से पुनः इनमें वर्मन किया जा सकता है।<sup>१६</sup>

संक्षेप में—अयोग होने के निम्नलिखित कारण हैं—

१. रोगी का स्वेदन स्वेदन ठीक न होना
२. औषध मंद, पुराण या अल्प बल युक्त होना
३. कठोर, क्लूर या अति सूखु रहना
४. आम की प्रश्नानन्ता होना
५. रोगी की आयुर्वेदिक तीक्ष्ण होना—इन कारणों से औषध का अजीर्ण होकर या औषध जीर्ण हो जाकर अकिञ्चित कर तथा गौरव भ्रामदि व्यापद उत्पन्न करती हैं। इनमें पुनः वर्मन करना यही उपाय है।

अयोग हें कल्त्तव्य—साधारणतः प्रत्यक्ष प्रयोग में शब्दुपार्टी का फाट ४ से ६ पौंड बनाकर रखना चाहिए और वर्मन वेग ठीक न हो तो बारंन्दर यह फाट पिलावें। यदि इससे भी वेग प्रवृत्त न हो तो फाट में मध्यनकल और वचा दुपूँ १०-१५ मात्रा डालकर पिलावें। वर्मन वेग जब पूर्ण करने की इच्छा हो तब अंतिम वेग के लिए लवणोदक पिलावें। गरम-पानी और नमक पिलाकर पिलाने से मुख शुद्धि होकर गले का स्वाद ठीक होता है उत्क्वेश कम होता है और आतुर को सुख्ख्यूर्बक वर्मन होता है। अगर अचोग लक्षण में हृदयग्रह, अंगश्रह, मोह, ग्रम, तमादर्शनादि लक्षण उत्पन्न हो तो वर्मन बंद कर औषधपाचनार्थ दोपन, पाचन तथा

हृदय, बल्न, शामक औषध दे। इसके लिए पहले अगुलियों से या कमलनाल आदि से वर्मन करने की कोशिश करें—क्वर्योक्ति उत्तेजित वेग बिना वर्मन के शांत नहीं होते और उपर्युक्त लक्षण वर्मन से ही कम हो सकते हैं। अतः व्याक्रिक उत्तेजित (Mechanical Stimulation) से वर्मन करावे। और एक-दो बार वेग निकल जाने पर सूतशेखर रस, शंख बटी, शिवाशार, पाचन दूर्ण, शुणी चूर्ण, त्रिकटु चूर्ण, चिक्रादि बटी, द्रवशास्व, दशमुलारिच्छ, हेमार्ग रस, सुवर्ण मालिनी वस्त्र, शंख भस्म, स्वर्जीक्षा इनका यथायोग्य प्रयोग करें।

#### अतियोग की अवस्थाएं तथा प्रतिकार

१. स्निग्ध एवं चिक्क आतुर को जिसका कोष्ठ बहुत मुड़ है उसे तीक्ष्ण या मात्रा में अधिक औषध देने से अति वर्मन करता है। इससे पित्त की अति प्रवृत्ति, बलत्र्यय, बात प्रकोप होता है। इस आतुर को धी से मालिश करें, फिर शीतल जल से अवगाह करावे और दोषानुसार शार्करा मधु त्रिप्तिक्षत अवश्लेष चटावें।<sup>१७</sup>

२. चारक ने अतियोग की अवस्थाओं का और वैद्यों के कल्त्तव्यों का सुंदर निर्देश किया है। «प्रत्यक्ष प्रयोग में ऐसे प्रसंग बारंबार उपस्थित हो सकते हैं अतः कृतकर्म वैद्य के पास वर्मन ज्ञान को प्राप्त कर ये प्रयोग करना हितकर होता है।

३. चुप लगे हुए आतुर को जिसका कोष्ठ मुड़ है, तीक्ष्णोषध देने पर मल, पित्त और कफ का अति प्रवृत्ति कर शरीर के द्रवधातु (जल, क्लोड-एक्सा cellular fluid) को बाहर निकाल कर बल का नाश, बाह, कंठशाय, ब्रम, त्रुणा (ये सब Dehydration, से उत्पन्न होते हैं,) में लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसमें सब मधुर उपचार कर शेषोषध को निकालना चाहिए, वर्मन में शेषोषध को विरेचन देकर निकालें। इसी जल से परिवेक करें, अवगाह करें और शीतोषधि से स्तम्भन चिकित्सा करें। कथाय, मधुर, शीत अवप्रान तथा औषध दे। रक्तपित्त, अतिसार, बाह, जल, रोगों में कहीं हुई तत्तद् चिकित्सा करें। चन्दन, उश्शर, मज्जा, रक्त, शर्करा इनसे सिद्ध जल पिलावें और लाजाचूर्ण से मंथ तैयार करके देना। चाहिए। कफहर मधुर मधु में धीं और मधु तथा शक्कर मिलाकर पिलावें।

४. अगर उद्धार बहुत्य हो, मूँछों हो, तो धनिया और मोथे का न्यून तथा मधुवे का चूर्ण इनसे अवश्लेष बनाकर मधु के साथ दे। कधी-कधी वर्मनाति-प्रवृत्ति से जिहा अंतः प्रविष्ट (अंदर खींची गई हो ऐसी अत्यधुति) होती है। उसे कवलमधुर करावे तथा स्त्रिय अस्त और अन्तफल (इमली) चिक्कावें जिलसे आतुर के मुख में लालाशाव होकर उसकी जिहा स्वास्थ्यति में कार्य प्रवृत्त होती है। अगर लेगत योग से जिह्वा बाहर आवें तो (यह भी वातना ई उत्तेजना से अनुपूति है) तित्व और लाक्षा इनके कल्क से, लेपन कर अन्दर प्रविष्ट करावें।

५. सामान्यतः वर्मनात्तदि योग में—सूतशेखर २ रत्ती, शंखभस्म ४ र. हेमार्ग आधी र. मधुर पिच्छा भस्म १ र. मिलाकर आतुर को १०-१५ मिनट के अंतर से चटावें। ३-४ बार देने से वर्मन बंद होता है। निन्बु का शर्वत पिलावें। शंख बटी २ गोलियाँ ३-४ बार दे। संजीवनी १ र. ३ से ४ बार दे। वयाचावश्यक शीतोपचार करें। अन्य आधामानादि व्यापद का वर्णन विवेचन अध्याय में देखें।

वमन वेगों से निवृत्त होने के उपरान्त आतुर को प्राकृत घोजन तक जाने की कालावधि तक जो कुछ उपक्रम करना होता है, उसे पश्चात्कर्म कहते हैं। पश्चात्कर्म में निम्नोक्त विषयों का समावेश होता है।

### १. धूम्रपान

### २. आतुर के परिहार्य विषय

### ३. संसर्जन क्रम

### ४. संतर्णण चिकित्सा

### ५. वमनोत्तर शोधन की सिद्धता।

१. धूम्रपान—प्रवार, मध्य, अवर योगादे दृष्टि से भली प्रकार वमन वेग पूर्ण हो जाने पर आतुर के हाथ, पांव और मुँह ठड़े जल से धोकर साफ करावे और एक मुहर्त-४५ मिनट तक विश्राम करावे। इस बीच में बारबार लातोशाव, उद्वार हो सकता है। अतः निरीक्षणार्थ यह समय है। फिर उसको यथानुकूल, स्नैहिक, वैरचनिक या शमन प्रकार का धूम्रपान करावे।<sup>१०</sup> धूम्रपान से वमनोसूष्ट कफ से गले में उपस्थित स्निग्धता, पैच्छल्य तथा उपलेपता कम होकर कंठ, मुख, नासा, जोत्सु शुद्ध होते हैं।

मिलाकर वाति बनाकर उससे धूम्रपान विधि से धूम्र लेना स्नैहिक धूम्रपान है।<sup>११</sup>  
**वैरचनिक प्रमाणन—स्वेता** (स्वेत अपराजित), ज्योतिष्यती, हरिताल, नाता है, उसे वैरचनिक धूम्रपान कहते हैं।<sup>१२</sup> यह कफ का शोधन करता है और चिपके हुए कफ को छोड़ने करते हुए निकाल देता है।

जटामांसी, मोथा, सर्जरीस, इनके द्वारा वर्ति बनाकर प्रायोगिक धूम्रपान कराना यह स्नैहिक धूम्रपान कहलाता है।<sup>१३</sup> धूम्रपान विधि का विस्तार पूर्वक वर्णन आगे नस्य के पश्चात्कर्म के अनुसंधान में किया गया है। उन नियमों के अनुसार विधिवत धूम्रपान करावे। धूम्रपान के बाव पुनः शीत जल से हाथ, पांव और मुख का प्रक्षालन करें।

२. आतुर के परिहार्य विषय—धूम्रपान के बाव जल प्रक्षालन गोत्तर आतुर को, जहां प्रत्यक्ष तेज हवा न आती हो ऐसे निवात आतुरगार में आराम के लिए खेज दें और उसे जो पर्याय संभालना आवश्यक है, जिन जिन बातों का त्याग करना आवश्यक है वे निवेश समझाना चाहिए।<sup>१४</sup> यहां वमन के बाद ४५ मिनट ऊहरकर धूम्रपान और तदनंतर आतुरगार में खेजने का निर्देश है। तथापि कर्म सौकर्य और आतुर सुख के लिए उसे वमन वेगों से निवृत होने पर जल प्रक्षालन कर तुरन्त आगार में विश्राम करना अच्छा रहता है। आतुर-वमन काल में करीब २-३ घंटा तक सतत आयास में रहता है, और एक ही अवस्था में बैठकर भी कष्ट का अनुभव करता है। अतः उसे निवात आगार में शत्यापर लिटाकर ४० मिनट या करीब एक घंटे के बाव वही धूम्रपान करावे। आतुरगार में विश्राम के बाद भी आतुर के पास-वमन प्रतिग्रह (वमन करने का पात्र) और डेडपैन (टटटी के लिए) रखना चाहिए। क्योंकि आगार प्रवेश

के बाद भी एकाध वेग वमन का हो जाता है। वैसे ही यद्यपि मधु विरेचन द्रव्य भी है—अतः वमनक्रिया में बार-बार प्रयुक्त फट कभी-कभी यथावकाश २-३ मुड़ विरेचन करता है। विरेचन हो तो आतुर शय्या में रहकर ही बैडपैन में मल विसर्जन करें। अन्यथा गलानि, श्रम, लघुतादि के कारण आयास से वह कहीं गिर सकता है। आतुरगार में आतुर निम्नालिखित परिहार्य विषयों को त्यागकर संयम से रहें।

३. जार से भाषण न करें।

४. अत्याशन—खूब खाना न ते।

५. अतिसंक्रमण—बहुत ज्यादा धूम्रपान किरना छोड़ दे।

६. कोथ न करें।

७. शोक न करें।

८. अत्यधिक खुली हवा में न बैठें।

९. वाहन—बोड़ा, ऊँट, गाड़ी, मोटर, स्कूटर, सायकल इत्यादि की सवारी न करें।

१०. मैथुन न करें।

११. गत में जागरण न करें, दिन में न सोवे।

१२. विरुद्धजीर्ण, असान्त्य, अकाल, गुरु, बहुत अधिक या बहुत कम घोजन न करें।

१३. वेग संधारण (मलमूत्रादि आधारणीय) न करें।

१४. उद्वीरित वेगों का धारण करना जैसे मना है वैसे ही जो वेग उद्वीरत नहीं हुए हैं, उनको बलपूर्वक उद्वीरित न करें।

३. संसर्जन क्रम—सम्यक् सर्जन संसर्जन क्रम है। वमन के बाद आतुर को एकदम प्राकृत घोजन नहीं दिया जा सकता, क्योंकि स्नैशन के कारण अग्नि मंद हो जाता है और अग्निपर आधिक कार्य भार आ जाये ऐसा भोजन दे तो वह पचा नहीं सकता। इसलिये पेयादि क्रम से क्रमशः लघु से गुरु भोजन देते हुए प्राकृत घोजन पर आतुर को लाना संसर्जन क्रम कहलाता है। 'विमिते वर्धते वह नि'-वमन से अग्नि बढ़ती है ऐसा अन्यत्र सूत्र मिलता है। इसका अर्थ वमन पूर्व स्नैशन तथा वमनकाल में दोषोत्तरोत्तर तथा क्षोभ में जो अग्निमांद चाहिए।<sup>१५</sup> यहां वमन के बाद ४५ मिनट ऊहरकर धूम्रपान और तदनंतर आतुरगार में खेजने का निर्देश है। तथापि कर्म सौकर्य और आतुर सुख के लिए उसे वमन वेगों से निवृत होने पर जल प्रक्षालन कर तुरन्त आगार में विश्राम करना चाहिये। निर्देश है,—“संशोधनाभ्यां दोषदीकरणात् आमाशयानुगत वोषोपथस्याग्निरायाति सं (क्षयं तस्मात् क्रमेण) नव विष्टमुच्यते। संशोधनाभ्यां दोषदीकरणात् आमाशयानुगत वोषोपथस्याग्निरायाति अर्थात् संशोधन से दोषों का द्रवीकरण होकर वे आमाशय में आते हैं। अतः दोष के द्वाया आमाशय क्षोभ से अग्निमांद होना संभव है। इसलिए पेयादि क्रम जलरी होता है। जिस तरह अग्नि का एक अणु (योड़ीसी आग) भाग भी गोबर की उपले, चासफूस आदि इंधन डालने पर बढ़कर प्रवीप्त होता है, (और सब बड़ी बड़ी वस्तुएं भी भस्सासात् कर सकता है।)

उसी तरह संशोधन से मंद अग्नि में — पेयादि क्रम करने पर वह धीरे-धीरे उसे तीक्ष्ण करता है जिसमें अग्नि बड़े भारी गुह भोजन को भी पचाने में समर्थ होता है।<sup>१५</sup>

पेयादि क्रम—पेयादि क्रम में क्रमशः प्रवर्त, मध्य और अवर शुद्धिकाले आत्मर का पेया, विलेपी, अकृत यूष, कृतयूष, अकृतमांसरस के तीन, दो और एक अवकाल देकर ७ दिन में आत्मर को प्रकृत भोजन पर लाया जाता है। अथात् प्रवर्त शुद्धि के लिए ३, मध्य शुद्धि के लिए २ और अवर शुद्धि के आत्मर के लिए एक अवकाल में पेयादि क्रम से आहार दें।<sup>१६</sup>

पुश्त ने पेयादि क्रम के स्थान में कृतात्मा जांगल मांस से यूट भी दिये जा सकते हैं ऐसा कहा है। यहाँ डल्हन ने समन्वय किया है कि, 'अपि (भी) शब्द से पेयादि क्रम तो आचार्य सुश्रुत को मान्य ही है। जहाँ अत्यंत क्षीण कफ हो, वहाँ पेया देनी चाहिए, वात प्रधान दीपाग्नि आत्मर को मांसरस देना चाहिए, और दोष तथा व्यष्टु के अनुसार किंचित् कफवृद्धि हो तो कृतमधीय आदि के यूष देना चाहिए। क्योंकि जहाँ खूब मिट्टी हो वहाँ पर वर्षा से जैसे खूब कीचड़ बन जाता है, वैसे ही कफावस्था में यवागू इत्यादि देने से कफ वर्धन होता है।<sup>१७</sup>

संसर्जन क्रम का चारक ने दो जगह पर वर्णन किया है। एक है सिद्धिस्थान के प्रथम अध्याय में जहाँ उपर्युक्त प्रकार से पेया, विलेपी आदि देने को कहा है और सूत्रस्थान के पंद्रहवें अध्याय में वर्मन के बाद ७ दिन निम्नलिखित प्रकार से भोजन देने का निर्देश किया है।<sup>१८</sup>

१. वर्मन के बाद उसी दिन सायंकाल के समय पुराने लाल चावल की विलव (खबू, पची हुई) की हुई मंड के सदृश गरम यवागू अग्नि बल के अनुसार पिलावे। यही क्रम दूसरे और तीसरे अवकाल में अर्थात् दूसरे दिन प्रातः (प्रातः से सुबह का भोजन १० से ११ बजे के बीच यह अर्थ करें।) चावलों से अच्छी तरह पकी हुई विलेपी बिना स्वेच्छा और लवण के बातों से अल्प स्नेह (धी) और लवण मिलाकर पिलाए। यही क्रम पांचवें और छठे अवकाल में अर्थात् तीसरे दिन शाम को तथा चौथे दिन प्रातः भोजन काल में रखें।

२. सातवें अवकाल में अर्थात् चौथे दिन सायंकाल में दो प्रसूति (१६ तोला) चावल को पकाकर भात किंचित् स्नेह और लवण के साथ मिलाकर मूलयूष (मुंग की पतली दाल-लवण युक्ता) के साथ खिलावे। यही क्रम ८वें और ९वें अवकाल में अर्थात् ५वें दिन सुबह तथा शाम के भोजन में रखें।

३. दसवें अवकाल में अर्थात् छठे दिन प्रातः लावक (तितर) कपिजलादि में से कोई एक के मांसरस नमक मिलाकर, गरम पानी के अनुपान के साथ खिलावें। यही क्रम ११वें और १२वें अवकाल में अर्थात् छठे दिन सायंकाल तथा सातवें दिन प्रातः रखना चाहिए।

४. इसके बाद अर्थात् ७वें दिन सायंकाल प्रकृत भोजन दें। इस क्रम में और पेयादि क्रम में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। वहाँ निर्देश किया है और यहाँ प्रत्यक्ष वस्तु का वर्णन किया है। यह क्रम प्रवर का समझना चाहिए और मध्य तथा धनतन्त्र शुद्धि में दो अवकाल तथा एक अवकाल का क्रम रखना चाहिए।

पुश्त ने पेयादि क्रम के स्थान में कृतात्मा जांगल मांस से यूट भी दिये जा सकते हैं ऐसा कहा है। यहाँ डल्हन ने समन्वय किया है कि, 'अपि (भी) शब्द से पेयादि क्रम तो आचार्य सुश्रुत को मान्य ही है। जहाँ अत्यंत क्षीण कफ हो, वहाँ पेया देनी चाहिए, वात प्रधान दीपाग्नि आत्मर को मांसरस देना चाहिए, और दोष तथा व्यष्टु के अनुसार किंचित् कफवृद्धि हो तो कृतमधीय आदि के यूष देना चाहिए। क्योंकि जहाँ खूब मिट्टी हो वहाँ पर वर्षा से जैसे खूब कीचड़ बन जाता है, वैसे ही कफावस्था में यवागू इत्यादि देने से कफ वर्धन होता है।<sup>१९</sup>

उपर्युक्त प्रकार से पेया, विलेपी अकृत यूषादि क्रम से तीन तीन अवकाल दिये जायें तो

७ दिन में क्रम पूर्ण नहीं हो सकता। अतएव चक्रपाणि ने जहाँ तीन अवकाल है वहाँ प्रथम अवकाल में अकृत यूष, और अकृत मांसरस, और दूसरा दो अवकाल कृत यूष, और कृतमांसरस के देने को कहा है। जहाँ दो ही अवकाल देना है वहाँ (मध्यम शुद्धि) प्रथम अवकाल में अकृत और दूसरे अवकाल में कृत यूष—मांसरस दे।<sup>२०</sup>

कोई आचार्य मानते हैं कि जिन्हें मांसरस निषिद्ध हो उन्हें शाकाहारी भोजन बालों को

अकृत यूष के ३ और कृतयूष के ३ अवकाल है और प्राकृत भोजन करावे। इस तरह कृताकृत मांसरस न देने पर ३ अवकाल है और प्राकृत भोजन करावे। यहाँ प्रयेकता में अधिनिवेश न रखते हुए अग्निमांद्य न होगा इस क्रम से लघु से क्रमशः गुरु भोजन देना इतना ही अर्थ है। अतः वैद्य स्वयं प्रसंगानुसार योग्य प्रकार से भोजन करावे। यदि बहुत जलदी हो तो, शंखचवीटी, चित्रकादि बटी, चित्राक्षरपाचन इत्यादि पाचन औषधि के साथ प्रथम दिन पेया, दूसरे दिन विलेपी (विच्चटी) देकर, तीसरे दिन शाम को या चौथे दिन प्रातः प्राकृत भोजन पर लाया जा सकता है। सुश्रुत ने मंग, कृतलभी आड़की इत्यादि के यूष के साथ भोजन देने को कहा ही है। यहाँ अध्ययन सुविधा के लिए चारक के संसर्जन क्रम को दिनानुसार तालिका में स्पष्ट किया जाता है। जैसा कि चक्रपाणि भी टीका में कहते हैं कि यूष और अपेक्षा रखकर भोजन देना संगत ही है। अन्यथा सामान्य शुद्धि के अनुसार अग्नि की मांसरस के कृताकृत की द्वितीय से अकर शुद्धि में एक एक अवकाल देना हो तो निश्चित क्या करना चाहिए इसका आदेश नहीं है। यहाँ एक ही अवकाल में कृताकृत यूष अथवा थोड़ा लवण, धी इत्यादि डालकर अल्प संकृत, और कृताकृत मांसरस दे। अथवा वैद्य को योग्य लगेतब योग्य प्रकार से आहार को संस्कार युक्त विधि से देना सम्मत ही है। तालिका देखें।

#### ५. संतर्पण चिकित्सा

प्रायः सभी आत्मों में वर्मन के बाद संसर्जन क्रम करने का विधान है। तथापि संसर्जन क्रम में जो पेयादि क्रम है—इसमें पेया अधिक्षमी और कफवर्धनकारक होती है। अतएव दोषादि को देखकर संसर्जन के स्थान में तर्पणादि क्रम भी किया जाता है। सुश्रुत ने जो कृतत्य इत्यादि का यूष देने का निर्देश किया है वहाँ डल्हन ने वात प्रथान में मांसरस, क्षीण कफ में पेया और कफवर्धन ठीक न हुआ हो, जो मटापान का आदी है, कफ प्रधान पित्त मध्य वस्तु अवस्था में और जो वातपित्त प्रकृतिवाता आत्म हो, उसे पेयादि क्रम न देकर तर्पण देने को कहा है।<sup>२१</sup> तर्पण में पेया के बदले स्वच्छ तर्पण और विलेपी के स्थान में धनतर्पण देना चाहिए। तर्पण का अर्थ जेज्जट ने मुझा यूष और मांसरस देने का निर्देश किया

दिन और अनकाल	प्रथान शुद्धि	मध्यशुद्धि	जथन्य शुद्धि
प्रथम दिन:-प्रातः	—	—	—
द्वितीय दिन:-सायं	पेया	पेया	पेया
द्वितीय दिन:-सायं	पेया	पेया	विलेपी
तृतीय दिन:-प्रातः	विलेपी	विलेपी	कृताकृत यूष
तृतीय दिन:-सायं	विलेपी	विलेपी	कृताकृत रस
चतुर्थ दिन:-प्रातः	अकृत यूष	अकृत यूष	सामान्य भोजन
चतुर्थ दिन:-सायं	कृत यूष	कृत मांसरस	—
पंचम दिन:-प्रातः	अकृत मांसरस	कृत मांसरस	—
पंचम दिन:-सायं	कृतमांसरस	—	—
षष्ठ दिन:-सायं	कृतमांसरस	—	—
सप्तम दिन:-प्रातः	सामान्य भोजन	—	—
सप्तम दिन:-सायं	—	—	—

१. शर्करा, पिपली, तैल, धी तथा मधु ये समझाग तथा इन सबके मिलित के द्वारा ने प्रथम दिन सत्तु मिलाकर इनका मध्य बनाकर पिलावें। यह तर्पण गुणा तथा ऊर्ध्वर्वात, कृश है। वाग्मट ने भी इसी तरह तर्पण देने को कहा है, इस पर अरुणदत्त ने प्रथम अनकाल में ताजा सत्तु का तर्पण, द्वितीय अनकाल में पुराने चावल का भात, और तीसरे अनकाल में मांसरस देना चाहिए। ऐसा कहा है।<sup>१०१</sup> चरक ने संतर्पणीय अध्याय में कुछ तर्पण दिये हैं जो इस प्रकार हैं।<sup>१०२</sup>

२. सत्तु, मध्य, मधु, खांड इसका तर्पण वात, पित्त, कफ मल-मूत्रादि का अनुलोमन करता है।

३. फाणित, सत्तु, धी, वही का पानी, खट्टी कांजी का तर्पण उद्वावर्त में अच्छा होता है।

४. खजूर, द्राक्षा, वृक्षमाल, इमली, अनारदाना, फालसा, आंवला, इनसे मध्य बनाकर पिलावें।

५. वर्मनोत्तर शोधन की सिद्धता<sup>१०३</sup>—वर्मन के बाद यदि अन्य उपक्रम न करना

हो तो जिस व्याधि के लिए शोधन किया गया था उसकी शमन चिकित्सा प्रारंभ करें। वर्मन के बाद यदि विरेचन करना हो तो १५वें दिन विरेचन शाम को प्रारूपत भोजन के बाद पुनः १२वें दिन से

स्नेहपान प्रारंभ करें। स्नेहपान ऐसा करें कि वर्मन के १५वें दिन विरेचन आना चाहिए। यह दूसरा स्नेहपान काल पूरे १७ दिन तक आवश्यक नहीं है। १८वें दिन से १९वें दिन तक स्नेहपान १३ और १४वें दिन विश्रामकाल और १५वें दिन विरेचन दिया जाये। मध्य शोधन वालों में और जगन्य शोधन वालों में यह क्रम कुछ कम हो सकता है तथापि इसका खास निर्देश नहीं मिलता।

उल्लेख का कथन है कि वर्मन के बाद १५वें दिन ही विरेचन करावें न कि पहले और बाद में। इसमें यह तथ्य है कि थातु पाक क्रम के अनुसार कम-से-कम एक सप्ताह हो जाने के बाद ही पुनः स्नेहपान प्रारंभ करना ठीक है। यदि १५ दिन के पहले विरेचनार्थी क्रम प्रारंभ करें तो अनिवाल की मंदता के कारण आपत्तियां हो सकती हैं। १५ दिन के बाद अधिक दिन बिताने से पूर्वकृत स्नेहन स्वेदन का फल नहीं मिल सकता। अतएव जथन्य, मध्य शुद्धिवालों को भी १५वें दिन विरेचन आये यह व्यवस्था करनी चाहिये। प्रब्रह्मशुद्धि में वर्मनोत्तर ६ दिन विश्राम और स्वेदन कर १५वें दिन विरेचन करावें।<sup>१०४</sup> चरक ने भी १५वें दिन स्नेहपान या अनुवासन देने को कहा है। इसमें वर्मन के बाद विरेचन देना हो तो नववें दिन से स्नेहपान कर पूर्वक्त क्रम से विरेचन करावें और विरेचन के बाद बस्ति देने एसा अर्थ किया जाना चाहिए।

मध्य तथा जथन्य में अनुवासन से ५वें और शेष दिन प्राकृत भोजन दिया जाता है, तथापि उनको स्नेहपान १५वें दिन से ही प्रारंभ करना प्रशस्त है।

#### चरककोक्त वर्मन कल्प

वर्मन विधि-विधान में पूर्व कर्म, प्रथान कर्म और पश्चात् कर्म के अनुसारे विस्तारपूर्वक वर्णन अब तक किया है। अब वर्मन के लिए जो भिन्न-भिन्न योग बर्ते जा सकते हैं उनका विचार करें। चरक के कल्पस्थान में वर्मनार्थ, मदनफल, जीमूतक ईक्षाकु, धामारिच, कुट्टज और कुट्टवेधन इनके अनेक योग वर्णन किये हैं। इनका वर्णन अन्तर्लय फरक से सुश्रुत ने सूत्रस्थान के ४५ वें अध्याय में और वाग्मट ने कल्पस्थान के प्रथम अध्याय में दिया है। यहां, वर्मन के प्रत्यक्ष प्रयोग में द्रव्ययोग की सुविधा के लिए तथा छाँतों के ग्रंथाध्ययन प्रयोजन की, ध्यान में रखकर उन सब योगों का वर्णन किया जाता है।

#### १. मदनफल के वामपक्ष योग

१. कधाय योग—मदन फल के कधाय योगों की संख्या १ है। इसमें मदनफल पिपलियों को अंतर्निख मुष्टि प्रमाण में या उचित प्रमाण में लेकर कूटकर, निन्जोक्त कधायों में से किसी एक के साथ गत भर भिंगोवे। प्रातः: (जिस दिन वर्मन करना हो) हाथ से अच्छी तरह मसलकर छान कर उसमें सेंधेव, मधु और धी भिलाकर एक शराब प्रमाण में (३२ तोला) पिलावें। यह बार-बार एक-एक ग्लास भरकर पिलावें। प्रत्येक बार वर्मन होता है। इस तरह सम्यक् वर्मन के अपितृ दर्शनादि लक्षण मिलने तक पिलावें।

कधाय— १. यद्दीमधु

२. नीप कधाय

३. शग्गपुष्टी

४. सवापुष्टी

५. प्रत्यक्षपुष्टी

२. धात्रा योग—मात्रा योग आठ है। मदनफल पिपलियों के दो भाग को कोविदागदि

८ द्रव्यों (यस्तमधु औड़कर वाकी उपर्युक्त) के कधाय से ११ बार परिशुद्धि करें। फिर इसका १/३ प्राप्त रस को पी सकर हीरीतकी, वहेड़ा या आवले के प्रमाण की मात्रा में उपर्युक्त कधाय में से एक कधाय ४ पतल में भिलाकर मदन करें। इस तीव्र कधाय वर्मन करें। इस तीव्र कधाय वर्मन करें। उद्वर्ग उद्वर्ग और जगन्य शोधन वालों में यह क्रम कुछ कम हो सकता है तथापि इसका खास निर्देश नहीं।

३. दूध और धी इत्यादि के साथ योग—इनकी संख्या ५ है।  
 १. मदनफल पिष्ठली और दूध इसे क्षीरपक विधि से सिद्ध करें। दो कलणिपती और  
 २० तीला दूध लेकर ५ तोला प्रमाण तक पकाकर, सिद्ध दृढ़ पिलायें।  
 २. इसी दूध से दही जमाकर उस दही का प्रयोग करें यह दूसरा योग है।  
 ३. दही के ऊपर का पानी (सर) का प्रयोग छाँदि, तमक और प्रसेक में करें।  
 ४. उपर्युक्त दही में से तक बनाकर मलाई निकाल लें इसका प्रयोग पिस्त प्रकोप में तथा  
 कफ के लिपित होने पर, उर, कठ और हृदय रोग में करें।  
 ५. इसी से मव्वन निकाल कर उसका मदनफल, जीप्रत, ईश्वारकु, धामार्गिव, कुटल,  
 कृतवेधन इनके कलक या वन्धु के साथ सिद्धकर (धी बनाकर) प्रयोग करें। यह कफात  
 अंदागिन तथा शरीर शुष्कता में फायदा करता है।

६. घेय योग—मदनफल को सुंधकर बमन कराने की यह अधिनव पद्धति है। प्रथम  
 अध्याय में देखा गया था कि भगवान बुद्ध को घेय योग से उत्पत्त सुधाकर विरेचन करवाये  
 थे। यहां उसी प्रकार का बमन योग निर्दिष्ट है। इसकी पद्धति यह है कि—मदनफल  
 पिष्ठियों को पहले मदनफलादि, (मदनफल, जीमूतक, ईश्वारकु, धामार्गिव, कुटज और  
 कृतवेधन) इन छँ के वन्धु के स्थूल एवं महिन पिस्तकर बारिक  
 पुष्पराज के समान चूर्ण करें। फिर बड़े तालाब में उत्पन्न बड़े कमल पुष्प पर सारंकाल में  
 उसको फेला दे। प्रातः काल में उस कमल पुष्प को निकाल लें। सुकुमार लोगों में, जिन्हें  
 औषधि खिलाकर बमन नहीं करता जा सकता, उन्हें कफपित का उत्स्तेश उनमें हरिदा,  
 कृशरा, क्षीर, यक्षामु में से कोई एक, सेंधच, गुड तथा फाणित मिलाकर खिलावे और  
 तत्पश्चात् उपर्युक्त कमल सुधावे। इनसे बमन होता है।

७. फाणित तथा चूर्ण के योग—इनकी संख्या ६ है। १. धूलतातक विधान से  
 मदनफल पिष्ठली को परिशुद्ध कर इसके स्वरस को मंद आच पर पकाये। उब फाणित के  
 सदृश गाढ़ हो जाये और तार छोड़े तब नीचे उतारे। इसे चाटने से बमन होता है। २. अध्याय  
 मदनफल पिष्ठियों को धूप में सूखाकर चूर्ण बनाकर जीमूतकादि वन्धु के साथ  
 कफस्थानगत पित्त में प्रयोग करें।

८. वत्तिकिया में योग—इनकी संख्या ६ है। मदनफल पिष्ठली को मदनफलादि ६  
 दब्बों (मदनफल, जीमूत, ईश्वारकु, धामार्गिव, कुटज और कृतवेधन) के वन्धु से पकाकर  
 इनकी वत्तियां बनाये। ये वत्तियां पूर्ववत् पिलाकर बमन कराये ऐसा कहा जाता है। हमारी  
 कल्पना के अनुसार इन वत्तियों को कंठ को उत्तेजना करने में (यात्रिक बमन-  
 Mechanical Vomiting) प्रयुक्त करता उचित है। जैसे गुदवर्ति गुदा में उत्तेजना कर  
 विरेचन करती है, वैसे ही यह वर्ति, कटु, तिक्ता, मधु रस, उच्छ, तीक्ष्ण और अवसादक  
 गंध से ग्रसनिका के पास लगाने से बमन होता है।

९. अवतेह सिद्धकर उनका बमन में प्रयोग करें।  
 १. आरवाच २. कुटज ३. विंकतक (स्वाडु कंटक)  
 ४. पाठा ५. पाटला ६. गुजा

७. मूर्वा ८. सातपर्ण ९. नक्तमाल (यहां करंज)  
 १०. पिच्चमर्द ११. पटोल १२. कारबेल्लक  
 १३. गुडविं १४. सोमवल्क १५. हिंस्का (कंटककारी)  
 १६. पिपली १७. पिपली मूल १८. गज पिपली  
 १९. चित्रक २०. शृंगवेर (सौंठ)।
६. उत्कारिका योग—इनकी संख्या २० है। उत्कारिका रोटी के आकार की बनाई  
 जाती है और इसमें मधु और धूत मिलाकर आकार दिया जाता है। मदनफल पिष्ठियों को  
 निम्नोक्त २० कषायों में किसी के साथ मिलाकर विधिवत् उत्कारिका बनाये।
- वन्धु
१. एला २. हेरेण्का ३. शतपूषा  
 ४. कुस्तु-म्बुरु (धनिया) ५. कुस्तु-म्बुरु (धनिया) ६. कुष्ठ  
 ७. दालचिनी ८. दालचिनी ९. मरवक (मरुआ)  
 १०. आग ११. गुणलु १२. एलवाटुक  
 १३. श्रीवेष्टक (गंधविरेजा) १४. पिपिलव १५. जटामांसी  
 १६. शैतेयक १७. स्वैणेयक १८. सरल (चिड) १९. पारवत पद्धि  
 २०. अशोक रोहिणी २१. ऊपोतिष्ठाती २२. अशोक सदृशा।
- इस उत्कारिका को यथा योग्य मात्रा में, दोषानुसार प्रयोग करें। जो चूर्ण स्वरूप में  
 औषधि नहीं ले सकते उनके लिए आकार मेद, रुचिमेद के कारण भिन्न प्रयोग अपेक्षित है।  
 ९. मोदक योग—इनकी भी संख्या २० है। उपर्युक्त उत्कारिका के कवाच के साथ  
 मिलाकर मोदक विधान से मोदक बनाकर प्रयोग करें। मोदक वटक से बड़ा अंडाकर पदार्थ  
 है, जिसमें करीब १ से २ तोला प्रमाण में दब्य रहता है।
१०. अपूरुष योग—इनकी संख्या १६ है। तिल और शाली चावल चूर्ण को मदनफल  
 विधियों के कवाच से भावना दे। इनसे निर्मित आटे को (सूखाकर पिष्ठ करने वाद रहा  
 हुआ आटा) मदनफलादि ६ दब्बों के कवाच के साथ मिलाकर अपूरुष पद्धति से अपूरुष  
 बनाये।
११. शाष्कुली योग—ये भी १६ हैं। इसमें भी तड्डुल और तिल को मदनफल स्वरस से  
 विष्ठियों के कवाच से भावना दे। इनसे निर्मित कवाच से (इसी कवाच से अपूरुष में अपूरुष बनाते हैं।) मिलाकर  
 शाष्कुली बनावे और बमन में प्रयोग करायें।
- वन्धु
१. सुमख २. सुरस ३. कुठरेक  
 ४. कांडीर ५. कालमालक ६. पणिसिक (ये सब तुलसी के प्रकार हैं।)  
 ७. क्षवक (नक छिकनी) ८. गुजन ९. गुजन  
 १०. कासमर्द ११. भुगराज १२. पोटा (काश)

१३. इक्षुबालिका      १५. कालंकतक      १६. दंड (तुण प्रकार)
१६. परका।

**षाड़वादि योग—**इनकी संख्या १० है। बदर (बेर) के

१. षाड़व      २. राग (आचार)      ३. तेह

४. मोदक      ५. उत्करिका      ६. तर्पण

७. पानक      ८. मासरस      ९. चूष और

१०. मध्य के साथ मदनफल पिण्डलियों का प्रयोग वर्मनार्थ करें।

### २. जीमूतक के वामक योग

१. अच्छे भूमि में उत्पन्न रस, गुण, वीर्य से समृद्ध जीमूतक के पुष्टों से शीर सिद्ध कर उससे वर्मन करावे।

२. फल उत्पत्ति के तुरन्त बाद उन्हें लेकर उनसे सिद्ध दूध का प्रयोग करें।

३. फलों में रोमोत्पत्ति होने के बाद उन्हें लेकर उनसे दूध सिद्धकर उसकी मलाई का प्रयोग करें।

४. इस सिद्ध दूध से वही बनाकर बधिसर से वर्मन करावे।

५. फल को सूखाकर, चूर्ण बनाकर इस चूर्ण का १ शुचित मात्रा में (२ तोला) दूध के साथ प्रयोग करें।

६. फल को सूखाकर, चूर्ण बनाकर इस चूर्ण का १ शुचित मात्रा में (२ तोला) दूध के गजयक्षमा में जीमूतक फल के चूर्ण को सुरामण्ड में मिलाकर १४ घंटा तक संधान कर, विधिवत् प्रयोग करें।

७. अन्य द्रव्यों के साथ योग—अन्य द्रव्यों के साथ जीमूतक के प्रयोग से कुल ११ योग कहे हैं। वे इस प्रकार कहे हैं।

१. कोरिंदर      २. कर्बुदार      ३. नीप      ४. विठ्ठल

५. निंबी      ६. शापापुष्पी      ७. सदापुष्पी      ८. प्रत्यक्षपुष्पी

९. यस्टीमधु      १०. गुड्डुचि      ११. निन्जे      १२. कुटज इनके क्षय के साथ प्रयोग करें। इन सबको कषाय योग कहा जा सकता है।

१३. अमरकथादि कषाय के साथ योग—इनकी संख्या सात है। नीचे उल्लेखित आरवथादि सात औषधियों में से किसी एक के क्षय के साथ के साथ योग जीमूतक का वर्मनार्थ प्रयोग करें।

१. आरवथ      २. कुटज      ३. स्लादु कंटक

४. पाठा      ५. पाटला      ६. गुंजा

७. मूर्वा—ये योग नित, कफ तथा ज्वर में प्रयोज्य हैं।

८. बत्तिक्रिया के योग—वर्ति के योगों की संख्या आठ है। पक्व जीमूतक फल २

भाग लेकर, कोविदारादि आठ द्रव्यों से ११ बार पृथक्-पृथक्, परिस्थावित करें। फिर उसी कषाय से जीमूतक फल के तीसरे भाग को पीस कर कोल मात्रा में (वर्ति बनाकर) प्रयोग करें।

यहाँ सांकेतिक है। वर्णन स्थान में मात्रा योग कह कर, अध्याव संगति में 'वर्तियोग' कहा है। कोले प्रमाण की वर्ति बनाकर उनका वर्तिवत् प्रयोग करना भी संगत है।

६. जीवकादि के साथ योग—इनकी संख्या चार है। जीवक, क्रष्णक, इक्षु तथा शतावरी इन चार द्रव्यों के साथ पृथक्-पृथक्, जीमूतक सिद्ध शीर से धी तैयार कर इसका मदनफलता दि क्षयों के साथ विधिवत् सेवन करावे। यह उत्तम वामक घृत है।

७. घृत वे साथ योग—घृत के साथ योग एक ही है। जीमूतक सिद्ध शीर से धी तैयार इस तरह जीमूतक के कुल ३८ योग होते हैं।

### ३. ईश्वाकु के वर्मन योग

१. शीर योग—इनकी संख्या आठ है। ये निनालिखित प्रकार के हैं।

२. पुष्परहित ईश्वाकु के प्रवालों को (नये पत्तों को), मुष्टिप्रमाण में लेकर एक प्रस्त्य (६४ तोला) दूध में पकाकर दूध सिद्ध करें। पित्त भूषिष्ठ ज्वर में वर्मनार्थ इस दूध का प्रयोग करें।

३. ईश्वाकु के फूलों से दूध सिद्ध कर पेय बनाकर पिलावे।

४. गोमश ईश्वाकु फल के सिद्ध दूध से मलाई निकालकर प्रयोग करें।

५. ईश्वाकु फल की मज्जा से दूध सिद्ध करें। इस दूध से दही बनावे। यह सकफ कास रोनस और स्वरभेद में दे।

६. ईश्वाकु फल की मज्जा से दूध सिद्ध करें। इनके द्वारा डालकर सिद्ध दूध उरस्य कफ, गंडमाला तथा रलीपद में प्रयोग करें।

७. बकरी के दूध में ईश्वाकु बीजों को भावित कर सिद्ध दूध विष, गुल्म, उद्वर्ग्य और गंडमाला तथा रलीपद में प्रयोग करें।

८. सुरामंड और लक के योग—ये तीन योग हैं।

१. पक्के तुए ईश्वाकु फलों को सुरामंड में मिलाकर पिलावे।

२. ईश्वाकु फल मज्जा को मल्तु के साथ मिलावे।

३. इसी प्रकार से सिद्ध तक में मधु और सेंधव मिलाकर पिलावे।

४. घेय योग—मदनफल के सद्दा इसका भी घ्रेय (सूखकर वर्मन कराने योग्य) योग है। ईश्वाकु के फलों के रस को सूखाकर इसका चूर्ण करें, यह चूर्ण पुष्पमाला पर दुरुक दे।

५. तैल तथा घृत योग—इसमें प्रत्येक का एक योग है। ईश्वाकु सिद्ध तेल और धी का यथावत् सेवन करावे।

६. वर्धमान योग—इनकी संख्या ४ है। इसमें मदनफलादि छः। वामक द्रव्यों के वकाथ के साथ ईश्वाकु बीज ५० से प्रारंभ कर क्रमशः १० से बढ़ाकर १०० बीजों तक ले जाकर दिया जाता है। अर्थात् मदनफल के वकाथ के साथ ५० बीज, जीमूत वकाथ के साथ ५० बीज, ईश्वाकु वकाथ के साथ ७० बीज, धामागर्व वकाथ के साथ ८० बीज, कुट्टज वकाथ के साथ ९० बीज और कृतवेधन वकाथ के साथ १०० बीज मिलाकर प्रयोग करें। यह कल्पना भी संदिग्ध है। यहाँ चरक में आसुत और अशर्त ऐसे को पाठ है। आसुत के अनुसार वकाथ में सधान कर आसुत बनाकर दे। इसमें १० बीज से प्रारंभ कर ५० तक वर्धमान प्रयोग है।

७. कषाय योग—इनकी संख्या १ है। इनमें  
 १. यष्टीमधु २. कोविद्वार ३. कुर्बुद्वार  
 ४. नीप ५. विडुल ६. बिंबी  
 ७. शणपुष्णि ८. सवपुष्णि ९. प्रत्यक्षपुष्णि के वकाथ के साथ अलग-अलग वमन में प्रयोग किया जाता है।

८. बर्ति योग—बर्ति योगों की संख्या ८ है। इनमें यष्टीमधु छोड़कर शेष आठ द्रव्यों के वकाथ के साथ ईश्वाकु को अलग-अलग सिद्ध कर बर्ति बनाये। इसका प्रयोग मदनफलबर्ति के सदृश है।

९. अबलेह योग—अबलेह योग ५ है। बृहत्समूल के द्रव्यों के (बेल, गंभारी, पाटल, अग्निमथ, श्योनाक) वकाथ के साथ अलग-अलग ५ अबलेह बनावे। अबलेहथ ईश्वाकु बीज एक अंजली (४ पल = १६ तोला) लेना चाहिये और ८ गुना वकाथ के साथ पकाकर चतुर्थांश शेष रखें। इसमें फाणित १४ भाग डालें, धी १ भाग, ईश्वाकु बीज १ भाग, धामागर्व १/२ भाग, जीमूतक १/२ भाग, कृतवेधन १/२ भाग, कुट्टज १/२ भाग डालकर विधिवत् लेह तैयार करें।

१०. मंथ योग—एक है। कफ ऊंचर, कास, कंठरोग, तथा अरुचि में ईश्वाकु के रस से भावित सत्तु को पिलाये।

११. मांसरस योग—ईश्वाकु के फल की मज्जा लेकर उसके सम भाग मांस मिलाकर २० तो. पानी डालकर एक चतुर्थांश ५ तोला शेष अनुकूल वमनार्थ पिलावें। यह वमनार्थ पिलावें। इस तरह ईश्वाकु के कुल ४५ वमनयोग होते हैं।

धामागर्व के वमन योग

१. धामागर्व के पत्तनव योग—इनकी संख्या १ है। वमनुतः ये भैषज्य कल्पना के अनुसार गुटिका योग है। चरक ने इन्हें पल्लव (पत्र) के योग कहा है। धामागर्व के पत्तों को लेकर उनका स्वरस निकाल, इनसे गुटिकाएं बनाये। इनका प्रयोजन के अनुकूल कोविद्वारिदि औषधियों के वकाथ तथा यष्टीमधु वकाथ के साथ प्रयोग करें।

२. क्षीरपत्तक योग—इनकी संख्या ४ है। जीमूतक कल्प में जैसा कहा है उसी प्रकार के योग भी बरते। अर्थात् धामागर्व के पुष्णों से सिद्ध क्षीर, फल से सिद्ध क्षीर, तथा रोमश फल का सिद्ध क्षीर और फल दूषण को सूखाकर तत्सिद्ध क्षीर का वमन में प्रयोग करें।

३. सुरायोग—यह १ है। सुरासव के साथ धामागर्व को मिलाकर उसको वमनार्थ दे।

४. कषाय योग—इनकी संख्या २० है। धामागर्व में से बीज निकाल कर उसमें गुड़ भर दे। यात्मभर तक ऐसा रखकर प्रातः काल उसे यष्टीमधु वकाथ, तथा कोविद्वारिदि वकाथ, और जात्यादि ११ औषधबकार्यों के साथ (यथानुकूल) वमनार्थ पिलावें। जात्यादि वकाथ निचे कहे गये हैं।

जाती आदि ११ वकाथ—

- १. जाती (चमेली)
- २. जाविनी
- ३. हल्दी
- ४. चोरक
- ५. कुशचीर (श्वेत पुनर्नवा)
- ६. पहासहा (माषपणी)
- ७. हैमवती (बचा)
- ८. रक्त पुनर्नवा ११. कासमर्दि ।
- ९. विम्बी
- १०. कल्पक योग—कल्प योग एक है। धनिया और तुंडुक के युष के साथ धामागर्व के कल्प का वमन में प्रयोग करें। इसे युष-शौण्य भी कहा जा सकता है।
- ११. शार्किद्वारस के योग—इनकी संख्या १२ है। धामागर्व दूध की कोल प्रमाणा (बेर जितनी) बर्ति बनावे। इसे १ अंजली प्रमाण गोबर के रस से प्रयोग करें। इसी तरह पृष्ठत् (हरिणप्रेद) क्षष्व (नीति अंडकपीष का हरिण), कुरंग (चंचल हरिण), अश्वतर (चंचल), गोकर्ण (गोमुखी मूगा), रासभ (गवहा), हरिण, बकरी, उवंदस्त्र (चार दांतबाला मूग विशेष या कुद्र व्याघ्र) भेंड और कूट इनके शकुदस के साथ प्रयोग करना यह शकुदस की कल्पना है।
- १२. अब योग—भात के साथ मिलाकर धामागर्व दूधिं और हड्डोग में दे।
- १३. ब्रेय योग—यह १ है। पहले जैसा ही—धामागर्व के दूर्ज को उसी के स्वरस से भावना देकर बारीक दूर्ज कर उसे कमल पुष पर बुरक दे। रोगी को मांसरस, दूध, यवागु आदि दूब पिलाकर कमल सुंधाकर वमन करावें।
- १४. अबलेह योग—ये १० संख्यांक हैं। धामागर्व वकाथ में निम्नलिखित १० में से किसी एक औषधि का प्रक्षेप कर, शर्करा, मधु, गिलाकर विधिवत् लेह तैयार करें। यह हृदयबाहु, कास, पिलापकोप, कफविकार में मुखोद्वक अनुपुन (सुखोष्ण जल) के साथ उपयुक्त करें।
- १५. वकाथ में प्रक्षेप द्रव्य—
- १. जीवक २. कृष्णपक ३. शतावरी ४. आत्मगुप्ता (कौच)
- २. वीरा ४. काकोली ५. श्रावणी (मुंडी) ६. मेदा
- (क्षीरकाकोली) ७. महामेदा ८. मुदुलिका ९. घृत योग—यह १ है। धामागर्व से विधिवत् सिद्ध क्षीर से धी निकाल कर उसे मदनफलादि द्रव्यों के कल्पक से सिद्ध कर वमनार्थ दे।
- १०. कूटज के वमन योग—(वक्तसक के योग)
- ११. कषाय योग—इनकी संख्या १ है। योग्यकाल में कुटज फलों (इंद्रधनु) का संग्रह कर इन्हें सुखा ले। इसके दूषण को अंतर्खमुष्ठि प्रमाण में—कोविद्वारिदि आठ कशाय और यष्टीमधु कषाय से अलग-अलग भावना देकर इनका वमनार्थ प्रयोग करें। यहाँ भावना का

मातलब है कि इंद्रियों में क्वायथ इतना डाले कि वे क्वायथ में डूबते रहें। गतधर घिगोकर दूसरे दिन उसे हाथ से मासलकर क्वायथ छान ले। यह क्वायथ प्रयोज्य है।

२. चूर्ण योग—ये पाँच हैं। इंद्रिय चूर्ण को अर्क दूध की आठ दिन तक भावना देकर उनका वर्मनार्थ प्रयोग करें। इसी तरह जीवक क्वायथ, जीमूतक फल, ईश्वाकु और जीवती के क्वायथ से भावना देकर वर्मन में उपयोग करें।

३. सालिल योग—सरपृष्ठ से सिद्ध जल वास्त्रपथु जल, तथा लवण जल के साथ इंद्रिय व क्वायथ का प्रयोग सालिल योग है। ये उपयुक्त तीन संज्ञाएँ कहे हैं।

४. कृशराय योग—यह एक है। वर्तसक (इंद्रजव) कृशराय में (खिचड़ी) डालकर, खिचड़ी खिलाकर वर्मन करावे।

५. कृतवेधन (कोशातकी) के वर्मन योग

१. शीर योग—इनकी संख्या चार है। ये पहले जीमूत, धामार्गव के शीर योग के समान सिद्ध किये जाते हैं। अर्थात् कोशातकी के फूल, फल, लोमशफल शुष्कचूर्ण से दूध सिद्ध कर प्रयोग करें, अथवा दूध, मलाई, दृष्टि, दधिसर का प्रयोग करें।

२. सुरा योग—जीमूतक सुरा योग में जो विधि बनाई है उसी प्रकार से कृतवेधन सुरा का प्रयोग करें।

३. क्वायथ योग—क्वायथ योग बाईंस है। कृतवेधन एक या दो फल लेकर शुष्कचूर्ण कर कोशिदारि ८ क्षाय, यस्तिमधु क्षाय, और आरवध, चुक्षक, स्वादु कंटक, पाता, पाटला, शार्गेष्टा (गुंजा) मूली, सप्तपर्ण, नक्तमाल, पितृमई, पटोल सुपवी और गुड़ची इनके क्वायथ के साथ प्रयोग करें। इस तरह कोशिदारि ८, यस्तिमधु १ और आरवधादि १३ च्वायथ मिलाकर कुल २२ योग होते हैं।

४. पिच्छा योग—ये दस हैं। पिच्छा का अर्थ है पिच्छला, तुबाववाला द्रव्य। शरीर में भी पिच्छा धारु होती है। तुबाव युक्त चिकने द्रव्य के साथ प्रयोग करना पिच्छा योग है।

शाल्मली मूल आदि ऐसे द्रव्य हैं जो पिच्छा-युक्त होते हैं, उनके साथ मिलाकर तुबाव-युक्त बनाकर ये योग दे। इन दस द्रव्यों के नाम इस प्रकार हैं—

१. शाल्मली मूल २. शाल्मलकल्क (शाल्मली भेद) ३. भद्रपर्णी (गंभारी)  
४. एलापर्णी (नागबला) ५. उपादिका (पोई) ६. उद्दालक (बनकोदी)  
७. धन्वन (थामन) ८. राजादन (खीरनी) ९. उपचित्रा (दंती)  
१०. गोपी (सारिवा)।

चूत योग—कृतवेधन से दूध सिद्ध करें। इस सिद्ध दूध से मदनफलादि द्रव्यों के साथ चूत सिद्ध करें। इसका प्रयोग वर्मन में करें।

६. बतीक्रिया योग—इनकी संख्या छः है। मदनफल बती के समान ही यह बनाई जाती है, और इसका प्रयोग भी पूर्ववत है। बती—

१. मदनफल २. जीमूतक ३. ईश्वाकु ४. धामार्गव ५. कुटज  
६. कृतवेधन इनके क्वायथ के साथ पाक कर, यादा होने के बाद वर्ति बनाकर वर्मन में प्रयोग करें।

प्रयोग करें।

७. लेह योग—इनकी संख्या आठ है। कोशातकी ५० संख्या में लेकर कोविदारादि ८ द्रव्यों के क्वायथ के साथ पृथक्-पृथक् पाक कर विधिवत् लेह तैयार करें। इसमें एक भाग को शातकी और आधा भाग मदनफलादि द्रव्यों को मिलाकर लेह तैयार करके उपयोग करें।

८. मांसरस योग—इसकी संख्या सात है। मदनफलादि सात क्वायथों के साथ कोशातकी मिलाकर, समान भाग मास मिलाकर मांसरस विधि से सिद्ध कर प्रयोग करें।

९. इस्तुरस योग—इस्तुरस के साथ कोशातकी चूण सिद्ध कर वर्मनार्थ प्रयुक्त करें।

१०. विवेचन—इस तरह मदनफलादि द्रव्यों के कल्प वर्मन में प्रयुक्त किये हैं जिनका रोगी स्वभाव, आहार, विहार, पर्य, दोष इत्यादि के अनुसार प्रयोग अपेक्षित है। इनमें—

मदनफल—इसके क्षाय योग १, मात्रायोग ८, पायादि ५, ब्रेय १, फागितादि १, वर्ति ६, लेह २०, उत्कारिका १०, मोदक २०, अपूष १६, शाकुली १६, पाडवादि १०, ऐसे कुल १३३ कल्प हैं।

११. जीमूतक—के शीर योग ६, सुरामंड १, अन्य योग १२, आरवधादि क्वायथ के ५, वर्ति ८, जीवकादि ४ तथा धृत १ ऐसे कुल ३१ योग हैं।

१२. झैश्वाकु—के शीर पाक ८, सुरामंड, मस्तु तक के ३, ब्रेय १, पतल १, तैल १, वर्धमान ६, धृत १, यस्तिमधु आदि क्षाय के १, बतीक्रिया ८, लेह ५, मंथ १, मांसरस १,

योग इस तरह कुल ४५ योग हैं। धामार्गव—के पतलब (गुटी) योग १, शीर योग ४, सुरा १, क्षाय १०, क्षाय २०, कल्क १, शाकुद्रस १२, अन्न (भात) १, ब्रेय १, लेह १०, धृत १, इस तरह कुल ६० योग हैं।

१३. कुटज—के क्षाय १, चूर्ण ५, जल के ३, कृशराय का १ योग ऐसे कुल १८ योग हैं। कृतवेधन के—शीरपाक ४, सुरा १, क्षाय २२, पिच्छायोग १०, धृत १, वर्ति ६, लेह ८, मांसरस ७, इस्तुरस १ योग ऐसे कुल ६० योग हैं।

१४. इस तरह कुल वर्मनार्थ ३५५ योगों का प्रयोग किया जा सकता है। रोगावस्थानुसार चरकोक्त कातिपथ वर्मन संदर्भ

चरक ने वर्मन का व्यापक रीति से भिन्न-भिन्न रोगों में प्रयोग किया है। उनको तालिका में विवरित किया जाता है।

### तालिका

क्र. अधिकार	वर्मन विधय	संदर्भ
१. जर	कफ प्रधान, आम शय में दोष उत्किलाद्य हो और वाम्प हो तो	चि. ३-१४६
२. जर	बहु दोष में मदनफल पिपली की लवण जल के साथ देकर वर्मन करावे।	नि. ३-२२७, २२८
३. जर	विषमज्वर में स्नेहन रखें द्वारा कर	३-३००, ३०१

स्रू. अधिकार	वमन विषय	संदर्भ
४. रक्तपित	अधोमाग रक्तापित जहाँ दोष बलवान हो और आतुर बल अच्छा हो वहाँ मदनफल तथा कुट्टज द्वारा वमन। वालगुल्म में कफ बढ़कर यदि अग्निमांध, तंदा, अरुचि गौरव हल्लास करे तो वमन से उसका निहिण करें।	चि. ४-५५, ५६ चि. ५-२१
५. गुल्म	कफ गुल्म में अग्निमांध घंट-बेदना, गौरव, कोछ स्तंभमित्य, उत्क्लेश, अरुचि, हो तो वमन करावे। दोष बलवान हो, आतुर स्थूल हो तो संशोधन। संशोधन में उर्ध्व मलापनयन।	चि. ५-२१ चि. ५-४९ ५-१३७
६. प्रमेह	एलेमोत्तर कुछ में वमन, सामान्य चिकित्सा, बहुदोष में संशोधन।	चि. ७-४० चि. ७-४१
७. कुछ	दोषोत्तरलेश में वमन करावे। वमनार्थ कुट्टज, मदन, पटोल, निवरस, यस्तिमधु और मधु का निर्देश। दोषाधिक्य में स्नेहन, स्वेदन और मुड़ वमन।	चि. ७-४१ चि. ८-४१, ११६ चि. ८-४१
८. राजयक्षमा	यक्ष्मा में कफ प्रधान ज्वर हो और कफ प्रसेक हो तो वमन मदनफल दूध का उपयोग। कफपितोद्धव में प्रथम वमन करावे। हृदय, मन और सौतों में मल के द्वारा आवरण हुआ हो तो तीक्ष्ण वमन दे। कफज अपस्मार में वमन। विसे भोजन का विच्छ भ हुआ हो, विदग्धाजीर्ण हो, मुख्यसेक, रुजा, दाह, अरुचि, गौरव, तथा आमलक्षण हो, उसे गरम जल मिलाकर वमन करावे। गरम पानी में मदनफल, पिपली या सरसों का चूर्ण डालकर वमन करावे।	चि. ८-११७, ११८ चि. १-२६ चि. १०-१४ चि. १०-१५ चि. १५-७३, ७४ चि. १५-७३, ७४
९. उन्माद	कफपितोद्धव में प्रथम वमन करावे। हृदय, मन और सौतों में मल के द्वारा आवरण हुआ हो तो तीक्ष्ण वमन दे। कफज अपस्मार में वमन।	चि. १०-१४ चि. ११-११७, ११८
१०. अपस्मार		
११. ग्रहणी		

स्रू. अधिकार	वमन विषय	संदर्भ
१२. अपस्मार	हिक्का-श्वास में कफवर्धन करावे। कर स्त्रिय भात में कफवर्धन कर वमन करावे।	चि. १७-७४, ७५, ७६ चि. १७-७४, ७५, ७६
१३. ग्रहणी	हिक्का-श्वास में अभ्यंग स्वेद कर स्त्रिय भात में कफवर्धन कर वमन करावे। द्रव्य-पिपली, मधु, सैंधव। नवज्वर तथा आम दोष युक्त श्वास में कास अधिक हो तो वमन।	चि. १७-१७० चि. १७-१७०
१४. अपस्मार	श्वास में स्वरभंग हो तो वमन। पेतिक, सकफ कास में धी पिलाकर वमन। द्रव्य मदन फल, गंभीरी, यस्तिमधु बचाय। बलवान कफ कास में प्रथम वमन। आमाशयोद्धव है अतः वमन द्रव्य-जीभपतक करत।	चि. १७-१७१ चि. १८-८३
१५. ग्रहणी	कफज छाई ते वमन प्रशस्ति। पित्तज छाई में पित्त यदि कफाशय में—कुञ्जभाराशय में हो तो वमन। कफानुग्रहण विसर्प में वमन और तिक्त द्रव्य सेवन।	चि. २०-३४ चि. २०-३६
१६. ग्रहणी	कफपितोद्धव में वमन करावे। वमन का तर्पण देकर लावण जल से वमन। द्रव्य-मदन, मधुक, तिंब, कुट्ज फल, पटोल, पिपली, इंदूजव। एकत्रिप्लोत्तर-ग्राथिविसर्प में रुक्षण, लंघन, सेक, प्रदेह, सिरमोक्षण और वमन करावे।	चि. २१-५१, ५२ चि. २१-५१, ५२
१७. ग्रहणी	कफनुग्रहण, संभ, अरुचि, अविपाक, छाई, आलस्यादि लक्षण में वर्धी और मधु का तर्पण देकर लावण जल से वमन। भक्तोपरोद्धज तृष्णा, स्नेहजन्य तृष्णा हो तो वमन। बलवानों में पद्याम्बु या गरम पानी से वमन।	चि. २२-५२, ५३

क्र. अधिकार	वमन विषय	संदर्भ
३१. विष चिकित्सा	सामान्य चिकित्सा-वमन।	चि. २३-२५
३२. विष चिकित्सा	लक् मांसगतावस्था में रक्त-	चि. २३-४५
३३. विष चिकित्सा	मोक्षण कर वमन।	चि. २३-१२३
३४. विष चिकित्सा	आमाशयगत विष में वमन।	चि. २३-१७९
३५. विष चिकित्सा	विष में कफज लक्षण हो तो वमन।	चि. २३-१८०
३६. मदात्यय	हृदय विदाह या कफ्रसेक में वमन।	कफज मदात्यय में वमन।
३७. निमर्मिय	उदावर्ति में अन्य चिकित्सा के बाव ऊर्ध्वानुलोमन (वमन) दे।	चि. २४-१६४ चि. २६-१६
३८. निमर्मिय	हृत्संथं, शिरोगौरव, अंगोरव उद्गर, आनाह हो तो वमन।	चि. २६-२६
३९. निमर्मिय	कफज हृद्रोग में वमन।	चि. २६-१६ चि. २६-१५०
४०. निमर्मिय	पीनस में-कफोत्तलेश हो तो वमन दे।	चि. २०-२१९
४१. योनिव्याप्त	स्तन्यदोष में सामान्य चिकित्सा में वमन।	द्रव्य-वच, प्रियंगु, यष्टि, मदन-फल, कुटज, सर्षप, निब, पटोल।

### वमन का कार्यक्रम

वमनावधियों का वामक कार्य किस प्रकार संपन्न होता है यह एक जटिल विषय है।

वमन द्रव्यों की कार्य करने की पद्धति खिन्न-खिन्न प्रकार की है। प्रथम इनके बारे में जो

ओषधियां अपने वीर्य द्वारा हृदय को जाकर सभी धमनियों में प्रसूत हो कर, सूक्ष्म तथा स्थूल सभी खोतों में पहुँचती हैं, और वहाँ उष्ण गुण से दोषों का विलयन करती है, तीक्ष्ण गुण से जिस तरह स्थिरांश पात्र में मधु नहीं चिपक सकता उसी तरह बिना चिपके, अपुष्पकण भाव (सूक्ष्मता से खोतों में स्थवरण करते हुए) के द्वारा आमाशय में आती है, और अतिन वायु की भूयित्ता के कारण ऊर्ध्वर्धान हर प्रभाव के कारण उन के द्वारा प्रेरित होते हुए उपर फेंके जाते हैं और वमन होता है।<sup>१०</sup> इसमें निम्नतात्त्विक अवस्थाएं अध्ययनीय हैं।

१. औषधियों अपने वीर्य से हृदय को उत्तोलित करती हैं। और दोषों का उत्तोलन और खिन्न-खिन्न करती हैं, और वहाँ उष्ण गुण से दोषों का विलयन करते हुए इस तरह छिन्न द्वारा स्थान अनुलोमन करती है, तीक्ष्ण गुण से जिस तरह स्थिरांश पात्र में मधु नहीं चिपक सकता उसी तरह बिना चिपके, अपुष्पकण भाव (सूक्ष्मता से खोतों में स्थवरण करते हुए) के द्वारा आमाशय में आती है, और अतिन वायु की भूयित्ता के कारण ऊर्ध्वर्धान हर प्रभाव के कारण उन के द्वारा प्रेरित होते हुए उपर फेंके जाते हैं। और वमन होता है।<sup>१०</sup> इसमें निम्नतात्त्विक अवस्थाएं अध्ययनीय हैं।

२. धमनियों में रसरक्त खोतों में (capillaries and cells) पहुँचकर कार्य करती हैं।

४. उष्ण तीक्ष्ण गुण से दोष विलयन और छेदन का कार्य।
५. सूक्ष्म गुण से तथा अपुष्पकण भाव से खोतोंपुङ्कों द्वारा सवित होकर आमाशय की ओर दोषों का लाना।
६. अनिवायु भूषिष्ठता से ऊपर की ओर जाता।
७. ऊर्ध्वर्धान हर प्रभाव से तथा उदानवायु से प्रेरित होकर आमाशय से ऊपर दोषों का फेंका जाना।

८. ऊर्ध्वर्धत अवस्थाएँ एक के बाव एक क्रम से होकर वमन होता है यह सामान्य अर्थ है, तथापि यह क्रम न समझकर खिन्न प्रकार का प्रभाव समझना असंगत न होगा। अर्थात् वमन द्रव्य कुछ हृदय को उत्तोलित करके, कुछ धमनियों को उत्तोलित कर, तथा कुछ खोतों के सामने लक्षण करते हैं ऐसा इसका अर्थ होगा। चक्रपाणि दीका में कहते हैं कि औषधियों का धमनी में जाना वीर्य से है, न कि प्रत्यक्ष द्रव्य से। इसका अर्थ वे उष्ण तीक्ष्ण गुण से धमनियों को उत्तोलित करते हैं ऐसा है। फिर विष्वदनादि प्रक्रिया प्रत्यक्ष होती है ऐसा कहा है। परिप्लावन का अर्थ इत्सत्तः जाना ऐसा कहा है। यह भी प्रत्यक्ष घटना है। इस तरह इनका प्रभाव उत्तोलनात्मक तथा साक्षात् संपर्क ऐसा हो प्रकार का अधेष्ठित है।

९. वमन का मुख्य कार्य आमाशय पर और कफ पर होता है। कफ के शोधन के लिए वमन प्रमुख उपक्रम है। वह सर्व प्रथम आमाशय में पहुँचकर सभी विकृत कफ को ऊपर फेंक कर शोधन करता है और आमाशय में कफ का शोधन कर उसे जीतने पर सभी कफों को जीता जाता है। जैसे किसी खेत में छोटे-छोटे आलवालों में खूब पानी रहने से पानी से सड़नेवाले चावलों को बचाने का श्रेष्ठ उपाय खेत के बन्धन को नोडना यही है, जिससे छोटे-छोटे आलवालों से भी जल वह जाएगा शेष जल खूब जायेगा, और चावलों का रक्षण होगा वैसे ही वमन से प्रमुख स्थान के कफ का शोधन होने पर अन्य कफ स्वयं प्रशामित होते हैं।<sup>१०</sup> चरक ने स्थानस्थ तथा मार्गिग ऐसे दो धातु माने हैं। वैसे ही दोष भी स्थानस्थ दोष अपने आप मार्गिग दो प्रकार के होते हैं। वमन से नाराग दोष का नियमन होने से स्थानस्थ दोष अपने आप नियंत्रित हो जाते हैं।

१०. स्नेहन और स्वेदन से क्लेदन तथा दोषों का द्रवीकरण करने के बाव प्रयुक्त वमन (शोधन) दोषों को शरीर के बाहर निकाल देता है जिससे मूलतः शोधन होता है और रोगों की पुनः प्रवृत्ति नहीं होती। इसीलिये शोधन चिकित्सा की प्रशस्ति सामी जाती है।

११. स्नेहन और स्वेदन की कार्यक्रम प्रतिपादन करते हुए यह स्मर्त किया गया था कि इनसे शरीर के क्लेद का आधिक्य होता है, इन क्लेद के तत्वों में दोष घुल जाते हैं इसी समय वमन के उष्ण तीक्ष्णादि प्रयोग से तथा अपुष्पकण भाव से जे आमाशय में पहुँचने पर आमाशय से निकाले जाते हैं। यह चावल समरणीय है कि वमन से केवल आमाशय का ही शोधन नहीं होता बल्कि सम्पूर्ण शरीर के दोषों का शोधन होता है। रसरक्त गत मोह द्रव्यों का संहेपन पूर्व, स्नेहोपानां दिन तथा वमन के तुरन्त बाव विश्वेषणात्मक पद्धति से प्राप्त प्रमाण का अनेक आतुरों में अध्ययन कर यह स्पष्ट देखा गया कि वमन पूर्व कमाल मर्यादा तक पहुँचे हुए स्नेहद्रव्य वमन के तुरन्त बाव ग्राहक अवस्था में आ जाते हैं। यह इस बात का संकेत करता है कि रसरक्त से उनका अदृश्य होना संभवतः कोष्ठाभिमुखता के कारण ही

‘हो। पिछे भी इस विषय पर गवेषणा का क्षेत्र अभी विस्तृत है इसमें संदेह नहीं है। बमन का आधुनिक विज्ञान के अनुसार विचार कर इसका आगे विचार किया जाएगा।

आधुनिक शास्त्र में बमन का परिचय संक्षेप में देखेंगे। वामक द्रव्यों को एमेटिक (Emitic) कहा जाता है और बमन की प्रक्रिया को ऐमेसिस (Emesis) कहा जाता है। इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि—“वामक द्रव्य वे हैं जो बमन करते हैं। वह प्रायः उत्तरेश, लालात्ताव में स्वेद प्रवृत्ति, वायुवह स्रोतों तथा अन्ननालिका में कफक्षाव के साथ होता है। बमन प्रवृत्ति में नाड़ी की गति द्रुत होती है, और श्वास अनियमित होती है। बमन के समय आमाशय का ऊर्ध्वद्वार (हाईड्रिक द्वार cardiac end) खुल जाता है, और अधोद्वार (Pyloric end) बंद रहकर जोरदार संकोच विकास की गति करता है। इसी समय उदर की पोशाया और महा प्रचीरा पेशी (Diaphiram) की संकोचन गति होकर आमाशय के द्रव्यों को ऊपर फेंका जाता है। इन सब गतियों का नियमन ‘बमन नियंत्रण केंद्र’ से किया जाता है।

**वार्षिक विद्या**—वासनोंघषि उपचालित एकाग्र से काम करती है।

**१. स्थानिक या प्रत्यावर्तक वामपक**—स्थानिक वामपक द्रव्यों को ही प्रत्यावर्तन कारक वामपक (Reflex Emittics) कहते हैं। इन्हें आमाशयिक वामपक (Gastric Emitics) भी कहा जाता है। जब आमाशय में वमन द्रव्य पहुँचते हैं तो वे आमाशय की स्थलेष्मल कला (Gastric Mucosa) को उत्तेजित करते हैं, और वहाँ से वैग्नस और स्पिरिथिटिक नर्व को उत्तेजित करते हैं—ये नाड़ियाँ उत्तेजना के सदेश को लेकर मस्तिष्क में रहने वाला वमन केंद्र को पहुँचाते हैं, और उत्तेजित केंद्र वमन करता है। यह प्रक्रिया तभी होती है जब द्रव्य आमाशय के अध्याभाग तक (Pylorus) पहुँच जाते हैं। अतएव जब प्रयाप्ति प्रमाण में जल के साथ देते हैं तो जलदी से नीचे पहुँचकर कार्य जलदी होता है।

यहाँ यह स्पष्ट करना संगत है कि आयर्वेद भी हृदय की उत्तेजना और धमनियों की उत्तेजना से वमन कर्म मानता है। यह हृदय संभवतः वमन केन्द्र के लिए प्रयुक्त शब्द है। क्योंकि हृदय, शब्द केन्द्र के लिए संहिता ग्रन्थों से प्रयुक्त हुआ पिलता है। जैसे तत्त्व हृदय, आंतर हृदय, इत्यादि। वमन प्रक्रिया में बारंबार गरम पानी पिलाना, यस्तीप्रथा, केवलियारादि क्वाय पिलाना, लवण जल पिपली इत्यादि का जल पिलाना ये प्रयोग भी इसीलिये वर्णित हैं कि इनसे वमन का कार्य जल्दी संपन्न हो।

इस प्रकार के वमन दव्य-लिंक सलफेट (Zink Sulphate), एलम (Alum-सौराश्ट्री) इमेटीन (Emitine), बाय कार्बोनेट (Bi Carbonate), मस्टर्ड (Mustard-गाई के सदृश दव्य), नमक और गरम पानी ये कहे गये हैं।

**केन्द्रीय वापक द्रव्य**—(Central Emitics)—ये ऐसे द्रव्य हैं जो वमनकद का उत्तेजित कर वमन करते हैं—इनके उदाहरण में अपो मार्फिन, टिजिटेलिस ये द्रव्य हैं। वमन के इन दोनों (स्थानिक और केंद्रीय) प्रवृत्ति के बारे में शारीरिक सिद्धांत निम्नलिखित व्यापक व्यापक के हैं।

वस्त्र की प्रक्रिया में आम राय की पेशियाँ, अनन्तलिका की पेशियाँ, उदर की पेशियाँ, वस्त्र अंतर्गत गोरिलाइट्ट के गतियाँ इनका सूचकार्य होता है। मास्केपेशियाँ का कार्य शिर में

मेड्यूला (Medulla) में रहनेवाले वर्मन केन्द्र के द्वाग उनको उत्तेजना की संवेदना मिलते से होता है। शिर के वर्मन केन्द्र की उत्तेजना आमाशय इत्यादि के अवश्यक से प्राप्त उत्तेजक संवेदना से होती है। इसी तरह एकत्र में यदि कोई विषमता हो तो उनसे भी केन्द्र उत्तेजित होता है। इन तीन तर्बों का आयुर्वेद में इस प्रकार वर्णन है। शिर को एक प्रधान मर्म कहा है, और उसके अधिकांश से जो अनेक लक्षण उत्पन्न होते हैं उनमें लालाकाव जो वर्मन का पूर्वलक्ष्य है वर्णित किया है (च. सि.?)। फिर आयुर्वेद में सभी छातियों को आमाशयोद्धव माना है।<sup>100</sup> जो आमाशय के कार्य का ज्ञापक है। इसी तरह छाति के सभी भेदों में (वातादि) तिक्कास्तोद्धरीण और लवणास्त्रया ये दो विकार कहे हैं जो परिणामत वर्मन के ही बोधक हैं।<sup>101</sup>

वर्मन की गतियों का प्रत्यक्ष प्रयोगः द्वारा अध्ययन किया गया है। बिल्ली पर किये गये प्रयोग में एक-एक गति का विश्लेषण किया गया है। विषमय भौज्य द्वय खिलाकर एपोमार्फिन (वास्तक) जो वर्मनकेन्द्र को उत्तेजित करता है, देकर देखा गया कि वर्मन के कुछ पेरिस्टाल्टिक गति होती है, और पायलोरस तक एक हल्की गति संबहित होती है। इसी समय मध्यभाग से जोरदार गति होकर, डायफ्राम और उद्धरणेशियों की गति के साथ संस्थुक्त होकर आमाशय के द्वयों को अवरनतिका में डाल देते हैं। वर्मन प्रवृत्ति में आमाशय का उर्ध्वभाग तथा अवरनतिका बिल्कुल सांत रहते हैं। मनुष्य में भी इसी प्रकार की गतियां होती हैं। यह देखा जाता है कि वर्मन प्रक्रिया में कुछ लोग इतने सक्षम होते हैं कि उन्हें अप्पकुच्छुता से बर्मन होता है, तो अन्यों को बहुत तकलीफ से बर्मन होता है। (चारक ने वर्मन पूर्व शाशिर बल और प्रकृति की परीक्षा करने को कहा ही है।)

ब्रॅमनकेन्द्र मङ्गल्यांता ओबलतीगोटा के नीचे के भाग में स्थित है। यह श्वास-प्रश्वास केन्द्र (Respiratory centre) के नजदीक ही होता है तथा प्राणी संपूर्णतः पृथक् रहता है। इसके निकट ही लालास्त्राव, मलाविसर्जन, तथा रक्तवाहिनियों की गतियों को नियमन करने वाले कुछ केन्द्र रहते हैं। सभवतः यहा कारण है कि ब्रॅमन के समय लालास्त्राव, रक्तवाहिनियों का विस्फ़कार (उष्णातीक्ष्ण गुण से स्रोतों में दोषों का विलयन, छेदन तथा परिप्लावन हेना) इवासोक्ष्मवास की गति बढ़ना, अनियमित होना ये तोक्षण उत्पन्न होते हैं। प्रायः ब्रामक द्रव्य और विरचन द्रव्य के गुण भी आयुर्वेद ने समान कहे हैं। ब्रामन द्रव्यों से विरेचन व्यापद, भी इनमें मलाविसर्जन केन्द्र का उसके नजदीकी रहना यह कारण हो सकता है। बताइ गई है

बमनकन्द के द्वारा फ्रानक नहूं को सदृश मिलत है, वै कठ, आमाशय, बक्स की पेशियाँ को पहुँचते हैं, और स्वाइनल नव्ह को संदेश मिलते हैं जो उदरपेशियों को पहुँचाती हैं, और क्रेनिअल नर्व (Cranial Nerve) के द्वारा कठ, तालु इनको पहुँचाए जाते हैं। वमन केन्द्र की उत्तेजना मुख्यतया १. आमाशयादि से प्राप्त संवेदन से २. शिर के ही किसी केन्द्र से प्राप्त संवेदन से और ३. रक्त में से विषबाधा होने के कारण होती है। आमाशय के अतिरिक्त अवयवों में ऑक्ट्रा भाग, (Duodenum, Appendix, Jejunum) वृक्क, बीस्ट्रिय, गर्भाशय, पित्ताशय, (Gall bladder), हृदय इनके द्वारा भी वमन केन्द्र उत्तेजित होता है। (आयुर्वेद में विरेचन द्रव्य को वमन व्यापद कहते हैं,) तथा इनके अतिरिक्त मन की भावकृति, ब्राण, रसाना, चक्षु, इत्यादि ज्ञाननेत्रियों के द्वारा संवेदन से भी वमन होता है।

यहाँ स्परणीय है कि आयुर्वेद च्छर्ति में 'द्विष्टर्थका' नामक भेद मनता है। जिसमें कहा है कि जो मन को प्रतीकूल हो ऐसे इव्य, अपविन या गते पदार्थ मढ़े हुए पदार्थ, बीमत्स इव्य, इनको सूचने मात्र से, देखने से या इनके सेवन से (रसना पर) ही छर्ति हो जाती है।<sup>१०</sup>

वमनकेन्द्र को उत्तेजित करनेवाले एपोमाफीन (Apomorphine), इपीक (Ipecac), पिक्रोटोक्सीन (picrotoxine) इत्यादि इव्य का सिरा में दिया हुआ सूचिवेद भी तुरन्त वमन करता है प्राणी के आमाशय और आंत की अलग कर देने के बाद भी एपोमाफीन दिया जाने पर वमन की क्रिया (गतियाँ) देखी गई है।

इसी तरह कठ को यांत्रिक रीति से उत्तेजित कर वमन किया जा सकता है, यह भी तथ्य आयुर्विज्ञान में मान्य है। वामक इव्य के प्रयुक्त मधुरस, तिक्तरस, काषायरस (वाले दत्य) तथा कटुरस के अतिमात्र प्रयोग से वमन होता है ऐसा कहा है। ये सब उद्देश उत्पन्न करते हैं।

संक्षेप में आयुर्विज्ञान के अनुसार आमाशय को उत्तेजित कर वातामाडियों हृषा करते हैं।<sup>११</sup> व्यानवायु के अंतर्गत "प्राय सर्व क्रियास्तिमन्" होने से सभी नाड़ियों की संवेदनाएं और उदानवायु के द्वारा उत्तेजित कर वमन कराना, तथा सीधे वमनकेन्द्र को उत्तेजित कर वमन कराना ये दो प्रकार कहे हैं और इसमें उत्पन्न शारीरि वर्णन किया है। इस संदर्भ में आयुर्वेद की संप्राप्ति देखें।

सुशुत्त कहते हैं कि व्यानवायु और उदानवायु विशुद्धहर सेवन से प्रकृति होकर छर्ति करते हैं।<sup>१२</sup> व्यानवायु के द्वारा उत्तेजित कर वमन कराना, तथा सीधे वमनकेन्द्र को उत्तेजित कर वमन कराना ये दो प्रकार कहे हैं और इसमें उत्पन्न शारीरि वर्णन किया है। इस संदर्भ में आयुर्वेद की संप्राप्ति देखें।

वमनकेन्द्र की उत्तेजित कर वमन कराना, तथा सीधे वमनकेन्द्र को उत्तेजित कर वमन कराना ये दो प्रकार कहे हैं और इसमें उत्पन्न शारीरि वर्णन किया है। इस संदर्भ में आयुर्वेद की संप्राप्ति देखें।

### संदर्भ

१. 'वाचस्पत्य लेखक श्री तारानाथ भट्टाचार्य, पुस्तक ४५७

च. कृ. १-४

२. निहिरणं भजते इति उर्ध्वं भागं वमन संजाकं

च. पा. :-वमन विरेचन संजाक विभजसे: तत्रेचादि। उर्ध्वं मुखेन दोष

च. कृ. १-४

३. अपवर्व नित्तश्लेषाणां बलादृष्ट्वं नयेत् यत्।

च. पा. :-वमन विरेचन संजाक मदनस्यफलं तथा।।

च. कृ. १-४

४. स्थानात् बहिर्नियेत उर्ध्वंभव्योवा मलसर्वय।

शा. प्र. ख. १-८

५. देहे संशोधनं तत्स्यात् देवदाली फसी यथा।।

अथोभाग हरं विरेचनसंजाक। उभयं वा शरीरमल विरेचनात् विरेचनसंजां लभते।।

च. कृ. १-४

६. च. पा.-विरेचन शब्देनेह वमनं विरेचनं च गृह्यते।

यतो वस्थयति कल्पे उथयं वा दोषमल विरेचनात् विरेचनसंजां लभते।

न च वायं दोषमल विरेचनाच्येद विरेचनासंजां, तेन वस्ति शिरोविरेचनयोरपि

विरेचन संजां प्रवृत्तिः।

वतस्त्रवकार सिद्धेयं सज्जा न, न पाचकवत् योगामात्र प्रवृत्ताः, तंत्रकारस्व वमन विरेचनयोरेव योग रूढ़ीं संजां विदधाति, नान्त्राः।

तत्कुतोऽन्यत्र प्रसाक्षिः?॥

च. पा. मू. ४-३ पर

वतस्त्रवकार सिद्धेयं सज्जा न, न पाचकवत् योगामात्र प्रवृत्ताः, पृथाजन्मानो वैतस्त्रवकार सिद्धेयं सज्जा न, न पाचकवत् योगामात्र प्रवृत्ताः, ये चान्येषि रसीरे बहिर्भवाः। परिपक्वास्व वातव: प्रकृतिस्व वातपित्तस्तेष्वाणो ये चान्येषि रसीरे केवित् तिष्ठते भावाः शरीरस्योपयाता योपद्यन्ते, स्वास्तान्मते चक्षमहे।

तत्कुतोऽन्यत्र प्रसाक्षिः?॥

च. शा. ६-१७

७. शरीरजां दोषाणां क्रोषण परमोपयम्।

अ. ह. सू. १-१५

वस्तिस्तिवेकोपनं तथा तैलं घृतं मधुं ॥

च. कृ. ३३-२

८. दोषाः शीणा वृहयेतव्याः। कुपिताः प्रशमयितव्याः।

च. कृ. ३३-२

युद्धोः निर्देतव्याः। समाः परिपाल्याः।

च. कृ. ३३-२

इति सिद्धांतः। प्राधान्येन वमनविरेचने वत्ति निर्हणे दोषाणाम्।

च. कृ. ३३-२

९. डहण-प्रकर्णेण वृद्धः स्वस्याच्चलिताः संशोधनविधिना निर्हितव्या।

च. कृ. ३३-२

१०. डहण-प्रकर्णेण वृद्धः स्वस्याच्चलिताः संशोधनविधिना निर्हितव्या।

च. कृ. ३३-२

११. तत्र सहिता रूपा वृद्धेश्वयः, विलयन रूपा वृद्धिः प्रकोपः तयोः विलयन रूपवृद्धया वृद्धा: दोषाः संशोधनेन निर्हितव्याः।

च. कृ. ३३-२

१२. ...कोपेत्र द्विविधः चयपूर्वकोऽचयपूर्वकश्च।

च. कृ. ३३-२

तत्र चयपूर्वक कोपमागतः संशोधनविधाने शमयितव्याः।..

च. कृ. ३३-२

तस्मादुक्तं प्राधान्येन वमन विरेचने इति।..

च. कृ. ३३-२

१३. तत्कथं दोषाणामिति? उच्यते वायोरापि स्वाशयस्थोभ लक्षणतया विलीनस्य विमार्ग बहुत्युपपत्तम्। ड. मु. चि. ३३-२ पर

च. कृ. ३३-२

१४. निर्हणाधमध्वर्धो मार्गेन्तुलोमनं वमन विरेचने कुर्वतः तस्मात् दोषाणामिति बहुत्युपपत्तम्।

च. कृ. ३३-२

१५. तत्रोज्ञातीस्पासूक्ष्म व्यावायिकारस्योपयानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य...।

च. कृ. ३३-२

१६. रसाः कट्वमलतवणाः संयुक्ताश्चोल्लगत्तरम्।

च. सू. २६-५

१७. देहे—वस्थयाण वमनविधि।

च. कृ. ३३-२

१८. आनेयत्वात् विष्वद्यविति....

अ. द.

१९. शीघ्रताकारित्वं तीर्ण्यात्मम्।

च. कृ. ३३-२

२०. अपुप्रवणभावाद्विति अपुत्तात् प्रवणभावाच्च।

च. पा., च. कृ. १-५ पर

१७. (१) व्याख्या चाहिलं देहे व्याय पाकाय कल्पते ॥ सु. सू. ४६  
     (२) पूर्व व्याख्याखिलं कायः ततः पार्कं च गच्छति । व्याख्या च... ॥

१८. (१) विकाशी विकशत्रेव धातु बंधन् विमोक्षयेत् ॥  
     (२) संबंधस्तु शिथिलान् यद् करोति विकाशि तत् ।  
     विश्लेष्य ओजस्सु धातुभ्यो तथा ऋगुकोदवा: ॥

१९. च.पा.—यच्चात्रोच्यते वमनं यद्यूर्ध्वभागहप्तभावात् ऊर्ध्वर्यति तदग्निवाच्यात्मकत्वा-दिति हेतुवर्णन न युजते, यतः यत्सोपतिकं कार्यं न तत्प्रभावकृत इति व्यपदिश्यते उक्तं हि—“प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते” इति । तत्र यतः प्रभावस्येवे वमनं कार्यम् वाच्यान्वाच्यत्वक्यगुणतया वाच्यान्वाच्यत्वं हेतुरुपदृशयते, न तु वाच्यान्वाच्यत्वस्वर्तीं वमनं हेतुः । तथाहि सति यदन्यदपि वाच्यान्वाच्यत्वक्यगुणं भाग दोषहर्तरं प्रभाव गहितं, तदपि वमनकरं स्वात् । तस्मात्प्रभावगुणतयेव हेतु वर्णनम् ।

२०. वमन इव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमानि आचक्षते अनापाचित्वात् ।

२१. वमन इव्याणां फलादीनां मदनफलानि श्रेष्ठतमानि भवन्ति व्रयनिशत् योगात् शर्तं प्रणीत फलेषु ।

२२. नवयोगः:-कषायेण मानास्त्वर्दो पर्याप्तते ।  
     पंच, फलित चूप्तं द्वीं, श्रेये वत्तिक्रियासु षट् ।  
     विशतिविशतिलेह मोदकोत्करिकाषुचु ।  
     शषुलीपूपयेऽचेवता योगा: घोडश षेडश ।

२३. मदनश्च करहाट इच्छ गठः: मिहितकः फलम् ।  
     इवसन्न रचेति पर्यायेवत्यते तस्य कल्पना ॥

२४. च.क. १-२८, २९, ३०  
     ...तानि वसंत ग्रीष्मयोरंतरे पुष्टाश्वयुग्मां सुग शिरसा वा गृहणीया त. मैत्रे मुहूर्ते ।  
     यानि पवकान्वाच्यकाणानि आहरितानि पांडुन्याक्रीमीणि अपूर्तीन्यजांतु जग्धान्वस्त्वानि, तानि प्रमुखं कुशपृष्ठे बस्त्वा गोमयेनालिप्य पव तुष माष शालि कुलत्य मुद्दग पलानामन्यतमे निदध्यात् अप्तरात्रम् । अत ऊर्ध्वं मुद्द गृतानि मार्गिवस्तु गंधान्वृद्धत्य शोषयेत् । सुशूक्ष्माणां फलं पिपली रुद्धोरेत् । तासां घृतदधिमधुपलत्विपृष्टिदानां पुनः शूक्ष्माणां नवं कलाशं सुप्रसुप्तं वालुकमरजन्तकं आकंठं पूर्णयित्वा स्ववच्छन्नं स्वनुगुणं शिक्षयेत्वान्सज्जय सम्यक् स्थापयेत् ॥

२५. च.क. १-१३  
     शाणपूष्टी च लिंबी च छद्मे हेमवत्यपि ।

२६. च. मृ. १-७८  
     धामांवमथेष्वाकु जीमूतं कृतवेधनम् ।  
     मदनं कुर्जं चैव त्रपुरं हस्तिपर्णिनी ।  
     एतानि वमने चैव... ॥

शा. पू. ख. ४-११  
     सु. सू. ४६

च.क. १-५ पर.  
     च.क. १-३  
     सु. चिं. ४३-१  
     च.मृ. ४-५

१७. सौन्दर्यवर्तमान सैथिक च विडमोड्डितदमेव।

१८. सामुद्रेण सहैतानि पंच स्थूलतेवणानि च ।

१९. स्त्रियान्त्युष्टानि तीर्थानि दीपनीयतमानि च ।

२०. आलेपानार्थयुज्यते स्ते हृष्ट स्वेददिधी तथा । — च. मू. १-८८ से १०

२१. अधोभागोर्ब्धं भागेषु, निरुहेष्वनुवासने ।

२२. मधु मधुक कोविदार कर्तुदार नीप विडुलविंबी, शाणपुष्टी सदापुष्टी प्रत्येक्ष्युष्ट इति देशमानि वसनोपानानि भवति । — च.ह. ४-२४

२३. वमनेऽसंतरकविद्यात् । आकर्मस्य विजेयं वमने स विरेचने ॥ — च. मू. १-१४४

२४. मदनं मधुकं निन्दं जीमूतं कृतवेदनं ।

२५. विष्णुली कुटजेष्वाकृष्णवेलां ध्वानर्थाणि च । वमनार्थं प्रसुंजीत । — च.मू. २-७,८

२६. व्रत्यविश्वश योग शातं प्रणातं करतेषु ।

२७. एकोनचत्वारिंशत् जीमूतकेषु योगाः ।

२८. पञ्चतांशित् ईक्ष्वाकुषु ।

२९. धामार्गविः प्रस्तुथा भवति योग युक्तः ।

३०. कुटजस्त्वप्ता दशधा योगमेति ।

३१. कुटवेदनं पञ्चिद्धा भवति योगयुक्तः ।

३२. यानि तु खलु वमनादिषु भेषज द्व्याण्युपयोगं गच्छति तान्यनुव्याख्या स्यन्ते । तद्यथा फलजीमूतकेष्वाकृ धामार्गविं कुटज कृतवेदनं कलानि, कफलजीमूतकेष्वाकृ धामार्गविं पत्रं पुरुषाणि, आरवध वृक्षकं मदनं स्वादुकंकठपाठपाटला शार्ङ्गेष्वाकृ मर्वा सप्तपर्णनक्तमालं पित्र्यमर्दं पाटोल सुषवीं गुह्यती विक्र सोमवल्क द्वीपी शिश्रुमूल कषायैश्च भृत्युक कोविदार कर्तुदार नीपविडुल विंबी शाणपुष्टी सदापुष्टी प्रत्येक्ष्युष्टी काषायैश्च, एलाहेरण प्रियंगुं पृथिव्यका कुसंत्वंधुर नगर नलदर्ढिवेर वाल गोपी कषायैश्च, इक्षु काढेष्वालिका दर्भं पोटगलकालडकृत कषायैश्च, सुमनां सौमनस्यायनी हरिदा दारुहरिदा वृश्चरि पुनरनवा महासहा कषायैश्च, शालमली शालमलैक भद्रपर्णलापयुपेदिको इतिक धन्त्वराजाद्वनोपचित्रा गोपी शृणाटिका कषायैश्च । पिपलीपिपलीमुल चव्य विक्र शृगावेर सर्षपफलित क्षीर क्षार लवणोदकैश्च । यथालाभं.. वमनाहं दद्यात् विधिवद्मनम् इति कल्प संग्रहो वमन द्व्याणाम् । — च.वि. ६-१३९

३३. मदनं कुटजं जीमूतकेष्वाकृ धामार्गविं कृतवेदनं सर्षप विडंगं पिपली करंज प्रपुत्राऽकोविदार कर्तुदारारिष्टश्वरांघा विडुलं बंधुलीक श्वेताशणपुष्टी बिंबीवचा मुगेवर्कु वित्ताश्वेत्युद्दिव्यभागहाणि ।

३४. तत्र कोविदार पूर्वाणि कुटजानि । कोविदारादीनां मूलानि ॥

३५. मदनं मधुकं लंबा निंव लिंबी विशाला ।

३६. वृपुष कुटजं मर्वा देवदत्ती कुमिधनम् ॥

३७. विडुल दहन चित्राः कोशवल्ली कुमिधनम् ॥

३८. कणिलवण वचेता सर्षपश्वद्दत्तनानि ॥

३९. यथालाभं यथेष्टं चायुषसंस्कृत्य वत्तिक्रिया चूणावलेहस्नेह कषाय मांसरस यवागदूष

४०. —अ ह.मू. १५-१

काम्बलिक शीरोपथेयान्मोदकान्यन्माण्च भृष्टप्रकारान् योगाइच विविधानु विधाय

यथाहं वमनाहर्ष्य द्वधात् ॥

३६. (१) ...शेषात्सु वस्या: विशेषतस्तु पीनस कुष्ठउवज्जरराजयस्पकासर्वतस्त

गत्तग्रहणतग्ं इलीपद्ग्रभेमन्द्वाजिनेविरुद्धाजीणीन्वेसुचका लस्क

विषगरीतद्विषद्विग्यविद्धाय: शोणितपितप्रसेक दुनीम उल्लासा

रोचकाविणाकापच्चपस्मारोमादातिसार शोफ पाण्डुरोग मुख्याक

तुष्टस्तन्यादयः श्लेष्मध्याधयोविशेषण रोगाध्यायोक्ताश्च ।

च. सि. ३३-१०

(२) वाम्यास्तु विषशोषस्तन्योष विषमंदानिन उम्मादापस्मार इलीपद्ग्रावृद्धविदारिका

मेंदोमेह गरज्जरारुच्यपदच्चामातीसार हृद्रोग चित्तविष्म विसर्प

विद्धयजीणीमुख्यसेक हल्लासशवासकासपीनस पूतीनास कंठोष्ठ वक्षपाक कर्णज्ञावाधिजितिकोपजितिका, गलशुडिकाव: शोणितपितिनः कफस्थानम् विकोरेषु अन्ये च कफव्याधिपरीता इति ।

मु. चि. ३३-१८

(३) ...विशेषण तु वाम्येत् नवज्वरातिसाराधः पित्तासुग्राजयाद्विषणः।

कुष्ठमोहपच्चियं रलीपदोमादाकासिनः। इवास हल्लास वीर्यं स्तन्योद्दोध्वरीणिः ॥

अ. ह. सु. १८-१, २, ३

(४) विषपीतद्विषद्विषविडः... श्लेष्मध्याधयः ॥

३७. (१) अव्यायस्तावत्-क्षतक्षीणातिस्थूलात्ता बाल वृद्धुर्द्वर्त श्रान्त पिपासित शुष्ठित

कर्मभाग्यहोतोपनासित मैयुनाह्ययनव्यायामचिंता प्रसक्त शामगणिणीमुक्तार मस्कृत कोष्ठ दुश्छर्दधोर्धे रक्षतपित्त प्रसक्तत्तद्विद्विष्व वातां स्थापितानुवासित हृद्रोतावत् मूत्रधात एवीह गुल्मोदाराष्ट्रीता स्वरोपथात तिमिर शिरः शाखकषणिः शूलात्मीः ॥

च. चि. ३-८

(२) न वामयेत्तमिरिकोर्ध्वं वातगुल्मोदर एवीह कृमिश्रमातर्न्। स्थूल शतक्षीण

कृशातिवृद्धः मूत्रातुरान्वेवत वातरोगान्। स्वरोपथात्तद्यनप्रसक्ततु

दुर्ज्ञविडुकोष्ठ तुडर्त बालान्। ऊर्ध्वर्षीणिति शुष्ठितातिरुक्ष गर्भिष्युद्वावति निरहितांश्च ॥

मु. चि. ३३-१४ १५

(३) अव्याया गर्भिणी रुक्षः शीधितो नित्य दुःखितः। बालवृद्धकृशस्थूल हृद्रोगिक्षत दुर्बलाः। प्रसक्तावंमयुष्टिह तिमिर क्रिमिकोष्ठिनः। ऊर्ध्वर्ष प्रवृत्त वातव्यस्त द्वन्त बस्ति हत्तस्वनः। मूत्राधातुर्द्वीपुल्मी दुर्बलोत्त्वानिरर्शर्णिः। उत्तावर्व ग्रामाष्टीता पाशवर्षरुग वातरोगिणः।

अ. ह. सु. १०-३ से ६

३८. अव्यायवमन्द्रोगा कृच्छ्रक्ता याति देहिनाम्। असाध्यता वा गच्छन्ते नैतवाम्यास्तः स्मृताः ॥

३९. एतेष्वजीर्ण व्यथिता वाम्या ये च विषातुरा:। अतीव चोलव्यनकफस्ते च सुमधुक्तांबुद्धाः।

४०. नवैकोत्तन निर्दिष्टज्येष्ठ निविशेद्वुषः।

मु. चि. ३३-१७

स्वयमप्यत्र वैयोन तत्वं बुद्धिमता घोरेत्।

तत्प्रदोत्त हि सावस्या देशकालवत्ते प्रति ।

यस्यां कार्यमकार्यं स्यात् कर्मकार्यं वर्णितं ।

र्णद्वैद्रोगा गुल्मानां वग्नं स्वे विकितिस्ते ।

अवस्यां प्राप्य निर्दिष्ट कुष्ठिना वास्त कर्म च ।

तस्मात्स्त्यापि निर्देशे कुर्वद्वैद्वं स्वयं विद्या ॥

मुख्याक्षेत्रे गौरवं तंद्रा जनयुल्लाखेतु तम् ।

हल्लासं गौरवं तंद्रा जनयुल्लाखेतु तम् ।

तत्र क्षतस्य भूयः क्षणानाद्रक्षादि प्रवृत्तिः स्यात् । क्षीणातिस्थूला कुर्व बाल वृद्ध

दुर्बलानामौषधवलासहत्ता त्रात् प्राणोपरोधः, आन्तपिपासित शुष्ठितामां च

तद्वत् । कर्मभाराध्वहतोपवास मैयुनाव्ययन व्यायाम चित्तप्रसवत्त

क्षामाणा रीक्ष्यात् बात रक्षत्तद्वेद्धतमतयास्तात् गर्भिष्यापदामगर्भ

प्रंशास्य दारुणा रोग प्राप्ति, सुकुमारस्य हृदयपकर्णणाद्वैद्वं मधो वा

सधिरातिप्रवृत्तिः संवृतकोष्ठ, दुश्छन्दर्द्योरोगतामव्याप्ताद्वैद्वं समुत्तिस्त्वा:

अतोः कोष्ठे जनयति अंतविसर्प स्तंभं जाइनं मरणं चा ऊर्ध्वं रक्तपितिनः

उदावन्मुक्तिस्य प्राणाह्नरेत् रक्तं चाति प्रवर्तयेत् प्रसक्तत्तद्वेद्धत

ऊर्ध्वर्षवातास्थापितानुवासितानामूद्धर्व वातातिप्रवृत्तिः, हृद्रोगिणी हृदयोपरोधः,

उदावर्तिनो घोरतर उदावर्तः, स्यात् शीप्रतरहत्ता, मूत्रधाताद्विग्रातानां तीव्रतर शूल

प्राद्वैद्वं, तिमिरातिवृद्धः, शिरः शूलाद्विष्यु शूलातिवृद्धः । तस्मादेते न

अ. स. सू. १७

च. सि. ३-१९

वम्याः ॥

४५. इह खलु राजनराजमात्रमन्यं वा विषुल द्रव्यं संभृतसंभारं वमनं विरेचनं चा पायायितु

कामेन भिषजा प्रागोवोषध पानात् संभारा उपकल्पनीया भवन्ति, सम्यक् चैव हि

गच्छत्यौषधे प्रतिभोगार्थः, व्याप्ते चौषधे व्यापदः, परिसंख्याय प्रतिकारार्थः । नाहि

मनिकृष्टे काते प्राङ्मुर्त्तयामापदि सत्यापि ऋयाक्रमे सुकरमाणु संभरणमैषधानो

यथावत् भवति ।

४६. तं देवासिमन्तरे मानसः शरीरे वा व्याधिः काशित्तेब्रतरः साहस्र्या गच्छेत्तमेव

तावद्वस्योपवर्तयितुं यतेत् तत्स्तमुपावर्त्त तावन्मेवैन काते तथायित्तेनैव

कर्मणोपचरेत् ।

४७. ...सम्यक् प्रयोग निमित्ता हि सर्वकर्मणां सिद्धिरिष्या, व्यापच्चासम्यग् प्रयोग

निमित्ताः, अथ सम्यगसप्त्यगच समारव्यं कर्म सिद्धत्तिव्यापद्यनेवेषा ।

यत्तिशोषेष्मोक्षमोन्तेने । नहि कश्चिद्वस्तिस्त य एतदेवमुपदिष्टमुपधारयेन्मुत्स्तेत्,

सिद्धयेद्वैषधमेन्तेने ।

यत्तिशोषेष्मोक्षमोन्तेने ।

४८. अव्यायवमन्द्रोगा कृच्छ्रक्ता याति देहिनाम् ।

४९. एतेष्वजीर्ण व्यथिता वाम्या ये च विषातुरा:। अतीव चोलव्यनकफस्ते च सुमधुक्तांबुद्धाः।

५०. मदनफल कषाय मात्रा प्रमाणं तु खलु सर्वं संसोधन मात्रा प्रमाणानि च प्रति पुरुष

च. सि. ३-१५, १६

च. सु. १५-१६

च. सु. १५-१६

च. सु. १५-१६

अपेक्षितध्यानि भवति। यावद्गृह्य यस्य सशोधनं पीति वैकारिक दोषहरणयोत्पत्तये, न  
चातियोगायोग तावदस्य मात्रा प्रमाणं वेदितब्बं भवति ॥

च. सू. ११-१०

५९. तत्र भवति पर्योक्षयति व्याधिनि पुरुष बलान्यभिस्मीक्ष्य विदध्यात् । तत्र व्याधिवलादधिकं  
अौषधमयुक्तं तमप्रशास्य व्याधिं व्याधिमन्यथा वरहति । अन्यनवलादधिकं उत्तर्जाणं  
विहृत्य वा प्रवर्तते; पुरुष बलादधिकं गतान्पिच्छयादनावहति संस्थानं एवं संशोधनं  
अतिप्रापयति, हीनमेयो दलं आकिञ्चिकां भवति। इत्यात्मनमेव दद्यात् ॥

- |     |  |  |
|-----|--|--|
| १०. | मात्राया नास्त्वबस्थानं व्याधि कोष्ठबलं वयः।                           | सु. सू. ३९-१०  |
| ११. | आतोच्य देषकालैन योज्ञा तद्वच कल्पना।।                                  | आ.सं. ३९-११  |
| १२. | तते देषे मृदौकोप्ते नेक्षेत्रव बलं तुणा।।                              | सु.सू. ३९-१२   |
| १३. | अव्याधि दुर्बलस्यापि शोधनं हि सदा भवेत्।।                              | च.सि. ६-१५, १६   |
| १४. | अत्प्रामार्च महावेगं बहु दोष हरं सुखं।।                                | लघुपाकं सुखास्वादं प्रीणनं व्याधिनाशनं।।                                       |
| १५. | अविकारि च यापत्तौ नातिलानिकरं च यत्।।                                  | गंधवर्णं रसोपेतं विद्यान्मात्रावौषधम्।।  |
| १६. | व्याध्यादिषु तु मध्येन व्याधस्याजलिरिष्वते।।                           | विडालपदकं चूर्णं देयः कल्कोक्ष सम्मितै॥  |
| १७. | डहण—व्याधग्रहणात् शृतशीत फांटस्य न तु स्वरस क्षीरयोः,,                 | ते हि गुरुत्वात्प्र प्रसाणः प्रयोगदत्या: ।।                                    |
| १८. | अथ च्छर्दियतुमातुरं...फलाप्पतीनामतनं ख शुष्ठ यावद् वा साधु मन्येत...।। | क्वाध्यापाने नवप्रस्था ज्येष्ठा मात्रा प्रकीर्तिता।।                           |
| १९. | मध्यमा षष्ठियता प्रोक्ता त्रिप्रस्था च कनीयसी।।                        | कल्कचूपाणिविलेङ्गानं त्रिपलं श्रेष्ठ मात्रया।।                                 |
| २०. | मध्यमं द्विपलं विद्यात् कनीयस्तु पतं भवेत्।।                           | अथ च्छर्दिनोयमातुरं श्वलदंशयतिव्यामिति ग्राम्यानूपौदकं मांसरस                  |
| २१. | क्षीराद्यविमाषातिलशाकादिभिः समुत्स्तेत्विषत्वलेभ्याणः...।।             | ग्राम्योदकानूपरसैः समासेरुत्स्तेशानीयः प्रयासा च वस्तः ॥।।                     |
| २२. | नरश्वो वसनं पाता भुजीत कपकवर्धनं।।                                     | उतेष्मातरश्छर्दियतीह दुःखम् ॥।।  |
| २३. | अथातुरं स्नानं स्विन्नं आभिष्टदिभिराहैः अनवबद्दोषमवलौक्यं              | नपाचानितास्मि इति सभोज्येत् तीक्ष्णाग्नि बलवन्तं बहुयोर्षं महाव्याधिप्रीतं वमन |
| २४. | सातस्यच ॥  | सातस्यच ॥  |
| २५. | पशतौविधिरेत्त्रैः दोषानुत्स्तेश्य देहिनः।।                             | सम्यक् प्रवत्तिते ।।   |
| २६. | इवोवभ्यमुक्तिलक्ष्यं मत्यमाषतिलादिभिः ॥।।                              | अ.ह.मू. ६८-१८  |
| २७. | कृतवति होमं प्रावशिचतं निरव्यमनातिस्त्रियवागवाष्ठुमात्रा पीतवत्तं...।। | च.क. ३-२४  |

च.पा.—अनतिस्नायमित्यादिना वर्मन दिन एव सूत मात्रा युक्त यवाग्पुन्यवक्त  
वर्मनमातिस्नायपुरुष विषयं बहुते। अन्ये तु पूर्वदिन एवनाति स्नायस्य वृत्तमात्रा  
पीतवत् एव यवाग्पुरुषः पारभादः पेशते; विविधे.... (मुकुल) इत्यादि सुशुतोवते: ।

निरज्जमिष्ट द्विनाथे या नेत्रया पीत सर्पिष्यम्।  
अथातुरु द्वयहंड्या अहं वा स्नेह स्वेदोपपत्तम्....।

अथातुर स्नायस्य स्विन्द्रं अनपिष्यदि: ।

अ.ह.सू. १८-१३  
च.क. १-१४  
सु.चि. ३३-३५

- अथ साधारण काले इस्त्रीधारकन पत्रं प्रयोगाधः ।

३८. च.पा—द्वयं अहावा स्नेहवदोपपत्रमित्यनेनअयोगिक्यमाणे स्नेहसहचरितस्वेदो—  
पपादानं द्वयं अहं वा विधीयते । अहावरं सप्तदिनं परंतु स्नाधो नः स्वेदचित्यव्य-  
उक्तः । इत्यनेन पानप्रयुज्यमान स्नेहस्य सप्तरात् विप्रात् वा प्रकर्ष उच्यते, इति न  
विरोधः । एतच्चायां स्वद सहित स्नेहस्वेदकरणं पानस्नेहांतिवस्मारायक्रियते । तेन  
स्नेहपानविश्रामदिनेन समं द्वयहन्त्यह पूरणमध्यंगा स्वेद प्रयोगस्य भवति ।

च.क. १-१४ पर।

३९. (१) अभिमंत्रितां मधुमधुकसंस्थेवफलितोपहितां मदनफलकषायमात्रां पाययेत् ॥

च.मृ. १५-१६

(१) तासां फलं पिपलीनां अतर्नभिमुखिं यावद्वा साइमुन्देत जर्मीकृत्य  
यस्मिन्युक्तक्षायेण कोविदारकर्वुद्धारनीपिदुल—बिविशापुष्टीसदापुष्टीप्रत्यक्-  
पुष्टीकायाणामन्तमेन वा रात्रिमुखिं विमुखं पूतं मधुसैश्वयुक्तं सुखोलां कृत्वा  
पूर्णं शरावं मर्जेणाभिमन्त्रयेत् । इत्येवमधिमन्त्रोदयमुखं प्रागसुखं वाऽप्तम्  
पाययेत् ॥

च. क्र. १-१४

(२) तत्र सुकुमारं कृशं वालं वृद्धं भीर्वं वा वसन्तमास्येविकारेषु  
क्षीरदधितक्रयवाहगतामन्तममाकंठपाययेत् पीतोषधश्च ।

सु. चिं. ३-६

डहण—क्षीरादयो वापनं द्रव्यसंस्कृता हेत्या, अथवा क्षीरादिन् पूर्वं पाययेत्-आनन्दर-  
मत्राया वसन्तदव्यभित्ति इति । तथाच वृद्धं वागाघटः—“वृद्धं बालाबलवल्तीव भीरुन्  
रोगानुरोधतः । आकंठं पाययेत् मध्यं क्षीरमधुक्षयसंरसं । पथाविकारं विहितां मधु-  
संस्थेव सयुता । कोष्ठं विभज्य भैषज्यमात्रां मन्त्राभिमन्त्रितां । प्रागसुखं पाययेत् इति । ॥

(अं. सं.- वृद्धवागाघट)

अ.ह.मृ. १८-१९; १५-

(३) पीतवंतु तु खल्वेन मुहूर्मनुकांक्षते, तस्य यदा जानीयात् स्वेद प्रादुर्भविणं दोषं  
प्रविलयमानं, लोमहर्षेण च स्थानेनेयः प्रवलितं कृक्षिमाधापनेन च कृक्षिमधुनात  
हल्लासास्त्रस्ववाणांचोर्ध्वमुखीं भूत-मथास्मैजातुसमसंबाधं सुप्रयुक्तास्तर-  
पोतरं प्रच्छेदपथानं सोपाश्रयमासनमुपवेष्टं प्रयच्छेत् ।

च. मृ. ११-१२

(४) वृद्धबालाबलवल्तीव ... ॥

४०. (१) पीतवंतु तु खल्वेन मुहूर्मनुकांक्षते, तस्य यदा जानीयात् स्वेद प्रादुर्भविणं दोषं  
प्रविलयमानं, लोमहर्षेण च स्थानेनेयः प्रवलितं कृक्षिमाधापनेन च कृक्षिमधुनात  
जानीयात् । तस्य प्रवृत्ताहल्लासं जाल्या जानमुवासमो-पविष्ट्यमाप्तैः ललाटं पृष्ठेः  
पाशर्वयोः कंठे च पाणिभिः सुप्रयुग्मीत मधुतीं गंधवंहस्तोपलाघ्यतमेनकर्त-  
पिस्पृशन्तं वामयेत्तावद् यावद् तस्मयावतालक्षणानि ॥

सु. चिं. ३३-३४

च. पा.—अनंतस्थितिसम्पूर्वक वामन दिन एव सूत मात्रा युक्त यथागृहान्पूर्वक वामनयनातिसम्पूर्वक लिखय बृते। अन्ये तु पूर्वदिन एवनाति स्थितस्थ घृतमात्रा पीठितवत् एव यथागृहाः पानपादुः पेशते: विदिष्ये... (सुश्रुत) इत्यादि सुश्रुतोवतः: ।

(३) गीतो मुहूर्तमनुपालयेत्। तन्मना जातहृत्त्वास्प्रसोक्ष्वद्येत्तदः।

(४) प्रतिग्रहांशोपचारयेत् - ललाटः प्रतिग्रहे पाशवैप्रहणे नाभिप्राणिन् पृष्ठोभृत्ति  
चानपत्रपणीयाः सुहृद्वेऽनुभृतः प्रयतेरन्।

उभे पाशबं ललाटे वमतश्चास्य च धारयेत्।

प्रणिडयेत् तथा नाभिपृष्ठं च प्रतिलोमतः॥

(५) हौनवेगतु पिण्डल्यामलक सर्षप वचाकल्क लवणोष्णोदकैः पुनः पुनः  
प्रवर्तयेवापितदर्शनात्॥

च. सु. १५-११

अ. द. सु. १८-१० अ. ह. स. १८-१०  
च. क. १५-११

६५. यदा तु वमनं पीतं न छद्यते मानवः।

किं तत्र भेषजं कुर्याद् कर्थं वैद्यः समावरेत्।

मस्तिका केशो चूपाणित तक्र मडेन योजवेत्।

एतेन हि प्रयोगेन शिप्रं प्रक्षद्येत् नरः।

एषा क्रिया समाख्याता उबर्लानाविशेषतः। अथेष्व साहिता

वेगाविशेष दर्शनाद्वि कुरुते योगायोगातियोगादिविशेषानुप्रतिलभेत्।

वेगाविशेषदर्शणीयाः पुनः कृत्यं यथाहमवृद्धयेत् लक्षणेन तस्मात् वेगान्

आवेदितावहितः॥

६६. जघन्यमध्य प्रवरे तु वेगास्वत्वार इष्टा वमने षड्षट्टै।

पितांमिष्टं वमनं...।

द्वित्रान् सविद्वक्तानपनायवेगानमेयं विरेके, वमने तु पीतम्।

६७. प्रस्थस्तथा द्वित्रिचतुर्गुणस्त्वा॥ च. सि. १-१२ (का आध्यान वमन में)

वमने च विरेके च तथा शोणित मोक्षणे।

६८. सार्थकोदश्य पलतं प्रस्थमाहुमनीषिणः॥

च. सि. १-१४ पर च. पा.

६९. च. पा. चतुर्भिर्योगैर्यत शोधुनं वमनं तद् जघन्यं ... तेन यदुच्यते आंतकी  
वैगिकी मानिकी तैगिकी वैति चतुर्विधा शुद्धिरहित्यते तद्वस्त्राकं असम्मतमेव।

किन्तु तैगिकी तैका शुद्धे...।

तेन यदव आषाढवर्णास सम्यगविशुद्धिलिंग, लक्षणोऽथ मानवज्ञ वेगाच्च

निरस्तमेव॥ च. सि. १-१४ पर।

७०. दोषागमनाच्च, उक्ता क्रियेद व्यस्तसमस्तवा इत्यादिनाऽप्तिलक्ष्यं तदनयुपगमन

निरस्तमेव॥ च. सि. १-१४ पर।

तत्र कैश्चित् त्रिधा शुद्धिरामिहिता। यथा तैगिकी मानिकी वैगिकीयेति। तत्र या

तावत्त्वानिकी शुद्धि, दीर्घ हृस्व स्थूलकृश देह यहति प्रकृति सारादिभित्वं विष लक्षण

शरीराणां प्रणितां दोषात् यत्तादीना परिणामाभावात्। नापि दैगिकी। यतो बहुभिर्वैगैः  
कदाचित् कास्याचित् न शुद्धिः, प्रकृति वंश बल दोष शरीर व्यपेष्या कर्त्त्वाचित्

कर्त्तव्यरूप वैगैः शुद्धिरिति अतस्तीतीयां पिते कफस्येत्यादिभित्वं तैगिकी

शुद्धिमंत्रोक्तवान् सुश्रुताताचार्यः॥ इत्तल्लण- सु. चि. ३३-७ पर।

७१. जघन्याति शुद्धि लक्षणोऽपि यद्वेन जघन्यादि शुद्धिलक्षणाभिधानं तत्र प्रायो भाविता  
शेयम्। दोषामनभेदेन जघन्यादिमान भेदः पारमार्थिकः तेनयत्र वमनोऽष्टाभिर्वै द्विप्रस्थ

दोषप्रस्थृतिभवति तत्र प्रवरैव शुद्धिः। यत्र वमने षड् वैगैः सार्थप्रस्थ दोषप्रस्थृतिभवति  
तत्र मध्यमैव शुद्धिः। यत्र चतुर्भिरपि वैगैः एकप्रस्थ दोषप्रस्थृतिभवति भवति तत्र जघन्य

शुद्धिरेव एतत् पित्तातत्वं काफतत्वं वाऽप्तस्याग्नुद्वेऽपि दोषस्यानुप्रव्यावस्थानादभवति, इति  
कृत्वा लक्षणातरण्यापि एतयोः साहचर्याह कार्य दोषत्वं वैत् सत्त्वावै इति..।

७२. (१) क्रमात्कर्कः पित्तस्थानिलश्च यस्त्वैति सम्यक् वर्मित साइऽपि।  
च. पा. च. सि. १-१४ पर।

७३. एतत् पित्तातत्वं काफतत्वं वाऽप्तस्याग्नुद्वेऽपि दोषस्यानुप्रव्यावस्थानादभवति, इति  
कृत्वा लक्षणातरण्यापि एतयोः साहचर्याह कार्य दोषत्वं वैत् सत्त्वावै इति..।

७४. (१) क्रमात्कर्कः पित्तस्थानिलश्च यस्त्वैति सम्यक् वर्मित साइऽपि।  
च. पा. च. सि. ६-२० पर।

७५. कातो प्रवृत्तिरनति महती व्यथा यथा क्रमं च वौष हृणं स्वयं चावस्थानपिति योगा  
लक्षणानि॥

हते दोषे वदेत् कार्य दोषत्वं वैत्सल्याद्यत्वे॥

७६. (१) पितं कफस्यानुसुखं प्रवृत्ते शुद्धेऽपि हृत्वान्त शिरःसु चापि।  
लघौ च देहे कफसंस्करे च स्थिते सुवातं पुरुषं व्यवस्थेत्।

७७. (१) निर्विंश्यं प्रवर्तते कफपित्ताऽनिला क्रमात्। सम्यग् योगे।  
कातो प्रवृत्तिरनति महती व्यथा यथा क्रमं च वौष हृणं स्वयं चावस्थानपिति योगा  
लक्षणानि॥

७८. (१) केवलस्य वायोषप्रस्थस्य, विप्रस्थः विवंधः वेगानां अयोग लक्षणानि भवति।  
च. सु. १५-१३

७९. (१) दुःखदीते स्फोटक कोठकूद्दु हृत्खारिं शुद्धिरुग्नात्रात् च। च. सि. १-१५  
८०. (१) कफप्रसेकं हृव्याविशुद्धिं कंडूरुग्नं दुर्शछदितालिंगमाहुः। सु. चि. ३३-७  
८१. (१) ...तत्रवेगानां अप्रवर्तनम् प्रवृत्तिः सविवंधा वा केवलस्योषप्रस्थस्यवा।  
अयोगस्तेन निष्ठीव कंडूकोठ ज्वराद्यतः॥ । । अ. ह. सु. १८-२३, २४  
८२. (१) योगाधिक्यमेव तु फेनिलकृत चादिकोपगमनं इत्यतियोगलक्षणानि भवति।  
च. सु. १५-१३

तुरुणोह मूल्खनिलकोपनिद्रा बलातिहानिर्वमनेऽपि च स्यात्।

८३. (१) पित्तात्योगश्च विसंशताच हृक्तंठपीडामपि चाति वातेः॥ मु. चि. ३३-७  
८४. (१) अतियोगे तु फेनिलकृत चवत्। विप्रिते भास्त्रात् लक्षणानि प्रमाणः।  
च. सु. १८-२५

८५. (१) वौरा वता भया मृत्युर्जीवं शोणित निर्गमात्॥ अ. ह. सु. १८-२५

८६. (१) स्नेह स्वेदोपग्रेन जीवों मात्रावैत्सल्याद्।

८७. (१) एकाग्रं मनसा पीतं सम्यग् योगाद्यक्षेत्रात्॥

८८. (१) आध्यानं परिकर्त्तर्षच्च स्नानो हृद्यानयोर्ग्रहः।  
जीवावानं सविवंशः स्नानः सोपद्रवः कलमः।

८९. (१) अयोगादीत्योगाश्च दर्शाता व्यापदो मतः ::।

च. सि. ६-१०  
९०. (१) अयोगादीत्योगाश्च दर्शाता व्यापदो मतः ::।

९१. (१) अयोगादीत्योगाश्च दर्शाता व्यापदो मतः ::।

९२. (१) अयोगादीत्योगाश्च दर्शाता व्यापदो मतः ::।

९३. (१) अयोगादीत्योगाश्च दर्शाता व्यापदो मतः ::।

९४. (१) अयोगादीत्योगाश्च दर्शाता व्यापदो मतः ::।

९५. (१) अयोगादीत्योगाश्च दर्शाता व्यापदो मतः ::।

९६. (१) अयोगादीत्योगाश्च दर्शाता व्यापदो मतः ::।

९७. (१) अयोगादीत्योगाश्च दर्शाता व्यापदो मतः ::।

९८. (१) अयोगादीत्योगाश्च दर्शाता व्यापदो मतः ::।

९९. (१) अयोगादीत्योगाश्च दर्शाता व्यापदो मतः ::।

१००. (१) अयोगादीत्योगाश्च दर्शाता व्यापदो मतः ::।

१०१. (१) अयोगादीत्योगाश्च दर्शाता व्यापदो मतः ::।

१०२. (१) अयोगादीत्योगाश्च दर्शाता व्यापदो मतः ::।

१०३. (१) अयोगादीत्योगाश्च दर्शाता व्यापदो मतः ::।

७८. योगः सम्यग् प्रवृत्तिः स्याद् अति योगोऽतिवर्तनम्।  
अयोगः प्रतिलोक्येन न चाल्यं वा प्रवर्तनम्।  
७९. वैद्यातुर निमित वर्मनं च विरेचनं च पचदशस्था व्याप्तिं। तत्र वर्मनस्य अधोगतिरुद्धर्वं  
विरेचनस्य इति पृथक्। सामान्तनुभयोः सावशेषधर्वत्वं, जीणोषधर्वत्वं हीन  
दोषपहतत्वं, वातशूलं, अयोगः, अतियोगः, जीवादानम्, आधामन्, प्रिकर्तिका,  
परिसावः, प्रवाहिका, हृदयोपसरणं विवर्णं इति। सु. चि. ३४-२
८०. ड०- तस्य सख्येय निर्देशोऽपि पंचदशस्था इति सरङ्गा करणं नंत्रात्तरोद्दृतं संख्या  
निषेधः।।।
८१. तंजट— दर्शना व्यापदा स्मृता: इति दशसंख्या नियमौपरंतरोक्त संख्याधिक्यम्  
निषेधः।।।
८२. या तु विरेचने गुदपरिकारिका तद् वर्मने कंठउक्तणानम्, यदधः परिख्यवणम् स ऊर्ध्वभागे  
इतेषमप्रसेकः, या त्वयः प्रवाहिका सा तूर्वशूलिकोदारा इति। सु. चि. ३४-११
८३. (१) तत्रबुधुक्षितस्यतीक्षणानेर्मुडुकोष्ठस्य चावतिरुद्धर्वम् दुर्बलस्य वा  
गुणसामान्त्यभावात् वर्मनमध्यागच्छति, तेवेष्टितवायापि: द्योषोत्पत्तेष्टच।  
तमाशु स्नेहयित्वा भूयतीक्ष्णतरैवमयेत्।।
८४. (२) क्षुधार्थमुडुकोष्ठाच्चां स्वल्पोत्पत्तिरुद्धर्व कफेन वा। तीक्ष्णा पीतं स्थितं क्षुब्धं वर्मते  
स्याद् विरेचनम्।। प्रतिलोम्येनदेवेषाणां हपणात्तेहाकृत्वरुद्धर्वः।। अयोगासंस्कृ  
कृच्छेणयाति दोषो न वाऽत्पत्तशः।। पीतोषधो न शुद्धश्वेतं जीणे तमिमनुनः  
पिवेत् औषधं न त्वजीर्णेऽध्यद् भवं स्न्यादतियोगतः।।
८५. (३) वामयेतं पुनः त्रिंशं स्मरणपूर्वमति क्रमम्।।  
८६. (४) अनुलोमोनिलः स्वास्थ्यं क्षतृष्ठोजोर्मन्तस्तिता। लाघुत्वमिदियोद्वार-शुद्धि  
जीणोषधाकृतिः।। कलमो दाहोऽगसदनं श्वामपञ्चा शिरोरुजा। च. सि. ३४-२६, २७
८७. दोषयितमत्पांषधमवस्थापूर्वभागिकयोधोयागिकं न चांसस्यति दोषान् तत्र तृष्णा,  
पारश्वरशूलं च्छादिम्पञ्चा परभेदो हृल्लासोऽरतिरुद्गाराचिवशुद्धिरुद्धर्व भवति।  
तमुषणाभिरुद्धः अपाशु वामयेदुर्द्व भाविकम्। सु. चि. ३४-६
८८. (१) अस्तिरुद्ध स्विन्न देहस्यरुक्षस्यानवर्मोषधम्। दोषानुकृतिलक्ष्य निर्हर्तु अशक्त  
जनयेदादान्। विव्रश रुवयर्थु हिक्का तमसो दर्शनं पूर्णं। पिण्डिको-द्वेष्टन  
कंडमूर्वोः सादं विवर्णतः।।
८९. (२) अस्तिरुद्धिस्विन्ननाल्पणां वा भेषजपुरुपयवत्तं नल्पान् दोषान् हन्ति। तत्र तं यथा रोग  
दोषशेषे गौरवमुक्ततेशी हृदयाचिवशुद्धिः व्याधिरुद्धिच करोति। तत्र तं यथा रोग  
पाययित्वा वमियेत् द्वृदारं।।
९०. (१) त्रिंशं स्विन्न स्विन्न चात्यल्प दीप्तान् नेजीणभौमेष्ट। शीतैर्वर्त्सव्यमेवा-  
दोषानुकृतिश्य ना होत। तानेव जनयेदोगान् अयोगः सर्व एव सः।।। ते

- तैललवणाभ्यक्तं स्विन्न प्रस्तर संकरैः। पाययेत पुनर्जर्णीं समूर्वेवा निरुहयेत्।  
च. सि. ६-३१ निरुद्धं च रसधार्वन्वैर्भाजयित्वाऽनुवामयेत्। फलभागाधिका दारस्तिरुद्धर्वैलेन  
मात्रया। स्नान्धं वातहरै तैले: पुनः तीक्ष्णोनशोधयेत्। न चातिरिक्षणैर्न ततो  
हातियोगस्तु जायते। च. सि. ६-४० से ४४  
(१) क्षुरकोष्ठस्थाति तीक्ष्णागिनरत्वं औषधं ..... तमनत्वं अमदं औषधं च  
पाययेत्।। सु. चि. ३४-६
६६. अजीर्णे वर्धेते गत्वा निविक्षयत्वापि जायते।  
पीतं संशोधनं चैव विपरीतं प्रवत्तते।। च. सि. ६-१४
६७. स्निग्धाचित्वनस्यातिमात्रं अतिरुद्ध कोष्ठस्य वातिरीक्ष्णामधिक वा दल्म-मौषधमतियोगं  
कुर्याति। तत्र वर्मनातियोगे पित्तातिप्रवृत्तिरुविलविसंसो वातकोपश्च वलवान भवति, ते  
घृतेनाग्न्याज्यावागाहा शीतास्वप्नम् शर्करा-मधुमिश्रेत्वैरुपचरेद्यथास्त्वं।। च. सु. ३५-११
६८. अतिरीक्षणं क्षुधातिस्य मृदुकोष्ठस्य भेषजम्। च. सि. ६-४४ से ५१
६९. निःसूतां तु तितिल द्राक्षा कल्पकलिपां प्रवेशयेत्।। च. सि. ६-४४ से ५५
७०. (१) योगेन तु खल्वेन छर्दितवंतमधिसमीक्ष्य सुप्रक्षलितपाणिपादास्यं,  
मुहूर्तमाशवास्यस्त्रैहिकवैरेचनिकोपशमनीयानां धूमानामन्त्रतमं सामर्थ्यतः।  
च. सु. १५-१४ पाययित्वा पुनरेवोदकमुपस्थितेत्।।
७१. (२) सम्यावान्तावैनमभिसमीक्ष्य स्नेहनविरेचनशमनानां धूमानामन्त्रतमं सामर्थ्यतः  
पाययित्वाऽनुलोमिनिलः स्वास्थ्यं क्षतृष्ठोजोर्मन्तस्तिता। सु. चि. ३३-१०  
वासाधृतमधृत्यिक्षुद्धे र्युक्ततीयुक्ततेरुविषयैः।। वर्त्ति मधुरकैः कृत्या स्नेहिकीं धूममाचरेत्।। च. सु. ४-१५
७२. (३) वेतां उर्योतिष्ठती चैव हरितालं मनःशिला।  
गधाश्चावान्तावैनमभिसमीक्ष्य स्नेहनविरेचनशमनानां धूमः शीर्षं विरेचनम्।। च. सु. ५-२६
७३. (४) उपसूत्योदकं चैन निवातमागारमन्प्रविश्यसंवेष्यचानुशिष्यात्-उच्चवैष्य-  
मत्याशनमतिचक्रमणं क्रोधशोकहिमतपावश्यायप्रतिवातात्, यानयानंगाम्य-  
धर्मस्वपनंनिशिद्वाक्षानं विरुद्धाजीणसात्यकाल प्रमिलाति हीनगुविषम  
भोजनवेगसंधारणोदीरणमिति भावानेतान् मनागत्यसेव्यमानः सर्वगहो-गमयत्वं इति।  
स तथा कुर्यात्।। च. सु. १५-१५
७४. (५) ययापुराणस्तुपूर्णोगमयादैः संधुक्षमाणो भवति क्रमेण।  
महानस्त्रिः सर्वपचस्त्वर्व इद्दृस्य पेयादिभिरंतरग्नः।। च. सि. १-११ अ. ह. सू. १८-३०

१५१. पेयां विलोपीमकृतं कृतं च यूषं सं विद्विरथेकशस्च।

क्रमेण मेदेत विशुद्धकायः प्रधान मध्यावर शुद्धि ॥

च. सि. १-११  
अ. ह. सु १८-१९

१६६. ततोपराहे शुचि शुद्ध देहं उषाधिरविधिः परिपक्वत गात्रम् ।

कुलत्य मुद्गाढकि जागलाना॒ं पूषः रसेवर्जपि उपभोजयेत् ॥

डहण—अग्रोच्चते— अपिशब्दात् पेयादिक्रमोऽत्रायुक्त एव। तत्रात्यं शीणकफना॑  
पेयादि तेषामपि वात भूयिष्ठाना॑ दीपानिनां सात्यापेक्षया मांसरसो-पयोगः,  
दोषप्रत्यकृत्यपेक्षया किंचित्कफयुक्ताना॑ यूषोपदेश, न तु विलोपी यवागूनाम्। उक्ततं च  
‘पांशुधने यथा तृष्णिः क्लेदयत्यतिकर्दम्। तथा इतेषाणि सुदृष्टे यवागुः  
इतेष्ववर्धिनी ॥’ इति ॥

अयैनं सायाहे परे वाहिसुखोदकपारिषिक्तं पुराणानां लोहितशालि-तडुलाना॑

स्वाविक्तनामंडपुवीमुखोणां यावां पायदेत् अनिवारत्याभि-समीद्य एवं द्वितीये हतुते  
चानकाते। चतुर्थेत्वनकाले तथा विधानगेव शालितडुलानामुत्तिवज्ञां विलोपीमुखोदकं  
द्वितीयामस्तेहलवणमल्प स्नेहलवणां वा भोजयेत्। एवं पचमे घट्टे चानकाले।  
सप्तमे लक्षकाले तथाविधानमात्रं शालीना॑ द्विप्रसूतं मुत्तिवज्ञमोदनमध्योदकलतुपानं  
तनुना तनु स्नेहलवणोपवेन मुद्गायूषेण भोजयेत्। एवं अस्तमे नवमे चानकाले।  
कर्षमे लक्षकाले लावकपिजलादीनामन्त्यतमस्य वा मांसरसेन उद्दक लावणिकेन  
सारकता भोजयेत् उच्चोदकानुपानम्। एवमोकादशे द्वादशे चानकाले। अत ऊर्ध्वं  
अन्नगुणान् क्रमेणोपमुंजानः सप्तारोगे प्रकृति भोजनमागच्छेत् ॥

१६७. इवाधिकं स्वत्य सिक्त्या चतुर्दशं शुग्णे जते।

विलोपी धनसेक्या स्यात् सिद्धा नारे चतुर्दशे ।

१९१. अत यूषरसयोः चार्याणि कालविभागो न प्रतिपादितः तथापि यूषकाल-त्रये रसकालत्रये च  
प्रथमंकृतस्य उत्तरकाले च कृतस्य यूषस्य एवं रसस्यापि कालविभागः कथनीयः। एवं  
द्विः पेयादिक्रम तथा एककश्च पेया क्रमो वर्णनीय इति। एककाले तु पेयादिक्रमे कृताकृत  
यूषरसयोः काल विभागो न प्राप्यते, तथाप्येकस्यत्रैव काले स्तोकस्तोकरेण यूषरसयोः  
तत्र कृताकृतत्रं शेयम् ।

१००. कफपितोत्तरशुद्धेत्यं मद्यापै वात पौत्रिके।

तर्पणादि क्रमं कुर्यात् पेयाभिष्पदयोऽतीतान् ।

च. पा.—पेयाचाः स्याते स्वच्छ तर्पणं, विलेप्याः स्यानेच धनतर्पणं ।

जेज्जट—तर्पणादिकलनेच यूषरस निर्देशः ।  
१०१. शुतात्प्रति रसेष्याणं मध्यापं वातोत्तिकं।

पेयां न पाययतेषा तर्पणादि क्रमोहितः ॥

अ. द- प्रथमेऽन्नकाले लाज सक्तवो, द्वितीये अन्नकाले जीर्ण शाल्योदानं, तृतीये  
मांसरसमित्येष तर्पण क्रमः तेषां हितः ।वसन-विशान  
च. सि. १-१०३  
च. सि. १-२००  
सु. चि. ३६-५११०३. संसृष्ट भक्तं नवमेहे मार्गिस्त पाययेत्।  
पक्षात् विरेको वांतस्या ।च. सि. १-११  
अ. ह. सु १८-१९१०४. डहण—सत्यां योगेन वातस्य पुरुषस्य विरेचनं पक्षानावकं नापि परतः, तत्रावैकं  
गुणोऽतरितः स्यात्। तस्माद् पक्षादेव वातो विरेचनीयः तत्र प्रधान शुद्धिमपेद्य  
अन्नसंसर्गेण दिनानि प्रदत्तिक्रम्य मधुरादि संसर्गमाचरेत्। स्नेहपानेनापि दिनानि  
प्रदत्तिक्रमेत्। ततः स्वेदं समाचरन् लघुषां भुज्यमानस्यवहं स्थितश्वहुयेत्ते विरेके  
कुर्यात्! चु. चि. ३६-५११०५. तत्रोषा तीक्ष्णा सूक्ष्म व्यावायि विकाशीन्यौषधानि स्ववीयेण इदयुपेत्य धमनीरनुसृत्य  
स्फुलाणु स्नोतोभ्यः केवलं शरीरगतं दोषसंधातामानेयत्वात् विष्वान्दयन्ति तैस्यात्  
विच्छिन्निं स विच्छिन्नः परिप्लवन् स्नेहमाविते काये स्नेहाक्तं भाजस्यमिव  
भाग प्रभावादौषधस्यव्याधिमुक्तियते। च. क. १-५१०६. तद्वादिते एव आमाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं इतेष्वमूलं ऊर्ध्वं उत्तिस्पति।  
तत्रावाजिते इतेष्वग्राम्यता शरीरातगताः इतेष्वविकाराः प्रशांतिमाप-द्वाते, यथा ग्रिवे  
केवलसे शालियवाषाद्विकाद्वैनाभिष्पद्यमानानि अंभसा प्रशोषमपद्वते पद्वत्।च. सु २०-२३  
च. चि. २०-२०१०७. आमाशयोत्त्वेशम्भवा हि सवार्षद्वयो मता।  
१०८. (१) आमाशयोत्त्वेशम्भवा कृताच मर्म प्रमीडयस्त्रश्वद्वयो मता।  
(वातज छादि)

(२) प्रमीडयमप्पैर्वी ॥ (पित्तज छादि)

उरःशिरा मर्म रसायनीश्च। (कफज)

च. च. १०-१, १०, ११

१०९. ततः शोणितजा रोगा . . . प्रजायते पृथग्विद्या ।

च. सु. २४-११ से १४

११०. द्विष्टप्रतीपाशुचि पूत्यमेष्य वीभत्सग्नायाशन दरशनैरेच ।

१११. दोषनुवृत्य वृद्धानुवृद्धानो व्यान संगतः ।  
ऊर्ध्वमागच्छति भूषां विरुद्धाहर सेबनात् ।

च. सु. ३. ४९-५७

१००. कफपितोत्तरशुद्धेत्यं मद्यापै वात पौत्रिके।

तर्पणादि क्रमं कुर्यात् पेयाभिष्पदयोऽतीतान् ।

च. पा.—पेयाचाः स्याते स्वच्छ तर्पणं, विलेप्याः स्यानेच धनतर्पणं ।

जेज्जट—तर्पणादिकलनेच यूषरस निर्देशः ।

१०१. शुतात्प्रति रसेष्याणं मध्यापं वातोत्तिकं।

पेयां न पाययतेषा तर्पणादि क्रमोहितः ॥

अ. द- प्रथमेऽन्नकाले लाज सक्तवो, द्वितीये अन्नकाले जीर्ण शाल्योदानं, तृतीये  
मांसरसमित्येष तर्पण क्रमः तेषां हितः ।

## विरेचन-विज्ञान

### पंचम अध्याय

**विरेचन व्याख्या—** दोषों को अधो मार्ग से अर्थात् गुदमार्ग से बाहर निकाल देना विरेचन कहलाता है। यहाँ भी दो शब्द के बीच वातादि के लिए नहीं अपितु उपलक्षण से मलादि उपघात कर भावों के लिए समझना चाहिये। शार्झिधर ने विरेचन में मलादि का निर्हण कहा ही है।

विरेचन शब्द व्याकरण निरुक्ति के अनुसार निम्नलिखित प्रकार से सिद्ध होता है।

“विरेचन—त्, वि + रिच् + पिण्ड, त्पुट-मलादि: निस्सरणम्”

अर्थात् मूल रिच् धातु में वि उपसर्ग, और पिच् तथा त्पुट् प्रत्यय से विरेचन शब्द (नपुंसक लिंगी) बनता है, जिसका अर्थ है मलादि को निकाल देना। इस व्याख्या के अनुसार मल सभी मार्गों से निकाले जाने के अर्थ में विरेचन शब्द प्रयुक्त होगा। तथापि आयुर्वेद में गुदमार्ग से दोषों को निकालना यह विरेचन कहलाएगा। गुदमार्ग से निरुह बस्ति भी दोषों को निकाल सकती है—क्या उसे विरेचन कह सकते हैं?

ऊपर से निकालने की वमन प्रक्रिया के लिए भी “विरेचन” कहा जा सकता है।<sup>१</sup> किर मूत्र विरेचन, शुक्र विरेचन, शिरो विरेचन आदि शब्द प्रयोग भी मिलते हैं। अतएव विरेचन, का अर्थ बाहुल्येन उपयोग से या तो तंत्रसिद्धान्त के रूढार्थ से, “मलानिसर्जन प्रक्रिया के द्वारा शोधन करनेवाले कर्म विशेष के लिए नियत समझना चाहिए, और यह अधोभाग हण प्रकार का शोधन होता है। अर्थात् आमशयादि दोषों को नीचे ले जाकर विरेचन गुदा से निकाल देता है। निरुह बस्ति में यह ‘अधोभाग’ हण का सामर्थ्य नहीं है। अधोभाग में जो मल हैं, उनका मात्रा निर्हण निरुह बस्ति से होता है अतः निरुह बस्ति का ‘विरेचन’ सज्जा में अंतरभाव नहीं हो सकता। विरेचन इस तरह अधोभागहर शोधन के लिए नियत होते हुए भी शार्झिधर ने ‘रेचन’ नामक विरेचन का एक भेद भी माना है। विरेचन के लिए प्रस्कदन शब्द भी उपयुक्त किया जाता है।

**विरेचन का सामान्य परिचय**

विरेचन यह पित दोष के लिए विशेष उपक्रम है।<sup>२</sup> पित प्रथान दोषों के लिए कफ संस्थिति के लिए तथा पित स्थानगत कफ के लिए विरेचन देना पश्चस्त है।<sup>३</sup> विरेचन यह कफ के निरुद्ध उपक्रम नहीं है, अपितु कफ की भी चिकित्सा है यह विशेष चिकित्सा साँकर्य है। पित का स्थान आमशय है और कफ का भी मुख्य स्थान आमशय है। स्थान सामान्य के कारण यह दोनों में अनुकूल है। विरेचन में वमन के समझ शरीर काट नहीं

है और उपद्रव की भी कम संभावना होती है। उपद्रव अधिक आशुकारी नहीं होते, और इनकी चिकित्सा सरल होती है। इसी तरह पित और कफ के समान वात के लिए भी विरेचन उपक्रम प्रशस्त है। स्नेहन, स्नेहन और मृदु विरेचन यह वात की चिकित्सा कही है।<sup>४</sup> इस तरह विरेचन का विषयाहृत्य भी है। विरेचन आमशय में पित का शोधन कर सभी पितों का अवज्ञयन करता है। जैसे अग्नि से तपे हुए (ग्रस्म घर) घर को शोत करने के लिए अग्नि को शोत करना होता है, और अग्नि शांत होने पर घर की गरमी त्वर्यं शांत होती है। वैसे ही आमशयस्थ पित शमन से सभी पितों का शमन होता है।<sup>५</sup>

### विरेचन द्रव्यों के गुणकर्म

विरेचन द्रव्यों में वे सब गुण होते हैं जो वमन द्रव्य में कहे गये हैं। अर्थात् इनमें उष्णता, तीक्ष्णता, मूक्षमता, द्व्यवायि, विकाशित्व ये गुण होते हैं। इनमें पृथ्वी और जल महाभूत की भूयाइता होती है और अधोभागहरण यह प्रभाव होता है। उष्ण तीक्ष्णादि गुण के कार्य वमन द्रव्यों के विचार में स्पष्ट किये गये हैं। वैसे ही यहाँ समझना चाहिये। विरेचन करना यह इनका प्रभाव है, और अग्नि शमन होता है, जो अचिन्त्य है।

विरेचन द्रव्य— विरेचन करनेवाले द्रव्य अनेक हैं उनका वमन द्रव्यों के क्रम से ही उल्लेख वरकादि सहित में लिखता है। मुख्यपूर्वक विरेचन करने में ‘विवृत मूल’ श्रेष्ठ द्रव्य है। मृदुविरेचन करनेवाले द्रव्यों में ‘चतुर्गुल—‘आमल-तास’ श्रेष्ठ द्रव्य है और तीक्ष्णता के विरेचन करनेवाले द्रव्यों में ‘स्तुक्प्रय’ युहर का दृढ़ श्रेष्ठ द्रव्य कहा गया है।<sup>६</sup> चरके ने कल्पश्यान में विरेचन के कल्पों पर ले अध्याय लिखे हैं—जिनमें श्यामात्रिवृत, आरवध, लोध या तिल्वक, महावृक्ष (स्तुही), सपतला, शाखिनी, और दंतीद्रवंती इनके कल्प दिये गये हैं। सुश्रुत ने मूल विरेचन द्रव्यों में श्यामात्रिवृत को ‘मूल श्रेष्ठ कहा है। त्वक्, विरेचनों में तिल्वक्, कफल-विरेचनों में हरीतकी, तैल-विरेचनों में एंडेलैल, स्वरस-विरेचनों में कारबेलाक स्वरस और दुग्ध-विरेचनों में स्तुही कीर श्रेष्ठ माना है।<sup>७</sup> विरेचन में उपर्युक्त गिनें गये ही प्रधान द्रव्य हैं। अर्थात् त्रिवृत, आरवध, तिल्वक, स्तुही, सपतला, शांखिनी, दंती, द्रवंती, हरीतकी, एंडेलैल, ये विरेचन की अच्छी और्ध्वाधार हैं। इनके अतिरिक्त अन्यान्य संदर्भ से प्रशस्ति किए हुए द्रव्यों में स्वर्णपनी, (सनाय) कटुका, द्राक्षा, इनका समावेश होता है।

### चारकोक्त विरेचन द्रव्य

१. मूलिनी द्रव्य<sup>८</sup>—निम्नलिखित द्रव्यों के मूल विरेचन में प्रयुक्त हैं।
  १. हस्तिदंती (नागदंती-बड़ी दंती)
  २. श्वेत त्रिवृत
  ३. सपतला (सपतला)
  ४. गवाक्षी (इंद्रायण)
  ५. आवर्तकी (मरोडफलती)
  ६. द्रवंती इनके मूल चूंगों का प्रयोग विरेचनार्थ किया जाता है।
२. श्यामा विवृत
३. अधेगुडा (विधरा)
४. प्रस्त्यक्षेणी (दंती)
५. विषाणिका
६. अजांगधा

- |  |  |
|--|--|
| १. फालिनी द्रव्य <sup>१</sup> —निम्नोक्त द्रव्यों के फल विरेचन प्रयुक्त हैं।   | २. निडंग   |
| ३. आनूप कस्तीतक (जलज यष्टिमध्य)  | ४. स्थलज कलीतक (यष्टिमध्य)   |
| ५. प्रकीर्णि (करंज)  | ६. उदकीर्णि (करंज भेद)   |
| ७. अभया  | ८. अंतः कोटरपुष्णि (नील बृहन्ना)   |
| ९. कापिल्लक  | १०. आरवथ   |
| यष्टिमध्य का मूल प्रयोग करने को सुश्रुत ने कहा है। चक्रपाणि कहते हैं कि विरेचन के लिए दोनों का फल ही प्रशस्त है।               | ११. विरेचन   |
| ४. शोभागहर शोधन के लिए निर्दिष्ट किया गया है।  | १२. विरेचन-द्रव्य संग्रह <sup>१२</sup> —श्यामा, विवृत, आमलतास, तिल्क, महावृश पूज्य और फल विरेचन में प्रयुक्त हैं। इन द्रव्यों के क्षीर, मूल, तक, पत्र कथाय के साथ विरेचन में उपयोग किया जा सकता है। अर्थात् ये कथाय विरेचन में सहायक हैं। अजगंधा (अजवाईन), अशवगंधा, अजशुंगी, क्षीरिणी, नीलिनी, यष्टिमध्य, उदकीर्णि, भस्तुरिवद्वा, कापिल, विडंग, गवाशी, इनके कथाय, पीलू, प्रियात, त्राशा, गंधारी, फालमा, बदर, दाढ़िम, आबला, हरड़, बहेड़ा, खेत पुनर्वा, लाल पुनर्वा, विवारिगंधादि-(शालिपणी आदि अर्थात् हृष्वपचमूल-शालीपणी, वृहती, कंटकारिका, गोखरु, पृष्ठिनपणी अथवा दशमूल) इनके कथाय, विरेचन में प्रयुक्त हैं। |
| ५. लवण <sup>१३</sup> —वमनाघाय में कहे हुए सौकर्चल, सैंधवादि नमक का प्रयोग कथाय के साथ विरेचन में उपयोग किया जा सकता है।        | १३. लवण  |
| ६. विवृत <sup>१४</sup> —स्नूही क्षीर, तथा अर्क क्षीर ये विरेचन हैं।  | १४. विवृत  |
| ७. नीलिनी <sup>१५</sup> —सप्तला  | ८. दंती  |
| ८. कापिल्ल   | ९. वचा   |
| ९. उदकीर्णि <sup>१६</sup> —पीलू  | १०. शीरिणी (दुग्धिका)  |
| १०. द्राशा <sup>१७</sup> —प्रवंती  | ११. आरवथ   |
| ११. भेदनीय द्रव्य <sup>१८</sup>  | १२. निचुल  |
| १२. सुबहा (विवृत)  | १३. अर्क (आर्क)  |
| १३. अग्निमुखी (लांगली)   | १४. चित्रक   |
| १४. विराबिल्व (करंज)   | १५. शकुलादनी (कट्टका)  |
| १५. स्वणक्षीरि (सत्यानामी)   | १६. गवाशी (इंद्रायन)   |
| ये १२ द्रव्य भेदन कर विरेचन करते हैं।  | १७. सुक् (स्नूही)  |
| १६. विरेचनोपग द्रव्य <sup>१९</sup> —विरेचन में सहाय करनेवाले १० द्रव्यों से विरेचनोपग गण कहलाता है। वे द्रव्य हैं—             | १८. चित्रक   |
| १. द्राशा  | १९. किणिही (कट्टभी)  |
| २. अभया  | २०. काश  |
| ३. कुवल (बेर का भेद बड़ा)  | २१. कापिल्लक   |
| ४. कर्कशु  | २२. पाटला  |
| ५. पुरीष विरजन कहते हैं। इनमें जो द्रव्य कहे गये हैं उनमें से कुछ विरेचन में भी यनतत्र उल्लेखित हैं।                           | २३. हरड़   |
| ६. पुरीष विरजनीय द्रव्य <sup>२०</sup> —पुरीष में रहनेवाले दोषों का जो निरास करते हैं उन्हें, उनमें से कुछ विरेचन में भी यनतत्र | २४. आमलतास   |
| ७. जग्मन   | २५. पृतिक (विराबिल्व)  |
| ८. कन्छुरा (दुरालभा)   | २६. सप्तछद (सत्यपणी)   |
| ९. यष्टिमध्य   | २७. महावृक्ष   |
| १०. शल्लकी (सर्ज)  | २८. ज्योतिष्मती (मालकांगनी)  |
| ११. त्वक्  | २९. श्रीबेष्टक   |

इनमें तिल्वक के पूर्व दब्बों का मूल बरते, तिल्वक से पाटला तक की औषधियों की कांपिल्लक फल की रज, पूरा से एंड तक के द्रव्यों के फल, पूतिक और आरावदध के पत्र और रेष दब्बों का दृश्य विशेषनार्थी ले।

वाराभटोक्ता विरेचन दृष्ट्यः १

- |                   |                 |                    |
|-------------------|-----------------|--------------------|
| १. निर्कुप (दंती) | २. कुंभ (निशोथ) | ३. निफला           |
| ४. गवार्षी        | ५. स्त्रुक्     | ६. शंखिनी          |
| ७. नीलिनी         | ८. तिल्वक       | ९. रम्याक (आमलतास) |
| १०. कांपिल्लक     |                 | ११. स्वर्णक्षीरि   |

इन विरेचन दब्त्यों में से प्रमुख दब्त्यों का सामान्य परिचय आगे तालिका में दिया गया है।

विवेचन के अट

**वस्तुतः** विरेचन के कोई भेद नहीं हैं। किंतु विरेचन इत्यों का कार्य जिस प्रकार से संपत्ति होता है, उसके अनुसार, मृदु, मध्य तीक्ष्णति भेद सभव होते हैं। चारक ने विवृत्त को मुख्यपर्वक विरेचन के लिए, अरवध को मृदु विरेचन के लिए, और स्मृक् पथ तीक्ष्ण विरेचन के लिए श्रेष्ठ मानकर ये में भी विगदशित किये हैं। शार्धिर ने अनुलीप्न, संसन, मेदन और विरेचन ऐसे चार प्रकार के अधोभागहर कर्मों का वर्णन किया है।<sup>12</sup> इनकी

१. अनुलोमन—जो औषधियां मलों को पक्क कर, उनका संहनन तोड़कर, विबंध स्थिर तथा अधोमार्ग में ले जाती हैं उन्हें अनुलोमन कहते हैं। उदाहरण— हरितकी।
२. संसन—जो औषधियां कोष्ठ में चिपकें हए मलों को बिना पक्क किये ही नीचे ले आकर बाहर निकालते हैं उन्हें संसन कहा जाता है। उदाहरण—आरग्वथ या अमलतास।
३. भेदन—जो औषधि इत्य सधन, सचित, अर्थात् अथवा गांठदार-पिण्डित मलों को दनकर-तोड़कर नीचे ले जाकर बाहर निकाल देते हैं उन्हें भेदन कहते हैं।

रेचन-जो औषधियाँ पक्व या अपवृत्त मलादि की प्रवृत्ति का हैं

कान की दोनों ओर उन्हें रेखन कहते हैं। उदाहरण—विवृति।

न अनुलामाद शब्द का प्रयोग अनेक स्थान में किया है। सुश्रुत ने, मूल वर्तन, त्वक् विरेचन, पुष्ट विरेचन, कफलविरेचन, तैल और पयोविरेचन ऐसे द्रव्यांग के उत्तम सुसार छ. प्रकार के रेचनद्रव्य कहे हैं उनका उल्लेख पीछे कर दिया है। चरक ने भी मूलिनी वर्तनोपग, अनुलोमक, इत्यादि नामों से विरेचन द्रव्यों का वर्णन किया है।

अनुलोमन अनुलोमन और संसन्धि सूटिवरचन के प्रकार हैं और भेदन तथा न उससे अधिक प्रभावी विरचन है। अनुलोमन दोषों का पाक करता है, अतः अनुलोमन न शीर से काम करते हैं। संसन्धि में पाक नहीं होता। वह उससे जट्ठी विरेचन करता है। न इच्छा भी पाक की अपेक्षा न रखकर तोड़ी कोड़ी कर मलों को निकालते हैं, वे संसन्धन से

## तालिका

क्र.	द्रव्यनाम	अन्य परिचायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
४.	सुधा सुक महावक्ष	स्तुक्-स्नूही थूहर सेहुंड	Euphosbia Nereei folia	सर्वत्र पाया जाता है। इसकी डंडा, त्रिधारा, चौधारा, अंगुलिया आदि कई प्रकार की जातियाँ होती हैं।	क्षीर कांड, मूल, पत्र	यह तीक्ष्ण विरेचन है। मृदुकोष्ठों में अप्रयोगार्थी। पांडू, उदर, उदर, गुल्म, दूषीविष, शोध, मधुमेह में उपयोगी है।
५.	सप्तला	सातला चिकाकार्ह	Acacia Rugata	इसका कांटेदार गुल्म होता है। पत्र अम्ल रुचिकर इसके सेम का स्नान के लिये, कपड़े धोने के लिये मसाले में उपयोग किया जाता है।	—	तिक्त, कटुविपाकी, लघु, शीत, शोधन वातला कफ, पित्त, रक्तविकार शोथ आनाह को दूर करती है। चरक ने विरेचन के मुख्य द्रव्य में निर्दिष्ट किया है।
६.	शंखिनी	यवतिक्त कालमेध	Andrographis Paniculata	शंखिनी को यवतिक्ता कहा है। यवतिक्ता नाम से कालमेध का वर्णन आचार्य प्रियवत शर्मा करते हैं। यहाँ उसी का वर्णन किया है। क्षुप १'-३' ऊँचा, कांड, चतुष्कोण पत्र २-३ इंच लंबे, पुष्प छोटे, श्वेत या नीला। बीज अनेक चतुष्कोण, लोमेश। अल्पत तिक्तव्य-वाकार फल।	पंचांग नातिशुष्क फल	तिक्त, पित्तसारक, रेचन, दीपन, पाचन, कृमिघ्न, शोथहर, ज्वरधन, गुल्म, हद्रोग, कुष्ठ, शोफ उदर में प्रयोज्य।

अन्यतरीय पद्धति विस्तृत

## तालिका

क्र.	द्रव्यनाम	अन्य परिचायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
७.	दंतीबीज	जयपाल जमालगोटा	Crotum-Tigilium	भावप्रकाश ने जयपाल को दंत-बीज कहा है। सदाहरित छोटे-वृक्ष पत्र २-४ इंच लंबे, दंतुर, फल लगभग १ इंच लंबा, अंडाकार, त्रिकोनी, बीज बादामी रंग के इसकी दूसरी जाति नागदंती कहलाती है। छोटा-सा गुल्म ३' से ६' ऊँचा। दो प्रकार-छोटी को लघुदंती और बड़ी को द्रवंती कहते हैं, पत्र एरंड सदूशा।	बीज बीजतैल	विरेचन, पित्तकफ नाशक, कटु, उष्ण, कृमिघ्न, जलोदर में उपयोगी।
८.	दंती द्रवंती	दंत	Baliospernum Monatum	प्रसिद्ध, सर्वत्र उपलब्ध, छोटा और बड़ा दो प्रकार का होता है।	मूल, बीज	गुरु, रुक्ष, तीक्ष्ण, कटुरस कटुविपाकी, उष्ण वीर्य, सर, विरेचन। अर्श, शूल, कंडु, कुष्ठ, विदाह, नाशक।
९.	उरुबुक पचांगुल	एरंड	Racinus Communis	प्रसिद्ध, सर्वत्र उपलब्ध, छोटा और बड़ा दो प्रकार का होता है।	बीज तैल	मधुर, गुरु, उष्ण, भेदन, स्वेदोपग, अधो-भागहर वातसंशमन श्वास, कास, अश्मरी, गुल्म, प्लीहा, आनाह, आमवात आदि का नाशक।
१०.	हरीतकी	हरड़ हरे शिवा	Terminilia Chebula	हरड़ भारत में सर्वत्र होती है। पंजाब के कांगाड़ा जिले की हरड़ उत्तम मानी जाती है।	फल चूर्ण	लवण छोड़कर, पाँचों रसों से युक्त। विशेषतः कषाय, अनुलोभन। लघुदीपन पाचन वृष्टि, ग्रायन, वय: स्थापन, बुद्धिवर्धन।

वैदिक वैज्ञानिक

۱۰۷

۱۴۰

## तालिका

क्र.	द्रव्यनाम	अन्य परि-चायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
१८.	काशमरी	पीलु	Gmellina-Arborea	मध्यम ऊँचाई का वृक्ष। पत्र ५ से १० लम्बे, ३ इंच चौड़े, फूल पीले, छाल-श्वेताभा।	फल-मूल	विरेचनोपग, दाहप्रशमन है। कटुतिक, मधुर, कषाय, गुरु, उष्ण। शोथ, त्रिदोष विषदाह, ज्वर, तृष्णा, रक्तविकार, भ्रम, अर्श, शोष, शूल, को नष्ट करता है। पित प्रशमन तथा मूत्रावरोध नाशक।
१९.	प्रकीर्या	करंज मुक्तनाल	Pongamia Glabra	मध्यमाकार वृक्ष—२५ से ५० फीट ऊँचे। पत्र २-५ इंच लम्बे। पुष्पदंड शाखा प्रशाखा युक्त। फल १। से २ इंच लम्बा चपटा अंडाकार। प्रत्येक फल में १ बीज। बीज में तैल रहता है। करंज, पूतिकरंज, चिर बिल्व करंजी ऐसे ४ वृक्ष निवृद्धि में निर्दिष्ट हैं। यहाँ करंज का परिचय दिया है। (वर्मन द्रव्य परिचय पृष्ठ २३६ भी देखें।)	पत्र त्वक्	लघु, तीक्ष्ण, तिक्त, कटु, कषाय, कटु-विपाकी, उष्णवीर्य। कफपित कुछार्श प्रमेह, उदर, व्रण, क्रिमि, शोथ नाशक, दीपन, पाचन, विरेचन, शिरोविरेचन।

आयुर्वेदीय पर्याप्ति विद्या

## तालिका

क्र.	द्रव्यनाम	अन्य परि-चायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
२०.	उदकीर्य	पूतिकरंज घृतकरंज कुवेराक्ष	Gaesalpinia-Bonducella	छोटा झाड़ीदार वृक्ष, कांड तथा शाखा पर कांटे, फूल पीले, फल दो इंच लम्बे, चपटे। बीज कठिन, बीजमज्जा श्वेत।	फलबीजमज्जा	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण, कटु, तिक्त कटुविपक उष्णवीर्य, विरेचन, संसन, वातकफापह शोथ, यकृत-प्लीहा वातम्ब।
२१.	कांपिल्स	कमीला कबीला	Mellotus philipoinensis	मध्याकृति सदा हरित वृक्ष, २५-३० फीट ऊँचा गूलेर के सदृश। पुष्पदंड, गहरे लाल रंग को पके फल लाल रंग के धूलि से आवृत, मसलने पर यह अलग हो जाती है। यही चूर्ण कबीला है। शाखा से भी कबीला मिलता है यह पीला निकृष्ट होता है।	फलरच चूर्ण	अधोभागहर, लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण, रसकटु, कटुविपाकी, उष्ण। कफपित, रक्त, कृमि गुल्म, उदर व्रणापह। रेचन, प्रमेह, आनाह विष तथा अश्मरी को दूर करता है।

वैज्ञानिक नाम

भी जल्दी काम कर सकते हैं, रेचन पक्व या अपक्व मल को द्रवित कर निकालता है—यह सबसे आधिक प्रभावी है। सामान्यतः वम्न में दोषों के पाक की अपेक्षा नहीं होती, किंतु विरेचन में पाक करके दोष निकाले जाते हैं।<sup>३</sup> अतएव ऊपर अपक्व का अर्थ ईर्षत् पक्व समझना चाहिये और चारों के कार्य में कम ज्ञाना पाक होता है ऐसा ही अर्थ है न कि विलक्षण अपक्व दव्व्यों को निकालने का अर्थ लिया जाता है।

अपवाहन करने का नियम विरचन दब्बों के समान विरचन दब्बों को भी विरचन दब्बों के प्रयोग भेद— वसन दब्बों के समान विरचन दब्बों को भी विचारणा के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयुक्त किया जाता है। उषा तीक्षणादि गुणों से युक्त व्यक्ति के भेदानुसार लेने में कठिनाई हो तो प्रत्येक को अनुकूल स्वरूप का, घन स्वरूप में चूपादि, वटक, बटी, मोदकादि, या तरल स्वरूप में रसादि तथा भोज्य कलेचन में उत्कारिका, कृशरा, मद्यादि, के साथ लेने में सुविधा हो यह इटिकोण इसके पीछे है। इसी तरह औषधि वीर्य का अधिक कालातक संरक्षण, विरचन प्रभाव को न्यूनाधिक (मुड़ या तीक्ष्ण) करनेवाले दब्बों के साथ संभिश्रण, प्राप्त परिस्थिति में यथोपलब्ध दब्बों के द्वारा विरचन प्रयोग की सुविधा, ये भी उद्देश्य इनके पीछे प्रतीत होते हैं। विरचन की नियन्त्रितिकरण कल्पनायें प्रयोग की हुईं सिलती हैं।

- |           |              |                 |
|-----------|--------------|-----------------|
| १. चूर्ण  | ७. बतिक्रिया | ३. आसाव         |
| २. अरिष्ट | ४. अवलोह     | ५. स्नेह-तेल    |
| ३. कथाय   | ६. पांसरस    | ७. पानक         |
| ४. युष    | ८. तंपण      | ९. बाढ़व        |
| ५. राग    | १०. घृत      | ११. मध्य-मुग्ध  |
| ६. यवगु   | १२. क्षीर    | १२. उपधेया      |
| ७. मोदक   | १३. यवगु     | १३. दही इत्यादि |

- सुश्रूत ने विरेचन द्रव्यों के

  १. घृतयोग
  २. तैलयोग
  ३. शीरयोग
  ४. मधयोग
  ५. मूदयोग
  ६. मांसप्रस्त्रयोग
  ७. अचलेहयोगों का प्रयोग किया है।
  ८. भक्ष्यात्रयोग
  ९. इसी तरह क्षीर, रस, कल्क, कषाय, शूतशीती, चूर्ण, ये कल्प यथोत्तर लघु हैं ऐसा कहा है। अर्थात् चूर्ण लघु है, और शूतशीतादि इसकी उपेक्षा ग魯 होते हैं।<sup>१४</sup>
  १०. गुणात्मसार विरेचन थेद—चरक एवं सुश्रूत ने स्त्रियां विरेचन और रक्ष विरेचन ऐसे शब्द प्रयोग किये हैं। जिनको बहुत अधिक स्वेहन किया गया है, अथवा जो स्त्रियां वाले लोग होते हैं उनको स्त्रियां विरेचन नहीं देना चाहिये और स्वेहपान से जिनके दोष उत्किळास्त हुए हैं उन्हें रक्ष विरेचन देना चाहिये।<sup>१५</sup> यहां चक्रपाणि ने “स्त्रियां विरेचन” के अर्थ “स्त्रियां विरेचन अर्थात् स्वेहपानकर विरेचन करना ऐसा किया है। अतिस्त्रियां को यथि स्वेहन कराकर विरेचन किया जायें तो स्वेह प्रकृष्ट के कारण अतियोग होकर प्रचलित दोष को भी निकालता नहीं है, और दोष स्रोतों में लीन हो जाते हैं अतः इन्हें रक्ष विरेचन देना चाहिये। इसी प्रकार का अभिप्राय मुश्तु ने भी व्यक्त किया है।<sup>१६</sup> तथापि यहां स्त्रियां विरेचन से ‘स्वेहन’ किये हुए पुरुष को विरेचन देना ऐसा अर्थ कलना आवश्यक नहीं है। स्त्रियां गुणक द्रव्यों से विरेचन देना स्त्रियां विरेचन और रक्ष विरेचन द्रव्यों से विरेचन देना रुक्ष

विरेचन ऐसा अर्थ करना चाहिये। सुश्रृत ने विरेचन में उपयोगी स्नेहों में, तिल्वक पर्द, आरवध, सप्तला, इत्यादि के नाम दिये हैं। विसर्प, पिङ्का, शोथ-कामला, पांडु, अभिषात्, और विषपीड़ित आतुरों को अधिक स्नेहन न करते हुए (रुक्ष) विरेचन देने को कहा गया है।<sup>१०</sup>

सख्ता के साथ निर्देश आगे किया गया है—देखें तालिका।

### विरेचन प्रयोग भेद तालिका

#### क्र. कल्पना विवृत चतु-तिल्वक सुधा सप्तला दंती रंगुल शांखनी द्रवंती

१. अस्त, कोंजी, दही, तक इत्यादि	३	१	१	३	१	१	१
२. मूत्र	३२	—	१	—	—	—	—
३. तुषेदक	३	—	—	१	१	१	—
४. पानक	—	—	—	—	—	—	—
५. मैरेय	३	—	—	—	१	१	—
६. यूष	३	—	—	—	१	१	—
७. वस्त्राथ	१	१	१	१	१	१	१
८. चूर्ण-कल्प	३२	—	१	१	१	१	१
९. तपणि, पानक	६	—	—	—	—	—	—
१०. शीर	२	—	—	—	—	—	—
११. यांस रस या मांस	१	१	१	१	१	१	१
१२. इयुरस	१	१	१	१	१	१	१
१३. ओषधि स्वारस	१	१	१	१	१	१	१
१४. लेह	१	—	—	—	—	—	—
१५. मोदक	१	—	—	—	—	—	—
१६. गारांडव	४	१	१	१	१	१	१
१७. मुरग-मद्य	१	१	१	१	१	१	१
१८. सौबीर	१	१	१	१	१	१	१
१९. सीधु	१	१	१	१	१	१	१
२०. उत्कारिका	१	१	१	१	१	१	१
२१. शृंति	४	—	—	—	—	—	—
२२. तैल	—	—	—	—	—	—	—
२३. चतुःस्नेह	—	—	—	—	—	—	—
२४. श्वेय	—	—	—	—	—	—	—
२५. आसवारिष्ट	—	—	—	—	—	—	—
२६. यवागु	—	—	—	—	—	—	—
<b>कुल</b>	<b>११०</b>	<b>१२</b>	<b>१६</b>	<b>२०</b>	<b>३१</b>	<b>४८</b>	

विरेचन ऐसा अर्थ करना चाहिये। सुश्रृत ने विरेचन में उपयोगी स्नेहों में, तिल्वक पर्द, आरवध, सप्तला, इत्यादि के नाम दिये हैं। विसर्प, पिङ्का, शोथ-कामला, पांडु, अभिषात्, और विषपीड़ित आतुरों को अधिक स्नेहन न करते हुए (रुक्ष) विरेचन देने को कहा गया है।<sup>१०</sup>

विरेचन जिनमें प्रशस्त होता है उन्हें विरेच्य और जिनमें अप्रशस्त होता है उन्हें अविरेच्य कहा जाता है।  
अविरेच्य<sup>११</sup>—चरक सुश्रृत तथा वाम्पट मतानुसार अविरेच्यों को नीचे स्पष्ट किया गया है।

### विरेचन योग्योग्यों का विचार

क्र.	अविरेच्य	चरक	सुश्रृत	वाम्पट
१. सुभग	+	—	—	—
२. क्षतगुद	+	—	—	+
३. मुक्तनाल	+	—	—	—
४. अधोग रक्तपित्त	+	—	+	—
५. लौष्ठित	+	—	—	+
६. तुर्बलेंट्रिय	+	—	—	—
७. अल्पानिन	+	—	—	+
८. निरुद्ध	+	—	—	+
९. कामाति व्याघ्र	+	—	—	+
१०. अजीर्ण	+	—	—	+
११. नवज्वर	+	—	—	+
१२. मदात्यय	+	—	—	+
१३. आध्यान	+	—	—	+
१४. शत्यादित	+	—	—	+
१५. अधिहत	+	—	—	+
१६. अतिनिराध	+	—	—	+
१७. अतिरक्ष	+	—	—	+
१८. दारण कोष्ठ	+	—	—	+
१९. धृतस्थीण	+	—	—	+
२०. अतिस्थूल	+	—	—	+
२१. अतिकृशा	+	—	—	+
२२. बाल-वृद्ध	+	—	—	+
२३. दुर्बल	+	—	—	+
२४. श्रांत	+	—	—	+
२५. निपासित	+	—	—	+
२६. कर्मभार अध्वहन	+	—	—	—

क्र.	अविरेच्य	चारक	सुश्रुत	वाग्भट
२७.	उपवासित	+	+	-
२८.	मैथुन प्रसक्त	+	-	-
२९.	अध्ययन प्रसक्त	+	-	-
३०.	व्यायाम प्रसक्त	+	-	-
३१.	चिन्ता प्रसक्त	+	-	-
३२.	क्षाम	+	-	-
३३.	गर्भिणी	+	+	+
३४.	नवप्रसूता	-	+	+
३५.	नवप्रतिश्याय	-	+	-
३६.	राजयक्षमा	-	-	-
३७.	अतिसार	-	-	+
३८.	शुष्ठित	+	-	+
३९.	नित्यदुःखित	-	-	+
४०.	हृदोगी	-	-	+
४१.	भयभीत	-	-	+

सुभग शब्द, सुभग गुद और क्षत गुद ऐसा चाकपणि ने विश्लेषित किया है। सुभग का अर्थ सुकुमार है। मुक्तनाल-जिसका गुदमार्ग संस्कृत न हो उसे मुक्तनाल कहते हैं। इससे गुदभंशा या तो गुदा से मलाविसर्जन कर्म का नियन्त्रण जिनका छूट गया है, ऐसी दो अवस्थाएं ले सकते हैं। कामादि वयस्म—काम वासना से पीड़ित, इससे शोक क्रोध भयादि मानसिक भाव भी उक्त समझना चाहिये। दारुण कोष्ठ का अर्थ कुर कोष्ठ है। जर्जर शरीर वाले आतुर, शोष स्पष्ट है। इनमें प्रायः,

१. ऐसी अदृश्याएं जिसमें विरेचन जन्य क्षेष सहन करने की समता न हो उदाहरण—

सुभग गर्भिणी, लंघित, श्रांत, उपवासितादि,

२. आशुकरिगोग—जैसे हृदेग क्षतनालादि

३. गुदा के रोग-क्षत—गुद मुक्तनालादि

४. व्याधि वेग और विरेचन वेग की समता वाले रोग उदाहरण— अथोग रक्तापिता,

अतिसार

५. सम अवस्था—नवज्वर, नवप्रतिश्या वादि, इत्यादि प्रकार के हेतु से विरेचन निषेध किया गया है। अविरेच्यों में यदि विरेचन दिया जाये तो महान उपद्रव उत्पन्न होकर आतुर का नाश हो सकता है।<sup>११</sup>

यदि सुभग<sup>१०</sup> में विरेचन कराया जाये तो सुकुमारोक्त उपद्रव अर्थात्—हृदयाकर्ण से कठर्व या अधोभग में रक्तप्रवृत्ति होती है। जिसकी गुदा में क्षत है उसे विरेचन करने से

भयकर रुजा उत्पन्न होती है, (विलेषित, दुर्बलोदिय, अल्यानि, जिन्हें निरुह बर्ति दी गई है, वे विरेचनानीषधि का वेग सहन नहीं कर सकते।) अजिर्णि को विरेचन आमदोष उत्पन्न करता है। नवज्वर में अपव्यव (आम) दोष होने के कारण, विरेचन उत्तें निकाल नहीं सकता और वात प्रकोप होता है। मादात्यय में मध्य के कारण अति क्षीण देह में वायु प्रकृष्टित होकर प्राणोपरेष्य (पीड़ा) करता है। आध्यान से फैडिंट आतुर का कुक्षी पहले ही वायु से फूली हुई होती है, फट अतः विरेचनानीषधि के द्वारा प्रक्षोभ से वायु इत्यस्तः संचार कर आनाह उत्पन्न करता है, फट को खूब फुलता है, और (या) पराण भी कर सकता है। शल्य से पीड़ित आतुरों में विरेचन से शल्य क्षत में वायु प्रकोप से जीवित नाश का संभव होता है। अतिरक्ष को विरेचन से प्रकृष्टित वायु शारीर को जाकड़ देता है। कुरकोष्ठ को विरेचन देने से विरेचन तो जल्दी नहीं होता, दोष प्रकृष्टित होकर हृच्छुल, पर्विषेद, आनाह, अंगमर्द, च्छर्दि, मूच्छा, कलम उत्पत्त कर प्राण भी हर सकता है। क्षतादि से गर्भिणी तक के आतुरों को विरेचन करने से कमन में कहे गये दोष उत्पन्न होते हैं। मुक्तनाल, अथोग रक्तप्रतिश्या आतुरों में विरेचन से अतिप्रवृत्ति का भय रहता है। काम, क्रोध, शोक, भयादि उपतप्त मन वाले आतुर को विरेचन देने से बहुत तकलीफ से विरेचन होता है, और अयोग लक्षण उत्पन्न होते हैं, अथवा वेग की प्रवृत्ति ही नहीं होती यहां यह भी स्मरणीय है कि शोक और भय ये दोनों अतिसार के भी हेतु कहे गये हैं।<sup>१२</sup> अतः इनमें अतिप्रवृत्ति की शक्यता भी रहती है।

इनमें जहां साम दोष है वहां पहले कहे गये अनुसार दीपन, पाचन, स्नेह पिलाकर बाद में विश्लेष्ट आम में विरेचन करावे। (आध्यानाहादि को फलवर्ती, निरुह या अनुवासन के बाद स्नेहन कर विरेचन कराना चाहिये। अजिर्णि, अग्निमंग्य में दीपन पाचनकर यथावश्यक विरेचन करावे। अतिरक्ष को स्नेहन कराकर विरेचन दें। अतिनिष्ठापि को अपने आप ही कहें बार विरेचन होते देखा गया है। मदात्यय को स्नेहप्रापन कराकर विरेचन कर सकते हैं। यहां अविरेच्य कहे गये व्याधियों में तथा आगे विरेचन कहे गये व्याधियों में, वमन अच्याय में कहें हुए सामान्य विषय ध्यान में रखकर, केवल अपनिवेश न रख कर्म का ऊहापोह से विचार करना चाहिये।

विरेच्य—चारक, सुश्रुत एवं वाग्भट के मतानुसार उपर्युक्तों के अतिरिक्त सब तथा खासकर निम्नोक्त प्रकार के आतुर विरेचन योग्य होते हैं।

विरेच्य-तालिका <sup>१३</sup>				
क्र.	विरेच्य	चारक	सुश्रुत	वाग्भट
१.	जर्	+	+	+
२.	कुष्ठ	+	+	+
३.	प्रमेह	+	+	+
४.	ऊर्ध्वग रक्तप्रिप्ति	+	+	+
५.	भांदर	+	+	+
६.	अर्श	+	+	+
७.	ब्रह्म	+	+	+

क्र. विरेच्य	चरक	सुश्रृत	बागभट
१. स्लीहा दोष	+	+	+
२. जूल्म	+	+	+
३. अद्वृद्ध	+	+	+
४. गलगांड	+	-	-
५. ग्रंथि	+	-	+
६. गर	-	+	+
७. विशुचिका	+	+	+
८. अलसर	+	+	+
९. मुत्राचात	+	+	+
१०. कुमिकोष्ठ	+	+	+
११. विसर्प	+	+	+
१२. पांडु	+	+	+
१३. शिरःशूल	+	+	+
१४. पाश्वशूल	+	+	+
१५. उदावर्ते	+	+	+
१६. आस्थदाह	+	+	+
१७. हृद्रोह	+	+	+
१८. व्याय	-	+	+
१९. नीलिका	-	+	+
२०. अरुचि	-	+	+
२१. नेत्रस्राव	-	+	+
२२. नासाक्षाव	-	+	+
२३. हलीमक	-	+	+
२४. रक्ताच	-	+	+
२५. नीलिका	-	+	+
२६. अरुचि	-	+	+
२७. नेत्रस्राव	-	+	+
२८. नासाक्षाव	-	+	+
२९. रक्ताच	-	+	+
३०. नीलिका	-	+	+
३१. रक्ताच	-	+	+
३२. कास	-	+	+
३३. कामला	-	+	+
३४. अपनी	-	+	+
३५. अपस्मार	-	+	+
३६. उन्माद	-	+	+
३७. वातरक्त	-	+	+
३८. योनिवेष	-	+	+
३९. रेतोवेष	-	+	+

विरेच्यों पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि विरेचन का कार्य अतीव व्यापक है।

विरेचन योग्यों में निम्नलिखित सामान्य हेतुओं का विचार किया जा सकता है।

१. पित्त दोष और पित्त प्रथन अन्य व्याधियों में विरेचन प्रशस्त होता है।

उदाहरण—दाह (नेत्रादि), पांडु, हलीमक, कामला इत्यादि।

२. रक्तज रोगों में विरेचन प्रशस्त होता है।<sup>३३</sup> विरेच्यों में दिये गये उपर्युक्त रोगों में कुछ, विसर्प, रक्तापित, गुदमेड़ाति पाक, स्लीहा, जूल्म, विद्रधि, नीलिका, व्याय,

लातरक्त, इत्यादि।

३. व्याधि गति से विपरीत गति करना जिनमें आवश्यक हो ऐसी व्याधियाँ

उदाहरण—ऊर्ध्वग्रस्तपित, क्षर्ति इत्यादि।

४. जिनमें शोधन प्रथन है और मलों को बाहर निकालना अन्यावश्यक होता है ऐसी

व्याधिया उदाहरण—उदावर्ती, कुमिकोष्ठ, गरदोष, विलंघ शोथ इत्यादि।

५. जिनको लम्बन के बाद, विरेचन इत्यादि रोधन प्रशस्त है ऐसे तिकार

६. ऐसे अवयवों के रोग, जिनके अंदर पित्त का अधिक्षान है। उदाहरण-हृदोग (साथकपित्त का स्थान), ऊर पाचकपित्त-आमाशयोद्दोग), इवास (आमाशयोद्दोग-पित्तक) व्यांग्य-नीलिकादि (त्वक्-भ्रजक पित्त), कमला (यचूल-रंजक पित्त) इत्यादि। चारक, सुशुल एवं वाभटादि में जहाँ—(ऋण) चिह्न लगाया है वहाँ विरेचन का निवेदन न समझ। अपितु जहाँ + है, वहाँ विशेष उपक्रम समझना चाहिये।

### विरेचन-विधिप्रधान

विरेचनविधि एक अत्यंत सरलविधि है। वर्मन, बस्ति, नस्य, रक्तमोक्षणादि कर्मों के समान—इसमें कर्म की जटिलता नहीं है। विरेचनोधिष्ठि पिलाना यहीं एक काम होता है। तथापि शास्त्रीयरीति से विचार करना हो, तब विरेचनविधि में भी पूर्वकर्म, प्रधानकर्म, पश्चात्कर्म पद्धति से कुछ महत्वपूर्ण विषयों का अध्ययन जरूरी होता है। उनको यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

पूर्वकर्म—विरेचन के पहले १. संभार संग्रह २. आतुरपरीक्षा ३. आतुर सिद्धता।

४. मात्राविनियनचय करना चाहिये।  
संग-गर संग्रह—विरेचन पूर्व स्नेहन, स्वेदन (और वर्मन भी) किया जाता है अतएव स्नेहनादि प्रकरण में कहे हुए संभारों का संग्रह करावे। विरेचन साध्य रोगों में स्नेहनार्थ सामान्यतः, तिक्तविष्ट, महातिक्तविष्ट, षट्प्रतिष्ट, कल्याणकवृत्त, इडुक्कान्तवृत्त, बासादिष्ट, पिप्पल्यादिष्ट, शुद्धष्ट, तिलतैल, आदि का भरपूर मात्रा में संग्रह करना चाहिये। प्रत्येक आतुर के लिए २ से ३ किलो तक स्नेह संचय करना चाहिये। स्वेदन के लिए वाष्पस्वेदन यंत्र, नाईस्वेदन यंत्र, अथवा अभाव में होलाक स्वेदन साधनों को संग्रहीत करें।

विरेचनोधिष्ठि के अनेक योग प्रथम में उद्दृष्ट हैं। इस अध्याय में आगे चारक कल्प स्थान से विरेचनकल्पों का वर्णन किया है। उनका या उनमें से यथायायों का संग्रह करें। इनमें चूर्ण, कल्क, यूष, आसवारिष्ट, क्वाथ, मध्यादि अनेक योग हैं उनका आतुर की रुचि के अनुसार प्रयोग करें। सामान्यतः जिनका प्रयोग हमेशा कर सकते हैं उनमें, विवृत चूर्ण, स्वर्णपत्री चूर्ण, हरितकी, विफला इनका पृथक् या इनसे निर्मित योग—कटुका, आरवध, द्राशा, हरितकी, इनके क्वाथ, एंड तैल, अभ्यारिष्ट, जयपलादि के योग—अश्वकंचुकी, ऊलोदारादि, नाराचरस, इच्छाभेदी रस, इत्यादि का संग्रह करें। मलापन-(Bedpans) में केंटेष, औषधि रखने के स्वच्छ पात्र, मानांकित (Meassure glass) कांचपत्र, मल परीक्षणार्थ सुविकिस्त प्रयोगशाला, (यदि संभव हो) आदि संग्रह में हो तो उचित मुविधा होती है। विरेचन में संभाव्य व्यापदों का विचार कर चिकित्सा में उपयोगी द्रव्य संग्रहीत करें। अतियोग के लिए कुट्ट-धनवटी, शखोदर, कमुरदर, जारीफलादि चूर्ण, बिल्वादि चूर्ण, संजीवनी बटी, तथा अन्य व्यापद में यथायोग्य बरतने के लिए मूलशेखरस, शाखबटी, हिंवट्टक, शिवाक्षारपाचनचूर्ण, पिञ्चाबस्तिकल्प, अनुवासन बस्ति कल्प, फलवर्ति, इत्यादि संग्रहीत करें।

आतुरपरीक्षा—वर्मनकर्म के समान ही यहाँ आतुरपरीक्षा विषय समझना चाहिये।

अर्थात् आतुरपरीक्षा के हेतु—  
१. आतुरविरेच्य है या नहीं इसका निर्णय करना,

२. विरेच्य आतुर को विरेचन का उत्तम मध्यादि मात्रा निश्चित करना,

३. विरेच्यातुर में विरेचन के दिन कोई अविरेच्य व्याधिशारीरिक या मानसिक उत्पन्न तो नहीं होते हैं ही इसका निश्चय करना और

४. व्याध्यनुरूप व्याध्यनुरूप स्नेहपत्रन तथा विरेचन द्रव्यों का चुनाव करना—यह है।

प्रयोग: आतुर परीक्षा में आतुर स्नेहनार्थ, स्वेदनार्थ, वर्मनार्थ, भ्रजन और आतुर की दोष, भ्रज, देश, चाहिये। वर्मन प्रकरण में कहे गये अनुसार विरेचन पूर्व भी आतुर की दोष, भ्रज, देश, भ्रजन में रखकर परीक्षा करनी चाहिये। ३५ फिर स्नेहपत्रन काल से प्रारंभ कर प्रतिदिन नाई, पूर्ण, मल, जिव्हा, शब्द, स्पर्श, द्वा और आकृति की परीक्षा करता रहे, और इस तरह जो विरेच्य आतुर है उसकी विरेचनार्थ सिद्धांत करें।

आतुर सिद्धता<sup>३६</sup>— आतुर सिद्धता—१. स्नेहन २. स्वेदन ३. वर्मन ४. संसर्जन-नक्षम पूर्व लादि वर्मन, स्नेहन ६. विरेचनोपाय भोजनादि विचार के द्वारा करनी चाहिये। विरेचन के संसर्जन-नक्षम कर्म के अनुसार सर्व विधि-स्नेहन, स्वेदन, वर्मन और संसर्जन कर्म के लिए पुनः स्नेहपत्रन प्रारंभ करावे। विरेचन कर्म वर्मन के १०वें दिन आता है अतः संसर्जन-नक्षम के जाद और विरेचन के लिए पुनः स्नेहपत्रन १५ जिनको वर्मन के बाद विरेचन न देना हो दिन प्रारंभ करना होता है। चक्रपाणि कहते हैं कि जिनकी वर्मन के बाद विरेचन न देना हो उनके लिए और विरेचन के काल के प्रकृति-भोजन देना चाहिये। ३५ जिनको वर्मन के बाद स्नेहपत्रन के जाद स्नेहपत्रन काल में करना है उनको संसर्जन के जाद स्नेहपत्रन प्रारंभ करना होता है, अतएव स्नेहपत्रन काल में अनुकूल भोजन देना चाहिये वह मात्रार्थ है। यदि वर्मनादि न करते हुए विरेचन करना होता है तथापि शुश्रुत ने विरेचनपूर्व वर्मन भी स्नेहन और स्वेदन ये पूरकर्म तो करना ही चाहिये। तथापि शुश्रुत ने विरेचन दिया जाए तो—आवश्यक कर्म भी बताया है। उनका मत है कि यदि वर्मन के विना विरेचन दिया जाए तो—सम्प्रथक् विरेचन होते हैं पर भी विरेचन के द्वारा नीचे गया हुआ कफ ग्रहणी पर आवृत्त होता है और गौरव या प्राचाहिका, उत्पन्न करता है। ३० स्नेहपत्रन ७ दिन तक करें। यदि वर्मनोन्तर और गौरव या प्राचाहिका, उत्पन्न करता है। ३० स्नेहपत्रन अर्थात् ४ दिन तक स्नेहपत्रन हो तो यह संसर्जन क्रम के जाद १०वें १०वें और ११वें दिन अस्वेदन-भोजन देना चाहिये। स्नेहन के बाद करें। फिर ११, १३, १५वें और १५वें दिन अस्वेदन करना चाहिये। ३५ वर्मन के बिश्राम के बाद तीन दिन तक विश्राम कर विरेचन करना चाहिये। विश्राम का अर्थ—स्नेहपत्रन बंद रखना यह करना होता है। अगर आतुर को कोई अस्वेदन-भोजन देना चाहिये। ३५ भोजन ऐसा हो जो कफ की स्नेहपत्रनोन्तर ३ दिन विश्राम कर विरेचन करावे। विश्राम के बाद ही दिन के विश्राम के बाद ही विरेचन कर विरेचन करना चाहिये। ३५ भोजन ऐसा हो जो कफ की द्रव्य, उष्ण, मांस रस, भात, अम्लफलों के रस देना चाहिये। ३५ भोजन होने पर ही विरेचन अच्छा हो सकता है, और कफवृद्धि हो तो बृद्धि न करें। कफ अल्प होने पर ही विरेचन अच्छा हो सकता है। ३० अतएव लघु भोजन देवे और गरम पानी का विरेचनोषध विरेचन के बदले वर्मन करानी है। ३० अतएव लघु भोजन देवे और गरम पानी का उपयोग पानार्थ करना चाहिये।

वर्मनकर्म के लिए जिस दिन वर्मन किया जाता है, उस दिन प्रातः काल में भी सर्पिसिद्ध यथागु अथवा द्वृष्ट इत्यादि सेवन कराया जाता है, किंतु विरेचन के कर्म में जिस दिन विरेचन कराना हो तस्वीर दिन नहीं देना चाहिये। वर्मन आमाशय की पूर्णता पर ही अच्छा होता है और विरेचन-रिक्त होने पर ही अच्छा होता है।

क्योंकि दिया हुआ भोजन उरल कक्ष को बढ़ाता है, और वमन के लिए कफवृद्धि अपेक्षित है। विरेचन में कफवृद्धि होना ठीक नहीं है अतः बिना भोजन के विरेचन ठीक काम करता है। यहां विशेष स्मरणीय यह है कि वमन के लिए कफोत्स्वेशकर आहार आवश्यक है, किंतु विरेचन में मात्र “कफ की अवृद्धि करना” ही अपेक्षित है—न कि पितृवृद्धिकर आहार, क्योंकि वृद्धि पित जाठरानि को प्रदीपकर विरेचनोपथ का भी पचन कर सकता है जो अन्योग में कारण होता है।<sup>१५</sup> कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि स्नेहपन काल के अन्दर व्यक्तिको स्वयं ही वमन या विरेचन प्रारंभ हो जाता है। इस तरह हो जाये तो पुनः उसको कर्म की आवश्यकता नहीं है। उसे वेदनीय भोजन (यवक्षारादि के द्वारा) देकर शोधन करें।<sup>१६</sup> इस तरह भोजनादि की व्यवस्था कर, ३-दिन अध्ययन और बाष्पस्वेद कर नीचे लिखे हुए विषय ध्यान में रखते हुए विरेचन देना चाहिये।

१. जिनको प्रदर्श स्नेह दिया हो उसे स्नेह विरेचन देना चाहिये।

२. विसर्प पिङ्का, शोफ, कामला, पांडु, कुष्ठ, प्रमेह एवं विषपीड़ितों में अधिक स्नेहन करते हुए विरेचन देना चाहिये।<sup>१७</sup>

३. मांदागिन और कूर कोष्ठी को शार, लवण और शूत से अग्नि प्रदीप्त कर कफवात को जीतकर विरेचन देना चाहिये।<sup>१८</sup>

४. इसके अन्तर आतुर की मानसिक सिद्धता भी करनी चाहिये।<sup>१९</sup> उसे समझाना चाहिये कि कल उसे विरेचन दिया जाएगा (श्वो वमनं पायचितास्मि) और उसके लिए क्या औषधि दी जाएगी, किन्तु टटिट्याँ उसे हो सकती हैं, उसे कब और किस प्रकार का भोजन करना चाहिये, क्या-क्या व्यवहार न करना चाहिये इत्यादि के द्वारा उसे मानसिक सिद्ध करना चाहिये।

५. मात्रा विनियोग्य—वमन विधि में वमन मात्रा के जो सामान्य विषय कहे गये हैं वे यहां भी अनुसरणीय होते हैं। मात्रा ऐसी हो जो अन्योग और अतियोग को न करे। सम्प्राणोग में मात्रा करें इसलिए “विरेचनोपथि” तथा “विरेच्य आतुर” दोनों के अनुसार मात्रा निश्चितता करनी होती है। जो औषधि पानी में सड़ी न हो, कैंटों से खाई हुई न हो, आतुर के देश के अनुकूल हो तीर्य प्रकर्ष के काल में ग्रहण की हुई हो तथा मामनवीर्य औषधियों से भवित्व की हुई तो ऐसी औषधि तीक्ष्णता धारण करती है।<sup>२०</sup> स्मिरण और खिंच आतुर में ऐसी औषधि थोड़ी सी अधिक मात्रा में देनेपर भी तीक्ष्ण विरेचन कर सकती है।

आतुर में पाच जातों का स्मरण रखना चाहिये—१. उर्बल आतुर, २. जिसका पहले शोधन किया गया हो, ३. जिसको दोष अल्प प्रमाण में विकृत हो, ४. जो कृश हो, तथा अल्प औषधि दी जात न हो उसे मृदु और अल्प औषधि ही देना चाहिये।<sup>२१</sup> इन आतुरों में व्युत्पत्ति का भय रहता है। कोष्ठ तथा अनिन का औषध मात्रा के लिए बहुत महत्व होता है। अन्यथा अति कोष्ठ अद्य दो बार मिलाकर थोड़ा दोष हरण करना प्रशस्त होता है। अन्यथा अति गुड़ इशुरस, दधिमस्तु, दूध, उल्लोड़ित (हड्डी का पानी) पायस, खिंचडी, भी गंभारी, विफला, द्राक्षरस, पीतुरस, गरम जल तथा मध्य इनके गिने पर जिसे विरेचन होते हैं उसे मृदु कोष्ठी समझा जाता है।<sup>२२</sup> साधारण कोष्ठ में इनसे अधिक बार दृढ़ी न होते हुए साम्यक् एकबार मल प्रवृत्ति होती

है। कूर कोष्ठी व्यक्ति में ग्रहणी में वात का प्राथान्य होता है और मृदुकोष्ठी में पितृ प्रधान, तथा वात और कफ अल्प प्रमाण में रहते हैं।<sup>२३</sup>

जिसकी अग्नि बहुत तीस्रा है उसे तीस्रा औषध अधिक मात्रा में देना चाहिये और मंत्रानि में मृदु औषध अल्प मात्रा में देना चाहिये। वमन में पाक की अपेक्षा न होने से कोष्ठ और अग्नि बल का महत्व कम होता है, और शरीर तथा आतुर बल का ही प्रधानतया विचार किया जाता है। तथापि विरेचन में आतुर बलादि के साथ औषधि, दोष पाकादि विचार के कारण अग्नि और कोष्ठ का भी महत्व होता है। मात्रा का सामान्य प्रयाण कहा है कि वित्तुरादि के सामल योग १ अस्य (१ तोला) प्रयाण में देना चाहिये। शार्हाद्धर ने<sup>२४</sup> विरेचनोपथ की मात्रा देते हुए कहा है—क्वाष की उत्तममात्रा २ पल (८ तोला) प्रधान मात्रा १ पल (४ तोला) और हीनमात्रा आधीश्वर्य (२ तोला) देनी चाहिये। चूर्ण कल्क इत्यादि की उत्तम मात्रा ४ तोला प्रधान मात्रा २ तोला और हीनमात्रा १ तोला देनी चाहिये।

अनुभव से निम्नलिखित द्रव्य निम्नोक्त मात्रा में प्रशस्त हैं

क्र. द्रव्य	मृदुकोष्ठी	मध्य-या साधारण कूरकोष्ठी
१. एरं न्नेह	१/२ तो. से १ तो.	२ तो. से ५ तो.
२. विवृत, स्वर्णनी	१ से ३ माशा	३ से ६ माशा
३. इत्यादि योग (चूर्ण)	१ तो. से २ तो.	५ तो. से १० तो.
४. द्रक्षा, आरवध	१ तो. से १ तो.	४ तो. से १० तो.
५. हरीतिकी फाट;		
६. निफला कवाण इत्यादि		
७. जयपाल, स्फुरी	१/२ र. से १ र.	१ र. से २ र.
८. इस्पगोल	३ माशा	३ से ६ माशा
९. माशा	३ से ६ माशा	६ माशा से १ तो.
१०. रुपयुक्त तालिका में दर्शित मात्राएँ वयस्क पुरुषों के लिए अर्थात् २० वर्षान्यु से ५० वर्षान्यु तक के लिए समाझे और न्यून तथा उत्तम मात्रा जो दी है—वह उत्तम द्रव्यों में जघन्य तथा उत्तम विरेचनार्थं प्रयुक्त समझनी चाहिये।		
११. उपयुक्त तालिका में दर्शित मात्राएँ वयस्क पुरुषों के लिए अर्थात् २० वर्षान्यु से ५० वर्षान्यु तक के लिए समाझे और न्यून तथा उत्तम मात्रा जो दी है—वह उत्तम द्रव्यों में जघन्य तथा उत्तम विरेचनार्थं प्रयुक्त समझनी चाहिये।		
१२. विरेचन के लिए उपयुक्त द्रव्यों का प्रयोग दिया है, उनके अनेक बार अनुभव के द्वारा दृष्टिगोचर हुआ है कि न्यूनतम मात्रा में (क्र. ५ सिलाय) ये तत्त्व आतुर को ७ से ८ बार तथा अधिकतर मात्रा में १५ से १५ बार विरेचन करते हैं। यदि इसका और तीज़ परिणाम अपेक्षित हो तो इनमें फाट और नाराच रस इत्यादि का एकत्र उपयोग करना चाहिये। दूसरे शब्दों में दंती बीजों को, आरवधादि विरेचक व्याघ्रों के साथ प्रयोग याने तत्समान द्रव्यों की भावना में जो गुण हैं उनका परिवर्धन ही है। मात्रा में जैसे द्रव्य के प्रमाण जो विचार किया जाता है वैसे ही दोष के अनुसार द्रव्य को चुनना मात्रा व उपयोग के लिए और प्रशस्त है।		
१३. कफ दोष में—तीक्ष्णा, उष्णा और कट्टु रस के द्रव्यों से, पितृदोष में मधुर, शीत द्रव्य का उपयोग करना श्रेयस्कर है। शार्हाद्धर और भावप्रकाश ने निम्नोक्त द्रव्यों का प्रयोग प्रशस्त करा तो उपयोग करना श्रेयस्कर है।		
१४. मात्रा होती है—तीक्ष्णा, उष्णा और कट्टु रस के द्रव्यों से, पितृदोष में मधुर, शीत द्रव्य का उपयोग करना श्रेयस्कर है।		

पित्त या पित्त ग्रथान दोषों में—विवृत्त चूनी और द्राक्षा दवाय का प्रयोग करें। लकड़ी या कलफधान दोषों में—निफला दवाय, गोमूत्र और विकटु का प्रयोग करें। वात प्रधान दोषों में—विवृत्त सेंधव और शुद्धिचूर्ण काजी या दांस रस के साथ दे। शार्हाधर और धावप्रकाश ने ऋतु के अनुसार दवा प्रयोग कराए हैं वे चारोंकाल कल्प स्थान के विवृत्त योगों के कल्प हैं उनका इस अध्याय में आगे विवेचन किया है। सारांश उपर्युक्त दव्यों की योग्य मात्रा निश्चित कर विवेचन की सिद्धता करें।

१. विवेचन कर्म में विवेचनोषधि के सेवन से विवेचन वेगों के निवृत्ति तक के वैद्य के कर्तव्य समाविष्ट होते हैं। इनका निर्माकित क्रम से विचार किया जाएगा।

#### १. विवेचन योग का सेवन

##### २. आतुर परिचर्या एवं निरीक्षण

##### ३. वेग विनियोग

##### ४. सम्पर्ग-आयोग तथा अतियोग लक्षणों का निरीक्षण

##### ५. विवेचन व्यापत् एवं प्रतीकार

६. विवेचन योग का सेवन—सम्पर्ग, स्नेहन स्वेदन किये हुए, सुजर, लघु उष्ण कफवृद्धिकर भोजन किये हुए, अस्थयां और स्वेदन कर पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध आतुर को, अच्छा दिन देखकर प्रातः पहले का भोजन पचा हुआ जानकर, रात में अच्छी नीद लिया हुआ जानकर, अच्छी तरह मनोबल से युक्त समझकर सुबह ७ से ८ बजे के बीच स्वस्तिवाचनादि कर विवृत्त चूर्ण या अन्य कोई विवेचन योग पिला देवें।<sup>१५</sup> वाराघट ने कफकाल चला जाने पर विवेचनोषधि पिलाने को कहा है।<sup>१५</sup> यदि प्रातः काल कफ का, मध्याह काल पिला का इस तरह माने तो विंगत कफ काल में मध्याह समय हो जाएगा और उच्चाभिभूतादि गुणों के कारण मध्याह काल में विवेचन देना प्रस्तुत नहीं है। अतएव वर्योऽहो गति भुक्तानां तत् मध्यादिग्ा: क्रमात् के अनुसार दिन के प्रारंभ में कफकाल होते हुए भी प्रारंभिक काल बीत जाने पर विवेचनोषधपिलावे। सामान्यतः विवेचनोषध में प्रयोगाद्य योग है—

१ तोला	१ तोला	१ तोला	१ तोला
आरवध-	+ जल १६ तोला	मिलाकर ४ तोला	शेष रखें।

यह व्याध ४ तोला लेकर इसमें २। तोला एंडेतेल मिलाकर २ तोला (४ रत्ति) इच्छाभेदी रस मिलाकर घोलकर पिलावे। इससे तीक्ष्ण विवेचन होता है। यहाँ व्यान रहे कि कवाह ठंडा होने पर इच्छाभेदी मिलाकर पिलावे। इसी तरह मध्यम वेगों की अपेक्षा होते ही इच्छाभेदी न मिलावे, और जघन्य वेगों की अपेक्षा हो तो केवल कवाय या एंड स्नेह पिलावे।<sup>१६</sup>

७. आतुर परिचर्या एवं निरीक्षण—विवेचनोषधि पिला देने के बाद कुछ अतुरों में औषधिगंध तथा उत्क्षेत्रोशकारक अरुचिपूर्ण स्वाद के कारण छुड़ि होने की समावना रहती है। वैसे ही वमन विवेचन दब्बों के गुण भी समान होते हैं और विवेचन की कई औषधियां कोछाड़ि की अपेक्षा कभी वमन करती हैं। अतएव औषधपान के तुरन्त बाद आतुर के

मुख्यपर शारीर जल स्वेदन कर प्रश्नालग्न करें, और गरम घानी से कुलते कालकर भुख के अंदर का घास रखकर करावें। पिर तोके लिंबु (जंबीर, अस्थवा मातुरुंग), आद्रिमिटटी (बरसात के पहले पहले छीठे से जो मिट्टी सुखायित हुई हो), तथा सुखायित फूलों के पूर्वुर गंधों को सुधावे और जहां प्रत्यक्ष ठंडी हवा प्रदेश न करती हो ऐसे आतुरान्त में शाव्या पर लिटाकर विश्राम करावें। वेगों की लकाबट न हो इसीलिए बांबर गरम पानी थोड़ा पिलावे। वेगोदीरण होते समय अधिक कुंथन न करते हुए शाय्यासन में ही प्रतिश्रव्म है (Bed pan) ठंडे जल का संपर्क न करते हुए वेगों का विसर्जन कराने को कहें।<sup>१७</sup>

विवेचनोषधि के बाद प्रायः गरम पानी महासोत्स में वात अनुलोमन करता है और औषधि की योगवाही स्वरूप में सहाय्य करता है, तथापि जयपाल के योग-इच्छाभेदी, नाराचरस, जलोदरादि इत्यादि के द्वारा विवेचन किया हो तो शीतजल ही पिलावे। क्योंकि गरम पानी से इसके उड़नशील तैल के धुल जाने पर कार्य मंद पड़ जाता है। यदि औषधि से विवेचन न हो तो बांबर जल पिलाना (गरम-अन्यन शीत) हाथ के तलवें को गरम कर कोच्छ पर स्वेदन करना ये उपाय करें।<sup>१८</sup>

१. औषधि का कार्य कैसे हो रहा है? अर्थात् हृतदोष लक्षणों का निरीक्षण करें।
२. औषधि बिना कार्य किये ही पच जाती है? अर्थात् जीणोंषध लक्षणों को देखें।
३. औषधि का अजीण अर्थात् अलीणोंषध लक्षण।

१. हृतदोष लक्षण—योग्य विवेचन हो तो प्रथम यल, फिर पिलत फिर कफ का विवर्जन होता है। इसे ही कफांत विवेचन भी कहा है। विवेचन में अंत में केवल वात का विवर्जन होता है। अतएव कफांत तक ही अपेक्षा रखी गई है। गांव में दौबल्य और लषुता ये भी दोष ठीक तरह निकल गये, इसके लक्षण हैं।<sup>१९</sup>

अगर हृतदोष के उपर्युक्त कहे गये लक्षण पिल जायें और विवेचन प्रवृत्ति बंद न हो, अर्थात् औषध शेष हो तो—मदनफल वचा और सैंधव चूर्ण खिलाकर वमन से औषध निकाल दे। यदि लषुता उत्पन्न न हो और अन्य लक्षण उत्पन्न हो तो वमन न करावे।<sup>२०</sup> अर्थात् उसे औषधि द्वारा विवेचन होते होने दे।

२. जीणः अजीण औषध लक्षण—वमन प्रकरण में कहा गया है कि औषध जीण होने पर—वातानुलोमन, त्वास्त्वय, भूख और प्यास लगता, मन, प्रसन्न होता, इदियों में लघुता, शुद्ध डकार का आना, ये लक्षण उत्पन्न होते हैं वे ही विवेचनोषध की जीणता के लक्षण समझाना चाहिये। उसी तरह—शरीर की थाकावट, दाह, अंगसाद, ब्रम, मूळ्डा, शिरः शूल, अग्नि, दौबल्य ये लक्षण उत्पन्न होने पर औषधि का अजीण हुआ है ऐसा समझना चाहिये। यदि औषध अजीण हो और अयोग हो तो दूसरी बार विवेचनोषध न पिलावे, क्योंकि अयोग में शोषोंषध को दूसरी औषध पिलाने पर अतियोग का भय रहता है, किंतु औषध जीण हो और विवेचन के हृतदोष के लक्षण न मिले तो उस दिन भोजन कराकर दूसरे दिन पुनः विवेचनोषध देना चाहिये। अगर फिर भी विवेचन न हो तो १० दिन के बाद पुनः स्वेदन कर पहले कहां भूल हुई थी इसका विचार करते हुए भूल को सुधाकर विवेचन करावे।<sup>२१</sup>

अगर औषधि के द्वारा दोषों का अवरोध हो जाये, और वमन से न विवेचन से उनकी

प्रवृत्ति हो, आतुर को डकार आती हो, अगांवद्दी हो तो उनके नाथिडर पर तापस्वेद (Hot Water bag, या इंट, या वस्त्र से) करें।<sup>१०</sup> अगर विरेचन बाल में तुल्या शोषण भूख, इत्यादि पित्त लक्षण उत्पन्न हो तो मिलान गुजर और शीत औषधि का प्रयोग करें।<sup>११</sup>

३. वैग किणियाँ— विरेचनीयथ पित्ताने के बाद मल से संतुक्त जो पहले दो तीन वेग आते हैं उनको छोड़कर विरेचन वेगों को गिनना चाहिये।<sup>१२</sup> बमन के सदस्य ही विरेचन में भी प्रथान, मध्य और अबर शुद्धि में वैगिकी यानिकी, अंतिकी और लौगिकी शुद्धि लक्षणों के आधार पर शोधन का निर्णय करना होता है। इनके बारे में जो शास्त्र चर्चा है वह फैछे की गई है। यहां प्रत्यादि शुद्धिभेद के अनुसार वेग का वैगिकी आदि शुद्धि लक्षणों को तालिका में निर्देश किया जाता है।

### तालिका

क्र. वैगविषय	प्रबरशोधन	मध्यशोधन	जघन्यशोधन
१. वैगिकीलक्षण	३० वेग	२० वेग	१० वेग
२. मानिकीलक्षण	४ प्रस्थ (१६ तोला)	३ प्रस्थ (१६ तोला)	२ प्रस्थ (१८ तोला)

३. आंतिकीलक्षण कफातविरेक कफातविरेक कफातविरेक  
४. लौगिकीलक्षण वस्त्रमाण वस्त्रमाण वस्त्रमाण

‘अर्थात् प्रवर शुद्धि में ३० दोंडा या ४ प्रस्थ विचुट्टप्रत्ययान होते हुए कफातिकी शुद्धि हो। अभ्य शुद्धि में २० दोंडा, ३ प्रस्थ विचुट्टप्रत्ययान और कफातिकी शुद्धि में लक्षण होना चाहिये। इस तरह प्रत्येक वेग के समय वेगों के लिए अलग-अलग प्रतिग्रह (Bed pan) दे, और उनका यान तथा कफातल का निरीक्षण कर वेगों का निर्णय करना चाहिये। इसी तरह प्रत्येक वेग का एक-एक नमूना संग्रहीत कर उसे प्रयोगशाला में विश्लेषणात्मक परिशा के लिए भेजना चाहिये। इससे विरेचन शारीर समझने में सुविधा होती है और आगे के प्रयोग में उससे लाभ उठाया जा सकता है।

५. सम्प्यार योग—अयोग तथा अतियोग लक्षणों का निरीक्षण—बमन की तरह विरेचन में भी मानिकी आदि शुद्धि विषयों के रहते हुए लौगिकी शुद्धि का ही महत्व रहता है। अतएव विरेचन योग्य प्रकार से हुआ या नहीं इसलिए सम्प्यार योग्यादि लक्षणों को देखकर ही निर्णय करना चाहिये।

६. असम्यव योग—अयोग तथा अतियोग लक्षणों का निरीक्षण—बमन की तरह विरेचन में भी मानिकी आदि शुद्धि विषयों के रहते हुए लौगिकी शुद्धि का ही महत्व रहता है। अतएव विरेचन योग्य प्रकार से हुआ या नहीं इसलिए सम्प्यार योग्यादि लक्षणों को देखकर ही निर्णय करना चाहिये।

और कुक्षि की अशुद्धि (भारी पान) और कुंड ये कफ के द्वारा उत्पन्न लक्षण है। हृदय शब्द से यहां आमाशय के हृदय समीपत्ति प्रदेश का ग्रहण करना चाहिये। दाह यह पित्त का लक्षण है। और चापत्रिलोमाता, मलसंग और रूतसंग ये बात के द्वारा उत्पन्न लक्षण है। यहां हम देखते हैं कि पित्त का एकमेव दाह लक्षण बताया गया है। कफ के और बात के अनेक लक्षण उत्पन्न होते हैं। विरेचन में प्रथम मल, फिर पित्त, कफ और बात यह शोधन का क्रम है। अतएव अयोग में अत्य शोधन हो जाने पर भी पित्त का निकल जाना सम्भव ही है—और इसीलिए पित्तप्रकोप का एकमेव लक्षण दाह मात्र बताया जाना सम्भव ही है। इसी तरह विरेचन कफात तक होना चाहिये। अर्थात् अयोग में कफ के अंत तक विरेचन नहीं होता और उसकी ज्यादा लक्षण उत्पन्न होना संगत है। बातांतर विरेचन इष्ट नहीं है। तथापि मल पूर्वकृत न्यूहमान, स्वेदन से सावर्द्धिक क्लेदन, दोष द्रव्यकरण होकर वे मल कोष्ठ में आकर निकल जाते हैं—अतएव शरीर के धात्वनि और भौतिकनि व्यापार का एक परिवर्तन क्रम इसमें होता है। इसी उत्किलाट दोष का सावर्द्धिक व्यापार विकृत होकर शरीर गौरव, दाह, कुंड, पिङ्का आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

? सम्प्यक योग लक्षण— सम्प्यक प्रकार से शोधन का लक्षण यह है कि इसमें पहले कहे गये अनुसार १०, २० या ३० मल विरेचन होते हुए—अत में कफ का शोधन होना चाहिये। विरेचन में प्रथम मूत्र, मल, पित्त, औषध और कफ तथा वात इस क्रम से शोधन होता है।<sup>१३</sup> साम्यक् प्रकार से इनका शोधन हो जाने से खोतों की शुद्धि होती है। ज्ञानिद्वय, शरीर में हल्तकापन उत्पन्न होता है, जिस रोग के लिए विरेचन दिया हो उसके प्रसाम के लागू मिलते हैं। बात का अनुलोमन होता है, आगे प्रदीप्त होती है और ऊपर जो अयोग के लक्षण कहे गये हैं उनमें से कोई भी लक्षण उत्पन्न नहीं होता।<sup>१४</sup>

विरेचनीयषष्ठि सर्वप्रथम आमाशय में जाकर वहां से सभी वैकारिक पित्त का शोधन करती है। अतएव आमाशय-कुक्षि-हृत्वदेश की शुद्धि यह लक्षण कहा गया है। इंद्रिय और मन की प्रसत्रता ये लक्षण-विरेचन औषधियों का पक्वाशय में बातस्थान और बातपर प्रसोभक असर समाप्त हो चुका है, इसके निर्देशक हैं। मन की प्रसत्रता सभी शरीर स्वास्थ्य का धोतक है। अनामयत्व से—जो विरेचन साध्य पित्तदोषज या अन्य रोग था, उसका प्रशमद्विट्टिगचर होता है। कोई लोग अयोग तथा अतियोग में उत्पन्न होनेवाले रोगों का अभाव—ऐसा भी अर्थ लेते हैं, वह असंगत नहीं है। क्योंकि ‘मुख्य साध्य रोग का प्रशम’ यह शुद्धिलक्षण न समझकर विरेचन का कार्मकाल-कार्य समझना चाहिये वह विरेचन वेग समाप्त होते ही तुरन्त उत्पन्न नहीं होता। अपितु कालांतर से होता है और अयोग-अतियोग के दाह मूल्यादि को वहा बोकाकाल में देखा जा सकता है। उनका अभाव तथा उत्पन्न होना विरेचन होना, मान से आधिक मल विशेषण होना तथा निन्मलिखित लक्षणों का उत्पन्न होना विरेचन का अतियोग कहलाता है कफ, पित्त और बात के भय के लक्षण उत्पन्न होते हैं। सुप्त अर्थात् स्पर्शज्ञान का अभाव या चिया-चिमायन होता है। शरीर में मर्दनवत् पीड़ा होती है। याकावट

आती है। कंप, निद्रा, दौर्बल्य, आँखों के समने अंधेरा छा जाना, उन्माद, हिक्का, मूर्छा, गृद ब्रेश शूल, ये लक्षण होते हैं। इसी तरह बाध्य के निम्नलिखित दिये हुए लक्षण उत्पन्न होते हैं जो बहुत महत्व के हैं। कफपित रहित श्वेताभवण का उदक अतिमात्रा में निस्सरण होता है। कफ और पित्तरहित लोहित वर्ण का उदकनिस्सरण होता है। मांस धोने पर उदक में लो वर्ण आता है उसके समान या मेदन-के टुकड़ों से समिश्र उदक के समान-उदक निस्सरण होता है। प्यास का लगाना, भ्रम, आँखें अंदर ढूँस जाना, तथा, अतिकमन में कही गई व्यापक की उत्पत्ति होना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

अतियोग में कहे गये सभी लक्षण अत्यधिक धृतिशय, रसरक्त, मांसादि धातु से निःसृत उदकशय, तथा दोषक्षय के कारण उत्पन्न हैं। विरेचन पूर्व स्नेहपानादि के कारण शरीर धातु में क्लेदन, दोषों का द्रवीकरण इत्यादि निर्माण होता है। अतः धातुस्तर से उदक वर्द्धतया दोषों की सतत कोष्ठ की ओर प्रवृत्ति होती है। ऐसी स्थिति में यदि बिना नियंत्रण के अतिप्रवृत्ति हो जाये तो पहले उचित शोधन हो जाने के अनन्तर दारणा प्रकार से धातुओं के उदक का क्षय होने लगता है।

उदकधातु शरीर में आश्वासन, दृष्टिपात्रन इत्यादि कार्य करता है—उसके अभाव से तृष्णा, भ्रम, दौर्बल्य, आदि उत्पन्न होते हैं। यह आगे शरीर और कार्यकृत्व के विचार में पुनः स्पष्ट करेंगे। वातादि के अत्यधिक क्षय के कारण तत्तद् लक्षण उत्पन्न होते हैं। अतियोग में कफस्त्रयजन्य विकार, पित्तस्त्रयजन्य रक्तस्त्रय तथा वातस्त्रयजन्य विकारों की उत्पत्ति होती है ऐसा कहा है। अतएव उनके लक्षण नीचे दिये जाते हैं।

कफक्षय लक्षण—कफक्षय से भ्रम होता है श्वेताशय—अर्थात् आमाशय, हृदय, मुख, शिर और सूंधि (इनमें क्रमशः कवरेदक, अब्दलंबक, बोधक, तर्पक और श्लेषक कफ रहते हैं) इनकी शून्यता होती है, हृदय की धड़कन बढ़ती है तथा संधियां शिथिल होती हैं।

पित्त क्षव लक्षण<sup>५५</sup>—पित्तक्षय से अग्निमंद्य, शरीर का ठंडा पड़ना और प्रश्ना (वर्ण) का नाश ये लक्षण होते हैं।

वात क्षय लक्षण—अंगासाद होता है। बोलने की इच्छा नहीं होती। संज्ञामेह, तथा कफ वृद्धि के रोगों की उत्पत्ति होती है। यहाँ कफ का भी क्षय होने से उनके रोगों की उत्पत्ति अपेक्षित नहीं है। इसी तरह बाध्य ने मांस और मेद चंडाभ उदक की ही श्रुति कही है अतः रसक्षय और रक्तक्षय के लक्षणों का भी विचार करना चाहिये। रस क्षय में शरीर में रक्षणा, अत्यंत धक्कावट, शोथ, गलानि और शब्द सुनने की असम्भिष्टता होती है और रक्त-क्षय में— अम्ल तथा शीत पदार्थों के सेवन में रुचि, शिरा शैथिल्य तथा रक्षणा ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।<sup>५६</sup> सम्यग्-अयोग अतिलक्षणों की तुलनात्मक तालिका आगे दी है—देखें।

#### विरेचन अयोग लक्षण तालिका

क्र.	लक्षण नाम	चरक	सुश्रुत	वाराभट
१.	कफक्रोप	+	+	+
२.	पित्तक्रोप	+	+	-
३.	वातक्रोप	+	-	-

#### सम्यग् योग लक्षण-तालिका

क्र.	लक्षण नाम	चरक	सुश्रुत	वाराभट
१.	अग्निमंद्य	+	+	+
२.	गैरव	+	+	+
३.	प्रतिशयाय	+	-	-
४.	तंद्रा	-	-	-
५.	छहि	+	+	+
६.	अरुचि	+	+	(वातप्रह)
७.	वातप्रतिलोपता	+	-	-
८.	दाह	-	+	+
९.	हृदय की अशुद्धि	-	+	+
१०.	कुक्षि अशुद्धि	-	+	+
११.	कंडु	-	+	+
१२.	विट्सांग	+	+	+
१३.	मूद्रसंग	-	+	-
१४.	पिड़का	-	-	+
१५.	स्नोतो विशुद्धि	+	-	-
१६.	इंद्रिय प्रसाद	+	+मन	+नाभि
१७.	लघुता	+	-	-
१८.	अग्निवृद्धि	+	-	-
१९.	अनामयत्व	+	-	-
२०.	विटपित कफवात	+	-	-
२१.	का क्रमशः निस्सरण-	-	-	-
२२.	वातानुलोमन	-	-	-
२३.	अयोग लक्षणों का अभाव	-	-	-
२४.	कफक्रोप	+	+	-
२५.	पित्तक्रोप	+	-	-
२६.	वातक्रोप	+	-	-

#### विरेचन नाम लक्षण तालिका

क्र.	लक्षण नाम	चरक	सुश्रुत	वाराभट
१.	वातप्रह	+	-	-
२.	वातप्रह	+	-	-
३.	वातप्रह	+	-	-

क्र. लक्षण नाम	चरक	सुश्रृत	बाख्यट
५. अंगमदं	+	-	
६. कस्तम	+	+	-
७. वेपयु	+	+	-
८. निद्रा	+	-	
९. बलाभाव (दौर्बल्य)			
१०. तमः प्रवेश	+	+	
११. उन्माद	+	+	
१२. हिक्का			
१३. मूर्ढ्णी			
१४. गुदप्रसार			
१५. शूल			
१६. कफपित्तरहित श्वेत उदक निस्सरण	-	-	
१७. कफपित्तरहित लोहित उदक निस्सरण	-	-	
१८. मांस धाकनवत् उदक शाव	-	-	
१९. मेदोखडवत् शाव	-	-	
२०. तुष्णा	-	-	
२१. प्रम	-	-	
२२. नेत्र प्रवेशनम्	-	-	
२३. अति वमन व्यापद्	-	-	
२४. की उत्पत्ति	-	-	
रक्तस्थायज विकार	+ -	-	
विवेचन व्यापद निरीक्षण एवं तत्पत्तीकार			
वमन की तरह विवेचन कर्म में भी उत्पन्न व्यापद प्रायशः वेगकाल से उत्पन्न होती है, इसलिए व्यापद और प्रतिकार का प्रणाली में ही समावेश किया गया है। वमन विवेचन व्यापदों का सहिता में एकत्र ही निर्देश किया गया है जो व्यापद भेषज्य की विगुणता से, प्रेषक उपचारक की, रुत से आतुर के अनुकूली से व्यापद के प्रमाद से उत्पन्न होती है, इसका वमन व्यापद निचारते समय उल्लेख किया गया है और अतियोग ये होती है कि उपचारक की व्यापद के मुख्य अयोग और अतियोग ये होते हैं। किंतु ये दोनों अनेक व्यापदों को उत्पन्न करने में हेतु होते हैं। पहले कहा गया था कि वमन और विवेचन की			

<p>१. आध्यात्म</p> <p>२. हृदयग्रह</p> <p>३. विप्रशा</p> <p>४. इनमें से आध्यात्म, स्वाव, हृदयगत, गात्रग्रह मंजा, प्रेषा, कदिक्वादि मंजाक विप्रशा,</p> <p>उपद्रव और कल्पम ये व्यापद अध्योग के कारण उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्ता विचेचन औषध की उच्चर्गति होकर वमन होना यह भी एक व्यापद है। मुश्तुत ने वमन विरेचन के १५ व्यापद कहे हैं—</p> <p>जिनमें १. वमनोषष्ठि की अधोगति होकर विरेचन होना २. विरेचनोषष्ठि की उच्चर्गति होकर वमन होना ये दो पृथक् व्यापद हैं और ३. सावशोषोष्ठत्व ४. जीणोषष्ठत्व ५. हीनोषष्पहतत्व ६. वातशूल ७. अयोगा ८. अतियोगा ९. जीवादन १०. आध्यात्म ११. परिकर्तिका १२. परिस्त्राव १३. प्रलिहिका १४. हृदयोपसरण १५. विकंध ये दोनों में उत्पन्न होनेवाले व्यापद हैं। इनमें अयोग अतियोग, सावशोषोष्ठत्व, जीणोषष्ठत्व, हीनोषष्पहतत्व ये वस्तुतः व्यापद के हेतु कहे जा सकते हैं—जो चरक ने हेतु ही माने हैं और आध्यात्म, परिस्त्राव, जीवादन, परिकर्त, स्वाव, हृदयोपसरण ये चरक ने भी गिनी हैं : वातशूल का चरक के अंगग्रह में विकंध का स्थाप में समावेश होता है। अतएव दोनों में मूलतः भेद नहीं है। वातशूल और शेष ग्रंथकारों ने इससे अतिरिक्त विशेष विवेचन नहीं किया है। इन व्यापदों के लक्षण तथा विकार का विचार किया जाता है।</p>	<p>१. परिकर्त</p> <p>२. गात्रग्रह-अंगग्रह</p> <p>३. जीवादन</p> <p>४. उपद्रव</p> <p>५. कल्पम</p>
--	---

प्रतिलोमन प्रवृत्ति-कोष्ठ में कफ का उत्क्लेश हो, औषध में दुर्धिं ही अरुचि हो और पहले किया हुआ भोजन (सायंकाल का) ठीक तरह पचा हुआ न हो तो ऐसे आतुर में दिया हुआ विरेचन औषध वर्मन करता है<sup>13</sup> ऐसी अवस्था में रोगी को पुनः स्नेहन, स्वेदन कर दूसरी बार विरेचन दे। यदि दूसरे बार भी इसी तरह हो जाये तो तीसरी बार औषध न पिलावे। यदि औषध सात्य हो और रोगी को अप्रिय न लगता हो तो तीसरे बार भी विरेचन दे सकते हैं।

आतुर का स्नेहन, स्वेदन अच्छी तरह न किया जाए। आतुर अन्ततः रुक्ष शरीर बाला हो, औषधि पुरानी—गतवीर्य हो, तो उससे वमन या विरेचन की प्रवृत्ति नहीं होती—से अयोग कहते हैं। अयोग के कारण विश्रंश, शोथ, हिक्का, तमःप्रवेश, मिडिकोद्देश्टन, कंडु, उरुसाद, वैवर्ण्य ये रोग उत्पन्न होते हैं। इन रोगों में तत्त्व रोगों की चिकित्सा करनी चाहिये। सामान्यतः ऐसे आतुरों को तैलाभ्याग कर, प्रस्तर स्वेद का संकरस्वेद कर, पुनः शोधन औषधि का प्रयोग करें। अथवा गोमूत्र युक्त निरुल्ल बृति दे और निरुल्ल के बाद जांगल मांसरस का भोजन देकर अधिक तीक्ष्णा न हो ऐसी औषधि देकर शोधन कराओ।<sup>३५</sup>

अयोग जन्म उपर्युक्त लक्षणों में—सूतरोखर ३ रसी, सांख्यभ्रम ४ रसी, प्रवालपिण्डी २ रसी, यह मिश्रण ३ बार मधु के साथ चटा देना उचित है और रोगी को शास्यायोक्ति कर पूर्ण विश्राम करने को कहना चाहिए। बारंबार गरम पानी पिलाके और आमपाचन के उपाय करो। शल के लिए स्थानिक स्वेद करें।

जारी उनको उसी समय प्रतिकार आवश्यक होता है, इसलिए व्यापद और प्रतिकार का प्रणाली में ही समावेश किया गया है। वमन तिरेचन व्यापदों का सहिता में एकत्र ही निर्देश किया जाता है। ये व्यापद षेषज्ञ की विधुणता से, प्रेषक उपचारक की भूल से आत्म के अनुकृति से तथा वैद्य के प्रमाद से उत्पन्न होती है, इसका वमन व्यापद विचार समय उल्लेख किया गया है। व्यापद के मुख्य अयोग और अतियोग ये होते हैं कि तु ये दोनों अनेकता उपदर्शकों को उत्पन्न करने में हुए होते हैं। पहले कहा गया था कि वमन और विरेचन की निम्नोक्त १७ व्यापद होती हैं<sup>१०</sup>।

रक्तपित, अतिसार, दाह, और ज्वर रोग, में कही हुई चिकित्सा करनी चाहिये। चंदन एवं उड़ीर का लेप शर्करोदक, लाजाचूप में सिद्ध मथ, रक्तपान, मज्जास्तेह का पान ये उपचार करें। अतियोग में—संजीवनी २ रसी, शंखोदर रस १ रसी, नागकेशर चूर्ण १ रसी, चंद्रकला १ रसी, जातिफलादि चूर्ण ४ रसी और इंद्रजब ४ रसी—मिलाकर (एक समय का प्रमाण) इस तरह दिन में ३ या ४ बार दाढ़ियावलेह १ तोला के साथ चटावे। कुटजघन वटी ४ रसी से १ माशा ३ या ४ बार दे। इनसे तुरन्त विरेचनयोग बंद हो जाते हैं। फिर भोजन में संसर्जन क्रम का पालन करावे। लाजा, सत्रु खिलावे।

### बमन और विरेचन की सामान्य व्यापद

बमन और विरेचन में उत्पन्न होने वाली आम्लान्दि १० सामान्य व्यापदों के लक्षण और प्रतिकार निम्नलिखित प्रकार के हैं।

१. आधमान<sup>५५</sup>—जिस आतुर में दोषों की बहुतता होती है, शरीर रक्ष होता है, अग्निबहुत मंद होती हैं, उसे अल्प (गुण मत्रा) औषध देने पर वह उदर को फूला देता है, और उभयमार्ण को बंद कर 'आधमान' (पेट फूलना) व्यापद को उत्पन्न करती है। इसमें पीठ में दर्द, शिर: शूल, श्वास, मल, मूत्र तथा अधोवात का अवरोध उत्पन्न होता है। इस व्यापद में (१) अश्वय (२) स्वेद (३) फलवत्ति (४) निरुह और (५) अनुवासन चिकित्सा करनी चाहिये। उदर पर हिंगुणी तैल का अध्यंग, एंडलैल का अध्यंग कर तापस्वेद (Hot water bag, या पावहत्त तलादिभि., बस्त्र, इंट से) करें। मदनफलादि वर्ति गुदा में प्रविष्ट करावे अथवा केवल फ्लेस्टट्यूब (Flatus tube) अंदर प्रविष्ट करावे और वात प्रतिलोमता का मन होने के अनन्तर एंडल मूलादि व्याध १५ औंस, इसमें एंड तैल ४ औंस मिलाकर निरुह बस्त्र दे। तपस्वचात् मल और मूत्रविसर्जन हो जाने के बाद यू, मांसरस इत्यादि से भोजन देकर, तिलतैल ४ औंस प्रमाण में मावाबस्ति (या अनुलासन बस्ति) दे देनी चाहिये। शंखवटी, हिंवट्टक, शिवाक्षरपाचन चूर्ण, लवणभास्कर चूर्ण, चिक्रिकादि चूर्ण, जंबीरादि वटी, इनका आम्लांतर प्रयोग यथायोग्य प्रकार से प्रशस्त होता है।

२. परिकर्तिका<sup>५६</sup>—(१) स्निघ आतुर का गु कोष हो और समावस्था में तीक्ष्णा औषधि दी हुई हो, अथवा (२) दुर्बल आतुर का मुड़कोष हो और थके हुए और अल्पदेषावस्था में औषधि दी गई हो अथवा (३) दुर्बल शरीर, मुड़कोषी, मंबागिन को अति उष्णा लवण या रुक्ष औषध पिलाया गया हो—तो दोषों का प्रकोप होकर तीव्र परिकर्तिका उत्पन्न होती है। परिकर्तिका में गुदा में कर्तनवत् (केची से काटने की सी) पीड़ा होती है, और पिच्छा तथा रक्त के साथ मल प्रवृत्ति होती है। गुदा, मेद, नाभि, बस्त्रि (बल्लांशिरा-या विरार्थना, दाह, परिकर्तन, वातसंग, विष्ट भ इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। यही व्यापद यदि वस्त्र में हो तो "कंठकर्षण" या "कंठकर्षणन" कहलाती है। इसमें गले में कर्तनवत्, वेदना होती है। पिच्छा यह एक शरीर का श्लेष्मल धातु (Mucous Membrane) है। यह पोषक भावविशेष है, मल नहीं है, इसका निर्माण आहार रस के सार भाग से होता है।<sup>५७</sup> अतिसार में भी कभी कभी पिच्छधातु निकल जाती है—'सपिच्छमति सायंति' ऐसा कहा गया है। जब भी पिच्छा निकल जाती है तो वह गंभीर परिस्थिति का सर्जन करती है।

इस व्यापद में रोगी को १. लंघन करावे। २. पाचन औषधि का सेवन करावे ३. रक्ष उत्पन्न औषधि का प्रयोग करें। ४. लुप्त भोजन दे ५. मधुर रसवाली बृहंग चिकित्सोपक्रम की औषधि

दे। जहां पिच्छादि स्वाव हो वहां रुक्ष औषधि दे। जहां आम और अजीर्ण का प्राबल्य हो वहां—रुक्ष, उष्ण, क्षार, प्रस्तुति, अल्प चिकित्सा करें। पृथक्कासीस क्षार, अम्ल, लवण के साथ है। पृथक्कासीस का अर्थ—"पृथा-श्वेदन के चिक्रिक्षाहिकानि धातकी कुसुमादीनि ग्राहयति (च. पा.)"—धाय के फल का ग्राहण किया जाता है वह उचित है—यह रक्त-स्वाव तथा पिच्छा को तुरन्त रोक देता है। वाडिम स्वरस, दाडिम घृत, वात की प्रधानता में है। भोजन में तक, दही में दाडिम चूर्ण मिलाकर प्रयोग करें। दवदारु, तिल इनका चूर्ण या कल्कग्रम पानी के साथ खिलावे। पीपल, गुलेर, प्लक्स कदंब इनके चूर्णों से शूतशीत दूध (या सिद्ध दूध) पिलावे। इसी तरह पिच्छा बस्ति दे और दूध का भोजन देकर घृतमंड या यादिमधु तेल से अनुवासन बस्ति दे।

पिच्छा बस्ति-मोचरस या उदंबरसार का कवाय १६ औंस और तिल तेल ४ औंस मिलाकर पिच्छा बस्ति दी जाती है अथवा यादिमधु, बाले तेल का कल्क, इनका कवाय इनमें मधु और घृत मिलाकर बस्ति दे।  
क्षारोषधि प्रयोग में शंखवटी, शिवाक्षर पाचन चूर्ण, सामुद्र चूर्ण अम्ल जंबीरादि वटी, अम्लतेस चूर्ण, इनका प्रयोग करे। कंठ क्षण में क्षार देना ठीक नहीं है। इनमें दाडिम घृत, शताबी घृत, शाखभूम्स शंखजीरक चूर्ण, कामदुधा, शुद्ध गैतिकचूर्ण, आमलकी चूर्ण, प्रवालपिण्डी इनका व्यवहार करें।

३. परिस्वाख<sup>५८</sup>—१. बहुदोष आतुर को, २. कुरकोष्ठी आतुर को अल्प वीर्यवाली औषधि दी जाने पर वह समय दोषों का शोधन नहीं कर सकती। लेकिन दोषों को उत्क्रित कर देती है, इसलिए थोड़े-थोड़े प्रमाण में बांबवर दोषों की प्रवृत्ति होती है। इसमें कंडु, शोथ, कुछु, गौरव, अग्निमांध, स्तौमित्य (शरीर भारी पड़ना) अरुचि, पांडु, दौर्बल्य, उदर में विस्तृण और सवागमद ये लक्षण होते हैं। बमन में यह व्यापद हो जाये तो मुख से अल्पात्मक प्रयाण में कफ का स्वाव होना यह परिस्वाख लक्षण होता है।

परिस्वाख का प्रतिकार—१. शमन २. विरेचन और ४. आस्थापन से करना चाहिये। अर्थात् दोष अल्प हो तो शमन (स्वाव को बंद करनेवाले कुटजनन बटी तथा पाचन योग) चिकित्सा करें। यदि दोष अधिक हो और उर्काति हो तो बमन करावे और अथेभाग प्रवृत्त दोष हो तो विरेचन करावे और फिर स्वेहन, स्वेदन कराकर विधिवत् विरेचन करावे। मुश्तुन ने अजनकर्ण (साल) शावडी, सांदन, डाक, बला इनका व्यापद योग से अस्थापन देकर दोष शांत होने के बाद घुन: संशोधन कराने के काहा है। शुद्धि के बाद चूर्ण, आसव, अरिष्ट के योग जो ग्रहणी अरु रोग चिकित्सा में कहे गये हैं उनका प्रयोग करें। इनमें तकारिट, अभ्यारिट, कुटजारिट, शार्कनारिट, डुरात्तासाव, मधुकासव, नागरादि चूर्ण, चित्रकादि चूर्ण, मरिचाद्य चूर्ण, इनका दीपन, पाचन तथा शमनार्थ प्रयोग करना उचित है।

४. हृदयम<sup>५९</sup>—बमन या विरेचनावैषयिकिता के बाद अगर घृणा, संकोच आदि के कारण वेगवरोध किया जाये तो वातादि दोष प्रकृति हृदयग्रह उत्पन्न करते हैं। यह भयकर व्यापद है। इसमें हिक्का, श्वास, कास, पार्श्वशूल, अत्यन्त दैन्य लालासाव, आंखों का घुमाना, दांतों का किटकिटाना, जबान दांतों में दबाई जाना, संशानाश ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसमें जरा भी हृदयग्रह या किसी अन्य व्याधि का संदेह न करते हुए वैद्य उसकी चिकित्सा करें। हृदयग्रह का अर्थ है हृदय में जाकड़ाहट जैसी वेदना। दोषों के द्वारा ऊपर गति होने से

आमाशय के ऊर्ध्व भाग में जकड़ाहट होने से ऐसी बेदना होती है। इस व्यापद में उरन्त वामक औषधि पिलाकर वमन करावे। शेष वोणों में पित्त प्रथान हो, मूँछादि जो तो मधुर औषधि से एवं कफप्रथान हो तो कटु औषधि से शमन करावे। अग्निदीपन, पाचन तथा शरीर बल बढ़ाने की चिकित्सा करें। अति वमन से वात प्रकोप के कारण जिसको हृदय पीड़ा हुई हो उसे स्निग्धि, अस्त लवण रसयुक्त औषध दे। पित्त और कफ में तत्तद शामक औषध दे। मुश्त ने कहा है कि—जो मूँडता से प्रवृत्त दोषों को रोकता है, उसके दोष हृदय की ओर अपसरण कर हृदयापसरण व्यापद करते हैं। इसके लक्षण उपर्युक्त के समान हैं। अग्ने निर्देश करते हैं कि—मूँख वैद्य इसे विश्रम के कारण अचिकित्स्य मानकर छोड़ देते हैं, तथा पिरेसा नहीं करता चाहिए। ऐसी अवस्था में भी से अद्यंग कर उड़त और धान्यों का स्वेद करावे। यस्तीमधु सिद्ध तैल की अनुवासन बस्ति दे और तीक्ष्ण शिरोविरेचन (नस्य) दे। फिर को देखकर बस्ति चिकित्सा करें। सामान्यतः इस व्यापद में वमनादि चिकित्सा के बाद तथा अवस्थानुसार दशमूलारिष्ट, अभ्यारिष्ट, अशवगांधारिष्ट, हिंगुपूर्ववटी, शंखवटी प्रशमन नस्य कटुफल चूर्ण का दे।

५. अंगग्रह<sup>१०</sup>—हृदय हौं और अंगग्रह समान कारणों से उत्पन्न होता है। शोधनषष्ठि पिलाने पर वेगों के उद्दीरित होने पर वेगों को प्रवृत्त न करने से, कफादि से वात का अवरोध होकर वह अंग को जकड़ देता है। इसे अंगग्रह कहते हैं, इसमें शरीर की जकड़ाहट, कंप, निस्तोद (तोद) मिंडिकोद्देशन तथा शरीर को कोई मथ रहा हो ऐसी बेदना, ये लक्षण उत्तर तैल से अभ्यान कराकर वाष्प स्वेद, प्रस्तर स्वेद, अशम्भन स्वेद इत्यादि सामनदीहिक स्वेद करावे।

६. जीवादान<sup>११</sup>—जिसका कोष्ठ मृदु हो, दोषबल अल्प हो उसे अतिरिक्त औषध देने से वह दोषों का मंथन करते हुए उन्हें तो निकाल देता है, किंतु आगे शुद्ध रक्त (जीवरक्त) को भी निकालने लगता है। यह जीवरक्त निकाल जाना ही जीवादान कहलाता है। मुश्त ने, अतियोग से प्रथम चंद्रिका (लालारक्त मंडल) के साथ और बाद में जीवरक्त के साथ उदक विचेन व्यापद में गुदप्रशंशा और वमनव्यापद में जिजा निःसरण होता है। इसमें जब शुद्धरक्त निकल जाता है तो उसे 'जीवादान' और उद्दरक्त होने पर 'रक्तापित्त व्यापद कहा गया है।

७. कपास का टुकड़ा, (गोजपीस) या सफेद कपड़ा, रक्त में डुबावे, फिर इसे गरम पानी से थोड़ा डाले, यदि वह थुल जाता है—और रखेत होता है, तो उसे जीवरक्त समझना चाहिये। अगर धोने पर कपड़ा वैचाह्यरुक्त हो जाये (गीताम् रक्त का) तो रक्तापित्त मिलता है।

८. सत्तू या भात के साथ चुटुक्त को मिलाकर कुत्ते या कौने को खिलावे। अगर वे जीवरक्त जब अतिमात्रा में निकलने लगता है तो भयंकर उपद्रव होते हैं, तथापि तुल्या,

मूँछर्ष, या मद (Cuma) उत्पन्न होने पर भी प्राण है तब तक उसे बचाने की चिकित्सा करते रहना चाहिये। सब रक्तपित्त हर चिकित्सा से उपक्रम करें, तथा अतियोग में जो कहा गया है—जह अर्थात् मध्य, यूक्त, शीतपरिवेकादि सब करना चाहिये। जीवादान की चिकित्सा इस प्रकार करें।

१. प्रथम शीत जल से परिषेक, अवगाह करें। शीत जल का एलो-पिचु रखे। शीत जल पिलावे, दृष्टिम, द्राक्षा, शर्करा इनका पानी पिलावे। निंबुक रबीत पिलावे।

२. गाद्य, हिन, धैस, बकरे का ताजा रक्त आतुर को पिलावे।

३. इस रक्त में दर्भ क्वाथ मिलाकर रक्तबस्ति दे।

४. घ्रियु, गामरी, बेर, दूर्वा, उशीर इनसे सिद्ध दूध पिलावे अथवा यह सिद्ध दूध और वृतमंड और सुरामा मिलाकर बस्ति दे।

५. अथवा मिंच्छा बस्ति दे। न्याग्रोधादि गण के क्वाथ में (बड़, गुलेर, पीपल, प्लस, महामा, आम्रातक, अजुन, जामुन, प्रियाल, बदर, वेतस, बेर, पलाश आदि न्याग्रोधादि गण के वृक्ष हैं।) इधुरस, धृत मिलाकर बस्ति दे अथवा केवल मोत्तरस मिंच्छा बस्ति पद्धकदि तैल मिलाकर दे।

६. पिंच्छा बास्ति के बाद धृतमंड का अनुवासन दे।

जीवरक्त स्नाव के इस व्यापद में उशीराव, द्राक्षास्व, चंद्रास्व, कुटजारिष्ट, कुटजधन बटी का प्रयोग करावे। लाजा, सतू इनका मंथ, तक्र, शर्करोदक पिलावे। संजीवनी २ रत्ती, शाखोदर रस ररत्ती, इंग्रजव चूण ४ रत्ती, प्रवालपंचामृत २ रत्ती इनको ३-४ बार दोड्मावत्तेह के साथ, या कुटजावत्तेह के साथ चटावे। यह उरन्त जीवदान का स्तंभन तैल मिलाकर दे।

जीवशोषित स्नाव में पिंच्छाबस्ति लाभप्रद होती है। इसी तरह रक्तबस्ति भी बहुत लाभप्रद है। यह केवल निलहण विधि से न देकर आगे 'बास्ति प्रकरण' में उक्त वृहंण विधि से धीरे-धीरे देने। इससे रक्त बढ़ता है और गोगी को बल मिलता है।

७. किंध्रंश<sup>१२</sup>—विश्रंश व्यापद तीन प्रकार की है। १. गुदप्रशंश २. संज्ञा विश्रंश ३. कंडवादि लक्षणों युक्त विश्रंश। इसमें से गुदप्रशंश को मुश्त ने अतियोग में जीवादान के बाद उत्पन्न लक्षणों में लिया है। चारक ने संज्ञा विश्रंश और केंदु आदि वमन के अयोग से उत्पन्न व्यापद कही है। गुदप्रशंश में कथाय-रस से युक्त द्रव्यों से लेपन कर अंदर प्रविष्ट करावे। मुश्त ने गुदापर अभ्या मुद्दस्वेद कराकर अंदर प्रविष्ट करने को कहा है। भ्रष्टगुदा के सत्तर्पनार्थी मोरार्षी चूर्ण, उद्भवरसार, लोध्रधूर्ण इनको जात्यादि तैल या पद्धकादि तैल में मिलाकर उसका पिंचु गुदा पर रखकर गुदा को अंदर प्रविष्ट करें। केवल मूषक तैल को गुदापर लेप करके अंदर चढ़ा देने से भी बहुत लाभ होता है। अतियोग से मनोव्याधत के कारण जिसकी संज्ञा प्रस्त हो गई है, उसके मधुर सामग्रन, गांधर्वगायनादि (सुग्राम मनोहरी संगीत) मुनाकर होश में लाने की कोशिश करें। सज्जा भ्रश में व्यक्ति बेहोश नहीं होता, अपितु होश में रहे इएर उसकी चित्तवृत्ति नष्ट होती है—अतएव उसके मन को बहलाने को कहा है। औषधि पिलाने पर जिसका केवल मल निकल जाता है और पित्त कफादि का

कंडु-पिडिकादि रोगों में कही हुई चिकित्सा करनी चाहिये। इन आतुरों में पुनः स्नेहपान कराकर अथवा स्वेद कराकर तीक्षण शोधन औषधि देनी चाहिये।

६. स्तनधू—स्तनधू आतुर को स्तनधू विरेचन दिया जाने पर स्वेह मुद्रुता के कारण दोष आहुत्त हो जाते हैं, और स्तंभ उत्पन्न होता है। जिसमें वात का अवश्यकता, गुदा का संघं, गुदा में शूल, तथा अल्पाल्पशः मल की प्रवृत्ति ये लक्षण होते हैं। इसमें लंघन, पाचन तथा तीक्ष्ण बस्ति और विरेचन चिकित्सा करें। सुशुद्ध ने विद्यम्भ नामक व्यापद में वातामूर्मल संगादि उपरोक्त लक्षण बताए हैं और वमन व्यापद में आशुवमन तथा विरेचन व्यापद में संधूध अम्ल, गोमूत्र युक्त विरेचन तथा निरुह अनुबासन देने को कहा है।

७. उपद्रव<sup>५५</sup>—लक्ष आतुर को रुक्ष विरेचन पिलाने से वात प्रकोप के कारण संधं, शूल, तथा गत्रयह युक्त अनेक उपद्रव उत्पन्न होते हैं। इसमें शरीर में खूब वेदना और मूँछ भी होती है। इसमें स्नेहन, स्वेदन और वातहर उपाय करें।

८. बलम<sup>५६</sup>—स्त्रिय, मृदुकोषी, आतुर को मृदु औषध कफ का अल्प उत्पत्तेश करती है। कफ से पिल और वात का संग होकर तंद्रा, गौरव, कलम, दौर्बल्य, शरीर में चेदना उत्पन्न कर 'बलम' नामक व्यापद उत्पन्न होती है। इसमें १. लंघन २. पाचन ३. स्नेहन ४. तीक्ष्ण शोधन औषध देना चाहिये।

इस तरह विरेचन व्यापदों का निरीक्षण करते हुए वैद्य को साक्षान रहकर उनका प्रतिकार प्रतिपत्र मति से धैर्य को खोए बिना करना चाहिए। प्रायः वमन विरेचन व्यापद में उपयोगी सिद्ध औषधियां नीचे दी जाती हैं। उनका योग्य प्रकार से प्रयोग करना चाहिये। मूत्रशोखर रस, मुखर्ण मूत्रशोखर रस, शांख भस्म, चादकला रस, प्रवाल पित्ती, शरखबटी, शिवाक्षर पाचन चूर्ण, कुटज घनवटी, संजीवनी बटी, नागकेश चूर्ण, लोध चूर्ण, इंद्रवच चूर्ण, जातिकलादि चूर्ण, सौराष्ट्री चूर्ण, न्यग्रोधादि व्याथ, उडुक्कसर, माघरस, उशीर चूर्ण, चांदनचूर्ण, अभयारिष्ट, कुटजारिष्ट, चांदनासव, उशीरासव, लाजामंड, दशमूलारिष्ट, दाक्षासव, चार्विकासव, फलवती, पिण्डाजस्ति, तीक्ष्ण वामक योग—मदन फल योग, सुरांथी द्रव्य-(फल इत्यादि) पंचगुण तैल, धात्वादि तैल, कटफल चूर्ण नस्य, बलालाक्षादि तैल, सेंधवादि तैल, पद्यकादि तैल, जात्यादि तैल, चंदन कोथली स्वेद, वाष्पत्वेद इत्यादि।

उपर्युक्त व्यापदादि को देखकर वैद्यों के मन में ऐसा संशय पैदा हो सकता है कि यह कर्म अत्यंत दुर्धर और खतरे से युक्त है और इसमें प्रवेश न करना ही ठीक है, तथा पि ऐसा भय का कारण नहीं है। प्रत्यक्षकर्म वैद्य के पास कुछ समय अस्थास करने पर ये विषय आत्मसात हो जाते हैं। हमरे बाहर वर्ष के अन्युपच में व्यापद की उत्पत्ति और उनकी चिकित्सा करने का प्रसंग बहुत ही कम बार आया है। योग्य प्रकार से शोधन करने पर व्यापद नहीं होती। अतएव बुद्धिमान वैद्य रोगी की अवस्था देखते हुए, तत्वों (सिद्धांत) का विचार कर, आरोग्य के इच्छुक रोगी को सम्यग् शोधन चिकित्सा करने में आनंदानी न करे। शोधन करता रहे।<sup>५७</sup>

पश्चात्कर्म—विरेचन केरों की निवृत्ति के बाद से लेकर आतुर को प्राकृत भोजन तक लाने के काल में जो कर्म करना चाहिये उनका पश्चात्कर्म में समावेश होता है। विरेचन के पश्चात्कर्म वमन के पश्चात्कर्मों के समान हैं। केवल फरक इतना है कि वमन के बाद

धूपपान करने का विधान है और विरेचन के बाद धूपपान नहीं करना चाहिये। “वमन कर्म में लागू की ज्वरेन्द्रिय होती है और गर्भी में चिपके हुए कर्म की धूपपान विलक्षित करता है। विरेचन में कर्म की गति अधोमार्ग में ही होती है अतः इसकी आवश्यकता नहीं रहती। शेष कर्म व्यापनविधि के पश्चात्कर्म के जैसे करे। । अर्थात् १. संसर्जन क्रम २. तर्पण एवं शमनोषधि ३. परिहार्य विषय और ४ विरेचनोत्तर कर्म का विचार। उपर्युक्त कर्मों का साक्षल्येन विचार वमन प्रकरण में किया गया है अतः वहां से देखना चाहिये। यहां केवल स्परण के लिए संगादि उपरोक्त लक्षण बताए हैं और वमन व्यापद में वातामूर्मल संधूध अम्ल, गोमूत्र युक्त विरेचन तथा निरुह अनुबासन देने को कहा जाता है।

४. संसर्जन क्रम—विरेचन के प्रक्षेप द्वारा उत्पन्न अग्निमांध में अग्नि पालनार्थ क्रमशः लाघु से गुरु भोजन देकर ३ से ७ दिन में प्रकृति भोजन पर लाना चाहिये। अतएव प्रथन, मध्य और अक्षर शुद्धिवाले आतुर को क्रमशः पेया, विलेपी अकृतयूष, कृतयूष, अकृतमांसरस और कृतमांसरस के तीन, दो और एक-एक अवकाल में भोजन करावे और अक्षर शुद्धिवाले आतुर को पांचवें दिन शाम को, मध्य शुद्धिवाले आतुर को प्रकृतिभोजन (normal diet) को और प्रथान शुद्धिवाले आतुर को सातवें दिन शाम को प्रकृतिभोजन स्थितिवाले। इस तरह करने से अग्नि दीप होती है और आगे गुरु भोजन को भी पचाने में स्वस्थ सारंश से कहा जाता है।

५. संसर्जन क्रम—विरेचन के प्रक्षेप द्वारा उत्पन्न अल्प होता है, कफ पित्त का प्राथान्त्र्य होता है, दोष शेष रहता है, जो मध्याह्न पर लाना चाहिये। उनको पेयादि देकर तापन क्रम में स्वच्छ तर्पण (पतला यूष या मध्य) और विलेपी के स्थान पर धन तर्पण (गाढ़ा यूष) देना चाहिये। सुश्रूत ने लाजा और सत्तु के तर्पण देने को कहा है। चारक ने सद्यःक्षण को बल देनेवाले कुछ तर्पण (सू. अ. २३) कहे हैं—उनका प्रयोग यहां कर सकते हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार के हैं।

६. शर्करा, पिपलीमूल, धूत, मधु समान भाग लेकर, दुगुना सत्तू भिलाकर मंथ बनाकर पिलावे।

७. सत्तू, मदिरा और मधु इनका मंथ देकर तर्पण करें।

८. फाणित, सत्तू, धी, दही का पानी, अम्ल कांजी, इनका मंथ बनाकर तर्पणार्थ पिलावे।

९. शर्करा, पिपलीमूल, धूत, मधु समान भाग लेकर, दुगुना सत्तू भिलाकर मंथ बनाकर पिलावे।

१०. यजूर, दही, दही का पानी, अम्ल कांजी, इनका मंथ बनाकर तर्पणार्थ पिलावे।

११. खजूर, द्राक्षा, इमली, दाढ़िय, अम्लवेत्स इनका मंथ बनाकर पिलावें।

१२. फलस्ता और आंबला इनका तर्पण मध्यविकार को दूर करता है।

१३. परिहार्य विषय—वर्मनोत्तर को परिहार्य है, वे ही विषय विरेचनोत्तर परिहार्य हैं।

१४. जोर-जोर से बोलना

१५. एक स्थान में अधिक काल तक बैठना

१६. गुरुस्ता करना, दुःख करना

१७. वाहनों की स्वत्वार्थी करना,

१८. गांजे जागरण

१९. त्रिसूद्ध भोजन

२०. मैथुन

२१. दिन में सोना

२२. वेगावरोध

१३. अनुदीरित वेगों का उदीरण ये सब विषय त्याग देने चाहिये। इनके करने से जो उपद्रव उत्पन्न होते हैं उनका और उनके प्रतिकार का बर्णन 'विषय प्रवेश विज्ञान' नामक प्रथम अध्याय में किया है वहाँ देखना चाहिये।

### विरेचनोत्तर कर्म का विचार

विरेचन के बाद यदि आगे कोई शोधन कर्म न करना हो तो तत्तद्व्याधि में कहा हुआ करनी है तो १५ वें दिन से प्रारंभ करना चाहिये और विरेचन के बाद आगे बस्ति दे और बाद में निरुह बस्ति दे।<sup>१५</sup>

मुश्तुत ने वस्ति के १५ वें दिन विरेचन और विरेचन के बाद आगे बस्ति दे और बाद में निरुह बस्ति दे।<sup>१६</sup> कहा है।<sup>१०</sup> डल्हण ने टीका में कहा है कि ७ वें दिन के बाद ८ वें या १ वें दिन बस्ति दी जा सकती। मतितार्थ यह कि विरेचन के बाद ७ दिन के पहले बस्ति दी जा विरेचन से जिसका शोधन किया गया है, उसका कोष्ठ रिक्त होता है, ऐसे समय निरुह बस्ति देने पर वह बात प्रकोप कर शरीर के लिए विषातकर होता है।<sup>११</sup>

विरेचन के बाद बस्ति कब देनी चाहिये इस पर चक्रवाणि ने मतमातंर दिये हैं। उनकी अतः नववां दिन शोधन दिन को पकड़कर निनना चाहिये। भद्रशोनक ने शोधन के बाद एक से समझकर चरक मात्व्य से लिंग नहीं है ऐसा मानना चाहिये। इस बारे में बहुत से व्याख्यान उपलब्ध हैं। अन्य टीकाकार ने इन व्याख्यानों को दोषोद्धार से (दोषपूर्ण) निरुत्त (अस्वीकृत) कर दिया है। सारांश १ वें दिन पहले अनुवासन दे और तीन दिन के बाद जांगल गांसरादि भोजन किये हुए अतुर को निरुह बस्ति दे। यहाँ अनुवासनोत्तर दूसरे दिन ही निरुह दिया जा सकता है। यह विषय प्रथम अध्याय में आवश्यक चर्चा के साथ समष्ट किया गया है।

### विरेचनोपयोगी क्रतिप्रथा योग

चरक मुश्तुत और वाम्पट, और आगे शार्दूलगदि सहितोकारों ने विरेचन के अनेक योग दिये हैं। यहाँ चरक के कल्प स्थान के विरेचन के सभी योग बर्णित किये जाते हैं। प्रायः कुछ

फरक के साथ इनका ही वर्णन आगे अन्यों ने किया है। योगों का कोई अंत नहीं होता। एक ही औषध को अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार अलग-अलग प्रकार से देकर करोड़ों योग निर्माण किये जो सकते हैं और द्रव्यों का बाहुल्य होने के कारण योगों की निरेचन संख्या नहीं होती।<sup>११</sup> चरक ने अधिक से-अधिक संख्या में और व्यवस्था करण में उचित प्रकार से योग कहे हैं अतः उनका निर्देश किया जाएगा।

चरक ने श्यामा और विवृत के १० योग, चतुरंगुल (आरत्वथ) के १५ योग, तिल्वक कुल विरेचन के २४५ योग बताये हैं।<sup>१२</sup> इनमें श्यामा, विवृत, अलणा विवृत, अमलतास, तिल्वक, सेंडूं, सप्तला, शाखिनी (यवतिका), दंती और द्रवती इन ८ द्रव्यों को प्राधान्य दिया है। विरेचन के प्रथन द्रव्य हरीतकी, परंड, इनके योग नहीं हैं इसका आश्चर्य होता है।

मुश्तुत ने इस त्रुटि की पूर्ति करने की कोशिश की है। मुश्तुत ने विवृत, तिल्वक, हरीतकी, प्रट्ट तैल, कारबेलज, सेंडूं का दूध, इनको प्रथन बताकर इनके कल्प सेंगे ऐसा कहा है। किंतु आगे विवृत के बात दंती, द्रवती आमलतास और सप्तला शाखिनी के भी कुछ योग दिये हैं। मुश्तुत ने हरीतकी के दिये हुए योग नित्य प्रयोगाह होने के कारण नीचे दिये जाते हैं।

१. हरीतकी, विडग, सेंधव, सॉन्ट, निषोथ, मरिच, इनके चूर्ण कर इसका गोमूत्र के साथ प्रयोग करें।

२. हरीतकी, नीलिनी और सोंठ को गुड़ के साथ प्रयोग करें।

३. हरीतकी फल का चूर्ण पिष्टल्यादि व्याघ्र के साथ खाने से शीघ्र विरेचन होता है।

४. हरीतकी शुंठी और गुड़ को मिलाकर प्रयोग करें।

५. हरीतकी और सेंधव नमक को मिलाकर विरेचनार्थ दे।

मुश्तुत ने आंबेला और बहेड़ा भी विरेचनार्थ प्रयुक्त किया है और प्रसिद्ध 'फिलता' योग

हरड़, बहेड़ा, आंबला के चूर्ण से बनाकर प्रयुक्त करने को कहा है।

एरंड तैल योग—एरंड तैल को तिग्ने फिलताव्याघ्र में, दूध में या मांस रस में मिलाकर पिलाने से विरेचन होता है। यह सुकुमारों के विरेचन के लिए अन्धा है।

वाम्पट के योग प्रायः चरक के समान हैं।

काशस्थप के क्रतिप्रथा विरेचन योग

१. पिप्पली, सेंधव, और हरीतकी का चूर्ण बनाकर विरेचनार्थ दे।

२. आरग्वथ व्याघ्र को दूध या मांसरस के साथ पिलावें।

३. फिलता और व्रिकट का चूर्ण भी के साथ दे।

४. विवृत और व्रिकट का चूर्ण भी के साथ दे।

५. केवल एरंड तैल स्नेह विरेचनार्थ पिलावें।

६. द्राशा क्वाथ में दशमूल व्याघ्र मिलाकर विरेचनार्थ पिलावें।

७. विवृत, द्राशा और हरीतकी का चूर्ण मिलाकर विरेचनार्थ दे।

८. विवृत, और द्राशा चूर्ण मिलाकर दे।

९. शार्दूली, सेंधव और विवृत का चूर्ण मिलाकर विरेचनार्थ दे।

१०. शिप्पली, सेंधव और विवृत का प्रयोग बताया है। वैसे ही वृद्धु के अनुकूल विवृत के ६ योग कहे हैं, वे आगे चरक के विवृत योग में वर्णित हैं। अन्यत्र उपयुक्त

१. द्राशा व्याघ्र द्वारा विवृत योग

२. आरग्वथ व्याघ्र द्वारा विवृत योग

३. अभ्यादि व्याघ्र द्वारा विवृत योग

४. फिलता आरग्वथ व्याघ्र द्वारा विवृत योग

५. हरीतकी व्याघ्र द्वारा विवृत योग

योग कहे हैं। वे अध्ययन सुविधा के लिए तथा प्रयोग सुविधा के लिए आगे कहे गये हैं। यहाँ

स्मरणीय है कि इनमें ऐषज्य कल्पना के आधारपर जो संख्या दी है—वह चरक के ही संख्याकान के अनुसार दी है, न कि 'विरेचन प्रयोग थेद' दर्शक तालिका के अनुसार। तालिका में वस्तुतः द्रव्य का उपयोग जिस कल्पना में किया जाता है वह संख्या दी है और वर्णन क्रम में चरक के शीर्षक दिये हैं। चरक ने एक शीर्षक में 'आदि' कहकर अन्य कल्पना के योग दिये हैं। तथापि 'पाठ्य' पाठनार्थ (Text के पठन के लिए) यहां वही क्रम रखा है।

१. इयामा विवृत के विरेचन योग

१. अस्तादि प्रिय विरेचन योग—अस्तादि द्रव्यों के साथ मिश्रण कर विवृत के कुल १ विरेचन योग होते हैं। ये द्रव्य निम्नोक्त हैं।

१. अस्तकांजी २. गोमूत्र ३. अविपूत्र ४. अजामूत्र ५. महिषी मूत्र ६. सौंबरी ७. तुषीदब्ब ८. प्रसत्रा ९. त्रिफला। वस्तुतः इनमें अस्त का एक योग है और ८. अन्य मिश्र योग है। विवृत चूण एक अस्त मात्रा में (१ तोला) उपर्युक्त द्रव्यों के साथ अथवा विफला के विवाह से पिलावे। विवृत की विरेचन मात्रा ३ से ६ माशा है।

१. संधावादि के साथ विरेचन योग—इनकी बारह संख्या है। शुर्ती चूण और हिणुग विवृत चूण (अर्थात् विवृत ६ माशा और सौंठ ३ माशा) लेकर

१. संधव २. सौंवर्चल ३. काल लवण ४. विड्लवण ५. सामुद्र लवण ६. औद्यिभद्र लवण ७. सांभर लवण ८. रोमक लवण ९. पारेयक लवण १०. पांशुज लवण ११. पांशुज लवण १२. वालुक लवण इनके साथ पुथक-पुथक प्रयोग कर विरेचन करावे।

३. गोमूत्र के योग—इनकी संख्या अठारह है। इनमें विवृत चूण (६ माशा) की निम्नोक्त द्रव्यों में पृथक-पृथक् किसी एक के साथ (३ माशा) आधे भाग ये मिलाकर गोमूत्र के साथ मिलाकर विरेचन करावे।

४. अष्टमध्य के साथ योग—इनकी संख्या दो हैं। यादीमधु और शर्करा के साथ अलग-अलग विवृत चूण मिलाकर प्रयोग करें।

५. जीवकादि योग—इनकी संख्या १४ है। विवृत का चूण निम्नोक्त १४ में से किसी एक द्रव्य के चूण के साथ विरेचन के लिए दे।

१. जीवक २. कृष्णधक ३. मेवा ४. श्रावणी ५. माघपर्णी ६. मूद्रपर्णी ७. माषपर्णी ८. कर्कतशूरी ९. कार्कोली १०. क्षीर कार्कोली ११. क्षीर चिवारी १२. कर्कचन्द्री १३. कर्कचन्द्री १४. कर्कपृष्ठी।

६. क्षीर आदि योग—ये सात हैं। इसमें १. गोदूथ २. यांसरस ३. वीलू स्वरस ४. काशमरी रस ५. बृत के साथ विवृत चूण प्रयुक्त किया जाता है।
७. लेह योग—इनकी संख्या अठ है। जो चाटकर विरेचन किया जाता है उसे लेह योग कहते हैं। इनमें नीचे के योग समाविष्ट है।
१. विवृत चूण, खांड, मधु, धी के साथ दे।
  २. विवृत चूण को अजमोदा वंशलोचन, विदारीकंद, खांड के साथ मिलाकर धी और मधु डालकर चटावे।
  ३. विवृत कवाथ में विवृत कल्प डालकर इसमें खांड मिलाकर सिद्ध अवलोह १ तोला मधु डालकर चटावे।
  ४. मधु और खांड के साथ विवृत चूण का अवलोह तेजपत्र और मरिच चूण के प्रक्षेप के साथ सिद्ध करें। यह विधिवत् प्रयोग करें।
  ५. इक्षुरस १ कुडव ले, इसमें द्राक्षा, पोलू, कालसा खांड और मधु आधा कुडव मिलावे। इसमें विवृत मिलाकर लेह बनावे।
  ६. पिपली, सौंठ, यवक्षार, इयामा विवृत, अरुण विवृत इनके चूण को मधु के साथ चटावे।
  ७. बिजोरा निंबू, हरड, आंवला, गंभारी पत्ता, बेर तथा अनार इनके रसों को तिल तेल में भून ले। इसमें आमचूर, कैथ, अन्य अस्त द्रव्य डालकर पकावे। गाढ़ा होनेपर विवृत दालचिनी, तेजपत्र, नाराकेश, छोटी इलायची का प्रक्षेप डालकर सिद्ध कर अवलोह बनावे। यह अच्छा विरेचन है।
  ८. योग में दालचिनी, तेजपत्र, नाराकेश, एत्ता इनके चूण को विवृत चूण के साथ मधु पिलाकर चटावे।
१. पानकादि के योग—इनकी संख्या ५ है। अवलोह में जो विधि कही है उसी प्रकार से १. पानक २. पांगा पांडव ३. मोदक ४. रस और ५. यूष बना कर विवृत का प्रयोग करें। वस्तुतः भैंज्य कल्पनानुसार विवृत का पानकादि में एक-एक योग समझना चाहिये।
१. तर्पण चूण योग—१. दालचिनी छोटी इलायची के साथ विवृत मिलाकर, दाढ़िय स्वरस और सूक्त के साथ तर्पण (मधु) बनाकर विरेचनार्थ पिलावे।
२. नीली, विवृत, खांड के साथ दाढ़िय और सूक्त मिलाकर विरेचन करावे। यह अग्निमध्युक्त तथा सुकुमार आतुरों में अच्छा विरेचन है।
३. मोदक के योग—इनकी संख्या ५ है। १. खांड, पिपली, विफला, इयामा विवृत तथा विवृत और मधु इनसे विधिवत् मोदक बनाकर प्रयोग करें। अथवा त्रिवृत ३ शाण, विफला, दालचिनी ३ शाण, विडंगपिपली और यवक्षार ३ शाण इनका चूण बनाकर मधु के साथ चटावे या गुड़ के साथ मोदक बनाकर विरेचनार्थ प्रयोग करें। ये मोदक गुल्म, रसवास, कास, प्लीहोद्दा, हलीमक, अरुचि तथा अन्य कफ बातज विकारों में लाभप्रद हैं।
४. कल्पय गुड़—विडंग, पिपली मूल, विकला, धनिया, चिवारी, मरिच, इंद्रधनु,

अजवाइन, पिपली गजपिपली, पांचों लवण, अजमोदा ये सब एक-एक कर्ष (तोला) प्रमाण में ले, तिल तैल, ८ पल (३२ तोला) तथा चिकुत चूर्ण ८ पल (३२ तोला) ले। आंवले का रस ३ प्रस्थ (११ तोला) और गुड़ आधा तोला (५ पल=२०० तोला) लेकर मंत आंच पर पकावे और बेर के आकार के या उड़ुबर फल के आकार के मोदक बनावे। इनका विरेचन के लिए प्रयोग करें। इनके सेवन से मदगिन, ज्वर, मूत्रकृष्ण, मूत्रकृष्ट, असचि, अनिद्रा, गात्रशूल, कास, रक्तास, भ्रम, क्षय, कुरुष्ट, अर्श, कामला, पांडु, गुल्म, प्रमेह, उद्धर भांदर, ग्रहणी गोग प्रशासित होते हैं।

५. अभ्यादि मोदक—चिकुट, दालचिनी, तेजपत्र, नागरमोथा, एला, लिङ्गंग, आंवला, हरड़ ये सब समझाएं, दंती द्विदुषण, और चिकुत, ८ भाग, खांड ६ भाग सब को एकत्रकर मधु के साथ मिलाकर गुटिका बनावे। यह मूत्रकृष्ट ज्वर, वमन कास, रक्तास, भ्रम, क्षय, देह संताप, पांडु, अनिमाद्य में विरेचन के लिए उपयोगी है।

६. हरीतकी, आमलकी, एरड़बीज, मिलाकर २ प्रस्तुत (१६ तोला) चिकुत १ पल (८ तोला), मिलाकर मधु के साथ १० मोदक बनावे। यह मोदक मुकुमारों में विरेचन के लिए प्रशस्त है।

७. चिकुत, हेमवती (वचा या सुवर्णशीरि), श्यामा चिकुत, नीलिनी, गजपिपली, पिपलीमूल, नागरमोथा, अजमोदा, दुरालभा, प्रत्येक का चूर्ण १ कर्ष (१ तोला) ले, सोट ३ पल (४ तोला), गुड़ २० पल (८० तोला) मिलाकर विधिवत उडुबरफल के आकार के मोदक बनावें। इस मोदक को हींग, सौवर्चल, चिकुट, अजवाइन, विडंग, जीरा, वचा, अजगंधा, विफला, चव्य, चित्रक, धनिया, तुब्लु और दाढ़िय के चूर्ण से लापेट कर विरेचन में प्रयोग करें। यह अर्ण, प्लीहा, गुल्म, शूल, तथा निकू, वक्षण, हृदय, बास्ति के विकारों में लाभप्रद है। कोई यह पाठ अलग पढ़कर हींग, सौवर्चल अतिंदि से अन्य मोदक योग मानते हैं।

८. कांजी योग—ये दो हैं—(१) श्यामा चिकुत के चूर्ण में जब को पोटली में बांधकर पकावे। अर्धपक्व जब को पीसकर पानी डालकर मिट्टी के घड़े में रखकर उसका संधान करें (आन्यराशि में रखकर) छः दिन के बाद यह सौबीरी—(कांजी) विरेचनार्थ है।

(२) तुष्ट्युक्त जब चूर्ण को श्यामा चिकुत के क्वाथ में डालकर विधिवत तुष्ट्युक्त मिळाकर प्रयोग करें।

९. अटन्तुकूल विरेचन—चण्डीदि स्त्रु में जिन योगों से चिकुत लेना प्रशस्त है ने कहतु अनुकूल योग कहलाते हैं। ये छः योग निम्नांकित हैं।

(१) चण्डीदि में विरेचन काना हो तो चिकुत, इद्रयत, पिपली, शूर्टी इनके चूर्णों को मधु के साथ द्राक्षास में आलोड़ित कर (मिलाकर या भावित कर) विरेचन के लिए दे।  
(२) शरदऋतु में—चिकुत, दुरालभा, मोथा, खांड, गंधबाला, लालचंदन, यस्टीमधु सातला इन्हें इकट्ठा कर द्राक्षासव के साथ पिलावें।

(३) हेमंत ऋतु में—चिकुत, चित्रक, पाठा, सफेद जीरा, सरल, वचा स्वर्णशीरि, इन्हें पीसकर हैमंत ऋतु में गरमपानी के साथ देवें।  
(४) ग्रीष्म ऋतु में—शर्करा और चिकुत, सम भाग मिलाकर विरेचनार्थ है।  
(५) शिशिर और वसंत ऋतु तथा सभी ऋतु नीचे के दो योग प्रशस्त हैं। १ चिकुत,

जयंती, हृष्पा, सातला, कुटकी, स्वर्णशीरि इनके चूर्ण को गोमूत्रल की भावना देकर सूखा ले। यह चूर्ण सभी ऋतु में बरते।

(६) २. -चिकुत श्यामा चिकुत, दुरालभ, इंद्रजव, गजपिपली, नीलिनी निफला, नागरमोथा, कुटकी इनका चूर्ण लेकर थी, मांसरस, या गरम जल में आलोड़ित कर विरेचनार्थ है।

१३. घृतयोग—घृतक्षीर योग ४ कहे हैं—(१)चिकुतकल्क के समान भाग थी, कांजी मिलाकर चिकुत कथाय में थी सिद्धकर रोगी को सेवन करावे।

(२) श्यामा तथा चिकुत मूल का कल्क, आंवले का रस मिलाकर थी सिद्ध कर प्रयुक्त करें।

(३) श्यामा चिकुत के क्वाथ से सिद्ध गाय का थी।

(४) या दृध लिंगेचन में प्रयुक्त करें।

(५) या दृध लिंगेचन में प्रयुक्त प्रमाण से ८ मुठीभर चिकुत चूर्ण ले। इसमें २ दोण (५१२ पल) जल डालकर पकावे। चतुर्थीश (आधा द्रोण=१४ पल) रह जाये तब उतारकर छान ले। इसमें १ तोला (१०० पल=४०० तोला) गुड़ डाल दे। एक घड़ा लेकर इसे थी से अंदर से लेप ले, तथा पिपली, मदनफल, चित्रक और मधु मिलाकर अंदर से उनका लेप अंदर से लेप ले, तथा पिपली, मदनफल, चित्रक और गुड़ का मिश्रण डालकर एक भास तक संधान करें। यह अपर्युक्त कथाय और गुड़ का मिश्रण डालकर प्रयोग करें।

(६) उपर्युक्त सध्यान में अटिल के किणव भाग को लेफर चिकुत कथाय के साथ मिलाकर इनसे सुरा (मध्य) निर्माण कर विरेचनार्थ है।

१५. आडवादि योग—मदनफल कल्य के अनुसार—

१. बेर का घडव  
२. बेर के राग (अचार)  
३. पानक  
४. बेर का लेह  
५. बेर के मध्य  
६. मोदक  
७. उत्कारिका  
८. तर्पण

१. मांस रस और १० बेर के यूष के साथ चिकुत देना चाहिये।

२. तर्पण योग—(१)चिकुत, विफला, दंती, मप्तला, चिकुट, सैंधव इनको ७ दिन आंवले के रस से भावित कर इसे यूष तर्पण विधि से दे।

३. इसे ही मांसरस के साथ तर्पण विधि के अनुसार दे।

४. चतुर्थीश (आमलतास) के विरेचन योग

१. आरवध मज्जा (आमलतास) को द्राक्षास के साथ मिलाकर दाह तथा उदावर्त में पिलावे।

२. आरवध मज्जा को सुरामड में मिलाकर विरेचनार्थ है।

३. कोल (बेर) के सीधे के साथ आमलतास की मज्जा दे।

४. तथिमांड के साथ।

५. आंवले के स्वरस के साथ।

६. शीतकाषण (आंवले का) के साथ।
७. विवृत के साथ क्वाथ के साथ।

८. विभीतक के क्वाथ के साथ लवण और मधु मिलाकर दे।

९. आमलतास की मज्जा का क्षाय बनाकर उसमें त्रिवृत चूप्ण का प्रक्षेप कर गुड़ मिलाकर यथा विधि लेह सिद्ध कर विरेचनार्थ दे।

१०. आरावध मज्जा से क्षीरपाक विधि से क्षीर सिद्ध करें। इस क्षीर से घृत निकाले, यह घी पुनः आरावध मज्जा और आमलक स्वरस में मिलाकर घी सिद्ध करें। इसका प्रयोग करें।  
११. उपर्युक्त प्रकार से आरावध क्षीर से सिद्ध घृत को दशमूल, कुलथी और यक्के कषाय से तथा श्यामा निवृत के कल्प के स्थाविधि सिद्ध कर घृत का विरेचनार्थ प्रयोग करें।  
१२. दंती क्वाथ में १ अंजली आरावध मज्जा डालकर गुड़ का प्रक्षेप डालकर घड़े में रखकर १५ दिन तक संधान कर अरिष्ट निपाण कर इसका प्रयोग करें।

### ३. तिल्वक (लोध) के विरेचन योग

दही के योग—तिल्वक मूल तिलक चूप्ण के समान ३ भाग करें। दो भाग चूप्ण में छ: गुणा जल डालकर २१ बार परिभ्रुत करें। तीसरे भाग को तिल्वक क्वाथ से भावना दे। सूखने के बाद दशमूल क्वाथ से भावना दे और सूखने। इस चूप्ण को १. दर्हन तक १. सुरा ३. गोमूत्र ४. आमलकी स्वरस ५. बदर सीधु के साथ सेवन करावे। ये पांच योग हैं।

६. सौवीर के योग मेडा शंभू, हरीतकी, पिपली, चित्रक, इनके क्वाथ में जी का संधान कर सौवीर बनावे। इस सौवीर के साथ एक अंजली प्रमाण में तिल्वक मूल या कल्क या तिलक का विरेचनार्थ प्रयोग करें। यह एक योग है।

७. तिल्वक कषय को संधान विधि से १५ दिन रख सुरा तैयार करें। इसका विरेचन में प्रयोग करें।

८. अरिष्ट योग—दंती तथा चित्रक को १ आडब्ल्यू (२५६ तोला) प्रमाण में लेकर १ द्रोण जल में पकावे। चतुर्थीश क्वाथ रहने पर १ तोला गुड़ डाले तथा १ अंजली तिल्वक का चूप्ण प्रक्षेप करें। विधिवत् अरिष्ट तैयार कर विरेचनार्थ प्रयोग करें।

९. कांपिल्वक क्षय के स्थाविधि से तिल्वक चूप्ण को १० बार भावना देवे। इस चूप्ण को कांपिल्वक क्षय के साथ विरेचनार्थ देवे।

१०. चतुर्गुल कल्प में उक्त विधान से तिल्वक का लेह तैयार कर विरेचनार्थ प्रयुक्त करें।

११. त्रिफला क्वाथ के साथ तिल्वक चूप्ण, मधु और फागिना मिलाकर लेह बनाकर प्रयुक्त करें।

१२. तिल्वक क्वाथ में घी तथा शक्करा डालकर लेह तैयार कर देवे।

१३. आठ अंतर्भिरुचिप्रयोग में तिल्वक और त्रिवृत चूप्ण लेकर १ द्रोण जल में सिद्ध कर चतुर्थीश क्वाथ बनावे। इसमें १ प्रस्थ घी, बिल्व प्रमाण में तिल्वक कल्क डालकर गोमूत्र और लवण मिलाकर विधिवत् घी तैयार कर प्रयोग करें।

१४. इसी विधि से तिल्वक कल्प, लवण और गोमूत्र के साथ तिल्वक घी बनाकर प्रयुक्त करें।

१५. आमलतास के कल्प की विधि के अनुसार १ घृत तिल्वक के बनाकर विरेचनार्थ प्रयुक्त करें।

१६. घृत के साथ क्वाथ के साथ।

### ४. सुधा (स्फूर्ति) के विरेचन योग

सौवीरादि योग—इनकी संख्या ७ है। बिल्वादि वृहत्पञ्चमूल या ब्रह्मती तथा कंटकारी में से किसी एक क्वाथ में समझाग स्फूर्तिर मिलाकर आंच पर पकावे—जब सूख जाये तो वेर के प्रयोग में गुटिका बनावे। इसे निम्नोक्त ७ अनुपानों में से किसी एक के साथ पिलावें—ये ७ योग हैं—

१. सौवीर २. तुषेदक ३. आमलक स्वरस ४. सुरा  
५. दधिमंड ६. मातुलुंग स्वरस ७. बेर के दाने के चूर्ण के साथ।  
८. पानक योग—त्रिकटु, त्रिफला, दंतीमूल चित्रक तथा त्रिवृत इन्हें स्फूर्तिर से खालना दें और गुड़ के साथ पानक बनाकर (शर्वत) पिलावें।

९. घृतयोग—सातला, स्वर्णक्षीर, त्रिवृत, त्रिकटु, इनको ७ दिन तक स्फूर्तिर की भावना दें। फिर कोल प्रमाण की मात्रा में घृत में मिलाकर सेवन करावे।  
१०. चतुर्गुल कल्प की विधि के अनुसार स्फूर्तिर का विधिवत् घृत तैयार करके सेवन दरावें।

११. आमलकी स्वरस के योग, दधु, तथा स्फूर्तिर से सिद्ध घृत विरेचनार्थ पिलावें।  
१२. मांसरस योग—सातला, स्वर्णक्षीर से भावित कर बनाई हुई कोल प्रमाण मात्रा मांसरस के साथ सेवन करावे।  
१३. शुष्कमांस तथा १४. शुष्कमत्स्य को स्फूर्तिर से भावित कर विरेचनार्थ प्रयोग करें।

१५. घैय योग—त्रिवृत, आमलतास, दंती, शारिखिनी सातला समझा में लेकर एक रात्रि तक गोमूत्र में भिगावे। फिर दूसरे दिन सूखा कर चूर्ण करें। इस तरह ७ दिन तक गोमूत्र की भावना देकर, दूसरे सात दिन तक स्फूर्तिर की भावना दे। इसे धूप में सूखाकर सूक्ष्म चूर्ण कर ले, यह सुगंधित पुष्पमाला छिड़ककर विरेचनार्थ सुधावे। इससे सूदुकोची व्यक्तिको विरेचन होता है।

१६. लेहयोग—श्याम त्रिवृत का विधिवत् लेह तैयार कर विरेचनार्थ देवे।  
१७. स्फूर्तिर को धूष के साथ प्रयुक्त करें।  
१८. मांसरस के साथ विरेचनार्थ प्रयुक्त करें।  
१९. सुरा के साथ मिलाकर विरेचनार्थ प्रयोग करें।  
२०. स्फूर्तिर को घी के साथ प्रयुक्त करें।

२१. शापदला शारिखिनी के विरेचन योग  
क्वाथयोग—क्वाथ योगों की संख्या १६ है। सप्तला और शारिखिनी का १. अक्ष कल्क  
लेकर प्रस्त्ना और लवण मिलाकर १. प्रियास २. पीलु ३. कर्किषु ४. कोल ५. आम्राक  
६. दाढ़िम ७. द्राक्षा ८. पनस ९. खजूर १०. बदराम्ल ११. फालसा इनके क्वाथ के साथ

विरेचनार्थ देवे, तथा १२. मैत्री १३. दधिमण्ड १४. सौवीरक १५. तुषेषक १६. सीधु के साथ इसी का विरेचन के लिए प्रयोग करें। क्वाथ नाम से कहे गये इन १६ योगों में बास्तव में ११ क्वाथ योग हैं और ५ अन्य हैं।

#### तैलयोग—तैलयोग इह हैं।

१. विदारिगंधादि गण के क्वाथ के साथ दूध सप्तला शांखिनी का कल्क १ भाग, विवृत (अरुण) और श्यामा विवृत का कल्क १/२ भाग डाल कर तैलपाक करें। इसका दधिमण्ड के साथ विरेचनार्थ सेवन करावे।

२. शांखिनी का चूर्ण २ भाग, तिल २ भाग लेकर हरीतकी क्वाथ के साथ तैल सिंडकर विरेच्य व्यक्ती में उपयोग करें।

#### ३. अलसी

#### ४. एंड

#### ५. सर्वप

६. कांज तैल के साथ उपर्युक्त विधि से तैल सिंड कर प्रयोग करें।

#### ७. घृतयोग—घृत योग ८ हैं।

१. सप्तला शांखिनी इनसे सिंड दूध से भी निकाले। इसमें सप्तला शांखिनी का कल्क १ भाग और त्रिवृत का कल्क १/२ भाग (कल्क धी से १/४ प्रमाण में ले) मिलाकर यथाविधि घृत सिंड करें। इसे दूध के साथ विरेचन के लिए पिलावे। इसी प्रकार से

#### ८. दन्तीद्रवती के योग से

#### ९. अजशृंगी-अजगांथा के साथ,

#### १०. शीरिणी-नीलिका के साथ

#### ११. करंज और भड़ाकरंज योग से

#### १२. पस्तू-विदला (कृष्णा सारिवा-या विवृत)

#### १३. प्रत्यक् धणि- (मूषाकणी) के साथ और

#### १४. विवृत कल्क के साथ यथाविधि घृत सिंड कर प्रयोग करें।

मध्य योग—मध्ययोग ५ हैं। दंती द्रवती में वश्यमण निधि से सौनीर और तुषोदक के अजशृंगी के कथाय के साथ सप्तला और शांखिनी का मध्य तैयार कर विरेचन में प्रयोग करें। फिर अजगांथा और शांखिनी के लेह बनावे।

सुरा योग—कापिल्लक चूर्ण और सप्तला शांखिनी को सुरा के साथ प्रयुक्त करें। लेह योग—लेह योग ३ हैं। तिलक लेह में जो विधि कही है उसी प्रकार से सप्तला शांखिनी के लेह बनावे।

८. दंती द्रवती के विरेचन योग

#### १. दंती द्रवती के योग—ये ३ हैं।

(१) दंती द्रवती कल्क १ तोला प्रमाण में दधि के साथ सेवन करें।

(२) इसी तरह तक के साथ और

(३) सुरामंड के साथ सेवन करें।

#### प्रियालादि योग—ये ५ योग हैं।

#### (१) प्रियाल

#### (२) बद्र

#### (३) कोल

#### (४) मीलु के साथ तथा

#### (५) मीधु के साथ दंती द्रवती को विरेचनार्थ दे।

अजामास के साथ विरेचनार्थ पांडु, कूमि और भगद्वर रोग में दे।

#### स्नेह योग—(१) दंती द्रवती का कल्क, दशमूल क्वाथ इनको मिलाकर विधिवत् घृत तैयार करें।

(२) इसी तरह इनका विधिवत् तैल बनाकर प्रयोग करें।

#### (३) चतुःस्नेह-धी, तेल, वसा और मज्जा के साथ उपर्युक्त का चतुःस्नेह सिंड कर प्रयोग करें।

#### लेह योग—लेहयोग छ: हैं।

(१) दंती तथा अजशृंगी के स्वरस में गुड डालकर मधु और धी मिलाकर यथाविधि लेह सिंड कर, दाह, संताप, प्रमेह में प्रयोग करें।

#### (२) अजगांथा के साथ दंती का विधिवत् लेह तैयार कर वातरोग तृष्णा, ज्वर तथा पित्तरोग में विरेचन करावे।

(३) दंती द्रवती के मूल को आंवले के रस के साथ दंती द्रवती क्वाथ और फणित में मिलाकर विधिवत् लेह करें।

#### (४) उपर्युक्त प्रकार से दशमूल के साथ

#### (५) बहेड़ के रस के साथ और

#### (६) हरड़ के रस के साथ लेह तैयार कर विरेचन के लिए देवे।

#### चूर्ण योग—(१) बेल के प्रमाण में दंती द्रवती को लेकर दंती द्रवती के रस से ही उसे भावना दे। इस चूर्ण को अम्ल कांजी आदि के साथ विरेचनार्थ प्रयुक्त करें।

इक्षुरस योग—इक्षुकांड को चीरकर उसपर दंती द्रवती कल्कका लेप करें। फिर कुशा से लपेट कर मिट्टी में लपेटकर उसको आंवपर रख कर रस निकाले इसको विरेचन में प्रयुक्त करें।

#### मुद्दा और मांसरस योग—(१) दंती तथा द्रवती के मूल को मुंग के रस में पकाकर विरेचनार्थ उपयोग करें।

#### (२) लावा के मांसरस में द्रवती मूल को सिंडकर विरेचनार्थ दे।

#### (३) विष्क्र वर्ग के मांस के साथ द्रवती द्रवती की सिंड यवागु का विरेचनार्थ प्रयोग करें।

#### यवागु योग—१. दंती द्रवती के कथाय से सिंड यवागु का विरेचनार्थ प्रयोग करें।

#### २. जांगल मांसरस के साथ द्रवती द्रवती की सिंड यवागु का विरेचन करें।

#### ३. मांस के दूष में द्रवती सिंड कर विरेचन के लिए दे।

#### चवागु योग—१. दंती द्रवती का द्रवती का द्रवती का विधिवत् मध्य तैयार करके विरेचन के लिए प्रयुक्त करें।

#### अर्थात् क्वाथ ३ भाग, मिश्री २ भाग, गोमूत्र चूर्ण १ भाग से।

#### मध्य योग—दंती द्रवती का कथाय तैयार कर विधिवत् मध्य तैयार करके विरेचन के

#### लिए प्रयुक्त करें।

**मोदक योग—उत्कारिका के द्रव्यों से (मिश्री, गोधूम और दंती द्रवंती का कवाथ)।—**  
मोदक बनाकर प्रयोग करें।  
तैल योग—दंती द्रवंती के कवाथ तथा कल्क से यथाविधि तैल तैयार कर प्रयोग करें।  
चूर्ण योग—दंती द्रवंती, मरिच, अजवाईन, उपकुंजिका, सौंठ, स्वपर्क्षीरी, तथा चिक्र इनके चूर्ण को गोमूत्र की ६ दिन तक भावना दे। इस चूर्ण का हस्तलल में समावेस इन्हीं मात्रा में धी के साथ प्रयोग करें।

**मोदकयोग—चिक्रक,** दंती-द्रवंती के १ पल, हरीतकी २० पल, त्रिवृत और पिपली २ कर्ष, गुड ८ पल, इनके योग से मोदक तैयार करें। इसे 'आगस्त मोदक' कहते हैं। यह सब प्रकार के विरेचन में दे सकते हैं। इसके प्रयोग में परिहार की आवश्यकता नहीं होती।  
आसव के योग—आसव के ५ योग हैं।  
१. दंती १ पल, द्राक्षा आद्या प्रस्थ इनका कवाथ बनाकर विधिवत् संधान करें। पितज ३. इयामा त्रिवृत और दंती के कवाथ में गुड मिलाकर पिपली, मदनफला और चिक्र ३. इयामा त्रिवृत से दंती द्रवंती का संधान करें। वातकफ, के रोग, प्लीहा, पांडु और उदररोग में से लिखे हुए घड़े में डालकर संधान करें। वातकफ, के रोग, प्लीहा, पांडु और उदररोग में इसका प्रयोग लाभप्रद होता है।  
२. दंती के कल्क को समझाग गुड मिलाकर कामला में विरेचन के लिए दे।  
३. इयामा त्रिवृत और दंती के कवाथ में गुड मिलाकर पिपली, मदनफला और चिक्र ३. इयामा त्रिवृत से दंती द्रवंती का सौंठीकर बनाकर प्रयोग करें।  
४. दंती द्रवंती का कवाथ और अजांधा के कवाथ से संधान कर आसव बनाकर यथाविधि प्रयुक्त करें।

५. इसी कवाथ में अजशंभी और गुड मिलाकर संधान करें। इसे गौडारिष्ट कहते हैं। यह सुख विरेचक है।

**अन्य योग—** १. दंती द्रवंती के चूर्ण, कषाय, तथा उड़द की दाल एवं किणव के योग से मदिहा तैयार कर विरेचनार्थ दे।  
२. अजांधा कवाथ से दंती द्रवंती का सौंठीकर बनाकर प्रयोग करें।  
३. तुषेदक तैयार कर प्रयोग करें।  
४. तिल्वक कल्प में कहे हुए विधि से दंती-द्रवंती को सुरा तैयार करें और विरेचन के भव्य पदार्थों में विरेचन के लिए दे। ५. गुड और दंती समझाग लेकर धी के साथ विरेचन के लिए प्रयोग करें।  
६. धूत योग—१. दंती तथा द्रवंती के मूलों के कल्क और कवाथ से धूत सिद्ध कर धूत योग—२. ३. गुड और लवण के साथ दंती द्रवंती का कल्क मिलाकर धूत से सिद्ध कर प्रयोग करें। ४. गुड और लवण के साथ दंती-द्रवंती को सुरा तैयार करें और विरेचन के भव्य पदार्थों में विरेचन के लिए दे।  
७. कुल विरेचन योग—इस तरह विरेचन के कुल १४५ योग होते हैं।  
८. इयामा त्रिवृत के योग—अस्तादि के १, सैंचावादि के १२, गोमूत्र के १८, यज्ञमध्य, यज्ञवक्तव्य के १५, दूध के ८, खांड के ५, पानक आदि के ५, ऋत्विनुसार ६, जीवकादि १५, दूध के ७, लेह के ८, चांद के ५, पानक का ५, धूत १, त्रिपात्राहवादि १० योग मिलाकर मोदक ५, धी दूध के ४, तर्पण चूर्ण के १, मध्य २, कांडी १, तथा शाहदवादि १० योग कुल ११० योग होते हैं।

**चतुरंगुल के—**कुल १२ योग हैं। द्राक्षारस का १ योग, सुरा, सीध दही, आंबला रस, सौंधीर, त्रिवृत कवाथ, बिल्क कवाथ प्रत्येक में एक-एक लेह, अस्तिष्ट १, धूत के २ योग हैं। तिल्वक कल्प—इसके कुल १६ योग हैं। दही आदि के ५, सुरा १, सौंधीर १, अस्ति१, कांपिल्लक १, लेह ३, धूत के ४ योग हैं।  
सुधा के योग—इसके कुल २० योग हैं। सौंधीरादि के ७, पानक का ५, धैय योग १, लेह १, धूत १, यूषादि, ३, मांसरस १, शुक्रमत्स्य तथा मांस के २, सुरा का १, तथा पुनः धूत का १ योग कहा गया है।

सप्तला शांघिनी—इसके कुल ३१ योग हैं। कवाथ के १६ योग, तैल के ५ योग, धूत के ८ योग, मध्य के ५ योग, लेह के ३ योग, तथा कापिल्ल १ हैं।  
दंती द्रवंती—इसके कुल ४४ योग हैं। दही आदि के ३, प्रियालादि ५, मांसरस के ३, स्नेह-३, चूर्ण १, इयरस का १ योग, पूरा और मासरस के ३, यवागु ३, उत्कारिका १, मोदक १, मध्य १, तैल १, पुनः चूर्ण १, पुनः मोदक १, सुरा १, सौंधीर १, तुषेदक १योग, कांपिल्ल और धूत के ५, योगों का समावेश है।

रोग अवस्थानुसार चारकोवत्त का तिप्पय विरेचन संदर्भ

चरक ने चिकित्सा स्थान में भिन्न-भिन्न रोगों में जिन-जिन अवस्थाओं में विरेचन का प्रयोग किया है, उनकी संदर्भ के साथ नीचे तालिका में दिया जाता है।

### तालिका

क्र.	अधिकार	अवस्था विशेष	संदर्भ
१.	ज्वर	लंघन दीपन, पाचन, धूतपानादि	च.चि. ३।१६८
		चिकित्सा के बद भी जिसका ज्वर प्रशम न हो उसे विरेचन दे।	
२.	ज्वर	बहुदोष ने संशोधनार्थ आरावधाद्याशा निवृत से शोधन।	च.चि. ३।१३०
३.	ज्वर	पितप्रथान ज्वर में विरेचन।	से २३३
४.	ज्वर	विषम ज्वर में विरेचन धूत तथा विरेचन दूष।	च.चि. ३।१८४
५.	ज्वर.	मांस स्थित ज्वर में मेदोगत ज्वर विरेचन।	च.चि. ३।३१६
६.	रक्तपित्त	उर्ध्वंग, बलवान, बहुदोषी आतुर में विवृत, आरावध्य हर्गतकी द्वारा विरेचन।	चि. ४।५४ से
७.	गुल्म	पितप्रथान, ज्वरप्रथान में मस्तने ह विरेचन।	चि. ५।१३१
८.	गुल्म	स्निग्ध, उष्ण, हेतु से उत्तर्व पैतिक गुल्म में लंसन।	चि. ५।३३, ३४
९.	गुल्म	दंती हरीतकी का अवलोह विरेचनार्थ चि. ५।१५२, से १६०	

३२४

आयुर्वेदीय पचकर्म विज्ञान

क्र.	अधिकार	अवस्था विशेष	संदर्भ
१०.	गुल्म	रक्तज गुल्म में स्नेह विरेचन। सामान्य चिकित्सा में दोषबल के अधिक होने पर विक्रिया।	चि. ५१७२ चि. ६११६
११.	प्रमेह	पित्तज प्रमेह में विरेचन। पित्तप्रथान कुरुष की सामान्य चिकित्सा-विरेचन।	चि. ६१२५ चि. ७१३१, ४०
१२.	कुरुष	विवृत, दंती निफला युषेदक आरावध की प्रशस्ति।	चि. ७१४७ से ४६
१३.	प्रमेह	राजयस्था दोषाधिकों में अधिक कर्षण न हो ऐसा विरेचन।	चि. ८१८७
१४.	गुल्म	कफपित उन्माद में प्रथम वमन कराकर विरेचन करावे। पुराने घृत का विरेचन तथा उन्माद में प्रयोग।	चि. ११३३
१५.	उन्माद	सामान्य चिकित्सा-विरेचन। पित्तप्रथान अपस्मार में विरेचन। अतत्वाधि निवेश में शोधन।	चि. ११६८
१६.	उन्माद	सामान्य चिकित्सा में शोधन के लिए दंती, विवृत से सिङ्ग शीर की प्रशस्ति एरंड, सिङ्ग शीर की प्रशस्ति।	चि. १०११४
१७.	स्वप्नयु	कंसहीतीकी योग। वातोदर में स्नेहन स्वेदन कराकर विरेचन करें।	चि. ११०१५
१८.	उद्दर	सभी उद्दर में विरेचन। मितोदर में बलवान गोणी में विरेचन। बद्धोदर में तीसण विरेचन।	चि. १०१६१ चि. १०१६८, ६९
१९.	उद्दर	नारायण चूर्ण विरेचनार्थ। स्नूहीक्षीर, स्नूहीषुत का उपयोग।	चि. १०११०
२०.	उद्दर	कफपित और वात का आवरण होने पर एरंड तैल विरेचन।	चि. १०११३ से १४०
२१.	उद्दर	सामान्य चिकित्सा क्रम में तीसण विरेचन।	चि. १०११७
२२.	पांडु	विवृत, हरीतिकी आरावध का वर्णन। काला में सामान्य चिकित्सा मूल।	चि. ११११ से ५६ चि. ११४०
२३.	कास	पित्तज, तनु कफ युक्त कास में विकृत विवृत विरेचन (स्वास)।	चि. ११३४
२४.	कास	सकफ कास में स्नेह विरेचन। पित्तज, तनु कफ युक्त कास में विकृत चाराधी विवृत, धनकफ कास में विकृत विरेचन।	चि. ११८५
२५.	छट्टि	सामान्य चिकित्सा में पलतप्रवर्तन के लिए हरीतिकी। पित्तज अतिसार में दूध से विरेचन। सामान्य चिकित्सा में हरीतकी से विरेचन।	चि. १११२१
२६.	छट्टि	विसर्प छट्टि में द्राशा, विदर्ति, इशुरस, विवृत का विरेचन। पित्तज विसर्प में विरेचन। महादोष में विरेचन।	चि. १११२२
२७.	विसर्प	विसर्प में विरेचन प्रशस्ति।	चि. ११४७
२८.	विसर्प	विसर्प के लिए विवृत चूर्ण, द्राशा, त्रायमाणा, निफला, विवृत घृत आमलकी रस, घृत का निर्देश सामान्य चिकित्सा में विरेचन।	चि. १०१२१
२९.	विसर्प	विसर्प के द्वितीय वेग में विरेचन। हृदय विद्वाह में विरेचन कीट विष में दंती, विवृत द्वारा विरेचन।	चि. १०१४५
३०.	विसर्प	आमाशय गत दोषों में प्रथम वमन कराने के बाद द्राशा रस पिलाकर अनु-लोपन कराने का निर्देश। उदावत में विवृत और स्नूही क्षीर फलवर्ति का निर्देश।	चि. ११४६
३१.	विमर्शीय	उदावत में विवृत और स्नूही क्षीर फलवर्ति का निर्देश।	चि. २६११८
३२.	विमर्शीय	उदावत में विवृत और स्नूही क्षीर फलवर्ति का निर्देश।	चि. २६११८

क्र.	अधिकार	अवस्था विशेष	संदर्भ
५३.	त्रिमर्मिय	उदावर्त में विरेचन के लिए मूलिनी तथा फलिनी का प्रयोग।	चि. २६१२४, २५
५४.	त्रिमर्मिय	आनाह में एंड तैल से विरेचन।	चि. २६१२९
५५.	त्रिमर्मिय	मूत्रकुच्छ में दुष्खविरेचन।	चि. २६१४९
५६.	त्रिमर्मिय	मूत्रकुच्छ में पित की प्रथानता हो तो विरेचन।	चि. २६१५८
५७.	त्रिमर्मिय	पितज हृदया में विरेचन द्राक्षा, फलसा, चि. २६१९० कटुकादि उपयोग।	
५८.	त्रिमर्मिय	हृदया में भोजने तर जीर्ण काल में शूल बढ़ता हो (कफज शूल) तो स्नेह विरेचन।	चि. २६१०१
५९.	त्रिमर्मिय	हृदया में भोजन के जीर्ण हो जाने पर शूल बढ़ता हो तो फलिनी द्रव्यों का विरेचन।	चि. २६१०७
६०.	त्रिमर्मिय	भोजन के जीर्ण (पच जाने पर) जीर्णति पचते रहने पर तुरन्त और बाद तीनों काल में शूल होने पर मूलिनी द्रव्यों से विरेचन दे।	चि. २६१०३
६१.	वातव्याधि	वातव्याधि सामान्य चिकित्सा के उपक्रम में पुनः पुनः स्नेहन स्वेदन और विरेचन की प्रशस्ति।	चि. २८१८३
६२.	वातव्याधि	रक्तगत वात में विरेचन।	चि. २८१९२
६३.	वातव्याधि	विवर्द्ध मार्ग में शूक्रगत वात में स्नेहन, स्वेदन कराकर विरेचन का निर्देश।	चि. २८१९८
६४.	वातव्याधि	पक्षाधात्-सामान्य चिकित्सा सूत्र में- स्नेहन, स्वेदन कराकर विरेचन का निर्देश।	चि. २८१९९
६५.	वातव्याधि	कफावृत वात में विरेचन।	चि. २८१९८
६६.	वातव्याधि	शकुद्वृत वात में एंड तैल।	चि. २८१९८
६७.	वातव्याधि	व्यानावृत प्रणा में स्नेह विरेचन।	चि. २८१०५
६८.	वातव्याधि	अपान वायुप्रकोप में अनुलोभन	चि. २८१२०९

## विरेचन का कार्यक्रम

विरेचन यह पित और कफ रोगों को दूर करने वाली चिकित्सा है। यह वात रोगों में भी प्रशस्त चिकित्सा है। रक्त द्वितीजन्य विकारों में विरेचन प्रधान उपक्रम है। मांसपात विकार, मेदोगत विकार और संधि, मज्जा तथा शुक्रगत विकारों में भी विरेचन प्रधान औषधि है। योनिदोष, स्वनदोष, तथा मनोविकारों में विरेचन उपक्रम कहा गया है।

विरेचन के गुण और कर्म १४—संशोधन की प्रशस्ति में कहा गया है कि यह,

१. मलापह—मलों को शरीर में से निकाल देता है,
२. रोगहर—रोग को दूर करता है,
३. बलाकर—शरीर के बल को बढ़ाता है,
४. वर्णप्रसादन—शरीर का वर्ण निखारता है।
५. आयुष्यवर्धन—आयुष्य बढ़ाकर विरकात तक स्वस्थ रखता है इन कर्मों को करता है।

सुश्रुत ने विरेचन के निम्नलिखित गुणकर्म का वर्णन किये हैं।

१. बुद्धि को निर्माल करता है।
२. विरेचन इंद्रिय बल को बढ़ाता है।
३. अनिन को प्रदीप्त करता है।
४. धातुओं को दृढ़ करता है।
५. बुद्धा पा को देर से लाता है।
६. पितज रोगों को नष्ट करता है।

सुश्रुत ने दृष्टांत दिया है कि जैसे जल को निकाल देने पर जल के आश्रय से रहने वाले कमलादि वनस्पतियां, मछलियां आदि जलचर प्राणियों का नाश होता है वैसे ही पित को दूर करने से पितज रोग नष्ट होते हैं।

१. इंद्रिय शुद्धि २. इंद्रियों की अपने कार्यों में क्षमता होना।

३. धातुओं की शुद्धि और ४. शुक्र की अग्नि की क्रियाशीलता होना ये खास कार्य बताए हैं।

१. विरोधन औषधि का कार्यकलाप ।

१. विरेचन औषधि का कार्यकला
२. बिस्त्र द्रव्यों का शारीर विचार।

वर्मन और वर्वरचन आपौर्धव की कार्य करने की पद्धति समान है। उषा, तीर्था, सूर्या, पहुंचकर, वहा से सूखत और अप्पा स्रोतों में जाती है, और उषा गुण से विष्वदन, तीर्था गुण से छेदन करती हुई दूष समूहों का प्रस्तावित कर कोष्ठ में लाती है, जहां से पृथ्वी और जल महाभूत की प्रूपितता से और अधेशार हर प्रभाव के कारण वे नीचे की ओर गुदमार्ग से दोषों को निकालती हैं। सुश्रुत ने इनमें ‘सर’ गुण और बताया है जो अनुलोपन करने वाला होता है। यहां भी वर्मन में उक्त प्रकार से विशेषक द्रव्यों के द्वारा कोष्ठ में उत्तेजना, धमनियों में उत्तेजना और ज्ञातम स्तर पर द्रव्य का प्रभाव ये विविध कार्य अपेक्षित हैं। उषा, तीर्थादि गुण वे तत्व हैं जो औषधि के कार्यक तत्व (Active Principle) हैं उनके द्वारा हृदय केंद्र में उत्तेजना होना ये कार्य होते हैं तथापि इस उत्तेजना के बाद भी वर्मन औषधि से वर्मन होना या विरेचन औषधि से विरेचन होना यह उनका प्रभाव है। पृथ्वी और जल महाभूत के प्राधान्य से उनमें गुरुत्व और अधोगमी प्रवृत्ति होती है ऐसा कहा जा सकता है, फिर भी कुछ विशेष द्रव्यों में होना और अन्यों में नहीं होना यह देखकर उनका प्रभाव स्वीकार करना पड़ता है। रुक्ष, वीर्य, विपाकादि समान होते हुए भी किसी द्रव्य में कोई विशेष प्रकार का जो कार्य होता है। वह प्रभाव के द्वारा होता है। दूसी और चिकित्सक दोनों का रस और विपाक कट्ट हैं, दोनों उष्णावीर्य हैं तथापि दोनों प्रभाव से विरेचन करती हैं, जो चिकित्सक नहीं कर सकता। इस तरह प्रभाव के द्वारा अनुक एक आशय में जाकर कार्य करने की क्षमता द्रव्य में आती है। उसे उस द्रव्य की खास नियत ऐच्छिकता (Selective priscriminity) समझा जा सकता है। गोक्षुर, पुनर्नवादि का मूत्र वह स्रोत में जाना, ब्राह्मी, शंखपुष्पी आदि का मसितज्ज में जाना, रसिंदुर पोटटली आदि द्रव्यों का फुफ्फुस हृदय में जाना, यह उनकी तत्त्व स्थान के प्रति ज्ञोतों से पुनः आत्र में ही आते की क्षमता रखते हैं ऐसा कहा जा सकता है।<sup>१५</sup>

व्यापकतादि से) तो कहीं उनमें रहने वाले सिनगाहादि गुणों से काम करते हैं। कहीं दोनों से काम होता है। यही स्थिक्षात् विशेषज्ञ इन्द्रव्यों में लागू होता है। उद्बहरण—यव को पुरीष निर्माण करने वाला द्रव्य कहा है। अधिक मात्रा में यव अपने प्रमाण से ही विशेषज्ञ करने वाला होगा। यह बात आगे 'इसबगोल' के विशेषक तत्व में स्पष्ट होगी। दंती आदि में क्रक्षपाणि द्रव्य प्रभाव कहते हैं, वह केवल अचित्य वीर्य बताने के लिए। बस्तुतः दंती का उष्ण तीक्ष्ण प्रभाव से (आत्र के हृदय की) उत्तेजना समझना चाहिये और दंती आदि का कार्य कोष्ठ पर ही होता है यह उसका द्रव्य प्रभाव समझना चाहिये।

चारक ने विशेषज्ञ के तीन प्रकार के कर्म बताये हैं।

१. मुट्ठ में विशेषज्ञ      २. मुख विशेषज्ञ      ३. तीक्ष्ण विशेषज्ञ

मुट्ठ विशेषज्ञ वह है जो अल्प प्रमाण में प्रभाव करता है। इसका उद्बहरण आरावध है। मुख विशेषज्ञ वह है—जो विशेषज्ञ मुख्यरूपेकं द्विना कफ्ट से लाता है और मुट्ठ से अधिक कार्यकर होता है। इनका उद्बहरण विवृत है और तीस्रा विशेषज्ञ वह है जो अत्यधिक विशेषज्ञ वेगों को कहता है। इसके उद्बहरण स्नहीक्षीर, दंती ये हैं। इसके अतिविक्षय चरक ने भेदनीय, अनुलोमनीय और संसन्न विशेषज्ञोपाएसे अन्य शब्द भी प्रयुक्त किये हैं। भेदनीय में— अर्क, एरंड, शांखिनी और कटुका (च. सू. ४) तथा अनुलोमन में हिंगु, अस्त्विक्षय इत्यादि (च. सू. २५) का तथा संसन में यावशूक (च. सू. १५) और विशेषज्ञोपाए में द्राक्षा, गंभारी, आमलकी, बहेड़ा, हरीतिकी, पीलू इत्यादि का (च. सू. ४) समावेश किया है। आगे शाङ्खधारादि ने अनुलोमन, संसन, घेदन और विशेषज्ञ ऐसे चार प्रकार के विशेषज्ञ मानकर मलपाक के आधार पर इन सब को अलग-अलग स्पष्ट किया है यह हम देख चुके हैं। इनकी कार्यपद्धति का विवरण इस प्रकार है।

क्र. अनुलोमन	संसन	भेदन	विरेचन
१. मलों का पाक करता है।	पाक नहीं करता।	पाक नहीं करता।	मलों का पाक नहीं करता।
२. मल को तोड़ता है।	मल को महास्रोत से विशिलष्ट करता है।	तोड़ता है, या वैसे ही धन स्वरूप में निकाल देता है।	मल को तोड़फोड़ कर द्रवित करता है।
३. मल को नीचे ले जाता है।	मल को नीचे ले जाता है।	मल को नीचे ले जाता है।	मल को नीचे ले जाता है।
४. सुखपूर्वक वात का अनुलोमन करते हुए द्यो है। (मरोड़)	कभी-कभी उदर आवेष्टन करता है।	विरेचन करते समय मरोड़ लाता है।	विरेचन में कभी मरोड़ करता है, कभी नहीं करता।

चारक कहत है कि द्रव्य कवल अपने द्रव्यत्व प्रभाव से, गुणत्व प्रभाव से तथा द्रव्यत्व के प्रभाव से ही कम नहीं करते। अपितु वे आशय में अमुक-अमुक प्रकार से (रस, गुण वीर्य, प्रभावादि) कार्यक होते हैं ।<sup>१६</sup> यहाँ यह स्पष्ट है कि द्रव्य कहीं अपने द्रव्यत्व से (द्रव्य को रहने का जो अवकाश चाहिये उसकी

आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान विरेचन द्रव्यों के भी भिन्न-भिन्न प्रयोग किये गये हैं। बिल्टी के आंव में दो नलिकाएं ऐसी करते हैं। ऐसे द्रव्यों के विरेचनक औषध—अगार (Agar), इसबगोल, मेन्त्रा, ये कहे गये हैं। जोड़ दी गई—जिसमें एक में से पार्नी डाला जा सके, और वह अंत में पहुंच कर दूसरी नलिका से निकला जा सके। इस प्रयोग में अंत का राक्तप्रवाह ठीक ढंग से चालू कर सके ऐसी व्यवस्था की गई। फिर स्वर्णपत्री-सनाय (Senna) के कार्मुक तत्वों को प्रविष्ट कर अंत की गतियों का अध्ययन किया गया है। सनाय के कार्मुकतत्व स्त्रिरोक्तेश से प्रविष्ट (Intra Venously) करने पर या, आंव में नलिका से प्रत्यक्ष डाल देने पर देखा गया कि वह आंव के संकोच विकास की गतियों को (Peristaltic movement) बड़ा देता है। डॉ. स्ट्रॉब (Straub) ने प्रयोग से सिँद्द किया है कि सनाय पत्ती का पहले लघु अंत में शोषण हो जाता है। और वह अपने कार्मुकत्व (Active Principal वीर्य) में परिवर्तित हो जाती है। और वहां उसकी गतियां और ये तत्व रसायन विकेपाण के साथ त्रृहंदत्र में पहुंच जाते हैं। और वहां शर्करा (बग) तत्व होते हैं जो शोषण के बढ़ाकर विरेचन करते हैं। सनाय में—गलायकोसाईड (शर्करा बग) तत्व होते हैं—यह इमोडिन विरेचक तत्व है। इस परिवर्तन किया में समय लगने के कारण यह देर से विरेचन जाता है। इमोडिन के स्वरूप में इनका उपयोग लाघव नहीं होता क्योंकि यह आशुकारी और धातक होता है।

कुछ विरेचन द्रव्य शरीर के अपराधु-क्लोद इनके कार्य करके विरेचन करते हैं। शरीर में बाहर से जाने वाले द्रव्य शरीर के द्रव्यतद्रव्य के साथ मिलने की क्षमता कितने प्रमाण में रखते हैं, उस पर शरीर का अपाधातु संतुलन टिका रहता है। इसमें शरीर के अपाधातु की तुलना में—उनके समक्ष अणु परमाणु संहनन वाला द्रव्य हो तो उसे आयसोटानिक (Isonic) कहा जाता है। जब किसी द्रव्य के अपाधातु संहनन वाला द्रव्य हो तो उसे अपाधातु से अधिक होती है तो उसे हायपर टोनिक (Hypertonitic) कहा जाता है, और जिन द्रव्यों के अणुपरमाणों की कार्यक्षमता अपाधातु की अपेक्षा कम होती है उसे हायपोटोनिक कहा जाता है। इन द्रव्यों द्वारा शरीर में ओमोटिक प्रेशर (Osmotic Pressure) और हायड्रोस्टेटिक प्रेशर (Hydrostatic pressure) निर्माण होता है। जब कभी भी ओमोटिक प्रेशर बढ़ता है तो वह बाहर से अपने स्थान में जलीय तत्वों को खींचते हैं। और हायड्रोस्टेटिक प्रेशर अपने जलीय तत्वों को बाहर ढकेल देता है। मेढ़क के आंत पर कुछ विरेचन द्रव्यों के प्रयोग कर इस जलापकरण का अध्ययन किया गया है।

यदि लवणजल आंव में डाल दिया जाए तो वह तुरन्त शोषित हो जाता है। किंतु हायपर टोनिक सोल्युशन में मैनोशियम सल्फेट (Magnesium Sulphate) विरेचक औषध डालने पर वह शोषित नहीं होता किन्तु और जल को खींचकर अपने अल्कार में फूल जाता है। इस तरह विरेचन द्रव्यों के तीन प्रकार से कर्म देखे जाते हैं और उनका तीन प्रकार में वर्गीकरण किया जाता है।

१. द्रव्य गुरुत्व बहुलता (Bulky Purgative) से विरेचन
२. लिपांध विरेचन (Lubricant Purgative)
३. प्रदांधक विरेचन (Irritant Purgative)
४. द्रव्य गुरुत्व बहुलता से विरेचन—जब गुरु द्रव्य अंत में अवस्था न पाते हैं वे अंत तत्व की भित्ति को उत्तेजित कर उनका संकोच विकास कार्य बद्धा कर विरेचन करते हैं।

करते हैं। ऐसे द्रव्यों के विरेचनक औषध—अगार (Agar), इसबगोल, मेन्त्रा, ये कहे गये हैं।

अगर यह एक जापानी औषध का निर्यास है जो आंव में जाकर जल को खींचकर गुरु फूल जाता है और पिच्छल (Jely Substance) द्रव्य में परिणत होकर विरेचन करता है।

इसबगोल भी इसी तरह विरेचन करता है। मेन्त्रा यह इसाएली एक बनस्पति का शर्करायुक्त शुष्क द्रव्य है—दक्षिण यूरोप में भी मिलता है—और यह भी गुरुता से विरेचन करता है।

चाक ने “यव” को गुरु और बहुशक्तकृत कहा है। यह रुक्ष होने से शोषण (जल को खींच कर) भी करता है।<sup>१७</sup>

इसी तरह लवणद्रव्य अंत में ओमोटिक प्रेशर के द्वारा जल को खींच लेते हैं। मैनोशियम सल्फेट, सोडियम सल्फेट इस तरह कार्य करते हैं।

२. निमधु विरेचन—(Lubricant Purgative)—इसके अंदर समाविष्ट द्रव्य

अंत तथा मल को स्निग्ध कर देने के कारण विरेचन करते हैं। लिकिट पेराफिन (Liquid paraffin) और पार्फ्यूम तेल इनके उदाहरण हैं।

३. प्रक्षेप्त्रक विरेचन (Irritant Purgative) ये ऐसे द्रव्य हैं जो आंव के नाई सूत्रों की प्रश्नोभित कर, विरेचन केंद्र को प्रश्नोभित कर, आंव गतियों में क्षोभ उत्पन्न कर विरेचन करते हैं। इनमें पारद, गंधक, मीनोलोथेलिन और हायड्रोगोग फारोटिव (Hydrogogue Purgative) का समावेश होता है। दंतीबीज अंतिम का उदाहरण है। कुछ लोग विरेचक द्रव्यों को १. लेक्सेटिव (Laxative), २. सिंपल परामेटिव (Simple Purgative), ३. ड्रास्टिक परगेटिव (Drastic Purgative), ४. हायड्रोगोग परगेटिव (Hydrogogue Purgative) और ५. पित विरेचक (Cholagogue Purgative) ऐसे पांच प्रकार के विरेचक करते हैं और उनको क्रमशः अनुलोमन या सर, अंसन भेदन और विरेचन उनके समकक्ष बनते हैं।

विरेचन प्रक्रिया—विरेचन की प्रक्रिया का नियंत्रण केंद्र मस्तिष्क में मैड्युला ऑवलोगेटा के पास स्थित होता है। यह श्वास केंद्र तथा वमनकेंद्र के नजदीक होता है। इसलिए विरेचन द्रव्यों से विरेचन केंद्र की उत्तेजन होने पर वमनकेंद्र शिथिल होता है। और युवर्द के अतिवप्न के उपद्रव में विरेचन, और विरेचन के उपद्रव में वमन करने का आदेश संभवतः इसीलिए दिया है।) और कुछ वामक द्रव्य विरेचन भी करते हैं इसी तरह विरेचन (एंटी) के समय श्वास की प्रक्रिया कुछ देर रक जाती है। इस केंद्र से स्माइन्टल सेंटर तथा, गुद के द्वारा की कार्यक्षमता नियंत्रित होती है।

विरेचन का नियमन करने वाला दूसरा केंद्र सुषुप्ताकांड में से क्रम वटिंबा (Sacrum-विकासित) के १, २, ३ रे तथा ४ वे विभाग में स्थित होता है ऐसा नहीं है। क्षमोक्ति द्विचन संपूर्ण नाश के बाद भी मल प्रवृत्ति का अनियंत्रण होता है और गुद स्वयं इनका नियंत्रण करता है। प्रक्रिया की गतियां रवव्यवचितित स्वसंचालित भी होती हैं, और उसे गुद के कार्य का आयुर्वेदः प्राणात्मा यो प्रस्तियां ये रहता है वह इंद्रियशुक्र है—और उसे गुद के कार्य का नियंत्रक कहा जा सकता है। अपानव्यय अपान प्रदेश में रहकर मलादि का निस्परण करता है, और गुद—जो स्वयं कर्मन्द्रिय है—विसर्जन यह उसका कर्म है—वह भी विरेचन में उत्तरवायी है।

श्वासोन्ध्वास को रोक कर नीचे पीड़िन किया जाता है। टटी के समय नीचे दब जाती है। यह पेशी अनुप्रस्थ आंत्र (Transvers colon) को नीचे दबाती है। इसी समय उदर पेशियाँ, दबाव करती हैं और मल को नीचे ढकेल दिया जाता है। आंत्र में मल के आने पर आंत्रभित्तियों को उत्तेजना भिलकर वे गतियाँ करती हैं और मल अवरोही आंत्र, कुंडलिका आंत्र, तथा गुद तक पहुँच कर निकल जाता है। गुद ४ से ५ इंच लंबाई वाला अवरव होता है। इसमें दो सुधिर पेशियाँ हैं, जो उसे संकुचित रखती हैं। मलोत्सर्जन चेष्टा से ये पेशियाँ निवृत होकर मल को रास्ता कर देती हैं।

उपर्युक्त निवेचन का सारांश यह है कि—

(१) विरेचन द्रव्य कोष्ठ में जाने के बाद उनकी गुरुता से स्थिरता से मलों को नीचे ले जाते हैं।

(२) कोष्ठ के (आंत्र) नाड़ीसूत्रों को उत्तेजित कर उनकी गति बढ़ा देते हैं और विरेचन करते हैं।

(३) या सुषुम्ना तथा शिर के केन्द्र को उत्तेजित कर मलोत्सर्जन गति बढ़ाते हैं।

(४) या वीज्ञ द्वारा रक्त में मिलकर जुन: आंत्र में आकर मलोत्सर्जन गतियों को उत्तेजित कर विरेचन करते हैं।

## २. विसृष्ट द्रव्यों का शारीर विचार

विरेचन से मल, पित, तथा उदक धातु का बहुलभाग में शोधन होता है। इनका शरीर देखने पर स्पष्ट होता है कि विरेचन कार्मकात्व सार्वदैहिक है न कि कोष्ठगत।

मल में यहाँ पुरीष का ग्रहण किया जाता है तथां शरीर के उपथान कर मलों का समावेश करना चाहिये। ये मल स्नेहपान के द्वारा उत्किल्ट होकर द्रवित होकर कोष्ठ में आते हैं और विरेचन से निकलते जाते हैं। मल का अधिकतर भाग अंत्र के किन्द (अपारेक) भागों से तैयार होता है, तथां इसमें धातुगत मल भी समाविष्ट होते हैं। मल में अंत्र का मलभाग, जीवाणु, आंत्र की दीवार में से ज्वरित हुए शरीरधातु के मलांश तथा याकृति पित इनका प्रमाण होता है ऐसा आधुनिक विज्ञान मानता है। अंत्र में स्नेह का प्रमाण अधिक हो तो वह कुछ अंजीण होकर मल में मिल जाता है। लेकिन शोषित स्नेह द्रव्य भी धातुगत के अन्तर मल में मिलाकर आंत्र में आमाशय के अनाधार में आ जाते हैं। अगर किसी व्यक्ति के आंत्र भाग को बंधन द्वारा पृथक रखा जाये तो भी नीचे के आंत्र में मल जम होते हुए देखे जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि आंत्र में धातुज मल आते हैं। भोजन में स्नेह द्रव्य विजित कर दिये जाये तो भी मल में स्नेहद्रव्य पर्याप्त प्रमाण में आते हैं, यह इनका निर्देशक है कि स्नेह धातु में स्नेह आते हैं।<sup>१४</sup> इससे यह स्पष्ट होता है कि—मल के शरीरमल आते हैं और आयुर्वेद सिद्धान्त के अनुसार स्नेहपानादि के द्वारा उनको उत्किल्ट कर निकालने में बड़ी शास्त्रीयता है। ये मल रस, रक्त, मांस, देह आदि धातु से, तथा शिर हृदय, ल्लीहा, फुफ्फुस, हाथ, पांव आदि सब अवयवों के धातु से अनुप्रवण धातु द्वारा कोष्ठ में आते हैं जिससे तत्त्व यां शुद्धि, आमपाचन होकर अग्नि बल बढ़ना, अवयव को बल मिलना इत्यादि कार्य होते हैं।

विरेचन में उदक का अधिक मात्रा में विसर्जन होता है। इसका कारण यह है कि शरीर धातु से मलों को लाने का कार्य उदक ही करता है। यह उदक मल, मूत्र, रस, रक्त तथीका, स्नुकादि सभी धातु उपथातु, और मलों में रहता है। उदक का कार्य बताते हुए कहा है कि यह स्नेहन, आल्हदन, क्सनदन, बंधन, और विष्वदन करता है।<sup>१५</sup> विचार करने पर इसमें एकटासेल्युलर और इन्ट्रा सेल्युलर, इंटरस्टीशियल पल्ट्युइड (extra cellular, Intracellular, interstitial fluid) के कार्य का समावेश होता है। उदक का आश्वासन और स्तंभन का भी श्रेष्ठ कार्य कहा गया है। इनसे शरीर का पोषण (तर्पण-स्नेहन), बंधन (osmotic pressure, Hydrostatic pressure का संतुलन) बतेदत्त (मल निर्हरण), अतिसार संप्राप्ति में उदक धातु का “संशाल्यांपांधुरानि प्रवृद्धः” कहकर उदक का निकल जाने के बाद उदक बड़ुल जो बेग होते हैं उन्हीं से शरीरगत मलों का निर्हरण संभव है। अतिसार संप्राप्ति में उदक धातु का “संशाल्यांपांधुरानि प्रवृद्धः” कहकर उदक का निस्सारण कहा है। अतिवेग में रक्ताभ उदक जाना, मांसधावन, मेदः खंड के समान उदक का जाना ये लक्षण दिये हैं, उनसे स्पष्ट है कि यह उदक तत्त्व धातु से मलों को लाना है, और अति प्रवृत्ति होते उन धातु के पोषक कणों को भी ले जाता है। अत्युदक क्षय से स्नेहादि कार्य भी क्षीण होकर गलानि, दौर्बल्य, तमः प्रवेश, आँखों का अंदर धूमसा इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं।

पित का मल में निकल जाना आयुर्वेद को मात्र ही है। पितरों के लिए विरेचन का प्रधान उपक्रमता, कामला में विरेचन की प्रधानता बताना, रुद्धपथ कामला में श्वेतवर्चा का लक्षण कहना, योग्य विरेचन की प्रधानता बताना, रुद्धपथ कामला में स्नेह सात्य न होते हुए, धातुपाक क्रम से उनको स्निधापकर मल में से विसर्जित होता है और पुरीष की स्निधापक करता है—यह कहा गया है। इस तरह पथ, पित, और स्नेह के सार्वदैहिक शोधन से धातुपाक क्रम में आमूलाय परिवर्तन हो जाता है और एक सूर्पण परिचक नये ढंग से कार्य करने में समर्थ होता है। इसीलिए शोधन के अनेक गुण आचार्यों ने बताये हैं और शोधन चिकित्सा को शमन की अपेक्षा भूरि-भूरि प्रशंसा की है। स्नेहन स्वेदन के बिना जो विरेचन किया जाता है—उसमें धातुगत मलों का अन्तर का शरीर वैसे भान होता है जैसे सूखी लकड़ी उसे मोड़ने के प्रयत्न से दूट जाती है, और युक्ति पूर्वक स्नेहन कराने से, स्निधापक रसादि से मलों का उद्वीरित करने से उनको कोष्ठ में लाकर निकालने में मुश्किल होती है।<sup>१०</sup> इस तरह विरेचन कर्म यह केवल टटी लाने का अतएव उसका निर्धारण करते हुए कहा है कि बिना स्नेहन और स्वेदन के विरेचन करने से आतुर का शरीर वैसे भान होता है जैसे सूखी लकड़ी उसे मोड़ने के प्रयत्न से दूट जाती है, और युक्ति पूर्वक स्नेहन कराने से, स्निधापक रसादि से मलों का उद्वीरित करने से उनको कोष्ठ में लाकर निकालने में मुश्किल होती है।<sup>१०</sup> इस तरह विरेचन कर्म यह केवल टटी लाने का नियम कर्म नहीं है अपितु सर्व शरीर शोधन चिकित्सालय—स्नेहन स्वेदन से संयुक्त विरेचन कर्म है और उसके ही ‘‘पुण बुद्धे: प्रसादं इत्यादि द्वारा वर्णित किये गए हैं ऐसा समझना चाहिये।

## संदर्भ

१. तत्र दोष हरणं अधोभागम् विरेचन संज्ञाकं। उपय वा शरीरमल विरेचनात् विरेचनां संज्ञा लभते॥
- च. पा.—अधो गुदेन दोष निर्हरणं भजत इत्यधो भागं। . . . न चैर्व सति वर्णन विरेचनवात्रिन्देऽपिविरेचन संज्ञा प्रसिद्धिं रुद्दावनीय यतः षकजशब्दवर्मदियं विरेचनं संज्ञा वर्णन विरेचनयोरपि योगलङ्घन्या धृतिं॥
२. 'वाचस्पत्यम्'—लेखक श्री. तारानाथ भट्टाचार्य ।
३. स्नेहात्प्रस्त्रकदनं जंतुः त्रित्रोऽपरतः मिदेत् ।
४. पिते तु विरेकं, श्लेष्म संसुद्धे वातरथान गते वा श्लेषणा इति (विरेके) ॥
५. वातस्योपक्रमः स्नेहः स्वेदः संशोषनं मृदुः॥
६. विरेचनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः पिते प्राथानतमं मन्त्यते भिषजः। तद् हि आदित एव आमाशयमनुश्रुतिश्च केवलं वैकारिकं पिते मूलप्रकारं। तत्रावजिते पिते इपि शरीरान्तरात्। पिताविकराः प्रशांतिमापद्यते, यवानां व्यपोदेते केवलमन्त्रिन् गृहं शीति श्ववति तद्दत् ॥
७. विवृत्स्यखविरेचनां (श्रेष्ठ), चतुर्गुलो मुदुविरेचनानां स्नुक्, पयस्तस्तिश्चन विरेचनानां॥

८. अरुणांगम विवृत मूलं श्रेष्ठं मूलविरेचने। प्रधानं तित्वकस्त्वस्य फलब्जापि हरितिकी। तैलेष्वरंडजं तैलं स्वर से कारबेलिका। सुधापय पष्टमूकतं इति प्राथान्यं संग्रहः॥
९. च. मू. १-७७ से ८०.
१०. च. मू. १-८१ से ८५.
११. च. मू. १-८१ से ९२.
१२. च. मू. १-१४४, ११८.
१३. च. मू. १-१, १०.
१४. च. मू. ४-४.
१५. च. मू. ४-१४.
१६. च. मू. ४-३७.
१७. च. मू. ११-४०.
१८. च. मू. ८-१४०.
१९. च. मू. ८-१४०.
२०. विवृत श्यामादंतिरवंता..... शोषणा क्षीराणीति।
२१. निकुम्भ कुम्भ विफला नवाक्षी..... दुर्धच मूर्त्तच विरेचनानि।
२२. अ. ह. सू. १५-२

२२. (१) कृत्वा पारं भलानांच भित्वा बैधमधोनयेत्। तच्चानुलोमनं शेयं तथा प्रोक्ता हरितिकी॥  
पक्षत्वं यदपक्ववैव रिताष्ट कोष्ठे मलादिकं।
- (२) नयत्यधः लंसनं तत् यथा प्रोक्ता हरितिकी ॥
- (३) मलादिकमबद्वं यद्दुङ्द वा पितितं मलैः। शित्ताधः पात्रयति तद भेदनं कटुकी यथा ॥।
- (४) विपक्वं यदपक्वं वा मलादि द्रवता नयेत्। रेचयत्पि तज्ज्ञेयं रेचनं विवृता यथा ॥।
- शा. पू. खं. ४-३, ४, ५, ६  
अ. ह. सू. १८-४४
२३. अपवर्वं वमनं दोषान् पञ्चमानं निरेत्.....॥। दुर्वलो बहुदोषश्च दोषपक्वेन यःस्वयं । विरिच्यते...अ. ह. सू. १८-४४  
सु. चि. ३३-३४
२४. वृत्ते वृत्ते वृत्ते पयः मु चापि मधेषु मूर्त्तु तथा रसेषु। भक्षणं लेहेषु च तेषु विष्वनान्यग्रातिर्विद्ध्यात्॥। क्षीरं रसं कल्कमयोक्तया शूतंच शीतंच तथैव चूप्तम्। कल्पाः षडेते खलु भेषजानां यथोत्तरं ते लघवः प्रतिष्ठा:॥।
२५. नातिस्निग्धं शरीराय द्व्याहस्तेह विरेचनां। स्नेहोत्तिरिष्ट शरीराय रुक्षं दद्यात् विरेचनां।
२६. न चाति स्नेहं पात्तु पिबेत्सेह विरेचनां। दोषाः प्रचलिताः भूया पुनः शिलाद्यति तदन्तर्सु॥। सु. चि. ३४-१०, ११
२७. विसर्पं पिडका शोफ कामला यांडुरोगिणः। अभिघात विषालीश्च नाति रित्वन्धान् विरेचयेद्॥।
२८. (१) अविरेच्यात् तुभ्या धत युद मुक्तनालाधोभाग रक्तपित्त विलंबिता, दुर्बलेद्विद्य, अत्पानि निरुद्ध कामादि व्याप्राजीर्णि नवज्वरा मदात्पचिताभ्याता:॥। शल्यदित्तिप्रिहतातिस्त्रिथं (क्षतादयश्च गर्भिण्याताः इति तमनादिविषय मध्ये पठिताः।) शांतस्तुडालोऽपरिजीर्णभवतो गर्भिण्यो गच्छति यस्य चासुक्॥। नव प्रतिश्यायमदात्पचित्वा नवज्वरी या च नवप्रसूता। शल्यादित्तश्चायविरेचनीयाः स्नेहादिभिर्ये त्वनुपकृताश्व।
२९. अत्यर्थं पिताभिरतिदेवतन विरेचनात्तानपि मदं मंदम्। प्रसक्त वमयोः पूर्वं प्रायेणामज्जरः:पिच। घूमांते: कर्मभिकृर्णा सर्वैयतु अजीर्णिनः॥।
- (प्रसक्त वमयो पूर्व—गर्भिणी से प्रसक्त वमशु तक अवम्य.)
३०. विरेचनैयति नरो विनाशमः प्रयुक्तैरविरेचनीयाः।।। तत्र सुभगस्य सुकुमारोवती दोषःस्यात्। क्षतगुदस्य क्षतेगुदे प्राणोपरोधकरी रुजा जनयेत्। भूक्तनालामति प्रवृत्त्या हृन्यात् अधोग्या रक्तपित्तिनं तद्वा॑। विलंबित दुर्बलेन्द्रियात्प्रसागिन निरुद्धा औषधेवां न सहेन, कामादि व्यग्रमनसो न प्रवत्तति, कृच्छ्रण वा प्रवर्तनामयोग दोषान् कुर्यात्, अजीर्णिनः आमदोष स्यात्। नवज्वरिणाऽविपक्वान् दोषान् व निहरत् तातमेव च कोपयेत् मदात्पचितस्य मद्यक्षिणे



५१. पिनोतेरे विवृच्युर्ण द्राक्षा कवाथादिभिः पिबेत्।  
विफला कवाथ गौमूत्रः पिबेत् व्यार्थ कफादित्स्म्।।  
विवृत्स्थव शुष्ठिना चूप्णमूलैः पिबत्वात् ।।  
वातदितो विरेकाय जागलाना रसेन वा ॥।।
५२. अथेन पुनरेव स्नेह स्वेदाच्यामुपपाद्यान् पहल मनसापिसमीक्ष्य सुखोधितं सुप्रजीर्ण  
भवते कृताहोमवलिमगलजप्रपाचायाहिचतमिष्टे तिथि नक्षत्राकरणमहूते  
बाहुणान्वकास्त्रितवाचयित्वा विवृत्कलकमस्तमावै यथाहातोडन प्रतिविनितं पाययते  
प्रसमीक्ष्य दोष.... ।।
५३. अथेन पुनरेव स्नेह स्वेदाच्यामुपपाद्यान् पहल मनसापिसमीक्ष्य सुखोधितं सुप्रजीर्ण  
भवते कृताहोमवलिमगलजप्रपाचायाहिचतमिष्टे तिथि नक्षत्राकरणमहूते  
बाहुणान्वकास्त्रितवाचयित्वा विवृत्कलकमस्तमावै यथाहातोडन प्रतिविनितं पाययते  
प्रसमीक्ष्य दोष.... ।।

५४. श्लेषकाले गते जात्वा कोष्ठ सम्यग् विरेचयेत्।  
५५. (१) पीतमात्र एवंष्ठे छर्दि दिधाताय शीतात्कुना मुखमस्य सहसा सिंचेत्।  
ततश्चोषादेकेन स्नोतीपुखं विशोध्याद्युपरिष्मिणमातुलिंगं जंबीर सुमनः  
सौंगमिधादि हृद्याधान् उपजिज्ञेत्। नियातसुखं शाय्यास्थितं चाविवधार्थं  
अल्पात्मपुष्टोदकं मनुकठयस्तामना वेगान् न धारयन् इत्यमाणश्च शाय्यासनं  
प्रतिग्रहेऽशीतस्तुशा विरिच्येत्।।  
(२) विरेचनं पीतवास्तु न वेगान् धारयेत्कुमुः। निवातशायी शीतात्कुना स्पृशेत्  
सु. चि. ३३-२३
५६. अपवृत्तौ तु भेषजोत्तेजनर्थं उषाओदंकं प्रयत्नेत्।  
पापिणापैश्च जठरं स्वेदयेत्।
५७. कूर्ध्वं कफातुगो पिते, विद्युतित्तुकफेत्वधः ।  
हृतदेष्व वदेकार्थं दैर्वल्लेचेत् सलाधवे।
५८. वामयेत् ततः शेषमोषं न त्वलाधवे।
५९. उत्त्वनित्तल्ले दिने तस्मिन् ऊक्तवाऽन्तेष्युः पुनः पिवेत्।  
अद्युः स्नेह कोष्ठस्तु प्रिवेद्यर्थं दशाहृतः ।।  
भूयाय्युपस्कृत तनुः स्नहस्त्वेविरचनम् ।।  
वौगिकं पूर्वमालोच्य स्मरन्पूर्वमतिक्रमम् ।।
६०. भेषजं दोषरुदं चेवोर्ध्वं नाधः: प्रवर्तते ।।  
सौंदर्गारं सांगशूलं च स्वेद तत्रावचारयेत्।।
६१. तृणमोह भ्रमूच्छाद्याः स्तुश्चेत्तजीर्यति भेषजे।।  
पित्राच्छ चाडुशीति च भेषजं तत्र स्थस्यते ।।
६२. (१) स्नाताश्लेषमित्तानिलं संप्रकोपः। सादस्तथानेनुरुता प्रतिशयाय। तंद्रा तथा  
छर्दिररोकश्च वातानुलोम्यनकं द्विविक्षिते ।। च. सि. १-१८  
(२) स्याद्युविरिक्ते कफ पित्रकोपो दाहोलिचिः। गौरवमाणिनसादः। (यह पाठ किसी  
पुस्तक में उपलब्ध नहीं है)। हृत्कुट्स्य शुद्धिः। परिदाह कंडू विप्रसंसाच्च न  
सिद्धिरिक्ते ।।
- (३) हृत्कुट्स्यशुद्धिरुचित्वलेशः। श्लेषात्मियोः।  
कटुविदाहपृक्ता: पीनसो वाताविड्यहः ॥  
अयोगलक्षणम्....., ।।
६३. एवं विरेचने मृगपुरीष पिते औषधकक्षः इति (गच्छति)। सु. चि. ३३-३३  
(१) स्नोतेविशुद्धिद्विसंप्रसाद्वै लघुमूर्जोन्नित्नामयत्वां। प्रादिश्च विद्यपित  
कफानिलानां सम्यग् विरेचनस्य भवेत् क्रमेण ॥। च. सि. १-१७  
(२) गतेषु दोषेषु कफाद्वितेषु नाय्यालाशुत्रे मनस्सचत्वत्वै ।। गतेऽनिले चाय्यलुलोस्संभाव सम्यग् विरेचनं मनुजं वस्तेत ॥। सु. चि. ३३-२१  
.....योगो वैपरीत्ये यथोदितात् ।। अ. ह. सू. १८-३९
६४. (१) कफात्स्थित्यज्ञाना निलोत्थाः सुत्यन्यगमर्त कल्पवेष्मानाद्याः :  
निदा बलाभावतमः प्रवेशा: सोन्मद द्विक्करुच्च विरेचितेति ।। च. सि. १-१९  
(२) पूर्ढ्या गुद्यश कफात्मियोगः। शूलोद्यामश्चाति विरिक्त लिंगम्। सु. चि. ३३-२४  
.....विटपितकवातेषु पिते चुतेषु क्रमात लवेत ।।  
(३) विटपितकवातेषु पिते चुतेषु क्रमात लवेत ।।  
निश्लेष्यपितमुदकं श्वेत कृष्णं सलोहितम्।  
मांसधावनवतुल्यं मेवः खंडाभमेव वा।  
गुद निः सरण तृष्णा ग्रामो नेत्रप्रवेशनम्।  
भवन्त्यति विरेचनस्य तथाऽतिवमनमयः ॥। अ. ह. सू. १८-४०, ४१, ४२  
६५. काके ग्रमः। इतेषाशयानां शून्यत्वं हृद्यवः शलथ संधिता ।।  
अ. ह. सू. ११-१६  
.....पिते मदेऽनलः शीतं प्राहाणानि ॥।  
६६. लिंगा क्षीणेऽनिलेतास्य सादोत्तलं भाषते हिते ।।  
संज्ञामोहस्तथा श्लेषावहृद्युक्ताऽमय संभवा ॥।  
६७. रसरेत्यं श्रमः। शोषो ग्राणानि: शब्दात्सहिष्णुता ।।  
६८. रक्तेष्मलशिशिरं प्रीति शिरा शोथिल्यरक्षताम् ॥।  
६९. देखेण अद्याय ४, पृ. १७७  
७०. च. पा.—तत्त्वमानमयोदात् भवति, परिकर्तिका त्वतियोगात् लाकोदयोगात् हृद्यहोत्पि  
अयोगादेव तथाऽग्रहोदयोगाच्च भवति, जीवादानमति योगात उपद्रवेऽप्ययोगजन्य  
एव, कल्पमेऽपि अयोगः ।।  
७१. देखेण-अद्याय, ५ संदर्भ-७५, ८०, ८१  
७२. (१) श्लेषात्मिकलालेन दुग्धस्यहृदयाति वा बहुः ।।  
विरेचनमजीर्णं च पीतमूर्च्छं प्रवत्तते ।।  
७३. (२) श्लेषात्मिकलालेन व्रजत्तद्वर्धम् विरेचनम् ।।.....तत्र पूर्वादिता व्यपत्  
अजीर्णितः। श्लेषात्मिकलालेन व्रजत्तद्वर्धम् विरेचनम् ।।.....तत्र पूर्वादिता व्यपत्  
सामयात् तुङ्गजाद्वा भेषजप्रियरपायतः ।। अ. ह. क. ३-३, ४  
७४. अस्तिगार्थित्वदेहस्य रुक्षस्यानवमौषधं। दोषान्वित्वलश्च निर्हर्तमशसं जनयेद्यावानः ॥  
विश्रां श्वरप्युषु विक्रां तमसोदरशनं भूषां। पितिकद्वैष्टनं केहूमूलाः। सादः विवरणम् ॥  
च. सि. ६-२८, ३९  
.....तत्र यथोक्तां कारयेत् क्रिया ।। तं तैल लवणाच्यक्तं स्विन्नं प्रस्तरसंकरै ।....  
च. सि. ६-४० से ४४  
च. सि. ६-४५ से ५१  
७५. अतितीक्ष्यं क्षुधार्तमा मुडुकोष्ठस्य भेषजं ।.....  
अयोगलक्षणम्....., ।।

७६. बहुदोषस्य रुक्षस्य हीनाग्नेरल्पमौषधम्।  
मोदावर्तीस्य चोकिलशय दोषान मार्गाद्रिश्य च।

भूरभाधापव्याप्रमिं पृष्ठ पार्श्वं पिण्डोरस्त्रं।  
श्वसविण्मूत्रवातान् संगं कुर्यान्व दारणं।।

अभ्यग्न स्वेद वर्त्यादि सनिरुहानुवासनम्।  
उवावर्त्तरं सर्वं कर्मधातस्य शास्त्रे।।

७७. (१) स्निग्धेन गुरुकोड्जेन सामे बलवदोषधम्। शामोण मृदुकोड्जे श्रोते नाल्पबलेन  
वा। पीतं गत्वा गुरुं सामामयु दोषं निरस्य च। तीव्रशूलां से पिच्छास्याकगति  
परिकर्तिकाम्।। लग्नेन पाचन सामे रक्षोष्णं लघु भोजने। चूहणो यो विधि:  
सर्वे: शामस्य मधुरस्तथा। आमे जीर्णेन्द्रु बधश्वेद् शाराम्लं लघु रास्त्यात्।

पुष्टकासीस मिश्रं वा शारोणं लवणेनवा स दाढिमं रसं सर्विः पिवेद्वातेऽधिके  
सति। दध्यम्लं भोजने पाने संयुक्तं दाढिमं त्वचान। देवदारु तिलानां वा  
कल्पकुष्ठाम्भुना पिवेद्। अश्वत्थाउंब्ररस्य कंदवैर्वा शृतं पयः। कशायमधुरं  
शीति पिच्छा बस्तिमथापि वा। यस्त्रिमधुक सिङ्कं वा स्नेहबस्ति प्रदापयेत्।।

च. सि. ६-५८ से ५९  
सु. चि. ३३-१६  
च. सि. ६-११ से ६७

(२) शामेणाति मृदुकोड्जेन..... वानुवासयेत्।।

५८. पुष्टांति तु आहार रसात् रसलूधिर मांस मेदोऽस्थि मज्जा शुक्रोजासि पंचेद्याणि धातु  
प्रसाद् संशकानि शरीर मधिलेप्य पिच्छादयश्चावयता:।। च. सु. २८-७

५९. (१) अल्पं तु बहु दोषस्य दोषमृत्तिनस्य भेषजां। अल्पापं सावयेत् कुर्दु शोफं  
कुर्ढनि गौरवं। कुर्याच्चान्निवधोत्स्त्वेश सौमित्रालुचि पाङ्गुता। परिक्षावः स ने  
दोषं शमयेद्वयद्वयेति। स्नेहितं वा पुनसीक्ष्यां पापयेत् विरेचनम्। शुद्ध  
चूणीस्वारिष्टन् संकृतांश्च प्रवापयेत्। च. सि. ६/६८ से ७०

(२) कृषकोष्ठस्यातिप्रभूत दोषस्य मधुरस्त्वेश दोषं रोपयेत् विरेचनम्। शुद्ध  
दाढः। परिक्षावमापद्यायति।... तमजकर्णं धवतिनिशगपलाशा बलाकषायै:  
मधुसंयुक्तरास्यापदेत् उपरात दोषं स्निग्धं च भूयः संशोधयेत्।।

सु. चि. ३४-१७  
सु. चि. ३३-१६ से ६७

(३) स्निग्धेन गुरुकोड्जेन..... वानुवासयेत्।।

६०. (१) पीतोषधस्य वेगानां निग्रहान्मासतादयः। कुपिता हृदयगत्वा घोरं कुर्वति  
हृदयाहं।। स हिक्ककाकास पार्श्वाति दैन्यं लालाद्यि विप्रमैः। जिह्वा खादति  
निःसंज्ञो दंतान किटकिटापयन्। न गच्छेद् विप्रमं नेत्रवामयेदाशु तं विप्रक्।  
मधुरैः। नित्तं पूष्टांति कटुषिः कफमृदिष्ठतम्।। पाचनीयैस्तरश्चास्य दोषं रोप  
विपाचयेत्। कायानि च बलचास्य क्रमेणत्यापयेततः पवनेनाति वामनो हृदयं  
यस्य पीड़यते। तस्मै स्निग्धास्त्रलवणं दद्यात् पितककेऽन्यथा।।

च. सि. ६-११ से ७५  
च. सि. ३४-१७

(४) स्निग्धेन गुरुकोड्जेन..... वानुवासयेत्।।

६१. (१) पीतं स्निग्धेन सप्तसौ तदोषेष्मद्वाङ्मृद्धतम्।  
न वाहयति दोषांस्तु स्वस्थानात् संभवयेत्युत्तन्।।

वातसंगं गुरुस्त्वं शूलैः। क्षारति चाल्पशः।।

तीक्ष्णां वस्ति विरेक वा स्नेहो लवित पाचितः।।

६२. रुक्षं विरेचनं पीतं रक्षेणात्प बलेन वा।

मार्गांते कोपव्याप्ति वातात्प्राप्ति गदन्।।

स विप्रसंशी मातसत्र स्याद्यामा व्याधि भेषजम्।।

सु. चि. ३४-१७  
सु. चि. ३४-१३, १४

(५) स्निग्धेन गुरुकोड्जेन..... वानुवासयेत्।।

६३. (१) च. पा. — विप्रशस्तु गुरुप्रशा संगोष्ठये कंडवादि लक्षणप्रशा भेदात् विविधो  
वक्तव्यः।। गुरुप्रशा संसांशात्तात्योगजन्यौ, शोषस्तुत्रिप्रशः अयोगजन्यौ।।

गुरुप्रश्टं कषायेन्च स्तंभयित्वा प्रवेशयेत्।।

सामगार्थवं शब्द्यांश्च संशानाशेऽस्य कारयत्।।

यदा विरेचनं पीतं लिङ्गनापवतिष्ठते।

वामनं धेषजांत वा दोषानुकृतस्य नावहेत्।।

तदा कुर्वीते कंडवादीन दोषां प्रकृपिता गदन्।।

स विप्रसंशी मातसत्र स्याद्यामा व्याधि भेषजम्।।

सु. चि. ३४-१३  
सु. चि. ३४-१३

(६) स्निग्धेन गुरुकोड्जेन..... वानुवासयेत्।।

६४. (१) पीतं स्निग्धेन सप्तसौ तदोषेष्मद्वाङ्मृद्धतम्।  
न वाहयति दोषांस्तु स्वस्थानात् संभवयेत्युत्तन्।।

वातसंगं गुरुस्त्वं शूलैः। क्षारति चाल्पशः।।

तीक्ष्णां वस्ति विरेक वा स्नेहो लवित पाचितः।।

६५. रुक्षं विरेचनं पीतं रक्षेणात्प बलेन वा।

मार्गांते कोपव्याप्ति वातात्प्राप्ति गदन्।।

स विप्रसंशी मातसत्र स्याद्यामा व्याधि भेषजम्।।

सु. चि. ३४-१३  
सु. चि. ३४-१३, १४

(७) स्निग्धेन गुरुकोड्जेन..... वानुवासयेत्।।

६६. (१) पीतं स्निग्धेन सप्तसौ तदोषेष्मद्वाङ्मृद्धतम्।  
न वाहयति दोषांस्तु स्वस्थानात् संभवयेत्युत्तन्।।

वातसंगं गुरुस्त्वं शूलैः। क्षारति चाल्पशः।।

तीक्ष्णां वस्ति विरेक वा स्नेहो लवित पाचितः।।

६७. रुक्षं विरेचनं पीतं रक्षेणात्प बलेन वा।

मार्गांते कोपव्याप्ति वातात्प्राप्ति गदन्।।

स विप्रसंशी मातसत्र स्याद्यामा व्याधि भेषजम्।।

सु. चि. ३४-१३  
सु. चि. ३४-१३

(८) स्निग्धेन गुरुकोड्जेन..... वानुवासयेत्।।

६८. (१) पीतं स्निग्धेन सप्तसौ तदोषेष्मद्वाङ्मृद्धतम्।  
न वाहयति दोषांस्तु स्वस्थानात् संभवयेत्युत्तन्।।

वातसंगं गुरुस्त्वं शूलैः। क्षारति चाल्पशः।।

तीक्ष्णां वस्ति विरेक वा स्नेहो लवित पाचितः।।

६९. रुक्षं विरेचनं पीतं रक्षेणात्प बलेन वा।

मार्गांते कोपव्याप्ति वातात्प्राप्ति गदन्।।

स विप्रसंशी मातसत्र स्याद्यामा व्याधि भेषजम्।।

सु. चि. ३४-१३  
सु. चि. ३४-१३

(९) स्निग्धेन गुरुकोड्जेन..... वानुवासयेत्।।

७०. (१) पीतं स्निग्धेन सप्तसौ तदोषेष्मद्वाङ्मृद्धतम्।  
न वाहयति दोषांस्तु स्वस्थानात् संभवयेत्युत्तन्।।

वातसंगं गुरुस्त्वं शूलैः। क्षारति चाल्पशः।।

तीक्ष्णां वस्ति विरेक वा स्नेहो लवित पाचितः।।

७१. रुक्षं विरेचनं पीतं रक्षेणात्प बलेन वा।

मार्गांते कोपव्याप्ति वातात्प्राप्ति गदन्।।

स विप्रसंशी मातसत्र स्याद्यामा व्याधि भेषजम्।।

सु. चि. ३४-१३  
सु. चि. ३४-१३

(१०) स्निग्धेन गुरुकोड्जेन..... वानुवासयेत्।।

७२. (१) पीतं स्निग्धेन सप्तसौ तदोषेष्मद्वाङ्मृद्धतम्।  
न वाहयति दोषांस्तु स्वस्थानात् संभवयेत्युत्तन्।।

वातसंगं गुरुस्त्वं शूलैः। क्षारति चाल्पशः।।

तीक्ष्णां वस्ति विरेक वा स्नेहो लवित पाचितः।।

७३. रुक्षं विरेचनं पीतं रक्षेणात्प बलेन वा।

मार्गांते कोपव्याप्ति वातात्प्राप्ति गदन्।।

स विप्रसंशी मातसत्र स्याद्यामा व्याधि भेषजम्।।

सु. चि. ३४-१३  
सु. चि. ३४-१३

(११) स्निग्धेन गुरुकोड्जेन..... वानुवासयेत्।।

७४. (१) पीतं स्निग्धेन सप्तसौ तदोषेष्मद्वाङ्मृद्धतम्।  
न वाहयति दोषांस्तु स्वस्थानात् संभवयेत्युत्तन्।।

वातसंगं गुरुस्त्वं शूलैः। क्षारति चाल्पशः।।

तीक्ष्णां वस्ति विरेक वा स्नेहो लवित पाचितः।।

७५. रुक्षं विरेचनं पीतं रक्षेणात्प बलेन वा।

मार्गांते कोपव्याप्ति वातात्प्राप्ति गदन्।।

स विप्रसंशी मातसत्र स्याद्यामा व्याधि भेषजम्।।

सु. चि. ३४-१३  
सु. चि. ३४-१३

(१२) स्निग्धेन गुरुकोड्जेन..... वानुवासयेत्।।

७५. (१) पीतं स्निग्धेन सप्तसौ तदोषेष्मद्वाङ्मृद्धतम्।  
न वाहयति दोषांस्तु स्वस्थानात् संभवयेत्युत्तन्।।

वातसंगं गुरुस्त्वं शूलैः। क्षारति चाल्पशः।।

तीक्ष्णां वस्ति विरेक वा स्नेहो लवित पाचितः।।

७६. रुक्षं विरेचनं पीतं रक्षेणात्प बलेन वा।

मार्गांते कोपव्याप्ति वातात्प्राप्ति गदन्।।

स विप्रसंशी मातसत्र स्याद्यामा व्याधि भेषजम्।।

सु. चि. ३४-१३  
सु. चि. ३४-१३

(१३) स्निग्धेन गुरुकोड्जेन..... वानुवासयेत्।।

७६. (१) पीतं स्निग्धेन सप्तसौ तदोषेष्मद्वाङ्मृद्धतम्।  
न वाहयति दोषांस्तु स्वस्थानात् संभवयेत्युत्तन्।।

वातसंगं गुरुस्त्वं शूलैः। क्षारति चाल्पशः।।

तीक्ष्णां वस्ति विरेक वा स्नेहो लवित पाचितः।।

७७. रुक्षं विरेचनं पीतं रक्षेणात्प बलेन वा।

मार्गांते कोपव्याप्ति वातात्प्राप्ति गदन्।।

स विप्रसंशी मातसत्र स्याद्यामा व्याधि भेषजम्।।

सु. चि. ३४-१३  
सु. चि. ३४-१३

(१४) स्निग्धेन गुरुकोड्जेन..... वानुवासयेत्।।

७७. (१) पीतं स्निग्धेन सप्तसौ तदोषेष्मद्वाङ्मृद्धतम्।  
न वाहयति दोषांस्तु स्वस्थानात् संभवयेत्युत्तन्।।

वातसंगं गुरुस्त्वं शूलैः। क्षारति चाल्पशः।।

तीक्ष्णां वस्ति विरेक वा स्नेहो लवित पाचितः।।

७८. रुक्षं विरेचनं पीतं रक्षेणात्प बलेन वा।

मार्गांते कोपव्याप्ति वातात्प्राप्ति गदन्।।

स विप्रसंशी मातसत्र स्याद्यामा व्याधि भेषजम्।।

सु. चि. ३४-१३  
सु. चि. ३४-१३

(१५) स्निग्धेन गुरुकोड्जेन..... वानुवासयेत्।।

७८. (१) पीतं स्निग्धेन सप्तसौ तदोषेष्मद्वाङ्मृद्धतम्।  
न वाहयति दोषांस्तु स्वस्थानात् संभवयेत्युत्तन्।।

वातसंगं गुरुस्त्वं शूलैः। क्षारति चाल्पशः।।

तीक्ष्णां वस्ति विरेक वा स्नेहो लवित पाचितः।।

७९. रुक्षं विरेचनं पीतं रक्षेणात्प बलेन वा।

मार्गांते कोपव्याप्ति वातात्प्राप्ति गदन्।।

स विप्रसंशी मातसत्र स्याद्यामा व्याधि भेषजम्।।

सु. चि. ३४-१३  
सु. चि. ३४-१३

(१६) स्निग्धेन गुरुकोड्जेन..... वानुवासयेत्।।

७९. (१) पीतं स्निग्धेन सप्तसौ तदोषेष्मद्वाङ्मृद्धतम्।  
न वाहयति दोषांस्तु स्वस्थानात् संभवयेत्युत्तन्।।

वातसंगं गुरुस्त्वं शूलैः। क्षारति चाल्पशः।।

तीक्ष्णां वस्ति विरेक वा स्नेहो लवित पाचितः।।

८७. एता विकाय गतिमानवस्थाशैवैवत्तचतः ।  
दद्यात् संशोधनं सम्यक् आरोग्यार्थे त्रुपां सदा ॥  
च. पा. — दद्यात् संशोधनं सम्यगिति तथा संशोधनम् ।
८८. सम्यगितिकर्तमेन च कमनोकरेन योजयेत् ।  
धूप वज्रेन विधिना, ततो वभित्वानिव।  
क्रमेणाक्रान्ति भुजानो भजेत्वकृति भोजनम् ।
८९. संसुष्ट भक्तं नवमेहि सर्पिस्तं पायदेवायानुवासयेद्वा ।  
तेलाकृत गायाय ततो निरुहं दद्यात् आग्नेयाति बुधुक्षिताच्च ॥
- च. पा. — अव विकल्प द्वये, यदियमनांतरं विरेचन कर्तव्यं तदा नवमेहि देयमिति व्यवस्था ।  
अथ विरेचनानंतरं यदा बस्तिर्देया तदा अनुवासनं नवमेहि देयमिति व्यवस्था ।  
वेगानंतरं नवमदिवसे सर्पिः: पानः पूर्वं नोकरं तेजेदार्णो विरेचनानंतरं  
कर्तव्यविरहानाग्नवासनसमानं कालतया सर्पिः: पानमपि दरिति, तेन न निरुहांगता  
सर्पिः: पानस्य कल्पनीय ।.....यतु भद्र-शोनके, समुष्ट भवतः: सुमना स्नेहपीतो  
दृढानलः । संशुद्धोपरतः: मांसाद्युवर्द्धं भवति बहुत्तु नरः । इत्युक्तं तत् प्रागनुवासनं विषयं  
रोगाविषयं वा इति नेतद्युविर्द्धं भवति बहुत्तु चात्र व्याख्यानानि टीकाकृतान्मगिरि  
संखवजेऽजटेश्वरसेनादीनां सति, अन्यैस्तु तद् व्याख्यानानि दोषोद्दारादेव निरस्तानि ।  
च. पा.
९०. पक्षद्विरेको वातांस्य ततश्चापि निरुहणम् ।  
संघीनिरुहोद्युवास्यः साप्तरात्रत विरेचितः ॥
९१. नरो विरिक्तस्तु निरुहद्वानं विवर्जयेत् सप्त दिनान्यवश्यम् ।  
शुद्धो निरुहण विरेचन च तद्वस्य शून्यं विकसेच्छरितम् ॥
९२. स्वबुद्धैव सहस्राणि कीटीवापि प्रकल्पयेत् ।  
बहुद्व्य विकल्पाद् योग संख्या न दिव्यते ।
९३. द्वे शते नवकाः पंच योगान्तु विरेचन ॥  
च. क. १२-४७
९४. (१) मलापहं रोगहरं बलाकारं प्रसादनम् ।  
पीत्वा संशोधनं सम्यगायुषा युज्यते विरम् ।  
च. क. १२-३८
९५. (१) मलापहं रोगहरं बलाकारं प्रसादनम् ।  
बद्धे: प्रसादं बलामिदिवाणां धूत त्रिष्ठवर्तं बलमाग्नि शीजित ।  
यथोदकानामुदकेऽपनीते वरस्थिराणां भवति प्रणाशः ॥

९६. विरेचने शुद्धयांति प्रसीदतीनिदिव्याणि च ।  
धूतवशच विशुद्धयांति बीजं भवति कार्मुकी ॥ का. सिद्धि स्थान  
विशेषः कर्मणा चैव प्रभावतस्य च स्फूतः ॥  
९७. न तु केवलं गुण प्रभावदेव द्रव्याणि कार्मुकाणि भवति: द्रव्याणि हि द्रव्य प्रभावात्,  
गुणप्रभावात्, द्रव्यगुण प्रभावाच्च तस्मिन् तस्मिन्काले ततदिष्टानमासाद्य तां तां  
युक्तिमर्थं च तमप्यप्रेय यत् कुर्वति तत्कर्ता, येन कुर्वति तद्वीर्य । . . . . ॥  
च. सू. २६-१३
९८. रसवीर्य विपाकाना सामान्यं यत्र लक्ष्यते ।  
च. सू. २६-७२
९९. रसवीर्य विपाकाना सामान्यं यत्र लक्ष्यते ।  
च. सू. २६-११
१००. स्नेहसेवावनम्यस्य यस्तु संशोधनं पिक्वेत् ।  
दारशुकापिवानमे शरीरं तस्य वीर्यते ।  
अ. ह. मे भी सू. १८-५१ परिचर्तन से.
१०१. तत् स्नेहनालादनं क्वलेदनं बंधनं विष्वद करमिति ।  
उदकमाश्वास करणां (श्रेष्ठ) ॥  
जलं संभन्नियानां (श्रेष्ठ) ॥
१०२. उदकमाश्वासकरणाणां, तथा जलं स्तंभनानां इति करोति तेन  
कर्मदेऽपि जलस्थानस्य साधारणातां दशयति ।  
च. पा. — उदकमाश्वासकरणाणां, तथा जलं स्तंभनानां इति करोति तेन
१०३. स्नेहसेवावनम्यस्य यस्तु संशोधनं पिक्वेत् ।  
दारशुकापिवानमे शरीरं तस्य वीर्यते ।  
अ. ह. मे भी सू. १८-५१ परिचर्तन से.
१०४. स्नेह स्वेद प्रचलिता रसैः स्त्रियार्थरूपिरिताः ।  
दोषाः कोष्ठगताः जंतो सुखाहर्तु विशेषार्थैः ॥  
सु. चि. ३३-४६, ४७
१०५. च. सि. १६-५१
१०६. च. सि. १-२६
१०७. च. क. १२-४७
१०८. च. क. १२-३८
१०९. च. सू. १५-२२
११०. च. सू. ३३-२७, २८

## षष्ठ अध्याय

### बस्ति-विज्ञान

**व्याघ्रा—आयुर्वेदीय चिकित्सा में पचकर्म का एक विशिष्ट महत्वपूर्ण स्थान है और आयुर्वेद की सारे चिकित्सागत के लिए ऐसी बेन है जो अपने गुणों एवं उपयोगीता से अत्यंत गौवास्पद स्थान विभूषित करती है।**

**बस्ति—अर्थात् प्राणियों के मूत्राशय (Urinary bladder) के द्वारा औषधियों का आम्यंतर प्रविष्ट करना, इस विधि से बस्ति यह नाम दिया गया है।<sup>१</sup> बस्ति शब्द की वैज्ञानिक व्याघ्रा निम्नलिखित प्रकार की है।**

“वसु-निवासे बस्-आव्याद्वने वस्-वासने मुग्धिकरणे,

बस्ति-वस्तोः आवृणोति मूत्रं। वस्-तिच्।

नाभेऽधेभागे मूत्राधारे स्थाने (पु.)॥

औषध दानार्थे द्रव्यामेदे”॥

**अर्थात् वस— शब्द निवास—रहने के अर्थ में आच्छादन करने के अर्थ में या सुगंधि कारकता के अर्थ में उपयोगी है। बस्ति शब्द—बस्ति जो मूत्र को आवारण करता है (धारण करता है) वस् में निच्चप्रत्यय से बना है, जो नाभि के अभ्योभाग में रहने वाले यूत्राधार स्थान के लिए औषधदान के साधन प्रयुक्त है और सुश्रुत में भी अगे इसी प्रकार से इनकी व्याघ्रा और निरुक्ति की हुई मिलती है। मूत्राधार या बस्ति के द्वारा जो औषधि (युवादि मार्ग से) प्रविष्ट की जाती है, जो शरीर में वास करती है, (अमुक काल तक रहती है) वह बस्ति कहलाती है। बस्ति शब्द संस्कृत में पुर्लिङ्गी है।**

### सामान्य परिचय

**सामान्यतः बस्ति यह शब्द सभी बस्तियों के लिए प्रयुक्त किया जाता है, जिसमें निरुह, अनुवासन, उत्तरवासित आदि बस्तियों का सामावेश होता है। तथापि “बस्ति” शब्द चरक ने केवल “निरुह” बस्ति के लिए प्रयुक्त किया हुआ भी मिलता है। “बस्ति व्याप्त सिद्ध” नामक सिद्धस्थान का सातवाँ अध्याय है जिसमें चरक ने केवल निरुह बस्ति की व्याप्त और उनकी चिकित्सा का वर्णन किया है। इस पर टीका करते हुए चक्रमाणि और जेज्जट ने लिखा है कि “बस्ति” शब्द निरुह के लिए लिया गया है। इसी तरह “शिरोबस्ति” की विधि के लिए भी बस्ति शब्द प्रयुक्त हुआ मिलता है।**

**बस्ति वह प्राणियों को पक्षाशय में गविष्ट किया जाता है। यहाँ प्राण्यः शब्दप्रयोग करने मात्रसम रक्तादि द्रव्यों को पक्षाशय में गविष्ट किया जाता है। यहाँ प्राण्यः शब्दप्रयोग करने**

का कारण यह है कि गुदमार्ग के अतिरिक्त मूत्रमार्ग तथा अपत्यपथ से भी बस्ति दी जाती है, जिसे उत्तरबस्ति कहा जाता है, इतना ही नहीं बस्ति के प्राणां का सुश्रुत में वर्णन किया हुआ मिलता है।<sup>२</sup> सकती है और ऐसे व्रण-बस्ति के नेत्र के प्राणां का सुश्रुत में वर्णन किया हुआ मिलता है।<sup>३</sup> अतएव बस्ति की व्याघ्रा अरुणदात और शार्दूल ने की है, उस प्रकार “बस्ति के द्वारा दी जाने के कारण बस्ति कहलाती है” यही उचित है। गुद से पक्षाशय में, मूत्र मार्ग से मूत्राशय में, आत्मामार्ग से ग्राहीय मार्ग में औषधियों को पहुंचाने के लिए यह आवश्यक है कि द्रव्यों को दबाव के साथ (pressure में) अंदर ढकेला जाये। पहले जमाने में जब किंखर का आविष्कार नहीं हुआ था, तब इस कार्य में गाय, बैल, बकरे, बैंस इत्यादि प्राणियों के मूत्राशय का (बस्ति) उपयोग एक संक्षेप में प्रसरणशील थेली के रूप में किया जाता था, जिससे यह ‘कर्म बस्ति’ कहा जाने लगा और अब यह नाम रुढ़ हुआ है।

यह बस्तिकर्म स्वेच्छन, स्वेच्छन, वर्मन, लिरेचनादि सभी कर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। इसका कारण यह है कि स्नेहादि कर्मों की उपयोगीता मर्यादित है, लेकिन बस्ति व्यापक कर्मकारी है।<sup>४</sup> प्रायः सभी लोगों की कल्पना होती है कि बस्ति यह (Enema) एनीमा का एक नामांतर है, परन्तु बस्ति को आयुनिक वैद्य शास्त्र का ‘एनीमा’ समझना एक बड़ी भूल है। बस्ति के अनेक प्रकारों में से एक प्रकार एनीमा हो सकता है किंतु सभी बस्ति कर्म एनीमा के अंतर्गत नहीं जा सकते। सामान्यतः एनीमा प्रल को निकालने के लिए दिये जाने का विधान है—लवण एवं आधुनिक वैद्यशास्त्र में कुछ एनीमा पोषण के लिए दिये जाने का विधान है—लवण एवं ग्लुकोज का इस तरह उपयोग करना आधुनिक शास्त्र—सम्मत है, तथापि इनका उपयोग आज नहिं हुआ है और इनके साथ भी एनीमा का उद्देश्य और कार्यकृत व्यापक है। जहाँ

आयुर्वेदीय बस्ति की कल्पना, उद्देश्य और उपयोगीता अत्यंत व्यापक है। अनेक औषधियों के संयोग के कारण बस्ति दोषों का रोधन करती है, संशमन भी करती है, पत्तों की संप्राप्ति भी होती है, शीण शुक्रबाले अतुरों का शुक्र बढ़ाती है, कृष्णों की रस्तूल करती है, सूख्लों को कृश करती है, नेत्रों की ऊपोति बढ़ाती है, वद्यः स्थापन करती है—अथात ताइण्य को चिरकाल तक रखकर बुढ़ाया देर से लाती है, वर्ण को उजड़वल करती है, बल को बढ़ाती है। आयुष्य को कायम रखकर आरोग्य की वृद्धि करती है—इत्यादि अनेक गुणों को करती है।<sup>५</sup> इस तरह बस्ति एक अतीव व्यापक, शरीर के प्रत्येक अवयव को अनेक गुणों को करती है। इसी तरह बस्ति एक अतीव व्यापक, शरीर के प्रत्येक अवयव को कुछ न-कुछ लाभ पहुंचाने वाली प्रशस्त चिकित्सा है।

बस्ति यह वात की प्रथान चिकित्सा है, तथापि वात, पित्त, कफ तीनों दोषों में, रक्त में, दोषों के संसर्ग में, सात्रिपात में यह लाभप्रद होती है।<sup>६</sup> शरीर में रोग प्रसार के शाखा, कोष्ठ, और पर्म ये तीन मार्ग होते हैं। इन तीन मार्गों में दोषों को प्रसृत करने में वायु की बहुत ज्याता उत्तरदायिता होती है। वर्योक्त स्वेच्छ, पत्त, मूत्र, पित्त कफादि के संहनन का तथा संवहन का विशेषण का कार्य वायु ही शरीर में करता है और उस वायु के लिए बस्ति परमप्रेरित चिकित्सा कही गई है। अतएव बस्ति को सभी चिकित्सा की आधी चिकित्सा के समान प्राप्त है, तथा कुछ विद्वान तो उसे ‘संपूर्ण चिकित्सा’ भी पानते हैं।<sup>७</sup>

### बस्ति प्रकार

बस्ति के अनेक प्रकार हैं और अनेक विधि आधारों पर अनेक भेद किये जा सकते हैं।

इन सब भेदों का नीचे वर्णन किया जाता है।

(क) अधिकान भेद—बस्ति जिस अधिकान में दी जाती है उस आधार पर बस्ति के निम्नलिखित ४ भेद हैं।

१. पवक्वाशयगत—जो गुद मार्ग से दी जाती है, और औषध द्रव्य का अधिकान पवक्वाशय होता वह पवक्वाशयगत बस्ति है।

२. गर्भाशयगत—स्त्रियों में गर्भाशय के दोषों को दूर करने के लिए दी जानेवाली, अपत्यथ से गर्भाशय में औषधों को पहुंचानेवाली बस्ति गर्भाशयगत बस्ति है।

३. मूत्राशयगत—मूत्रमार्ग—(मेहु या योनि-) से मूत्राशय में जो बस्ति पहुंचाई जाती है—वह मूत्राशयगत बस्ति है। गर्भाशयगत और मूत्राशयगत बस्ति को 'उत्तर बस्ति' ऐसी संज्ञा दी जाती है।

४. व्रणगत—व्रणों में व्रण मुख से शोधन, रोपणार्थ औषधि द्रव्यों को पहुंचाना व्रणगत बस्ति है।

(ख) द्रव्यभेद—बस्ति प्रयुक्त द्रव्य क्वाथ है, या स्नेह है, इस आधार पर बस्ति के दो प्रकार होते हैं।

१. निरुहबस्ति—जिस बस्ति में क्वाय की प्रधानता होती है उसे निरुह बस्ति कहते हैं। निरुह बस्ति का ही दूसरा नाम आश्वापन बस्ति है। दोषों को शरीर में से बाहर निकाल देने के कारण अश्वा रोगों को हरण करने के कारण इसे 'निरुह' कहा जाता है और वृद्धस्थापन करने के कारण या आयु स्थापन करने के कारण इसे आश्वापन कहते हैं। कर्म के आधार पर निरुह के अनेक भेद होते हैं। उनका विचार 'कार्मकृता के आधार' पर भेद बताते हुए किया है। निरुह का ही एक विकल्प माधुरोंत्तिक बस्ति माना गया है और यापन बस्ति, सिद्धबस्ति, तथा युक्तरथ बस्ति इसके पर्याय कहे हैं।<sup>१०</sup> जिस बस्ति में मधु और तेल ये प्रधान द्रव्य होते हैं उसे मधुतैलिक बस्ति कहते हैं और युद्धादि के लिए रथ में बैठकर जाना हो, हाथी घोड़ों की सवारी करते हुए जाना हो (बैलाडी, घोड़े, ऊंट, सायकल, स्कूटर, मोटर, ट्रेन, हवाई जहाज आदि सब वाहनों का इनमें उपलक्षण से समावेश करना चाहिये)।—ऐसी अवस्था में भी जो बस्ति निशाद्व नहीं है, ती जा सकती है, उसे युक्तरथ बस्ति कहते हैं।

शरीर में जो बल उत्पन्न करती है, वर्ण प्रसादन करती है, और सैकड़ों रोगों को मिटाती है—(सिद्ध करती है) इस कारण सिद्धबस्ति कहलाती है।<sup>११</sup> यापन बस्ति वह है जो सब काल में दी जा सकती है, आयुष्य का यापन करती है—बड़ाती है।<sup>१२</sup>

२. अनुवासन बस्ति—जिस बस्ति में स्नेह मुख्य होता है उसे अनुवासन बस्ति कहते हैं।<sup>१३</sup> सुश्रुत ने इसे 'स्नेहिक बस्ति' ऐसा शब्द प्रयोग भी किया है।<sup>१४</sup> अनुवासन बस्ति को स्नेहबस्ति का एक प्रकार माना है। अनुवासन की निरुक्ति इस तरह की गई है—जो अनुवासन अंदर रहते हुए भी कोई दोष उत्तन नहीं करती, तथा अनुदिन-प्रतिदिन दी जा सकती है वह अनुवासन बस्ति है।<sup>१५</sup> स्नेह बस्ति के ३ भेद मात्रा के आधार से किये जाते हैं।

३. स्नेह बस्ति—वय के अनुसार निरुह की जो मात्रा होती है, उससे एक चुरुचाश। (पदावक्षुट) स्नेह बस्ति में स्नेह दिया जाता है।<sup>१६</sup> यदि द्वादशप्रसुति प्रमाण को निरुह बस्ति की उत्तम मात्रा ६ पल (१४ तोला), मध्यम मात्रा ३ पल (११ तोला) और कर्णीयसी मात्रा १।।

पल (६ तोला) की होती है।<sup>१७</sup> स्नेहबस्ति का आधा भाग कर यही प्रमाण उपलब्ध होता है। इसे ही चक्रायाणि ते स्नेहबस्ति ६ पल स्नेह की, अनुवासन बस्ति ३ पल स्नेह की और मात्रा बस्ति १।। पल स्नेह की होती है ऐसा कहा है।<sup>१८</sup>

२. आश्वा बस्ति—इस्त्व स्नेहपान की जो मात्रा कही गई है वह (अर्थात् छ. घंटे में जरणयोग्य स्नेह) मात्राबस्ति में स्नेह की मात्रा होनी चाहिये।<sup>१९</sup> सुश्रुत ने इसे अनुवासन बस्ति का प्रकार मानकर अनुवासन का आधा प्रमाण-मात्रा-बस्ति का होता है ऐसा कहा है।<sup>२०</sup>

३. अनुवासनबस्ति—स्नेहबस्ति के आधा प्रमाण में स्नेह देना यह अनुवासन बस्ति कहलाती है।<sup>२१</sup> संक्षेप में स्नेहबस्ति के ३ प्रकार हैं।

१. जो निरुह मात्रा के एक चतुर्थांश प्रमाण में दी जाती है वह स्नेहबस्ति, २. स्नेहबस्ति के आधे प्रमाण में दी जाती है वह मात्रा बस्ति है और इनका प्रमाण ३. अनुवासन बस्ति के आधे प्रमाण में दी जाती है वह मात्रा सकता है।

४. पल (१४ तोला), ३ पल (११ तोला) और १।। पल (६ तोला) लिया जा सकता है। क्रमशः ६ पल (१४ तोला), ३ पल (११ तोला) और १।। पल (६ तोला)

(ग) कार्मुकता के आधार पर भेद—निरुह बस्ति के कार्मुकता के आधार पर सुश्रुत ने तिम्मालिशिवत भेद किये हैं।<sup>२२</sup> तात्तदप्रकार के द्रव्यों का उपयोग इनमें किया जाता है।

१. शोधन बस्ति—जो दोषों को और मलों को निकालकर शोधन का कार्य प्रधानरूप से करती है। इसमें शोधन द्रव्य डालते जाते हैं।

२. लेखन बस्ति—जो दोषधातु को कम कर, शरीर का लेखन करती है। ३. स्नेहन बस्ति—जिसमें अधिक स्नेह का उपयोग किया जाता है, और जो शरीर का स्नेहन करती है उस बस्ति को स्नेहनबस्ति कहते हैं। यह अनुवासन प्रकार की स्नेहबस्ति नहीं है।

४. बृंहण बस्ति—जो रसादि धातुओं को बढ़ाकर शरीर का बृहत्त्व करती है वह बृंहण बस्ति कहलाती है।

५. बृंहण बस्ति—यह शोधन प्रकार का निरुह है। वाग्यत ने निम्नलिखित और तीन भेद बताये हैं:—

१. उत्तरलेशन बस्ति—जो दोषों को और मलों को उत्तरलेशन बस्ति कहती है, उनके प्रमाण को बढ़ाती है, द्रवीभूत करती है वह उत्तरलेशन बस्ति कहलाती है।

२. दोषहर बस्ति—यह शोधन प्रकार का निरुह है।

३. शमन बस्ति—जो दोषों का शमन करे, वह शमनबस्ति कहलाती है। शारीर्क रूप उत्तरलेशन, दोषहर, शोधन के अतिरिक्त लेखन, बृंहण पिच्छल, दीपन ऐसे और चार प्रकार के बस्तियों का उल्लेख किया है। चरकसहित में बस्ति वर्णन दीपन ऐसे (सि.अ.८.) १. वाताच्च बस्ति २. बलवर्णकृत बस्ति ३. स्नेहनीय बस्ति ४. शुक्रकृत बस्ति ५. वृमिज्ज बस्ति ६. वृषत्वकृत बस्तियों का उल्लेख किया है। सुश्रुत ने जैसे कि पहले ही कह आये हैं—बस्ति को—शोधन, संग्राही, शुक्रवृद्धिकृत, कृशों को स्थूल करने वाली इत्यादि प्रकार के कार्य करने वाली कहा है। इन सब के आधार पर बस्ति के निम्नलिखित कार्मुक भेद हो जाते हैं:

१. शोधन बस्ति—१. तीर्थया बस्ति—२. मुदवर्षित.

३. लेखन बस्ति
४. उत्क्षेपण बस्ति
५. शमन बस्ति—वातशमन, पित्तशमन, कफशमन, शुलग्रामानादि
६. बृहण बस्ति—कृशों को स्थूल करने वाली
७. कर्ण बस्ति—स्थूलों को कृश करने वाली
८. रसायन बस्ति
९. बाजीकरण बस्ति—या वृद्ध बस्ति, शीणेद्रिय बलकर तथा व्यापत्र योनि में पथ्यतम दो प्रकार की होती है।
१०. स्नेहनीय बस्ति
११. संग्राही बस्ति
१२. वर्णप्रसादन बस्ति
- (ब) बस्तिसंख्या के आधार पर शेद—बस्तिकोर्स, या बस्ति कितनी संख्या में होनी चाहेये यह विषय लेकर चरक ने बस्ति के और तीन शेद किये हैं।<sup>१३</sup> वायपट ने भी इसका अनुसरण किया है।
१. कर्म बस्ति—इस क्रम में कुल ३० बस्तियाँ दी जाती हैं। इसमें प्रथम बस्ति अनुवासन बस्ति होती है और फिर एक निरुह एक अनुवासन इस क्रम से ११ निरुह और १२ अनुवासन बस्तियाँ दी जाती हैं, और अंतिम ५ पुनः अनुवासन बस्तियाँ दी जाती हैं। इस तरह बस्तुतः अंत में ६ अनुवासन बस्तियाँ होती हैं। इसक्रम में कुल १२ निरुह और १८ अनुवासन बस्तियाँ दी जाती है। इसे 'कर्मबस्ति' कहा जाता है।
२. कालबस्ति—इस क्रम में कुल १६ बस्तियाँ दी जाती हैं। प्रथम एक बस्ति स्नेहबस्ति फिर क्रम से ६ निरुह और ६ स्नेह बस्तियाँ और अंत में ३ पुनः स्नेहबस्ति यह इसका क्रम है। चरक ने कर्म बस्ति की संख्या ३० कहकर उसकी आधी संख्या में काल बस्ति देने को कहा है, तथापि ३० का आधा १५ होते हुए भी १६ बस्ति समझना चाहिये। चक्रपाणि कहते हैं कि यहाँ ३० का बिलकुल आधा न लेते हुए १५ के बदले १६ बस्तियाँ दी जानी चाहिये। जतुकर्ण ने भी कालबस्ति में १६ बस्तियाँ कही है। इस क्रम में कुल निरुह ६ और अनुवासन १० संख्या में दिये जाते हैं।
- वायपट ने कालबस्ति की संख्या १५ कही है। पहली बस्ति स्नेहबस्ति, फिर एक निरुह एक अनुवासन क्रम से ११ बस्तियाँ और अंत में पुनः ३ अनुवासन भी कही है।<sup>१४</sup> बस्तुतः इसमें चरक सिद्धांत का ही पालन किया है। चरक ने "काले त्रयोंत पुरातस्तथैकः स्नेह निरुहांतरिताश्च पष्ट स्युः" गेसा कहा है। इस क्रम से पहली बस्ति स्नेह की, फिर छः निरुह और छः अनुवासन और अंत में ३ अनुवासन बस्तियाँ होती हैं। २, ४, ६, ८, १० वें और १२ वें दिन निरुह, इस तरह १२, ४, ६, ८, १० वें दिन अनुवासन इस तरह पहला अनुवासन छोड़कर ५ अनुवासन, और अंत में ३, ४, ८ और १५ वें दिन पुनः अनुवासन इस तरह ३ संख्या पूणि हो जाती है। चक्रपाणि के क्रम से देने पर अंत में ३, ४, ८ और १५ वें दिन इस तरह ५ अनुवासन हो जाते हैं।

३. योगबस्ति—इस क्रम में कुल ८ बस्तियाँ दी जाती हैं। पहली बस्ति अनुवासन, फिर अनुवासन बस्ति दी जाती है। चरक ने कालबस्ति (१६) की आधी संख्या अथात् ८ संख्या 'योग'बस्ति की कही है और वायपट ने भी योग बस्ति में ८ बस्ति देने को कहा है।<sup>१५</sup> इस तरह चरक ने यदि कालबस्ति में क्रम चंगा किया है तो वायपट ने योगबस्ति में किया है। तथापि यहाँ निरुह से आगे और पीछे अनुवासन का प्रमाण अधिक होना चाहिये यह सामान्य उद्देश्य दोनों को स्वीकार्य होने से क्रमभंग का प्रश्न उपस्थित नहीं होता।

उपर्युक्त क्रम में कर्म, काल और योग बस्ति को रूढ़ नाम समझनी चाहिये। इसके सिवाय इस संज्ञा का दूसरा ग्रंथकार का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द समझना चाहिये। इसके सिवाय इस संज्ञा का दूसरा ग्रंथकार का विशिष्ट नाम से उल्लेख किया है। यद्यपि उनको उपर्युक्त किसी शेद में अलग नहीं गिना है। विशिष्ट नाम से उल्लेख किया है। यद्यपि उनको उपर्युक्त किसी शेद में अलग नहीं गिना है। तथापि उन शब्दों का ज्ञान छानों को, वैद्यों को तथा अन्वेषकों को बगाबर छ्यान में रखने योग होने के कारण उनको नीचे प्रसुत किया जाता है।

४. यायन बस्ति—इसका उपयोग बल, शुक्र, मास बड़ने के लिए तथा बस्ति परिहार काल में यथुनादि अपथ्य का व्यवहार करने से उत्पन्न व्यापद की चिकित्सा के लिए किया जाता है। यायन बस्ति सभी कालों में दी जा सकती है, और यह निरापद बस्ति है। इसमें आयुष्य का यापन होता है, दीर्घनृवर्तन होता है अतः इस यायन बस्ति कहते हैं।<sup>१६</sup> इन बस्तियों में वैवाय के साथ दूध, जांगल, मास रस, मधु, घृत, गुड़, कुकुटादि प्राणियों के अंडे (का रस) इत्यादि का उपयोग होता है। इस तरह कुल २६ बस्तियाँ चरक ने बर्णित की हैं उनका आगे यथावसर वर्णन किया है।

५. सिद्ध बस्ति—अमुक रोगों में उन रोगों को सिद्ध करने वाली (रोगों को दूर करने वाली) जो बस्तियाँ दी जाती हैं उन्हें 'सिद्धबस्ति' कहते हैं।<sup>१७</sup>

६. प्रसुत योगिकी बस्ति—बस्ति, वयानुसार विशिष्ट प्रमाण में दी जाती हैं। तथापि कुछ बस्तियों का विशिष्ट प्रमाण के साथ देने का उल्लेख किया हुआ मिलता है। इस तरह प्रसुति (लगभग ८ तोला) के प्रमाण से जो बस्तियाँ बर्णित हैं उन्हें प्रासुत योगिकी बस्ति कहते हैं।<sup>१८</sup> इस विषय पर चरक ने खास अध्याय (सिं.अ.) लिखा है और इसमें क्षीरबस्ति, तैल प्रसूति विवरण दिया गया है। चरक ने विचार किया जाएगा।

७. द्वादश प्रसुतिकी बस्ति—जिन वर्षियों में कुल द्रव्य का प्रमाण १२ प्रसूति (१६ तोला) होता है, उसे द्वादश प्रसुतिकी बस्ति कहा जाता है।<sup>१९</sup> यह बस्ति का परम प्रमाण है। इस बस्ति का एक उद्वाहणा यानुवौलिक बस्ति मुश्तुत ने दिया है—जिसमें सेधवल १ कर्ष, मधु प्रसूत, स्नेह ३ प्रसूत, कल्क १ प्रसूत, ज्वाय ४ प्रसूत और प्रसैप २ प्रसूत मिलाकर १८ प्रसूति की बस्ति दी जाती है।

८. वायहीन बस्ति—इनमें ३ प्रसूति क्रम कर कुल ९ प्रसूतिकी बस्ति दी जाती है।<sup>२०</sup> उद्वाहणा मधु और तेल ४ प्रसूत २ कर्ष, एरडमल क्वाय ४ प्रसूत २ कर्ष, सौफ आधा पल,

सेधच एक कर्ष, मदनफल संख्या में एक—इस तरह १ प्रसृति की बस्ति देना “पादहीन” बस्ति है।

६. तीक्ष्णा बस्ति—क्षार, मूत्र तथा उष्ण तीक्ष्णांशुधियों के मंडीयों से जो बस्ति दी जाती है वह तीक्ष्णा बस्ति कहलाती है। यह ‘शोधन’ बस्ति के अंतर्गत जा सकती है, किंतु मधी शोधन बस्तियों तीक्ष्णा नहीं होती अतः इसका यहां अलग उल्लेख किया है। जब पहली दी हुई बस्ति वापस नहीं आती है, तो तीक्ष्ण बस्ति देने का आवेदन दिया गया है।<sup>३१</sup>

७. मुट्ठ बस्ति—अत्यंत बाल और बृद्धों में मुट्ठस्ति देनी चाहिये। मधुर संकर्ष की औषधियां, दूध, मांसरस, धी इत्यादि इनके समयों से बस्ति मुट्ठ होती है।

८. पिच्छाबस्ति—यह पिच्छायुक्त द्रव्यों से दी जाती है, इसका उद्देश्य शरीर से बाहर निकल जाने वाले पिच्छासाव को, जीवशोणित का स्तंभन करना यह होता है। वैसे इसका अंतर्भाव संग्राही बस्ति में किया जा सकता है।

९. रक्तबस्ति<sup>३२</sup>—“रक्तो रक्तेन” के अनुसार जब कभी अत्यधिक मात्रा में शरीर में से रक्त निकल जाता है, तो उस रक्तसंक्षय की पूर्ति के लिए रक्तबस्ति देने का आदेश शास्त्र में दिया गया है। यह रक्तस्त्रभन के लिए नहीं अपितु रक्तनिर्माण के लिए दी जाती है। इन बस्तियों से पुरन्तर रक्त बढ़ता है।

#### बस्तुप्रयोगी द्रव्यों का विचार

बस्ति में अनेक द्रव्यों का उपयोग किया जाता है। जिनमें स्थावर-बान-स्पतिक द्रव्य जांगम-क्षीर, मांसरस, वीर्य, अंडे, मूत्रादि द्रव्य तथा क्षार-लवण आदि का समावेश होता है। बस्ति द्रव्यों में जिनका उपयोग के लिए उल्लेख न किया गया हो ऐसे द्रव्य बहुत कम हैं। अतएव बस्ति प्रयुक्त द्रव्यों का एकेकक्ष: परिचय, गुण कमादि का वर्णन करना द्रव्यगुण शास्त्र का ही ग्रंथ निर्माण करना होगा। चाक ने भी बस्ति द्रव्यों के वर्णन के संदर्भ में कहा है कि आपथापन (निरुह) में तो इनसे सारे औषधियों की कल्पनाएं कर, तत्त्व अवस्थानुसार बस्ति दी जाती है कि उनका नामतः उपदेश करना भी संभव नहीं है, क्योंकि ये बहुत अधिक हैं, उनकानाति संक्षेप में निर्देश करना ही इच्छा है, क्योंकि ये अनुक्रमकार के बस्ति में उपयोगी हैं—उनका उनका ही ज्ञान पर्याप्त है। अतएव उनका रसतः उल्लेख किया जाता है। ऐसा कहकर चरक ने मधुरस्तंकर्ष, अस्त्र स्तकथादि छः रसों के छः स्तंकर देते हुए आपथापन में उपयोगी द्रव्यों का उनमें संग्रह किया है। रस भी संस्पृष्ट (समिलित) होकर अनेक हो जाते हैं। अतः द्रव्यभेद गिनना दुष्कर ही है। इसलिए आपथापन के उपयोगी मधुरादि स्तंकर से उनका ज्ञान पर्याप्त होता है।<sup>३३</sup>

बस्तुप्रयोगी द्रव्यों का चरकादि आचार्यों ने जहाँ उपदेश किया है, उनका यहां केवल नाममत्र उल्लेख किया जाता है। उनके गुण, कमादि का ज्ञान द्रव्यगुण शास्त्र के ग्रंथ में देखना चाहिये।

१. फलिनी औषधियाँ— वर्मनोपयोगी फलिणी (फल) औषधियों का आपथापन में भी निर्देश किया गया है। ये हैं—

१. धामागवि
२. ईद्वाकु
३. जीमूत
४. कृतवेष्म
५. मदनफल
६. कृतज्ज
७. त्रिषुष

#### २. स्नेह द्रव्यों में बस्ति में—

१. बृत
२. तैल
३. वसा और

#### ३. मूत्रबर्ग<sup>३४</sup>—

१. बकरी का मूत्र
२. भेड़ का मूत्र
३. गोमूत्र
४. भैंस का मूत्र
५. हाथी का मूत्र
६. कंठ का मूत्र
७. घोड़े का मूत्र इनका उपयोग उद्दृतन, आलेपन आस्थापनदि

#### ४. पिच्छाबस्ति—यह पिच्छायुक्त द्रव्यों से दी जाती है, इसका उद्देश्य शरीर से बाहर निकल जाने वाले पिच्छासाव को, जीवशोणित का स्तंभन करना यह होता है। वैसे इसका अंतर्भाव संग्राही बस्ति में किया जा सकता है।

५. रक्तबस्ति<sup>३५</sup>—“रक्तो रक्तेन” के अनुसार जब कभी अत्यधिक मात्रा में शरीर में से रक्त निकल जाता है, तो उस रक्तसंक्षय की पूर्ति के लिए रक्तबस्ति देने का आदेश शास्त्र में दिया गया है। यह रक्तस्त्रभन के लिए नहीं अपितु रक्तनिर्माण के लिए दी जाती है। इन बस्तियों से पुरन्तर रक्त बढ़ता है।

६. रक्तबस्ति—यह पिच्छायुक्त द्रव्यों से दी जाती है, इसका उद्देश्य शरीर से बाहर रक्त निकल जाता है, तो उस रक्तसंक्षय की पूर्ति के लिए रक्तबस्ति देने का आदेश शास्त्र में दिया गया है। यह रक्तस्त्रभन के लिए नहीं अपितु रक्तनिर्माण के लिए दी जाती है। इन बस्तियों से पुरन्तर रक्त बढ़ता है।

७. अस्थापनोपग गण<sup>३६</sup>—निम्नोक्त द्रव्य आपथापन के लिए प्रयुक्त अन्य द्रव्यों में सहाय्यक होते हैं।

१. पातला
२. अदिनपथ
३. शालिपणी
४. बिल्ब
५. काशर्मी
६. शालिपणी
७. पृथिवीपणी
८. श्योनाक
९. बाटी कटेरी
१०. गोधुर
११. बड़ी कटेरी
१२. एरड
१३. पुरनवा
१४. यव
१५. कुलात्य
१६. गुड्डी
१७. मदनफल
१८. कोल (बैर)
१९. पलाश
२०. कात्तुणा
२१. स्नेह
२२. लवण

#### ८. आपथापनोपग गण<sup>३७</sup>—निम्नोक्त द्रव्य आपथापन के लिए प्रयुक्त अन्य द्रव्यों में के लिए तथा उनसे सिद्ध नहीं की अनुवासन गण<sup>३८</sup>—निम्नोक्त औषधियों के बत्ता आस्थापन के लिए उपयोग करना चाहिये।

१. पातला
२. अदिनपथ
३. बिल्ब
४. कुटज
५. काशर्मी
६. शालिपणी
७. यट्टीमधु
८. मदनफल
९. बाटी कटेरी
१०. गोधुर
११. बड़ी कटेरी
१२. एरड
१३. पुरनवा
१४. यव
१५. कुलात्य
१६. गुड्डी
१७. मदनफल
१८. कोल (बैर)
१९. पलाश
२०. कात्तुणा
२१. स्नेह
२२. लवण

९. अनुवासनोपग गण<sup>३९</sup>—ये द्रव्य अनुवासन के सहायकर्ता द्रव्य कहलाते हैं।

१. गर्सा
२. देवदार
३. बिल्ब
४. कुटज
५. वचा
६. रक्तपुरनवा
७. श्वेत पुरनवा
८. श्वेत गुड्डी
९. अनिन्मथ
१०. श्योनाक
११. बड़ास्तान स्कंधथ—इनमें मधुर स्कंध, अमस्त स्कंध, लवण स्कंध, कटु स्कंध,
१२. किंवदन स्कंधथ और कषय स्कंध ऐसे हैं: स्कंध हैं। इनके वर्णन में मधुर स्कंध का वर्णन करते हुए कहा है कि एकरस वाले द्रव्य प्रायः नहीं होते हैं। द्रव्य में संस्पृष्ट रस होते हैं। अतएव यहां मधुर स्कंध का अर्थ जो प्रायः मधुररस युक्त होते हैं, मधुर विषाक्ती होते हैं, जिनका प्रश्वामधुर होता है (मधुररस के कार्य संपन्न करने वाले) उन सबको मधुर समझकर ‘मधुरस्कंध’ में कहा जाता है।<sup>३१</sup> यहां बात आग अस्तादि स्कंध में समझाई चाहिये।

१०. मधुर स्कंधथ—निम्नलिखित औषधियों का मधुर स्कंध में समावेश किया जाता है। इन द्रव्यों की बस्ति वातविकार में लाभप्रद होती है, वैसी ही मधु, वृत और शीत द्रव्यों के साथ प्रित विकारों में प्रशस्त होती है।<sup>३१</sup>

जीवक, ऋषभक, जीवर्ती, वीरा, आमलकी, काकोली, कीरकाकोली, अभिरु (जालंधर शाक) मुदगपणी, माषपणी, पृश्नपणी असनपणी मधुपणी मेदा, महामेदा, कर्कटशुंगी शृंगारिका, गुड्डीचि, छत्रा, अतिच्छा (सौफ भेद, लाल तालमध्याना) श्रावणी, महाश्रावणी, अतंवृष्णा (मुडी का भद्र) सहदेवा, शुक्ला, क्षीरशुक्ला, विश्वदेवा, शुक्ला, श्यामला श्यामणी।

बला, अतिबला, विदारी, क्षीरविदारी, धुद्रसहा, महासहा, क्रयगांधा, अशवगांधा, वृशचीर, (रक्त पुनर्नवा) पुनर्नवा (खेत), बृहती, कंटकारी उखबुक (एरंड), मोरट, गोखुर, संहर्ष, शतावरी, शतपूषा, मधुकपुष्णी, चट्टीमधु, मधुलिका, मृदिका, छर्जूर, पर्षक, आत्मगृष्णा, पुष्करबीज, करोरक, राजकशेरुक, (कसेरु, बड़ा कसेरु), राजदन (खीरनी) कालक, कृतक (निमलीक), काशमरी, शीतपाकी (जुंजा) औदनपाकी (नील जिंटी) ताल, खर्जूर, इक्षुतालिका, लालिका, रम्भ, कुश, शाली, गुंजा, (टुण्डेद), ईंकट (टुण्डेद) शर्मूल, राजमूल, वृक्षशवक, नृष्यप्रोक्ता (पीतवला), द्वारदा (सागवन या पालक) भारद्वाजी, (वनकपास) वनपूष्णी, अभीरुपदी (शतावरी भेद) हंसराज, काकनासिका (कौआ ठोड़ी), कुलंगलसी (उल्लटा) शीरवल्ली (शीरविदारी), कपोतवल्ली (छोटी एला) सोमवल्ली (सोमलता), गोपवल्ली (अनंतमूल), मधुवल्ली (द्रासा)।

२. अम्लस्कंध<sup>४०</sup>—आप, आम्रातक, लिङ्गुच, करमदे, वृक्षाम्ल, वृम्लवलेतम, कुवल, बदर, दाढ़िम, नातुरुंग, गंडीर, आमलकी, नंदीतक (कपूर नंदी) शीताक, तिनीडक (इमली) दत्तशठ, आरावतक (नारागी), कोशाम्र इनके फल, आश्रातक, अशमातक, चांगेरी, अम्लिका इनके पत्र, कोल, शुक्काम्लिका के आसव, सुरा, सौनीरक, तुषोदक, मैरी, मेदक, मदिरा, भथशुक्त, सीधु, दधिमंड, दधि, उदाशित् ये अम्लस्कंध के द्रव्य कहे जाते हैं। इनसे वातिकारों में विधिपूर्वक बस्ति देते।

३. लव्यप्रस्कंध<sup>४१</sup>—सैंथन, सौवर्चिल, काललवण, विड्लवण, पाक्य लवण, आनुप्रलवण, कुण्ठलवण, वालुक, एलमौलक, सामुद्र लवण, गोमक लवण, औद्धित, उषरलवण, पातेयक, लवण, पांशुज लवण, इत्यादि लवणों को लवण रक्षण कहते हैं। इनसे अस्लाद्रव्यों के साथ, गरम पानी के साथ, स्नेहों के साथ सुखोष्णा बस्ति देनी चाहिये। वातव्याधि में इसका उपयोग करें।

४. कटुकस्कंध<sup>४२</sup>—पिष्टली, पिष्टलीमूल, हस्तिपिष्टली, चव्य, चित्रक शूगवेर (आर्द्धक), मरिच, आजमोदा, आर्द्धक, विडंग, तुंबर, पीलू, तेजोबती, एला, कुष्ठ, भल्लातक मज, हिंगु, कितिम, (देवदारु), मलतक, सर्पिप, लशून, करंज, शियु, मधुसियु, खरुपुष्ण, (खुरासानी अजवाईन), भुरुण, सुमुख (तुलसीभेद), सुरसा (तुलसी) कुर्तेरक, अर्जुक (तुलसीभेद), कोंडीर (मिङ्गिट), कालमालक (काली तुलसी), परासि (तुलसीभेद), क्षतक (नक्कलिकनी), फारिङ्गजक (तुलसीभेद), द्वारा, मूत्र, पित इनका समावेश कटुकस्कंध में होता है। इनके चव्याथ से भयु, तैल, लवण मिलाकर यथावत बस्ति कफ विकार में देना चाहिये।

५. तिक्तन स्कंध<sup>४३</sup>—चंदन, नलद, (जटामासी-उशीर तिक्तमाल (आमलतास)

निंब, तुंबर, कुटज, हिंदि दारुहरिद्रा, मुस्ता युवर्च, निरातिजल, कटुका, चायमाणा, कारवेल्लक, करीर, करवीर, केबुक (मन्दूर), कोटेल्लक (पुनर्नवा, मैंडकपणी, कर्कोटक (कोडा), वाताकु कर्कश (कासमर्द), काकमाजी काकोद्वंरिका (कांठगुलतिया), अतिविषा पटोल, कुलक, पाठा, गुड्डीच, वैताय (वैत का अग्रभाग), बैतस बिकंकता (सुवा चूसी), बैकुल, सोमवल्क, सतपर्ण, मुभन (चमेली), अर्क (मदार या आक), अवलगुज (बाबची), वरा (निफला), तगर, अगर, बालक (सुगंधताला), उशीर, नै सब तिक्तमाल के द्रव्य कहे जाते हैं। उनका यथावत व्याचय बनाकर, तैल, लवणादि से संस्कार कर कफ रोगों में विधिवत् बस्ति देनी चाहिये।

६. क्षाय स्कंध<sup>४४</sup>—प्रियंगु, अनंतमूल, आम की मज्जा, अंबष्टकी, कट्का, लोध, मोचरस, समगा, धातकी के फूल, कमल, कमलकेशर, जामुन, आम, ल्लास बड, पीतोडुब्बर, पीपर, भल्लातक, अस्मतक, शिरिषपुष्ण, सीसम, सोमवल्क सफेद (खेर), तिदुक, प्रियाल, चिरौंजी, बदर, खदिर, सप्तपर्ण, अशकरण परिसेलव (कैवतकमुस्तक), कदव शल्लकी, जिनीनी (मर्जिष्ठा) काशा, करोरक (कसेरु), राजकशेरुक (कसेरुक खेद), कट्फल, वंश (वांस), पद्माक (पद्म- (काल्ड) अशोक, शाल, धव, सर्जे, भुजे, शण, खरमुख (शण ?), शमी, माठीक (देवदारु), बरक (बेर-धान्य), तुंग (पुत्राण), अजकणा (शालभेद), स्फुर्जक (तिङ्क खेद), बहेडा, कुंभी, पुष्करबीज, बिस (कमल तंग), मृणाल (कमल दंड), ताल खर्जूर, इनका समावेश क्षाय स्कंध में किया जाता है। इनको व्याचय विधि से सिद्ध कर, मधु, तैल, लवण इत्यादि मिलाकर सुखोष्ण बस्ति विधिपूर्वक कफविकार में देनी चाहिये। इनमें शीत, मधुर द्रव्यों को मिलाकर मधु और शूत मिलाकर पित विकार में बस्ति देनी चाहिये।

सुश्रुतोक्त निलह वर्ग<sup>४५</sup>—शीरवर्ण के सभी दृष्ट, अम्लवर्ण मूत्र, स्नेह, क्वायथ, मांसस्स, लवण, विफला, मधु, शतपूषा, सर्पम, वचा, एला त्रिकटु, रासना, मसल, देवदारु, हींदा, यर्टीमधु, हिंगु, कुर्ट, संसोधन गणकृत द्रव्य, कटुका, ताकीरा, गैल्लक, नैवेद्यक, खेद, महमेद, नृद्धि, वृद्धि, मधुलिका, इनको निलह वर्ग कहते हैं। जीवक, नृष्मक, खेद, महमेद, नृद्धि, वृद्धि, मधुलिका, इनको निलह वर्ग कहते हैं। बिलगिरि (बेल की मज्जा), यवानी, फलिनी वर्ग, इंद्रवर, काकोली, शीर काकोली, यर्टीमधु, वचा, दशमूल, देवदारु, रासना, यव, सौफ, कृतवेधन, कुलत्य, मधु, लवण, और विवृत ये निलहोपयोगी द्रव्य हैं।

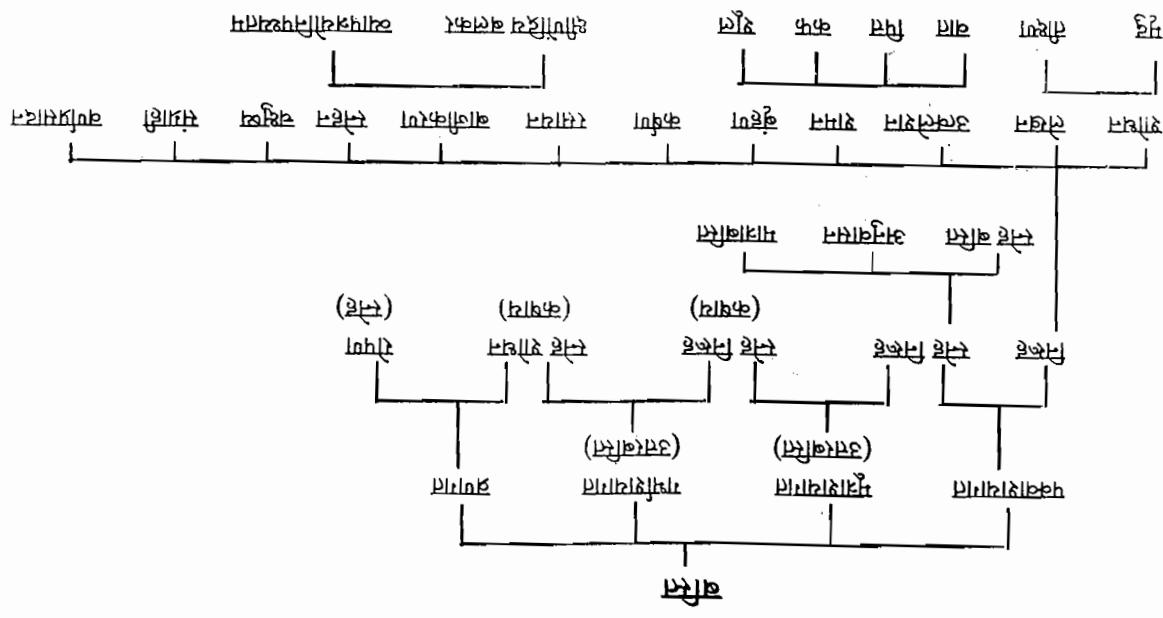
**बस्ति चोगायन्दों का विचार**

बस्ति का कार्यद्वेष व्यापक है। एवं सब आतुरों में, सब अवस्थाओं में बस्ति दी जा सकती है। फिर भी खास संयोगों में बस्ति देना अयोग्य होता है। बस्तियोग्य कौन है किसे कौनसी बस्ति देनी चाहिए यह विचार आवश्यक होता है।<sup>४६</sup> बस्ति प्रकरण प्रारंभ करते समय चरक ने एक प्रश्नों की मालिका प्रस्तुत की है। इसमें एक महत्व का प्रश्न पूछा गया है कि— बस्ति से जो रोग साध्य है, उनमें वह बस्ति देने पर भी रोग प्रश्रम नहीं होता ऐसा क्यों होता है।<sup>४७</sup> इसके उत्तर में चरक कहते हैं कि मेद और कफ के कारण वात का मार्गवारोध होने से मुक्ति, शोथ, शूल इत्यादि करता है। ऐसे आतुर में स्नेह बस्ति देने वह मार्ग का अवरोध बढ़ाकर इन लक्षणों को बढ़ाने में ही कारण होती है। इसी तरह अनेक रोग अपने तर्क से भी पेर संदिग्धता से परस्पर मार्ग का अवरोध कर तेते हैं और धातुओं में दुष्टि करते हैं, अतः उनको तत्त्व प्रकार की भेषजयुक्त बस्ति भी ठीक नहीं कर सकती।<sup>४८</sup> वहां यह स्पष्ट किया है कि बस्ति उन रोगों की चिकित्सा होते हुए भी मार्गदि परस्पर संस्थृत होते हैं उनसे केवल निष्क्रिय बनाते अपितु विपरीत कार्यकर (रोग वृद्धि कर) भी कर देते हैं। इसलिए बस्तिदान के पूर्व वह बस्तियोग्य है या नहीं इसका स्पष्ट ज्ञान करना अन्यतः आवश्यक होता है। अतः आस्थापन, अनुवासन बस्ति के लिए योग्य और अयोग्यों का विचार प्रस्तुत करते हैं।

अन्तर्स्थाप्य<sup>१</sup>—जिनको आस्थापन बस्ति अर्थात् निरुह देना उचित नहीं है, वे अन्तर्स्थाप्य आत्म, चरकादि मतानुसार तालिका में बताए गये हैं।

अनास्थाय - तालिका

क्र.	अनास्थाप्य	चरक	सुश्रुत	बार्खट
१.	अजीर्णि	+	+	-
२.	अतिसाध्य	+	-	+
३.	पीत स्नेह	+	-	-
४.	उचित्काल दोष	+	-	-
५.	अल्पाग्नि	+	-	-
६.	यान कलांत	+	-	-
७.	अति उर्वल	+	-	-
८.	क्षुधार्त	+	-	-
९.	तुष्णार्त	+	-	-
१०.	श्रमार्त	+	-	-
११.	अतिकृशा	+	-	-
१२.	भुवकाभक्त	+	-	-
१३.	पीतोदक	+	-	-
१४.	वमित	+	-	-
१५.	विरिक्त	+	-	-
१६.	कृत नास्य कर्म	+	-	-
१७.	कुद्द	+	-	-
१८.	भीत	+	-	-
१९.	मत्त	+	-	-
२०.	मुच्छित	+	-	-
२१.	प्रसक्त छहिं	+	-	-
२२.	प्रसक्त निष्ठिव	+	-	-
२३.	श्वास प्रसक्त	+	-	-
२४.	कास प्रसक्त	+	-	-
२५.	हिक्का प्रसक्त	+	-	-
२६.	बद्द गुदोदर	+	-	-
२७.	जिह्वोदर	+	-	-
२८.	दक्कोदर	+	-	-
२९.	आधमन	+	-	-
३०.	असलक	+	-	-
३१.	विसूचिका	+	-	-



क्र.	आनास्थाप्य	चरक	सुश्रुत	बाघट
४३.	आमदोष	+	-	-
४४.	आमातिसार	+	-	-
४५.	मधुमेह, प्रमेह	+	+	-
४६.	कुष्ठ	+	+	-
४७.	अर्श	+	+	-
४८.	पांडु	+	+	-
४९.	ग्रम	+	+	-
५०.	अरोचक	+	+	-
५१.	उन्माद	+	+	-
५२.	शोक प्रस्त	+	+	-
५३.	स्थौल्य	+	+	-
५४.	कंठ शोष	+	+	-
५५.	शतधीण	+	+	-
५६.	सप्तमास गर्भिणी	+	+	-
५७.	बाल, वृद्धा	+	+	-
५८.	अल्पवर्च	-	-	-
५९.	शूनपातुः (गुदशोथ)	-	-	-
६०.	आम प्रजाता	+	-	-
६१.	रोफ	-	-	-

अनास्थाप्यों में आस्थापन देने से संभाव्य विकार<sup>१३</sup>

होती है, ऐसे समय बस्ति, शून में क्षार के समान जलन करती है। नस्य के बाद बस्ति देने से विप्रांश और स्रोतोरोध होता है। कुञ्ज और भवयभीत को दिया हुआ निरूह कोष्ठ में बहत ऊँचाई तक पहुंच जाता है। पत और मूर्छ्छत को बस्ति संशानाश कर हृदयोपथत करती है। छादि, निष्ठीविका, श्वास, कास में वायु उर्ध्वाधूत होकर बस्ति को ऊपर ले जाता है। बद्ध गुदोदर, छिद्रोदर दलोदर और आमदान, में दी हुई बस्ति तीव्र आमदान उत्पन्न कर प्राणनाश करती है। बद्ध गुदोदर में पहले ही आत्र संमूल्द्धन होता है, और छिद्रोदर में आत्र में छिद्र होता है। जिससे पहले ही आधान रहता है। छिद्र के कारण कोष्ठस्थ द्रव्य इत्स्ततः फेल कर प्रशोध करते हैं। ऐसी अवस्था में बस्ति देने पर बस्ति इस प्रशोध को बढ़ाकर कोष्ठपेट अथवा रवासकृच्छ उत्पन्न होकर तुरन्त मृत्यु होती है। अलसक में मल प्रवृत्ति या छर्दि दोनों बंद होकर उदर में तीव्र आधान होता है। निसूचिका में छादि और अतिसार दोनों एक साथ होकर तीव्र आमदोष होता है। इन दोनों अवस्थाओं में दी हुई बस्ति पुनः आमदोष को उत्पन्न करती है और व्याधि को बढ़ाती है। मधुमेह और कुष्ठ में बस्ति व्याधि वृद्ध करती है।

डल्हण कहते हैं कि उन्माद, अपस्मार, भ्रम मूर्छ्छा में संशानाश प्रशम के बाद आत्म निषेध है, फिर भी इन आत्मों को वातव्याधि हो तो बस्ति दे सकते हैं। अति बाल और अति वृद्ध में निषेध कहा है वहाँ वय के अनुसार १ वर्ष के पूर्व और १० वर्ष के अनंत बस्ति देना उचित नहीं है ऐसा समझे, अथवा इनमें नीक्षण बरित निषिद्ध समझें। मृदु बस्ति दे सकते हैं। निरूह वज्र्यों का यह सामान्य विचार है। इसमें भी अवस्थानुसार बस्ति दे सकते हैं। विशेषन के बाद जिसे आधान हो उसे अमल लवण युक्त निरूह देने का तथा प्रमेह, कुष्ठ चिकित्सा में अवस्था विशेष से बस्ति देने का निर्देश शास्त्र में किया हुआ मिलता है।

आस्थाप्य<sup>१४</sup>— उपर्युक्तों को छोड़कर बाकी सब आस्थापन के लिए योग्य होते हैं। विशेषतः जिनमें आस्थापन देना योग्य होता है उनको नीचे तालिका में समष्ट किया है।

## आस्थाप्य—तालिका

क्र.	आस्थाप्य	चरक	सुश्रुत	बाघट
------	----------	-----	---------	------

क्र.	आस्थाप्य	चरक	सुश्रुत	बाघट
१.	सवारिगो	+	+	-
२.	एकांग रोग	+	+	-
३.	कुक्षिरोग	+	-	-
४.	वातसंग	+	+	+
५.	मूत्रसंग	+	+	+
६.	मलसंग	+	+	+
७.	जुक्रसंग	+	-	+
८.	बल शय	+	-	-
९.	मास साय	+	-	-
१०.	दोष साय	+	-	-
११.	एक्र साय	+	-	-

क्र.	आस्थाय	चरक	मुश्रुत	बाग्भट
११.	आधमान	+	-	+
१२.	अंगसुप्ति	+	-	-
१३.	कृमिकोष्ठ	+	-	-
१४.	उदावर्ती	+	-	-
१५.	शुद्धातिसार	+	-	-
१६.	पर्वभेद	+	-	-
१७.	अभिताप	-	-	-
१८.	प्लीहदोष	-	-	-
१९.	गुल्म	+	-	-
२०.	शूल	+	-	-
२१.	हृद्यग	+	-	-
२२.	भांदर	+	-	-
२३.	उन्माद	-	-	-
२४.	ज्वर	-	-	-
२५.	ब्रह्म	-	-	-
२६.	शिरःशूल	-	-	-
२७.	कण्ठशूल	-	-	-
२८.	हृदयशूल	-	-	-
२९.	पाशवशूल	-	-	-
३०.	पृष्ठशूल	-	-	-
३१.	कटि शूल (ग्रह)	-	-	-
३२.	वैष्णा (कृष्ण)	-	-	-
३३.	आपेक्ष	-	-	-
३४.	अंग गौवर	-	-	-
३५.	अलिलाष्व	-	-	-
३६.	रजःक्षय	-	-	-
३७.	विषमानि	-	-	-
३८.	स्त्रिग् शूल	-	-	-
३९.	जानु शूल	-	-	-
४०.	जंघा शूल	-	-	-
४१.	उरशूल	-	-	-
४२.	गुल्मशूल	-	-	-
४३.	पाणिभूत	-	-	-
४४.	प्रपद शूल	-	-	-
४५.	योनि शूल	-	-	-

+ जीण

क्र.	आस्थाय	चरक	मुश्रुत	बाग्भट
४६.	बाहु शूल	+	-	-
४७.	अंगुली शूल	+	-	-
४८.	स्तन शूल	+	-	-
४९.	दंत शूल	+	-	-
५०.	नख शूल	+	-	-
५१.	पर्व-अस्थि-शूल	+	-	-
५२.	शोष	+	-	-
५३.	स्तम्भ	-	-	-
५४.	(दारुण)	-	-	-
५५.	आंत्र कूजन	+	-	-
५६.	परिकर्तिका	+	-	-
५७.	महा रोगाच्छायोक्त	+	-	-
५८.	वातव्याधियां	-	-	-
५९.	ज्वर	-	-	-
६०.	तिमिर	+	-	-
६१.	प्रतिश्वाय	-	-	-
६२.	अधिपथ	-	-	-
६३.	आहित	-	-	-
६४.	पक्षाघात	-	-	-
६५.	शार्करा शूल (अशमरी)	-	-	-
६६.	उपरदंश	-	-	-
६७.	वातरक्त	-	-	-
६८.	अर्श	-	-	-
६९.	स्तन्यक्षय	-	-	-
७०.	मन्याप्रह	+	-	-
७१.	हन्त्रीह	-	-	-
७२.	अशमरी	-	-	-
७३.	मुङ्ग गर्भ	-	-	-
७४.	मुनकुच्छ	-	-	-

उपर्युक्त रोगों में + चिन्ह 'उक्त' का दर्शकमात्र समझना चाहिये और ' ' चिन्ह 'अनुक्त' का दर्शक है न कि विरोध का। क्योंकि प्रकाण संदर्भ से अवस्थानुसार बस्ति संबंध देखे जाते हैं। अतः यहां केवल सामान्यमूलक विचार समझना चाहिये। शार्दूल ने अलपित, हंद्रोग, असूदर इनको तिरुहोग्य कहा है, और भावप्रकाश ने इस तीनों के अतिरिक्त विषमज्वर का भी समावेश किया है। शेष आस्थाय चरक सुशूत वाग्भट के आस्थाय में समाविष्ट हो जाते हैं। आस्थाय में सामान्यतः इन बातों का विचार किया हुआ मिलता है—

१. वातरोग या वातप्रथान रोग।

२. चात के आश्रयस्थान में हनेवाले रोग।

३. शोधनाहृ रोग।

४. बुंहणादि बसितभेद जो कहे गये हैं उनके लिए अनुकूल रोग।

५. पलशोधन के स्थानिक क्षेत्र के रोग।

**अनुवासन्य<sup>१०</sup>**—जिन आनुरोदों में आस्थापन देना उचित नहीं है, अर्थात् जो अनास्थाय हैं, वे अनुवास्य भी हैं ऐसा कहा गया है, तथापि सभी अनास्थाय अनुवास्य नहीं होते। उचाहरण भुक्तभक्त को निरुद्ध बसित नहीं देनी चाहिये। लेकिन स्नेह बसित तो भुक्त को हो देनी चाहिये। कुशों को निरुद्ध देना उचित नहीं है, किंतु अनुवासन दिया जा सकता। अतएव विशेषतः अनुवास्य जो है, उनको नीचे तालिका में समष्टि किया जाता है।

**अनुवासन अध्योग्यों में अनुवासन से संभाल्य किकार<sup>११</sup>**

जिनको अनुवासन बस्ति का निषेध कहा गया हैं उनको अनुवासन बस्ति देने पर उनके रोगों की वृद्धि होती है और वे रोग असाध्य बन जाते हैं। और शरीर दृटने जैसी वेदना होना यह खास लक्षण उत्पन्न होता है।<sup>१२</sup>

क्र.	अनन्तुवास्य	चरक	सुश्रृत	बारभट
१.	अनास्थाप्य	+	+	+
२.	अनुकृत भृत्य	+	-	+
३.	नवज्वर	+	-	+
४.	पांडु	+	+	+
५.	कामला	+	-	+
६.	प्रमेह	+	-	+
७.	अर्श	+	-	+
८.	प्रतिरथाय	+	-	+
९.	अरोचक	+	-	+
१०.	मद्याग्नि	+	-	+
११.	उर्बलं	+	-	+
१२.	प्लीहोदर	+	-	+
१३.	कफोदर	+	-	+
१४.	उरुस्तंष	+	-	+
१५.	वर्चोभेद (आतिसार)	+	(उदरी) (उदरी)	+
१६.	विषषीत	-	-	+
१७.	गर-पीत (विषषीत)	-	-	+
१८.	कफाभिष्ठद	-	-	+
१९.	गुरुकोष्ठ	-	-	+

यदि अभ्युक्त भ्रत (जिसको भोजन न दिया हो) को अनुवासन दिया जाये तो आत्म में गार्णी अनावृत होने के कारण वह उपर तक पहुँच जाता है। स्नेह में अनुप्रत्यग्यात्म और सूख्य गुण होता है जिससे लोतों में शीघ्र व्याप्त हो जाता है। इसलिए स्नेह ब्रतित हमेशा भोजन के बाद ही देनी चाहिये। भोजन के बाद आमाशय तथा आत्म में पच्चासान अत्र का दबाव होता है इसलिए स्नेह की व्याप्ति पक्षाशय में थोरे-थोरे होती है और रिक्तमांस होते तो निः संशय वेग से ग्रहणी तक आ सकता है जिससे आध्यात्म, हृदयग्रह, हिक्का, तथा छादि उत्पन्न हो सकती है। छादि में वही स्नेह जो ब्रतित में दिया है, जाना जरूरी नहीं है। अपितु स्नेह के ऊर्ध्वागति से महालोतस में उपस्थित अधर्षपक्षादि या पच्चासान घटक ऊर्ध्वागति वाले होकर आमाशय प्रक्षोभ के कारण बाहर निकल जाते हैं। कभी-कभी केवल लालाखात ही हो सकता है।

- नवरक्ष्य, कामला, पांडु, प्रमेह इन रोगों में अनुवासन दोषों को डक्टिलाइट कर उद्धर रोग उत्पन्न करता है। इन रोगों में लोतोरोध का प्राथान्य रहता है। अतः स्नेहागति में अतरोध से दोषों का उत्पन्न होता है। वैसे ही इन चारों रोगों में स्नेहपान का निवेद्य किया है। अर्श में अनुवासन, अशाकुरों को ब्रिलन कर आध्यात्म करता है। अरोचक में अरुचि को और बद्दा देता है। अग्निमांस्य, तथा दुर्बलों में अनुवासन अग्निमांस बढ़ाता है। प्रतिशयाय प्लीहिति रोगों में दोषोत्पलेश से रोगवृद्धि होती है। कृषि कोष्ठ में कृषि निर्हिरण पूर्व स्नेहब्रतित देने से कृषि बाहुल्य से तथा निर्हरण न होने से कृषि ऊपर प्रसूत होकर हृदयापकर्षण करते हैं।<sup>14</sup>

**अनुवास्य**-- जो आस्थाप्य कहे गये हैं वे अनुवास्य भी होते हैं। **विशेषतः** जो अत्यंत रुक्ष शारीर वाले आतुर हैं, जिनका आनिं अत्यंत प्रज्ञचलित है और जो केवल वातव्याधियों से पीड़ित हैं, उनमें अनुवासन विशेष योग्य होता है।<sup>१०</sup>

जिस साधन के द्वारा बस्ति दी जाती है, उसे 'बस्तियंत्र' कहा जाता है। बस्ति यंत्र के मुख्य दो भाग होते हैं।

क्र.	अनुवाद	चरक	सुश्ति	बाध्य
२०.	एलीपद	+	-	+
२१.	गलगंड	+	-	+
२२.	अपचि	+	-	+
२३.	कृमि-कोष्ठी	+	-	+
२४.	प्रमेह	-	+	+
२५.	कुष्ठ	-	+	+
२६.	स्थौल्य	-	+	+
२७.	पीनस	-	+	+
२८.	दुशा	-	+	+

क्र.	आंगुल आयु	नेत्र की लंबाई
३.	८ वर्षीय	६ $\frac{1}{2}$ अंगुल
४.	९ वर्षीय	७ अंगुल
५.	१० वर्षीय	७ $\frac{1}{2}$ अंगुल
६.	११ वर्षीय	७ $\frac{2}{3}$ अंगुल
७.	१२ वर्षीय	८ अंगुल
८.	१३ वर्षीय	८ $\frac{1}{2}$ अंगुल
९.	१४ वर्षीय	९ अंगुल
१०.	१५ वर्षीय	९ $\frac{1}{2}$ अंगुल
११.	१६ वर्षीय	१० अंगुल
१२.	१७ वर्षीय	१० $\frac{1}{2}$ अंगुल
१३.	१८ वर्षीय	११ अंगुल
१४.	१९ वर्षीय	११ $\frac{1}{2}$ अंगुल
१५.	२० वर्षीय	१२ अंगुल
१६.	२० वर्षीय के ऊपर	१२ अंगुल

(Term) शब्द समझना चाहिये। नेत्र का अर्थ है—नलिका । १० इसे यह भी कहते हैं। बस्ति पुटक के साथ संतरग नलिका को नेत्र कहते हैं और बस्ति देने का मुख्य साथन यह नलिका यंत्र है इसलिए इसे यंत्र कहते हैं। यह धारणिमित नलिका है। इसके निर्माण में प्राचीन काल में भेना, चांदी, ताता, बंग, कांसा, पीतल, इन धातुओं से नलिका बनाई जाती थी। विशेषतः राजा और राज सदृश धनिकों के लिए सोने और चांदी के नेत्र उपयोग में लाये जाते थे। राजा महाराजाओं का भोजन-पान, आसन सभी में सोने चांदी और हीरों के साथनों का उपयोग किया जाता था। अतएव आयुर्वेद में उनके लिए सोने चांदी के नेत्र का उल्लेख किया जाना उचित ही लगता है। इसमें गुण और कार्मिकता की कोई संगति नहीं लगती है। धातु के अतिरिक्त अस्थि, रस्स, तृक्ष, वेणु, दंत, नल, शृग, मणि, बृक्षसार (गोद) के भी नेत्र निर्माण करना शास्त्रसम्मत है। आस्थि में संभवतः नलिकास्थि का उपयोग किया गया होगा। बृक्षों की शाखाओं से, वेणु से तथा हस्ति दंत, महिष शृंगादि को आपायंत्र खोखला कर इनका प्रयोग नेत्र के लिए भली भांति किया जा सकता है। औज लोहे के, स्टेनलेस स्टील के, ताप्र के और पीसल के नेत्र लिये जा सकते हैं।

बास्ति नेत्र का प्रमाण—बस्ति नेत्र अंदर से खोखली एक लम्बी नलिका है जो मूल भाग में चौड़ी और अप्रभाग में सिकुड़ी हुई होती है। इसकी लम्बाई, चौड़ाई, छिद्र, परिणाह सबका विशिष्ट प्रमाण शास्त्र में लिखा गया है। चरक मतानुसार छ: वर्षायु तक के लिए नेत्र की लंबाई ४: अंगुल होनी चाहिये। १२ वर्षायु के लिए ८ अंगुल लंबाई होनी चाहिये और २० वर्षायु के लिए १२ अंगुल लंबाई का नेत्र रखना चाहिये। एक वर्ष से कम उम्र में १२ वर्षायु व्यक्तियों के लिए १२ अंगुल लंबाई का नेत्र रखना चाहिये। एक वर्ष से कम उम्र में उम्रवालों के ऊपर के उम्रवालों के लिए नेत्रमान का विकल्प नहीं है। अथात् छ: अंगुल उत्था २० वर्ष के ऊपर के पूर्व और १२ अंगुल नेत्र २० वर्षायु के ऊपर प्रयोग है। छ: वर्षायु से १२ वर्षायु तक प्रतिवर्ष एक-तृतीयांश अंगुल अधिक लंबाई रखने का शास्त्र मत है। अर्थात् ७ वर्ष के बालक के लिए ६ ३/५ अंगुल का नेत्र होना चाहिये। इस तरह बड़ाने से १२ वर्षायु तक कुल १ अंगुल मान बढ़कर नेत्रमान ८ अंगुल का होता है। १२ वर्षायु के ऊपर प्रत्येक वर्ष १/५ अंगुल नेत्रमान बढ़कर १० वर्षायु तक कुल ४ अंगुल तक मान बढ़ता है और १२ अंगुल का नेत्र होता है। इस तरह आयु के अनुसार नेत्रमान निम्नलिखित प्रकार का होगा।

नेत्रमान जो अंगुल में कहा है वह संभवतः आतुर हस्तागुल मान है। तथापि ऐसा करने पर, अपरिमित्येय नेत्र रखने होते हैं। नेत्र गुदा में प्रविष्ट कर बसित दी जाती है और कठ नेत्र के चौंचीथार भाग तक गुदा में प्रविष्ट कराने के लिए कहा गया है। बालकों तथा प्रीढ़ों को निरापद इसलिए भवित्व सी जा सके इसलिए भिन्न-भिन्न प्रकार का नेत्रमान कहा गया है। प्रमाण काम होने पर इउत्तर गुद के आगे बस्ति नहीं जायेगी और अधिक होने पर संभवतः क्षत हो जायेगा इसलिए यह सावधानी है। तथापि विचार करने पर और अनभव से स्पष्ट होता है कि

त्रिलोक-प्राणी

क्र.	आटुर आयु	नेत्र की लंबाई	द अंगूल
१.	१ से ६ वर्ष तक	नेत्र की लंबाई	६ अंगूल
२.	७ वर्षायु	नेत्र की लंबाई	६ $\frac{1}{2}$ अंगूल

इतना सूक्ष्मचिकार इसमें आवश्यक नहीं होता, क्योंकि कुल नेत्र लंबाई के  $\frac{1}{4}$  भाग पर कणिका रखकर उतना ही भाग अन्दर प्रविष्ट किया जाता है। फिर  $\frac{1}{2}$  का  $\frac{1}{2}$  जो  $\frac{1}{2}$  अंगुल होता है और  $\frac{1}{2}$  का  $\frac{1}{2}$  भाग का जो  $\frac{1}{2}$  अंगुल होता है—जो प्रत्यक्ष प्रयोग में प्रयुक्तिचित कर ही है। इसी तरह आगे कहा जाएगा। इसके अनुसार—एवर-नलिका, नेत्र को जोड़कर बस्ति देना नियंपद होने से अब इतना सूक्ष्म विचार जरूरी नहीं है। शायद यही कारण है कि संहिता ग्रन्थों में भी नेत्रमान के विवरण में मतभेद है। सुश्रुत मतानुसार एक वर्षाय बालक के लिए १० अंगुल लंबाई का नेत्र हो। वर्षायु के लिए ८ अंगुल लंबाई का नेत्र हो, १६ वर्षायु के लिए १० अंगुल लंबाई का नेत्र हो। वर्षायु से कम उमर में ५ अंगुलमान, ७ वर्षाये। वाग्मट मतानुसार १ वर्षायु से कम उमर में ५ अंगुल छः वर्षायु में ६ अंगुलमान, ७ वर्षायु के लिए ७ अंगुलमान, ११ वर्षायु के लिए ८ अंगुलमान, १६ वर्षायु के लिए ११ अंगुलमान और तप्तश्चात् ११ अंगुल माना गया है। इन तीनों में १२ अंगुल का अंतिम मान समान है। एक अंगुल का मान लगभग  $\frac{1}{2}$  इंच के समान होता है (युक्ता अंगुली से. मि.) और बालकों की अंगुली तो आधे से. मि. के करीब होती है। अब आधे से. मि. तथा  $\frac{1}{2}$  इंच के एक दृतीयांश भाग के करक से नेत्र प्रमाण गुदा में प्रविष्ट करना नागर्ण है और प्रत्यक्ष प्रयोग में दो समय इस प्रकार व्यवस्था नहीं हो सकती। अतएव छः अंगुल अर्थात् ४। इच लंबाई के, ८ अंगुल अर्थात् ६ इंच लंबाई के और १२ अंगुल अर्थात् १ इच लंबाई के नेत्र बनाकर रखना चाहिये और इनका यथायोग्य आतरों में प्रयोग करना चाहिये।

क्र.	आतुर आयु	नेत्र की लंबाई
१.	१ से ६ वर्ष तक	६ अंगुल
२.	७ वर्षयु	६ अंगुल

नेत्र का आकार गोपुच्छ के समान होता है। ऊपर अर्थात् मूलभाग में परिणाह बड़ा और अग्रभाग में परिणाह कम होना चाहिए। मूलभाग में अंगुष्ठ परिणाह और अग्रभाग में कनिष्ठिका (छोटी तंताई) परिणाह का सीधा यन्त्र होना चाहिये। सुश्रुत ने एक वर्षायु के लिये परिणाह का नेत्र उपयुक्त करने को कहा है। २५ वर्षायु के लिये अग्रभाग में मध्यांगुली अंगुष्ठ के मान का और अग्र में कनिष्ठिका परिणाह का होना चाहिये।

इस नेत्र में तीन कर्णिकाएं होती हैं, जो छाँड़ाकार की होती हैं। नेत्राग्र भाग से कुल नेत्र को रोकती है। मूलभाग में अन्त में एक कर्णिका और १ अंगुल पर दूसरी कर्णिका होती है। इन दो कर्णिकाओं के बीच बिस्तिमुख को कसकर बांध दिया जाता है। बांधने की मुविधा के लिए ही, ये दो कर्णिकाएं होती हैं।

बस्ति नेत्र का और विचारार्थ विषय होता है, उसके बीच में रहनेवाला छिद्र। चरक ने इस छिद्रों का प्रमाण छः वर्षायु तक के लिये मूलां के आकार का १२ वर्षायु के लिये मटर के प्रमाण का और २० वर्षायु के लिये कर्कथु (बेर) के प्रमाण का बताया है। सुश्रुतोवत् नेत्र का अग्रभाग और मूलभाग का प्रमाण नीचे लिखे हुए प्रकार का होता है।

### तालिका

क्र. आयु-मान	नेत्र-मान	परिणाह	छिद्र	कर्णिका
१. १६ वर्षायु के लिए	१० अंगुल	मध्यांगुली परिणाह	मूल में रखेन पस्त नाड़ी के प्रवेश योग छिद्र-माप के बराबर	अग्रभाग में २ अंगुल पर कर्णिका

१. वर्षायु तक के लिए	कंपपस्त नक्कचंद्र कृष्ण वर्णपिण्डी की नाड़ी प्रविष्ट हो सके ऐसा	मूल के आकार का रूपां	मूल में अंगुष्ठ परिणाह, अग्र में कनिष्ठिका परिणाम	मूल में गुप्त पक्ष नाड़ी गुल्या प्रवेशाछिद्र, अग्र में यानी में कुलाए मटर के समान अथवा बेर की गुरुत्वी के समान
२. १६ वर्षायु तक के लिए	श्येन पक्ष नाड़ी प्रविष्ट हो हो सके ऐसा	माष के आकार का रूपां	मूल में अंगुष्ठ परिणाह, अग्र में कनिष्ठिका परिणाम	मूल में गुप्त पक्ष नाड़ी गुल्या प्रवेशाछिद्र, अग्र में यानी में कुलाए मटर के समान अथवा बेर की गुरुत्वी के समान
३. १६ वर्षायु तक के लिए	मूल नाड़ी प्रविष्ट हो हो सके ऐसा	कलाय के आकार का रूपां	मूल में अंगुष्ठ परिणाह, अग्र में कनिष्ठिका परिणाम	मूल में गुप्त पक्ष नाड़ी गुल्या प्रवेशाछिद्र, अग्र में यानी में कुलाए मटर के समान अथवा बेर की गुरुत्वी के समान
४. १६ वर्षायु तक तथा इसके ऊपर के लिए	गृष्मपक्ष नाड़ी प्रवेश याराय	जल में भिगोकर फूले हुए कलाय के आकार का रूपां	मूल में अंगुष्ठ परिणाह, अग्र में कनिष्ठिका परिणाम	मूल में गुप्त पक्ष नाड़ी गुल्या प्रवेशाछिद्र, अग्र में यानी में कुलाए मटर के समान अथवा बेर की गुरुत्वी के समान

सुश्रुत कहते हैं कि नेत्र के अभाव में नल (नडसर), बांस या अस्थि की नलिका उपयुक्त कर सकते हैं।<sup>११</sup> इस कथन को उपलक्षण मान समझकर रबर नलिका का भी प्रयोग बांछनीय है। सुश्रुत के वर्णन के अनुसार नेत्र का समग्र स्वरूप निम्नलिखित प्रकार होगा। (देखें – तालिका पृष्ठ ३६४-६५)

उत्तर बस्ति नेत्र का प्रमाण<sup>१२</sup> – उत्तर बस्ति के नेत्र को पुष्पनेत्र भी कहा जाता है। यह सोने का, या चांदी का बनाना चाहिये। इसका आकार चमेली के फूल या कनेर के फूल के डंतल के समान होना चाहिये। यह रस्लक्षण और नर्जु होना चाहिये। इसकी लंबाई १३ अंगुल की होनी चाहिये। सुश्रुत ने १४ अंगुल की लंबाई कही है। इसका छिद्र सरसू के आकार का होना चाहिये। इसमें केवल दो कर्णिकाएं होती हैं। तंत्रांतर में ३ कर्णिका रखने का भी पाठ है। इसका स्वरूप मून्तशलाका (Urinary catheter), या ऊरा उपयुक्त के समान रखा जा सकता है।

इसमें शोफ के प्रमाण में पुरुषों में तथा स्त्रियों में मूर्मार्ग और अपत्यमार्ग के प्रमाण में प्रवेश अपेक्षित है अतः अग्रभाग की कर्णिका आवश्यक नहीं है।

नेत्रदोषर्थ<sup>१३</sup> – बस्तिनेत्र वादिठीकन होतो वह अनेक व्यापद पैदा करता है। बस्ति नेत्र निम्नलिखित प्रकार के दोषों से पुक्त होना चाहिये।

१. हस्तता – नेत्र बहुत छोटा हो तो बस्ति द्रव्य गुद से अगे पहुंच नहीं सकते। बस्ति द्रव्यों का पक्वाशय में पहुंचना आवश्यक होता है। १२ अंगुल प्रमाण का नेत्र लगभग १० प्रमाण का होता है। गुद की लंबाई<sup>१४</sup> के लगभग होती है, अतः यह आवश्यक है कि नेत्र ४ इंच से अधिक अंतर प्रविष्ट किया जाए। गुद प्रमाण के बीच में डाला हुआ द्रव्य गुरुत्व बहर निकल जाता है।

क्र. आयु-मान	नेत्र-मान	परिणाह	छिद्र	कर्णिका
१. एक वर्षायु तक ६ अंगुल	कनिष्ठिका कंपपस्त नाड़ी अग्रभाग में	प्रवेश योग्य प्रवेश योग्य नाड़ी अंगुल	पर कर्णिका	बालक के लिए

समान अग्रभाग में

१. दीर्घता—नेत्र बहुत लंबा हो और बहुत अंदर प्रविष्ट कराकर यदि बस्ति दी जाए तो बस्तिदब्बों को पकवाशय में बहुत दूर तक पहुंचाता है।
२. तनुता—नेत्र बहुत पतला हो तो वह क्षेत्र उत्तर करता है, क्योंकि पतले नेत्र का परिणाहारादि कम होने से पीड़ित दब्ब जल्दी अंदर नहीं जा सकता और प्रपीडन से क्षेत्र उत्पन्न होता है।

३. स्थूलता—बहुत स्थूल नेत्र गुदा में (जल्दी प्रवेश न होने से) करण करता है।
४. जीर्णता—नेत्र निर्माण योग्य थातु-जीर्ण हो, टूटा-फूटा हो, तो गुदा में क्षत करता है। सुश्रुत ने नेत्र का 'कर्कश' नामक दोष दिया है जिसका अर्थ नेत्र कठिन या ऊब-इखाबहृथुत का रहना यह है—इसका समावेश चक्रपाणि 'जीर्ण दोष' में करते हैं।
५. शिथिल बंधनता—नेत्र में बस्ति पुटक अच्छी तरह बांध देना चाहिये। यदि बंधन शिथिल हो तो दब्ब गुदा के बाहर ही गिर जाते हैं।
६. प्रशर्वछिद्र—नेत्र का छिद्र बीच में होना चाहिये। यदि वह बाजू में हो तो दब्ब के कारण यह पीड़िकर नहीं होती और धातु कठिन होने से पार्श्व में दबाव के साथ निर्गत दब्ब पीड़ा कर सकता है।
७. बक्षता—नेत्र सीधा होना चाहिये। यदि वह टेढ़ा हो तो दब्ब की गति टेढ़ी होती है, जो शूल कर सकता है।

मुश्तुत ने आसत्रकर्णिका (करणिका बहुत नजरीक रहना), प्रकृष्ट करणिका (करणिका बहुत दूर होने से), अणुनेत्रता (छोटा नेत्र), भिन्न नेत्रता (फूटा हुआ या छिद्रयुक्त नेत्र), अणुस्त्रोतता (छिद्र छोटा रहना), महास्त्रोतता (छिद्र बड़ा रहना) ये और दोष बताये हैं। यदि नेत्र की करणिका बहुत नजरीक होते तो बस्ति देना निरर्थक होता है। (दब्ब बाहर आने से) बहुत दूर करणिका होते तो गुदम पर पीड़िन होकर रक्त निकलता है। यदि अणु या भिन्न नेत्र होती है और बहुत बाहर लक्षित होते हैं यदि नेत्र का छिद्र बहुत छोटा हो तो बस्ति देने में तकलीफ होती है और बहुत बड़ा छिद्र हो तो एकदम दब्बों का अंतः—प्रवेश होकर पीड़न होता है।

८. संक्षेप में—नेत्र न तो बहुत छोटा हो न बहुत पतला हो, इसके बीच का छिद्र न बहुत बड़ा न बहुत छोटा हो, नेत्र टेढ़ा न हो, सीधा हो—इस प्रकार का नेत्र बनाना चाहिये।
९. बस्ति पुटक<sup>४४</sup>—बस्ति पुटक बस्तिनेत्र को जोड़कर बांध दिया जाता है यह काम करता है। प्राचीन काल में रबर का अभाव होने के कारण प्रणिर्णीत थैली (Elastic Bag) का (Urinary bladder) का इस काम में उपयोग किया जाता था। आज भी इनका उपयोग केरल मदास के बाजू में किया जाता है। तथापि बस्तिकर्ण को ऐज तेल मदन कर अल्पत मुट्ठ, संकोच प्रसरणशील (Elastic) रखना जरूरी होता है। अन्यथा हाथ से दबाने पर सम्यक् प्रकार से दबाव नहीं पड़ेगा। बस्ति का पुटक बैल, भेंस, हरिण, सुअर तथा बकरे के मूत्राशय (बस्ति) से बनाना चाहित है। इसका आकार तिकोना गोल (Oval shape) होता

है। बस्ति पुटक के लिए लिया हुआ बस्ति मजबूत हो, चर्म की ऊपर की स्त्रियों नस्त की हुई हों, तथा दुर्धीरहित होना चाहिये। उसे कामाय (क्वाथ) तथा तेल की भावना देकर कथायरक्त बनाया जाता है। इसे चमड़ा करना, या कमसना कहते हैं। बस्ति मुट्ठ और स्वच्छ होनी चाहिये। वह शुद्ध जंतुरप्रित रहना चाहिये।

यदि इस प्रकार बैल, भेंस आदि प्राणियों की बस्ति न मिले तो प्लव (प्रसेवक गल नामक पक्षी) के गले का चमड़ा और उसके अपाव में अंकपाद (चर्म चटक) का चमड़ा लेकर बस्तिपुटक बनाना चाहिये, और वह भी न मिले तो मोटा और मजबूत कपड़ा लेना चाहिये। आजकल इस काम में फूट-बौल या वॉलीबॉल के ब्लैडर का उपयोग किया जा सकता है। इनका उभयता भाग पर छेदकर, मुख के भाग से बस्ति नेत्र के दो करणिकों के बीच में बांध कर बस्तियंत्र तैयार करना चाहिये। कहीं-कहीं प्लास्टिक की लंबागोल थैली बनाकर उनको बस्तिनेत्र में जोड़कर उपयोग किया जाता है।

बस्तिपुटक के दोष<sup>४५</sup>—बस्तिपुटक के आठ प्रकार के दोष होते हैं। इनसे रहित बस्ति का उपयोग करें।

१. तिष्यय—बस्ति पुटक का आकार सम्म-सारिखा होना चाहिये। यह विषम हो तो पीड़न करते समय गति की विषमता होती है।

२. यांसस्तल—पुटक मांसस्तल नहीं होना चाहिये। ग्राणियों की बस्ति निकालने पर यांस और शलक्षण बनाकर मांसलरहित बनावें। यदि मांसल बस्ति पुटक का उपयोग किया जाये तो विक्षय आता है।

३. छिज्र या छिद्रयुक्त—पुटक से दब्ब बाहर निकल जाते हैं।

४. स्थूल—बहुत मोटी बस्ति हाथ में अच्छी तरह पकड़ नहीं सकते और दबाने में भार की समता नहीं होती।

५. जालयुक्तता—यह बस्ति रेषाओं से रहित होनी चाहिये। रेषाओंवाली बस्ति में छोटे-छोटे छेद रहते हैं जिनसे बस्तिदब्ब खालित होते हैं।

६. बातल—बस्तिपुटक में अधिक बायु नहीं रहना चाहिये। बातल पुटक से बस्तिदब्बों में ज्ञाग उत्पन्न होता है।

७. स्तिनाध—बहुत अधिक स्तिनाध पुटक हाथ में से किसलाता है।

८. बित्तनब्रता—कलेदयुक्त बस्तिपुटक धारण करने में तकलीफ होती है। इस तरह बस्ति स्वच्छ, शुद्ध और कमाये हुए चमड़े से बनाई हुई होनी चाहिये।

उपर्युक्त दो भागों के (नेत्र और पुटक) अतिरिक्त बस्तियंत्र में बस्ति देते समय एनीग्राट्युब या फ्लेट स्ट्रूब का प्रयोग करना चाहिये। इस ट्रूब को गुद प्रवेशनीय भाग के अंदर प्रविष्ट कराकर दूसरा भाग बस्तिनेत्र के अप्रभाग को जोड़ देना चाहिए और बस्ति पुटक दबावकर बस्ति देनी चाहिये। इस तरह किसी भी व्यापद के सिवाय बस्ति दी जा सकती है। बस्तियंत्र निर्माण<sup>४६</sup>—उचित प्रकार का बस्तिपुटक (मूत्राशय, प्लवचर्म, कपड़ा या वॉलीबॉल इत्यादि का ब्लैडर) लेकर उसे उतारा दें। मुख भाग को नीचे कर किंवित छेद करते हुए बस्ति नेत्र के मूल की दो कणिकाओं के बीच रखकर कसकर बांध दें। फिर लोहे

की शलाका खूब तपाकर उस छिद्र पर लाग देकर पुटक के नेत्र समवर्ती भाग को अच्छी तरह बंद कर देवें। फिर उलटा कर बस्तुपयोग के लिए सुरक्षित रख दें।

उपर्युक्त प्रकार से बस्तियंत की सामान्य कृत्यना है। बस्ति देने के लिए आधुनिक एनिमेकेन जो एनेमेल धातु का एक पत्र है और नीचे उसे ट्यूब जोड़ने की नाड़ी लगी रहती है— उसका उपयोग किया जा सकता है। यह द्वायाधबस्ति में उपयोगी है। मात्राबस्ति या स्नेहबस्ति के लिए लिंसरीन सीरीज का उपयोग सफल गति से कर सकते हैं। जहां बस्ति द्रव्यों में अर्थ तरल वस्तु अधिक हो, वहां शास्त्रीय बस्तिपुटक की बस्ति उपयोग में लाये।

**बस्ति दान विधि**  
बस्तिके भिन्न-भिन्न प्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से पीछे बाणित किये गये हैं। तथापि बस्तिदान विधि के लिए प्राप्ति तीन भेदों के अनुसार विचार करना पर्याप्त है। ये तीन भेद हैं—

१. निरुद्ध या आस्थापन बस्ति
२. स्नेह या अनुवासन बस्ति और
३. उत्तम बस्ति।

**निरुद्ध या आस्थापन—** निरुद्ध विधि में बस्तिदान के पूर्व, बस्ति प्रणिधान विधि तथा बस्ति देने के बाद, इन तीनों अवस्थाओं में जो-जो विषय महत्व रखते हैं उनको पूर्वकर्म, प्रथानकर्म और पश्चातकर्म के क्रम से प्रस्तुत किया जाता है।

**पूर्वकर्म—बस्ति—** प्रणिधान या प्रथान कर्म है, परन्तु पूर्वकर्म एक जटिल और विशेष ध्यान से निरचय करने का विषय है अच्छी तरह शिशा देने के बाद प्रथान कर्म, सामान्य कर्मचारी—जिन्हें आयुर्वेद-सास्त्र का ज्ञान नहीं होता वे कर लेते हैं—किन्तु पूर्वकर्म के विषय तो वैद्य-आयुर्वेद शास्त्र का ज्ञान ही अच्छी तरह समझकर कर सकता है। अतः प्रत्येक वैद्य का कर्तव्य है कि इन विषयों को अच्छी तरह समझ ले। अन्यथा बस्ति चिकित्सा असफल हो जाने की संभावना होती है। परिणामतः अपव्यास और अपकीर्ति होती है। बस्ति को संपूर्ण चिकित्सा शास्त्र में “अर्थचिकित्सा” का महत्व प्राप्त है ऐसा पहले कहा गया था। लेकिन इसका यश पूर्वकर्म के वैश्यमाण विषय को जो बुद्धिमान वैद्य जितनी अच्छी तरह से आत्मसात कर सकता है उतना ही उसे यश मिल सकता है।

बस्ति देने के पूर्व कुछ यास विषय ध्यान रखने के लिए चरक ने कहा है—“बस्तिनीरिध्यः किमपेत्य दत्ते स्यात् सिद्धिनान् अर्थात् किन-किन बातों की अपेक्षा कर बस्ति देनी चाहिये जिससे वह सफल होगी ऐसा प्रश्न सिद्धि स्थान के तीसरे अध्याय में प्रारम्भ में ही उपस्थित किया है। इसके उत्तर में कहा गया है कि, बस्ति नियत गुण के अनुसार तभी सिद्ध (सफल) होती है, जब वह—

१. दोष
२. औषध
३. देश
४. काल
५. सात्रय

६. अग्नि
७. सत्त्व
८. औके
९. वृद्य
१०. बल इनका

यथावत् विचार कर ली जाती है।<sup>१५</sup> उपर्युक्त घटकों का संक्षेप में यहां विचार किया जाता है। इनके अधीन पूर्वकर्मों के नियमों को बराबर जानकर उनका पालन करना चाहिये। उपर्युक्त घटकों का विचार यहां प्रस्तुत करते समय जहां संदर्भ दर्शक चिन्ह न हो वहां का प्राप्त श

अध्ययन विषय च. नं. १५, च. नं. १८, च. नं. २८ तथा तत्त्व रोगाभ्यायों से लिया गया है वहां देखना चाहिये।

**१. दोष विचार—** दोष की दृष्टि से बस्ति यह वात की प्रधान विकित्सा है। तथापि पित और कफ के गेंगों में भी औषधि येद से बस्ति साफल होती है। वात के लिए बस्ति सर्वोत्कृष्ट चिकित्सा है, इतना कहने मात्र से दोष के सभी विषय शात नहीं होते। अपितु दोष का सूक्ष्म विचार कर कहां कौनसी बस्ति योग्य होगी इसका विचार किया जाता है। वोषों का क्षय, वृद्धि, समता, ऊर्ध्वदेह गमन, अधोदेह गमन, तिर्यग्गमन, शाखाश्रयित्व, कोष्ठाश्रयित्व, मध्यम मांश्रयित्व, स्वदेश गमन, परदेश गमन, स्वतंत्रत्व-प्रतीक्षा, अंशांश विकल्पना, धातु विशेषश्रयत्व और काल-प्रकृति आदि का विचार कर योग्य बस्ति का निर्णय करना चाहिये। वोषों के क्षय में दोष अपने-अपने लक्षणों (कार्यों को) को छोड़ देते हैं। ऐसी अवस्था में बृहण बस्ति, बल्य वर्ण, उत्स्वेशन बस्ति आदि तथा तस्दृश अन्य बस्तियों का विचार करना चाहिये। दोष वृद्धि में दोषहर बस्ति, शोधन बस्ति, तीर्ण्य बस्ति विचाराह है। शरीर के ऊर्ध्वधार में शिर, उत्तमांग अथवा जड़धर्व दोष जाने पर (ऊर्ध्वधार गमन) प्राणवातु के लिए ऊर्ध्वानुलोमन, शमन, अनुलोमन, सभी कीमों की उपवेष्यत हो तो बस्ति का कार्य अधोदेह गमन—उत्तराहरण उत्सर्तमें आम और कफ उठ में अवस्थित हो तो बस्ति का कार्य नहीं होता। पाद, जानु, जंघा, शूल में युद्ध दोष लक्षणों में तत्त्व बस्ति प्रयोज्य है। रक्तांशु या क्षय में शमन बस्ति, वर्णयों वाले बस्ति, रक्त बोल्स का विचार उपादेय है। मासगत दोषों में शास्त्र, श्वारानि कर्म का प्राधान्य है—तथापि लेखन बस्ति विचाराह है। मासगत वात में वृहण बस्ति लाभप्रद होती है। मेंदोगत दृष्टि में लेखन बस्ति, कर्षण बस्ति विचाराह होती। अस्थिगत वात में—अस्थि दृष्टि विकारों में, रक्त सवृक्त-समृक्त-शीर बस्ति का उपयोग होता है। मज्जा दोषों में स्वादु और तिक्तस्त्रक्ष के द्रव्यों से शमन, बृहण बस्ति उपर्युक्त है शुक्रगत दोषों में बाजीकरण बस्ति देनी होती।

कोष्ठ में आमाशयगत दोष हो तो वमन, पक्वाशय में हो तो विरेचन और बस्ति का विचार होगा। मध्यम रोग मार्ग हृदय, बस्ति, मूर्धा, अस्थिसंपीड़ि, स्नायु, कंडरा इत्यादि है। इनमें तत्तद रोगानुसार योग्य बस्ति देनी चाहिये। जिस देश में दोष है उसका (स्वस्थान या अन्यस्थान) विचार भी करना चाहिये और स्थान के अनुकूल कर्म करें। आमाशय कर्फ का चिकित्सा का ही महत्व समझना चाहिये। पक्वाशय में कफ हो तो उष्ण गोमूत्र संयुक्त बस्ति देनी होगा। पित संस्कृष्ट दोष पक्वाशय में हो तो शीर संयुक्त निरुद्ध तथा मधुरैषय सिद्ध अनुवासन देना होगा।

चिकित्सा ऐसी करें जो अन्य की प्रतिकूल न हो। उदाहरण ग्राणवृत्त समान वायु—जिसमें जड़त्व, गदगदत्व और पूर्णत्व होता है, इसमें चर्नः स्नेह तथा यामन बस्ति का प्रयोग हितवह होता है।<sup>१६</sup> उदाहरणत्व अपान ये छंडित रूपासादि लक्षण होते हैं, इसमें बस्ति तथा अनुलोमन (विरोक्त) दोनों का उपयोग लिया जाता है।<sup>१७</sup> दोषों की सामता, निरामता (वाल प्रकृति) भी

बस्ति में विचारार्थ है। यदि केवल आम का प्राणान्य हो तो आंतर पान करना चाहिये। आंतर पान—पेय को कहते हैं—दीपन और पाचन पेय निकट अम्ल और लवण के साथ देनी चाहिये। आम दोषों में बस्ति निविद्ध है।<sup>१०</sup> अतएव आमावात, उरुसंभ इत्यादि में बस्ति सफल नहीं होती। दोष के अनुसार सामान्य सूख यह है कि वात का प्राणान्य हो तो मधुर-अम्ल और लवण के साथ स्नेह युक्त बस्ति देनी चाहिये और पित का प्राणान्य हो तो, मधुर, संयुक्त बस्ति देनी चाहिये।<sup>११</sup> दोष के अनुसार बस्ति संख्या का भी निर्णय किया जाता है। कफज विकार में १ से ३, पित विकार में ५ से ७ और वात विकार में ९ से ११ बस्ति दी जाती है।<sup>१२</sup> इसी तरह वात में स्नाध उच्छा और मास रस के साथ एक निरुह, पित में मधुर, शीत और दूध के साथ २-२ बस्तियाँ और कफ में गोमूर्युक्त कटु, खार, तीर्थगोषध संयुक्त ३ बस्तियाँ देने का भी विधान है।<sup>१३</sup>

इस तरह दोष का कुछ उदाहरणस्वरूप विचार किया गया है इसमें और सूक्ष्म विचार किया जा सकता है जो अधिक से-अधिक सूक्ष्म विचार कर सकता है वह तर्क से, उदाहोह से, उचित निर्णय करने में अधिक क्षम हो कर बस्ति चिकित्सा में उचित साफल्य प्राप्त कर सकता है।

२. औषध—आम्बंतरौषधि के उपयोग में जो-जो बातें विचारार्थ कही गई हैं, वे सब बस्ति औषधि के लिए भी उपयोग हैं। औषधि का तरुणत्व (नवीनत्व), वृद्धत्व, (पुरानी औषधि), आर्द्धत्व, शुष्कत्व, द्व्यांतर संयुक्तत्व स्वरगदि कल्पना योगित्व, रसवीर्य-विपाक प्रभावादि का विवेक कर औषधि प्रयोग किया जाता है। औषधि में निन्नलिखित प्रकार की औषधि बस्ति क्रिया में दुष्ट मानी गई है।<sup>१४</sup>

३. आमता—बस्ति प्रयुक्त औषध आम न हो। अर्थात् कवाय, मांसरस, स्नेह, इत्यादि में यथोक्त पाक करना चाहिये। बस्ति प्रयुक्त स्नेह खरपक सिद्ध होना चाहिये। कवाय में यथोक्त द्रव्यों का चतुर्थांश, अष्टमांश या षोडशांश, या जैसा कहा गया हो वैसा पाक करना चाहिये। गांसरस, दूध, कल्कादि द्रव्य भी यथाकृत सिद्ध करें।

४. हीनता—ओषधि जितनी मात्रा में कही गई हो उतनी मात्रा में न लेना हीन दोष है। वह अयोग में कारण होता है।<sup>१५</sup>

५. अतिमात्रता—उक्तमान से अधिक मात्रा में द्रव्य लेना अतिमात्रता दोष है। यह कल्प आम्भान, अतिसार, उत्पन्न करता है।<sup>१६</sup> हीनमात्रता और अतिमात्रता के अनुसंधान में निरुह की उचित मात्रा यहाँ प्रस्तुत की जाती है।

६. बचानुसार निरुह मात्रा<sup>१७</sup>—निरुह की मात्रा १ वर्ष के बालक के लिए अर्थ प्रस्तुत होती है। तत्पश्चात् प्रति वर्ष आर्थी प्रस्तुत अधिक लेनी चाहिये। इस तरह १२ वर्षयु तक करें, तत्पश्चात् प्रतिवर्ष एक प्रस्तुत बढ़ाकर १८ वर्षयु तक मात्रा निर्णय करें। वही प्रमाण ७० वर्षयु तक अधिकर है और तत्पश्चात् १६ वर्षयु के प्रमाण में बस्ति देनी चाहिये। बायभ ने वही प्रमाण प्रकुच में दिया है। दो प्रकुच की १ प्रस्तुत होती है। बचानुसार यह बस्ति प्रमाण तालिका में स्वृप्त किया जाता है।

## बस्ति-विज्ञान

## निरुहमात्रा-तालिका

क्र.	वय	ब्रकोक्त मात्रा	बायभटोक्त मात्रा	प्रकुच में प्रस्तुति में
१.	एक वर्षयु के लिए	१ प्रकुच	१ प्रकुच	४ तोला
२.	दो वर्ष की आयु वालो को	२ प्रकुच	२ प्रकुच	६ तोला
३.	३ वर्षयु वालो के लिए	३ प्रस्तुति	३ प्रस्तुति	१२ तोला
४.	४ वर्षयु वालो के लिए	४ प्रस्तुति	४ प्रकुच	१६ तोला
५.	५ वर्षयु वालो के लिए	५ प्रस्तुति	५ प्रकुच	२० तोला
६.	६ वर्षयु वालो के लिए	६ प्रस्तुति	६ प्रकुच	२४ तोला
७.	७ वर्षयु वालो के लिए	७ प्रस्तुति	७ प्रकुच	२८ तोला
८.	८ वर्षयु वालो के लिए	८ प्रस्तुति	८ प्रकुच	३२ तोला
९.	९ वर्षयु वालो के लिए	९ प्रस्तुति	९ प्रकुच	३६ तोला
१०.	१० वर्षयु वालो के लिए	१० प्रस्तुति	१० प्रकुच	४० तोला
११.	११ वर्षयु वालो के लिए	११ प्रस्तुति	११ प्रकुच	४४ तोला
१२.	१२ वर्षयु वालो के लिए	१२ प्रस्तुति	१२ प्रकुच	४८ तोला
१३.	१३ वर्षयु वालो के लिए	१३ प्रस्तुति	१३ प्रकुच	५२ तोला
१४.	१४ वर्षयु वालो के लिए	१४ प्रस्तुति	१४ प्रकुच	५६ तोला
१५.	१५ वर्षयु वालो के लिए	१५ प्रस्तुति	१५ प्रकुच	६० तोला
१६.	१६ वर्षयु वालो के लिए	१६ प्रस्तुति	१६ प्रकुच	६४ तोला
१७.	१७ वर्षयु वालो के लिए	१७ प्रस्तुति	१७ प्रकुच	६८ तोला
१८.	१८ वर्षयु वालो के लिए	१८ प्रस्तुति	१८ प्रकुच	७२ तोला
१९.	१९ वर्षयु वालो के लिए	१९ प्रस्तुति	१९ प्रकुच	७६ तोला
२०.	२० वर्षयु वालो के लिए	२० प्रस्तुति	२० प्रकुच	८० तोला

११. प्रस्तुति या १६ तोला यह बस्ति का परम प्रमाण है, यह ध्यान में रखना चाहिये।  
मुकुत ने जास्तापनबस्ति का प्रमाण आतुर के हस्त प्रमाण से दो प्रस्तुति चार प्रस्तुति और अठ प्रस्तुति क्रमशः हीन मध्यम और उत्तम प्रमाण बताया है।<sup>१८</sup> तथा आस्थापन का परम प्रमाण १२ प्रस्तुति का कहा है।

शार्ङ्गधर और भावप्रकाश ने निरुह की उत्तम मात्रा १<sup>१</sup> प्रस्थ (८० तोला) मध्यममात्रा १ प्रस्थ (६४ तोला) और हीनमात्रा १ कुडव (४४ तोला) कही है।<sup>१०</sup> यह युवा व्यक्ति (Adult) के लिए उक्त मात्रा समझनी चाहिये और तद्दुसरा बालकों और वृद्धों में अपेक्षाकृत मात्रा निर्णय करना चाहिये।

२. ३. बस्ति द्रव्यों में स्नेह की मात्रा<sup>११</sup>— निरुह बस्ति में स्नेह की मात्रा वात प्रथान दोषों में व्याधी की चतुर्थांश, वित्तधान दोषों में तथा स्वस्य पुरुषों में व्याधी से व्याधीना, और कफप्रथान दोषों में अष्टमांश स्नेह, तथा सर्व दोषों में स्वस्थों में पंचमांश स्नेह लेना चाहिये। यह प्रमाण द्वादशप्रसृति बस्ति का है, जिससे वात के विकार में ३ प्रसृति (२४ तोला) पित्तविकार में २ प्रसृति (१६ तोला) और कफ विकार में १<sup>१</sup> प्रसृति (१२ तोला) तथा सर्व लगभग १। प्रसृति (१८ तोला) स्नेहमात्रा होती है।

४. ५. अति शीतता, अति उष्णता<sup>१२</sup>— बस्ति द्रव्य अधिक शीत या अधिक उष्ण नहीं होने चाहिये। अति शीत बस्ति वात को बढ़ाती है, विवर्ध करती है और आध्यान करती है। अति उष्ण बस्ति मूर्छ्छ, दाह, अतिसार उत्पन्न करती है और पित को बढ़ाती है। शीत बस्ति गांठों में जकड़ाहट भी करती है।

६. ७. अतिशीत्या, अति घुड़ता<sup>१३</sup>— औषध अतिशीत्या हो तो दाह अतिसार, मूर्छ्छनि उष्णगुणोंके विकार उत्पन्न करता है और अतिसुड़ बस्ति औषध शीत द्रव्य के समान विवर्ध, आध्यान उत्पन्न करता है।

८. ९. अतिसिन्धर्थता, अति रुक्षता— अतिसिन्धर्थ द्रव्य शरीर में जाइया (गुरुता) उत्पन्न करते हैं और अतिरुक्ष द्रव्य वात को बढ़ाते हैं।<sup>१४</sup>

१०. ११. अतिसांक्रता, अतिद्रवता— अति सांक्र अर्थात् बहुत गाढ़ द्रव्यों से दी हुई बस्ति जल्दी वापस नहीं आती और बहुत पतली बस्ति अयोग करती है। अर्थात् वापिस तो जल्दी निकल जाती है लेकिन शोधन ठीक नहीं करती।<sup>१५</sup> इस तरह बस्ति औषध को उपयुक्त गोष्ठों से मुक्त हो तब प्रयोग करना चाहिये। औषध के विषय में और ज्ञातव्य आते निम्नलिखित प्रकार की हैं।

१. जिन गोष्ठों में शोधन करना उचित होता है उन कुछ प्रमेह मेंदोरोग आदि में बृहंण द्रव्यों से संयुक्त बृहंण बस्ति का प्रयोग करापि न करें।<sup>१६</sup>

२. जो क्षतक्षीण गोष्ठ से पीड़ित है, शोष से पीड़ित है, मूर्छ्छित है, अत्यंत तुर्बल है, जिनका शोधन किया गया है, ऐसे आतुरों में शोधन बस्ति करापि न करें।<sup>१७</sup>

३. बातित्रव्य संमेलन विधि— बस्ति द्रव्यों के संमेलन की (मिलाने की) खास पद्धति है। सर्व प्रथम मधु और सैंख्य के मिला लेना चाहिये। तत्त्वश्चात् स्नेह मिलाकर मथनिका से अच्छी तरह मिला लेवे। किन्तु इसमें कल्क डालकर मिला लेना चाहिये और अंत में बलाश मिलाकर मयनिका (खज) से अच्छी तरह मिला लेना चाहिए।<sup>१८</sup>

४. बस्ति द्रव्यों को गरम करने की भी खास पद्धति है। प्रत्यक्ष अनिपर इनको गरम नहीं करना चाहिये। आग पर रखे दुए बड़े जलपात्र में बस्तिद्रव्य का छोटा पात्र रखकर, गरमपानी से या वाष्प से इसे गरम किया जाता है।<sup>१९</sup>

५. बस्ति औषधियों में प्रायः करक द्रव्यों का उत्त्वेष शास्त्रकार ने तत्त्वद्रूपकरण में

किया है, तथानि जिस बस्ति के पाठ में कल्क द्रव्य का पाठ न दिया हो वहाँ 'पूतो यवान्यादि कल्क' डालना चाहिये। पूतोवाचा चादि कल्क में—अजवाइन, मदनफल, बिल्व, कुष्ठ, वचा, सौफ, मुस्तक, पिपली इनका चूर्ण बनाकर यह सभी बस्तियों में मधु, बी, तैल, गुड़ और लवण के साथ प्रयुक्त करना चाहिये।<sup>२०</sup>

६. देश— भूमि और आतुरदेह प्रकार से देश दो प्रकार का होता है—

'भूमि देश—जांगल, आनुप और साथारण ३ प्रकार के हैं। जांगल देश वातप्रथान, आनुपवेश कफ प्रथान और साथारण देश सम प्रकार का होता है। इनके अनुसार संभव्य चातादि विकार तथा देशगुण के विपरीत गुणों वाली भेषजसिद्ध बस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

आतुरदेश—आतुर देश - या आतुर के विषय के सभी पूर्वकर्म इसमें समाविष्ट होते हैं।

आतुर सिद्धक्ता— बस्ति में पूर्व आतुर का स्नेहन और स्वेदन करना चाहिये।<sup>२१</sup> स्नेहन में यहाँ तेलाभ्यंग मात्र अपेक्षित है क्योंकि बस्तिपूर्व अर्थात् उत्तेजन का आदेश नहीं है।

विलक्षण देशप्रदेश पर ताप स्वेद, या उष्णाजल की थैली (Hot Water bag) रखकर स्वेद करें। अथवा बालुका लस्व, इंट इत्यादि से स्वेदन करना चाहिये। यदि आतुर अत्यंत रुक्ष शरीरवाला हो तो अनुवासनाहै होते हैं तो पहले अनुवासन देना चाहिये। यदि आतुर अत्यंत रुक्ष शरीरवाला हो तो पहले दो या तीन अनुवासन बलियां देकर उसे निरुह के लिए तैयार करना चाहिये।<sup>२२</sup> अनुवासन के लिए—१. आतुर अत्यंत रुक्ष शरीरवाला होना ये दो अवस्थाएं कही हैं। तथापि सुश्रुत ने आस्थापन के पूर्वकर्म में सामन्यतः अनुवासन करने का निर्देश किया है।<sup>२३</sup> इस तरह आतुर सिद्धक्ता में अभ्यंग, स्वेदन और अनुवासन ये तीन पूर्वकर्म होते हैं। बस्ति के पूर्व अनुवासन से ही स्नेहन करना इच्छनीय। इसी तरह प्रत्येक निरुह में स्नेह होता ही है, अतः तत्त्व देशप्रदेश निर्विद्ध है। निरुह देने के पूर्व आतुर निरुहणाहै या नहीं इसकी अवश्य परिदेश करनी चाहिये।

इस तरह आस्थापनाहै आतुर को शुक्तनप्त में अच्छादिन, मुहूर्त—देखकर प्रशस्त दिन में—जो उद्दित हो, पहले किये जाने के जीर्ण होनेपर जोन का उपक्रम करें। यहाँ हारीतसहिता में कुछ उल्टा संदर्भ है। हारीत ने कृष्णपत्त में बस्ति देने का निर्देश किया है। इसमें हेतु दिया है कि गोष्ठों की चिकित्सा उनके जन्मपात्र में हो जाए। शुक्तनप्त में देवों का जन्म हुआ है और कृष्णपत्त में गारस्त तथा गोष्ठों का जन्म हुआ है। इसमें देवों की चिकित्सा करें।<sup>२४</sup> जेज्जटायाचार्य के मतानुसार नसन आदि देखकर बस्ति देना यह रक्षण प्रभाव के लिए आवश्यक है, शुक्तनप्त में धातुसाम्य आदि देखकर बस्ति देना प्रशस्त है।<sup>२५</sup> शुभनस्त्र, पत्त, इत्यादि का विचार रहता है अतः शुक्तनप्त में बस्ति देना प्रशस्त है।<sup>२६</sup> शुभनस्त्र, पत्त, इत्यादि का विचार भारीय परापरा में सभी अच्छे कार्यों में किया जाता है। बस्ति निकलना एक उपकरण है और इसी दृष्टि से यह दिवार उपादेश समझना चाहिये। किन्तु गोष्ठों नेत्रवेत्त तिथि, पत्त के लिए राह नहीं देखते। अतः आत्यधिकता में कभी भी यह कर्म करना चाहिये। भारतीय आतुर के प्रन पर इन सब बातों का खूब प्रभाव होता है। अनुभव ऐसा है कि विशेष आत्यधिकता न हो तो आतुर कृष्णपत्त में आतुरालय में भरती होना, आतुरालय से मुक्ति लेना भी परसंद नहीं

करते। अतः जहाँ रसायनादि द्वारा से शोधन स्वरूप पचकर्म करना हो वहाँ पर नक्षत्रादि का विचार करें। इससे आतुर को मानसिक बल मिलता है।

**४. काल—** काल ऋषुभेद तथा व्याधवस्था के अनुसार दो प्रकार का होता है। दोनों के अनुसार बस्ति का विचार करना चाहिये। ऋषुभेद के अनुसार निरुक्त के लिए विशेष नियम नहीं है। अनुवासन के लिए खास नियम हैं उनका विचार अनुवासन प्रकारण में किया गया है। व्याधवस्था के अनुसार कहाँ-कहाँ कौनसी बस्ति देनी चाहिये इसका वर्णन आगे बस्ति के कातिपय योग देते समय किया गया है। काल में उपर्युक्त दो के अतिरिक्त पंचकर्म क्रम में निरुक्त कब देना चाहिये यह एक विचार आता है। सामान्य नियम यह है कि वर्मन के १५वें दिन विरेचन किया जाता है और विरेचन के ७ दिन के बाद निरुक्त है। १५वें दिन अनुवासन देकर उसी दिन शाम को या दूसरे दिन निरुक्त हिया जा सकता है। वाराघट ने १५वें दिन के अंतर से को कहा है विरेचन के ७वें दिन अनुवासन देना चाहिये और इस तरह एक दिन के अनुवासन बस्तियाँ देकर १५ दिन के बाद (या १५वें दिन) निरुक्त देना चाहिये।<sup>१५</sup>

**५. सात्त्व—** आहार—भोजन—यानादि का विचार सात्त्व कहलाता है। भोजन के बिना या प्रथम भोजन के जीर्ण होने के बाद ही निरुक्त हिया जाता है। निरुक्त हमेशा निरञ्ज या अभुक्तभक्त को ही दिया जाता है, तथानि यह ध्यान है कि आतुर शुद्धार्थ न हो। भोजनोत्तर दिया हुआ निरुक्त छार्दि, विषूचिका को उत्पन्न करता है।<sup>१६</sup>

**६. अग्नि—** अत्यन्त मदवानिवाले आतुर को निरुक्त नहीं देना चाहिये। उसे दीपन, पाचन अग्निवर्धन चिकित्सा कर फिर निरुक्त दे।

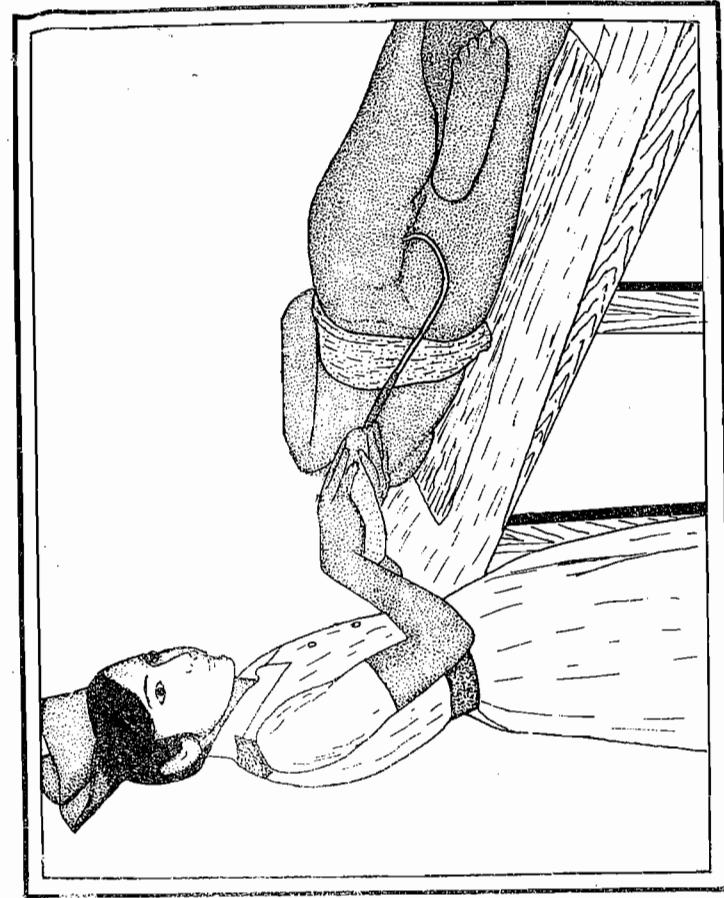
**७. सत्त्व—** मन के प्रवर्त, मध्य और अवर दशा के अनुसार आतुर क्वेश महन करने में कम ऊदादा क्षम होता है। सत्त्व परीक्षा द्वारा बस्ति के तीक्ष्ण अथवा मृदुबस्ति का निर्णय करें। प्रब्रह्मसत्त्व का आतुर अत्यं वेदना को भी अधिक बताता है और इस कारण बस्ति उपर्युक्त समझने में वैद्य की भूल हो सकती है। प्रवर्त सत्त्व का आतुर अत्यं वेदना को भी सहन कर लेता है—विसम्बोधी बस्ति के उपर्युक्तों की गंभीरता ध्यान में नहीं आ सकती। अतएव बस्ति देने के पहले आतुर की सत्त्व परीक्षा करना हितकर है।

**८. ओक्ट—** अत्यन्यस सात्त्व को ओक कहते हैं। आतुर को व्यास क्षया सात्त्व है और व्यास असात्त्व है, यह परीक्षा से निरिचित कर लेना चाहिये। ओक सात्त्व के अनुसार पांसरसादि से सिद्ध बस्ति उम आतुर में दो जा सकती है या नहीं इसका ज्ञान होता है। स्नेह सेवियों को कौनसी बस्ति है, दूध, मधु, गुड़ादि से सिद्ध बस्ति कहां पर देनी चाहिये इत्यादि का निर्णय किया जा सकता है।

**९. वय—** वयानुसार बस्ति द्रव्य की मात्रा, नेत्र की लंबाई, परिणाह, लिंद इत्यादि का विचार पहले किया गया है। सामान्यतः बस्ति के लिए कोई भी वय का निषेध नहीं है। बाल्य, योवन और वार्धक्य तीनों वयों में बस्ति उपक्रम किया जा सकता है। काशय पर बस्तियोग्य वय की मनोरंजक चर्चा की है<sup>१७</sup> वृत्तियों ने बस्ति योग्य वय की चर्चा की—तब गर्यां ने कहा कि बस्ति, जन्म से ही दो जा सकती है। माठर नाम के मुनि ने मत प्रदर्शित किया कि यह ठीक नहीं है—जन्म के बाद एकमास के अनंत बस्ति दी जा सकती है। अत्रेय पुनर्वसु के मत से (चरक संहिता के प्रणेता आज्ञेय पुनर्वसु ये नहीं प्रतीत होते) बस्ति ५ मास के वय से दी जा सकती है। अन्यमत (नाम नहीं है) के अनुसार बालक जब सत्त्वपान के साथ ऊपर का दृढ़-

धी लेना शुरू करें उस वय से बस्ति देनी चाहिये। भेल का कथन है कि छँ वर्ष की उम्र के बाद ही बस्ति देना उचित होता है। इस चर्चा पर काशय पर निर्णय दिया कि जब बच्चा जमीन पर रिखसकना शुरू करें, जब कुछ अब खाना शुरू करें तब बस्ति देनी चाहिये। यह काल सामान्यतः ८ मास से एक वर्ष का समझना चाहिए।

#### बस्ति-प्रणिधान



**विशेष—** उपचारिका प्राचीन विधि के बस्तियां से बस्ति दे रही है। आतुर को वाम पार्श्व पर लिटाया है। वाम सविक्ष को सीधा रखकर दक्षिण सविक्ष को संकुचित कर रखा है। गुदा में बस्ति के लिए रबरनलिका प्रविष्ट की है। जिसको बास्तिनेत्र सन्नद्ध किया गया है।

**१०. बल—** सहज, युक्तिकृत और कालकृत ऐसा तीन प्रकार का बल होता है। आतुर बल पर तोक्षावस्ति, मृदुवस्ति, उष्ण, स्निग्धादि गुण विशिष्ट बस्ति इत्यादि में से कौनसी देनी है इसका निर्णय कर सकते हैं। अति दुर्बलों में बस्ति निषिद्ध है। उन्हें युक्तिकृत-सामान्यतः बल हेमतादि वृद्धियों में कालप्रभाव से बढ़ता है। उस चिकित्सा करनी चाहिये। कालकृत बल हेमतादि वृद्धियों में मतुष्य क्षम होता है। अतः समय सभी प्रकार के अपचय और वस्तेशों को महन करने में मतुष्य क्षम होता है। अतः दुर्बलों में कालकृत बल बढ़ने पर बस्ति दी जा सकती है।

इस तरह बस्ति के पूर्व जो विषय महत्वपूर्ण है, उनका निर्देश किया गया है। इनका विचार अनुवासन और उत्तरवास्ति के लिए भी करना होता है। अतः आगे इनका प्रिवेट प्रेषण न कर केवल अनुकृत विषयों को ही स्पष्ट किया जाएगा।

### २. प्रधान कर्म

बस्ति देने के प्रधान कर्म में निम्नोक्त विषयों का अनुसरण करना चाहिए।

#### १. बस्ति प्रणिथान

##### २. बस्ति प्रत्यागम एवं निरीक्षण

##### ३. योगायोगाति योग लक्षणों का निरीक्षण

१. बस्ति प्रणिथान<sup>१०८</sup>— पूर्वोक्त विषय से बस्ति द्रव्य मिलाकर (गाथिके लक्षण स्मृत कल्पक व्याख्यामिति क्रमात्) तैयार रखें। बस्तियन्त्र—नेत्र—पुटक को बांधकर तैयार रखें। इस बस्तियन्त्र का नेत्र सीधा गुदा में प्रविष्ट किया जा सकता है तथापि पस्तेदस्तद्यूब-एनिमा द्यूब का उपयोग करना हितावह होता है। सब साधन एकत्र कर आतुर को टट्टी और पेशेब से निवृत्त करकर अभ्यंग और स्वेदन करावे। अभ्यंग-चंदनबलालाशादि तैल, धान्यन्तर तैल, पच्युण तैल, क्षीर बला तैल इत्यादि में से योग्य तैल से संपूर्ण शरीर का आभ्यंग करें। शोण, उरु, स्फिंग, कटि पक्वाशय पर विशेष अभ्यंग करें। फिर पोटली या तापस्वेद से स्वेदन कराकर बस्ति टेबल पर लिटा देवे।

बस्तियन्त्र के नेत्र मुख्यपर कपास का पित्तु रखकर उसे—अथोमुख रख-पुटक को ऊपर पकड़कर सुखोष्ण खज से मथन किया हुआ मात्रायुक्त बस्ति द्रव्य पुटक में भर दे। पुटक में द्रव्य भरते समय नेत्र मुख्यपर एक अंगुली रखनी चाहिए। बस्ति द्रव्य पुटक में उतना ही भरना चाहिए जिससे ऊपर बाधने के लिए रिक्तावकाश रह जाये। पुटक के ऊपर डोरी से कसकर बांध दे ताकि बस्ति द्रव्य बाहर स्थावित न हो। फिर यह बस्ति यंत्र सद्रव्य तैयार हो गया।

मध्यनाविधि—स्थान विधि को खास ध्यान में रखना चाहिए। अतुर को वामपाश्वपर—बायें करवट तिरहना न देते हुए मुलाना चाहिए। आतुर अपने ही जायगा द्विर रखकर सोये। उसका बाया पांव बिलमुत्त सीधा रखना चाहिए और दाहिना पांव जानु साथ से तथा वक्षपास साथ से निकृचित कर दुकाकर रखना चाहिए। इस अवस्था में गुद, स्फिंग, श्रोणि का भाग ठीक तरह से बस्ति द्वाता के सामने आता है यही अवस्था अर्ण परीक्षा में भी उपयुक्त होती है। गुदा में तैल (जात्यादि तैल या पद्मादि तैल—) या चृत लगाकर लिंगाध कर, खर की पल्टेस द्यूब भी लिंगाध कर दें। सौ १०० में सौ १०० इन तक अंदर धीर-धीर पृष्ठवंश के समांतर रखते हुए प्रविष्ट करावे। यदि केवल नेत्र से ही बस्ति देनी हो तो अनुप्रृष्ठवंश—नेत्र उतना अंदर प्रविष्ट कराने जिससे कर्णिका गुदौष्ट तक लग जाए। द्यूब प्रविष्ट कराने के बाद द्यूब के दूसरे गुद को बस्ति नेत्र जोड़ दे। तर्तुर्व बस्तियन्त्र के मुख में करती हैं। जिससे बस्ति के बाद भी प्राकृत ढंग से मलप्रवृत्ति होती है। बस्ति द्रव्य के कुछ घटक—यथा तैल, धी, दृध, यासरस इत्यादि स्नेह के अपुप्रवण भाव के साथ ग्रहणी तक पहुंच कर वहाँ अग्निक्रिया को ग्रहणी अवयव को भावित कर स्थान बढ़ाते हैं।

किसी खास कारण से यदि बायें करवट पर लिटावे संभव न हो तो दायें करवट पर और ही कुद के बल पर लिटाकर भी बस्ति दी जा सकती है।

बस्ति प्रणिथान में साक्षात्यानी—बस्ति देते समय बस्ति बासर जाती है या नहीं इसका निरीक्षण करें। कभी-कभी बस्तिनेत्र प्रवेश करते ही, या कुछ द्रव्य प्रवेश होते ही कराना चाहिये। यदि बस्ति प्रक्रिया में वेगप्रवर्तन हो तो बस्ति नेत्र को निकाल लेवे और मलविसर्जन के बाद पुनः दूसरी बस्ति देनी चाहिये। फिर श्रोणि के नीचे तकिया रखकर कटीपक्वाशय को ऊपर उठा लेवे और उत्यादा देर तक बस्ति अंदर रह सकनी ऐसी अवस्था करावें, क्योंकि बस्ति अंदर रहने में ही अच्छी तरह कार्यकर होती है।<sup>१०९</sup>

समय आतुर को श्वास अंदर खींचने को कहना चाहिये। बस्ति द्रव्य अंदर चले जाते हैं या नहीं इसका निरीक्षण करें। नेत्र यदि तिरछा प्रवेश किया जाये तो धारा ठीक तरह से अंदर नहीं जा सकती और हस्तकंप हो तो युदा में क्षत हो सकता है। बहुत जल्दी से बस्ति न दे, और न बहुत धीरे से दे। बहुत जल्दी, और बहुत जोर से पुटक दबा दिया जाये तो बस्ति बोगा से अंदर प्रविष्ट होकर कंठ तक आने की संभावना होती है और बहुत धीरे से बस्ति देने से वह कार्यकर नहीं होते हैं।<sup>१००</sup>

बस्ति पक्वाशय में संपूर्ण नहीं देनी चाहिये। कुछ बस्ति द्रव्य पुटक में शेष रहे इतना ही पीड़न करें। क्योंकि निःशेष बस्ति देने पर पीछे रहा हुआ वायु भी अंदर प्रविष्ट होता है, जो पीड़ा करता है।<sup>१०१</sup> बस्ति देने के बाव नेत्र या नालिका को सावधानी से तुरन्त निकाल लेवे। फिर ३० मात्रा (लाभगा आधा मिनीट) तक वैसे ही आतुर को लिटाकर रखें। फिर उत्कट्कासन (उत्कट्किटाकर) में मलावेगों का विसर्जन कराने को करें। अगर आंगाहत के कारण आतुर बैठने में असमर्थ हो तो उसे स्थाया प्रतिग्रह (Bedpan) देना चाहिये। बृहण बस्ति, वल्य बस्ति, बाजीकरण बस्ति इत्यादि में बस्ति के बाव भी आतुर को लिटाकर रखकर स्फिंग पर थमथमी लगावे और बस्ति अधिक देर तक अंदर रोकने की कोशिश करनी चाहिए।<sup>१०२</sup> जब मलवेग स्वयं प्रवृत्त हो जाये तब उसे उत्कट्कासन में बिठावे।

यदि एनिमाकेन का उपयोग करके बस्ति दी गई हो तो वह स्वयं ही योग्य गति से प्रविष्ट होती है। अतः विशेष चिंता नहीं होती। लोकेन पुटक से दबाकर बस्ति देने में कर्मचारी जितना कुशल हो उतना 'अपने हाथ का कौशलत्य' (पाण्योर्जुनान) बताते हुए बस्ति दे। अन्यथा व्यापद होती है। अंदर श्वास खींचकर बस्ति पीड़न करने को कहा है। जब आतुर अंदर श्वास खींचता है, (Deep Inspiration) तब उसका गुद और पक्वाशय पर विसर्जनी क्रिया का अभाव होकर बस्ति मुक्तिधा से अंदर प्रवेश करती है।

बायामयाश्व पर लिटाने का हेतु— बायें करवट पर लिटाकर बस्ति देने का हेतु यह है कि गुदा की जलियां, मलाशय, पक्वाशय, ग्रहणी ये सब अवयव बायें करवट पर लेटने से समांतर (Plain) आजू में आते हैं, जिससे बस्ति अंदर पहुंचकर मलाशय अवस्था पक्वाशय के मल को टिस्तियकर सुखपूर्वक नापिस लाती है।<sup>१०३</sup> आंत्र की दीवारों को स्निग्ध और मुद्र करती हैं। जिससे बस्ति के बाव भी प्राकृत ढंग से मलप्रवृत्ति होती है। बस्ति द्रव्य के कुछ घटक—यथा तैल, धी, दृध, यासरस इत्यादि स्नेह के अपुप्रवण भाव के साथ ग्रहणी तक पहुंच कर वहाँ अग्निक्रिया को ग्रहणी अवयव को भावित कर स्थान बढ़ाते हैं। किसी खास कारण से यदि बायें करवट पर लिटावे संभव न हो तो दायें करवट पर और ही मध्यपाश्वपर—बायें करवट तिरहना चाहिए। आतुर अपने ही जायगा द्विर रखकर सोये। उसका बाया पांव बिलमुत्त सीधा रखना चाहिए। इस अवस्था में गुद, स्फिंग, श्रोणि का भाग ठीक तरह से बस्ति द्वाता के सामने आता है यही अवस्था अर्ण परीक्षा में भी उपयुक्त होती है। गुदा में तैल (जात्यादि तैल या पद्मादि तैल—) या चृत लगाकर लिंगाध कर, खर की पल्टेस द्यूब भी लिंगाध कर दें। सौ १०० में सौ १०० इन तक अंदर धीर-धीर पृष्ठवंश के समांतर रखते हुए प्रविष्ट करावे। यदि केवल नेत्र से ही बस्ति देनी हो तो अनुप्रृष्ठवंश—नेत्र उतना अंदर प्रविष्ट कराने जिससे कर्णिका गुदौष्ट तक लग जाए। द्यूब प्रविष्ट कराने के बाद द्यूब के दूसरे गुद को बस्ति नेत्र जोड़ दे। तर्तुर्व बस्तियन्त्र के मुख में करती हैं। जिससे बस्ति के बाद भी प्राकृत ढंग से मलप्रवृत्ति होती है। बस्ति नेत्र को निकाल लेवे और मलविसर्जन के बाद पुनः दूसरी बस्ति देनी चाहिये। फिर श्रोणि के नीचे तकिया रखकर कटीपक्वाशय को ऊपर उठा लेवे और उत्यादा देर तक बस्ति अंदर रह सकनी ऐसी अवस्था करावें, क्योंकि बस्ति अंदर रहने में ही अच्छी तरह कार्यकर होती है।<sup>१०४</sup>

२. बहिस्त्र प्रत्यागम एवं निरीक्षण  
बस्ति के वापिस आने का काल 'प्रत्यागम काल' कहलाता है। निरुह बस्ति का प्रत्यागम काल एक मुहूर्त (लगभग ४५ मिनट) का है। यह परम मर्यादा है।<sup>१०५</sup> यदि एक मुहूर्त में बस्ति बाहर न आये तो वह मृत्युकारक होती है ऐसा वाख्यत कहते हैं। यहां गृह्णसमान पीड़ाकारक होती है ऐसा अर्थ करना चाहिए। अनुभव से सिद्ध है कि शोधनार्थी ही हुई बस्ति उक्त सम्बन्ध में बाहर न आये तो कोष्ठ में आध्यमान, पकवाशयशूल, मृत्युशूल वात प्रतिलोमता और हृद्यप्रदेश में दबाव के समान पीड़ा इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। सुश्रूत ने भी कहा है कि वापस न आयी हुई बस्ति वात प्रतिलोमता, बिल्ड-भ, शूल, ज्वर अरति, और मृत्यु करती है।<sup>१०६</sup> यदि बस्ति वापस न आये तो निम्नलिखित उपाय करने चाहिये—<sup>१०७</sup>

१. यथव्यार, गोमूत्र, अन्तर्द्वय तथा तीक्षण, उषा औषधि से (निकट इत्यादि) संयुक्त दूसरी बस्ति तुरन्त देनी चाहिये।

२. फलवर्ती गुदा में प्रविष्ट कराकर बस्ति तथा मलों का प्रत्यावर्तन करायें।

३. श्रोणि, सिफा, वेक्षण, पकवाशय, पर स्वेदन करें। ग्रसम पानी की थेली से या अन्य उपाय स्वेदन करायें।

४. उत्त्रासन— खड़गादि दिखाकर आतुर को भयभीत करावे। यहां खड़गादि दूषणमात्र है। भीति से अतिसार होता है—इस तरह बस्ति विरेचन करावे। बस्ति प्रत्यागम होने तक बस्तिदाता रोगी का निरीक्षण करता रहे।

५. शोधन— विवृतचूर्ण, विकला या एंड स्नेहादि शोधन औषधि का प्रयोग कर बाहर आ सकती है।

६. योगायोगातिलक्षणों का निरीक्षण— बस्ति के सम्बायोग, अयोग और अतियोग के लक्षणों को देखकर तत्तदवस्था में योग्य उपाय करना चाहिये।

७. सख्या— योग लक्षण— जो बस्ति नाभिप्रदेश, कटि, पाश्वर्व कुक्षि तक जाकर संपूर्ण मल को इकट्ठा कर मल को और शरीर को (पकवाशय को) निन्मध कर देवों के साथ सुखपूर्वक निकलती है वह सम्भगदत्व बस्ति समझनी चाहिए।<sup>१०८</sup> बस्ति से सम्यक् प्रकार से शोधन हो तो निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं।<sup>१०९</sup>

८. प्रसुष्ट चिट्कता— मल स्वयं प्रवृत्त होता है।

९. प्रसुष्ट मूत्रता— मूत्र प्रवृत्ति स्वयं होती है।

१०. प्रसुष्ट वातता— अथेवात की सम्यक् प्रवृत्ति होती है।

११. क्लमश— मल, पित कफ और वायु का विसर्जन होता है।

१२. शरीर में हल्कापन लगता है।

१३. भोजन में रुचि उत्पन्न होती है।

१४. पकवाशय, मलाशय आदि आशयों में लघुता उत्पन्न होती है।

१५. रोगोपशमन— जिस रोग के लिए बस्ति दी गई हो उसके लक्षणों का प्रशम निलता है।

१६. प्रदूषनितिस्थता— रोगी स्वस्थ होता है।

१७. रोगी का बल बढ़ता है।

३. अद्योग के लक्षण—निरुह बराबर न दिया जाने पर या निरुह का कार्य बराबर न होने पर निम्नलिखित लक्षण विलते हैं।<sup>११०</sup>

१. रुजा— शिर, हृदय, नाभि, बस्ति, गुद और मेड़ या योनि में रुजा उत्पन्न होती है।  
२. शोथ  
३. प्रतिष्ठाय  
४. कर्तिका—गुदा में कैवली से काटने के समान वेदना होती है।  
५. हृल्यास: मुह से लालाक्षाव होता है।

६. बातसंग  
७. मूत्रसंग  
८. योग अल्पश: आता है, अस्तिद्वय कम आता है, और मल भी कम निकलता है।  
९. वेग अल्पश: आता है, अस्तिद्वय के जो लक्षण कहे गये हैं के लिए वेग अल्प होती है।  
१०. अरुचि होती है।

११. शरीर धारी हो जाता है। यहां प्रत्यागमार्थ निकितसा करें।  
१२. अतियोग के लक्षण— विवेचन के अतियोग के जो लक्षण कहे गये हैं के लिए निकलतीयोग से होते हैं।<sup>१११</sup> अर्थात्  
१३. अंगसुप्ति १४. अंगाद्वंद्व  
१५. निदा १६. वैर्बल्य  
१७. अतियोग के लक्षण निरुत्त होते हैं। वहाँ पर ग्राही, दीपन, पाचनादि उपाय करना चाहिये।

१८. अतियोग से स्वेदन करायें।  
१९. उत्त्रासन— खड़गादि दिखाकर आतुर को भयभीत करावे। यहां खड़गादि दूषणमात्र है। भीति से अतिसार होता है—इस तरह बस्ति विरेचन करायें। बस्ति प्रत्यागम होने तक बस्तिदाता रोगी का निरीक्षण करता रहे।

२०. योगायोगातिलक्षणों का निरीक्षण— बस्ति के सम्बायोग, अयोग और अतियोग के लक्षणों को देखकर तत्तदवस्था में योग्य उपाय करना चाहिये।

२१. सख्या— योग लक्षण— जो बस्ति नाभिप्रदेश, कटि, पाश्वर्व कुक्षि तक जाकर बाहर आ सकती है।

२२. योग लक्षण— जो बस्ति नाभिप्रदेश, कटि, पाश्वर्व कुक्षि तक जाकर विरेचन करायें। बस्ति प्रत्यागम होने तक बस्तिदाता रोगी का निरीक्षण करता रहे।

२३. सख्या— योग लक्षण— जो बस्ति नाभिप्रदेश, कटि, पाश्वर्व कुक्षि तक जाकर संपूर्ण मल को इकट्ठा कर मल को और शरीर को (पकवाशय को) निन्मध कर देवों के साथ सुखपूर्वक निकलती है वह सम्भगदत्व बस्ति समझनी चाहिए।<sup>१०८</sup> बस्ति से सम्यक् प्रकार से शोधन हो तो निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं।<sup>१०९</sup>

२४. प्रसुष्ट चिट्कता— मल स्वयं प्रवृत्त होता है।

२५. प्रसुष्ट मूत्रता— मूत्र प्रवृत्ति स्वयं होती है।

२६. प्रसुष्ट वातता— अथेवात की सम्यक् प्रवृत्ति होती है।

२७. क्लमश— मल, पित कफ और वायु का विसर्जन होता है।

२८. शरीर में हल्कापन लगता है।

२९. अपिन तीक्ष्णा होती है।

३०. रोगोपशमन— जिस रोग के लिए बस्ति दी गई हो उसके लक्षणों का प्रशम निलता है।

३१. प्रदूषनितिस्थता— रोगी स्वस्थ होता है, तथापि अमाशय और पकवाशय मांसरस युक्त भोजन करावे।<sup>१११</sup> निरुह से शोधन होता है, तथापि अमाशय और पकवाशय मांसरस युक्त भोजन करावे।

में अत्यधिक शोभ नहीं होता ! अतः वर्मन लिंगेचन के बाद जो संसर्जन क्रम आवश्यक होता है, वह क्रम बस्ति में आवश्यक नहीं है । तथापि अपिन को देखकर मंद तीरण्डा और समालस्य मुश्त ने पित प्रधान दोष हो तो दृध, कफ प्रधान हो तो गूष और वात प्रधान हो तो वाघट कहते हैं कि निरुह से चलायमान वोषों से जो विकारकारी न हो ऐसा मांसरस और मांसरस का भोजन देने को कहा है । अथवा सभी को विकारकारी न हो ऐसा मांसरस और भात का भोजन देना चाहिए । स्नान और मांसरसादि भोजन देना खास उल्लेख मिलता है ।

मांसरस का भोजन से तथा भोजन देने का भोजन होता है ।<sup>१५</sup> जांगल मांसरस की प्रसिद्धि सभी आचार्यों ने इत्यादि का भोजन देना चाहिए, दृध पिलावे । भोजन गुरु न हो तबा प्रतिदिन जितनी मात्रा में मानी है । शाकाहारी आतुरों को मूगा, चावल, उड्ढ, मसूर, तुवर, इनके सिद्ध यूष, कृशण इत्यादि का भोजन देना चाहिए । भोजन गुरु न हो तबा प्रतिदिन जितनी मात्रा में भोजन किया जाता है उसमें  $\frac{1}{3}$  मात्रा तक भोजन करावे । हो सके तो इससे भी और कम भोजन करावे । इस तरह अत्यं भोजन किये हुए व्यक्ति को सायंकाल में अनुवासन बस्ति दें ।

निरुह के बाद अनुवासन बस्ति देनी ही चाहिए । वह उसी दिन सायंकाल को दो प्रायः सायंकाल को अनुवासन देना, या रात्रि में अनुवासन देना माना किया है । लेकिन निरुह के बाद का अनुवासन शीतकाल या वसंत ऋतु में भी उसी दिन गत को देना चाहिए ।<sup>१६</sup> चक्रपाणि टीका में कहते हैं कि सामलक्षण उपस्थित हो, अग्निमात्र हो, तो उस दिन अनुवासन न देकर दूसरे दिन दिया जा सकता है । इस कथन के समर्थन में जटुलर्ण और हारित का वचन देकर दूसरे दिन अनुवासन देना उचित है ऐसा बताया है । निरुह से यदि पक्वाशय में क्षोभ उत्पन्न हुआ हो तो उसी दिन शाम को अनुवासनित देनी चाहिए ।

मुश्त के टीकाकार डल्हण कहते हैं कि निरुह के सम्यक् लक्षण गिलने पर ही अनुवासन देना चाहिए । उनिरुहों में नहीं देनी चाहिए । इससे चक्रपाणि के साम तथा अग्निमात्र लक्षण का निरास होता है, चर्योंकि सम्यक् निरुह में अग्नि बढ़ती है, और सामता रह नहीं सकती । निरुह के बाद वात प्रकोप का भय रहता है इसलिए प्रासाद, भात का भोजन देकर उसी दिन शाम को अनुवासन देना चाहिए ।<sup>१७</sup> मुश्त ने अनुवासन और स्नेहबस्ति ऐसी दो अलग-अलग स्नेहबस्ति का आधा प्रमाण अनुवासन में दिया जाता है । निरुह व्यक्तिको उसी दिन अनुवासन दिया जाये और, फिर अग्निबल देखकर वात की गति को समझकर अन दे कोष्ठ में सहाय होने पर (भोजनोत्तर) दूसरे दिन स्नेहबस्ति दे ।<sup>१८</sup> डल्हण कहते हैं कि सुनिरुह को अनुवासन देना चाहिए और अतिनिरुह अतिविक्त के समान ग्राही औषधियों, शीतपरिवेक और पित्तव्यादस्ति आदि देनी चाहिए न कि स्नेहबस्ति । विदेह का मत अपने समर्थन में देने हुए कि, विदेह भी कहते हैं कि अतिविक्त के समान ग्राही औषधियों, शीतपरिवेक और पित्तव्यादस्ति आदि देनी चाहिए दी जाती अपितु यहां ३ पल (१२ तोला) प्रमाण की अनुवासन बस्ति देना चाहिए और जहां स्वतंत्रताया स्नेहबस्ति देनी हो वही ६ पल (२४ तोला) की बस्ति देनी चाहिए ।<sup>१९</sup>

परिहार ११—जितने दिन तक जस्तिया दी जाती है उसमें, दुग्ने दिन आने पर्याप्त संभालना चाहिए । उतने कालतक अत्यासन, अस्थान में (स्वारी इत्यादि) बठना, जोर से बालेना, दिन में सोना, मैथुन बोगवरोध, शीत जलस्नान, धूप में धूमना,

उंडी हवा में धूमना, क्रोध—इनको छोड़ना चाहिए और लघु और काल के अनुसार हितका भोजन करना चाहिए ।

३. बस्ति व्यापद तथा प्रतिकार— बस्ति प्रक्रिया में उत्पन्न विकार बस्ति व्यापद कहलाते हैं । बस्ति व्यापद के मुख्य ३ प्रकार होते हैं—

१. बस्ति पुटक व्यापद्

२. प्रणता (बस्तिदाता) जन्य व्यापद

३. व्यापद कहलाते हैं । दुष्ट नेत्र व्यापद में हेतु होता है । इनका विचार पहले किया गया है, यहां व्यापद कहलाते हैं । दुष्ट नेत्र व्यापद में हेतु होता है । इनका विचार पहले किया गया है । यहां नेत्र नाम तो निर्देश किया जाता है ।

१. अति व्यस्त नेत्र से—बस्ति द्रव्य की पक्वाशय में अप्राप्ति होती है ।

२. अति दीर्घ नेत्र से—अति गति होती है ।

३. तनु नेत्र से गुदा में क्षोभ होता है ।

४. स्थूल नेत्र से अतिकर्षण होता है ।

५. जीर्ण नेत्र से—गुद्धणन होता है ।

६. शिथिल बंधन से द्रव्य बाहर गिर जाते हैं ।

७. पाश्वल्हिद से गुद्धीड़ा होती है ।

८. वक्रनेत्र से द्रव्यों की गति टेढ़ी होती है ।

व्यस्तुतः ये बस्ति व्यापद नहीं हैं । दुष्ट नेत्र को पहले ही त्याग सकते हैं । अतएव इनका उल्लेख पीछे किया गया है । यदि अनवराधन से दुष्ट नेत्र से व्यापद उत्पन्न हो तो उचित निकिस्या करें । अप्राप्ति में नेत्र बदल कर दूसरी बस्ति दे । अतिगति में प्रत्यागम तक निरीक्षण करें । प्रत्यागम हो जाये तो कुछ चिंता का कारण नहीं है । अप्रत्यागम में फलवर्ति, शोधन, नीरिक्षण बस्ति ये उपाय करें । गुदा में क्षोभ, अतिकर्षण, शणन, और पीड़ा हो तो जात्यादि तैल, जात्यादि थृत, पद्धकादि थृत, सुक्ष्म थृत, अर्गोर्शामक मलहर इत्यादि का लेपन करें । शिथिल बंधन से लाव हो तो उसे खोलकर, पुटक को दो कर्णिका के बीच में अच्छी तरह कस कर बांधकर पुनः बस्ति दे । पाश्वल्हिद और वक्र नेत्र को पहले से ही वर्ज्य करें ।

१. बस्तिपुटक व्यापद—बस्तिपुटक का वर्णन करते हुए जो दोष पहले कहे गये थे उनसे उत्पन्न उपद्रव पुटक व्यापद कहलाते हैं । वहां पीछे वर्णित विषय का पुनः स्मरण मात्र किया जाता है ।

१. विषम बस्ति से—गतिवैषम्य होता है ।

२. मांसल बस्ति से—विक्षणांधता होती है ।

३. छिद्रयुक्त बस्ति से—बाह्यतः साव होता है ।

४. स्थूल बस्ति—प्रहण करने के तकलीफ (दोग्राद्य) होती है ।

५. बालवाली बस्ति से—पेनिल जाग उत्पन्न होता है ।

५. अतिरिक्त बस्ति से—वह हाथ में से फिसलने से (च्युताधार्यत्व) बस्ति देने में तकलीफ होती है।
६. अतिविलक्ष बस्ति से—पकड़ने में मुश्किल होती है।
- उपर्युक्त व्यापदों में क २, ३, ५, ७, ८, ये वस्तुतः व्यापद नहीं हैं। उपर्युक्त प्रकार के हस्त की लागा करें। गतिवैधान्य में प्रत्याशा देखकर व्यथायोग्य उपाय करें। बातल बस्ति से हाग और चात प्रकोप हो तब वक्षमण्डण चिकित्सा करें।

३. प्राणेत् व्यापद्—बस्तिदाता को प्रणेता कहते हैं, प्रणेता को चाहिये कि वह अपना नहीं दी जाये तो निम्नलिखित व्यापद उत्पन्न होती है।<sup>१११</sup>

१. स्वातं बस्तिदान—यदि आतुर को अच्छी तरह इवास अंदर खींचने को न कहा जाये, बस्तिनेत्र को अच्छी तरह पुटक से न बांध दिया जाये, और सावशेष बस्ति देने का नियम पालन न किया जाये (अशेष दान) तो बस्ति द्रव्यों के साथ चाय भी गुदा में प्रविष्ट होकर क्वाशाय में शूल और तोद करता है। इस व्यापद में चन्दनबला लक्षादि तेल, शीरबला तेल, पंचगुण तेल, आदि से गुद एवं पक्वाशाय पर अध्यंग करें और गुद पर मुट्ठ स्वेद (वस्त्र, इष्टिका इत्यादि) करें।<sup>११२</sup>

२. द्वृष्ट प्राणीत बस्ति व्यापद—बहुत जल्दी से बस्ति नेत्र प्रविष्ट कराना, जल्दबाजी से निकाल लेना इससे गुदा, वंक्षण, जंधा, उठ तथा कटी में बेदन होती है बस्ति स्तंभ-बस्ति प्रदेश में जड़कड़हट या बस्ति से मूत्र विसर्जन किया का संघ होता है। ऐसी अवस्था में बातचं भोजन, यूष, मांसरस, मधुर ऊँचा स्निग्ध भोजन इथ, धी, भात, कृशरादि का सेवन करावें और अध्यंग तथा स्वेदन कराकर योग्य प्रकार से बस्ति दे। इतोत्क्रियन बेदना बातनाड़ी के प्रदोष से होती है अतः अनुवासन बस्ति या पिच्छा बस्ति भी इसमें दी जा सकती है।<sup>११३</sup>

३. तिर्यग् प्रणिधान—बस्तिनेत्र को तिरछा प्रविष्ट करने से वह गुदवलियों से पिहितमुख होकर द्रव्य अंदर जा नहीं सकता। इसी तरह बस्ति नेत्र में भी कुछ कवृत्त अटक गई हो तो अवस्था से बस्ति अंदर जा नहीं सकती। इस अवस्था में बस्ति नेत्र बाहर निकालकर, उसको साफ कर पुनः सीधा अनुपूर्वबंश प्रविष्ट करावें।<sup>११४</sup>

४. उल्लूप दन बस्ति—बस्ति पुटक को एक ग्रहण से अर्थात् एक ही बार समान भार से पीड़न कर दबाना चाहिये। बस्ति पुटक को बार-बार दबाना यह पीड़न दोष उल्लूप दोष कहलाता है। इस तरह बस्ति पुटक दबाते-दबाते बीच में छोड़ देने से गुदा में वायुक्रोप होता है और वक्ष शूल, शिरः शूल, उल्साद उत्पन्न होता है। ऐसे आतुर को बिल्ब, मदन फल, और रघामानितुतादि सिद्ध बस्ति गोमूत्र के साथ देनी चाहिये।<sup>११५</sup>

५. संक्षय बस्तिदान—बस्ति दबाना यदि नैन्य संपादित किया हुआ न हो तो नेत्र प्रदेश करते समय हाथ में कम्पकपी होती है। जिससे गुदा में रोध, अर्द्ध दाह उत्पन्न होता है। ऐसे आतुर को कम्पय मधुर रस दे रिसर्त दे। इसमें तोध, विषता, आगरवाय भोजाय, धाय, लद, खिदर, इत्यादि द्रव्यों का समावेश होता है तथा क्षाय एवं मधुर द्रव्यों के क्वाश से (द्राग्गदि) गुदाप प्रविष्ट करने कोशिश करने से गुद वलियों में ब्राह्म होता है और गुदा में बेदना, दाह, तोद होकर मत्र प्रवृत्ति के समय गुदा

का बाहर आना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। ऐसे आतुर को पिच्छा बस्ति, क्षीर बस्ति, देनी में रखें। यहां ध्यान रहे कि कर्किता के होते हुए बस्ति नेत्र बहुत अधिक अंदर जा नहीं सकता।<sup>११६</sup>

६. अतिप्रणीत में वस्तुतः गुदेष्ट पर कर्किता के द्वारा पीड़न होते से ही क्षणन होता है।<sup>११७</sup>

७. अतिबाहु तथा अतिमंद दन बस्ति—गुद का प्रमाण ॥। अंगुल का है। बस्ति नेत्र बहुत बाहर रखने से—बस्ति पुरुन्त वापिस आ जाती है, और बहुत धीरे-धीरे देने से पक्वाशाय तक पहुंच नहीं सकती। ऐसे आतुर को पुनः तुरन्त दूसरी बस्ति देनी चाहिए।<sup>११८</sup>

८. अतिवेग दन बस्ति—बहुत जोर से पीड़न कर देगपर्वक तो हुई बस्ति कोष्ठ में ही रह जाती है (वापिस नहीं आती) या तो केंग से गले तक आना कहा है। बस्ति का गले तक आना न्लह बस्ति अभ्युक्त में देने पर भी कहा गया है। यहां निरुह का गले तक आना कहा है। ऐसी अवस्था में छाई होती है। बस्ति द्रव्य यदि बहुत बेग से बहुदंत तथा लक्ष्यन के बीच के द्वार नहीं बस्ति अभ्युक्त में देने पर भी कहा गया है। तथापि बस्ति द्रव्य भी नाई सूर्तों के प्रक्षेप से आमशयात द्रव्यों का उद्दीरण हो जाता है। अत्यधि बस्ति कार्मुकता में स्पष्ट किया है लेकिन व्यापद में उक्त कंठागमन प्रत्यक्ष बस्ति का नहीं, अपितु बस्ति जन्य प्रक्षेप से बातनाड़ी की उत्तेजना से आमाशयस्थ द्रव्यों की छाई मानना अधिक वैज्ञानिक है। इस उपद्रव में पुनः द्वृष्टी बस्ति देवें, या तो बिरेचन दें और अध्यंग मृदु पीड़न करें। बस्ति की अपेक्षा विरेचन देना क्रेयस्कर है। इसी तरह शीतोदक परिमार्जन, विधुनन, उत्तासन उपश्याणन (सुगंधी गंध सुधाना) इत्यादि कर्म करना चाहिए।<sup>११९</sup> आवश्यक होतो—सूतशेखर—२ रत्ती, शार्खवस्म ४ रत्ती, मिलाकर तीन से चार बार मधु से चाटावें। शाखवटी २ गोली ३ बार पुह में रखकर चूसें। विरेचन के लिए त्रिवृत चूर्ण, अविपत्तिकार चूर्ण, पंचसकार चूर्ण इत्यादि का प्रयोग करें।

उपर्युक्त के अतिरिक्त बस्ति देते समय आतुर की शयनविधि बराबर न हो, और बस्ति दानोत्तर शयन विधि का बराबर ध्यान न रखा जाये तो भी बस्ति व्यापद होती है उनका भी विचार करना चाहिए।

### बस्ति शयनविधि प्रमाद से उत्पन्न व्यापद<sup>१२०</sup>

बस्ति पूर्वकमें कहा गया है कि आतुर को बांध करवट पर, बांया पांव सीधा रखकर, दबहिना पांव वक्षण और जानु में मोड़कर, अपने हाथ का सिराहना बनाकर लिटाना चाहिए। इसी अवस्था में बस्ति देने के बाद भी ३० मात्रा तक (लाभग आधा मिनिट) आतुर को लिटाए रखना चाहिये। आतुर टेबल पर ऐसा लेते कि न तो बहुत सामने झुका हुआ हो, न बहुत सीधा-ताने हुए हो। पांव को नीचे की ओर ल्यादा न झुकाए। प्रशस्त स्तर यह है कि पांव और स्पूर्वकमें की नीचे एक पीठ (लक्किया) रख दे। जिससे पांव की तरफ से कटि तक की बाजू किंचित् उक्त हो जायेगी। आतुर को मृदु शार्ख्यापर संकेद बदर लिलाकर पूर्व दिशा में शिक्कर के लिटाना चाहिये।<sup>१२१</sup> चक्रपाणि यह असन व्यवस्था उत्तरकालिक है ऐसा कहते हैं। यही व्यवस्था पूर्वकालिक भी होती है, केवल लिक्कग के नीचे तकिया देकर उठाने का काम बाद में करना चाहिए। इसलिए बस्ति के लिए विशेष टेबल या शय्या जो गतिशील हों (Moving beds) का निर्माण करना लाभप्रद है।

आगर बस्ति देते समय या बाद में आतुर 'उच्चीणिक'—सिर को ऊपर उठाकर लेटे तो बस्ति द्रव्य पक्वाशय की ओर ठीक तरह से न जाकर मूत्राशय, और मेड़ की दिशा में आंव पर पीड़न करते हैं। उससे मेड़ समुच्छाह (मेड़ को फुला लेती है) करती है। इस व्यापद में मृदु स्वेद कराकर मेड़ से उत्तर बस्ति देनी चाहिए। अगर सिर को बहुत नीचे रखा जाये तो बस्ति पीड़ित के समान आमाशय तक बस्ति द्रव्यों का पहुँचना यह व्यापद होती है। उसमें उक्त चिकित्सा करे। यदि पुख को नीचा करके बस्ति दी जाए तो जीस्ट पक्वाशय में नहीं पहुँचती और विमार्ग गमन होकर हृदय और गुदा पर दबाव कर पीड़ा करती है और वात प्रकोप से कोष्ठ पीड़ा होती है। अगर उत्तानावस्था में (विट लिटाकर) लिटाकर बस्ति दी जाये तो मार्गावरोध के कारण वह अंदर नहीं जा सकती। बस्ति देते समय आंखों को धुमान से चायु प्रकोप होता है। शरीर को या दोनों साक्षियों को मोड़कर (संकुचित कर) दी हुई बस्ति-वात के द्वारा आवृत होती है और जल्दी वापिस नहीं आती। अगर लिटाने के बदले बिटाकर या खड़कर के बस्ति दी जाये (जो बहुत अमाकृत और मुश्किल है) तो बस्ति तुरंत ही वापिस निकल जाती है। वह पक्वाशय का तथा अन्य आशयों का उचित तर्पण नहीं कर सकती, और व्यर्थ हो जाती है। इसी तरह दहिने काखट पर सुलाकर बस्ति दी जाये तो वह भी पक्वाशय में पहुँचती नहीं है। इसलिए वाम पार्श्व पर उचित अवस्था में लिटाकर ही बस्ति देनी चाहिए।

इस तरह बस्ति नेत्र, बस्ति पुटक, प्रणेत्र और शयन विधि के कारण उत्पन्न व्यापदों का

विचार ऊपर किया गया है। इनका युक्तिपूर्वक परिहार करना चाहिए। आजकल रबर द्रव्यों के उपयोग से सभी नेत्र व्यापद-बॉलीबॉल या फुटबॉल के ब्लॉडर से सभी पुटक व्यापदों (शिथिल बंधन छोड़कर) को नहिलत कम किया गया है। यदि बस्ति द्रव्यों में ज्यादा कल्क द्रव्य और सान्द्र पदार्थ न हो तो वह सीधे एनीमा केन से दी जा सकती है। इन व्यापदों के अतिरिक्त और भी निलह की व्यापद है जो उपयुक्त नेत्रादि तथा प्रणेत्र के ठीक-ठीक बालों के द्वेषे हुए भी उत्पन्न होती है। ये व्यापद ग्राम्या: वैद्य के उचित निर्णयाशयमता के कारण तात्पुर शरीर में किसी अन्योक्ति नवागत घटना के द्वारा उत्पन्न होती है। इनको संदेश (Chance) भी कहा जा सकता है। इन व्यापदों का लगन और प्रतीकार प्रस्तुत किया जाता है।

अन्य व्यापद—बस्तिविधि में प्रमाद से १२ व्यापद उत्पन्न होती हैं। ते इस प्रकार है—

- |              |              |               |              |
|--------------|--------------|---------------|--------------|
| १. अन्योग    | २. अतियोग    | ३. वर्तम      | ४. अध्यापन   |
| ५. हिक्का    | ६. हत्त्रादि | ७. ऊर्ध्वांगि | ८. प्रवाहिका |
| ९. शिरोत्तरि | १०. अंगति    | ११. परिकर्त   | १२. परिलव    |

इनमें अन्योग और अतियोग वस्तुतः व्यापद न होकर उन्हें कल्पमादि व्यापद के हेतु मानना उचित है, जिससे १० व्यापद रोध रहती है। तथाति विशिष्ट हेतु से उत्तमि, विशिष्ट लक्षणों को उत्पन्न करना और तिशेष चिकित्सा के कारण इनको पृथक् व्यापद में स्थान दिया गया है। कुछ लोग "दरौता: व्यापदे वस्ते:" ऐसा याठ देकर १० ही व्यापद मानते हैं।<sup>१३</sup>

१. अन्योग—गुरुकोष्ठी, बातबहुत, अत्यंत रुक्ष शरीरवाले अथवा चात प्रधान आतुर को, अनुष्णा या शीत, अत्यंत लवण, अत्यंत स्नेह, अत्यंत द्रव्य (प्रमाण में अत्यंत द्रव्य या

द्रव्यग्राम में अत्यंत अर्थात् सांद्र) और घन वस्तु से बहुत, हीनौषधि गुणवृक्त बस्ति दी जाये तो बहुतों को शुभित करती है, लेकिन उर्बल होने से बाहर नहीं निकल सकती। जिसमें उत्तर का भारीपन अधोवात, मृत और मल का संग, नाभि और बस्ति में रुजा, दाह, हृदय पर लेप के समान अनुभूति, शोथ गुदकंड, पिङ्का, वैवर्ण अरुचि और अनिमांद्य ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसे 'अयोग' नामक व्यापद कहते हैं।

चिकित्सा—उषा प्रमथा लिलावे। स्वेदन करें, गुदा में फलवार्ति प्रतिष्ठ कराकर बस्ति प्रत्यागमन करावे, योग्य समझे तो विरेचन दे। बोल का मूल, विवृत देवदार, जव, कोल (बेर) कुलत्य इनके व्यापद में (१६ औसत व्यापद) सुराष औस और गोमूत्र, ४ से ८ औस) मिलाकर बस्ति दे।

प्रमथा<sup>१४</sup>—अतिसार व्यापद में कही हुई प्रमथा इस व्यापद में बरतने को कहा है। प्रमथा भृष्य दोष में दीपन पाचन का काम करती है। प्रमथा शब्द वृद्ध वैद्यों की प्रम्परा से (चरक पूर्वकालीन) दीपनपाचन क्षयादि के लिए रुद्र पारिभाषिक शब्द है। यह पर देने योग्य व्यर्थ का वर्णन किया जाता है।

१. पिप्लवादि प्रमथा—पिप्ली, शुर्टी, तियायता, हरीतकी, वचा, इनके समिलित तोता चूर्ण को जल में पीसकर कल्क बनावे। कल्क में ३ तोता जल डालकर ८ तोता शेष रहने तक पकावे। फिर कपड़े से छान ले। यह प्रमथा कफ दोष में प्रातः साथ तोता शेष रहने तक पकावे।

२. फ़िब्रेरादि प्रमथा—फ़िब्रेर, भद्रमुस्ता, बेल और धनिया इनसे स्मिन्द्र प्रमथा प्रमथा आत प्रथान दोनों दोषों में लिलावे।

३. पृश्निनपण्यादि प्रमथा—पृश्निनपणी (पिठवन) गोक्षुर, समग्ना, कंटकारी, इनकी प्रमथा आत प्रथान दोनों दोषों में लिलावे।

४. अतियोग<sup>१५</sup>—स्त्रियादि, स्विन्न, मुटुकोष्ठी आतुर को अतिशीण्य, उच्छासादि से युक्त बस्ति देने से अतियोग होता है। अतियोग के लक्षण विरेचनादि योग के समान हैं जिसका यीछे उल्लेख किया है। चिकित्सा में पृश्निनपणी, स्थिरा (सारिवन) कमल, द्राक्षा, गंभारी, बला, वाटी, वाटीमधु के कल्क में तंतुलधोवन और दूध मिलाकर सृष्टि बस्ति दे। इससे याह प्रशम होता है। वापर्त ने, अतिशीण्य, उच्छा, अस्त्व, घटट बस्ति, अथवा अतिशय स्वेद दिये हुए पुरुष में अत्यन्त अथवा बार बार दी हुई बस्ति—अतियोग करती है ऐसा कहा है।<sup>१६</sup> इसमें अतिसार की चिकित्सा करने का विधान है।

५. अतियोग<sup>१७</sup>—अमदोष की उपस्थिति में मृदु निलह देने से दोष का निर्हरण बराबर नहीं होता, वात का आम, पित और कफ से मार्गावरोध होकर अनिमांद्य उत्पन्न होता है। जिससे कल्पम, विद्यु, हृक्षत, मोह, मिङ्गोद्वेष्टन, शरीर गौरव ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। यह 'कल्पम' नामक व्यापद है।

चिकित्सा—इसमें पाचन, विरुद्धण और स्वेदन चिकित्सा करनी चाहिये। पाचन के लिए—

१. पिप्पली, करूण (गंधरूण), उशीर, देवदार, मूर्ख, इनसे शृतशीत जल सौवर्चल लिलाकर लिलावे।

२. देवदार, लिकटु, हरीतकी, पलाश, चित्रक, कपूर, कुछु इनको क्षार और गोमूत्र के साथ भावना देकर प्रसक्ता या अन्य आसव—अरिष्ट मिलाकर पिलावें।

विश्वक्षण चिकित्सा के लिए दशमूल वन्वाय, (१५ औंस) को गोमूत्र (८ औंस) मिलाकर बस्ति दें।

मधुतैलिक बस्ति—(वक्षमण्ण कल्प देखें)— इसमें अधिक लवण मिलाकर बस्ति दें। यह शोधन है। अथवा गोमूत्र के साथ दें। स्वेदन-मैं-पक्ववाशय पर ताप स्वेद करावें।

४. आधमान<sup>(३८)</sup>—दोषों के बाहुल्य में कुर कोष्ठी आतुर में, रुक्ष शरीरवालों में अत्यधीर्य वाली बस्ति दी जायेते वहत का प्रक्रम होता है। वात का मार्गावरोध होने के कारण विमार्गामन से वह आध्यान करता है। मर्म पीड़ा (गुदपर्म) करता है, विदाह, वृषण शूल, वंक्षण शूल और हृदयशूल करता है।

चिकित्सा—इसमें फलवर्ति को गुदा में प्रविष्ट करावें। निरुह और अनुवासन दें।

फलवर्ति—इसमें—

१. श्यामाविवृत, मदनफलादि (धामार्च, कुटज ईक्षवाकु आदि शोधन द्रव्य), कुछु, पिपली, लवण, सरसू, गृहधूम, उड्ड, वचा, सुरावीज, क्षार इनको गुड़ की चासनी के साथ मिलाकर विधिवत् वर्ति तैयार की जाती है। पहले गुदा पर तैल लगाकर, वर्ति को तैल में डुबाकर अंदर प्रवेशित करावें। इसी तरह

२. लवण, गृहधूम, सरसू की ऊपर की विषि के अनुसार वर्ति बनावें और गुदा में प्रविष्ट करावें।

निरुह—बिल्वादि निरुह (अयोग व्यापार में उक्त) में पीतु, सरसू और गोमूत्र मिलाकर निरुह देवें। निरुह हेमेशा फलवर्ति से आध्यामन कम होने के बाद ही देना चाहिए।

अनुवासन—निरुह के बाद सरला, देवदार के सिद्ध तैल से अनुवासन दें।

५. हिक्कना<sup>(३९)</sup>—मुटुकोष्ठी आतुर को, जिसका शरीरवल अल्प है उसे अति तीर्ण औषधि से सिद्ध निरुह बस्ति देने से दोषों का अत्यधिक शोधन कर हिक्का उत्पन्न करती है।

चिकित्सा

६. हिक्कनाशक उपाय करें।

७. बुंहणोपचार करें।

८. बला, शालपर्णी, गंभारी, विफला, गुड और सेधव, प्रसक्ता, आरनाल, अम्ल, लवण के द्वारा सिद्ध तैल से अनुवासन दें। सामान्यतः हिक्का, श्वास, कास, प्रस्वन छह्दि, निष्पीविकादि में वायु प्रकृपित होकर बस्ति को ऊपर ले जाता है इसलिए बस्ति का निषेध (देखें अनास्थाय) किया है। तथापि वहाँ बस्ति व्यापञ्जन्य चिकित्सा में अनुवासन निषिद्ध नहीं है।

९. पिपली, लवण, दोनों, एक तोला मिलाकर गरम पानी के साथ पिलावें।

१०. धूप्रपान करावें।

११. अवलोह मासमस, द्रव्य का युक्तपूर्वक सेवन करावें-अवलोह-वासावलेह, कंटकारी अवलोह इत्यादि शुष्ठी और लवण मिलाकर यूष पिलावें।

१२. अनुलोपन (विरेचन) और घोषित है।

१३. अनुलोपन (विरेचन) और घोषित है।

प्रियोक्तिरशा

१४. अनुलोपन (विरेचन) और घोषित है।

१५. अनुलोपन (विरेचन) और घोषित है।

६. हृत्प्राप्ति—अति तीर्णीष्विथि से सिद्ध बस्ति, बातल बस्ति, अथवा ठीक तरह से प्रपीड़ित न करते हुए वी हुई बस्ति हृदयप्रदेश में जकड़ाहट करती है। इस अवस्था में काश, कूश, ईक्कट (ये सब तुण्डेद हैं) करिए, बेर के फल इन से शृंखलीत बस्ति दे, अथवा अला सकाथ और लवण स्कंध से सिद्ध बस्ति दे और बातल दशमूलादि सिद्ध तेल से अनुवासन दे।

७. ऊर्ध्वप्राप्ति<sup>(४०)</sup>—बस्ति देने के बाद भल, मूत्र, वातवर्गों का अवरोध किया जाये तो अथवा ऊर से दबाकर बस्ति दी जाये तो बस्ति अतिवेग से मुख की ओर (ऊर्ध्वप्राप्ति) आती है। जिससे मूत्रज्ञादि विकार उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा

१. यदि आतुर मूत्रज्ञादि हो तो ठंडे जल से मुख पर परिषेक करें।

२. पाश्वर्ब-उद्वर के नीचे भी शीत जल परिसेचन करें।

३. पाश्वर्ब-उद्वर पर मर्दन करें और पंखा काढ़के ठंडी हवा चलावें।

४. केशों को श्वीचिकर उसे संज्ञा प्रबोधन कराने का प्रयत्न करावें।

५. आतुर को भयधीत-करावें—गाय, गवल्ह, घोड़ा, हाथी, सिंह, राजदूत, सर्प, उल्का (आकाश पतित तारक) इत्यादि का डर बताकर भीति निर्माण करें। भय से अतिसार होता है, यह पहले देखा गया है। यहाँ भी दोषों की गति निचे की ओर ले जाना यही प्रथान होता है। यह पद्धति कुछ विचित्र प्रतीत होते हुए भी वैज्ञानिक (scientific) है।

६. कंठागत दोषों को जानकर वस्त्र से गले को धीरे-धीरे दबाए। ऐसे दबाए कि दोषों की गति के बालं अवरुद्ध हो। बरना बस्ति व्यापद के बदले आतुर गलपीड़न से ही भर जायेगा। आतुर को गाणवायु और उदानवायु को रोककर प्राणायाम करावें, इससे अपानवायु बस्ति को नीचे की ओर ले जाता है।

७. तपत्तचात्-क्रमुक (शुपारी) का १ तोला कल्क अस्त्र द्रव्यों के साथ (आरनाल कांजी इत्यादि) पिलावें। यह उषा तीक्ष्णा और सर गुणात्मक होने से अनुलोपन करता है।

८. पक्ववाशय में दोष स्थर हो जाने पर दशमूल निरुह—यच, बेर, कुतात्य, और गोमूत्र मिलाकर अप्रक्त अप्रक्त और स्वेदन किये हुए आतुर को देवें।

९. दोष यादि ऊर में हो तो बिल्वादि सिद्ध बस्ति (पूर्वोक्ता) दे। तथा धूमनस्य दे।

१०. शिर में दोषों का अधिष्ठान हो तो नावननस्य और सरसू का सिरपर लेप करावें, आयुर्वेदीय पचकर्म विज्ञान

११. प्रवाहिका<sup>(४१)</sup>—स्नेहन और स्वेदन किये हुए महादोष युक्त (दोष का बाहुल्य) आतुर को मृदु अल्पीष्विथि युक्त दी हुई बस्ति दोषों का उत्क्लेश करती है, और थोड़े-थोड़े प्रमाण में बार-बार गुदा से निकलती है। जिससे गुदा में रोध, जंधा और ऊर में साद होता है और वात का अवरोध होने से बारबार प्रवाहण करता है। पड़ता है।

१२. अनुलोपन और स्वेदन कराएं।

१३. अनुलोपन (विरेचन) और घोषित है।

१४. अनुलोपन (विरेचन) और घोषित है।

१५. अनुलोपन (विरेचन) और घोषित है।

३. लंघन करावे और विरोचन व्यापद के मद्दशा संसर्जन क्रम (पेयादि) करावे।
१. शिरोत्तिंश्<sup>१७</sup>— दुर्बल, क्रूरकोष्ठी, तीव्रदोष युक्त आतुर को पतली, मृदु और रीति बस्ति दी जाये तो दोषों द्वारा बस्ति आवृत होकर वायु प्रतीहत होकर गाँवों में जकड़ाहट कर मृधा में चला जाता है। इससे गला और गर्दन जकड़ जाती है, कट्टभेद (त्वरभेद) होता है। शिरोभेद-सिर की फोड़ने के मानान बेदना होती है और कर्ण बाधियं कर्णनाद, मीनस, और नेत्र विश्वम (Nystagmus) उत्पन्न होता है।

### चिकित्सा

१. लवण तैल से अध्यांग करें।
२. प्रथमन नस्य दे।
३. धूमनस्य दे।
४. विरोचन बनावे।

५. स्नान भोजन कराकर अनुवासन बस्ति देवे। प्रथमन नस्य के लिए कट्टफल चूर्ण या चिकिट के सूक्ष्म चूर्ण का उपयोग करें। धूम नस्य कंटकागी धूम से, सरसों आदि से किया जा सकता है।

१०. अंगार्ति<sup>१८</sup>— पूर्वकमेंक्त विष्णि से अध्यांग और स्वेदनमें करावे हुए, गुह और अतिरिक्षा औषधि से उत्तमप्राप्त प्रभाव में बस्ति दी जाये तो वह अतिरियोग करती है। पहले बहुत प्रमाण में दोषों को स्वित करती है, फिर बाल प्रकोप से उत्तातर्त करती है। वायु प्रतिलोम होकर शरीर में तीव्र बोदना करता है। गाँवों को जकड़ देता है। तोद, भेद स्फुरण, जूंधा, ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

### चिकित्सा

१. लवण तैल का अध्यांग करें।
२. गरम पानी से परिषेक करें।
३. प्रस्तर स्वेद त्रिथि से एरंड पत्र कथाय से स्वेदन करावे।

४. यव, कुलतथ दशमूल इनमें एक आड़क (२५६ तोला) पानी डालकर चतुर्थीशा पाक करे—६४ तोला शोष रखें। इसमें बिल्वादि तैल और लवण मिलाकर निरूह दे।

५. निरूह के बाद जलकोष्ठक (Tub) में अवगाह स्वेद करावे और
६. अवगाह स्वेद के बाद यात्कृत्त्व तैल या बिल्व तैल से अनुवासन बस्ति देवे।

११. परिकर्तिका<sup>१९</sup>— मुटुकोष्ठी, अल्प दोष वाले आतुर को रुक्ष, तीक्ष्ण और अतिमाता में बस्ति दी जाए तो दोषों को तुरन्त निकालकर परिकर्तिका (जुड़ा में कठिनतरीड़ा) करती है। इस व्यापद में निरूह बिस्त, वेधणा, और नाभि के नीचे शूल होता है। विलवय होता है।

### चिकित्सा

१. मधुर और शीत औषधि का प्रयोग करें।
२. गंभीर का रस और दूध सिद्ध कर पिलावें।
३. दूध मिलाकर मधुयष्टी और तिल कल्क सिद्ध तैल का अनुवासन दें।
४. सजरिस, मधुयष्टी, जिगिनी, कर्दम अंजन इनसे सिद्ध दूध से बस्ति दें।

५. लवण अधिक डालकर अम्ल संयुक्त अल्प भोजन देवे।
६२. परित्राच<sup>२०</sup>— नितरोग में उल्ला, तीरण, लवण, अम्ल से संयुक्त बस्ति दी जाये तो वह युदा का लेखन (क्षणन) कर दाह उत्पन्न करती है और बहुत बोगा से पित्त तथा रक्त का अनेक वर्णयुक्त मिश्र स्राव करती है। इसे परिसाव व्यापद कहते हैं। इसमें बारंबार मृद्घा होती है।

### चिकित्सा

१. शालमली के कच्चे डंठल से बकरी के दूध को सिद्ध कर धूत मिलाकर शीत बस्ति देवे।
२. वटादि पल्लवों की यच, तिल, मुखचैत, कंचनार इनसे सिद्ध बस्ति दे। ये दोनों बस्तियां पिछ्छा बस्ति के समान कार्य करती हैं।
३. युदापर शीत और मधुर द्रव्यों से परिषेक और लेप करें। लेपार्थ जात्यादि तैल या धूत उत्पन्न है।

४. मधुर और रक्तपित्तज्वर चिकित्सा करें।
५. इस तरह बस्ति की १३ व्यापद और उनकी चिकित्सा कहीं गई है, वैद्य सावधानी से योग्य से योग्य चिकित्सा करता रहे, जिससे आतुर को तुरत लाप होता है।

उपर्युक्त व्यापदों में—कलम, आध्यान, प्रवाहिका और शिरोत्तिंश्ये अयोग्यता है और हिम्का, हर्त्यादि, अंगार्ति, परिकर्तिका, और परि जाव ये अतिरियोग जन्म्य हैं।

यापन बस्ति के उपच्रव— यापन बस्ति निरूह बस्ति का ही भेद है। यापन बस्ति के प्रयोगार्थ आठ बस्ति योगों के वर्णन में दिये हैं। यहां केवल यापन बस्ति के उपच्रवों का विचार उपस्थित करना है। पंचकर्म चिकित्सा से जिस आतुर का उपच्रम किया गया हो उसे उच्चवैष्णवादि आठ महात्मोपकर अपथ्यों का (देखें-प्रथम अध्याय) त्याग करना चाहिये। यदि इन परिहायों का ठीक तरह से ध्यान न रखा जाये तो अनेक व्यापद होते हैं। मैथुन वह पंचकर्म चिकित्सा में ऐसा ही परिहार्य महात्मोपकर विषय है। यदि परिहार काल में मैथुन किया जाए तो बलनाशादि पूर्वोक्त विकार उत्पन्न होते हैं। इन विकारों की चिकित्सा यापन बस्ति से की जाती है। यापन बस्ति अधिक देने से उपच्रव उत्पन्न होते हैं। व्यापन बस्ति में भी व्यायाम, मैथुन, मध्य, मधु, शीत जल, शीत भोजन, रथयोग इनका त्याग करना चाहिये।<sup>२१</sup> यापन बस्ति के उपच्रव निम्नोक्त प्रकार के हैं।<sup>२२</sup>

१. रोगी
२. अर्णा
३. अनिनाश
४. परिकर्तिका
५. ज्वर
६. अतिमार

### चिकित्सा

१. दीपनौषधि का सेवन करावे, पाचन औषधि का सेवन करावे।
२. अरिष्ट योग, कीरण, मौथ का सेवन करावे। दशमूलारिष्ट, द्राशासद, हिंगवादि चुर्ण तथा दीपनौषधि देया का प्रयोग करें।
३. यापन बस्ति का उचित काल में प्रत्यावर्तन न होना यह भी एक व्यापद है। अगर यह बहुत भूंध औषधि से मिल यापन बस्ति दी जाये तो वह जल्दी वापिस नहीं आती। बस्ति को मृद्घा और योग्यता होने के लिए गोमूत्र, क्षार, तीक्ष्णौषधि, समुक्त तीक्ष्णा निरूह देना चाहिये।

## २. अनुवासन बस्ति

चाक एवं वाघट ने स्नेहबस्ति को अनुवासन बस्ति नाम दिये हैं। सुश्रुत ने 'स्नेहिक बस्ति' शब्द का प्रयोग किया है तथा मि इनके विवरण में भेद नहीं है। चाक ने भी अनुवासन बस्ति' के व्यापद वर्णन के अध्याय को 'स्नेह व्यापादिकी सिद्धि' नाम दिया है। इस अध्याय चकपाणि ने इस अध्याय में 'अनुवासन' व्यापद का विषय है ऐसी टीका की है। इस प्रारंभ किया है।<sup>१११</sup> वाघट ने कहले श्लोक में चाक ने स्नेह 'बस्तीन् निवोधेमान्' ऐसा प्रारंभ किया है।<sup>११२</sup> वाघट ने निरुह के चतुर्थांश मात्रा (पादांश) में स्नेहबस्ति कहा है।<sup>११३</sup> सुश्रुत ने भी निरुह के पादांश स्नेह को स्नेहबस्ति कहता है और स्नेहबस्ति का विकल्प अनुवासन बस्ति कहा है। यह स्नेह बस्ति का पादांश प्रमाण में होता है अनुवासन बस्ति का विकल्प मात्रा बस्ति कहा है जो उससे आधे प्रमाण में दी जाती है। डलहुण ने स्नेहबस्ति में ६ पल, ३ पल और ११ पल ऐसी तीन प्रमाण उत्तमादि प्रकार के दिये हैं—और यही उद्दरण चक्रपाणि ने टीका में दिया है। अतएव चाक, सुश्रुत, वाघट इनमें स्नेहबस्ति के तीन प्रयोगों में मतभेद समझने का कारण नहीं।<sup>११४</sup> निरुह बस्ति देने के पूर्व दोष, औषध, देश, काल, सात्त्व, ओक, अग्नि, सत्त्व, वय और बल इनका सूक्ष्म विचार कर बस्ति दी जानी चाहिये ऐसा कहा गया है। वह विचार अनुवासन बस्ति और उत्तरबस्ति दोनों के लिए भी सामान्य है। उन विषयों का सम्मिलित आवश्यक विचार यहां अनुवासन-स्नेहबस्ति के संदर्भ में किया जाता है।

### अनुवासन पूर्व विचारणीय नियम

१. सर्व प्रथम आतुर की परीक्षा कर वह अनुवासनार्थ है या नहीं इसका निश्चय करें। कफ प्रधान, घेद प्रधान, आतुर, प्रमेही, आदि संतर्पणोद्य व्याधियों में जहां शोधन करना उपयुक्त है, वहां पर अनुवासन या युंहण बस्ति या अनुवासन नहीं देना चाहिये।

२. यहां दोष सामावस्था में हैं वहां स्नेहबस्ति या अनुवासन नहीं देना चाहिये। आमावस्था में दत्तस्नेह गुदा को विस्त्र करता है।<sup>११५</sup>

३. काल—काल के अनुसार अनुवासन के खास नियम हैं। शीत कर्तृत में शिरिशर और हेमत कर्तृत में और वर्षांत में ही देना चाहिये। शरद, ग्रीष्म और वर्षा कर्तृत में अनुवासन बस्ति देवे।<sup>११६</sup> सामान्यतः रात में अनुवासन देना हितकर नहीं है। रात में रात्रि में अनुवासन बस्ति देवे। इसमें काल या धातुकफ क्रम की कदाचित् अपेक्षा होगी। इस तरह का क्रम ऊवरवेग में विशेषण में भी शाज्ञ में मिलता है। इसका सूक्ष्म विचार प्रयोगः गविषणा का विषय है।

४. जब भी अनुवासन बस्ति दी जाती है, उस समय युखद्वारा स्नेह का प्रयोग (स्नेहपान) नहीं करना चाहिये। एकसाथ दोनों मार्ग से दिया हुआ स्नेह वात तथा आग्न दोनों की दुष्टि करता है।<sup>११७</sup>

५. इसी प्रकार का दोष के बल स्नेहबस्ति देने से भी होता है। केवल अनुवासन अधिक लेने से अग्निमांय होता है और केवल निरुह अधिक लेने से वात का प्रकोप होता है।<sup>११८</sup> अतएव निरुह को अनुवासन देना चाहिये और अनुवासित को निरुह देना चाहिए।

६. उपर्युक्त नियम में अपवाद भी है। अत्यन्त रक्ष शरीर वाले, तीक्षणाग्निवाले, नित्य काल में जातात्व दूसरा विषय है—बास्ति क्रम में अनुवासन का कालाविनिश्चय। वर्मनादि क्रम से जब बस्ति क्रम करना हो तब विरेचन के बाद १वें दिन अनुवासन बस्ति देनी

चाहिये।<sup>११९</sup> सुश्रुत ने विरेचन के बाद सालवें दिन, बालोत्पत्ति और संसर्जन क्रम से प्राकृत भोजन पर आये हुए आतुर को अनुवासन देने को कहा है।<sup>१२०</sup> क्रमागत बस्ति में निरुह के बाल पुनः अनुवासन बास्ति देनी चाहिये। निरुह से मारा शुद्ध होने पर ही स्नेह अच्छी तरह शरीर में कैल सकता है।<sup>१२१</sup>

४. अनुवासन बस्ति कभी भी भोजन के पूर्व नहीं देनी चाहिये। भोजन के बिना दी हुई बास्ति रिक्त कोष्ठ के कारण ऊपर तक प्रविष्ट होती है। इसलिए निस्मने अभी-अभी भोजन किया हो (आदिपाणि—भोजन कर हाथ धोये हुए गीले हाथ वाले को) ऐसे आतुर को अनुवासन दे।<sup>१२२</sup>

५. दोषानुसार—कफन विकारों में १ से ३ स्नेहबस्तियां, प्रतिविकारों में ५ से ७ स्नेहबस्तियां और वातविकारों में १ से ११ स्नेहबस्तियां देनी चाहिए।<sup>१२३</sup> यहां ये बस्तियां प्रतिदिन देना चाहिये या निरुह के साथ एकांतर से देना चाहिये इसका निर्देश नहीं है लेकिन केवल निरुह या केवल अनुवासन आधिक नहीं देना चाहिये ऐसा नियम है। अतएव ३, ७, १ ये अनुवासन एकांतर से दिये जायें तो कर्म, काल योगादि संशक क्रम में भी समावेश किया जा सकता है। सुश्रुत ने स्नेहबस्तियां ६, ७, ८, या ९ संख्या में निरुह के साथ देने को कहा है और इनकी कार्मिकता बताते हुए स्पष्ट किया है कि प्रथम बस्ति, बस्ति प्रदेश और वंशण को स्निधक करती है, दूसरी शिरोगत वात को जीतती है, तीसरी स्नेहबस्ति बल और वर्ण जनन करती है, चौथी बस्ति रस को स्निधक करती है, पांचवीं बस्ति रक्त को, छठी बास्ति मास को, सातवीं बस्ति मेद को आठवीं बस्ति अतिथि को और नववीं बस्ति मञ्जुधातु को स्निधक करती है। इस तरह ९ बस्तियां देकर इसी क्रम में ११ बस्तियां—ऐसून्दरी हैं। इस तरह ९ बस्तियां देकर इसी क्रम से पुनः परिहार क्रम में ११ बस्तियां—ऐसी ८ बस्तियां देने को कहा है। इस तरह १८ बस्तियां सेवन किया हुआ व्यक्तित हाथी के जैसा शक्तिशाली और योगी के समान वेगावान हो जाता है।<sup>१२४</sup>

६. अनुवासन बस्ति में बस्तिनेत्र, बस्तिपृष्ठ, यंत्र निर्माण इत्यादि निरुह के समान ही अनुवासन बस्ति देने को कहा गया है।<sup>१२५</sup>

७. अनुवासन बस्ति का विधिविधान आगे कहा गया है।<sup>१२६</sup> अनुवासन में सुश्रुतोक्त्वा १ बस्तियां मज्जातक स्नेहन तथा पुनः १ बस्तियां शुक्रगत दोषों का त्रियास करती हैं ऐसा कहा गया है। इसमें काल या धातुकफ क्रम की कदाचित् अपेक्षा होगी। इस तरह का क्रम ऊवरवेग में विशेषण में भी शाज्ञ में मिलता है। इसका सूक्ष्म विचार प्रयोगः गविषणा का विषय है।

८. जब भी अनुवासन बस्ति दी जाती है, उस समय युखद्वारा स्नेह का प्रयोग (स्नेहपान) नहीं करना चाहिये। एकसाथ दोनों मार्ग से दिया हुआ स्नेह वात तथा आग्न दोनों की दुष्टि करता है।<sup>१२७</sup>

९. इसी प्रकार का दोष के बल स्नेहबस्ति देने से भी होता है। केवल अनुवासन अधिक लेने से अग्निमांय होता है और केवल निरुह अधिक लेने से वात का प्रकोप होता है।<sup>१२८</sup> अतएव निरुह को अनुवासन देना चाहिये और अनुवासित को निरुह देना चाहिए।

१०. उपर्युक्त नियम में अपवाद भी है। अत्यन्त रक्ष शरीर वाले, तीक्षणाग्निवाले, नित्य काल में जातात्व दूसरा विषय है—बास्ति क्रम में अनुवासन का कालाविनिश्चय।

व्यायाम करने वाले, चातव्याधि से मीडित, तथा जिनके बंदरण, श्रोणि में वात से पीड़ा हो, उदावर्त हो, उनको प्रतिदेव अनुवासन देना चाहिये। इन आतुरों में दिया हुआ स्नेह उमी तरह पचन हो जाता है, जैसे बालुका में डाल दिया हुआ जल तुरन्त सूख जाता है।<sup>१५</sup> इनके अतिरिक्त सामान्य आतुरों में सामान्य नियमों का पालन कर तीसरे दिन (अर्थात्) एकतार से अनुवासन देना चाहिये। अनुवासन में दिये हुए स्नेह का पचन और शोषण अपेक्षित है। पक्षवायर्ष में वह उपलेप करता है और कालातर में (१४ घंटे से ४८ घंटे में—३ दिन में) अग्निद्वारा पचन होता है। अग्नि का स्थान व्याधिपि ऊपर (ग्रहणी) है तथापि आमाशय, ग्रहणी, पक्षवायर्षादि अवयवों के मिश्रपाच्वन कार्य से वहां पाक समझना चाहिये। इसका विचार आगे कार्यकृता के संर्थ में पुनः करें।

### अनुवासन विधि विज्ञान

#### पूर्वकर्म—अनुवासन पूर्व—

##### १. अभ्यंगादि कर्म

##### २. भोजन तथा

##### ३. चंक्रमण ये ३ पूर्व कर्म विहित हैं।

१. अध्यंगादि कर्म<sup>१६</sup>— आतुर को विधिवत् अभ्यंग करावे। अभ्यंग के बाद गरम पानी का स्वेद करावे। यहां परिषेक, अवगाह या तो तापस्वेद (Hot water bag) में से कोई भी स्वेत किया जा सकता है।

२. भोजन<sup>१७</sup>— अनुवासन ही आतुर को भोजन देना चाहिये। किंतु भोजन में भी कुछ नियम हैं, उनका पालन करना आवश्यक है। वे नियम निम्नलिखित प्रकार के हैं।

१. भोजन अतिशय स्निग्ध न हो। तेल, भी वसादि को भोजन में वज्र्य करें। स्निग्ध भोजनोत्तर दी हुई अनुवासन बस्ति मद और मूँछड़ी उत्सव करती है।

२. भोजन अधिक रुक्ष भी न हो। रुक्ष भोजनोत्तर दिया हुआ अनुवासन बल्ल और वर्ण का नाश करता है।

३. भोजन को अच्छी तरह पकाकर देना चाहिये। अर्थ पक्व अन्न के सेवन के बाद भी हुई अनुवासन बस्ति ज्वर करती है। भोजन के पाक काल में बर्सिती भी जारी है और अध्यपके हुए (विद्वान्) अन्न का पचन जल्दी नहीं होता (विद्वान्याजीर्णि)। ऐसे समय स्नेह वहां (ग्रहणी में) पहुंचने पर स्नेह को पचाने के लिए पित्त और पाचक शाव समर्थ नहीं होते और ज्वरादि रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

४. मांसरस, यूष और दूध का भोजन देना चाहिये। बात में मांसरस, पित में दूध और कफ में यूष का प्रयोग करें। अथवा व्याधि के अनुकूल पथ्य भोजन दे। भोजन की यात्रा नित्य भोजन के एक चतुर्थांश कम होनी चाहिये।

५. चंक्रमणादि<sup>१८</sup>— भोजन के बाद आतुर को आद्रेपाणि (गोले हाथ) अवस्था में ही बस्ति देने को कहा है। इसका अर्थ इतना ही है कि भोजनोत्तर ज्यादा देर नहीं करनी चाहिये, तथापि भोजन के बाद आतुर को चंक्रमण करावे, शपतमी (सौ कदम झुमाना) करना द्वितीय होता है। किंतु मलमूत्रादि वेगों से निवृत्त कराकर अनुवासन दे। मल मूत्र के वेग को विसर्जित न करते हुए यदि अनुवासन दिया जाये तो स्नेह अंदर प्रविष्ट नहीं हो सकता।<sup>१९</sup>

प्रथान कर्म<sup>२०</sup>— बस्ति प्रणिधान कर्मनीलह के प्रणिधान के समान ही है। वामपाश्व पर, बाया पांव सीधा दहिना पांव कंवण और जानु में मोड़कर जिंदित ज्ञाकार रख, अपने हाथ का सिराहना दिये हुए, लेटे हुए आतुर को गुदा में तैत लाकर बस्ति नेत्र को स्निग्ध कर अनुप्रस्थवंश नेत्र प्रवेशित कर एकग्रह से पुटक को दबाकर स्नेह प्रविष्ट करावे। बस्ति देने के बाद एक सौ अंक गिनने तक उत्तान स्थिति में लिटाकर रखें। हाथ और पाव सीधे फैला देवें खाट या टेबर्ट को पाव की ओर से ऊपर उठावे, या तो स्फिना के नीचे तकिया रख दे। पांव के तलवे पर मृदु मर्दन करें। स्फिङ पर मृदु अभ्यंग कर थपथणी लगावें। थपथणी लगाने का उद्देश्य स्नेह को जल्दी वापिस आने से गोकना है। स्नेह अंदर रह कर ही अच्छी तरह से कार्य कर मर्मान्तर हो जाता है। अनुवासन के बाद आतुर जाना भी परिश्रम न करें। प्रणिधान के बाद बास्तिताना में स्नेह वापिस आये तो उन्से अच्छी तरह अनुवासन हुआ ऐसा समझना चाहिये।

रोगानुसार विद्वान् दिया हुआ स्नेह—स्नेहच नमक (पाद तोता) और सौफ़ के चूप के साथ (१ याराण) मिलाकर कुछ गरम कर जौस्तर से देना चाहिये। इससे वह उचित काल में सुखपूर्वक वापिस आता है। यदि अधिक ऊपर होने से, अधिक, गीक्षा होने से, बात के दबाव के कारण, स्वात दिये जाने के कारण, नात्रा में अधिक होने से अथवा भासी होने से तुरन्त वापिस आ जाये, तो उस रोगी को पहले की अपेक्षा कम प्रमाण में पुनः अनुवासन देना चाहिये। अनुवासन बाद रुजार्त गांतों पर धीर-धीर मर्दन करें और शाव्यापर आराम करते हुए स्नान देते हुए मुत्ता देवें।

#### प्रथाचालकर्म—स्नेह बस्ति के बाद निमोक्त विषयों पर ध्यान देना चाहिये—

##### १. बस्ति प्रत्यागम

##### २. पथ्य एवं अन्य बस्ति विचार

##### ३. स्नेहबस्ति व्यापद तथा विचित्रता

१. बस्ति प्रत्यागम— स्नेहबस्ति को वापिस आने की कालमर्यादा तीन याम अर्थात् १२ घंटे की है। यदि १२ घंटे तक स्नेह अंदर रहे तो ही उसका कार्य ठीक हुआ ऐसा समझना चाहिये। इससे जल्दी यदि स्नेह वापिस निकल जाये तो दूसरी स्नेह बस्ति देनी चाहिये।<sup>२१</sup> यद्यपि स्नेह प्रत्यागम का काल १२ घंटे का कहा गया है तथापि इसमें अनेक बातें विचारणीय होती हैं। उद्याहरण अधिक मात्रा में दत्त स्नेह जल्दी आता है। आतुर को मल मूत्रादि विसर्जित न कराकर बस्ति देते हुए तुरन्त वापिस आती है। वैसे ही प्रावश्य: रोगी प्रातः साथ दों बार टट्टी जाते हैं। मध्याह भोजन के बाद (लगभग ११। बजे) अनुवासन दिया हो तो आदत के कारण शायाम को ११।६ बजे टट्टी में स्नेह निकलते जाता है। (६ घंटे में) अतएव प्रातः ८।८।। बजे कुछ खिलाकर बस्ति देनी चाहिये।

अगर स्नेह १२ घंटे में वापिस न आवें तो कुछ चिंता न करें। १२ घंटे तक स्नेह वापिस आने की राह देखें। १२ घंटे के बाद फलवति अथवा तीर्थय बस्ति का प्रयोग कर स्नेहबस्ति को प्रत्यावर्तित करा दे। स्नेहबस्ति यदि १२ घंटे के बाद वापिस न आते हुए कुछ तकलीफ न होती है तो उसकी उपेक्षा करनी चाहिये। व्यापद में वर्जित प्रकार से कष्टप्रद बस्ति का ही प्रत्यावर्तन कराना चाहिये।<sup>२२</sup>

२. पश्चात्यादि-बर्सित प्रत्ययागम के बाद दूसरे दिन दोपहर में अच्छा भोजन देवे और सांस्कारिक उचित (यष रसादि) भोजन देकर पुनः अनुवासन दे। यदि तीसरे दिन या पांचवें दिन भी अनुवासन देना हो तो इसी क्रम से निरुह देकर अनुवासन दे।<sup>१०१</sup>

अप्रवृत्त और अनुप्रवृत्त निरुह बर्सित में—आतुर को आएग करावे। गति में मुख्यपूर्वक निरा किये हुए आतुर को इसमें दिन धनिया और शंठी इसमें सिद्ध जल पीने के लिए दे। अथवा केवल गरम पानी पीने के लिए दे। धनिया शुंठी का जल या गरम जल निरुह को पचाता है, कफ को छेदन करता है, और वात का अनुलोभन करता है। इसलिए वमन, विरेचन, निरुह और अनुवासन के बाद गरम पानी पिलाना श्रेष्ठस्कर होता है।<sup>१०२</sup> इससे वात और कफ का शमन होता है।

अगर स्नेह बर्सित के बाद निरुह बर्सित देना हो तो दूसरे दिन बिना भोजन किये हुए आतुर को यथावृत्त निरुह दे। इस तरह स्नेहबर्सित—

१. निरुह बर्सित के पूर्वकर्म के स्वरूप में,
२. निरुह के पश्चात्कार्म के स्वरूप में नियम
३. त्वत्तंत्र चिकित्सा के स्वरूप में तीन ग्रन्कार से उपचारेण होती है।
४. स्नेहबर्सित क्षमायद तथा चिकित्सा—स्नेहबर्सित विधि में प्रभाव होने से<sup>१०३</sup> प्रकार की व्यापद उत्पन्न होती हैं उनका ठीक निरीक्षण कर योग्य चिकित्सा करनी चाहिये:

१. अधिकतर प्रसिद्ध विकितसां—वात दोष की प्रथानता में अधिक शीत और अत्य प्रमाण में दी हुई स्नेह बर्सित वात से आवृत होती हैं और उचित समय में बर्सित का प्रत्यादर्तन नहीं होता तथा अंगमर्द, ज्वर, आध्मान, अंगों का जकड़ जाना, उरु में देवदना, पाश्वर्म में वेदना, अंग को वेचित किया हो ऐसी अनुभूति, कथाय सुखरसता, तुंभा, कंप ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।
२. स्नेह का वात से आवृत होना<sup>१०४</sup>—वात दोष की प्रथानता में अधिक शीत और कोल, कुलात्य, यद, लवण, अस्त्र कौंजी मिलाकर स्नेह उड़ा निरुह बर्सित दे। अथवा रासादि तेल, पञ्चमूल कथाय और गोमूत्र की अम्ल सयुक्त बर्सित दे। निरुह से बाद शोधन हो जाने पर शाम की भोजन कर रासानादि तेल का अनुवासन दे।

३. स्नेह का विन से आवृत होना<sup>१०५</sup>—पित दोष की प्रथानता में अधिक उषा दी हुई स्नेह बर्सित पित के द्वारा आवृत होती है, जिससे संपूर्ण शरीर में चाह, प्यास, सर्वांग में लाल वर्ण का कोठ उठना, मोह, आँखों के सामने अंधेरा छा जाना, ज्वर मुख का त्वाद तीखा होना, अतंत स्वेद आना और अंगों का पीलापन ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा—मधुर स्वरूप और तिक्त स्वरूप की औषधियों से सिद्ध निरुह बर्सित दे। इसी तरह पित शामबन निरुह (वक्षयमाण) देवे।

३. स्नेह का लक्ष से आवृत होना<sup>१०६</sup>—कफ दोष की प्रथानता में अति मृदु अस्थि से संयुक्त बर्सित दी जाये तो स्नेह कफ के द्वारा आवृत हो जाता है और वापिस नहीं आ सकता। इसमें तंद्रा, शीत पूर्वक ज्वर, आलस्य, प्रसेक, (लालाकाव), अरुचि, अंगारव, मूर्ढा, ग्लानि और मुख का स्वाद मधुर होना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा—मदनफल, कथाय संकंप कटक स्वरूप की औषधियों के बवाय में उरण, तीक्ष्ण (क्षारादि) द्रव्य निलाकर गोमूत्र, सुरा से संयुक्त निरुह दे। तथा अन्य कफ शमन (वक्षयमाण) द्रव्य निलाकर गोमूत्र, सुरा से संयुक्त निरुह दे। तथा अन्य कफ शमन (वक्षयमाण) बर्सियों का प्रयोग करें।

४. स्नेह का अन्न से आवृत होना<sup>१०७</sup>—बहुत अधिक मात्रा में भोजन बिलाकर बर्सित दी जाये तो स्नेह अन्न से आवृत होकर वापिस नहीं लौटती। इस अवश्या में छाड़ि, मूर्ढा, ग्लानि, अंगशूल, निदा, अंगमर्द, दाह तथा आम के लक्षण (शोफ, औरत्व, रुजादि) अपाराशय शूल, वायु का अवरोध, हल्तगूल, मूज वैररद, रुचास और प्रथम ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा—कटु और लवण इसके चूर्ण योग याचनार्थ दे। कटु रस के कथाय पिलावे। लवणभास्कर चूर्ण, हिंतावृत्तक चूर्ण, चित्रकादि चूर्ण, शुंठी कथाय, इत्यादि का प्रयोग करें। पाचन के बाद मृदु विरेचन दे। विरेचन के लिए चिवृत्त चूर्ण, स्वादिष्ट विरेचन या अदिपतिकर चूर्ण प्रयुक्त करें।

५. स्नेह का पुरीष से आवृत होना<sup>१०८</sup>—यदि बर्सित के पूर्व मलपूत्र के बेंगों का विसर्जन न कराया हो तो दी हुई स्नेह बर्सित पुरीष से आवृत होती है। मलादिवेंगों के अविसर्जन से बर्सित अंदर जा ही नहीं मकरी और तुरंत वापिस अती है ऐसा पीछे कहा था और यहाँ पुरीष से आवृत होकर वापिस नहीं अती ऐसा कहा गया है इसमें विरोध न समझे। मलवेंग की उपथिति में आगर बर्सित दी जाये तो वह तुरंत वापिस अती है और वेंग आया हुआ न हो, किंतु पवक्वाशय में मल की उपस्थिति होते ऐसी अवस्था में दी हुई बर्सित आवृत होती है। इसमें मल और मूत्र का अवरोध, पवक्वाशय में भारीपन, अंग में पीड़ा आध्मान, होती है। इसमें मल की उपस्थिति होते हैं।

चिकित्सा—अच्युता और स्वेदन करें। फलवर्ति गुदा में प्रविष्ट कराकर स्नेह प्रत्यावर्तित करावें। इयामायिवृत, बिलादिसिद्ध निरुह दे तथा अनुवासन बर्सित दे। उदावर्त चिकित्सा में कहे गये सभी उपचार करें।

६. अधुक्त प्रणीत स्नेह व्यापद<sup>१०९</sup>—बिना भोजन किये बर्सित दी जाने पर गुदा से कोल, कुलात्य, यद, लवण, अस्त्र कौंजी मिलाकर स्नेह उड़ा निरुह बर्सित दे। अथवा रासादि तेल, पञ्चमूल कथाय और गोमूत्र की अम्ल सयुक्त बर्सित दे। निरुह से बाद शोधन हो जाने पर शाम की भोजन कर रासानादि तेल का अनुवासन दे।

७. स्नेह का विन से आवृत होना<sup>१०५</sup>—पित दोष की प्रथानता में अधिक उषा दी हुई स्नेह बर्सित पित के द्वारा आवृत होती है, जिससे संपूर्ण शरीर में चाह, प्यास, सर्वांग में लाल वर्ण का कोठ उठना, मोह, आँखों के सामने अंधेरा छा जाना, ज्वर मुख का त्वाद तीखा होना, अतंत स्वेद आना और अंगों का पीलापन ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा—रासायनिवृत आदि बर्सित में यव, कोल, कुलत्थ, गोमूत्र मिलाकर निरुह दे। गते को वस्त्र से या हाथ से धीरे दबावे या सहलाये, विरेचन करावे, छाड़िन

विकित्सा करें। सूतशेखर रस २ रसी, शंखभ्रम्प ४ रसी, मिलाकर ४-५ बार मधु से दे। चिकित्सा करी, दशमूलारिष्ट, हेमार्घ रस इत्यादि का यथावस्थक उपयोग करें।

सुश्रुत ने अनुकृतप्रणीत स्नेह के व्यापद के स्थान में—विरेचनादि से शुद्ध आतुर में स्नेहबस्ति देने पर उपर्युक्त लक्षण वाली व्यापद कही है। इसीलिए विरेचन के बाद ७ या ९ दिन से ही स्नेहबस्ति दी जाती है। इन व्यापदों के अतिरिक्त सुश्रुत ने दो और व्यापद बताये हैं जो निम्नलिखित प्रकार की हैं।

१. आतुर को स्वेदन और वमन, विरेचन न दिया हो और मृदु तथा अल्प बस्ति दिया पक्वाशय में वायु का अवरोध, भारीपन, आस्थान और शूल होता है। इसमें अनुवासन के साथ आस्थापन बस्ति दे।<sup>१५</sup>

२. योड़ा भोजन देकर दिया हुआ अल्प स्नेह मंदवृण के कारण वापिस नहीं आता और कल्पम, उत्स्लेश, और वेदी उत्पन्न करता है। इसमें शोधनीय स्नेह के साथ आस्थापन बस्ति दे। अर्थात् दशमूल व्यापद (१६ औंस) और एस्ड तैल (४ से ६ औंस) मिलाकर बीस्त दे।<sup>१६</sup> इसमें प्रथम व्यापद निरुद्ध के 'प्रवाहिका' या परिकाव के समान हैं और द्वितीय व्यापद कल्पम के समान है। उपर्युक्त से स्पष्ट है कि स्नेह बस्ति देने समय भोजन का, वातादि दोषों का, मलमूत्रादि वेग विसर्जन का पहले किये हुए शोधन का, औषधि गुणों का भलीभांति विचार करना चाहिये।

जब तक पहली स्नेहबस्ति बासिस नहीं आती तब तक दूसरी स्नेहबस्ति नहीं देनी चाहिये ऐसा नियम है।<sup>१७</sup> तथापि २४ घंटे के बाद बिना तकनीक से जो स्नेह अंदर रहा हो उसमें यह नियम नहीं है।

**मात्राबस्ति-** वस्तुतः: मात्राबस्ति यह स्नेहबस्ति का ही एक प्रकार है, तथापि की आर्थी मात्रा—१। पल (६ तोला) मात्राबस्ति के स्नेह की होती है चरक एवं वायपुष्टि के मतानुसार हस्त व्यापद स्नेहपन की जो मात्रा होती है, वह मात्राबस्ति में प्रयुक्त करनी चाहिये।<sup>१८</sup> अंदर जीर्ण होने के लिए बित्तना स्नेह देना चाहिये यह प्रमाण निर्दिष्ट नहीं किया है। तथापि वह उपरोक्त प्रमाण के आसापास ही अनिन्दलापेक्षया होगा। चक्रपाणि ने तंत्रातर का वचन देकर स्नेहबस्ति का प्रमाण ६ पल, अनुवासन बस्ति का प्रमाण ३ पल और मात्राबस्ति का प्रमाण १। पल बताया है यह पहले स्पष्ट कर आये हैं।

मात्रा बस्ति की प्रशस्ति—मात्राबस्ति हमेशा देने योग्य बस्ति है। यह निरापद है। स्नेह के साथ देने की भी आवश्यकता नहीं रहती। इसीतरह स्नेहबस्ति के समान अनुभव यह है कि स्नेहबस्ति की मात्रा की अपेक्षा मात्राबस्ति की उपर्युक्त मात्रा ही उचित कालमयीदा तक (१२ घंटे तक) अंदर रहती है। अन्यथा स्नेह जल्दी लौटता है।

६ तोला से १० तोला तक तिल तैल अथवा गोगनुसार कोई भी तैल या घृत, (किंचित लवण मिलाकर या अलवण), सिरिज के द्वारा रख नीलका से गुदा में प्रबोध कराते। अस्तिपूर्व विधिवत् भोजन देना चाहिये।

**मात्रा बस्ति योग्य आतुर—** जो काम करके थके हैं, व्यायाम, भारवहन, मार्गमन से थके हुए हैं, मद्यपान अति मैथुन से शीण हुए हैं, अत्यंत दुर्बल हैं, और वात व्याधि से पीड़ित हैं, उनमें मात्राबस्ति देनी चाहिये।<sup>१९</sup> इस बस्ति के समय कोई भी पथ्य नहीं है, कोई परिहार काल नहीं है, हमेशा का आहार विहार इस काल में चालू रख सकते हैं। यह बृहंण करती है, और वातरोगों को दूर करती है।<sup>२०</sup> बाल, वृद्ध, राजाओं, सुकुमार लोगों को तिशेषतः प्रसास्त होती है।

३. उत्तर बस्ति

उत्तरबस्ति यह एक विशिष्टार्थ दर्शक पारिभाषिक शब्द है। चरकसंहिता में उत्तर बस्ति राज्व के दो अर्थ बताये हैं। त्रिव्यों में और पुरुषों में मूत्रमार्ग से मूत्राशय में तथा त्रिव्यों में अपत्यपथ से गर्भाशय में दी जानेवाली बस्ति उत्तरबस्ति कहलाती है। दूसरा अर्थ—उत्तर श्रेष्ठ गुणवाली बस्ति होने के कारण उत्तरबस्ति कहलाती है।<sup>२१</sup> यह विषय चरक ने बस्तिमर्म के बास्ति होने के कारण उत्तर बस्ति कहलाती है। आगे चरक संहिता रोगपौक्षाद, मूत्रजठरणी की चिकित्सा के वर्णन में विशद किया है। आगे चरक संहिता का सिद्धिस्थान का १२वाँ अस्थाय 'उत्तर बस्ति सिद्धि' नामक है। वहां उत्तर बस्ति का अर्थ श्रेष्ठ बस्ति ऐसा कहा है और यहां वर्णन की गई बस्तियां मूत्रमार्ग या अपत्यमार्ग से दी जानेवाली बस्तियां नहीं हैं। अपितु युद्धमार्ग से पक्वाशय में दी जानेवाली बस्तियां हैं। इस तरह उत्तरबस्ति के—मूत्रमार्ग या अपत्यमार्ग से दी जानेवाली बस्ति, और श्रेष्ठ गुणवाली बस्ति ऐसे दो अर्थ होते हैं। तथापि यहां (इस प्रथम में) उत्तर बस्तिशब्द उत्तरमार्ग से समझना चाहिये।

उत्तर बस्ति के नेत्र का उल्लेख पहले किया गया है। स्वतंत्र और विशिष्ट विषय के कारण उत्तर बस्ति का यहां विशदीकरण किया जाता है।

**उत्तर बस्ति नेत्र—** उत्तर बस्ति नेत्र को पुष्पनेत्र भी कहा जाता है। प्रायः स्त्रियों में गर्भाशय में रजोदोष के लिए यह बस्ति दी जाती है, और रजकी पुष्पसंता भी है—इसलिए पुष्पनेत्र कहा गया होगा। तोकिन स्वी-पुरुष दोनों में उपर्युक्त नेत्र की पुष्पनेत्र संज्ञा है न कि केवल स्त्री में उपर्युक्त है। यह नेत्र १२ अंगुल दीर्घ, सोने का या चांदी का बनाना चाहिये। सुश्रुत ने इसका प्रमाण ४ अंगुल दिया है। नेत्र का आहार जानी पुष्प या कनेर पुष्प के डंठल के समान होना चाहिये। गोमुख के समान मूलभासा में चौड़ा और अग्रभास में सिकुड़ा होना चाहिये। इसका छिद्र सरासूर के प्रवेशयोग्य होता है, इसमें केवल दी करिका होती है। एक मूलभास में बस्ति को बांधने के लिए और दूसरी बिल्कुल बीच में होती है। मध्यकरिका तक ही अर्थात् ६ या ७ अंगुल नेत्र प्रवेश किया जाता है। शारपाणि ने नेत्र का प्रवेश चार, पांच, छः या सात अंगुल तक करना चाहिये ऐसा कहा है।<sup>२२</sup>

**उत्तरबस्ति पुटक—** बकरी के बस्ति से, भेड़ के बस्ति से उत्तर के बस्ति से बनाना चाहिये।<sup>२३</sup> यदि यह न मिले तो पश्चियों के गले के चर्म और कोई भी मृदु चर्म का उपयोग करना चाहिये। निरुल्हादि बस्ति के मात्रा की अपेक्षा उत्तरबस्ति की मात्रा कम होने से पुटक भी छेटा होना चाहिये।

स्त्रियों में उत्तर बस्ति का नेत्र—१० अंगुल लंबा होना चाहिये। इसकी स्फूलता मूत्रवह

सोत के परिणाह की जितनी होनी चाहिये। इसका छिद्र मूँग के प्रवेशयोग्य बड़ा होना चाहिये। अपत्यमार्ग में उपयोग करना हो तो नेत्र का प्रणिधान ४ अंगुल तक और मूत्रमार्ग में २ अंगुल तक करना चाहिये। बालिकाओं में मूत्रमार्ग में एक अंगुल ही प्रविष्ट करना चाहिये, और अपत्यमार्ग में बालिकाओं में उत्तरबस्ति नहीं देनी चाहिये। पुरुषों में उत्तरबस्ति नेत्र का पान तथा प्रणिधान में दूढ़ के आधाम के अनुसार करना चाहिये ऐसा एकीय पत है।<sup>११०</sup>

**बस्तिद्रव्य का प्रमाण—उत्तरबस्ति इव्य की मात्रा चरक ने आधा पल (२ तोला)**

निर्दिष्ट की है। वाराघट ने भी शुक्रितमात्रा में (२ तोला) प्रमाण में बताया है। सुश्रुत ने लिखिये में उनके हाथ से एक प्रसृति प्रमाण बताया है। सुश्रुत ने स्त्रियों में उनके हाथ से एक प्रसृति प्रमाण गणधर्षयगत बस्ति के लिए निर्दिष्ट किया है। यह स्नेह का प्रमाण है। बवाल से निरुद्ध की उत्तर बस्ति देनी हो तो दो प्रसृति का प्रमाण कहा गया है।<sup>१११</sup>

पुरुषों में स्नेह का प्रमाण सुश्रुत ने प्रकृत्व (४ तोला) बताकर वयानुसार इसके भेद करने का आदेश दिया है। अर्थात् यह प्रमाण २५ वर्षांतु युवा का है। अतएव एक वर्ष की उमर हो तो एक पल का २५वाँ भाग ४ तोला-१५, वर्ष लगभग ६५ तोला होता है, और प्रतिवर्ष ४५ तोला बड़ाकर २५ वें वर्ष तक ४ तोला तक प्रमाण होगा ऐसी व्यावस्था करनी चाहिये।<sup>११२</sup>

स्त्रियों में उत्तरबस्ति का प्रमाण उनके हाथ से एक प्रसृति कहा गया है, और गर्भाशय का आदेश दिया है। अर्थात् द्वारा निरुद्ध ह उत्तरबस्ति देनी हो तब इसकी दिगुण मात्रा देनी चाहिये। बवाल के द्वारा निरुद्ध ह उत्तरबस्ति के लिये १ प्रसृत लेनी चाहिये।<sup>११३</sup>

११० वर्ष के नीचे की उम्र वाली कन्द्रयाओं में १ प्रसृत की मूलाशयगत बस्ति ही देनी चाहिये।<sup>११४</sup>

प्रसृति प्रमाण की नहीं—वर्षोंकि वह मात्रा गर्भाशय शोधन के लिए कही गई।<sup>११५</sup>

उत्तरार्द्धस्त्री विधि विद्यान्

१. पूर्वकर्म—
    १. आपुर परीक्षा एवं उत्तरबस्ति का विनिश्चय।
    २. आपुर सिद्धता।
    ३. आपुर परीक्षा एवं उत्तरबस्ति का विनिश्चय—तथा मूत्राशय में और पुरुषों में मूत्राशय में दी जाती है। इस बस्ति देनी है इसका योग्य निश्चय करना चाहिये। उसी तरह प्रकार की होती है अतः कोनसी बस्ति श्रेयस्कर है यह पहले निर्णयन बस्ति है।
  २. स्त्री-पुरुषों में मूत्राशयगत बस्ति के योग्य आपुर—मूत्रनिष्ठा लिए मूत्राशयगत बस्ति देनी चाहिये। चरक ने मूत्रोक्तसादिगति लिए उत्तर बस्ति प्रयोग करने को कहा है। मूत्र के ये १३ रोग मूत्रोक्तसाद—पित और कफ दोनों से बस्ति प्रदान सांदर, सफेद मूत्रजलन के साथ स्ववित होता है। इनको मूत्रोक्तसे वस्त्रुतः वायु आवृत होता है और उपर्युक्त लक्षण उपत्यका है।
  ३. मूत्रजठर—बस्ति उदाचातिक होकर रुजा के साथ मूत्रजठर कहते हैं।

३. मूत्राक्षर्च्छ— कृच्छतापूर्वक शुक्र प्रवृत्ति के साथ मूत्र आता है।

४. मूत्रोत्संग— मेहमणि तक मूत्र ठीक आता है—तत्पश्चात् अस्तंत तीव्र रुजा के साथ निकलता है।

५. संक्षय— बात के द्वारा मूत्र का शोषण होता है और क्षय से मून प्रवृत्ति बंद होती है।

६. मूत्रार्तीत— मूत्रप्रवृत्ति धीरे-धीरे होती है।

७. अक्षीला— मूत्राग्न का अवरोध होकर तीव्र रुजा के साथ मूत्र अल्पावधि: प्रवृत्त होता है।

८. बातबरिस्त— बात प्रकोप से बरिस्त में कंडु और मूत्रावरोध उत्पन्न होता है।

९. उष्णावात— कष्ट के साथ बरिस्त और उपच्छ में दाह करते हुए लाल, पीले रंग की मूत्र प्रवृत्ति होती है।

१०. बातकुंडलिका— मूत्र विगुण होकर बात के द्वारा बरिस्त में कुंडलीभूत होता है जिससे मूत्रसग, गोंध, रुजा, मलसग, बातसग, ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

११. ग्रंथि— बात और कफ से रक्त दुष्टि होकर बरिस्त द्वारा पर ग्रंथि उत्पन्न होती है। जिससे कृच्छर्पूर्वक मूत्र निकलता है। इसमें अश्मरी के समान पीड़ा होती है।

१२. विडिविधात— बात के द्वारा उदाहरित मूल बरिस्त में पहुंच जाता है, तब कृच्छर्पूर्वक, मलांधर रक्त, ये शाब्द आता है इसे लिंगदिवात कहते हैं।

१३. बरिस्तकुंडल— इसमें शूल के साथ, दाह के साथ, बरिस्त में स्पन्दन के साथ बिंदु से मूत्रप्रवृत्ति होती है।

उपर्युक्त सभी विकारों में तथा शर्करा, अश्मरी, बरिस्त शूल, वंकणशूल, मेहन शूल, इनमें अवस्थानुसार उत्तरबरिस्ति दें।<sup>११४</sup>

उत्तरबरिस्त योग्य पुरुष आतुर— पुरुषों में शुक्रदोष तथा शुक्रोत्सेक में उत्तर बरिस्त दें। शुक्रदोष में बात, पिच, कफादि दुष्ट शुक्र तथा कलैब्य ध्वजभंगादि रोगों का समावेश होता है।

गर्भार्थिय गत बरिस्त योग्य स्त्री आतुर—<sup>११५</sup>

  - १. योनि भ्रंश २. रजोदोष ३. योनिवेष
  - ४. तीव्र योनि द्वापद ६. असृगद ७. पुष्पनाश (अनारंच) ८. योनिशूल
  - ५. अपराद्वारा गर्भ निरोध ११. बंध्यत्वा

इन रोगों में यथावस्थानुसार गर्भार्थिय गत उत्तर बरिस्त दें। इनके अतिरिक्त चरक ने चिकित्सा स्थान के ३०लें अध्याय में २० योनि व्यापद वर्गित किये हैं उनमें भी उत्तर बरिस्त देने की कहाँ है। योनिरोग प्रायः रिक्तयों में बंध्यत्व तथा अन्य अव्यव वैग्रहण्य में कारण होते हैं। इनका यहाँ केवल नाम तो निर्देश किया जाता है। विस्तर में देखें।

  - १. बातला योनि २. पितला योनि ३. शलेष्मला योनि
  - ४. विदोषजा योनि ५. अरजस्का योनि ६. असुजा योनि
  - ७. अचरण योनि ८. आतिचरण योनि ९. प्राक्चरण योनि
  - १०. उडविहिनी योनि ११. पृथिल्यता योनि

१३. कर्णिनी योनि  
१५. पुत्रस्त्री योनि  
१६. सूचिमुखी योनि  
१७. शुद्धिका योनि  
१९. बहड़ी योनि  
२०. महायोनि।

आतुर सिन्धूता—स्थियों में कृतुकाल में ही उत्तरबस्ति देनी चाहिये। कृतुकाल रजोदर्शन के अनंतर १६ दिन का होता है। रजोदर्शन के चार दिन के बाद गर्भीशय गत बस्ति देनी होता है। इस समय गर्भीशय मुख विकसित होने से बस्ति प्रवेश सरलता से हो सकता है।<sup>११६</sup>

आतुर को बस्ति के पूर्व यथागु, दृष्टि और थी के साथ देना चाहिये, अथवा मांसरस संयुक्त भोजन देना। बस्ति के पूर्व मल मूत्राति विसर्जन कराकर अभ्यंग करें। अभ्यंग विशेषता श्रोणि, स्त्रिया, कटि, पार्ख योनि विशेषण पर करना चाहिये।<sup>११७</sup>

**औषधि—** उत्तरबस्ति का स्नेह या क्वाय शुद्ध और सुखोष्ण कर बस्ति पुटक में भरकर तैयार रखो। पश्चात्कर्म में तथा उपद्रवों में उपयुक्त साधनों को और औषधों को तैयार रखें। इसमें विशेषता: वेदनाहर योग—निद्रोदय, अहिंकेनास्व, विष्वलीमूल तथा स्थानिक वेदनाहर उपायार्थ अध्यांग के लिए पचचुण तैल, धनासर योग, स्वेदनार्थ तापस्वेद ये तैयार रखें। फलवर्ति, आन्य निल्लह बस्ति रखनी चाहिये।

साधनों में उत्तर बस्ति यंत्र के रूपान में सिरिंज, मूत्रशालाका और गर्भीशय शालाका का उपयोग बहुत लाभप्रद होता है।

#### १. घृष्णान कर्म<sup>११८</sup>

##### २. बस्ति प्रणिधान

##### ३. निरीक्षण।

**१. बस्ति प्रणिधान—** पुरुष आतुर को घुटने के बराबर आसन पर (काल निर्मित टेबल पर) बिठाकर पहले तैल, घृत से अध्यंग करें। मेड़ को लिङ्गाध कर प्रहृष्टि कर प्रथम शालाका को प्रविष्ट कराकर बस्ति तक मार्ग की परीक्षा कर लें। यह शालाका (Blader Sound) बूतमार्ग के अवरोध को भी दूर करती है और आगे बस्ति नेत्र किनने दूर तक प्रवेश कराना होगा इसका भी ज्ञान कराती है। शालाका शुद्ध एवं जंतुरहित (sterile) करा लेना चाहिये। फिर बस्ति नेत्र को स्निग्ध कर सेवनी के सामान धीरे-धीरे प्रविष्ट करावे। साधारणतः बस्ति नेत्र के स्थान पर आजाकल के बर केथेटर का प्रयोग करना बहुत ही चाहीय है। जब नेत्र बस्ति में पहुँच जायेगा—तो उसका दूसरा मुख सिरिंज को संन्धार कर धीरे-धीरे औषध अंदर प्रवेशित करावे। औषध भी खूब उबालकर सुखोष्ण किया हुआ जंतुरहित होना चाहिये। औषध बस्ति में चले जाने के बाद केथेटर या नेत्र को रक्तजुक्षण न करते हुए निकाल लेना चाहिये।

स्थियों में—यदि बस्ति देना हो तो टेबल पर चिंत लिटाकर जानुमें से पांच को मोड़का फैला कर रखें। उपयुक्त प्रकार से लंबाना बहित मुखपर—भ्यंग और स्वेद करे और मूत्राशय गत बस्ति देनी हो तो बस्ति शालाका (Blader Sound) से यार्ग परिष्कार करे, और गर्भीशय गत बस्ति देनी हो तो गर्भीशय शालाका (Uterine Sound) कराकर मानन्-जैवण करे। फिर बस्ति नेत्र या स्थियों में उपयुक्त रबर केथेटर अंदर प्रवेशित करे। रबर केथेटर यांत्रिक गर्भीशय में प्रविष्ट करना होता है। सद्वा गर्भीशय प्रीवा (cervix) को पकड़कर उन्नत कराना

चाहिये। शालाका प्रवेश के बाद ही केथेटर प्रविष्ट हो सकता है यह ध्यान रखें। स्थियों में उपयोग के लिए एक बहुत अच्छा यंत्र है—गर्भीशय का केन्यूला (uterine canula) इसका उपयोग बंध्यत्व परीक्षा में बीज वाहिनी नाड़ी के अवरोध परीक्षा के लिए (Patency Test) किया जाता है। इसका वर्णन उपकल्पनाभ्याय में दिया गया है। यह केन्यूला ऊखपूर्वक प्रविष्ट करावे और तत्पश्चात् यंत्र या रबर केथेटर को युक्तपूर्वक निकाल लेवे।

**२. निरीक्षण<sup>११९</sup>—** उत्तर बस्ति यदि क्वाय की हो तो उत्तर वापिस आ जाती है। वापिस आने पर वह सम्प्रग्रहित बस्ति है ऐसा समझें। इस प्रकार दो या तीन बस्तियां दी जा सकती हैं उत्तर बस्ति स्नेह से दी गई हो तो वह जल्दी वापिस नहीं आती। वह स्नेहबस्ति के समान अंदर रहकर कार्यकर होती है। गर्भीशय में देखे हुए स्नेहबस्ति का कुछ स्नेह उत्तर निकल जाता है और पर्याप्त मात्रा में अन्दर रहकर अनुप्रवण भाव से अवश्यक में शोषित होता है या तो धीरे-धीरे निकल जाता है। उत्तर बस्ति ३-३ दिन के अंतर से दो या तीन बार देवे।

**३. नोद—** पुरुषों में प्रहृष्टि मेड़ में बस्ति देने का विधान किया गया है। तथापि प्रहृष्टि मेड़ में बस्ति देना कठिन होता है—अतः शिथिल मेड़ में ही बस्ति देनी चाहिये। स्थियों में ३-३ दिन के अंतर से गर्भीशयगत बस्ति देने के बदले रजोदर्शन बंद होने के बाद ३ से ४ दिन प्रतिदिन देना ठीक होता है। क्योंकि बाद में गर्भीशयग्रीवा का संकोच हो जाने पर बस्ति देना कठिन होता है। तथापि गर्भीशयग्रीवा ग्रह संदर्शन और शालाका (Sound) की सहायता से कमी भी होता है। पुरुषों में और स्थियों में क्रमशः छोटी से बड़ी शालाका प्रविष्ट करें। नं. ८ दी जा सकती है। पुरुषों में प्रशस्त है। एक साथ ३ बस्तियां दी जाने के बाद ३ दिन तक विश्राम कराकर पुनः गर्भीशयगत बस्ति और तीन दिन दी जानी चाहिये।

बस्ति नेत्र प्रवेशित करते समय सावधानी रखनी चाहिये। यदि बहुत अधिक नेत्र प्रविष्ट किया जाये तो बस्ति के बीचारों में शत करता है, और बहुत कम प्रविष्ट किया जाये तो बस्ति मुख में प्रवेश के पहले दी हुई बस्ति अंदर नहीं जा सकती। अतः उचित प्रमाण में प्रविष्ट करावे। रबर केथेटर के द्वारा शुणन की व्यापद का डर कम हुआ है।

**पश्चात्कर्म—** उत्तर बस्ति वापिस नहीं आने पर २४ घंटाएँ तक या एक रात्रितक (१२ घंटा) उपेशा कर बस्ति प्रत्यावर्तन कराना चाहिये। यह देखा जाता है कि उत्तर बस्ति बहुत बेदना करती है। उत्तर बस्ति प्रयुक्त औषध अंदर नहीं जा सकती। अतः निद्रोदय रस २ रसी—१ या ३ बार दिन अन्यथा अवश्य में शोष कराता है। बस्ति के बाद वेदनाहर औषध दी जाहिये। स्थियों में देकर आतुर को वेदनाहरित रखना चाहिये। अहिफेनास्व और विष्वलीमूल का भी वेदनाहर के तौर पर अच्छा उपायोग होता है। स्थानिक अध्यांग और मुड़ स्वेद करें।

बस्ति प्रत्यावर्तित न हो तो निम्नलिखित वर्तियों में से कोई वर्ति प्रयुक्त कराकर बस्ति को प्रवर्तित करावे।

**१. पिपल्यादि वर्ति—** पिपली, लवण, आगारधूम (गुह धूम), अपामार्ति सरस, वातर्जु (बैंगन के बीज), निर्मुडी, शापाक (आरावद्ध) सहचर, इनको गोमूत्र तथा अम्ल द्रव्यों के साथ मीसकर गुड़ के साथ मिलाकर वर्ति बनाले। यह नेत्र की लवाई की आगे सर्प

क्र. अधिकार	बस्ति विषय	संदर्भ		
		च. ३-२५० से	१५३	
५. ज्वर	ज्वर में अनुवासन	१. जीवित्यादि अनुवासन	च. ३-२५३	
		२. पटोलादि अनुवासन		
		३. चंदनादि अनुवासन		
		वातप्रथान तृष्णियक विषम ज्वर में अनुवासन	च. ३-२१३	
		विषमज्वर में आस्थापन और यापन बस्ति	च. ३-३०१	
		आङ्गिकज्जगत ज्वर में निरुह और अनुवासन बस्ति	च. ३-३१६	
		पुणरावर्तक ज्वर में यापन वस्ति पामान्य चिकित्सामूहन में बस्ति	च. ३-३३९	
		वातज गुल्म की सामान्य चिकित्सा में निरुह और अनुवासन	च. ५-१११	
		पक्ववाशयगत गुल्म में तिक्त— पक्ववाशयगत गुल्म में तिक्त— संयुक्त क्षीर बस्ति	च. ५-१११, २६	
६. ज्वर	शुक्ल, गोमूत्र सुरा में पीस कर वर्ति बनावे और उपर्युक्त प्रकार से उपयोग करें।	१७. ज्वर	शुक्ल ने वर्ति के अतिरिक्त उत्तर बस्ति लौटाने के लिए विवृतादि शोधन औषधियों के क्वाय से संयुक्त निरुह देने को कहा है। अथवा बस्ति व्यापद में एषणी (शालाका या केथेटर) प्रविष्ट कराकर बस्ति लौटाने को कहा है। यह उपाय प्रयोगार्थ है।	च. ५-१११
	३. आगार धूमादि बत्तिं <sup>१०१</sup> — आमलतास के पते, निर्गुडी का स्वरस, गोमूत्र और सेंधच इनसे शुक्ल, गोमूत्र सुरा में पीस कर वर्ति बनावे और उपर्युक्त प्रकार से उपयोग करें।	७. ज्वर	बस्ति में यदि दाह होता हो तो याष्ठि-मधु क्वाय में शक्किरा और मधु मिलाकर बस्ति दे। उत्तर बस्ति में यदि दाह होता हो तो याष्ठि-मधु क्वाय में शक्किरा और मधु मिलाकर बस्ति दे। उत्तर बस्ति में सन्त्यग-रोग परिहार काल, पश्चात्कर्म के बाद दूध, युष, अथवा मांसरस युक्त भोजन दे। उत्तर बस्ति का उपचार चाहिये। <sup>१०२</sup>	च. ५-१११
	विशेष नोंद—उत्तर बस्ति लियों में या गुरुषों में दो समय—औषधि लेगा से, बस्ति पर आघात होने से, या गम्भीरशय ग्रीवा की उत्तेजना होने से कभी-कभी भयानक ‘अवसाद’ (Shock) के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसमें स्वेदाति प्रवृत्ति तमक (आँखों के सामने अंधेरा) तथा मृद्घर्त उत्पन्न होती है। इसकी चिकित्सा सावधानी से करनी चाहिये। दशमूलारिष्ट, कस्तूरी भैरवरस २ रसी मिलाकर २ तोला १०-१५ मिनिट के अंतर से पिलावे। सूतशेखर, हेमार्घ रस १-१ रसी, मिलाकर चटाते जाये और शीत परिषेक, व्यंजनादि उपाय करें।	८. ज्वर	पक्ववाशयस्थ पिल्त, कफ या वात में बस्ति जीर्णज्वर, दृढ़गिन में रुक्ष और बद्ध पुरीषता में अनुवासन उत्तर में पक्ववाशयगत दोष में निरुह	च. ३-२४०
	रोगानुसार चरकोक्त कलिपय बस्ति संदर्भ	च. ३-१७०		
क्र. अधिकार	बस्ति विषय	संदर्भ		
१. ज्वर	ज्वर की सामान्य चिकित्सा में बस्ति का निर्देश, ज्वर क्षीण को शोधनार्थ निरुह	१८. राजयक्षमा	अस, पाश्वर्द, शिरःशूल में बस्ति	
		१९. उत्त्वाद	सामान्य चिकित्सा सूत्र में बस्ति	
		२०. अपस्मार	वातिक अपस्मार में बस्ति	
		२१. शोथ	ब्रह्म में सामान्य चिकित्सा में निरुह	
		२२. ज्वर	वातोदर में शोधनोद्धार आस्था पन दशमूल निरुह	
			उद्धर में एरडॉलानुवासन	
			पितोदर में दुबलातुर में क्षीरबस्ति	
			बद्धोदर में स्वेदनोद्धार गोमूत्र और तीक्ष्णोषध सिद्ध निरुह फिर अनुवासन	
२. ज्वर	कुछ निरुह कल्प-१. पटोलादि बस्ति,	२३. ज्वर	च. १३-६५	
३. ज्वर	२. आरावधादि निरुह ३. गुड्ड्यादि निरुह	२४. ज्वर	च. १३-६६, ७१	
४. ज्वर		२५. ज्वर	च. १३-८९	

क्र.अधिकार	बस्ति विषय	संदर्भ
१६. जरा	प्लीहोदर में निरुह और अनुवासन	१३-१७
१७. उदर	दोषों से आवरण में, पुनः पुनः आमान युक्त उदर में स्त्रियोग अस्ति	वि. १३-१७३
१८. उदर	लवणसंयुक्त निरुह तीक्ष्णा औषधि, गोमूत्र, तथा कास से बस्ति	वि. १३-१७४
१९. अर्श	वातप्रधान अर्श में घृतमङ्ग से अनुवासन तथा पिच्छा बस्ति धमासा, कुश, कास, शाल्मली नियांसि, पिपल, वट, उडुंबर इनसे सिद्ध पिच्छा बस्ति	वि. १४-१२५ से २२९
२०. ग्रहणी	म्नेहन, स्वेदन कर, निरुह तथा अनुवासन-सामान्य चिकित्सा सूत्र ग्रहणी में अति दबाविन में निरुह और स्नेह बस्ति	वि. १५-१८
२१. कास	वातज कास में सामान्य चिकित्सा में बस्ति	वि. १६-१२ से ३४
२२. अतिसार	गुह्यंसा में दशमूल तैल, बिल्व तैल, शताह्वितैल से अनुवासन अतिसार में अनुवासन	वि. ११-४९
२३. अतिसार	रक्तप्रवृत्ति में पिच्छा बस्ति	वि. ११-३६
२४. द्विवर्णीय	ब्रण सामान्य चिकित्सा में बस्ति	वि. ११-१८, १९
२५. विमर्शीय	वातज मूत्रकूच्छ में निरुह तथा उत्तर बस्ति	वि. १४-३८
२६. विमर्शीय	विदोषज मूत्रकूच्छ में वात- प्राधान्य में बस्ति	वि. १४-४५
२७. वातव्याधि	वातव्याधि सामान्य चिकित्सा में निरुह	वि. २६-१६
२८. वातव्याधि	मास और मेद स्थित वात में बस्ति निरुह	वि. २६-१२
२९. वातव्याधि	अधोनाभिगत वात में बस्ति	वि. २८-१६
३०. वातव्याधि	पक्वाशयगत पित्र में बस्ति	वि. २८-१११
३१. वातव्याधि	कफानुगत वात में गोमूत्र संयुक्त बस्ति, पित्र संसूट दोष में मधुर सिद्ध शीरबस्ति और अनुवासन	वि. २८-११२
३२. वातव्याधि	मूत्रावृत वात में उत्तर बस्ति	वि. २८-११८

क्र.अधिकार	बस्ति विषय	संदर्भ
४६. वातव्याधि	शाक्कदावृत में बस्ति	वि. १८-१११
४७. वातव्याधि	आवृत वात में सामान्य सूत्र में बस्ति	वि. २८-१११
४८. वातव्याधि	वातरक्त में पुनः पुनः बस्ति	वि. ११-४१
४९. वातव्याधि	चिकित्सा की प्रशास्ति	वि. ११-४३, ४४
५०. वातरक्त	गधीर वातरक्त में बस्ति	वि. ११-८७
५१. वातरक्त	मलावृत-दोषावृत वात में शीर बस्ति	वि. ११-८८, ८९
५२. योनि व्यापद	बस्ति की वातरक्त चिकित्सा में श्रेष्ठता, निरुह अनुवासन बस्ति	वि. ३०-४१
५३. योनि व्यापद	उत्तरबस्ति-जीवनीय सिद्ध तैल से उत्तरबस्ति पुत्राणी योनि में, कर्णिनी में, अचरणा, शुष्कयोनि प्राक्चरणा में	वि. ३०-१०० १०३
५४. योनि व्यापद	उदावर्ती योनि में दशमूल व्यापद में संयुक्त शीरबस्ति	वि. ३०-११०
५५. योनि व्यापद	विवृत स्नेह की उत्तर बस्ति	वि. ३०-१११
५६. योनि व्यापद	कर्तव्य-सामान्य चिकित्सा में बस्ति	वि. ३०-११९
५७. योनि व्यापद	कर्तव्य में पुनः पुनः बस्ति चिकित्सा	वि. ३०-२००
५८. बस्ति का कार्यकर्त्त्व-बस्ति एक अत्यंत श्रेष्ठ चिकित्सा है। इसका कार्य केवल पक्वाशय में और केवल मल शोधन की मर्यादा तक ही सीमित नहीं है, अपितु सार्वदैहिक कार्यों हैं। विशेष औषधियों के सयोग से बस्ति शोधन, सामन, लेखन, वृहण, बाजीकरण, वयः स्थापन, इत्यादि अनेक गुणों को करती है ऐसा पहले कहा गया था। बस्ति के ये सब कार्य किस तरह संपन्न होते हैं इसका यहां विचार किया जायेगा।	वि. ११-१८	
५९. बस्ति वयस्थापन करते हुए निम्नलिखित युग्म होते हैं।	चरक ने बस्ति प्रशस्ति करते हुए निम्नलिखित युग्म कर्मों का वर्णन किया है। निरुह में निम्नलिखित युग्म होते हैं।	वि. ११-१११
६०. बस्ति वयस्थापन करती है अर्थात् धातुओं को दूँढ़ कर वृद्धत्व को रोकने में सहायता निरुह	१. बस्ति वयस्थापन करती है अर्थात् धातुओं को दूँढ़ कर वृद्धत्व को रोकने में सहायता करती है।	१. आयुष्म को बढ़ाती है।
६१. बस्ति वयस्थापन करती है अर्थात् धातुओं में सब में बिना तकलीफ से दी जा सकती है।	२. अग्नि और मेधा को तीक्ष्णा करती है।	३. अग्नि और मेधा को तीक्ष्णा करती है।
६२. बस्ति वयस्थापन करती है अर्थात् धातुओं में सब में बिना तकलीफ से दी जा सकती है।	४. स्वर को प्रसादवान बनाती है।	५. वर्ण का प्रसादन करती है।
६३. बस्ति वयस्थापन करती है अर्थात् धातुओं में सब में बिना तकलीफ से दी जा सकती है।	६. बालकों में, वृद्धों में तथा शिशुओं में सब में बिना तकलीफ से दी जा सकती है।	७. युक्ति पूर्वक उपयोग करने से सभी रोगों को दूर करती है।
६४. बस्ति वयस्थापन करती है अर्थात् धातुओं में सब में बिना तकलीफ से दी जा सकती है।	८. मल, वात, पित्र, कफ, मूत्र इनका शोधन करती है।	९. शरीर को दृढ़ करती है।

शक्ति और बल को बढ़ाती है।

११. संपूर्ण शरीर में स्थित दोष संबंध को बाहर निकालती है।<sup>१०४</sup>  
 अनुवासन की प्रसरिति करते हुए कहा है कि—यह वर्ण और बल को बढ़ाता है। वात को दूर करने के लिए तैलदान के अतिरिक्त कोई भी श्रेष्ठ उपाय नहीं है। तैल स्निग्धता से वात का दूर करता ही लघुता को दूर करता है, गुरुता से वात की लघुता को दूर करता है, उज्जाता से वात का शैत्य दूर करता है, मन का प्रसादन करता है, वीर्य, बल, वर्ण तथा अर्द्धन को बढ़ाता है।<sup>१०५</sup>

कार्यशाला पर कहा है कि शिशुओं तथा बड़ों के लिए बस्ति अमृत के समान गुणकारी है।<sup>1019</sup> बस्ति के ये सभी सार्वदेहिक व्यापार वात नियामन से होते हैं। वात का शरीर के प्राकृति कार्यों में तथा विकृति निर्माण में बहुत महत्व का कार्य है। वात का नियामन प्रकार समझाते हुए चरक कहते हैं कि—आस्थापन और अनुवासन वात का कार्य है। वात का नियामन प्रकार समझाते हैं। सर्वप्रथम यह पवक्षाशय में प्रवेश कर वहाँ के संपूर्ण विकृत वात को मूलतः छेदन करता है और पवक्षाशय में वात को जीत लेने पर सभी वातविकार प्रशामित होते हैं। जिस प्रकार वनस्पति के मूल का छेदन करने पर कंध, शाखा, प्रोह पुष्ट और फल स्वयं नष्ट हो जाते हैं तभी तरह पवक्षाशय यह वात को मूल होने से वहाँ पर छेदन करने से (शोधन) सभी वातविकार नष्ट होते हैं।<sup>1020</sup> इसी तरह अनुवासन की कार्यकृता बताते हुए कहा है कि जिस तरह वृक्ष के मूल में जलसंचयन करने से उसका पोषण होकर वह हराभरा होता है, उसे तरह वृक्ष के मूल पर आते हैं और यथाकाल फूल और फल लगते हैं, उसी तरह अनुवासन से मूल कोमल पर आते हैं और यथाकाल फूल और फल लगते हैं। चक्रपाणि कहते हैं कि स्थान में गुद में सेचन होकर सभी सिराओं का तर्पण होकर आटुर का पोषण होता है, और आगे शुक्रादि धातु बृद्धि से अपल्य लाभादि कार्य भी संपन्न होते हैं। चक्रपाणि कहते हैं कि पराशर के मत से गुद शरीर का मूल स्थान हैं और वहाँ सिराओं का प्रतिष्ठान है। अतएव वहाँ सिंचन करने से (तैलादि स्नेहों द्वारा मूर्धानात सिराओं का भी तर्पण होता है, और शरीर का बल, वीर्य बढ़ता है तथा व्यक्तिसंसार में संतानवान होता है। गुदा में सिराओं का प्रतिष्ठान है यह अशादि विकृत से भी सिद्ध है और अर्श, ग्रहणी, अतिसार इत्यादि विकार अनिमाद्य से उत्पन्न होते हैं, और जिनको होते हैं उनका बलशक्त्य मांसस्थय, शोष तथा अनेक मानसिक विकृति होते हैं।

विकार भी उत्पन्न करते हैं यह देखा जाता है। निरुह तथा अनुवासन दोनों के गुणों को बताते हुए कहा गया है कि, बस्ति वातव्याधि में प्रशस्त होती है। जिनके हाथ पांच जकड़ गये हैं जो पंगुत्व को प्राप्त हुए हैं, जिनके अवयवों में भाग हुआ है, जिनके गांजों<sup>१०</sup> में बातकृत शूल है, उन सबको लास्ति प्रशस्त होती है। आध्यात्मि अवयवों में, जिनका मल ग्रथिपुरुक्त अवगाह हुआ है, जिनके पकवाशाय और आमाशय में शूल है, जिनको भूख नहीं लगाती हो, इसी तरह कुषिगत अन्तेक रोगों को और आमाशय में शूल है, जिनको पूर्ख नहीं लगाती हो, इसी तरह कुषिगत अन्तेक रोगों को बस्ति दूर करती है। जिन स्त्रियों में वात प्रकोपके कारण पुरुष सहवास से भी गर्भधारणा नहीं होती, जो पुरुष क्षीणोदिय तथा कृश हुए हैं, उनमें बस्ति अत्यंत लाभप्रद होती है। बस्तिद्वारा उपर्युक्त कार्य केसे संपन्न होते हैं, इसका विवेचन सुशुत्त ने बहुत सुंदर रीत से किया है। केवल पकवाशाय में दी हुई बस्ति संपूर्ण शरीर में कहीं अवसादात्मक—शमन काव्य करती है, कहीं दोष हण करती है यह कैसे होता है—इसका निराकरण करने के लिए कहते हैं कि सम्यग् प्रकार से दी हुई बस्ति पकवाशाय, शोणि तथा नाभि के अधोभग में स्थित रहती हैं कि सम्यग् प्रकार से दी हुई बस्ति पकवाशाय,

हैं, और ब्रितिन दल्लों का वीर्य स्नोतसी के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में प्रसूत होता है और वीर्य से (येन करोति तद् वीर्यम्—कार्यकारी तत्व) अवसाद शामनादि कर्म करती है। जिस तरह वृक्षपुल में सेचन किया हुआ जल का वीर्य (पोषक तत्व) सम्पूर्ण वृक्षतक पहुँच जाते हैं उसी तरह यहाँ ब्रह्मिं वीर्य का काम समझना चाहिये।<sup>21</sup>

कि—वह बस्ति तो केवल द्रव्यतः या मलादि के साथ अपानादि वायु के कार्य से वापिस निकल जाती है लेकिन वीर्य द्वारा पांच से लेकर सिर तक के सभी दोषों को खींच कर उनका भी शोधन करती है। जिस तरह सूर्य तो आकाश में करोड़ों कोश दूर है लेकिन (अपने उच्च तीक्ष्णादि) प्रभाव से पृथ्वी (दृश्य वनस्पति के) रसों का अपकर्षण करता है—उसी तरह पकवाशय में बस्ति रहकर—पृष्ठ, कटि, कोण्ठ इत्यादि सभी स्थानों के संचित दोषों को वीर्य द्वारा अस्तोडन कर (घोलकर) मृत से ही निकालकर शारीर के बाहर निकाल देती है।<sup>112</sup>

फिर तीनों दोषों के प्रकोप में वस्तुतः वायु ही प्रधान है और वायु उनके प्रकोप-प्रशम में भी प्राप्त रखता है। उस वायु के वेग को सहन करने के लिए बस्ति के सिवाय इससी कोई चिकित्सा क्षम नहीं हो सकती। जिस तरह वायु के द्वारा समुद्र में आया हुआ तृफान (या तृफान) केवल वेला (समुद्र को लहरें) ही सहन कर सकती है—उसी तरह बस्ति ही वायु प्रकोप को सहन करती है—उसकी चिकित्सा करती है।<sup>113</sup> इस तरह ठीक तरह दी हुई बस्ति शारीर का उपचय करती है, बल बढ़ती है, वर्ण को उज्ज्वल करती है, और आयुष्क को बढ़ाती है।<sup>114</sup>

उपर्युक्त का सारांश यह है कि बस्ति द्रव्यों का अंशातः पक्वाशय के आगे तक विक्षेपण होता है, और बस्ति के वीर्य अनिन के द्वारा शोषित होते हैं और, रसरक्त के साथ परिष्ठः-ग कर यथास्थान शसन, बृहण अवसरा आदि करते हैं। बस्ति वात-व्याधि में शूलादि प्रशमन, इद्रिय कर्मों की पुनः स्थापना, शरीर-बुहण, रसरक्तादि धातु में दृढ़ीकरण तथा सार्वदैहिक शित्र-भित्र व्यापार के लिए निम्नलिखित हेतुओं का विवेचन गधीरता पूर्वक विचार करने योग्य हैं।

१. बस्टिके बल पक्षवाशयमें ही नहीं होती है, वह आगेलघु आंततक—ग्रहणीतक पहुँच सकती है जहां उसके कार्यकारी घटकोंकाशोषणहोता है। आयुर्वेदशास्त्रमें वर्णित बास्टि—अनेक औषधियोंके ब्रवाथ, तैलधी, इत्यादिस्मेह, दूध, गुड़, मधु, लवणइत्यादि सेसंयुक्तहोतीहै। स्नेहोंमेंअण्प्रवणगुणहोताहैयहपहलेकहागयाहै। यदि तेलको किसी ढंगनोवालेपात्रमेंरखाजाये औरउसे उलटाकरदियाजायेतो—ढंगकनकीदीवारोंकोलगाकरधीरवहस्ववितहोताहै। उसीतरहपक्षवाशयसेआगेजातेसमयजोआंत्रिककेकापाट-द्वार(Valve)होतेहैउससेआगेकोईवस्तुनहींजासकतीऐसाकहाजाताहै ही—वहउचितनहींहै। स्नेहउनद्वारोंकीभित्तियोंमेंसेस्ववितहोकरआगेनिकलजाताहै उसीतरहस्नेहशरीरकेउनघटकोंका(मांस—मज्जाका)सजातीयद्रव्यहै—अतःवहांकेसेउनकेअवयवस्वरूपमेंविलीनहोकरनिकलजाताहैऔरग्रहणीतपहुँचताहै। स्नेह केसाथपुलेहएलवान, दूध, मांसमसतथा औषधीवीर्यभीइसद्वारकेआगेनिकलजाते हैं औरतत्त्वशरीरघटकोंकीवृद्धिमेंकार्यकरहोतेहैं। स्नेहयहएकअत्यंतश्रेष्ठघोल निर्माणकरनेवालाद्रव्यहैयहस्मरणीयहै। बस्टिद्रव्यइसतरहपक्षवाशयकेआगेजा

उत्पन्न होते हैं, और जिनको होते हैं उनका बलक्षण मांसशय, शोष तथा अनेक मानसिक विकार भी उत्पन्न करते हैं यह देखा जाता है।

निस्वरुत्था अनुवासन दोनों के गुणों को बताते हुए कहा गया है कि, बस्ति वातव्याधि में प्रशस्त होती है। जिनके हाथ पांव जकड़ गये हैं जो पंत्रु को प्राप्त हुए हैं, जिनके अस्थादि अवयवों में भंग हुआ है, जिनके गांतों<sup>१०</sup> में बातकृत शूल है, उन सबको लास्ति प्रशस्त होती है। आप्तान में, जिनका मल ग्रीष्मियत्वन अवगाढ़ हुआ है, जिनको पक्वाशय और आपाशय में शूल है, जिनको भूख नहीं लगती हो, इसी तरह कुक्षिगत अनेक रोगों को बस्ति दूर करती है। जिना स्त्रियों में वात प्रकोप के कारण पुरुष सहवास से भी गर्भधारणा नहीं होती, जो पुरुष क्षीणोद्दिव तथा कृश हुए हैं, उनमें बस्ति अत्यंत लाभप्रद होती है।<sup>११०</sup>

बस्तिद्वारा उपर्युक्त कार्य कैसे संपन्न होते हैं, इसका विवेचन सुश्रुत ने बहुत सुदर रीति से किया है। केवल पक्ववाशय में दी हुई बस्ति संपूर्ण शरीर में कहीं अवक्षादात्मक—शमन कार्य करती है, कहीं दोष हण करती है यह कैसे होता है—इसका नियकारण करने के लिए कहते हैं कि सम्यग् प्रकार से दी हुई बस्ति पक्ववाशय, शोणि तथा नाशि के अधोभाग में स्थित रहती हैं

सकते हैं इस बारे में आधुनिक शारीरवेता भी मान्यता देते हैं। बेस्ट और टेलर अपने प्रथम में लिखते हैं कि एनीमा से दिये हुए द्रव्य आनंद की दीवारों की स्थब्धता से इल्लियम तक (ग्रहणी तक) पहुंच जाते हैं।<sup>१५</sup> और इस तरह दीवार के साथ जाते समय दीवार के द्वारा विक्रित हो जाये तो अन्य द्रव्यों का भी इयुओडिनम तक निर्गमन (ग्रहणी तक) होता है वहां शोषण होना संभव ही है। इसी तरह आधुनिक शारीर क्रिया वेताओं की मान्यता है कि एनीमा से दिये हुए द्रव्य पव्वाशय—ग्रहणी ही नहीं अपितु मुख तक भी आ सकते हैं। इसके लिए लायकों पोडियम (वनस्पति द्रव्य) के द्वारा बस्ति प्रयोग किया गया और कुछ घटों के बाद आमाशय प्रक्षालन (आमाशय में खबर नलिका प्रवोशित कर आमाशयागत पदार्थों को बाहर निकाल लेने) द्वारा निकाले गये द्रव्यों में पुनः उनकी प्राप्ति की गई, जिससे स्पष्ट हो गया कि एनीमा के द्रव्य आमाशय में पहुंच गये थे।<sup>१६</sup> इस तरह बस्ति द्रव्यों का ग्रहणी तक जाना आधुनिकों का सम्मत ही है। इस विषय में आयुर्वेद का सिद्धान्त अन्यतं स्पष्ट है। चरक ने आमाशय पर लेटने का हेतु बताते हुए कहा है कि इससे बस्ति ग्रहणी तक सुखपूर्वक पहुंच सकती है। यहां चक्रपाणि और जेजट की टीका बहुत मननीय होने के कारण दी जाती है।

**चक्रपाणि—** गुदा की प्राकृत अवस्था में रहने से बस्ति द्रव्यों के स्नेहों के (उपश्लेषण) कारण ठीक तरह से बस्ति शरीर में व्याप्त हो जाती है और वलियां लीन हो जाती हैं। जिससे ग्रहणी और गुद की प्राकृत अवस्था से बस्ति प्रसूत होकर ग्रहणी को (अग्नि अधिष्ठान) भावित करती है।<sup>१७</sup>

जेजट<sup>१८</sup>—यदि बस्ति नेत्र तीन अंगुल प्रविष्ट किया जाये तो उत्तर गुद तक नहीं पहुंचता। प्रवाहणी, विसर्जनी, संवरणी इन तीन वलियों के द्वारा गुद करीब।<sup>१९</sup> अंगुल का होता है। अपगुद तक भी स्नेह पहुंच जाये तो भी वह कुछ कार्य नहीं कर सकता और नेवपीड़न से अधिक दूर नहीं जा सकता—क्योंकि कहा है कि स्थूलांत्र को गुदमर्म प्रतिबद्ध है। अतएव कहा है कि वाम भाग में नाभि के ऊपर अग्निस्थान है, और वामतः स्थूलांत्र को संबंधित गुद है। अतः वामपाशर्व पर लेटने पर समांतरता से वह स्थूलांत्र तथा अग्निने तक जा सकता है। ग्रहणी यह अग्नि का अधिष्ठान है यह प्रसिद्ध है। वहां पहुंच कर बस्ति उसका उपधात नहीं करती। अथवा अग्नि भी बस्ति की उपहत नहीं करता। समानवायु से ध्यात अग्नि अपना कार्य करते हुए बस्ति पर उपकार ही करता है। बस्ति के द्वारा वह प्रचलित नहीं होता, छहित नहीं होता, प्लावित नहीं होता, अपितु अग्नि अधिष्ठान में प्राप्त होकर दोनों का अपना-अपना कार्य एक दूसरे पर होता है, अर्थात् बस्ति द्रव्य अग्नि को भावित करते हैं।

अग्नि उनका पाचन शोषण करता है यह सांति है। यहां एक प्रश्न है कि यदि बस्ति द्रव्य ग्रहणी में पहुंच कर पचन शोषण से ही कार्य करते हैं तो उनका मुखद्वारा उपयोग ही अपेक्षित है। फिर बास्ति से क्यों देना चाहिये? इसका उत्तर यह है कि मुखद्वारा सेवन किये हुए पदार्थों का अपना स्वरूप परिवर्तित होता है। फिर ग्रहणी में और पचन होता है, किन्तु बस्ति से आये हुए पदार्थ अलग स्वरूप में ग्रहणी में पहुंचते हैं और संभवतः अलग प्रभाव खेलते हैं। आधुनिक शास्त्र भी कई प्रकार के स्नेह घटकों का लब्धवत्र में दिया पाचन के प्रत्यक्ष शोषण को स्वीकार करता है। यहां इतना स्पष्ट हुआ कि बस्ति द्रव्य ग्रहणी तक जाते हैं, अग्नि पर तथा अग्निद्वारा भावित होते हैं और सर्व शरीर में जा सकते हैं।

२. बस्ति द्रव्यों में अनेक स्नेह द्रव्य हहते हैं उनका प्रत्यक्ष शोषण हो जाता है।

अनुसंधानक कार्य से प्रयोग करने पर यह सिद्ध हुआ है कि बस्ति देने पर (बृंहण बस्ति) रक्त के स्टेन्ड (Fatty acids) तथा प्रोटीन (Proteins) बढ़ते हैं। स्नेहांश में ३६ मि. ग्रा. से ४८ मि. ग्रा. तक बृंहण देखी गई और प्रोटीन ०.३ से १.० मि. ग्रा. तक (प्रति १०० ml. रक्त) बृंहण देखी गई। इस पर बायोकेमिकल प्रयोगशाला के विशेषण परीक्षणोंतर तजों का अधिग्राम मिला कि यह चिकित्सा प्रोटीन तजों को बढ़ाने में प्रभावशाली रहती है।<sup>२०</sup> इससे बृंहण बस्ति का पहल्वपूर्ण घटना है, उसी तरह अन्यतं पहल्वपूर्ण प्रोटीन घटनों की परिवृद्धि से स्पष्ट होता है कि यह चिकित्सा प्रोटीन तजों को बढ़ाती है। प्रत्यक्ष प्रयोग में आगे आगे कार्य स्पष्ट होता है। वह शारीर के स्नेह तथा प्रोटीन को बढ़ाती है। प्रत्यक्ष प्रयोग में आगे आगे कार्यों का परिवृद्धि से स्पष्ट होता है। ये तत्व वजन १ पौंड से पाँच पौंड तक तय कभी-कभी अधिक भी बढ़ती है ऐसा अनुभव है। ये तत्व वात व्याधि में भी कार्यकर होते हैं।

३. बस्ति द्रव्यों का कार्य अस्थिवह तथा मज्जावह स्रोतों पर भी होता है। अस्थिगतवात में तथा शूल में तिक्त संयुक्तस्थाय बस्ति देने का विधान है। तिक्त रस—में वायु और आकाश महाभूतों का प्राथान्य होता है जिससे उनमें वायु और आकाश प्रथान शरीर स्थानों में कार्य करने के लिए पहुंचने की क्षमता होती है। तत्तद महाभूत के घटक तत्तद स्थान में जाते हैं यह आयुर्वेद का सिद्धांत है। वायु का स्थान अस्थि भी कहा है, तथा आकाश से स्रोत—निर्माण होते हैं। अतएव अस्थि घटकों पर तथा अस्थिगत स्रोतों पर तिक्त संयुक्त शीरबस्ति का कार्य होते हैं। इस बस्ति में भी स्नेहों के कुछ घटक (Phospholipid) अस्थि तथा मज्जा के निर्माण में महत्वपूर्ण भाग भजते हैं। बस्ति का अधिष्ठान वैसे पक्वनाशय कहा गया है जो पुरीषधरा कला है। कला के वर्णन में अस्थिधराकला का निर्देश नहीं है। लेकिन सुश्रुत ने तज्ज्वितविषवेगों की थातुगत अवस्था का वर्णन करते हुए कलानुसार वर्णन किया है। वहां पर पद्धत वेग में अस्थिधरात् में प्रेक्षा होने पर विद्यमान वेग के लक्षण दिये हैं। डल्ट्या टीका में कहते हैं कि जो पुरीषधरा कला है वही अस्थिधरा कला है।<sup>२१</sup> अतएव पांचवें वेग में कला का निर्देश है, और इस कला में प्रवेश होने पर प्रण तथा अग्नि की उड़ि होती है और लक्षणों में परिवर्द्ध, हिक्का और दाह इत्यादि बताये गये हैं। विचार करने पर प्रतीत होता है कि अस्थिधरात् तथा पुरीषधरा कला का संबंध अवश्य है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार सुधा घटकों का निष्कामण (Calcium) का मल में से होता है। इस तरह मिथामनतत्व जल्द है। इससे पर्यावरणरक्षक संबंध (पोषण) भी तर्क्य है। अपना-अपना कार्य एक दूसरे पर होता है, अर्थात् बस्ति द्रव्य अग्नि को भावित करती है, जिससे यह तत्त्व स्पष्ट हो सकता है।<sup>२२</sup>

४. स्नेहों का और मज्जा का भी पोषण संबंध है। मज्जा धातु प्रायः स्नेहों में से ही बना है। आयुर्वेदमानुसार शिर यह इंद्रियायतन है। इसे मरित्क कहा गया है—यह शिर में रहनेवाला स्नेह ही है। मस्तुलंग यह जमे दुप धी के आकार का सिर को बल देनेवाला घटक होता है। इसी तरह मस्तुलंग को मस्तिष्कमज्जा कहा है, और यह मेद के मरित्क धाता से बनता है। इस तरह शिर में स्नेह, मेद, मज्जा इनका धातुमिश्रण है। सभी वातानाड़ियों भी मज्जा धातु से बनी हैं। मज्जा वात का अधिष्ठान है ऐसा कार्यप भी कहते हैं।<sup>२३</sup> इस तरह मज्जा के पोषण में स्नेह का महत्वपूर्ण भाग होने से इंद्रियायतन मिथरस्थ वाततत्व केंद्र, पृष्ठ वंश के वातवह केंद्र तथा सर्व शरीर की नाड़ियां इनमें बस्ति का कार्यकृत्त्व स्पष्ट होता है।

बस्तिगत स्लेह—ग्रहणी तक अत्कर कहा रोचित होता है। ग्रहणी को मितधारकता कहा गया है (विच का स्लेह के पाइन में महत्वपूर्ण भाग है।) और जो मितधार कला है वह सज्जनधारकता है ऐसा कहा गया है। १२३ इससे ग्रहणी तक अद्ये हुए स्लेह शूल के लिए यात्रा कर प्रभाव रखते हैं ऐसा कहा जा सकता है। लक्षणों में भी देखा जाता है कि ग्रहणी में पर्यावरण (मरुजा से), पाइर्ड, हृदय, विशेष इनमें शूल स्वरूप विस्त का कर्म समझ में आ सकता है। ५. प्रयोग द्वारा वह भी निर्देश मिलता है कि बस्ति के बाद कीटो एसिड के प्रयोगविक एसिड नामक तत्व (pyruvic acid) कम हो जाते हैं। शरीर रक्त में पायरलविक एसिड जब बढ़ता है तो विटामिन बी १ (Vitamin B 1) तत्व कम होते हैं और जब पायरलविक एसिड घटता है तो विटामिन बी १ के तत्व बढ़ जाते हैं। १२४ इस विटामिन का बालवह संस्थान पर बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव है। यह कम हो जाये तो बालवह नाई के कोशों में शोष उत्पन्न होता है, नाई के ऊपर रहनेवाली मायलीन नामक परत (Myelin sheath) में भी शोष (Degeneration) उत्पन्न होता है जो अनेक रोगों में हेतु होती है। यह विटामिन हवद और रक्तवह संस्थान पर (कभी न होने से हृदयावसाद) प्रभाव रखता है, उसी तरह अन्नाचान संस्थान पर भी प्रभाव रखता है। जिससे अजीर्ण, विकंध, अस्थि, अग्निमांद्य, अत्रवह स्नोत का चेष्टानश इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। बस्ति से इन तत्वों की पूर्ति होती है जिससे उसके तत्तद् कार्मिकता पर प्रकाश मिलता है। १२५

६. प्रक्वाशय यह कृमियों का स्थान है। यहां पुरीषक कृमि रहते हैं। वैसे ही आपाशय में कफज कृमि भी रहते हैं। यहां पर दी हुई बस्ति उन कृमियों का नाश करती और शोषन करती है। इसी तरह प्रक्वाशय में सहज कृमि भी रहते हैं। इन सहज कृमियों को अवैकारिक कृमि कहा गया है। १२६ वे प्रकृति के लिए उपयुक्त तत्व निर्माण करते हैं। आपूर्णिक विज्ञान के अनुसार ये विटामिन बी के कुछ तत्व तथा विटामिन के (K) को उत्पन्न करते हैं। आपूर्णिक प्रणीत बस्ति—दृध, गुड तिलादि तत्वों के द्वारा प्राकृत कृमियों को बढ़ाकर उनसे दे घटक प्रभूत मात्रा में उत्पन्न हो ऐसा अनुकूल बालवरण उत्पन्न करती है। अन्वेषण कार्य से यह स्पष्ट हुआ है कि इन कृमियों की संख्या प्रभूत मात्रा में बढ़ाने में बस्ति सहायक होती है। १२७ इसपंथ विटामिन बी युप के बढ़ने पर बुहण तथा बालव्याधि में लाभ होता है। उसी तरह कुछ युप के विटामिन (बी युप) त्वारोग, नेव चाहादि में भी कारण होते हैं (न्यून होनेपर)। जिनकी पूर्ति से त्वच्य, वर्ण तथा चक्षुष बस्ति के कहे हुए युगों का कार्मुकव स्पष्ट होता है। विटामिन के प्रभूत मात्रा में ये कृमि तैयार करते हैं। इनकी कमी प्रायः कभी नहीं होती। लेकिन आजतक प्रभूत मात्रा में प्रयुक्त एस्टी बायोटिक औषधियाँ इन कृमियों को नष्ट करती हैं जिससे इस विटामिन की कमी होती है। यह घटक रक्त के स्तंभन घटक—आस्कंदन को कायम रखने में भाग लेता है।

७. बस्ति का ग्रहणीपूर्ण कार्य स्थिरिक बालनाडियों पर प्रशमन के तौर पर होता है जिससे अनेक प्रकार के शूल कम होते और शोधन के कार्य से प्रवराधय, कटि, पार्श्व तथा कोठ में दबाव कम हो जाने से अनेक बालकृत शूल तुरंत प्रशमित होते हैं।

स्लेह के ग्रहणी तक पहुंचने के कारण क्षीरबरित प्रयिपाम शूल में जहां ग्रहणी से ब्रान होता है (Gastric Ulcer) उक्तमें—रेपण का कार्य कर तुरंत शूल को शिराता है यह भी प्रयोगसिद्ध है। इस तरह बरित के लायः कार्य आयुर्वेद शारक तथा आयुर्विक लिङ्गांतों के अदुरस्थान में तथ्यपूर्ण रिह होते हैं इसमें संदेह नहीं।

बस्ति के प्रयोगीराह कर्तिपथ लिङ्ग  
निरुह—अनुवासन बस्ति की संहिता में अनेक कल्य निर्दिष्ट है। व्यामनादि योगों के समान बस्ति कर्त्यों की भी कोई मर्यादा नहीं है। विद्वान वैद्य तर्क से अनेक कल्य तैयार कर सकते हैं। प्रयोग सौकर्य के लिए बस्ति के कुछ सहित प्रथा संदेह नहीं।

जाते हैं।

निरुह कल्य—निरुह कल्यों में सर्व प्रथम 'बला गुड्यादि' बस्ति बताई गई है, जो बस्ति में उदाहरणस्वरूप कही है। यहां का प्रमाण बास्तव में प्रयोग दुष्कर है।

इस बस्ति में— बलामूल, गुड्याची, हरीतकी, बहेडा, आंवला, रास्ना, कुट्ठ पंचमूल, बृहत्पंचमूल, प्रत्येक एक पल (४ तोला), मदनफल (८ संख्या में, और बकरे का मांस आधी तुला (१० पल = १००तोला) लेकर चतुर्गुण जल में चतुर्थांश ब्रान में रखे। फिर—अजवाईन, मदनफल, बिल्वत्वक, कुट्ठ, त्वचा सोया, मोथा, पिप्पली का कल्प? पिचु (१ तोला) गुड (१ पल, धी, और तैल भिलाकर २ प्रसूति (४ पल = १६ तोला) भिलाकर सुखेणा बस्ति खज से मंथन कर अंकणि गुणों के साथ विधिवत् दे। यहां मदनफल के अतिकृत ब्रान ६६ पल (३३ प्रसूति) होता है जो सर्वथा अप्रयोज्य है। चक्रपाणि कहते हैं कि महर्षि वचन के कारण इसकी कोई शीमांसा करना उचित नहीं है। इस ब्रान से तैयार कर वालुकर वातविकार में बस्ति दे।

२. शालपर्णी, पुश्पिनपर्णी बहुती, कटकारी और एंडमूल इनका उपर्युक्त विधि से निरुह दे।

३. जौ, कुलत्य, बेर, शालपर्णी इनका ब्रान, चतुःस्नेह और मांसरस मिलाकर निरुह दे। १२८

४. बिल्वत्वक, अग्निमय, रघोनाक, गंभरी तथा पाटला इनका विधिवत् क्रवाच ब्रानकर धी, तैल, वसा, मज्जा और (चतुःस्नेह) तथा मांसरस डालकर वातविकार में बस्ति दे।

५. गुड्याची, बिफला, रास्ना, दशमूल, बला, प्रत्येक एक तोला मिलाकर निरुह है।

लेकिन मांस १६ पल ले, और १३५ पल पानी में उबाल कर चतुर्थांश ब्रान करें। इसे छान ले। इससे ८ पल लेकर, प्रियंगु, मुस्ता, संधव सौंफ, बचा, पिप्पली, अजवाईन, कुट्ठ, बिल्व इनका सुख पीसा हुआ कल्प और गुड एक तोला मिलाके, फिर मदनफल आंवा पल, मधु, धी, दृध, शुक्त, कांजी, मस्तु और मूत्र इनके साथ धोलकर बस्ति दे। यह तेज, वर्ण, बल, उत्साह, वीर्य, आग्नि और प्राण को बढ़ाकर सभी बात रोगों को नष्ट करता है। १२९

६. नलमूल, बंजूल (वेतस) लानीर (वेतस भेद जलबेतस), कमल, शैवल, इनके क्रवाच में शर्करा, धी, मधु और दृध मिलाकर बरित है।

३. मंजिष्ठा, सारिवा, अनंता, सारिवा, पयस्या (शीरिणी) और यष्टीमधु इनकी बस्ति उपरोक्त प्रकार से दें।

३. लालचंदन, पश्चाख, खस तुंग (पूचाग) इनकी बस्ति उपर्युक्त प्रकार से (धी, दूध इत्यादि मिलाकर) दे। ये निम्न विकार में उपर्युक्त हैं।<sup>३०</sup>

४. कुश, काश, नल, दर्भ, इड़, मुस्ता, विफला, नील कमल, अड्डसा, सारिवा, खस, रास्ता, मंजीठ, रेणु (पर्षटक), फालसा, एक-एक पल लेकर व्याथ करें। इसमें सिंधाड़ा कौच, नागकेसर, अग्नुरु, चदन, विदरी, सौफ, मंजीठ, निरोय, इंद्रजब, सैथल, मैनफल, पश्चाख, मुलेठी इनका कल्क मिलाकर मधु दूध और धी के साथ घोलकर, निरह दे। यह पिताविकार, बाह, रक्तपित, नित गुल्म, रक्तप्रदर और ज्वर को दूर करता है।<sup>३१</sup>

५. लोध्र, चदन, मंजीठ, रास्ता, सारिवा, बला, छट्ठि, काली सारिवा, अड्डसा, गंभारी, बेदा, मुलेठी, पश्चाख, लघुपंचमूल, दृष्टपंचमूल, प्रत्येक ३ कर्ष (३ तोला) लेकर व्याथ करें। जीवक, काकोली, धीर काकोली, छट्ठि, नील कमल, जीवंती, बेदा, पर्षटक फालसा, शतावरी, सैथल, इंद्रजब, खस, पश्चाख, कसेरु इनका कल्क शार्करा ३ पल, धी, मधु और दूध में घोल कर बस्ति दे। यह गुल्म, रक्तप्रदर, ह्रोग, लांडु लिषमज्जर, रक्तपित, अतिसार, और नित रोग को दूर करती है।<sup>३२</sup>

६. न्यूग्रोधादि गण क्वाथ की बस्ति पित भेदे।

#### कल्पनिकारों में निरुह

१. अर्के (लाल मदार की जड़) मूल, अलर्के (सफेद मदार), पाठा, पुनर्नीवा।

२. हल्दी, त्रिफला, पीतावर, कुटन्ट्रट (केवटी मोथा)।

३. पिपली, चित्रक इनके व्याथ में शार, गोमूत्र और मधु डालकर कफ विकार में बस्ति दें।<sup>३३</sup>

४. कटफल, निंब, कुलत्य, अर्क, तुर्ई, गुड्डि, देवदार, सारिवा, कटेरी, पाठा, मूर्वा, आमलास, इंद्रजल, इनका व्याथ, वचा, मदनफल, सैथल, सौफ, देवदार, इलायची, कूठ, पिपली, बिल्व, सोंठ इनका कल्क, सरसों को तेल, मधु, यवक्षार, मूत्र, तैल, कांजी, इनकी बस्ति—मेद, अग्निमाद्य, कफरोग, प्रमोह, कामला, पांडु, अरुचि गलगांड, गरविष, गलानि, शतीपद रोग के लिए उत्तम है।<sup>३४</sup>

५. आरवधादि गण के व्याथ की बस्ति कफप्रबोप भेदे।

#### एकलच्चाराशय शोधन बस्तियाँ

१. मदनफल, जीमूतक, इंसाराकु, धामार्गच, कुलत्येवन, व्यत्तेक

२. श्यामा विवृत, हरड, बहेड़ा, आवला, शतावरी, दंती, द्रवंती मूल

३. करंज, पूती करंज, नीतिनी, धीरिणी

४. सातला, शतिखीरी, लोध्र, कपिललक—इनके व्याथ में गोमूत्र मिला कर बस्ति देने से पक्ववाशय का शोधन करती है।<sup>३५</sup>

५. शुक्र और मांसप्रद बस्ति

६. काकोली, क्षीर काकोली, मुट्ठपणी, शतावरी

२. विदरी कंद, मुलेठी, सिंधाड़ा, कसरे

३. कौच के बीज, उड्ढ, गेहू और जी

#### गाही बस्ति

१. जीवंती, अनिमय, धाय के फूल, कुटज और इंद्रजब

२. आमलतास, खैर, कुष्ठ, शामीम दनफल, जी

३. प्रियंगु, लाजवंती, तरणी (स्वरंती), जूही

४. चटादि धीरि दूख और लोध्र इनसे सिद्ध बस्ति गाही होती है

५. शाल्मली मूल व्याथ, दूध और धी की बस्ति प्रवाहिका में।

#### जीवदान (जी) व रक्त के निरामन में बस्ति

१. बड़ी कटेरी, धीर काकोली, पुरिनपणी और शतावरी।

२. गंभारी, बेर, दूध, खस और प्रियंगु इन दोनों बस्तियों में दूध, धी, रसांजन, मधु

और खांड मिलाकर बस्ति दे।

३. हरिण, मुर्गा, माजर, महिष, बकरी इनके ताजे रक्त को जीवनीय गण व्याथ या दूध के साथ मिलाकर बस्ति दे।

#### बलवर्णकृत बस्ति—(शीरबस्ति)—दूध १ प्रसृति (१६ तोला), मधु, तैल, शृत, एक-

एक प्रसृति (८ तोला), इनको आलोडित कर बस्ति दे। यह बल वर्ण को बढ़ाती है और वातनाशक है। यह धीर बस्ति उत्तम बृहण बस्ति है। उपर्युक्त प्रमाण को कुछ कम करके—दूध २ औंस, मधु १ औंस शृत १ औंस मिलाकर बृहण विधि से धीरे-धीरे देने पर परम लाभ करती है।

**बृहण विधि—**बृहण विधि के लिए इरिगोटिं ट्र्यूब या ट्रान्स्प्लूजन की ट्र्यूब मर्फीज ड्रॉप के साथ संयुक्त कर एकिमा केन से संयुक्त करो। आतुर की महत्वे शोधन बस्ति देकर पल विसर्जन करतो। तत्पश्चात् यह बस्ति इस तरह देकि उपर्युक्त मात्रा कुल १। से २ घंटे के अंदर जाये। इस तरह धी हुई बस्ति वजन को बढ़ाती है, परिणामशूल को दूर करती है और इसमें मांसरस मिलाकर देनेपर शुक्र को धी बढ़ाती है। यह बस्ति वापिस नहीं आती—शोषित हो जाती है।

#### अन्य वातात्मन बस्तियाँ

(१) तैल, प्रसामा, मधु और धी इनसे एक-एक प्रसृति, बिल्वादि मूल व्याथ २ प्रसृति,

कुलत्य व्याथ २ प्रसृति मिलाकर धी हुई बांसोंतो नात को नल्ट करती है।

(२) पंचमूल व्याथ से ५ प्रसृति, तैल २ प्रसृति, मधु और धी एक-एक प्रसृति मिलाकर धी हुई बस्ति स्नेहन करती है और वात का नाश करती है।<sup>३६</sup>

(३) द्विपंचमूलादि बस्ति—दशमूल का व्याथ, बकरे का मांस रस कांजी अम्ल द्रव्य, तीनों स्नेह (तैल, धी, वसा,) इनमें पूतो यवान्यादि कल्क मिलाकर बस्ति दे। यह सर्वे वात व्याथ में उत्तम है।<sup>३७</sup>

**शुक्रकृत बरिस्त—सेंधव आथा तोला,** मधु, तैल, दूध और धी एक-एक प्रसूति (८ तोला) लेकर विधिवत् बरिस्त दे, यह शुक्र को बढ़ाती है।  
**चमेह नाशक बरिस्त—पटोल,** नीम की छाल, चिराघटा, रासना, सपारण इनका कवाथ ५ प्रसूति, धी १ प्रसूति, सरसू का कल्क मिलाकर बरिस्त दे यह पंचतिक्त निरुद्ध प्रमेह कुछ और अभिष्यंद को दूर करता है।

**दूमिधन बरिस्त—विडंग,** विफला, शियु, मदनफल, मोथा, दंती, इनका कवाथ ५ प्रसूति, तैल १ प्रसूति, इनको मिलाकर विडंग पिपली का कल्क मिलाकर बरिस्त दे। यह कृमि का नाश करती है।  
**मूत्रकुक्कुच्छ बरिस्त आनाह में बरिस्त—गोक्खर का कवाथ १ प्रसूति,** पाषाण भेद रस (या कवाथ) १ प्रसूति, इनमें यष्टीमधु, रेणुका, पिपली, छांड इनका कल्क मिलाकर बरिस्त दे। यह मूत्रकुक्कुच्छ तथा बरिस्त आनाह में उत्कृष्ट है।

**दूक्तनबरिस्त—रक्तक्षय में अजगादि प्राणियों के रक्त की बरिस्त दे।** यह बरिस्त भी बृहण विधि से (४ से ६ औंस मात्रा में—आकंध विरोधी तत्व मिलाकर) १। से २ घटे में दी जाये तो तुरन्त लाभ करती है।

**चक्षुध्य, दीपन तथा चांस बलप्रद बरिस्त—शालपर्णी,** आदि पंचमूल (लघु), बला, पटोल पत्र, शायमणा, एंड मूल, जौ, इनका कवाथ २ प्रसूति, बकरे का मांस रस १ प्रसूति (५ तोला) मिलाकर उबाल कर २ प्रसूति शेष रखें। इसमें प्रियंगु, पिपली, मोथा इनका कल्क, तैल, धी, मधु और सेंधव लवणग मिलाकर बरिस्त दे। यह बरिस्त दीपन, चक्षु के लिए बलप्रद तथा मांस बलप्रद है।

**दीपन लेखन बरिस्त**<sup>३९</sup>—**(एंडबरिस्त)**—एंडमूल ३ पल (१२ तोला) पलाश, लघुपंचमूल, रासना, अश्वगंधा, अतिबला, बिलोय, मुनर्वा, आरवध, देववराल प्रत्येक १ पल, मदनफल ८, जल आढ़क (१०१४ तोला) अवशिष्ट कवाथ २ प्रसूति (११८ तोला) इसमें लाजे हपुषा, प्रियंगु, पिपली, यष्टीमधु, वच्चा, रसमैत, इंद्रजौ, मोथा प्रत्येक १ कर्ष, सेंधव १ कर्ष मिलाकर मधु तेल और गोमूत्र मिलाकर बरिस्त दे। यह दीपन और लेखन बरिस्त है। तथा जंघा, उरु, पांव त्रिकू, पृष्ठ, इनके शूल, कफ द्वारा वात का आवरण, मलसंग, मूत्रसंग, आध्यान, शक्कर, आनाह, अर्श यहाँपरी इनको दूर करती है।

**क्षिरःशुल नाशक बरिस्त—बकरे का मांस रस ५० पल,** इसे तेल और धी, (४ पल) में मधु और दही तथा अनाह का रस मिलाकर बारत है। यह शिरःशुल को नष्ट करती है, तथा बल, मांस, वीर्य और अग्नि को बढ़ाती है।

**योग्निदोष—उदावर्त—गुल्म में बरिस्त—** पलाश ८ पल लेकर २५६ पल जल में पकावे। ६४ पल शेष रखें। इसमें वच्चा, पिपली १ पल, मोथा २ पल, सेंधव, मधु, तेल (यथा योग्य) मिलाकर बरिस्त दे। यह बलदण कारक है। अनेनदोष, उदावर्त, गुल्म, आनाह, पाशवशूल इसे दूर करती है।

**विसर्प में बरिस्त—यष्टीमधु ८ पल,** दूध में सिद्ध करें। इसमें मदनफल, पिपली का कल्क, वीथ सम्मधु डालकर विसर्प में बरिस्त दे।  
**दौष संसर्ग में बरिस्त—युनर्वा, एंडमूल, अड्डमूल, असुराद, विसर्प,** प्रवाहिका, शिरोवेदना, जानुजंधा

भूटण, बलामूल, पलाश, दशमूल प्रत्येक का एक पल, मदनफल ८, बिल्ब, जव, कुलात्य, धनिया प्रत्येक १ प्रसूति, दूध २ प्रसूति (११८ तोला) और जल २ प्रसूति मिलाकर दुग्ध शेष (३ प्रसूति) पकावे। छानकर इसमें—वच्चा, सोया, देववराल, कुछ, यष्टी, सरसों पिपली, अजवाइन, मदनफल इनका कल्क, (१ तोला) डाले। मधु, तेल और धी (३ प्रसूति) मिलाकर बरिस्त है। (शमन बरिस्त) लेखन बरिस्त<sup>३४</sup>—त्रिफला का कवाथ, गोमूत्र, मधु, क्षार (यव) इनमें ऊषकादि गण का प्रदेश डाल कर बरिस्त दे। यह लेखन करती है।  
**चाप्युष्य बरिस्त—** माधुतेलिक लस्ति में यष्टीमधु मिलाकर दी हुई बरिस्त नेत्र को हितकारक होती है।<sup>३५</sup>

माधुतेलिक बरिस्त—मधु और तेल समान धाग (५ औंस), सेंधव १ तोला, सौफ १ तोला इनको एंड मूल कवाथ (१६ औंस) में मिलाकर दी हुई बरिस्त 'माधुतेलिक बरिस्त' कहलाती है। यह रसायन है, प्रेमह, गुर्म, अर्प, कृषि अंतर्वृद्धि इनको दूर करती है।

**युक्तराश बरिस्त—** एंड मूल के कवाथ (१६ औंस) में मधु, तेल, सेंधव, वच्चा, पिपली और मदनफल मिलाकर बरिस्त दे। इसे युक्तराश बरिस्त कहते हैं।

**सिंदू बरिस्त—** पंचमूल का कवाथ, तिलतेल, पिपली, मधु, सेंधव, मुलेठी इनसे दी गई बरिस्त सिद्ध बरिस्त कहलाती है।

**बूंदण बरिस्त**<sup>३०</sup>—विदारी गंधिदि बूंदण द्रव्यों के वचाथ में काकोल्यादि गण का प्रदेश देकर मांसरस, धी, मिलाकर बरिस्त दे। यह बूंदण बरिस्त है।

**उत्क्लेशन बरिस्त—** एंड बीज, यष्टीमधु, पिपली, सैंधव, वच्चा, हपुषा, दोषहरण कहती है।  
**दोषहर बरिस्त—** सौफ, युलेठी, इंद्रजौ, यदनफल, कांजी, गोमूत्र याली बरिस्त कहलाती है।

**दोषहरण बरिस्त—** प्रियंगु, यष्टीमधु, मोथा, रसाजन, इनसे सिद्ध दूध की बरिस्त शमन दोषहरण कहती है।  
**शमन बरिस्त—** यष्टीमधु, यष्टीमधु, मोथा, रसाजन, इनसे सिद्ध दूध की बरिस्त शमन कहती है।

यापाधन बरिस्त<sup>३१</sup>—नीबे लिखी हुई लाखी बरिस्तियां यापाधन बरिस्त कहलाती हैं। ये वैराग्य की बरिस्ती हैं, लवल, यांस को बढ़ाती हैं। ये रसायन एवं बाजीकरण दोनों प्रकार की होती हैं।

१. **मुरतादि यापाधन बरिस्त**<sup>३२</sup>—नीबे लिखी हुई लाखी बरिस्तियां यापाधन बरिस्त कहलाती हैं। कट्टका, त्रायमाणा, पुनर्नवा, बहेडा, गुड्ही, स्थिरादि, पंचमूल, (शालीपर्णी आदि लघु पंचमूल), प्रत्येक १ पल लेकर, ८ फल (मदन), इनको १ आढ़क जल में (५१२ तोला) पाकाकर चतुर्थी २ प्रसूति (११८ तोला) शेष रखें। इसमें १ प्रसूत जांगल मांसरस मिलाकर, मधु और धी समाना (२ प्रसूति) डाले, और सोये, यष्टीमधु, इंद्रजौ, रसाजन, प्रियंगु इनका कल्क १ तोला मिलाकर, सैंधव (१ तोला) मिलाकर सुखोल्ला बरिस्त है। यह वीर्य, मांस, अग्नि को पैचे करती है। क्षार योग्य मिलाकर बरिस्त दे। यह बलदण कारक है। इसमें युक्तराश बरिस्त है। यह वीर्य, मांस, अग्नि को पैचे करती है।

बस्ति का जकड़ जाना, उत्थाद, अर्श, प्रमोह, आध्यान, वातरक्त, तथा कफ और पित्त रोगों को दूर करता है। यह बल जनन तथा सामान्य बस्ति है।

३. शालिपण्डि आपन बस्ति— शालिपण्डि, पृशिनपण्डि, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, प्रत्येक १ पल लेकर २ आढक (५१ तोला) दूध में पकावे चतुर्थी (१८ तोला) शेष रख छानकर शतपुष्टादि कल्क डालकर, सेंधव नमक, तिलतोल, मधु, घृत इनको मिलाकर बस्ति दे। यह बस्ति सबको हितकर है। विशेषत: स्त्रीभोग से शीण, उरःक्षत, अर्श, तथा अत्यंत कामी पुरुषों के लिए यह बस्ति देना चाहिये।

३. सहचरादि बस्ति— सहचर, बलामूल, दर्भमूल, तथा सारिवा इनसे सिद्ध दूध तथा बहुती का कल्क डालकर पूर्वोक्त प्रकार से दे।

४. बलादि यापन बस्ति— बला, अतिबला, विदारीकद, शालपण्डि, पृशिनपण्डि दोनों कटेरी, दर्भमूल, चव, फलसा, गंधारी, बिलमूल, इनसे सिद्ध दूध इनमें यष्टी, पदनफल कल्क डालकर प्रयु, घी, सुवर्चल मिलाकर बस्ति दे। यह बस्ति, कास, ज्वर, गुल्म, स्नीह, आदिंत, स्त्रीविस्ताष्ट मध्यविस्ताष्ट पुरुषों को तुरन्त बल उत्पन्न करती है।

५. द्वितीय बलादि बस्ति— बला, अतिबला, अमलतास, मैनफल, बिल्व, मज्जा, गुड्हनी, पुनर्नवा, परङ्गमूल, अस्वर्गांश, सहचर, पत्ताश, देवदारु, दर्शमूल, प्रत्येक एक पल, चव, कोल, कुलत्या प्रत्येक २ प्रसृति, सूखी मूटी ३ प्रसृति, इन्हें एकत्र २ द्रोण जल में पकावे। तीन निरुह के प्रमाण में (१५ प्रसृति) शेष रहने तक पकावे। पिर छान लो। इसमें यष्टीमधु, मदनफल, शतपुष्टा, कुछ, पिपली, चवा, कुटज, रसाजन, प्रियंगु, अजवाईन, इनका कल्क, गुड़, घी, तेल, मधु, मांसरस, अस्त कांजी, सेंधव मिलाकर सुखोषा बस्ति दे। क्वाय प्रसृति तो और अन्य तेल, घी, मधु, मांसरस एक-एक प्रसृति। इस तरह ३ दिन तक बस्तियाँ (१५ प्रसृति) दे। यह चातज वीयविरोध, मूत्रान्वय, यात्राविरोध, वात संग, गुल्म, हद्रोग, आध्यान, ब्रज्ञ, पार्श्वपृष्ठ, कटिग्रह, संज्ञानशा और बलस्थल्य में प्रयोगाह है।

६. हुपुषादि बस्ति— हुपुषा हउबें आणा कुडज (८ तोला) आणे कुटे हुए जल— १ कुडज (१६ तोला) इनमें दूध और जल मिलाकर घीर शेष पकावे। (२४ तोला जल+२४ तोला दूध मिलाकर २४ तोला शेष रखे) इसमें मधु, घी, तेल और नमक मिलाकर बस्ति दे। यह बस्ति तेल, घी इनका प्रयोग न करने पर एक प्रसृति ८ तोला प्रत्येक का प्रमाण ले। यह गुड्ह, मधु, स्वादी में व्याप्त वातरक्त, विट्सांगा, पूत्रसंग, स्त्री प्रसातवा इनमें प्रयोगात्मक है, यह बल को उत्पन्न करती है।

७. पंचमूलयादि बस्ति— लघु पंचमूला के वाचाय में दूध और जल डालत कर घीर शेष पकाकर, पिपली, चट्टी, मदनफल का कल्क, घी, गुड़, तिलतोल, और सेंधव मिलाकर बस्ति दे। शीण, विषमज्वर, तथा कुशों में यह प्रयोगात्मक है।

८. बलाद्य (तीसरी) बस्ति— बला, अतिबला, कौच के बीज, अपामार्ग मिलाकर ८ पल (प्रत्येक १ पल = ८ तोला), अधकुटे जव १ अंजली (४ पल) इनके बचाय से पूर्ववित् कल्क और तेल आदि) मिलाकर बस्ति दे। यह यापन बस्ति— गुड़, तुर्बल, शीण गुड्ह, शीण रक्त के लिए प्रयोगात्मक है।

१. बलादि (चौथी) बस्ति— बला, यट्टीमधु, विदारी केद, दर्भमूल, द्राशा और दूध— शेष १० पल) छानकर यष्टीमधु, मदनफल का कल्क, मधु, घी और सेंधव मिलाकर बस्ति दे। यह ज्वरपीडित में प्रयोगात्मक है।

२. शालिपण्डि आदि बस्ति (द्वासरी)— शालिपण्डि, पृशिनपण्डि, गोद्धुर, गंधारी, फलसा, पिंडखजर, महर के फूल, इसमें बकरी का दूध २ प्रस्थ, जल २ प्रस्थ मिला कर सेंधव सिद्ध कर, ((प्रस्थ), छानकर, पिपली, नीता कमल यष्टीमधु का कल्क घी और सेंधव मिलाकर बस्ति दे। यह शीणोंद्वय तथा विषमज्वर से कुशा व्यक्ति में प्रयोगात्मक है।

३. पंचमूलादि बस्ति— (द्वितीय)— लघु पंचमूल ५ पल, (प्रत्येक १ पल), साठी के चावल, गेहूं, उड़द, जौ मिलित ५ प्रसृति (प्रत्येक १ प्रसृति २ पल) इनमें बकरी का दूध मिलाकर बस्ति दे। यह शीणोंद्वय तथा वलवर्दक है।

४. पंचमूलादि बस्ति—(तीसरी) इसी प्रकार से सिद्ध क्वाय में नोर, गोनद्र (सारस या घोड़कंक) और हंस के अंडों का रस मिलाकर बस्ति दे।

इस तरह ये १२ बस्तियाँ यापन बस्तियाँ हैं। यापन बस्ति में २ स्नेह बस्ति का भी सामावेश किया गया है—उनका आगे उल्लेख है।

८. सामान्य एवं बाजीकरण बस्तियाँ— चरक ने १२ यापन बस्ति के बाद आगे और १४ बस्तियाँ बर्तित की है, इनमें प्रायः दशमूल क्वाय, कौच, और भिन्न-भिन्न प्राणियों के मांसरस, उनके अंडे का रस, उनके वृष्ण, इत्यादि के साथ मधु, घी, तेल तथा कल्क द्रव्य मिलाकर प्रयोग किया है। अध्याय के अंत में कुल ११ बस्तियाँ (११ यापन बस्ति, १४ मांसरसादि युक्त बस्ति और ३ वृष्ण स्नेह) मिली हैं, जिनका विस्तार करने पर १५ मांसरसादि युक्त बस्ति और ३ वृष्ण स्नेह) मिली हैं, जिनका विस्तार करने पर १५ मांसरसादि युक्त बस्ति होती है। इनमें विष्विक्षा पक्षियों के मांस से १०, प्रुद विष्विक्षों के मांस से ३० इत्यादि प्रकार से प्राणि भेद से अलग-अलग बस्तियाँ होती हैं। इसमें सामान्य क्लिपना यह है कि क्वाय (१० पल तक) में मांसरस, मधु, तेल, घी इत्यादि (एक-एक प्रसृति) मिलाकर बस्ति दी जाती है।

प्रयोग सौकर्य के लिए निरुह में सामान्यतः, क्वाय ११ औंस (४० तोला अर्थात् १० पल) लेकर, मधु, तेल, घी (१ प्रसृति—कुल ३ प्रसृति—अर्थात् प्रत्येक से ८ तोला करीब ४ औंस), और कल्क द्रव्य १ तोला मिलाकर बस्ति देना चाहिये। जिसमें प्रायः बास्ति मान २४ से ३० औंस तक होता है। वृहंग प्रयोगन में कम मान देना उचित है। उपर्युक्त मांसरसादि युक्त बस्ति के कुछ उदाहरण यहाँ दिये हैं।

१. लघु पंचमूल से सिद्ध दूध में, तितर, मधुर, राजहंस का मांसरस तथा गास्ना, मदनफल, पिपली, इंद्रजी इनका कल्क मिलाकर बस्ति दे। (घी, तेल, गुड़ के साथ)। यह बस्ति बल, वीर्यता वाञ्छ उत्पन्न करती है।

२. दशमूल और कुकुट मांस से दूध सिद्ध करे। चतुर्थी शेष रख कर, पिपली, यष्टीमधु, गास्ना, मदनफल, इनका कल्क, खांड, मधु और घी मिलाकर बस्ति दे। यह अति कामी पुरुषों के लिए बलजनक बस्ति है।

३. कर्कट (केकड़ा) के मांसरस में चिह्नियों के अंडे का रस, मध, धी और खांड मिटाकर दी हुई बस्ति अत्यंत वृद्ध कही गई है।

इस तरह आगे भिन्न-भिन्न प्राणियों के मांस, अंडे, वृषण, इत्यादि की संयुक्त बस्तियाँ सिद्धि स्थान के १२ वें अध्याय में कही है। यह सब गवेषणा का विषय है।

प्रयोग से— दशमुल कवाय, कुकुट मांसरस (या अजामांस) से सिद्ध दूध युक्त बस्ति (४ से ६ औंस प्रमाण में बूँदेण विष्ठि से देनेपर) अत्यंत वृद्ध सिद्ध हुई है ऐसा अनुभव है।

#### अनुवासन बस्तिकल्प

१. दशमुलादि अनुवासन— तिल तैल २ आडक (५१२ तोला), दशमूल, बला, रास्ना, अश्वाधा, पुनर्वा भारंगी, वासा, रोहिष तृण, शतावरी, सहचर, काकनास, प्रत्येक एक पल (५ तोलों), जौ, उड्ड, बेर, कुलात्थ, अलसी, प्रत्येक २ पल (८ तोला) इन्हें एकत्र कर ८ द्रोण जल में पकावें। १ द्रोण शेष रखें, फिर कवाथ छान ले। इसमें जीवनीय गण की प्रत्येक ओषधि १ पल डालकर तैल सिद्ध करें। इस तैल से अनुवासन देने पर वारतरोग नष्ट होते हैं।

२. दशमुलादि तैल में आनंदप्रणियों की वसा, तथा जीवनीय गण का कल्क मिलाकर अनुवासन दें।

३. शताह्वादि तैल— शतपृष्ठा, तिल तैल, यव, बिल्व तथा अम्ल कांजी से सिद्ध तैल का अनुवासन बात दोष में दे।

४. जीवन्त्यादि अनुवासन— तिल तैल, धी इसमें चौगुना दूध मिलाकर जीवन्ती मदनफल, मेदा, मुँडी, मुलेठी, वसा, सोयो, ऋषभमक, पिपली काकनासा, शतावरी, कैंन्न के बीज, शीर काकोली, काकड़ा सिंगिया, कचूर, बचा, इन कल्कों के साथ यथाविधि तैल सिद्धकर बस्ति दे। यह अनुवासन वीर्य और रजोदोष को दूर कर बल बढ़ाता है और पुनर्जागरक है।

५. चंदनगादि अनुवासन<sup>४४</sup>— चंदनादि शीत द्रव्य, धी, तैल, तथा चतुर्णून दूध मिलाकर सिद्ध तैल से पिन में अनुवासन दे।

६. विंडगादि अनुवासन— विंडग, एंडमूल, हलदी, पाटोलपत्र, गुड्डि, चमेली के पते निर्णिणी, दशमूल आखुपणी, नीम की छाल, पाठा, सहचर, आरवध, कनेर की जड़, इनके कवाय में मदनफल, बिल्व, निशोथ, पिपली, रास्ना, चिरायता, देवदार, सप्तपर्णत्वक्, वचा, कुष्ठ, दारुहरित्रा, खस, इंद्रजल, मजिष्ठा, हलदी, सोये, चित्रक, कचूर, चोरक, पुङ्कर मूल, इनके कल्क से यथा विधि तैल पकावें। यह अनुवासन कृति, कुछ, प्रमेह, अर्श, ग्रहणी, निपुंसकता, अग्निवैषम्य, आदि को नष्ट करता है।

७. मुणालादि अनुवासन<sup>४५</sup>— कमलनाल, कमल, कमलकंद, सारिबा (दोनों), केसर, चंदन, लालचंदन, चिरायता, कमलगट्टा, कमल, पटोल, कुटकी, मंजिष्ठा, पित पापड़ा, अडूसा इनके कल्क से, पंचतृण मूल कवाय और तिगुना, दूध मिला कर तैल सिद्ध करें। यह पितजन्य रोगों में उपयुक्त है। इन्हीं से घृत बनाकर बस्ति में प्रयोग कर सकते हैं।

८. शताह्वादि बस्ति<sup>४६</sup>— सौफ़, करंज इनके कल्क में कांजी और तिलतैल मिलाकर तैल सिद्ध का वात दोष में बस्ति दे।

९. केकबल घृत बस्ति— लाल होने तक सैधचव गरम कर उसमें धी को पिलाकर गरम धी से बस्ति दे। यह बात नाशक है।

इनके अतिरिक्त चंदनादि तैल, पचाकादि तैल, नारायण तैल, सहचर तैल, क्षीरबला तैल, धान्वंतर तैल, शतावरी तैल इत्यादि से अनुवासन यथावोग्य आतुर में देना चाहिये।

१०. वृष्ट्यतम स्नेह<sup>४७</sup>— ये तीन स्नेह अनुवासनार्थ परम दृश्य कहे गये हैं।

११. शतावरी, गुड्डि, इशु, विवारी, अम्लक, द्राशा, खजूर, इनका रस १ प्रस्थ, धी, महामेवा, बंशालोचन, सिंधाइा, मधुलिका, मूलेठी, उच्चटा पिपली, पुङ्करबीज, नीलोमल, कंदब फूल पुँडरौक, केसर, पाम्बेकर, इनका कल्क स्नेह से चतुर्थश, चितल का मांसरस, तरसु (व्याघ्र मेव), कुकुट, मांसरस चरक, चकोर, मताक्ष, (कोयला), मोर, जीवंजीवक, (पक्षी), कुलिंग, हंस इनके अंडों का रस, तथा वसा, मज्जा २ प्रस्थ डालकर सिद्ध करें। यह अनुवासन अत्यंत वृद्ध है, क्षत क्षीण, चक्कगुल्म, सूतांपत्या (जिसकी संतान जन्मेतर तुरन्त मरती है, अनारंतिवा, क्षीण मांसरस युक्त आतुर में देना चाहिये।

१२. बला गोखरु, रास्ना, शतावरी सहचर, प्रत्येक १०० पल ले, और कुचल कर २०० दोण जल में पकावें। २ द्रोण शेष रखें। बख्त से छान ले। इसमें विदारी कंद का रस २ प्रस्थ, आंवले का रस १ प्रस्थ, बकरा, धैंसा, सूकर, सांड, इनके वृषण का रस प्रत्येक दो प्रस्थ, सुर्ग, नीर, हंस, सारस, इनके अंडों का रस १, प्रस्थ धी १६ प्रस्थ, तैल २ प्रस्थ, दूध १६ प्रस्थ डालकर, लाल चंदन, यष्टी, वंशालोचन, कमलमूल, नीलोमल, पटोलपत्र, कौच, अनापाकी, (नील शिंटी,) लाल, पिंडखजूर, द्राशा, भूमि आमलकी, कंटकारी, जीवक, ऋषभक, शुद्धसहा, महासहा, शतावरी, मेदा, हीबर (गंधवाला), बालचिनी, तेजपत्र, इनका कल्क डालकर सिद्ध करें। इस स्नेह से अनुवासन दे। यह बल, वीर्य, आयुष्यवर्धक है। बलीपत्ति नाशक है। क्षतक्षीण, नष्टवीर्यविषमज्जर, योनि व्यापद से पीड़ियोंमें प्रशस्त होती है।

१३. सहचर १०० पल को ६ द्रोण जल में पकावें, २ दोण शेष रखें। छानकर इसमें विदारीकंद का रस १ प्रस्थ, इक्षुपत्र २ प्रस्थ, दूध १६ प्रस्थ, धी १६ प्रस्थ, तैल २ प्रस्थ, बला, मुलेठी, महुवे के फूल, लालचंदन, जलज मुलेठी, सारिबा, मेदा, महामेवा, काकोली, धीर काकोली, पयस्त्या (कीर—विदारी), आर मंजिष्ठा, काषूर, सहचर, दूर्वा, दालचिनी इनका प्रत्येक का कल्क १ तोला, खांड २ तोला, मिलाकर स्नेह पाक विधि से स्नेह तैयार करें। यह तैल अनुवासन में प्रयोग करने से रसायन करता है, क्षतक्षीण, इवास में लाभ करता है मधु के साथ बलीपत्ति को नष्ट करता है।

१४. नोट— ये सभी अनुवासन तैल अत्यंत रसायन गुणवाले हैं। इनका शतपाक और उत्तरबलस्ति कल्प<sup>४८</sup>— लालचंदन, चिरायता, कमलगट्टा, कमल, कमलकंद, सारिबा (दोनों), केसर, चंदन, लालचंदन, चिरायता, कमलगट्टा, कमेली, मंजिष्ठा, पित पापड़ा, अडूसा इनके कल्क से, पंचतृण मूल कवाय और तिगुना, दूध मिला कर तैल सिद्ध करें। यह पितजन्य रोगों में उपयुक्त है। इन्हीं से घृत बनाकर बस्ति में प्रयोग कर सकते हैं।

१५. गभारी, कुटज, इनका कवाय तथा घृत मिलाकर उत्तर बस्ति में प्रयुक्त करने से अरजसका और पुत्रजनी योनि में लाभ होता है। अथवा तत्सिद्ध घृत का प्रयोग करें।

१६. दशमूल सिद्ध तैल की तथा त्रिवृत सिद्ध तैल की उत्तर बस्ति महायोनि, उदावता योनि में दें।

३. हरिण, बकरी, और मूँझर के रक्त को खट्टे बही, मधु और धी के साथ मिलाकर उत्तर बस्ति अरजस्का योनि में देने का वृद्धवाभट निर्देश करते हैं।

४. तिलतैल या चथायोग्य सिंडू तैल से अचरणा, शुक्ष्मा, कर्णिनी तथा प्राक्त्वरणा योनि में उत्तर बस्ति दें।

### संदर्भ

१. अ. द. — बस्तिना दीयते इति बस्तिः ॥ अ. द. सू. १०१ पर

२. बस्तिभिर्दीयते यस्मात् तस्मात् बस्तिरिति स्मृतः । शा. उ. ख. ५-१

“बाचस्पत्यम्” — लेखक तारानाथ भट्टाचार्य, पृ. ४६६, और ४६४

३. च. पा.—अत्र बस्ति शब्दो निरुह एव वर्तते। तद् व्यापदामोवाच वक्तव्यत्वात् ।

च. सि. ७-१८ पर

जेज्जट—बस्ति शब्दोऽत्र निरुहबस्तिः ॥

ब्राह्मनेत्रमष्टांगुलं मुद्दवाही स्तोऽ ।

ब्राह्मनवेक्ष्य यथास्वं स्नेह कशाये विद्धीत् ।

तेजस्नेहादीनां कर्मणां बस्तिरकर्म प्रथानतमग्नाहसनायाः कर्मस्मात् ?

अनेक कर्मकर्त्ताद् बस्तोः ।

इह खलु बस्तिनानाविध द्रव्यसंयोगाद् दोषाणां संशोधन संशमन संग्रहाणि

करोते। शीणशुक्राजाजीकरोति, कुर्षां चूहति, स्थूलं कर्षयति, चक्षुः

प्रीणयति, बलीपलिनमपहंति, वयः स्थापयति। शरीरोपचयं वर्ण

बलमारोग्यमयुषः करोति। परिवृद्धश्च बस्ति: साम्यगुपासितः ।

बस्तिनवतिच पितेच कफे रक्तोच शास्यते।

संसर्गो सोत्रप्राप्ते चा बस्तिरेक हितः सदा ।

शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगाः मर्मोर्खसर्वार्कयवांगजाश्च ।

चे सतितेषां नहि काशिचदन्त्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरास्ति ।

विषमूत्रपित्तादि भलाशयानां विशेषप्रसाधात्करः स चस्मात् ।

तस्याचिकित्सार्थमिति बुवति सर्वा चिकित्सामिति बस्तिमेके ।

च. सि. १-४०, ४९

१. स चोषं निहरणात् शरीर दोषहरणाद्वा निरुहः ।

वयः स्थापनात् आयुः स्थापनात् या आस्थापनम् । १

२०. आस्थापनं निरुहो इत्यनयांतरम् । तस्याविकल्पो मायु तैलकः, तस्य

पर्यायं शब्दो यापने, युक्तरथ, सिंड्रिवद्धि बस्तिरिति । १

३१. यस्मान्मधु च तैलं च प्राधान्येन प्रदीयते।

प्रथमेव यापनों युक्तरथ, सिंड्रिवद्धि बस्तिरिति ।

४२. मायु तैलकमित्येवं विषयभिर्भिस्तिरिति ।

रथेष्वपि युक्तो युक्तरथ, सिंड्रिवद्धि बस्तिरिति ।

५३. यस्मान्मधु च तैलं च प्राधान्येन प्रदीयते।

बलोपचय वर्णानां यस्मात् व्याधिशास्त्रस्य च ।

भवत्येतेन मिळिङ्गस्तु मिळद्वास्तिरितो मतः । १

१२. यापनास्तु बस्तयः मर्वकाले देया: ।

च. पा.—आयुषो यापन दीर्घकालानुवर्तनं कुर्वतीति यापना बस्तयः ।

१३. विविधरथच सः । निरुहोऽन्वासने बस्तिरुत्तरः । १

१४. तत्र द्विविधो बस्ति: नीलहिको स्नौहिकरथच ।

१५. अनुवसन् अपि न दुष्ट्यन्तजुदिवसं वा दीयत इत्यनुवासनः । १

१६. यस्यात्वयः निरुहणां या: मात्रा: परिकीर्तिः ।

पादावक्ष्यास्ता: कार्याः स्नौहिकेष्टा विषयां भवते ।

१७. ड.—तंत्रांत्रेष्टुकं “षट्पली तु भवेजेष्टा विषयां भवते ।

केनोपस्यार्थं पलिका विषयां भवते ।

अस्याव्याद्वावक्ष्यास्ता: कार्याः इति अन्यं पठन्ति ।

तत्रापि अद्वाव्याद्वचत्युर्थो भाग एवेति स एवार्थः । १

च. पा.—.... अनेन साधापलमने मात्रा बस्तिरक्षतो भवति, तत्र हि पट

पलः स्नेह बस्ति:, अनुवासनं तु विपलते ।

१८. हस्त्यापि (अनुवासनस्यापि) विकल्पी अर्थाद्वावक्ष्याव्याद्वपरिहार्यो मात्रा बस्तिरितिः ।

सु. चि. ३५-१, २

१९. स्नेहबस्ति विकल्पः अनुवासनः पादावक्ष्यः ।

पादावक्ष्यास्ता त्वं नीलहिको स्नौहिकरथच ।

२०. तस्यापि (अनुवासनस्यापि) विकल्पी अर्थाद्वावक्ष्याव्याद्वपरिहार्यो मात्रा बस्तिरितिः ।

च. सि. ३५-१८

२१. स्नेहबस्ति विकल्पः अनुवासनः पादावक्ष्यः ।

डल्हण-शोधन द्रव्य संयुक्तो निरुहः शोधनः, स्वर्वनीलहन्वासनथर्मोऽयम् ।

जेज्जटादाचार्यस्तु स्नेहो वृंहेणो इति पटिल्लाने निरुहस्य कर्मेति वर्णयति ।

२२. तत्त्वतोशान शुद्धिकरं दोषाणां शमनं कर्मात् ।

तिथेव कल्पयेद् बस्तिमित्यवेऽपि प्रचन्थते ।

त्रिशान्मताः कर्मसु बस्तयो हि कालस्तोर्धेन तत्तरथच योगः ।

२३. सान्वासनाः द्वादश वै निरुहः प्राक्स्नेह एकः परतरथं पंच ।

काले त्रयोत्ते, पुरत्रयैः स्नेहानिरुहातिरितारथं पट्टस्तुः ।

योगो निरुहारथं त्रयं एव देयाः स्नेहारथं पंचेव परादिमध्या ।

च. सि. ३५-१, २

२४. च. पा.—कालस्तोर्धेन तत्तरथं अर्थशब्दो न समप्रतिवचनः तेन विशेषदर्थ

वेऽपि शाश्वतो च तत्त्रात्मेन तत्त्रात्मेन तत्त्रात्मेन तत्त्रात्मेन ।

बस्तिरथस्त्रशत षोडशाष्टी च कर्मकालयोगः निरुहः स्नेहतंत्रिता

द्वादशप्रत्यत्रयः एक स्नेहतंत्रिता पंचत्रयो चक्रत्रयः ।

कर्म त्रुधा वर्देति” इत्युक्तम् ।

२५. लालः पंचदर्शकोऽत्र पाद् स्नेहेऽते त्रयस्तथा ।

च. सि. १-४७, ४८

२६. च. पा.—कालस्तोर्धेन तत्तरथं अर्थशब्दो न समप्रतिवचनः तेन विशेषदर्थ

वेऽपि शाश्वतो च तत्त्रात्मेन तत्त्रात्मेन तत्त्रात्मेन तत्त्रात्मेन ।

बस्तिरथस्त्रशत षोडशाष्टी च कर्मकालयोगः निरुहः स्नेहतंत्रिता

द्वादशप्रत्यत्रयः एक स्नेहतंत्रिता पंचत्रयो चक्रत्रयः ।

कर्म त्रुधा वर्देति” इत्युक्तम् ।

२७. पंचदर्शकोऽत्र पाद् स्नेहेऽते त्रयस्तथा ।

च. सि. १-४७, ४९

२८. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

२९. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

३०. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

३१. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

३२. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

३३. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

३४. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

३५. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

३६. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

३७. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

३८. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

३९. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

४०. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

४१. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

४२. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

४३. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

४४. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

४५. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

४६. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

४७. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

४८. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

४९. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

५०. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

५१. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

५२. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

५३. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

५४. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

५५. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

५६. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

५७. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

५८. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

५९. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

६०. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

६१. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

६२. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

६३. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

६४. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

६५. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

६६. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

६७. योगोष्टी वस्त्रयोत्ते ।

२५. सिद्धानामिति प्रसिद्ध फलानां तेषुत्तिविति वस्त्यमण वात गदादिषु।  
सिद्धभिति बस्ति निष्पादिका किंवा बस्त्याभिधायक प्रथम् ॥  
च. सि. १०-३ पर च. गा.
२६. च. पा.—प्रसुतोपलक्षितः योगा: नानाधिकृत्य कृतासिद्धिः तेन  
प्रसुतोपलक्षिताऽन्यत्र योगा: वक्तव्या एव।  
अतः ऊर्ध्व द्वादश प्रसुतान् वस्त्याम् ॥ दत्तव्यार्थे सैधवस्याक्षं मधुनः  
प्रसुति दद्य ... एवं प्रकल्पितो वर्त्तनाशं प्रसुतोभवेत् ॥  
जेष्ठाया: खलु मात्राया: प्रमाणीमद्भारितम् ॥
२७. मृदुत्त्वात् पादहीनत्वात् कृत्स्नाविधि सेवनात्..... ।  
सु. चि. ३८-११८
२८. मृदुर्बस्तिः प्रयोक्ताव्यो विशेषात् बालबुद्धयोः ।  
तयोः तीक्ष्णा प्रयुक्तास्तु बरिस्तहन्त्याद् बलायुषी ॥  
(१) रक्ते रक्तेन ॥
२९. च.पा.—रक्ते रक्तेनेति लतरक्तेऽतीसार्यामाणे रक्तेन बस्तिरेयः ॥  
(२) तदेव दध्मप्रिदित रक्तं बस्तिं प्रदापयेत् ॥  
३०. आस्थापन्षु तु भूयिष्ठ कल्पानि द्रव्याणि यानि योगमप्याति तेषु  
तेष्वतस्थांतरेषु आतुराणां, तानि द्रव्याणि नामतो  
विस्तरणोपदिश्यमानः-न्यपरिसंख्येयमानानिस्युः अतिवहुत्वात्।  
इष्टश्चान्ति संक्षेप विस्तरेणोपदेशस्त्रैः। इर्द्यं च केवल शान् ।  
३१. तस्मादस्तत एव तत्पत्र विकल्प विरतरो हेषामपरिसंख्येयः ।  
सप्तमवेतानां रसानां अंशांशबल विकल्पातिबहुत्वात्।  
३२. तस्मादद्रव्याणां चैकेदेशमुदाहरणार्थं रसेष्वत्विभय्य रसैककशेन  
रसकैवल्येन च नाम लक्षणार्थं षडास्थापन लक्ष्यः  
रसतोनुविभद्य व्याख्यास्यते ॥  
च. वि. ८-१४१
३३. फलिनीः क्षुण् । .... धामार्गविमयेक्षवाकु जीमूतं कृतवेधनं ।  
मवनं कृटजं चैव त्रपृष्ठ हस्तिपरिणी ।  
३४. सर्पित्सौतैलं वसा मज्जा स्नेहैदिष्ट श्वतुर्विधः ।  
पानाधार्यजन वरत्यर्थं नस्त्यर्थं चैव योगतः ॥  
३५. अविमूत्रमज्जामूतं गोमूतं माहिर्षं च यत् ।  
हस्तिमुत्रमयोऽस्त्रूपृष्ठं हृतस्य च खरस्य च ।  
.... युक्तं आस्थापने मूत्रम् ॥  
३६. पाटला चाग्निमध्यंश्च विल्वं श्योनाकमेव च ।  
कार्यमर्य शालपर्णी च पृष्ठिनपर्णी निविष्ठिकाम् ।  
बला श्वदस्त्रा बृहतोमध्यं सपुत्रनविन् ।  
यवान्-कूलत्यान कोलानि गुड्डिं भद्रनानि च ।  
पलाशं कन्तुणं चैव स्नेहांश्च लवणानि च ।
३७. युक्तं आस्थापने मूत्रम् ॥  
पाटला चाग्निमध्यंश्च विल्वं श्योनाकमेव च ।  
कार्यमर्य शालपर्णी च पृष्ठिनपर्णी निविष्ठिकाम् ।  
बला श्वदस्त्रा बृहतोमध्यं सपुत्रनविन् ।  
यवान्-कूलत्यान कोलानि गुड्डिं भद्रनानि च ।  
पलाशं कन्तुणं चैव स्नेहांश्च लवणानि च ।
३८. फलिनीः क्षुण् । .... धामार्गविमयेक्षवाकु जीमूतं कृतवेधनं ।  
मवनं कृटजं चैव त्रपृष्ठ हस्तिपरिणी ।  
३९. सर्पित्सौतैलं वसा मज्जा स्नेहैदिष्ट श्वतुर्विधः ।  
पानाधार्यजन वरत्यर्थं नस्त्यर्थं चैव योगतः ॥  
३५. अविमूत्रमज्जामूतं गोमूतं माहिर्षं च यत् ।  
हस्तिमुत्रमयोऽस्त्रूपृष्ठं हृतस्य च खरस्य च ।  
.... युक्तं आस्थापने मूत्रम् ॥  
३७. पाटला चाग्निमध्यंश्च विल्वं श्योनाकमेव च ।  
कार्यमर्य शालपर्णी च पृष्ठिनपर्णी निविष्ठिकाम् ।  
बला श्वदस्त्रा बृहतोमध्यं सपुत्रनविन् ।  
यवान्-कूलत्यान कोलानि गुड्डिं भद्रनानि च ।  
पलाशं कन्तुणं चैव स्नेहांश्च लवणानि च ।

- उदावर्ते विवंधे च युञ्ज्यादतस्थापनेषु च ।  
अतएवोषधयाणान् सकलं भृत्युत्वासनम् ॥  
च. सू. ४-११ से १४
३८. विवृतविल्व पिप्पली कुछु मर्षप वचा बत्सकफल शतपृष्ठ ।  
मधुक मदनफलानीति श्योनानि आस्थापनोपानि भवति । ।  
च. सू. ४-१६
३९. रास्ना सुरदारु बिल्व मदन इत्यपुष्टा वृश्चीरं पुत्रनवाइवद्युग्मिनमंथ  
श्योनाका इति दशोमान्युटवासनोपानि भवति ।  
च. सू. ४-१६
४०. यत्पूर्वविधमारथपनमेकरसमिति—आचक्षेषिषजस्तद दुर्लभतम्,  
संसृष्टरस भूयिष्ठत्वात् द्रव्याणाम् । तस्मान्मधुराणि च, मधुप्रायाचापि,  
मधुरिविपाकानिच मधुर प्रभावानिच मधुरसंक्षेपे मधुराणयेव कृत्वा उपदेश्यन्ते ॥  
च. वि. ८-१४२ से १४७
४१. सुखोषां घृतैल लवण वसा मज्जा फणितोपहितं बस्तिं वातविकारिणे  
विधिशो विधिवद्यात् । शीतंतु मधु सर्पिन्यामुप संसृत्य पित्तविकारिणे  
विधिवद्यात् इति मधुर संक्षेपः ॥  
च. वि. ८-१४७
४२. सुखोषां बस्तिं वातविकारिणे विधिशो विधिवद्यात् इति अत्यस्तकथः ।  
च. वि. ८-१४२
४३. एतानि अप्त्योपहितानि—उष्णोदकोपहिताणि च स्नेहवर्ति मुखोषा  
बस्तिं वातविकारिणे विधिशो विधिवद्यादिति लवणस्तकथः ।  
च. वि. ८-१४३
४४. यथावन्मधु तैल लवणोपहितं सुखोषां बति इतेष्विकारिणे  
विधिशो विधिवद्यादिति कट्टुक संक्षेपः ।  
च. वि. ८-१४४
४५. यथावन्मधु तैल लवणोपहितं सुखोषां बति इतेष्विकारिणे  
विधिशो विधिवद्यादिति कट्टुक संक्षेपः ।  
च. वि. ८-१४५
४६. क्षीराग्न्यम्लनि पूत्राणि स्नेहाः कवाशः रसास्तथा ।  
४७. लवणानि फलं क्षीदं शताहृ सर्पं बचा:  
एला त्रिकटुकं रसना सरलो देवदारुच ।  
रजनी मधुकं हिणु कुछु संशोधनानि च ॥  
४८. कट्टुका शर्करा मुस्ममुखीरं चंदनं शटी ।  
मंजिष्ठा मदनं चंडा नायमाणा रसांजनम् ॥  
बिल्वमर्य यवानीच फलिना शक्रजा यवाः ।  
काकोली क्षीरकाकोली जीवकर्वभक्तवृ भी ॥  
तथा मेवा महामेदा त्रहन्दिवृत्तिलिका ।  
निर्बहुष्य यथा लाभं एष वारो विधीयते ॥  
(ङः—इदानीं बस्ति यौगिकानि द्रव्याण्युपदिशाबाह से ये द्रव्य दोनों बस्ति में  
उपयोगी हैं)
४९. मदन कुटजलकुछु देवदाली । मधुरक वचा दशमूल दारु रास्ना: ।  
५०. यवमिसी कृतवेधनं कृतवेधनं कृतलत्या । मधुरलवणं त्रिवृता निरुहणानि ॥  
के बस्तय केषु हिता इतीदं श्रुत्योतारं प्राह वचो महाष्ठः ॥  
अ. ह. सू. ४-१३  
च. सि. १-३  
च. सि. ३-५

१०. साध्या गदा: स्वै शमनैश्च केचित् कम्मात्रम् युक्तौर्म् शम्प्रं ब्रजति।

११. मेदो कफात्यामनिलो निरुद्धः शूलाग सुप्रियस्वयुक्तरोति।

स्नेहं तु उंजत्रत्रुधस्तु तस्ये संवर्धयत्येव हि तान् विकारान्॥

गोगस्तथान्येऽप्यवित्कर्यमाणः परस्मेणावगृहीत भागः।

संदूषिता थातुभिरेव चान्तोः स्वैर्भिर्जोपशमां ब्रजति॥

च. सि. १-५७, ५८

(१) अनाथायास्तु-अजीर्णवति स्निग्धमति स्नेहोक्तिष्ठ दोबाल्पानि यान-  
कलातातिदुर्बलं शुरुण्डः श्रमातिक्रिक्षा शुक्रतभक्तं पीतोदकवमितपित्त-  
कृतनस्तः कर्म कुर्द्ध भीत यत यत मूर्छित प्रसक्ताछदि निष्ठीविका श्वासकास  
हिक्काबद्ध छिद्रोद्गोदराध्यानालसक विसृचिकाम्प्रजातामातिसार मधुमेह  
कुष्ठती॥

(२) त्रोमाद यथ शोक पिपासारोचकाजीणार्थः पांडुरोग भ्रमद्व मूर्छ्व छर्दि कुर्द्ध  
मेदोहर स्पौत्यं श्वासकास केंठशोष शोफोपस्ट श्वतस्त्रीण चतुर्स्त्रमास गोभिणी  
तुबंलान्यसहा बालवृद्धि वातरोगादृते नानुवास्या नास्थापितव्या।

(३) अनास्थाया स्वति स्निग्धः भ्रतोरस्को भूर्णो कृशः। आयातिसारी लाग्निमान-  
सशुद्धो दत्तनावनः॥ श्वासकासप्रदेवकार्शीहिघमानात्पवहयः।

शून्यामुः कृताहारी बद्धिष्ठित दकोदरी। कुर्ढीत्वं मधुमेहीच्च मासान्सप्त्वं  
गर्भिणी॥

अ. ह. सु. ११-४, ५६

५३. तत्रः जीणयतिज्ञात्य गीतस्नेहां दृश्योदरं भूर्छ्वा श्ववयु वा स्यात्, उत्कलष्ट दोष  
मन्दन्योरोचकस्तीत्रः यानवलात्स्य शोभ व्यापत्तो बिस्तराशु देहं शोषयेत्। अति दुर्बलं  
शुरुण्डा श्रमातोनां पूर्वाक्तो दोषः स्यात् अतिकृशस्य कार्यं पुनर्जनयेत् शुक्रत-भक्त  
पीतोदक्योः उत्क्लिन्योर्भव्यमधो वा वायुस्तिमुत्स्यप्यहिप्र वीरान्तिकारान् जनयेत्,  
वमित विक्ततयोर्तु रुक्षं सरीरं निरुहेत् शर्तं शार इव द्वहेत् कृतनस्त, कर्मणीविश्रांसं  
भृंशं संरुद्धं लोतसः कुर्यात्, कुर्द्ध भीतयोः बिस्तरोद्धर्षमुत्स्वरेत् मतमूर्छितामोः भूर्णो  
विचलिता चां संशायां वित्तोपथात व्यापत् स्तारा। प्रसक्तं छर्दि श्वासकास  
निष्ठीविका हिक्कार्ताना ऊर्ध्वीभूतो वायुः ऊर्ध्वं बस्ति नयेत्  
बद्धिष्ठोद्गोद्गोद्गाधारातानां शुश्तरमाध्याय्य बस्ति प्राणान् हिस्यात अलसक  
विसृचिकाम्प्रवातानामित्सारिणा मासकृति दोषः स्यात्। मधुमेह कुर्ढिष्ठोद्गोद्गोद्गोः पुनः  
कुर्द्धिः॥ तस्मादेतेनस्थाया॥

च. सि. १-१५

५४. शेषास्त्रस्थाया, विशेषतस्तु सनीगैकां कुहिंगो वात वचों मूत्रं शुक्रंनगं बल  
मांसं रेतः श्यादोपस्थानांगं सुद्धिक्रिमि कोष्ठोदावतं शुज्जातिसार

पवर्दाभित्तापल्लीह गुल्म शूलहद्गोग भगदगोमाद ज्वर ब्रह्म शिरः कर्णं शूल  
हृदयपाशवृष्टिं कटीप्रह वेदनासेवकं गौरवतिलापवरजः। श्यावति विष्यापिति  
स्तिफ्कार्ण जानुं जघोर गुल्म पारिकार्तिकालयात्म्यं सश्ववदोग्रागंधोस्यानादयो वातस्याधयो  
विशेषणं महारोगाध्यायोक्तास्य, एतेषु हि आस्थापनं प्रधानतमात्मित्यक्तं  
वनस्पति मुलत्वेदवत्॥

(१) तथा ज्वरातिसार तिमिर प्रतिश्याय शिरोगाध्यमंदितादेष्यं पक्षाधातिकांग  
स्वांग रोगाध्यानोद्वर योनिशूलं शक्राशूलं वृद्ध्युपर्दशानाह मूत्रकृष्णं गुल्मवात

५५. साध्या गदा: स्वै शमनैश्च केचित् कम्मात्रम् युक्तौर्म् शम्प्रं ब्रजति।

प्रपृतिषु चात्यर्थमुपयुक्तयोते॥

—तेन साधयेत्। गुल्मानाह गुदस्तीहं शुद्धातीसार शूलिनः। जीर्णज्वर

वर्षार्शमपी रजोनाशान् दारुणांशचनिलामयात्॥

प्रतिश्याय शुक्रानिल मलयान्॥

च. सि. १-५७, ५८

(३) अनाथायास्तु-अजीर्णवति स्निग्धमति स्नेहोक्तिष्ठ दोबाल्पानि यान-  
कलातातिदुर्बलं शुरुण्डः श्रमातिक्रिक्षा शुक्रतभक्तं पीतोदकवमितपित्त-  
कृतनस्तः कर्म कुर्द्ध भीत यत यत मूर्छित प्रसक्ताछदि निष्ठीविका श्वासकास  
हिक्काबद्ध छिद्रोद्गोदराध्यानालसक विसृचिकाम्प्रजातामातिसार मधुमेह  
कुष्ठती॥

(४) त्रोमाद यथ शोक पिपासारोचकाजीणार्थः पांडुरोग भ्रमद्व मूर्छ्व छर्दि कुर्द्ध  
मेदोहर स्पौत्यं श्वासकास केंठशोष शोफोपस्ट श्वतस्त्रीण चतुर्स्त्रमास गोभिणी  
तुबंलान्यसहा बालवृद्धि वातरोगादृते नानुवास्या नास्थापितव्या।

च. सि. १-१४

(५) अनास्थाया स्वति स्निग्धः भ्रतोरस्को भूर्णो कृशः। आयातिसारी लाग्निमान-  
सशुद्धो दत्तनावनः॥ श्वासकासप्रदेवकार्शीहिघमानात्पवहयः।

च. सि. ३५-११

(६) अ. ह. स. ११-२, ३

(७) य एवानास्थायास्त एवानुवात्याः स्तुः, विशेषतस्त्वपुत्रं भवत नवज्वर  
पांडुरोगाकामला प्रमेशाः प्रतिश्यायारोचक मंदानिदुर्बलं - एलीहा  
कफोदवोरस्तं वचोभेद विषगरतित पित कफाभिष्वद गुरुकोष्ठ  
स्त्रीपटगतगडापत्रिक्रिमि कोर्णितमः॥

च. सि. २-१७

(८) देखे ५३-२ संदर्भ तथा उद्वरो च प्रमेही च कुर्ढी स्युलाशच मानवः।

सु. चि. ३५-२२

(९) ... नानुवास्या स्त एव च।

येऽनास्था व्याहततथा पांडुकामला मेह पीनसाः।

निरन्त्रनीहतिड्पेदो गुरु कोष्ठ कफोदराः॥

अभिष्वदी धूरास्थूलत्वं कूमिकोस्टाळ्यं मारुताः।

पीते विषे गोडपन्द्या स्त्रीपदे गलगेङ्गवान्॥

अवश्यं स्थापनीयात्ते नानुवास्या कथंचन॥

निरन्त्रनीहतिड्पेदो गुरु कोष्ठ कफोदराः॥

अ. ह. स. ११-७, ८

(१०) त्रायामुक्तं भवत त्यानावृत यार्ता त्यात्याद्यमति वर्तते स्नेहः। नवज्वर पांडुरोग  
कामलाप्रमोहिणां दोषानुत्किश्योदरं जनयेत् अर्णस्त्रायाशिष्वे धाय्यनं  
कुर्यात्तर्योरोचकार्तस्यात्रगृह्णें पुनर्हन्त्यात् मंदानिदुर्बलयोर्मवतरमग्निन कुर्यात्  
प्रतिश्याय द्वीहादि भवत भूषमुत्किस्त्वं दोषाणां भूय एव दोष बर्धयेत् तस्मादेते  
नानुवास्या॥

अ. ह. स. ११-८, अ. द.

(११) कूमिकोष्ठस्थानुवासनात्पवमिहतोः कूमिपरितिहव्वलादशेष  
निस्परणेन हृदयमितिकर्षी च्छद्येषुः।

(१२) य एवास्थायास्त एवानुवास्या, विशेषतस्तु रुक्षं तीर्थ्यान्यः केवल  
वातरोगातार्स्ता। एतेषु हि अनुवासनं प्रधानतमात्मित्यक्तं मूलं इमप्रसक्तवत्।

च. सि. २-१८

(१३) अ. ह. स. ११-७, ८

(१४) अ. ह. स. ११-८, अ. द.

(१५) अ. ह. स. ११-८, अ. द.

(१६) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(१७) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(१८) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(१९) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(२०) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(२१) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(२२) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(२३) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(२४) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(२५) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(२६) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(२७) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(२८) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(२९) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(३०) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(३१) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(३२) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(३३) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(३४) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(३५) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(३६) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(३७) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(३८) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(३९) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(४०) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(४१) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(४२) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(४३) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(४४) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(४५) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(४६) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(४७) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(४८) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(४९) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(५०) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(५१) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(५२) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(५३) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(५४) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(५५) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(५६) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(५७) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(५८) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(५९) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(६०) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(६१) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(६२) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(६३) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(६४) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(६५) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(६६) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(६७) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(६८) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(६९) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(७०) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(७१) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(७२) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(७३) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(७४) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(७५) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(७६) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(७७) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(७८) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(७९) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(८०) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(८१) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(८२) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(८३) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(८४) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(८५) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(८६) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(८७) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(८८) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(८९) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(९०) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(९१) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(९२) अ. ह. स. ११-९, अ. द.

(९३) अ. ह. स. ११-९, अ. द.



७५. आमता हीनतातिमात्रातिशीतात्युच्छातिशिष्ठातिमुद्गतातिस्मिन्थ-  
तातिरक्षतातिस्मिंद्रातिप्रवता इति एकादशा द्रव्यदोषाः ॥
७६. हीनमात्राकुभी बास्त नातिकार्यकारोमती ।
७७. अतिमात्रा तथानह कल्पमातीसारकारको ।
७८. (१) निरुहमात्रा प्रसृताधर्माद्ये वर्ष ततोऽर्धं प्रसृताभिवृद्धिः ।
- आद्वाद्वाद् स्थात प्रसृताभिवृद्धिरप्लादशाद् द्वादशतः पारं स्युः ॥
- आसप्ततेस्तद विहितं प्रमाणामतः परं षोडशवदविधेयम् ।
- (२) निरुहमात्रा प्रसृते प्रसृतो वर्षे वर्षे । च. सि. ३-३१, ३२
- निरुहमात्रा प्रसृते वर्षे वर्षे । च. सि. ३६-१
७९. नेरुत्वास्थापन इन्यप्रमाणमात्र इन्यप्रमाणाणमात्र इन्यप्रमाणाणमात्र सम्भितेन प्रसृतेन सम्भितो द्वौ चत्वाराष्ट्रे च  
दरीवप्रसृतः परम् ।
- नेरुत्वास्थापन इन्यप्रमाणमात्र इन्यप्रमाणाणमात्र सम्भितेन प्रसृतेन सम्भितो द्वौ चत्वाराष्ट्रे च  
विधया: ।
८०. नेरुत्वास्थापन इन्यप्रमाणमात्र इन्यप्रमाणाणमात्र सम्भितेन प्रसृतेन सम्भितो द्वौ चत्वाराष्ट्रे च  
विधया: ।
८१. नेरुत्वास्थापन इन्यप्रमाणमात्र इन्यप्रमाणाणमात्र सम्भितेन प्रसृतेन सम्भितो द्वौ चत्वाराष्ट्रे च  
विधया: ।
८२. मध्यमं प्रसृतमुद्दिष्टं हीनं च कुडवं त्रयं ।
८३. भागः कथायस्य तु पञ्च वित्ते स्वस्य पञ्च भागः कथायस्य तु च पञ्च भागः कथायस्य तु च पञ्च भागः
- वाते विवृद्धे तु चतुर्थं भागो मात्रा निरुहेषु कफेऽप्त भागः ॥ ११
- च. पा.—संग्रहतिविधियो द्वादशप्रसृतो निरुहस्तस्य कथायस्नेमात्रां  
कथायस्य भवति, तेन पञ्चप्रसृतकथायस्य, वित्ते स्वस्य वर्षः तथा प्रसृतीस्थितेषु  
स्वस्य वर्ष इत्यर्थः । ... तेन द्वादशप्रसृतस्य वर्षो भागो द्विप्रसृतं भवति । स्वेह शब्देन  
वृत्ततालादि प्रहणमा चाते तु वृद्धे चतुर्थं भागः स्वेह चतुर्थो भागः प्रसृत त्रयम् । अस्तम  
भाग इति सादं प्रसृतः ।
८४. शीतः स्वतिस्तंभकरो विद्वाहं मूर्च्छ्याच कुर्यादति भावमुण्डः ।
८५. मूर्च्छा द्वाहमतीसारप्रसृतं चात्युष्णा तीक्ष्णाको ।
८६. स्निग्धं तु जाज्यं पवनं तु रुक्षाः.... करोति । ११
८७. ... तु साद्रं सूक्ष्मिणं पवनं तु रुक्षाः.... करोति । ११
८८. न वृहेणीयान् विवर्धीत बवित्तिन विशोधनी येषु गदेषु वैद्यः ।
८९. कुरुष्टं प्रमहादिषु मेद्वरेषु नरेषु ये चापि विशोधनीयाः ॥
९०. शीपस्तानां न विशाखानीयान् शोषिणा नो भृशा दुर्बलानां ॥
- न मृद्धिष्ठानां न विशोधितानां वेगात्त दोषेषु निबद्धमायुः ॥
९१. सर्वं तदेकतः विधिः । उत्तातु कुभी बाष्पे वा तप्तं खज यमाहितं ॥
९२. माक्षिके लवणं स्नेहं कल्पकं कवाथमिति क्रमात् ।
९३. आबपेत निरुहाणा हेष संयोजने विधिः ॥
९४. सर्वं तदेकतः । उत्तातु कुभी बाष्पे वा तप्तं खज यमाहितं ॥
९५. पूतो यवानी फलाचित्त्वं कुरुष्टवचा शताह धनं पिप्पलीना ।
९६. सु. चि. ३६-११
९७. अ. ह. सु. ११-४५
९८. अ. ह. सु. ११-४४

कल्केऽुद्धशोद वृत्तैः सतैतैः युक्तः सुखोषो लवणाच्चित्तश्च ॥

बस्ति च यस्मिन्यन्तितौ न कल्कः सर्वं दद्याद्युमेव तत्र ॥

अ. ह. क. ४-२, ३  
अ. ह. सु. ११-२०

तातिरक्षतातिस्मिंद्रातिप्रवता इति एकादशा द्रव्यदोषाः ॥

हीनमात्राकुभी बास्त नातिकार्यकारोमती ।

अतिमात्रा तथानह कल्पमातीसारकारको ।

११. निरुहमात्रा प्रसृताधर्माद्ये वर्ष ततोऽर्धं प्रसृताभिवृद्धिः ।

आद्वाद्वाद् स्थात प्रसृतमिति क्रमात् ।

सु. चि. ३६-११

तैलाक्तगताय ततो निरुहं दद्याद् ।

च. पा.—न निरुहांगता सर्वं पानस्य कल्पनीया ॥

सु. चि. ३७-४४

अ. ह. सु. ११-२०

रुक्षस्य बहुयात्स्य द्वौ जीवन्यनुवासनम् ।

दत्त्वा स्निग्धितनुशात्वा ततो पश्चात्रिरुहयत ।

अथनुवासितं आस्थापयेत् ।

आस्थापयनहुरुपसं विधिः समीक्ष्य युग्मेहानि युक्ततपस्ये ।

च. पा.—शुक्लपक्ष इति शुक्लपक्षस्य सर्वार्थं युक्तं भवति ।

सु. चि. ३८-१

प्रसृतास्ततः । प्रसृतं वर्षयेद्यूर्ध्वं द्वादशाष्टादशस्य तु । आसप्ततेितं मान

अ. ह. सु. ११-१८, १९

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३-३१, ३२

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३६-१

सु. चि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

सु. चि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

सु. चि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

सु. चि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

सु. चि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

सु. चि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

सु. चि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

सु. चि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

सु. चि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

सु. चि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

सु. चि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

सु. चि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

सु. चि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

सु. चि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

तेन विवृद्धे तु चतुर्थं वर्षे वर्षे । च. सि. ३५-७

सु. चि. ३५-७

आयर्वेदीय पंचकर्म विशान

मध्यमामां घानुसिकमनागत बुद्धमप्सक्षयितमातमैषधा-सन्मुपसंगृह, पुनरपरि  
तदिरेण दक्षिणावस्थितेषु ततः सुनेतोपथन्ते. दिस्त्रिव॒त्त्रेष्ट्य बधीनावात् अथ  
दक्षिणातनेन पाणिना वस्त्राहित्या यमहस्त मध्यमागुलि  
नेत्रमुपसङ्गागुणेन नेत्रदारं विद्यय, दृष्टाभ्यक्ताम नेत्रं दृष्टाकरपुराय प्रवद्धेदपुष्टवश  
सममुन्मुखमाकरिकं नेत्रं प्रणिधस्त्व-इति व्यापात।  
बस्ति सब करे कृत्वा दक्षिणाव पीडयेत्। एकज्ञेव पीडेन न दुतं न विलिखितम्। ततो  
नेत्रमपनीय विश्वामात्रः पीडेन कालाद्येष्यतिष्ठेति  
अथापुरवेशेदुक्तुं वस्त्र्यागमनारथम्।  
उच्छ्वास्य बस्तेर्वदने बद्धे हस्तमपवद्यम्। ॥

१००.	उच्छ्वास्य नवत्वदनं बद्धं हस्तमप्यन् ॥	अ.ह.सू. ११-१५
	तिर्यक् प्रणीति न तु याति धारा गुदे व्राणः स्थाच्चलिते तु नेत्रे ।	च.सि. ३-२०
	दत्तः शानैनशियमोति बस्तिः कंठं प्रथाचत्यति पीडितश्च ॥	अ.ह.सू. ११-१६
१०१.	सावरोषं च कुर्वति वायुः शेषे हि तिष्ठति ॥	अ.ह.सू. ११-१७
१०२.	दत्तेपुतनदेहस्य पाणिना ताडयेत्प्रस्कौची ॥	

१०५.	दस्तपूरानहस्य पाणना ताहयतास्त्रचा।	अ.हं.सु. ११-२७
१०६.	वामाश्रये हि ग्रहणी गुदेच तत्पारविमास्त्रस्य सुखोपलक्ष्यः । लीयनं एवं बालयश्च तस्मात् सर्वं शयनोर्हति बस्तिदान ॥	च.सि. ३-२४
१०७.	विड्वातवेगो यदि चार्य दत्ते निक्षेप्य मुक्ते प्राणयेदरेष्वम् । उतानदेवहस्य कृतोपाधानः स्याद्वीर्यमान्नीति तथास्य देहः ॥	च.सि. ३-२५

(१) अनायातं महूदत्तु निरुह शोधनैरहेत्।  
तीक्ष्णोनिरुहमितानं क्षारमुत्रात्मा संयुतैः॥

(२) त्रावनुलीमिकं स्नोहं क्षार मूत्राम्लं कठिपतम्।  
त्वरितं स्निग्धं तीक्ष्णोणां बहिस्तम्यं प्रपीडयेत्॥

(३) विद्याट्कलं वर्ति वा स्वेदनोत्त्वान्वानि इ॥

ब्र. सि १-४०

विद्यारक्तल वर्ति वा स्वेदनोत्तरासननि च । ।  
 अ द — उत्तरासनं खड्गहस्तं योधवदर्शनादिना ॥ ॥  
 कृपित वृष्ट खड्गरा व्यग्री ब्राह्मणहस्तं कुर्यात् ।  
 नाभि प्रदेशं कटिपश्चर्व कुर्वित्वा शङ्कृदोषवर्णं विलोक्य ।  
 सम्पन्नेहाकारं स पूरीष दोषः सम्भ्या सख्वेनेतिव यः स वस्त्रः ॥ ॥

०८.

०९. समस्तहाय सपुत्र वाषः समयः सुखनीतिच यः स ब्रह्मिः ॥  
 (१) प्रस्तृत विभूत्वा समीरणत्वं रुच्वानि वृक्षाणाशय लाघवानि ।  
 रोगोपशास्ति: प्रकृतिस्थानं च गतं च तत्स्यात् सुनिकुदलिहेऽपि ।  
 (२) वस्त्रकमेण गच्छति विटप्रेतकफकवादवः ।  
 लाघवं चोपजायेत् सुनिरुक्षं तथा देशेत् ।

(१) स्थानुपायमेह द्वारा बहित लिगो इफोक, प्रति, गय विकासिते च।  
हल्लासिका पारंत मुख्यं: इवासीन सम्भग्, च निरुहते स्मः ।

(२) यस्याद्वास्तरल्पत वेगोहन मलानितः ।  
दनिलङ्घः स विरेयो मूलर्त्युचि जाह्यवत् ॥

(३) लिंगं व्यदेवाति विशेषितम् भवेत्तदेवाति विशेषितम् ।



१३७. आमशेषे निरुहेण मृदुना दोष ईरितः ।

मार्ग रुणद्विं वातस्य हत्यानि मूँह्यत्यपि ॥

कलमं विदाहं हृच्छूलं मोहवेष्टन गोरेवं ।

कृयात् स्वेऽविरुद्धैस्तं पाचनैश्चायुपाचरेत् । ॥

पिपली करुणोशीर दारु मूर्बाशूतं जलं ।

पिवेत्सौवर्चलं मिश्रं दीपनं हृद्वशोधनम् ॥

वचानार शट्टेला दधिमधेन मूर्च्छितः ।

पेया: प्रसन्नया वा स्थुरदिष्टेनासवनं च ॥

दारु त्रिकटुकं पथ्यां पलाशं चित्रकं शटीम् ।

पिष्टवा कुण्ठं च मुरेण पिवेत्सारश्च दीपनान् ।

बस्तिमस्य विदध्याच्य समूकं दाशमूलिकं ।

समूनभवच अक्ष-लवणं माझौतेतिकम् ॥

अल्पवीर्यो महावोषे रुक्षे कूराशये कृतः ।

बस्तिदेवाहुतो रुद्धमारुं रुध्यत्समीरणम् ॥

स विमार्गोऽनिलः कुर्यादध्यानं मर्मपीडनम् ।

विदाहं गुरु कोष्ठस्य मुक्कवक्षेण केदनम् ।

रुणद्विद्वयं शूलोरित्यचेतश्च धावति ।

इयामा फलादिभिः कुच्छ कृष्णलवण सर्वये: ॥

धूम माषवचा किएव क्षार चूर्णं गुह्यैः कृतान् ।

कराणुष्ठ निभां वार्ति यवमध्यां निधापयेत् ॥

अऽयक्त दिव्यनात्रात्मस्य तैलाकां स्नेहिते गुदे ।

अथवा लवणागार धूम सिद्धार्तकैः कृताम् ॥

बिल्वादिना निरुहः स्थात् पीतू मष्प मूत्रवान् ।

सरलामरदारुभ्यां सिद्धं चैवानुवासनम् ॥

मृदुकोष्ठुङ्कवेते वर्त्तितीक्षणाऽनिर्हन् ।

कृयादिकां हिंत तस्मै हिक्काङ्गं बृहणांच यत् । ॥

बला स्थिरादि काशमर्य विफला गुडसेंधवैः ।

सप्तसन्नार नारामलैतं पवक्त्राऽनुवासयेत् ॥

कृष्णां लवणयोरक्षं पिबेद्वाना मुख । सिंचेद् पाशवैदं चाथः: प्रमृज्यात्

कीजयेच्च तम् । केशेभ्यालंब्य चाकाशे धूनया-त्रासयेच्च तम् । गोखराश्च गजैः स्तैः:

राज्यप्रेष्वैस्तथोरगैः । उल्काभिरेव मन्त्रैश्च भीतस्याथः प्रवर्तते । वस्त्र पाण्यम् हैः कंठं

रुध्यान्न श्विते यथा । प्राणोदान निरोधाद्वि प्रसिद्धतरमागविन् । अपानः पवनो बस्ति

तमाशेवप-कर्त्तव्य । ततः क्रमुक कल्पकाङ्गं पायवेताल्म संयुतः । औष्ण्य तैश्यात् सर-

त्वा च्च बस्ति सोऽस्यानुलोमयेत् । पवक्त्राशय स्त्रेते इत्यहो दाश-मूलिकः । यव-

कोल कुलत्येष्व विधेयो मूत्रासाधितः । बिल्वादि पंच मूलेन सिद्धो बस्तिरुः स्थितैः ।

स्त्रांघे स्वित्रे महादोषे बस्तिमुद्दत्य भेषजः । उत्किरतश्याल्यं हरदोषं जनयेच्च

प्रवाहिकाम् । सबस्ति पायु शोफेन जंघोर सदनेन च । निशुद्ध मारुलो जंतुरभीक्षणं सप्तवाहते । स्वेदाय्यां निरुहांश्च शोधनीयान्तुलोमिकान् । विष्यालंश्चयित्वा तु द्वितीयत्वात् विरक्तवत् ॥

१४२. उर्बते कूरकोष्ठे च तीव्र दोषे तनुर्मुदुः । शीतोल्पश्याहृतो दोषवैतितस्तद्वृत्तिहोऽनिलः ॥ मार्गोग्नित्रिणि संधावन् कुर्वत्य पूर्णिं विहन्त्यते । ग्रीवां मन्त्रे च गुह्यातितिशयः ॥ कंठं भिनति च । बाधिर्य कर्णा नादं च पीनसं नेत्रं विप्रमम् । कृयादध्याजनं तैल लवणेन यथाविदिः । युज्यात् प्रथमनैन्त्यधूमैरस्थ विरेवयेत् ॥

१४३. स्नेहस्वेदैरनपाय शुक्तेऽनुवासयेत् । ॥ पस्य लवणं चास्ति: प्रयुज्येत सोऽउति मात्रं प्रवतयेत् । श्रुतेषु तस्य दोषेषु निरुद्धस्याति मात्रशः । सञ्चोदवृत्तां कोष्ठस्य वायुं संप्रति हन्त्यते । विलोमन समूद्यूतो रुज्यत्याणि देहिनः । ग्राव वेष्टन निस्तोद भेदस्फुण रुध्याणः । तं तैल लवणांश्चकं सेच्येदुष्णा वारिणा । एरण्ड पत्र निखत्वाथे: पवक्त्रा पादशेषेण तैन च । कुर्यात् सविल्व तैलोषा लवणेन निरुहणम्: तैनिरुद्धस्मारकस्तम्भोण्यां विष्णुवत्त्वात्मस्य कारयेद्वृत्यासनम् । यद्यमध्यक्षतेलेन विल्व तैलने वा भिषण् ।

१४४. पृदुः कोष्ठाल्य दोषस्यस्त्रस्तीक्षणोति मात्रावान् । बस्तिदेवात्मविरन्त्याशु जनयेत्परिकर्तिकाम् । व्रिक् बंकण वस्त्रीनां तोदं नाभरथो रुजं । विक्षेपाल्य-इत्यभुव्यान बस्तिनिलेष्वनादवेत् । स्वादु शीतोष्ठैरुत्स्त्र पय इक्षवादिभिः: श्रुतं यस्यात्याहातिलक्काम्यां विस्ता: स्वाद॑क्षीरभोजिनः । सप्तसर्वस यस्त्वाह लिङिनी कर्दमाजनम् । विनीय दुधेष्व विस्ता: स्वात् व्यक्ताम्लमृदु भोजिनः ॥

१४५. पितरोग्नम्ल उष्णो या तिष्णो वा लवणाऽथ वा । बस्तिनिर्खिति पायुं तु द्विष्णोति विद्वत्यपि ॥ स विदग्धः स्वावत्प्रव पितं चानेक वर्णवत् । सार्थिते बहुवेगेन मोहं गच्छति चासक्तुः । आर्दशाल्मली वृत्तेषु कुण्ठणराजं मया शूतम् । सप्तिष्ठ योजितं शीतं बस्तिमस्मै प्रदपयेत् । वटादि पलवेष्वेष कल्पो यवतिलेषु च । सुवर्चलोपविक्योः कर्विदारे च शस्त्रते । गुदे सेका: प्रदेहश्च शीता: स्थुर्मधुराश्च चैरक्षतापित्तात्मसारच्ची क्रिया चात्र प्रशस्यते ।

१४६. च. सि. ७-११ से १६ च. सि. ७-११ से १९ च. सि. ७-१८ से ६२ च. सि. १२-५० च. सि. १२-५७ च. सि. १२-५९ च. सि. १२-५८

विल्वादिना निरुहः स्थात् पीतू मष्प मूत्रवान् ।

१४७. कृयादिकां हिंत तस्मै हिक्काङ्गं बृहणांच यत् ।

बला स्थिरादि काशमर्य विफला गुडसेंधवैः ।

सप्तसन्नार नारामलैतं पवक्त्राऽनुवासयेत् ।

कृष्णां लवणयोरक्षं पिबेद्वाना मुख । सिंचेद् पाशवैदं चाथः: प्रमृज्यात्

कीजयेच्च तम् । केशेभ्यालंब्य चाकाशे धूनया-त्रासयेच्च तम् । गोखराश्च गजैः स्तैः:

राज्यप्रेष्वैस्तथोरगैः । उल्काभिरेव मन्त्रैश्च भीतस्याथः प्रवर्तते । वस्त्र पाण्यम् हैः कंठं

रुध्यान्न श्विते यथा । प्राणोदान निरोधाद्वि प्रसिद्धतरमागविन् । अपानः पवनो बस्ति

तमाशेवप-कर्त्तव्य । ततः क्रमुक कल्पकाङ्गं पायवेताल्म संयुतः । औष्ण्य तैश्यात् सर-

त्वा च्च बस्ति सोऽस्यानुलोमयेत् । पवक्त्राशय स्त्रेते इत्यहो दाश-मूलिकः । यव-

कोल कुलत्येष्व विधेयो मूत्रासाधितः । बिल्वादि पंच मूलेन सिद्धो बस्तिरुः स्थितैः ।

१४८. कृयाद्य स्वित्रे महादोषे बस्तिमुद्दत्य भेषजः । उत्किरतश्याल्यं हरदोषं जनयेच्च

प्रवाहिकाम् । सबस्ति पायु शोफेन जंघोर सदनेन च । निशुद्ध मारुलो जंतुरभीक्षणं

सप्तवाहते । स्वेदाय्यां निरुहांश्च शोधनीयान्तुलोमिकान् । विष्यालंश्चयित्वा तु द्वितीय-

कृयात् विरक्तवत् ॥ च. सि. ७-४० से ४५ च. सि. ७-४० से ४५ च. सि. १२-५० च. सि. १२-५७ च. सि. १२-५९ च. सि. १२-५८

प्रवाहिकाम् । सबस्ति पायु शोफेन जंघोर सदनेन च । निशुद्ध मारुलो जंतुरभीक्षणं

सप्तवाहते । स्वेदाय्यां निरुहांश्च शोधनीयान्तुलोमिकान् । विष्यालंश्चयित्वा तु द्वितीय-

कृयात् विरक्तवत् ॥ च. सि. ७-४१ से १० च. सि. ७-४१ से १० च. सि. १२-५० च. सि. १२-५७ च. सि. १२-५९ च. सि. १२-५८

प्रवाहिकाम् । सबस्ति पायु शोफेन जंघोर सदनेन च । निशुद्ध मारुलो जंतुरभीक्षणं

सप्तवाहते । स्वेदाय्यां निरुहांश्च शोधनीयान्तुलोमिकान् । विष्यालंश्चयित्वा तु द्वितीय-

कृयात् विरक्तवत् ॥ च. सि. ७-४२ से ११ च. सि. ७-४२ से ११ च. सि. १२-५० च. सि. १२-५७ च. सि. १२-५८

१४३. च. पा.—स्नेहानामनुवासनिकाना तद्रापदां भेषजानामाभिधायिका सिद्धिः ।

च. सि. ४-२ पर

स्नेहस्तीन् निवेदेमान् वातपितकफापहन् ।

च. सि. ४-३

१५०. (१) यथायथं निलहस्य पत्रानुवासने ॥

अ. ह. सू. ११-२०

(२) यथावधी निलहणां वा: मात्रा पारिकीर्तिः ।

सु. चि. ३७-२

पातवकृष्टास्तोः कार्यः स्नेह बस्तिशु देहिनाम् ।

(सर्वर्थ क्र. १७ देव्ये)

१५१. (३) ड. — तंत्रांतेऽपि उक्तं 'षट्पली' तु भवेजेष्ठा.... स एवार्थः ।

च. सि. ४-१०, ११ तथा सु. चि. ३७-७७, ७८ तथा अ. ह. सू. ११-६५, ६६ (किंचित पठेदेव)

(२) च. पा.—तंत्रांतेरे स्नेहमात्रा त्रयं प्रमाणैरेकतं यथा, "षट्पली तु भवेजेष्ठा...."

(सर्वर्थ क्र. १८ देव्ये)

१५२. व त्वामं प्रणयेत् स्नेहं स्नेहिष्यन्दयेत् गुदम् ।

च. सि. ४-४८

१५३. शीते वसंते च दिवानुवास्यौ रात्रौ शरद ग्रीष्म चनामेषु ॥

च. सि. ४-२२

च. पा.— शीतं शब्दं निशिरहेमंत्योपि प्रहणम् ।

च. सि. ४-१०

१५४. रात्रौ बस्ति न दद्यात् दोषोत्क्लेशो हि गर्जिः ।

च. सि. ४-३७

स्नेहवीर्यं युतः कुर्यात् आध्यात्मं गौरवं ज्वरम् ।

च. सि. ४-३४

वहिनस्थानं रिघो योगे वहनी चान् रसान्वतो ।

च. सि. ४-३५

स्फुटनोतो मुखे देहे स्नेहैङ्गं परिसर्पति ।

च. सि. ४-३६

पितोषिके कफे शीणे रुक्षे चातरुगतिः ।

च. सि. ४-३७

ने ग्रन्तै च दातव्यं काले चोषेऽनुवासनम् ।

च. सि. ४-३८

उषो पिताषिके वाऽपि दिवा दाहाद्यो गत्वा ।

च. सि. ४-३९

संभवति यत्साम्नान् प्रदोषे योजयेत् षिष्ठा ।

च. सि. ४-४०

शीते वसंते च दिवा ग्रीष्मे प्रावृद्धधनात्यये ।

च. सि. ४-४१

स्नेहो दिनांते पानोक्तान् वोषन् परिजिहोर्षता ॥

च. सि. ४-४२

सु. चि. ३७-४७ से ५१

१५५. अहोग्रात्रस्य कालेषु सर्वेषानिलाषिकं ।

च. सि. १-२०

तीव्रायां रुक्षिं जीर्णार्थं भोजित्वाऽनुवासयत् ।

च. सि. ३७-५२

१५६. संसृष्टप्रवतं नमेवहिन् सापिस्तं पाययेत्पुनुवासयेद्वा ॥

च. सि. ३७-५३

१५७. विरोचनात् सप्तरात्रे गते जात बलाय च ।

च. सि. ३७-५४

कृतानुवास्याय सम्यग् देहेऽनुवासनम् ॥

च. सि. ३७-५५

न चामुकतवतः स्नेहं प्राणिधेयः कथंचन । शुद्धत्वाद् शून्यं कोष्टस्य

स्नेह-मृद्धेसमुत्पत्तेत् । सदानुवासयेत्प्राणित्वा ॥

च. सि. ३७-५६, ५७

१५९. एकं तथा ग्रीन कफजे विकारे पितात्मके पञ्च तु सप्तवापि । वाते

नवैकादशा वा पुनर्वा बस्तीनियुग्मान् कुशलो विद्वन्नात् ।

च. सि. १-२५

दत्तस्तु प्रथमो बस्तिः स्नेहयेत्वस्ति वेष्टण्डाणी । सम्यक् दत्तो द्वितीयस्तु मूर्धस्यमनित्या

जयेत् । जनयेत्वलवणो च तृतीयस्तु प्रयोजितः । रसं चतुर्थो खते तु पंचमं स्नेहयेत्यथा ।

च. सि. ३७-५६

पष्ठस्तु स्नेहयत्नासं मेदः सप्तमं एव च । अस्थमो नवमचालास्थि मज्जानं च

यथाक्रमम् । एवं शुक्र गतान् दोषान् द्विगुणः साधु साधयेत् । अस्टादशाष्टदशकान्

बस्तीनां वो निषेवते । यथोक्तेन विधानेन परिहारकमेणतु । संकुंजर बलोऽश्वस्य

जवैस्तुल्योऽमरं प्रयः ॥

सु. चि. ३७-७२ से ७६

१६२. न चैव गुदं कठाभ्या दद्यात्सेहमन्तरं ।

च. सि. ४-४९

उभयस्तात् समं गच्छन् वातमग्निं च दूषयेत् ।

सु. चि. ३७-७२ से ७६

१६३. स्नेहस्तीन् निलहृं वा नैकमेकाति शीलयेत् । उत्स्तेशानिवध्योस्मेहा-

च. सि. ४-५०, ५१ तथा सु. चि. ३७-७७, ७८ तथा अ. ह. सू. ११-६५, ६६

त्रिलहृत् मरुतो भव्यं । तस्मात्रिलहृं संस्तेनो निलहश्चानुवासितः ॥

सु. चि. ३७-७२ से ७६

१६४. रक्षानित्यस्तु दीप्तानिव्यायामी मारतमयी ।

एषां चाशु जरा स्नेहो यात्यानु स्कितास्त्रिव ।

अतोऽन्येष ऋहत् प्रायः स्नेहं पचति पावकः ॥

च. सि. ४-४८

१६५. अथानुवास्य रक्षयत्वं सुष्णाबुद्धेदितं शाने ।

च. सि. ४-४६, ४७ तथा टीका

१६६. (१) भोजये पुनव्याधिमपेक्ष्य वद्वत् प्रकल्पयद् यूषं पदो रसादौ ।

सु. चि. ३७-५८

(२) जरं विद्यथायुक्तस्य कुर्यात्स्नेहः प्रयोजितः । न चाति स्निग्धं प्रशनं

भोजयित्वानुवासन । मदं पूर्वांच जनयद्विधां स्नेहः प्रयोजितः ।

रुक्षं भुक्तवतोऽन्नं बलं वर्णं च हापयेत् । उत्स्त दीरम्बस्तस्यात्

यथा व्यार्थं समीक्ष्य वा । यथोनिताद् पादहीनं भोजयित्वानुवासयेत् ।

सु. चि. ३७-५१ से ५७

१६७. विसर्ज्य च शक्तमूर्तं योजयेत्स्नेह बस्तिना ॥

च. सि. ४-४६, ४७ तथा टीका

१६८. उत्सृष्टानिल विष्णुने ने बस्ति विधापयेत् ।

सु. चि. ३७-३९

एतैहि विहितः स्नेहे नैवातः प्रतिपद्धते ॥

च. सि. ३७-३

१६९. (१) ततः प्रणिहितः स्नेहः उत्तानो वाक् शतं भवेत् प्राप्तादेः सर्वं गात्रैः

तथावीर्यं विसर्पति । ताडयेत् तलयोरेनं ग्रीष्मीन् वायान् शाने शाने ।

स्फुगोशेचनं ततः शास्यां ग्रीवारानुरुक्षिते ततः । एवं प्रणिहिते वस्तो

पदायासायं मंदवाक् । स्वास्तीर्णर्शीयने कामपासीताचारिके रतः ॥

सु. चि. ३७-६२

(२) सानिलः स्पुरीष्वस्व स्नेहः प्रत्येति यस्य तु ।

ओष चिकित्सा शीषां य सम्यग्नुवासितः ॥

च. सि. ३७-३९

१७०. एकं तथा ग्रीन कफजे विकारे पितात्मके पञ्च तु सप्तवापि । वाते

इष्वान्ते विकारे विशेषान्ते नैकमेकाति शीलयेत् ।

सु. चि. ३७-३९

नवैकादशा वा पुनर्वा बस्तीनियुग्मान् कुशलो विद्वन्नात् ।

च. सि. १-२५

दत्तस्तु प्रथमो बस्तिः स्नेहयेत्वस्ति वेष्टण्डाणी । सम्यक् दत्तो द्वितीयस्तु मूर्धस्यमनित्या

जयेत् । जनयेत्वलवणो च तृतीयस्तु प्रयोजितः । रसं चतुर्थो खते तु पंचमं स्नेहयेत्यथा ।

च. सि. ३७-३९

पष्ठस्तु स्नेहयत्नासं मेदः सप्तमं एव च । अस्थमो नवमचालास्थि मज्जानं च

यथाक्रमम् । एवं शुक्र गतान् दोषान् द्विगुणः साधु साधयेत् । अस्टादशाष्टदशकान्

च. सि. ३७-३९

साहसं सुखं । यस्यानुवासनो दत्तः सङ्कृदन्त्यमाव्रजेत् । अत्यन्योष्वादति

सु. चि. ३७-३९

## आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान

१७०. तैश्यग्रात् वा वायुना वा प्रपीडितः । स वातोऽधिकमात्रो वा गुरुत्वाव॑ वा समेषज्ञः । तस्याच्यौल्पत्तरो देयो न हि स्निहत्यार्थित्वतः । सु. चि. ३७-६३ से ६५
१७१. यस्येह यामाननुवर्तते त्रीन् स्नेहो नां च्यात् स विशुद्ध देहः । च. सि. १-४६  
आश्वागतेऽन्यस्तु पुनर्विधेयः स्नेहो न संस्तेव्यति इति उत्तरः ।
१७२. निवृत्ति कालः परम्-स्वयो यामास्ततः परम् ।  
अहोरात्रमुपेषेत परतः फलवित्तिर्थः ॥  
तीक्ष्णर्थाव॑ बर्तिनिः । कुर्यात् यन्तं स्नेह निवृत्यये ॥
१७३. प्रत्यागते चाय्यनुवासनीये दिवा प्रदेवं व्युक्तिय भोज्यम् ।  
सायं च भोज्यं परतो द्वये वा अङ्गेऽनुवास्योऽहनि पञ्चमे वा । सु. चि. ३७, ८१, ९०  
अहेत्यहे—त्राय्यं पञ्चमे वा द्यान्निरुद्धारनसन्त च ॥
१७४. धान्त्यनागर मिद्द विद्युत् दधात् विचक्षणः ।  
व्युक्तिय निशां कल्पमुष्णं वा केवलं जलम् ।  
स्नेहाजीर्ण जरयति श्लेष्याणं तद्विभन्ति च । सु. चि. ३७-११-३२, ३३
१७५. मारुतस्यानुलोभ्य च कुर्याद्युग्मोदकं त्र्याम् ।  
वमने च विरेके च निरूहे चानुवासने । च. सि. ४-४३ से ४५
१७६. तस्माद्युग्मोदकं देयं वात श्लेष्यापशांतये । च. सि. ४-४३ से ४५
१७७. वातपित कफात्यन्त्र पुरीष्याद्युत्तस्य च । च. सि. १४-२५  
अशुक्ते च प्रणीतस्य स्नेह बस्ते षड्यापदः ॥
१७८. (१) शीतोल्पो बाधिके वाते पितेत्युष्णः कफे मुड़ । अतिशुक्ते गुरुवर्चः ।  
सच्चयेऽल्पबलंस्तथा । दत्तैरावृत्सन्ते न यात्याभिभावदपि । अभुक्तउत्तन-  
वृत्तचाच्च यात्यूर्ध्वं तस्य तत्क्षणम् । अंगमर्द ज्वराभान शीत स्तर्पीरु-पिडनः ।  
पाशवर्णग् वेष्टनैविद्यात् स्नेहं वातावृत्तं चिक्षक । स्त्रियामन्त्र लवणोष्णैस्तं रास्ना-  
पितद तिलवर्के । सैवीराक सुराकोल कुलत्य यव साधिते । निलहैहनिरेत् सप्त्यक-  
समुत्ते: पांचवृत्तिर्थः । ताभ्यामेव च तैलाच्यां सायं भुक्तउत्तन्वासनम् ॥ च. सि. ४-२६ से ३०
१७९. (१) तत्र वाताभिमृते तु स्नेहे पुखकाषयात । जृभा वातसूजस्ताता वेपथुर्विषमज्ज्वरः । सु. चि. ३७-८३
१८०. (१) दाहराग तृष्णमोह वमक ज्वर दृष्टणः ।  
विद्यात् पितावृत्त स्वादित्कैस्त बर्तिनिःशिफहित् ।
१८१. (२) पिताभिमृते स्नेहे तु मुख्यस्य कठुता भवेत् ।  
दाहरुच्छा ज्वरः स्वदो नेत्र मूळां पीतता: ॥
१८२. (१) तंद्राशीत ज्वरालस्य प्रसेकारुचि गौरवैः ।  
संमूच्छांगलानिभिर्विद्यात् इत्येष्यां स्तेहमवृत्तम् ॥
१८३. (२) कषाय कटु तीक्ष्णाष्णैः सुरा मूळापसाधिते: ।  
कथाय कटु तीक्ष्णाष्णैः सुरा मूळापसाधिते: ।
१८४. (३) फलतैलयुतैः सामन्तेभिस्तस्त विनिहितैर् ।  
इतेष्याभिमृते स्नेहे तु प्रसेको मधुरास्यता ।
१८५. (१) गोरवं च्छादिरुच्छवासः कृष्णच्छीत ज्वरोऽरुचिः ॥  
गोरवं च्छादिरुच्छवासः कृष्णच्छीत ज्वरोऽरुचिः ॥
१८६. (१) च. पा.— उत्तरबस्ति संज्ञा उत्तरमान द्वायमानतया किंवा श्रेष्ठ गुणतया

- विद्यादत्यशनावृतम् । कठुतां लवणानां च क्वायैश्चूर्णेश्च पाचनम् । च. सि. ४-३४, ३५  
विरेको मुद्रुत्राम विहिता च क्रिया हिता ।
- (१) अत्याशीतत्राभिभवात् स्नेहो नैति यदा तद्या ।  
गुरुरामाशयः शूलं वायोश्च प्रति संचरः ॥ सु. चि. ३७-७०
- (१) विपूत्यानिलं संगाति गुरुत्वाभ्यान हृदयः ।  
स्नेहं विद्यावृत्तं शाल्वा स्नेहस्वेदं स्ववर्तिभिः ॥  
श्यामा विल्लादि सिद्धैश्च निरूहैः सानुवासने । च. सि. ४-३६, ३७
- (१) अशुद्धस्य मलोनिमशः स्नेहोनेति यदा पुनः ।  
तदानासदनाभ्याते श्वासः शूलं च जायते ।  
प्रवक्तव्य गुरुत्वं च तत्र द्यान्निरुहणम् । सु. चि. ३७, ८१, ९०
- (१) अपुक्ते शून्यपायौ वा वेगात् स्नेहाऽतिपीडितः ।  
धावत्पूर्वं ततः कंठाद्वृक्षभ्यः खेष्य एति च ।  
मूत्रशामा विवृताण्डिष्ठो यवकोल कुलत्यवान् ।  
तस्मिद्बृत्तैल इष्टोऽन्न निरूहः सानुवासनः ॥  
कंठादगाढ्छतः संभांकंठग्रह निरूहैः ।  
च्छादिच्छिन्धिः क्रियाभिष्ठच तस्य कार्यं निवर्तनम् । च. सि. ४-३८ से ४०
- (१) अपुक्ते शून्यपायौ वा वेगात् स्नेहाऽतिपीडितः ।  
धावत्पूर्वं ततः कंठाद्वृक्षभ्यः खेष्य एति च ।  
मूत्रशामा विवृताण्डिष्ठो यवकोल कुलत्यवान् ।  
तस्मिद्बृत्तैल इष्टोऽन्न निरूहः सानुवासनः ॥  
कंठादगाढ्छतः संभांकंठग्रह निरूहैः ।  
च्छादिच्छिन्धिः क्रियाभिष्ठच तस्य कार्यं निवर्तनम् ।
- (१) शूद्धस्य द्युरानुसृते स्नेहे स्त्रेहस्य दर्शनम् ।  
ग्रन्थेषु सर्वेन्द्रियाणां उपलेपोऽवसाद्वन्नम् ।  
स्नेहगायि मुखं चापि कास श्वासावोचकः ।  
अतिपीडितवत्सन्न लिंग्द्वारास्थापनं तथा ॥
- (१) शूद्धस्य द्युरानुसृते स्नेहोऽन्यः प्रयोजितः ।  
शीतो मृदुश्च नायेति ततो मन्दं प्रवहते ।  
विद्युत् गौरवाभ्यान शूलाः प्रवक्तव्यं प्रति-  
तवास्थापनमेवाशु प्रयोज्यं सानुवासवम् ।  
अत्यन्तं पुक्तवत्सोऽन्यो हि स्नेहो मन्दं गुणस्तथा ।  
दत्तो नैति वलमोत्तलेष्वी शुश्रां चारतिमावहेतु । सु. चि. ३७-१५, १६
- (१) स्नेहवस्तवायाते नान्यः स्नेहो विधीयते ।  
हस्त्याया: स्नेहमात्रायाः मात्राबस्ति समोभवेत् ।  
हस्त्याया: स्नेहपानस्य मात्रायाः योजितः समः । च. सि. ३७-११, १२
- (१) तत्र वाताभिमृते तु स्नेहे पुखकाषयात । जृभा वातसूजस्ताता वेपथुर्विषमज्ज्वरः । सु. चि. ३७-८३
- (१) दाहराग तृष्णमोह वमक ज्वर दृष्टणः ।  
विद्यात् पितावृत्त स्वादित्कैस्त बर्तिनिःशिफहित् ।
- (२) पिताभिमृते स्नेहे तु मुख्यस्य कठुता भवेत् ।  
दाहरुच्छा ज्वरः स्वदो नेत्र मूळां पीतता: ॥
- (१) तंद्राशीत ज्वरालस्य प्रसेकारुचि गौरवैः ।  
संमूच्छांगलानिभिर्विद्यात् इत्येष्यां स्तेहमवृत्तम् ॥
- (२) कषाय कटु तीक्ष्णाष्णैः सुरा मूळापसाधिते: ।  
कथाय कटु तीक्ष्णाष्णैः सुरा मूळापसाधिते: ।
- (३) फलतैलयुतैः सामन्तेभिस्तस्त विनिहितैर् ।  
इतेष्याभिमृते स्नेहे तु प्रसेको मधुरास्यता ।
- (४) गोरवं च्छादिरुच्छवासः कृष्णच्छीत ज्वरोऽरुचिः ॥  
गोरवं च्छादिरुच्छवासः कृष्णच्छीत ज्वरोऽरुचिः ॥
- (५) च. पा.— उत्तरबस्ति संज्ञा उत्तरमान द्वायमानतया किंवा श्रेष्ठ गुणतया



१०३. ततः प्रत्यागते स्नेहमपरहे विचक्षिणा ।  
भोजयेत्प्रयसा मात्रां युवेणाथ रसेन वा ॥
१०४. (१) स्नेहे प्रत्यागते तात्यामनुवासनिको विधिः ।  
परिहारश्च सव्यापत् सप्तसप्तद्वालक्षणः ॥
- (२) सम्यगदत्त संज्ञस्य समानं स्नेहे बस्तिना ॥  
बस्तेऽरुतर संज्ञस्य समानं स्नेहे बस्तिना ॥
१०५. बस्तिर्वय स्थापयिता सुखायुवलान्मेधा स्वर वर्ण कुच्छ । सवर्ध-  
कारी। शिशुवृद्धायुनां निरत्या: सर्वादपहश्च । विटश्लेष्मप्रितानिल  
मनकर्षी दाढ़ीविहः शुक्रबलप्रदश्च । विशवगस्ति दोषवस्य निरस्य
- सर्वान् विकारान् शमयेत्रिवृहः ॥
१०६. देहे निरुहेण विशुद्ध मार्गे सम्बन्धं वणिबलप्रदश्च । न तैल दानात्  
परमस्ति किंचिंत दद्य विशेषेण समिणार्ते । स्नेहेन रौक्ष्यं लघुता  
गुरुत्वादौष्ट्राच्च शेष्यं पवनस्य हत्वा । तैलं ददत्याशु मनः प्रसाद-  
वीर्यं बलं वार्णमधानि पृष्ठिः ॥
१०७. शिशुनामाशिशुनांच बस्तिकमार्गितं यथा ॥
१०८. तत्रास्थापनानुवासनान्तु खलु सर्वत्रोऽपक्रमेण्यो वाते प्रधानतमं मन्त्यते  
भिसजः । तत्रादित एव पक्वाशायमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं  
छिनति । तत्रावजिते वातेऽपि शरीरांतरातः वातविकारः प्रशान्तिमाप-  
द्यते । यथा वनस्पतेर्मत्वाद्विक्षेप स्वधशाखा प्ररोह कुमुकफलपलाशादानां  
निषयते विनाशस्तद्वत् ।
१०९. मूले निषिकतो हि यथा दुम स्याक्रीलच्छदः कोमलपलत्वावगः । काले  
महान् पुष्पफलप्रदश्च तथा नः स्पादनवासनेन ॥
११०. च. पा:— मूलइट्टातेन चानुवासनेन साक्षात्पर्णीयस्य गुदस्य दह  
मूलत्व दर्शयति । उक्तं हि पाराशे, “भूलं गुदं शरीरस्य सिरास्त्रव  
प्रतिष्ठितः । सर्वं शरीरं पुष्पाणि मूढनं यावदाक्षितः ।” इति तथा-  
नुवासनादपि नरो बलवीर्याधृपेतोत्तेऽपत्वांच्चापि स्यादित्यर्थः ॥
१११. स्तम्भाच्च ये संकुचिताश्च येऽपि ये पांवो येऽपि च भग्न रुणाः ।  
येषां च शाखासु चरंति वाताः शस्त्रोविशेषेण हि तेषु बस्तिः । आथापने  
विग्राथते पुरीषे शूलेषु भक्तानभिन्नतिनेन । एवं प्रकाराश्च भवति कुक्षी  
ये चामासास्तेषु च बस्तिरिद्धिः । याशचिस्तियो वातकृतोपस्थुता गर्भं न  
गुणाति नृभिः समेताः । क्षीणोन्द्रिया ये च नराः कृताश्च बस्तिः परमं  
च तेषु ॥
११२. पक्वाश्रये तथा श्रोण्यां नायस्थस्तान्व्य साधवतः । सम्यग् प्रणिहितो बस्तिः स्थानेष्वेते  
तिष्ठति । पक्वाशायाद् बस्तिवीर्यं खेदैहमुपसर्पति । वृक्षमूल लिषिकतानामां वीर्यं शिव  
द्रमम् ॥
११३. डहणः—कर्थं तर्हि पक्वाशायमात्र गतो बस्तिः कवचित् सर्वेषां अव्यवानामवसादं  
कवचित् सर्वागानां दोषाणां हरणं शमनं च जनयतीति आह पक्वाशाय इत्यादि ।  
बस्तिवीर्यं खेदै॒ स्नोतोभिन्सपति कृत्सनदेहे, वीर्यं शाकित, प्रथाव इत्यन्तर्कर्त्रम् ।
११४. स चापि सहसा बस्तिः केवलं समलोडपि वा । प्रत्येति त्वनिलवीर्यं अपनैविनियते ।

११५. सु. चि. ३७-११३  
च. सि. १-६९  
सु. चि. ३७-१२७, २८  
च. सि. १-२७, २८  
सु. चि. ३५-११९, ३०  
सु. चि. ३५-११९, ३०  
११६. दोषत्रयस्य यस्माच्च प्रकोपे वायुरीश्वरं ।  
वायोः विषहते वेगं नान्या बस्तिकृते किया ।  
पवननिष्ठिद्व तोयस्य वेलावेगमिबोदये ॥  
११७. शरीरोपचायं वर्णं बलमरोयमायुषः ।  
कुरुते परिवृद्धिद्व च बस्तिः सम्यग्पुसितः ॥
११८. सु. चि. ३५-३५  
११९. Materials introduced by Enema, in some instances pass through the walls into the Ilium; Such incomptence may permit the Enema fluid to reach the duodenum.  
“The Physiological Basis of medical practice”.
१२०. page.580.  
१२१. The possibility of materials from even the lower bowel, reaching the mouth is strongly suggested by the fact that lycopodium sporce, introduced into the colon by enema, have been recovered some hours later from washing of the stomach.
१२२. च. पा.—वामाश्रये हि ग्रहणी गुदे—तेन वामपाश्वर्द्ध सुखस्य ग्रहणीगुदे प्रकृतिस्थे  
भवतः । प्रकृतिस्थे ज. गुदे गुदस्य बस्तिना सम्यग्पश्लेषात् व्याप्तिर्भवति, तथा  
वलयश्च लीना भवति । तेन सुखं बलिष्ठता ग्रहणी-गुदयो प्रकृतिस्थतया च  
बस्तिव्याय्य सुखं ग्रहणी भायवतीति बौद्ध्यम् ।
१२३. च. पा. च. सि. ३-२४ पर  
१२४. जेझट—नहिनें अंगुल प्रवेशमुतरुर्द्ध प्रानोति प्रवाहिणी वली तवाश्त्रिता अपराहुदंच्च  
विसर्जनी संवरणी द्वयाश्वयमुक्तं हि ‘विभागतरा-स्त्रिस्त्रो गुदस्यार्थपंचांगलावकाशे गुदवद्यमप्युक्तं, अपराहुं च प्राय्यकिंचित्करः स्नेहः । न च  
नेत्र पीडिणे तस्मिन् ॥
१२५. ग्रहणीचान्या-धिघ्लान प्रतिबद्धा (प्रसिद्धा), प्रतिविशन-बस्तिः तदुपयातं न करोति,  
अन्यथा पुनरनियतस्थान बस्तिना प्रतिहन्त्यते । स च तथावस्थतो न च  
प्रतिहतस्थानाभिनः सम्पादनस्थूतः स्वकर्म कुक्षीणो बस्तेऽपकरोत्येवा न बस्तिनापि  
चात्यते च्छाद्यते च्छाद्यते वा पक्वाशाय प्राच्या तदरन्य—थिघ्लानं प्रायते इति ॥
१२६. च. सि. ३-२४ पर  
१२७. Statistical Analysis of the 20 cases reveals that (1) the difference between the  
average fatty acid contents before and after the course of treatment highly  
significant ( $T=4.61$ ,  $P < 0.001$ ). (2) A highly significant increase in Protein  
Contents was observed ( $T=4.32$ ,  $P<0.001$ ) which indicates that the treatment  
is effective for increasing the protein contents of the patients.”
१२८. आयुर्वेदालोक, एप्रिल १९६५ पृष्ठ —७८, ७९  
डहण — सु. क. ४-४० पर
१२९. या एव कला पुरीषधारा सब अस्थिधारा इति षंचमे अस्थ्यनुप्रिविश्य इत्यविलङ्घ ॥
१३०. सु. क. ४-४० पर

(१) पस्तुलुगंगमिति शिरसो बलाधाणं सत्यानन्धताकारं पस्तुलुगंगपुच्छते।

(२) पस्तुलुगंग इति अर्थात् विलीनं धृताकारी भ्रस्ताकरं पस्तुलुगंगपुच्छते।  
उड्हण — सु. सू. ३०-५२ पर  
च. पा. शा. ७-१५ पर

(३) यस्तिकः शिरोगतः स्नेहः ॥

२२२. अथोनाभ्यस्थि मज्जानो वातस्थानं प्रवक्षते ॥  
२२३. चैव पित्तधारा सैव मज्जधारा इति षष्ठे मज्जानमनुप्रविश्व इति अविरुद्धम् ॥

उड्हण — सु. क. ४-५० पर

का. सु. २० पर

२२४. आयुर्वेदालोक—एप्रिल ६६, पु. ७९

२२५. A Textbook of Medical Physiology—Pages 813 to 815. I  
विशेषतिविधा: क्रिमयः पूर्वमुद्दिष्टा नानाविधेन प्रविभागेन अन्यत्र सहजेभ्यः ॥

च. वि. ७-९

च. पा. — अन्यत्र सहजेभ्यः इत्यनेन शरीर सहजास्त्रैकारिका विशेषाभ्यधिका भवनीति दर्शयति।

२२७. आयुर्वेदालोक—एप्रिल ६६ पृष्ठ ७९, ८०  
२२८. च. सि. १०

२२९. सु. चि. ३५

२३०. च. सि. १०

२३१. सु. चि. ३८

२३२. च. सि. १०

२३३. सु. चि. ३८

२३४. च. सि. १०

२३५. च. सि. ६

२३६. च. सि. ३

२३७. च. सि. ३

२३८. सु. चि. ३८

२३९. अ. ह. क. ४

२४०. सु. चि. ३८

२४१. च. सि. १२

२४२. च. सि. ४

२४३. सु. चि. ३७

२४४. अ. ह. क. ४

२४५. च. सि. १२

२४६. च. चि. ३०

## सम्पर्कम् अध्याय

### नरस्य-विज्ञान

#### व्याख्या एवं सामान्य परिचय

ओषधि अथवा औषध सिद्ध स्नेहों को नासामार्ग से दिया जाना नस्य कहलाता है। अस्पृष्टत ने 'नासायां भवं नस्यम्' ऐसा कहा है और यह व्याख्या व्याकरणसिद्ध भी है।

शावप्रकाश ने "नासाप्राहा" औषध को नस्य कहा है। नस्-धातु गत्यर्थक है तथा व्याप्ति के अर्थ में भी प्रयुक्त है। नस्ति अनासीत नास्ति, नेस्तु: ऐसे प्रयोग किये जाते हैं। नस्-नासिकायां-नासिका के अर्थ में भी प्रयुक्त है और नस्य का अर्थ जो नासिका के हितकर है वह कर्म ऐसा होता है। नस्तः यह शब्द नस् धातु से संज्ञावाचक हो जाता है, जिसका अर्थ भी नस्यकर्म है।<sup>१</sup>

जहु के ऊपर रहने वाले अर्थात् शिर के विकारों के लिए नस्य की विशेषता उपयोगिता होती है, व्योकिंग नासा को शिर का द्वार समझा जाता है और इस द्वार से नस्योत्थ प्रविष्ट होकर सपूर्ण शिर में व्याप्त होकर उन विकारों को नष्ट करती है। नस्य शब्द का ही पर्याय शिरोविशेचन, शिरोविरेक, पूर्खिकरेचन भी कहा गया है। दोषों के शोषण के अर्थ में विशेचन शब्द प्रयुक्त होने के कारण यह पर्याय दिया गया है। तथापि सुश्रुत ने शिरोविशेचन शब्द नस्य के विशिष्ट भेद के लिए भी प्रयुक्त किया है। चारक ने नस्य के लिए "नस्तः प्रच्छर्दनं" शब्द की विशेषता का अर्थ वर्णन है। "नस्तः प्रच्छर्दनं" यह नस्य के द्वारा किया जानेवाला शोधन इस अर्थ में प्रयुक्त है। नस्तः प्रच्छर्दनं में अपामार्ग का प्रयोग करने को कहा है—जिसपर चक्रपाणि कहते हैं कि नस्तः प्रच्छर्दनं—यह शिरोविशेचन है। इसी तरह 'नावन शब्द 'नस्तः कर्म' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। नावन नामक नस्य का एक भेद भी है। "नासायां भव" नो नासा में होता है ऐसी नस्य की व्याख्या की गई है—अतः नासा का शारीर संखेप में समझ लेने की आवश्यकता है।

#### नासा शारीर

नासा या नासिका (Nose) को ब्राण, गंधवह, घोणा, नासिका, ये पर्याय हैं। यह तो पात्तिथ के द्वारा निर्मित अवयव है। सुश्रुत ने "द्व्येगुलानि वृष्णा वित्तुक दशनं नासापुट कर्णपूल नयनांतराणं" कहकर नासा-पुट का प्रमाण अंगुल बताया है। उड्हण कहते हैं कि दोनों नासापुट के भागों में प्रत्वेक का बाह्य भाग दो अंगुल प्रमाण का जाने। नासापुट के आंश्यंतरविवर का तीर्थक प्रमाण (Transverse diameter) एक तृतीयांश अंगुली कहा जाता है। यहां उड्हण कहते हैं कि तरुणास्थि को छोड़कर रहते हुए भाग का यह प्रमाण है।

नासा की अस्थियां धोणास्थिय या नासास्थिय कहलाती हैं। नासा को ज्ञानेन्द्रिय कहा गया है। जिसका मुख्य कार्य गंधज्ञान करना है। ज्ञानेन्द्रिय के संबंध में—

१. ज्ञानेन्द्रिय
२. इद्रियाधिष्ठान
३. इद्रिय द्रव्य
४. इद्रियार्थ

५. इद्रिय बुद्धि—ये पांच अध्येतत्व विषय होते हैं। इसमें 'ब्राण' यह इद्रिय है, नासिका इद्रियाधिष्ठान है, आकाश, वायु, तेज, अप और पृथ्वी ये इद्रिय द्रव्य हैं। गंध यह इस इद्रिय का अर्थ—विषय है। जिसका अनेन इति श्राणम् ऐसा कहा भी गया है। "नासाबुद्धि" यह इसकी इद्रिय बुद्धि है—श्रेय पदार्थों के विशेषण में जो उत्तापोह करती है वह इद्रिय बुद्धि है। गंध का ज्ञान करने का कार्य नासा के एक विशिष्ट भाग में होता है—अरुणदत्त कहते हैं—"श्राणं नासाया विशिष्ट एकदेशो श्राणोदियाधिष्ठानं" नासा के विवर को श्राणमार्ग कहते हैं। नासा या ऊर्ध्व भाग जहां श्राण स्थित है—उसे श्राणमूल कहते हैं। नासा के छिड़कों श्राणांश कहते हैं। नासास्थिय से बने नासा को नासावंश भी कहते हैं। नासा में दो गंधवह धमनियां होती हैं, जो नासामूल में गंधज्ञान का वहन करती हैं। इस गंधज्ञान का उहापोह इद्रिय बुद्धि द्वारा इद्रियाचयन—शिर में होता है जो यह उहापोह समझता है। यह ध्राता—(आत्मा) है। शिर में तर्पक कफ रहता है जो सभी इद्रियों का तप्तिं करता है। प्राणवायु इद्रियों को धारण करता है।

शिर—शिर या मूर्धा मस्तक का नाम है। इसे उत्तमांग भी कहते हैं। भेल ने शिर में हृदय की (मस्तिष्क) स्थिति बताई है। जिसे दस धमनियों का केन्द्र कहा है चारक ने कहा कि शिर में इद्रिय तथा ईंद्रियों के प्रणां का वहन करने वाले स्रोतस्व विश्वत हैं। शिर में जो ईंद्रियों का तन बना हुआ है उसे मस्तुलुंगा भी कहते हैं। इसे स्त्यान धृताकार का कहा गया है। शिर कपालास्थि बना है—और नासा उसका द्वार है। श्रोत्र, धृताकार, कंठ, चक्षु, इत्यादि सभी के शिरागुरुओं के मार्ग शिर में खुलते हैं। सामान्यतः देखा जाता है कि शिर के रोगों का निदान भी नासा से प्रविष्ट होता है। शिरोविकृति जान्य दुष्ट स्नान भी नासामार्ग से स्वाचित होता है।

#### नस्य में प्रयुक्त द्रव्य

चरकोक्त नस्य द्रव्यों का नीचे परिचय दिया जाता है। "नस्य द्रव्य आयंतर प्रयुक्त न होने के कारण उनका सक्षेप में सामान्य परिचय ही तालिका में दिया गया है।

#### नस्य द्रव्य

क्र. नस्य द्रव्यमान	लोटिन नाम	प्रमुख गुणधर्म
१. अपाणार्ग (बीज)	Achyranthes Aspera.	रुक्ष, तीक्ष्ण, कटु, उष्ण, क्रिमिघ्न
२. पिपली	Piper Longum	रुक्ष, तीक्ष्ण, कटु, स्नानघ्न, शोथहर अनुष्णा शीत
३. मरिच	Piper Nigrum	लघु, तीक्ष्ण, उष्ण, कटु

क्र.	नस्य द्रव्यमान	लोटिन नाम	प्रमुख गुणधर्म
५.	बिंडग	Embelia Ribes	रुक्ष, तीक्ष्ण, कटु, उष्ण, कफवात्थन
६.	सर्प	Moringa Pterygosperma	रुक्ष, तीक्ष्ण, कटु, उष्ण, कफवात्थन
७.	शिशु सहिजन	Brassica Nigra	रुक्ष, तीक्ष्ण, कटु, उष्ण, नाशक, कटु, तिक्तत
८.	इद्रिय द्रव्य	तेजोवत्री के गुण देखे	—
९.	इद्रिय बुद्धि	Cuminum Cymium	रुक्ष, कटु, उष्ण
१०.	इद्रिय बुद्धि	Carum Roxburghianum	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण वेदना स्थापन
११.	पीलु	Salvadora Persica	स्नानघ्न, तीक्ष्ण, उष्ण, वेदनास्थापन
१२.	पीलु	Nigella Sativa	कटु, तिक्तत, अनुष्णा रुक्ष, उष्ण, कटु, शोथ- हर, वेदनास्थापन
१३.	पीलु	Ocimum Santum	रुक्ष, कटु, तिक्तत, जंतुर्जन
१४.	शेवेता (अपाराजिता)	Chitoria Terneta.	कषाय, कटु, शीत
१५.	कुठेरक (तुलसीभेद)	Tulsi	—
१६.	फणिङ्क (तुलसी-भेद)	Albizia Lebeck	तुलसी देखे तुलसी देखे
१७.	शिरीष (बीज)	Allium Sativum	तुलसी देखे तुलसी देखे
१८.	लशुन	Cureuma longa	तुलसी देखे
१९.	हरिद्रा	Berberis Arsata	तुलसी देखे
२०.	दारुहरिद्रा	Lebeck	तुलसी देखे
२१.	सौबर्चल लवण	—	तुलसी देखे
२२.	सैंधव लवण	—	तुलसी देखे
२३.	ज्योतिष्मती (मालकांगनी)	Celastrus panniculata	तीक्ष्ण, सम, कटु, उष्ण
२४.	इंसुटी	Zingiber officinale	स्नानघ्न, तीक्ष्ण, उष्ण (शीत)
२५.	गडिर	—	—

क्र. नस्य द्रव्यमान	लोटिन नाम	प्रमुख गुणधर्म
२६. शल्लकी (निर्यास)	Boswellia	रुक्ष, तिक्त, मधुर,
२७. तेजोवती (तेजबलहि)	Serrata	शीत, वेदनास्थापन
२८. इंगुदी	Zanthoxylon	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण
२९. त्वक्-वालचिनी	Alatum	उष्ण, कफवात शामक
३०. वातांकी	Balanites Roxburghii	स्निग्ध, उष्ण, जंतुधन
३१. एला	Cinnamomum	रुक्ष, तीक्ष्णा, कट्ट, तिक्त
३२. चुम्पुख (तुलसी भेद)	Zeylanicum.	रुक्ष, तीक्ष्णा, मधुर
३३. गंडीरक (तुलसी भेद)	Solanum	रुक्ष, कफवात शामक
३४. कालमालक (तुलसी भेद)	Mecongena	रुक्ष, कट्ट, मधुर, शीत,
३५. पाणीत (तुलसी भेद)	Elettaria	तुर्गधनाशन
३६. शुग्वेर (शुंडी देख)	Cardamomam.	—
३७. मूलक	Raphanus	—
३८. तकरी	Sativus	—
३९. अर्के	Calotropis	तीक्ष्ण, उष्ण, वेदनास्थापन
४०. अलके (स्वेतपुष्प का अर्के)	Proceria	लघु, रुक्ष, तीक्ष्णा, कट्ट
४१. कुष्ठ	Calotropis	—
४२. नागदंती	Gigantia	रुक्ष, तिक्त, कट्ट, उष्ण, वेदनास्थापन
४३. वन्चा	Saussurea	स्निग्ध, तीक्ष्णा, उष्ण
४४. धार्गी	Croton oblongifolius.	लघु, तीक्ष्णा, सर, तेज, कफवात शामक
४५. गवाक्षी (इंद्रायण)	Acorus.	लघु, रुक्ष, तिक्त
४६. अवाक्-मुष्टी	Calamus.	कट्ट, उष्ण
४७. वृश्चिकाती (जिघाटी)	Clorodendron	कट्ट, तीक्ष्णा, कट्ट, उष्ण
४८. ब्राह्मी	Serratum	—
४९. अवाक्-मुष्टी	Citrullus	—
५०. वृश्चिकाती (जिघाटी)	Colicynthis	—
५१. आला	Hydrocotyle	तिक्त, कषाय, शीत
५२. ब्राह्मी	Asiatica.	मधुर

क्र. नस्य द्रव्यमान	लोटिन नाम	प्रमुख गुणधर्म
५३. अतिविष (पूल)	Aconitum	रुक्ष, तिक्त, उष्ण, (कृमिधन)
५४. लोध	Heterophyllum.	रुक्ष, कषाय, कट्ट,
५५. सप्तपर्ण	Symplocus	शीत, शोथहर
५६. मदनफल	Racemosa	लघु, रुक्ष, मधुर, तिक्त, कषाय, उष्ण,
५७. निष्ठ	Randia dumatorum	रुक्ष, तिक्त, शीत
५८. निष्ठ	Scholaris	लघु, तिक्त, शीत
५९. निष्ठ	Melia Azadirachta	जंतुधन, वेदनास्थापन
६०. अगारु (निर्यास)	Cedrus Deodara	स्निग्ध, तिक्त, उष्ण
६१. सरत (निर्यास)	Aquilaria Agallocha	रुक्ष, तीक्ष्णा, उष्ण, शोथहर, वेदनास्थापन
६२. हिंगु (निर्यास)	Pinus Longifolia	लघु, तीक्ष्णा, स्निग्ध, उष्ण
६३. गुड्हचि (त्वक़)	Ferula Narthex	उष्ण, कफवात नाशक
६४. बृहती कटेरी	Tinospora Cordifolia	गुरु, स्निग्ध, उष्ण
६५. शबक (नक्किङ्कनी)	Solanum Xentocarpum कटेरी	स्निग्ध, तीक्ष्णा, उष्ण
६६. शबक (नक्किङ्कनी)	Centipeda Orbicularis	तीक्ष्णा, उष्ण, वातकफ शामक
<b>सुश्रुतोक्त नस्य द्रव्य</b>		
१. पिपली	२. बिडंगा	३. अपमार्ग
५. सरसों	६. शिरीष	७. मरिच
११. ज्योतिष्पती	१०. स्वेतपराजिता	११. किणिहि (कटभी) १२. वन्चा
१३. लशुन	१४. करंज	१५. अर्के
१५. तमालपत्र	१६. अतीस	१६. अलके
१६. मेढाशूगी	१७. सुरसा	१७. मातों
१७. गुरुंगी (लाल	१८. मातुलंगी	१८. ताड
१८. गुरुंगी (लाल	१९. गोमय	१९. इंगुदी
१९. जाती	२०. साल	२१. योद्ध
२१. महुआ	२१. लाला	२२. गोमय
२२. गोमय	२३. गोमय	२३. लवण

## वार्षमयोक्तन नस्य द्रव्यः

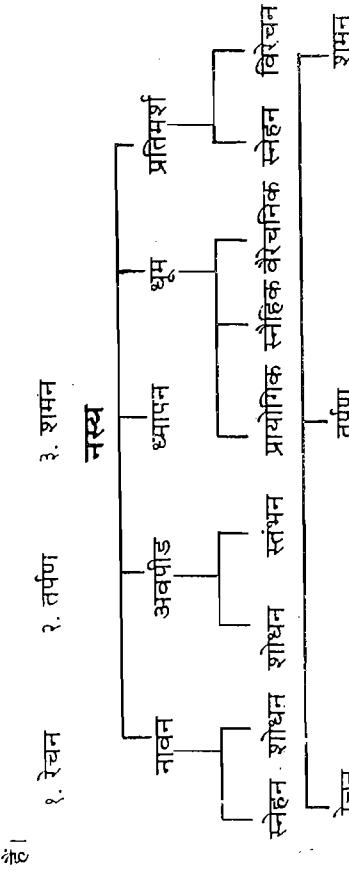
१. विंडग २. अपामार्ग
३. विकटु ४. रात
५. महुवे का सार ६. शिरस
७. बड़ी कटेरी ८. सेंधव
९. बड़ी इलायची १०. हिंगु पत्री

उपर्युक्त द्रव्यों के अतिरिक्त तैल, घृत इन स्नेहों का नस्यार्थ उपयोग किया जाता है।

## नस्य के प्रकार

चरक ने नस्य के निम्नलिखित ६ प्रकार बताये हैं—

१. नावन नस्य— यह १. स्नेह और २. शोधन दो प्रकार का होता है।
२. अवपीड़ नस्य—यह १. शोधन और ३. स्तंभन दो प्रकार का होता है।
३. धमापन नस्य—
४. धूम नस्य—यह १. प्रायोगिक २. वैरेचनिक और ३. स्नैहिक धूम इस तरह ३ प्रकार का होता है।
५. प्रतिमर्श नस्य—यह १. स्नेह और २. वैरेचन इस तरह दो प्रकार का होता है। ये पांच प्रकार से विभक्त नस्य कार्यकृता के आधार पर तीन प्रकार से विभक्त किये जाते हैं।
६. रेचन ७. तर्पण ८. शामन



सुश्रुतोक्तन प्रकार—सुश्रुत ने नस्य के मुख्य दो प्रकार किये हैं।

१. शिरोविरेचन २. स्नेहन

इन दो प्रकार के नस्यों के पुनः पांच प्रकार होते हैं।

१. नस्य २. शिरोविरेचन ३. प्रतिमर्श ४. अवपीड़ ५. प्रथमन

इनमें नस्य का ही विकल्प, प्रतिमर्श और शिरोविरेचन का विकल्प अवपीड़ और प्रथमन नस्य माना गया है।

वार्षभट—कर्म के अनुसार नस्य को ३ प्रकार में विभक्त किया है। विकल्प में

१. वैरेचन नस्य २. बूंदण नस्य।

काशयप ने—नस्य के १. बूंदण एवं २. कर्षण ऐसे दो प्रकार किये हैं। विकल्प में शोधन नस्य और पूरण नस्य ऐसे और दो प्रकार किये हैं।<sup>११</sup>

शाङ्खधर ने—नस्य के १. रेचन और २. स्नेहन ऐसे दो प्रकार किये हैं। रेचन का पर्याय कर्षण है, और स्नेहन को बूंदण पर्याय किया है। विरेचन या रेचन नस्य अवपीड़ तथा प्रथमन दो प्रकार से विभक्त किया है, और बूंदण नस्य प्रतिमर्श और प्रतिमर्श ऐसे दो प्रकार से विभक्त किया है।<sup>१२</sup>

भोज ने—प्रायोगिक और स्नैहिक दो प्रकार का नस्य कहा है और विदेह ने—१. संसाधन ग्रोधक और संधन प्रकार ऐसा दो प्रकार का नस्य कहा है।<sup>१३</sup>

इस तरह नस्य के विविध भेद किये गये हैं। तथापि चरक के भेदों में प्रायः सभी का समावेश किया है। चरकपाणि ने अन्य भेदों का उसारे समावेश किया है। वे कहते हैं कि सुश्रुत ने धूम को छोड़कर नस्यः शिरोविरेचन, प्रतिमर्शः अवपीड़ और प्रथमन ऐसे पांच प्रकार बताये हैं। यहाँ नावन शब्द से ही शिरोविरेचन का ग्रहण होता है। जैसे कि नावन नस्य स्नेहन एवं शोधन दो प्रकार का कहा है। इससे सुश्रुत के स्नेहन नस्य का भी ग्रहण होता है। अवपीड़ नस्य स्तंभन एवं शोधन दो प्रकार का कहा है—सुश्रुत ने अवपीड़ का जो स्तंभन कर्म बताया है वह यहाँ ‘संतंभन’ में अंतर्भूत होता है। पीड़न के द्वारा जो कलकादि दिये जाते हैं अवपीड़ कहते हैं। इससे सेंधक विषयत्वादि के कलकों का अंतर्भूत अवपीड़ में होता है। धूम के शमनादि प्रकार में प्रायोगिक, स्नैहिक, वैरेचनिक धूमों का का अंतर्भूत होता है। धूम के शमनादि विशेषान्वयन कर्म वाला कहा गया है। जिससे सुश्रुतोक्तन शिरोविरेचन का<sup>१४</sup> का अंतर्भूत होता है और यह भी स्नेहन और वैरेचन से उभयार्थकृत होता है। इन सब नस्यों का समावेश होता है और यह भी स्नेहन और वैरेचन से उभयार्थकृत होता है। इन सब नस्यों का चरक ने रेचन तर्पण और शमन तीन प्रकार में विभक्त किया है और प्रायः इसी का अनुसरण आगे सब ने किया है। शमन से स्तंभन का तर्पण से स्नेहन का ग्रहण हो जाता है।<sup>१५</sup>

रेचन नस्य—उसे कहते हैं जो शिरोस्थ दोषों को स्थानस्थृत करके नासा-मार्ग से बाहर निकाल दे। प्रथमन प्रकार का नस्य, धूमस्त्रय और प्रतिमर्श नस्य विरेचनार्थ दिये जाते हैं। स्तंभ सुप्रिति, गौरवादि शिरोविकार में रेचन नस्य दिया जाता है। तर्पण—या बूंदण नस्य उसे कहते हैं जो शिर में थातु क्षय और दोष क्षय में प्रयुक्त किया जाता है। यह पोषण करता है। वातजशिरोरोग में, शिरः कंप, अर्दित में तर्पण नस्य देना चाहिये। शमन नस्य उसे कहते हैं जिसका उपयोग दोषों के शमन के लिए किया जाता है। इसमें स्तंभन, प्रतिमर्शदि नस्य समाविष्ट होते हैं। रक्तपितादि दोषों में स्तंभन नस्य दिया जाता है।

इस तरह नस्य भेद में कुल प्रयुक्त शब्द इस प्रकार के हैं—

१. नावन	२. अवपीड़	३. प्रतिमर्श
४. धूमपन	५. धूम	६. बूंदण
७. शमन	८. वैरेचन रेचन	९. कर्षण
१०. स्नेहन	११. मर्श	१२. प्रायोगिक
१३. स्नैहिक	१४. वैरेचनिक	१५. तर्पण
१६. शिरोविरेचन	१७. नस्य	१८. संसाधन
१९. स्तंभन	२०. शोधन	

आश्रय भेद से नस्य के प्रकार

नस्यार्थ द्रव्य के विविध अंगों का प्रयोग किया जाता है। चरक ने द्रव्य के उपयुक्तांग के अनुसार नस्य के ७ प्रकार निर्दिष्ट किये हैं।<sup>१६</sup>

१. फलनस्य  
२. पत्रनस्य  
३. मूलनस्य  
४. कंदनस्य  
५. पुष्पनस्य  
६. निर्यासनस्य  
७. त्वकनस्य  
८. पत्रनस्य—सुभुख, हुलसी, सप्तपर्ण, आरग्वध, नस्याछिकनी, मूलक, शृंगबेर, लशुन, तकरी, सर्वप, तालीशपत्र, तमालपत्र, इनके पत्रों का उपयोग निर्दिष्ट है।  
९. फल नस्य—फलों के द्वारा दिया जाता है—इसमें—अपामार्ग, पिप्पली, विडंग, मरिच, शियु, शिरिष, पीतु, अजवाइन, अजमोदा, एला, होणकादि फलों का उपयोग निर्दिष्ट है।

१०. पत्र नस्य—सुभुख, हुलसी, सप्तपर्ण, आरग्वध, नस्याछिकनी, मूलक, शृंगबेर, लशुन, तकरी, सर्वप, तालीशपत्र, तमालपत्र, इनके पत्रों का उपयोग निर्दिष्ट है।  
११. मूलनस्य—अर्क, अलर्क, कुष्ठ, नागदंती, वचा, भारंगी, मालकांगनी इंद्रायण, ब्राह्मी, अतिविषा, कनेर, कंदूरी, करंज इनके मूल का नस्यार्थ निर्देश किया है।  
१२. कंदनस्य—हरिद्रा, सोट, मूली, लशुन इनके कंद का प्रयोग करना निर्दिष्ट किया गया है।

१३. पुष्पनस्य—लोध, मदन, सरापणी, निब, अर्क इनके फूलों का नस्यार्थ उपयोग होता है।

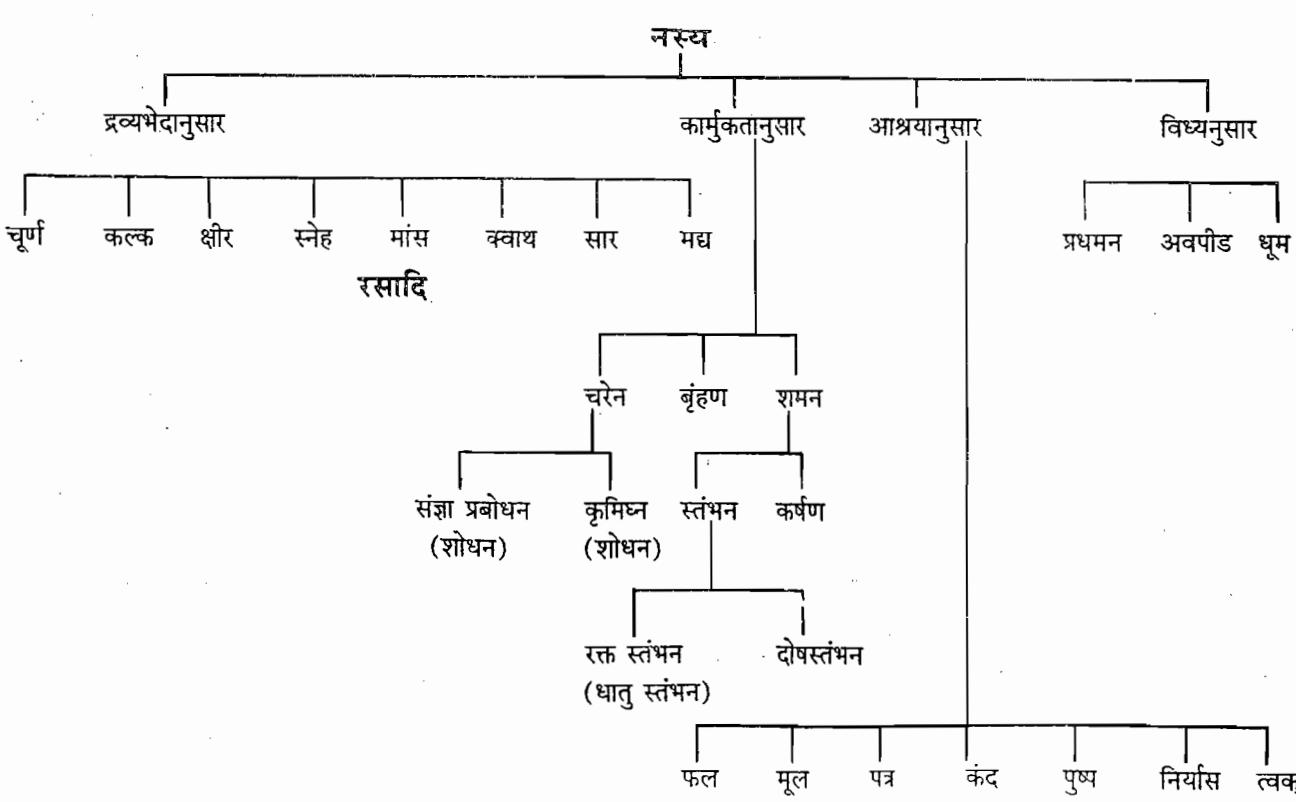
१४. निर्यास नस्य—देववारु, हिंगु, अगुरु, सरल, शल्लकी, ताड, महुवा, लाक्षा, इनके निर्यास का प्रयोग नस्यार्थ निर्दिष्ट है।  
१५. त्वक् नस्य—तेजोवती, गुड्डीच, इंगुदी, शोभांजन, बड़ी कट्टेरी, दालचिनी, बेढासिंगी इनकी त्वचा नस्य में प्रयोगार्ह है।  
१६. उपर्युक्त द्रव्यों के चूर्ण, कल्प, स्वारस, शीर, क्वाथ, मार, उदक, धूम, मांस रस, मिछ्डलैल, धूतादि स्नेह, मध्य इनका यथायोग्य प्रयोग नस्य के लिए किया जाता है। नस्य के ये सब प्रकार नीचे निर्दिष्ट प्रकार में बताये जा सकते हैं। (तालिका देखें पृ. ४६५)

### नावन नस्य

नावन यह हमेशा देने योग्य एवं एक प्रमुख नस्य है। इसके स्नेहन और शोधन दो प्रकार पहले बताये गये हैं। नावन के समान नस्य को मुश्तुत ने स्नेहन नस्य कहा है। इसे 'नस्य' ऐसा भी कहा जाता है। जो शिरः शून्यता में लाभ करता है, जो गर्दन, खंडों तथा ऊर्ध्व ऊर्ध्व को बल देता है, वृष्टि का तो जो बढ़ाता है, उस स्नेहन नस्य को 'नस्य' ऐसा कहते हैं।<sup>१३</sup> यह नस्य अथु तैलादि स्नेहों के द्वारा दिया जाता है। कपास के पिञ्चु को स्नेह में डुबाकर नासा में बिंदुओं देना नावन कहलाता है।<sup>१४</sup>

यह निम्नलिखित गों में देना चाहिये।<sup>१५</sup>

- १. वातज शिरोरोग
- २. दंतपात
- ३. केशपात
- ४. रसमुखपात
- ५. तीक्रकर्णशूल
- ६. कण्ठस्क्रेव
- ७. तिमिर
- ८. स्वेच्छापथात
- ९. नासरोग
- १०. मुखशोष
- ११. अचबाहुक
- १२. अकालज पलित केश सफेद होना।
- १३. बारुण प्रबोध—नीद से जल्दी न जगना, या पत्तों का जल्दी से न खुलना।
- १४. बातपितज मुखरोग इन गों में बातपितहर द्रव्यों के सिद्ध स्नेहों से नस्य दे।



स्नेहन नस्य की प्रथम मात्रा हीन मात्रा कहलाती है। जो प्रति एक नासा में ८ बिंदु इस तरह १६ बिंदु की है। दूसरी मात्रा पर्याप्त मात्रा कहलाती है जो शक्ति प्रमाण की है—प्रत्येक नासा में १६ बिंदु इस तरह ३२ बिंदु की है। तीसरी मात्रा उत्तम मात्रा कहलाती है जो पाणिशुग्रित प्रत्येक नासा में ३२ बिंदु इस तरह ६४ बिंदु की है।<sup>११</sup>

झेज ने प्रायोगिक लेहन नस्य के लिये बिंदु, स्मैहिक नस्य में १६ बिंदु की मात्रा कहती है। इसी तरह दोषों का बल देखकर दुगुनी, तिगुनी मात्रा भी दी जा सकती है ऐसा कहा है। इस तरह ८ बिंदु, १६ बिंदु, ३२ बिंदु की मात्रा होती है।

नाक में ही सुश्रुत के ‘शिरोविरेचन’ का अंतर्भव होता है—जो शोधन प्रकार का है। यह नस्य कफ से व्यास तातु, कठ शिर की अवस्था में अरुचि शिरोगौरव, शूल, पीनस, अद्विभेदन, कृमि, प्रतिश्याय, अपस्मार, गंधान का नाश, तथा उच्च जटुण कफरोगों में दिया जाता है। शिरोविरेचन इत्यादि अथवा उनके सिद्ध स्नेहों का शिरोविरेचन या शोधन नाक में प्रयोग करें।<sup>१०</sup> (पिपलती, विडंग, शियु, अपामर्ग, नकाड़िकर्नी इत्यादि शोधन इत्य ह) शोधन नस्य में स्नेह की मात्रा—हीन मात्रा ४ बिंदु, मध्यम मात्रा ६ बिंदु तथा उत्तम मात्रा ८ बिंदु की देनी चाहिये।<sup>११</sup> अण्डैतन नस्य इस में लाभप्रद है। ३—३ दिन में एक बार नस्य दिया जा सकता है यह ईंटियों को बल देता है। मुश्रुत मात्रानुसार दोनों प्रकार के (स्नेहन—विरेचन) ये नस्य भोजन के पूर्व—अन्तर्काल के लिए अपराह्न में रोगों के लिए पूर्वी ही में पितज गोरों के लिए और वातज—रोगों के लिए अपराह्न में देना चाहिये। यदि स्वस्थ पुरुषों में यह नस्य देना हो तो शीत काल में मध्याह्न में दे, शरद बरंत क्रतु में पूर्वाह्न में दे, प्रीष्ठ क्रतु में अपराह्न में दे, और वर्षा क्रतु में सूर्य दर्शन हो तब देते, अर्थात् अदुर्दिन में देना चाहिये।<sup>१२</sup>

**अवपीड नस्य**

(१) जिस नस्य में औषधियों को निचोड़ कर रस या कल्कादि को नासा में डाला जाता है उसे अवपीड नस्य कहते हैं।<sup>१३</sup> यह नस्य स्तंभन और शोधन दो प्रकार का कहा जाया है। सुश्रुत ने शिरोविरेचन का विकल्प अवपीड कहा है। तथापि विरेचन (शोधन) के समान इसका रक्तपितादि क्षय जन्य व्याधि में स्तंभन के लिए शर्करा इक्सुरसादि द्रव्यों से प्रयोग निर्दिष्ट किया है।<sup>१४</sup> अतः दोनों में मतांतर नहीं है। इसका प्रयोग विरेचन के समान ४ बिंदु, ६ बिंदु और ८ बिंदु मात्रा में है। चक्रपाणि ने शोधन संतंधन तथा शामन में तीन कर्म बताये हैं और कल्कादि से अवपीडन करने का निर्देश किया है। संधेवपिपल्यादि कल्क विरेचन (शोधन) के लिए चिह्नित है। डहण ने विदेह का मत देते हुए अवपीड नस्य के संज्ञा प्रबोधन और स्तंभन ऐसे दो भेद किये हैं। विसंज को पुनः संज्ञा प्राप्ति के लिए दिया जानेवाला नस्य संज्ञा प्रबोधन है। यह शोधन स्वरूप का नस्य समझना चाहिये। शोधन नस्य के समान यह शिर के कफ से भरे जानेपर, सर्पांच से संज्ञानाश होनेपर देना चाहिये। विदेह ने—विषपीडित, संन्यास, मृच्छा, मोह, अपतंत्रक, मद, अपस्मार, शिरोवेदना, क्रोध, अथादि पीनस गोरों में तथा मन की व्याकुलावस्था में करने का निर्देश किया है। स्तंभन—प्रकारक अवपीड नस्य कल्क, शर्करा, इक्सुरस, दूध, धी, मांससरस, मधु, इत्यादि के द्वारा रक्तपित में रक्त स्तंभन के लिए अथवा क्षीणण में दोष शामन के लिए दिया जाता है।<sup>१५</sup> कृश रोगियों में भी रुओं में, सुकुमारों में तथा स्त्रियों में विशेषतः स्नेह और कल्क का नस्य देना हितकर होता है।<sup>१६</sup>

## धाराधन अथवा प्रथमन नस्य

धाराधन नस्य को ही प्रथमन नस्य कहा जाता है। प्रथमन प्रमाण का है और इसमें चूर्ण का प्रथमन किया जाता है। प्रथमन का अर्थ चूर्ण को नासा में फेकता है। धारन के लिए (फूकने के लिए) ६ अंगुल लंबी नलिका—उभयतो मुखवली—लेकर उसमें चूर्ण भरकर नासा में फूककर छोड़ दिया जाता है। प्रथमन नस्य मनसिक रोगों में (उम्माद अपस्मार, अत्त्वाभिनिवेश इत्यादि) कृमिज शिरोगोग में, तथा विषपीडितों में देना चाहिये। इसकी मात्रा विदेह ने ३ मुच्यटी कहती है। तर्जनी (अंगूठे के समीप की ऊंगली), तथा अंगूठे के द्वारा एक समय में जितनी मात्रा ली जा सकती है उसे ‘मुच्यटी’ (चिमटी भर) कहा जाता है।<sup>१७</sup> विदेह ने प्रथमन की दूसरी विधि बलते हुए कहा है कि पतले कपड़े में शुक्रितप्रमाण (दो तोले) में द्रव्य चूर्ण भरकर नासा में वह पोटली रख कर उसे संधन घोटली में से चूर्ण का लवण होता है। अतएव यह चूर्ण शवास के छीनने पर गोटली में से चूर्ण चूर्ण का लवण होता है। अतएव यह चूर्ण रशास के लवण होता है। इसमें मात्रा का भय नहीं रहता। क्योंकि एकबार खींच लेनेपर अल्प मात्रा में ही चूर्ण अंदर जा सकता है और मुच्यटी प्रमाण का मध्यादातिरेक नहीं होता।

## धूष नस्य

धूष नस्य में नासा द्वारा औषधसिद्ध धूष को खींचा जाता है। यह धूष-दान प्रकरण में विस्तार से निर्दिष्ट किया गया है। वस्तुतः पुख से जो धुआं लिया जाएगा उसे धूमप्रयत्न कहना चाहिये, और नाक से जो धुआं लिया जाएगा उसे धूमप्रयत्न कहना चाहिये। यद्यपि ग्रंथ में ‘सेवन करने’ के अर्थ में पान शब्द का प्रयोग देनों के लिए निर्दिष्ट है: चक्रपाणि ने स्पष्ट किया है कि नासा से ग्राह धूम को ही नस्य कहना उचित है।<sup>१८</sup> प्रायोगिक या शामन धूम, वैरेचनिक और स्नैहिक धूम ऐसे तीन प्रकार के धूम होते हैं। शिरोरोग, नासारोग, अद्विरोग, इन में धूमनस्य लेना चाहिये।<sup>१९</sup> वापर ने कहा है कि नासा और शिर में दोष तितिलाष्ट होते पहले नासा से धूम लेवें, और बाद में मधु से लेवें और यदि नाक और शिर में दोष का उत्कर्तरेश न हो और उत्कर्तरेश करना हो तो पहले मधु से और बाद में नाक से धूम लेवें।<sup>२०</sup> नाक से धूम खींच कर मुख से बाहर निकालना चिह्नित है किंतु मुख से खींच कर नाक से बाहर निकालना ठीक नहीं है, क्योंकि नाक से बाहर निकाला हुआ धूम आंखों के लिए विषाक होता है।<sup>२१</sup>

धूष नस्य दो प्रकार से किया जा सकता है। नस्यार्थ बताये गये औषधियों का नस्य नलिका में रखकर उसे जलाकर नेत्र (नस्य नेत्र) के द्वारे बाजू से नाक से धूआं खींचकर नस्य लेवें। यह नस्य नेत्र तीक्ष्ण या विशेषन प्रकार के लिए २५ अंगुल लंबा, स्नैहिक प्रयोग के लिए ३२ अंगुल लंबा और प्रायोगिक या मध्यम प्रकार के लिए ३६ अंगुल लंबा होना चाहिये। वापर नेत्र ५० अंगुल लंबा होना चाहिये। अतएव को संधे बिठाकर, मन को एकघ्र कराकर नासा को अंगुलि से बंद कर दूसरी से धूआं खींच लेने को कहते हैं। इस तरह ३—५ बार धुआं खींचना चाहिये।<sup>२२</sup> धूमनस्य का दूसरा प्रकार संहिता के नस्योल्लेख से विकसित स्वरूप की अन्य विधि समझनी चाहिये। औषधियों के धूम के सदृश औषध का नासा द्वारा ग्रहण करना

यह विषि इसमें की जाती है। यह वायरवेद का प्रकार भी समझा जा सकता है। लोकिन नासा से वायर लेना नस्य में अंतर्भूत है नस्य के लिए उपयुक्त द्रव्यों को जल में उबालकर निकलने वाली वायर वस्त्रावृत शिर की अवस्था में नासा से खींचना चाहिये।<sup>१३</sup> इसी तरह कंटकारी आदि के चूर्ण को प्रत्यक्ष २-३ कोयलों को अग्निपर डालकर निकलने वाले धुएँ को वस्त्रावृत नासा से खींचना चाहिये। यह नस्य नासावरोध पीनस, नासाप्रतिनाह, तथा कंठरोगों में अनीत लाभप्रद होता है।

**प्रायोगिक धूम के लिये—**हेरेणु, प्रियंगु, केशर, चतुरपत्र, इलायची, उशीर, पद्मक, महुआ, जटामांसी, गुग्गुल, अगुरु, पीपल, बड़, गुलेर, प्लक्स, लोध, सर्जरस, नागरमेथा, इत्यादि द्रव्यों को उपयोग करता चाहिये। स्नोहिक धूम के लिए वसा, धी, नोम के साथ जीवनीय गांगों के औषधि से धूम लेना चाहिये। वैरेचनिक धूम के लिए एवेतापराजिता, मालकांगनी, हरिताल, मनःशिला, अगुरुपत्र इत्यादि का उपयोग करता चाहिये।<sup>१४</sup> धूमनेत्र तथा द्रव्यादिकों का इसी प्रकरण में नस्यप्रस्त्रात् कर्म में धूमपान के वर्णन में विस्तार किया गया है।

### मर्श—प्रतिमर्श नस्य

मर्श का भेद है।<sup>१५</sup> यह नस्य बिना व्यापद के सुखपूर्वक लिया जा सकता है। योगों में केवल

चरक ने प्रतिमर्श का वर्णन करते हुए कहा है कि यह कभी भी दोष उत्पन्न नहीं करता। प्रतः साथ दो बार यह देना चाहिये। यह गोगों को न बढ़ाकर रसीर को दृढ़ करता है। स्नेह में अंगुली डुबाकर स्नेह के बिंदु नासा में गिराना यह प्रतिमर्श है। निरे हुए बिंदु को आतुर अन्दर खींच ले। इसमें स्नेह की अत्यं मात्रा (२ बिंदु) होती है। अतएव सर्व घटनओं में देने योग्य नहीं होता। और जिसमें स्नेह की यात्रा इतनी ही होनी चाहिये जितनी की देने पर वह नासा स्रोत से कैंट में पहुंच जाए। लेकिन गले में जाव उत्पन्न करे इतनी अधिक नहीं होनी चाहिये।<sup>१६</sup> स्नेह प्रतिमर्श नस्य के बाद में लिखते हुए सुश्रृत ने भी यही कहा है।<sup>१७</sup>

वायरट ने स्नेह की मात्रा के अनुसार मर्श और प्रतिमर्श ऐसे दो भेद किये हैं। प्रदेशिनी (तर्जनी) अंगुली को दो पर्वतक स्नेह में डुबाकर जो बिंदु निरता है—ऐसे १० बिंदु (१० minutum) उत्तम मर्श की मात्रा है और ६ बिंदु हीन मर्श नस्य की मात्रा है और प्रतिमर्श नस्य में स्नेहमात्रा केवल २ बिंदु दी जाती है।<sup>१८</sup> प्रतिमर्श नस्य आजन्ममरण प्रशस्त है। अथवा किसी भी वय में दिया जा सकता है। यह मर्श के समान ही गुणकारक होता है और इसमें अधिक यत्रणा की भी आवश्यकता नहीं होती। जो अत्यंत उबलता है, जो धूत से पीड़ित है, बालकों में, अति वृद्धों में, तो सुखपूर्वक रहन सहन करने वाले हैं, ऐसे लोगों में प्रतिमर्श नस्य दो।<sup>१९</sup> प्रतिमर्श अयोध्य प्रतिमर्श नस्य पीनस से पीड़ित आतुर को, मध्यीन को, बहरे को, शिर में कृमियुक्त आतुर को उत्कलष्ट दोष वाले आतुर को नहीं देना चाहियो।<sup>२०</sup> उपयुक्त आतुर में स्नेह की मात्रा बहुत कम होती है, इससे वह दोष निरहण, या कृमिनाश के लिए समर्थ नहीं होता। प्रतिमर्श और मर्श में मात्रा का ही फरक है, प्रतिमर्श मर्श के समान गुणकरी है, और

नस्य को कौन बुद्धिमान सेवन करेगा? अतएव ऐसा अविशेष समझने का कारण नहीं है। पर्णों नस्य शीघ्रकारी है और गुणों में प्रशस्त है। प्रतिमर्श धीरे-धीरे काम करता है और गुणों में निष्कृष्ट है। जिस प्रकार अच्छे स्नेहमान और विजारण युक्त स्नेहमान, कुटी प्रावेशिक रसायन और वातातिपिक रसायन अनुवासन बस्ति और मात्रा बस्ति इन में शीघ्रकारित्व, और विकारित्व, तथा गुणों की उत्कृष्टता और हीनता रहती है उसी तरह मर्श और प्रतिमर्श नस्य में भेद समझना चाहिये।<sup>२१</sup>

मर्श प्रतिमर्श में व्याप्ति तैल, धूत, वसादि सभी स्नेहों का प्रयोग हितावह है तथापि तैल का प्रयोग करना श्रेष्ठ है। शिर यह कफ का धाम आधिक्षण है, अतः स्वस्थों के लिए तैल श्रेष्ठ है—उस तरह इतर स्नेह लाभ नहीं करते हैं।<sup>२२</sup>

प्रतिमर्श नस्य में काल विचार—प्रतिमर्श नस्य किसी भी काल में दिया जा सकता है। तथापि दिव में निम्नोक्त १४ काल प्रतिमर्श के लिए खास निर्दिष्ट किये हैं। उन-उन कालों में दिया हुआ नस्य तत्त्व गुणों का करता है। वायरट ने १५ काल दिये हैं।<sup>२३</sup>

- १. तत्त्वोचित काल
- २. प्रशालित दंत-काल
- ३. गृहांग्रिगच्छतः
- ४. अम्बवपरिश्रांत-काल
- ५. व्यायामोत्तर
- ६. मूत्र एवं
- ७. मल विसर्जनोत्तर
- ८. नक्वल तथा

- १०. अंजन के बाद
- ११. भोजनोत्तर
- १२. वमन के बाद

१४. सायंकाल। वायरट ने शिरोग्यांयों के बाद, तथा हास्य के बाद प्रतिमर्श देने के लिए कहा है। इस तरह दो अधिक पढ़े हैं, और गुहांग्रिगच्छतः—धूर से बाहर जाते समय का काल नहीं पढ़ा है। उपमुक्त काल में प्रतिमर्श लेनेपर निम्नलिखित लाभ होते हैं।<sup>२४</sup>

१. तल्पोत्थित काल में—नीद से जागा जाने पर प्रातः काल में नस्य लेने। इससे गत में नासास्रोत में लिप्त कफ को वह निकालता है और मन को प्रसन्न रखता है।

२. प्रशालित दंत-दत्तन करने के बाद प्रतिमर्श लिए जाने से दांतों को दृढ़ बनाता है, और मुख को सुगंधित रखता है।

३. गृहांग्रिगच्छतः—कामकाज के निमित जब व्यक्ति बाहर जाने लगे तब प्रतिमर्श नस्य लेकर जाये। इससे नासा स्रोत में तैल की स्थिति बनी रहने से नाक को बिलान रखता है और थृल तथा थुर्वे से नासा को बाधा नहीं होने देता।

४. व्यायामोत्तर—व्यायाम से थके हुये को प्रतिमर्श देने पर श्रम का परिहार होता है।

५. व्यायामोत्तर—व्यायाम के बाद दिया हुआ प्रतिमर्श धैयुनजन्य परिश्रम को दूर करता है।

- ६. अथवापरिश्रांत—धूब चल कर थके हुए को दिया हुआ नस्य श्रम को दूर करता है।

७. ८. मल और मूत्रत्याग के बाद प्रतिमर्श नस्य पीनस से आँखों को दृष्टि-गुरुता करता है। अधिक नंदन का चश्मा पहनने वालों के लिए मलमूत्र लिप्तजन के बाद अगुतेल का २ बिंदु लेनेपर दृष्टि का प्रसादन करता है।

११. भोजनोत्तर—नस्य लेने से सौतास शुद्धि और शरीर लघुता उत्पन्न करता है।

१२. वमन के बाद—वमनोत्तर प्रतिमर्श नस्य लेनेपर खोतों में (कंठ) लगे हुए कफ को निकालकर भोजन में रुचि उत्पन्न करता है।

१३. दिन में सोफर उठने के बाद—नस्य लेने पर शेष नींद को दूर कर, शरीर की जड़ता को दूर करता है और मल्टों का नाश कर मन को एकाग्र बनाता है।  
१४. सायकाल में प्रतिमर्श नस्य लेने से जल्दी नींद आती है और ब्रात: जल्दी से जागृति आती है। वार्षभोक्तव्य के बाद नस्य करते पर वायु की शांति होती है। शेष गुण समान है।

### नस्य—योग्यायोग्यों का विचार

नस्य के लिये अयोग्य—जिनमें नस्य देना उचित नहीं है वे आतुर चारक, सुश्रुत एवं वार्षभ के मतानुसार नीचे तालिका में स्पष्ट किये गये हैं।

सभी आतुरों में वृद्धु के प्रतिकूल तथा युविन में नस्य नहीं करना चाहिये। उपर्युक्तों में यदि कोई आत्मधिक परिस्थिति उत्पन्न हुई हो तो उसमें नस्य देना मान नहीं है। उपर्युक्तों के अतिक्रम बृहण, रेचन, मरणादि के अयोग्यों का विचार भी नस्य देते समय करना चाहिये।

### अनस्याह्व-तालिका<sup>४५</sup>

क्र.	अनस्याह्व	चारक	सुश्रुत	वार्षभ
१.	भुक्तभवत्	+	+	+
२.	अग्नीणि	+	+	-
३.	पीत स्नेह	+	+	+
४.	पीत मध्य	+	+	+
५.	पीत तोय	+	+	+
६.	स्नेहादि पातुकामः	+	+	+
७.	स्नातः शिरः	+	+	+
८.	स्नातुकामः	+	+	+
९.	क्षुधार्त	+	+	+
१०.	श्रमार्त	+	+	-
११.	मल	+	+	-
१२.	मुर्छित	+	+	-
१३.	शास्वदडहत्	+	+	-
१४.	व्यावायकस्तात्	+	+	-
१५.	व्यायामस्तात्	+	+	-
१६.	पानकसांत्	+	+	-
१७.	नवज्ञर पाइति	+	+	-
१८.	शोकाभितप्त	+	+	-
१९.	विरक्ति	+	+	+ (शुद्ध)
२०.	अनवासित	+	+	+ दत्तबस्ति

### अयोग्यों में नस्य देने से संभाव्य दिक्षार<sup>४६</sup>

अजीर्ण तथा भुक्तभवत को नस्य देने से दोषोत्कलेश से ऊर्ध्व स्नोतों को अवरोध होता है और कास, श्वास, च्छाद्वि, प्रतिश्याय, ये रोग उत्पन्न होते हैं। अजीर्ण में तथा भोजनोत्तर कफ का अधिक प्रकोप रहता है, और नस्य कफ का विलयनकारक तथा शोधनकारक होने से यह स्पष्ट है कि नस्योत्तर कफ विमार्ग में पहुंच कर उत्तर खोता, कुम्हकुस, नासा, गले में अवरोध कर उपर्युक्त कासादि विकार कर सकता है। जिन्होंने स्नेहपान किया है, जलपान किया है, या मध्यपान किया है, उनमें नस्य देने से नासा और गले से स्नाव शुरू होता है। अंगबों में मल संचय होकर तिप्पिर और शिरोरोग उत्पन्न होते हैं। इससे स्नातुकामः को मना किया गया है। क्षुधा से पीड़ित में नस्य दिया जाये तो वात का प्रकोप होता है। तृष्णा से पीड़ित को नस्य देने से घास बढ़ती है और मुह मुखता है। श्रम से थके हुए—मनुष्यों को नस्य देने से वेदना होती है, मदमत तथा मूँछा से पीड़ितों में नस्य देने से संशार्शस होकर मान—सोपानात होता है। शास्व, दंडादि से जिनपर अधिकार हुआ है उनको नस्य देने से तीव्र रुजा उत्पन्न होती है। मैथुन से थके हुए, व्यायाम से थके हुए, तथा मध्यपान के अतियोग से जर्जर हुए आतुरों को नस्य देने पर सिर, नेत्र, उर तथा कंधों में पीड़ा उत्पन्न होती है। नवज्ञर, शोकाभितप्त इनमें नस्य देने से उमा से वाष नेत्रनाडी तक पहुंच कर तिमिर उत्पन्न करता है तथा जबर को बढ़ाता है। विरेचन के बाद नस्य देने से वात प्रकोप होकर इद्रियों को उपचात होता है। अनुवासन बस्ति दिये हुए को नस्य देने पर कफ का प्रकोप होकर शिर में भारीपन, कंडु और कुमियोग उत्पन्न होते हैं। गार्भिणी को दिया हुआ नस्य गर्भ का अवरोध कर उसमें विकृति उत्पन्न करता है। जिससे गर्भाशिश, काणा—आँखों में देष्यव्याचाला, कुण्ठ—एक हाथ में

थोटा पक्षहत—एक हथ और एक पांव का कर्मसूत्र युक्त तथा पीठसर्पी—दोनों पांव के कर्मसूत्र से पीठ से विसर्पण करनेवाला पंगु—प्रकार का हो जाता है। नवप्रतिशयाय वर्ते आतुर को नस्य देने से दोष लोतों में व्यात होकर प्रतिशयाय बढ़ता है। योग रुद्र में योग प्रकार से नस्य न देने पर तथा उद्दिन में नस्य देने पर शीतोष्ण, पूतिनस्य और शिरोग्राह उत्पन्न होते हैं।

उपर्युक्तों में सामान्य नस्य का निषेध समझना चाहिये और इनमें से भी कुछ आतुरों को विशेष नस्य देना तो प्रथम में निर्दिष्ट किया ही गया है। उदाहरण—व्यायाम, व्यावाय, यार्ग चलकर थके हुए बालकों, बुद्धों में प्रतिमर्श नस्य दिया जाता है। वैसे ही प्रतिमर्श सब रस्तुओं में और उद्दिन में भी दिया जा सकता है। प्रतिमर्श भोजन के बाद भी देना निर्दिष्ट है। अवधीड नस्य—का प्रकार संज्ञा प्रबोधन नस्य मूर्ख्छा में देना चाहिये। वैसे ही विषपीड़ितों में भी दे सकते हैं। इस तरह यहां आगम विरोध न समझे, अपितु निर्दिष्ट नस्य की विशिष्ट कार्यक्रम समझना चाहिये।

मुश्तुत ने प्रतिवेष युक्त आतुरों में नस्य देने से व्यापद उत्पन्न होते हैं ऐसा कहा है। इसमें तुल्या, उद्गार तथा दोषप्रकोप जन्म्य अनेक रोग उत्पन्न होते हैं ऐसा निर्देश किया है।<sup>१५</sup> उपर्युक्त संभाव्य विकारों को दोष—स्थाय जन्म्य तथा दोषप्रकोप जन्म्य प्रलाप से विभक्त किया जा सकता है।

नस्य के योग्य—नस्याहैं

विशेषतः निर्मिष्ट आतुरों को छोड़कर बाकी सब में नस्य देना हिताक्षर होता है।

१. शिरसंभं	३. मन्या-स्तंभ	५. हनुग्रह
५. गीनस	६. गलशुण्डिका	७. शुक्ररोग—नेत्रगत
६. तिमिर	८. वर्त्मरोग	९. उपजीविका
१३. अर्धावधेदक	१४. ग्रीवारोग	१५. स्कंधरोग
१७. मुखरोग	१८. कानशूल	१९. नासाशूल
२१. शिरःशूल	२३. आदित	२३. आपतव्रक
२५. गलगड	२६. दंतशूल	२७. दंत हर्ष
२९. राजी—नेत्ररोगा	३०. अबुद	३१. स्वरभेद
३३. गदगदत्व	३५. क्रक्षनादि।	

### संभार संग्रह

नस्य सामान्य, एवं सरल विधि है। तथापि शास्त्र एवं प्रयोग के अनुसार इसमें अध्येत्य विषयों पर विचार विमर्श करना चाहिये।

- १. पूर्वकर्म—१. संभर संग्रह
- २. आतुर वय एवं काल का विचार
- ३. आतुर सिद्धता।

नस्य के लिए एक स्वतंत्र कर्मण—‘नस्य भवन’ रखना चाहिये। जिसमें प्रत्यस्य लायु का वेग से प्रवेश न हो ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये।<sup>१६</sup> प्रकाश भा.पू. होना चाहिये। इस भवन में निन्मलिखित संभारों का संग्रहीत करना चाहिये।

- १. नस्य आसन—आतुर को बिठाकर या लिटाकर नस्य दिया जा सकता है। इसलिए दो आसन—(१) नस्य पीठ और (२) नस्यशाय्या निर्माण करना चाहिये। इसका वर्णन उपकल्पना विज्ञान में दिया है। इन दोनों आसनों का उद्देश्य यही है कि आतुर की ग्रीवा से ऊपर के भाग को शरीर की अपेक्षा कुछ नीचे झुकाया जा सके और नाबा को उत्तर कर सके। इस अवस्था में पीछे शिर की विश्राम (Rest) मिले और पांव की ओर से शरीर कुछ ऊपर उठाया हुआ हो यह उद्देश्य है।
- २. नस्यौषधि—चूर्ण, कल्क, व्यावाय, शीर, उदक, स्नेह, आसव, धूमादि में से जो

सूचिविद्ध के समान स्थान दिखता है—जिससे गरम लाव निकलता है उसे सत्रण शुक कहते हैं। कृष्णमंडल में अधिष्ठाद के परिणाम से वाहुकृष्ण चंद्रमा तथा कुंद के वर्ण की सफेदी निर्माण होती है, उसे अक्रण शुक्रल कहते हैं। इसमें कृष्णमंडल पतले बाल के आवृत्त होता है। तिमिर ने वर पटलों में उत्पन्न रोग है जिससे दृष्टि नाश होता है। तृतीय पटल में तिमिर को कांच और चतुर्थ पटल गत तिमिर को लिंगनारा और नीलिका कांच कहते हैं। वर्त्मरोग—वर्त्म नेत्र कोष का आवश्यक पक्षमसंलग्न मासल भाग है। वर्त्म के कुल २१ रोग मुश्तुत ने दिये हैं जो वहां से पढ़ना चाहिये।

उपजीहिका—यह जिहा के अग्रभाग के समान उत्पन्न शोथ है, जो जिहा को अपर उत्तराश के समान दिखता है। उत्तराश—इसमें कफ और रक्त का प्राधान्य होता है। लालासाव, खुजली, तथा जलन ये इसके लक्षण हैं।

गदगद—अस्पष्ट भाषण को कहते हैं और क्रथन—ऊर्ध्वभाग का कार्य—नाश या रोमाहस को कहते हैं। शेष स्पष्ट है।

उपर्युक्त रोगों में कफ या वात की प्रथानता दृष्टिगोचर होती है तथा नासा, नृ, शिर चे अधिष्ठानवाले रोग प्रतीत होते हैं। कृष्ण ज़ुगत रोगों में नस्य विशेषतः निर्दिष्ट है, यहाँ उल्लिखित नस्योग्यों का भी सामान्य उल्लेख समझना चाहिये। कुण्डण नस्य योग्य—विशेषन नस्य योग्य आदि जो शास्त्र में अन्याक्ष्याएं वर्णित हैं—उनको विशेष नस्य योग्य समझना चाहिये।

सामान्य—नस्योपयोगार्थ—कटफल चूर्ण, विकटु, कटुतुंबी, श्वासकुठार, वातविक्षम, पिपली, मरिच, बिंदग, इनके दृश्य तथा अण्टैल, बड़बिडुतेल, जात्यादि तैल, पमकादि तैल, शुद्ध घृत, रसीन, हिंगु, वचा, पंचगुण तैल, घनसार-योगा इनका संग्रह करना चाहिये। आवश्यकतानुसार उपद्रव के चिकित्सार्थ भी औषधि संग्रह करना चाहिये।

३. नस्यदानोपयोगी—नस्य—यंत्र तैयार रखें। नस्योपयोगी नेत्र ६ अंगुल लंबा, और इसका परिणाह नासास्रोत में प्रवेश योग्य रखना चाहिये। धूमनस्य में पीछे कहे अनुसार विरेचन नस्य के लिए १४ अंगुल, स्वैहिक नस्य के लिए ३२ अंगुल तथा प्रायोगिक (शमन) नस्य के लिए ३६ अंगुल लंबाई के नेत्र का उपयोग करना चाहिये। नेत्र की लंबाई के बारे में मतान्तर है। कोई मानते हैं कि प्रायोगिक धूमपान का नेत्र विरेचन नस्य के नेत्र (२४ अंगुल) से डेहगुना लंबा होना चाहिये—इससे यह मान ३५ अंगुल का होता है। दूसरे मानते हैं कि प्रायोगिक नस्य नेत्र, स्वैहिक नस्य नेत्र (३२ अंगुल) से डेहगुना लंबा अर्थात् ४५ अंगुल का होना चाहिये। जतुकाण विरेचन नेत्र से डेहगुना कहकर ३५ अंगुल लंबाई कहते हैं। वार्षिक प्रायोगिक नेत्र नस्य को ४० अंगुल लंबाई का बताते हैं। योगीन्द्रनाथ ने टाका में इसका समाधान किया है कि रोगी का बल देखकर यह प्रमाण कम अधिक किया गया है। यदि आत्मर का बल उत्तम हो तो नलिका की लंबाई ३६ अंगुल, पश्यम हो तो ४० अंगुल और बल यदि हीन हो तो नेत्र की लंबाई ४५ अंगुल रखनी चाहिये।

४. मर्श—प्रतिमर्श नस्य के लिए कपास के शिरु रखें। गांज गीस का उपयोग भी हितकर है। इसी तरह वस्त्र की पोटली से नस्य देना हो तो सूक्ष्म-तंतुवाला स्वच्छ वस्त्र संग्रहीत करें।

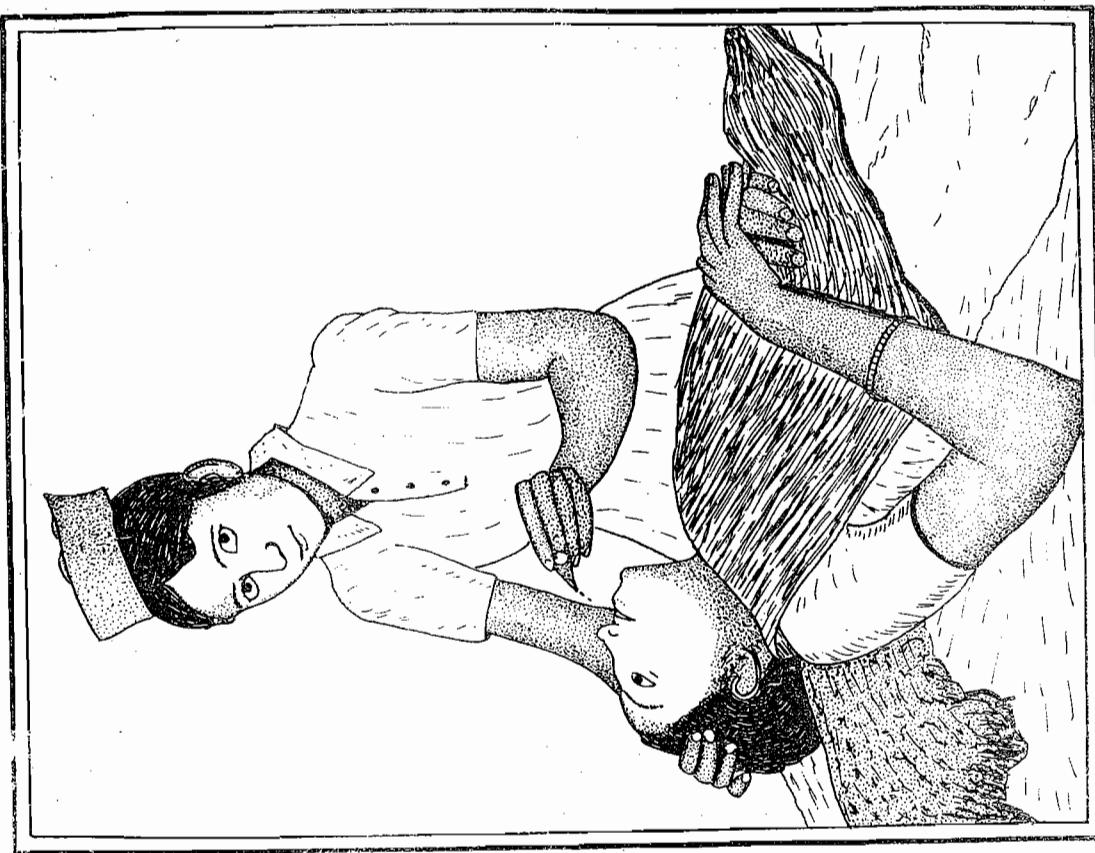
५. छीबनन पात्र—एनेमेल निर्मित छीबनन पात्र पर्याप्त प्रमाण में।

६. उचित गुणवाले कर्मनिपुण परिचारक रखें।

बस्त्रखण्ड—नेपकिन के आकार के, स्वच्छ पुरावादि पोछने के लिए नस्य आसन या शय्या को ही संलग्न कर रखना चाहिये। इसके अतिरिक्त अंगार धनिका, कांच की शीशियां, टेस्ट ट्यूब, रस निकालने के यन्त्र, तापस्केद के साधन, अश्यांतैल, डॉपर इत्यादि का भी वैद्युतिक संग्रह करें। डॉपर के लिए शुक्रित या प्रनाई ऐसा यंत्र सहिता में दिया है।

७. नस्य में आतुरब्य और काल का लियार  
प्रावृद्ध, शरद और बसंत ये तीन ऋतु नस्य के लिए उत्तम होते हैं। प्रावृद्ध वर्ष के पूर्व का काल है। अधिक शीतकाल न हो, अधिक उष्णकाल न हो, वर्षादि में मेघाच्छाति आकाश—दुर्दिन न हो तब नस्य देना चाहिये। ग्रीष्म ऋतु में दोपहर के बहले, शीत ऋतु में दोपहर और वर्षा में अद्वितीय में नस्य दे।

वय—७ वर्षायु से कम तथा ८० वर्षायु के ऊपर नस्य नहीं देना चाहिये। अर्थात् वय के ८ वें वर्ष से १० वर्षायुक्त नस्य दे सकते हैं। प्रतिमर्श नस्य जन्म से पृथ्युतक कभी भी दिया जा सकता है। धूमनस्य १२ वर्ष की उमर से दिया जा सकता है।<sup>१०</sup>



विशेष—उपचारिका बिंदुक (झाप) हारा मर्श नस्य दे रही है। उत्सेधयक्त मर्श, नासा का भाग दर्शनीय है। दक्षिण नासाएंट में कार्पास पितृ रखकर उसे बंद रखा है।

### ३. आतुर सिद्धता<sup>१</sup>

नस्य के पूर्व आध्यात्म और अन्यतर स्नेहपन नहीं करना चाहिये। क्योंकि स्नेहपीत को नस्य का निषेध किया गया है। प्रायः वमनादि सभी कर्मों में स्नेहपन पूर्वकरण के तौरपर किया जाता है। तथापि बोष विलयन आराम कराकर ५ दिन नस्य दे सकते हैं। आतुर को मलमूत्रादि वेगों से निवृत कराना चाहिये। तपश्चात् भोजन कराके और कुछ समय अवृत्ति हो जाने पर जातुर में बिठाके या नस्यशब्द्या में लिटा देके और उत्साहग पर शिर पर धान्तर तैल, कीर बला तैल, पंचगुण तैल, इत्यादि में कोई भी तैल से अध्याया कोरो। अध्यांगोत्तर शिरपर मुट्ठन्स्हे कोरो। सिर पर स्वेदन कराना शास्त्र में सामान्यतः मना किया है। किर भी नस्य के पूर्व बोष विलयन और द्रवीकरण के लिए स्वेद करना मना नहीं है। सिर, मुख, नासा, मन्या, ग्रीवा और कंठ पर तापस्वेद करो। स्वेदन के बाद गले, कपोत, ललाट पर हल्के-हल्के हाथों से मर्दन करो और बाद में नस्य दे।

१. प्रथान कर्म—प्रथानकर्म में निम्नलिखित विषयों का समावेश होता है।
२. नस्य—आसन तथा नस्य कर्म
३. व्यापद तथा प्रतिकर।

### १. नस्य आसन तथा नस्य कर्म<sup>२</sup>

नस्य पीठ या नस्य शब्द्या में बैठे हुए या लेटे हुए, अध्यक्त और स्विन्न आतुर को उपर्युक्त प्रकार से गल, कपोलादि का मर्दन कर नस्यासन (The position for the Nasal administration of the medicine) देते। आतुर के पालों को कुछ ऊपर उठा कर रखे, शिर को नीचे झुकाकर प्रलभ्यमान लटके हुए रखे। यह पीठ या शब्द्या में शिरोविशामफलक होने से लटकाने की जरूरत नहीं होती। कैदा अपने बांधों हाथ की तज़ीनों ने आतुर के नासाय को ऊपर उठाके—जिससे नासास्रोत और नासारंध्र एक से सीधी मार्ग तयार हो सके। आतुर के बोक पर स्वच्छ वस्त्रखण्ड रखकर उसे ढाँक दे। किर गरम यानी नस्य स्नेहषष्ठि का पात्र रखकर गाय किया हुआ स्नेह (या स्वरस क्वाश इत्यादि) लेकर चांदी, सोने, ताबे अथवा मिट्टी के शुक्किस (ड्राफर) के द्वारा मुखोष्ण नस्य की थारा (बिंदु से) योग्य मात्रामें नाक में ढोइँ। स्नेह डालते समय थारा बहुत जल्दी न डाले—न बहुत धीरे से डाले, न रुक रुक कर डाले तथा नेत्र में स्नेह न जाये इसका ध्यान रखो। यह विधि स्नेह, स्वरस, दृथ, मांसरस, उदक, आसादि द्रव पदार्थ युक्त नस्य के लिए है। चूर्ण नस्य देना होते सूक्ष्म वस्त्र में छानने योगाय चूर्ण को छँ अंगुल लंबे—नस्य नेत्र के अग्रभाग में रखकर नेत्र को नासास्रोत में रखकर अंतिमधाग से वैद्य पूँक मारकर नस्य द्रव्य अंदर प्रविष्ट कराके चूर्ण को गरम न करें।

धूमनस्य देना हो तो पौधे कहे गये प्रायोगिकादि द्रव्योग से नस्य नेत्र में वर्ति

रखकर अग्नि से जलाकर दूसरे मुख से धूम को नासा से खींचे। नासा से खींचा हुआ धूम मुख से बाहर छोड़ा चाहिये। इस तरह ३—४ बार धूम खींच कर नस्य ले। अथवा लोहे की चटी तबली पर कुछ कोयलों को जलाकर नस्य-द्रव्य डालकर निकलने वाला धूम-वस्त्रावृत

मुख—से आँखे पर बंधन बांधकर नासा से खींचें। अथवा इन द्रव्यों को पानी में डालकर उबाल कर निकलने वाली वाष्प इसी प्रकार से सेवन कराके। नस्य में मात्रा का वर्णन पीछे कर दिया गया है। यहां प्रयोग सौकार्य के लिए उन्नः स्मरण किया जाता है।

### २. नस्योत्तर परिचर्या एवं निरीक्षण<sup>३</sup>

क. नस्य प्रकार	हस्य मात्रा	मध्यम मात्रा	उत्तम मात्रा
१. शमन स्नेह	१६ बिंदु	३२ बिंदु	६४ बिंदु
	(प्रत्येक नासा में)	(प्रत्येक नासा में १६)	(प्रत्येक नासा में ३२)
२. शोधन स्नेह	बिंदु	१२ बिंदु	१६ बिंदु
	(प्रत्येक नासा में ४)	(प्रत्येक नासा में ६)	(प्रत्येक नासा में १२)
३. मर्श नस्य	६ बिंदु	८ बिंदु	१० बिंदु
४. प्रतिमर्श	२ बिंदु	३ बिंदु	५ बिंदु
५. कल्क नस्य	४ बिंदु	६ बिंदु	८ बिंदु

चूर्णकी मात्रा मुच्युटी कही गई है यह वहले कहा गया है। सामान्यतः २ रत्नी से ४ रत्नी मात्रा में चूर्ण का प्रथमन द्वारा प्रयोग करना चाहिये। सार्वधर्म ने नस्य के लिए भिन्न-भिन्न द्रव्यों की मात्रा भिन्न-भिन्न प्रकार की वर्णन की है। वह इस प्रकार की है—

### शार्द्धरोक्त नस्य मात्रा<sup>४</sup>

तीक्ष्णोष्ठ की मात्रा—

१. शाण (१४ रत्नी)

हिंगु की मात्रा — १ यत्र (आधी रत्नी)

सेवध की मात्रा — १ याशा (६ रत्नी)

दूध की मात्रा — ८ शाण-६४ बिंदु

शतकीरा दाढ़िमादि भयुर द्रव्य—१ तोला

जल (ओषधिमिठ)—की मात्रा—३ तोला

नस्य देने समय (द्रव औषधि का) एक नासा पुट को बंद रखकर दूसरे में औषधि डालकर रोगी को खींचने को कहे। किर पहली नस्य युक्त नासा बंद रखकर दूसरी नासा में औषध डालकर खींचने को कहे।

### २. नस्योत्तर परिचर्या एवं निरीक्षण<sup>५</sup>

नस्य देने के बाद पुनः रोगी के गले पर, कपोत और ललाट पर स्वेदन करें, तथा हथेलियों, कंधों तथा पाल के लताके पर धीरे-धीरे मर्दन करें, और रोगी को पुनः पुनः नस्योष्ठि बाहर थूकने को कहे। धीरोपात्र को आतुर के दोनों बाजू में रखकर नाक से होने वाला स्वाव पत्र में डालने को कहे। नेत्रस्राव को स्वच्छ वस्त्र से पौछ ले। रोगी का बराबर निरीक्षण करें। यदि नस्यासन में रोगी का शिर ठीक तरह से झुका हुआ न हो तो नस्य ठीक तरह नहीं पहुँचता, और यदि अधिक झुका हुआ हो तो वह शृंगाटक के अंदर जाकर मरत जाये। मैं पहुँच जाता हूँ। दोनों प्रकार दृष्टि है। नस्योष्ठि शृंगाटक तक पहुँच कर लापेस आती है। उसको थूँकना चाहिये। नस्योष्ठि गले में वापिस उतारने पर किसी भी प्रकार उसे निगलना

नहीं चाहिये। क्योंकि शृंगाटक से दोषों का ल्लावन कर निकालकर लाती है—उत्तें निगलना उचित नहीं है। नस्य के बाद रोगी को एक सौ अंक शिनने तक चित्त लिटाकर रखे और तत्प्रश्नात कबल ग्रह, गट्टूष और धूमपान करावे। इससे मुख की शुद्धि होती है। गरम पानी से कुल्ले कराकर कंठ में उत्तरी हुई दवा को निकालना चाहिये। धूमपान की विधि आगे विस्तार से वर्णन की है। धूमपान यहू नस्य का मुख्य प्रश्नात्कर्म है। नस्य में कफ का उत्तर्लेश होता है। ऐसे समय कफ और स्नेह दोनों मिल जाये तो वह शिर में जमकर बैठता है जिससे गले के मन्ना के कणादि के रोगों को उत्पन्न करता है। अतः कफ के शोधन के लिए धूमपान करावे। नस्य के समय संक्षेप में तिमोकूप करें। शिर का शिर, गाढ़, मन्ना दि पर पुनः स्वेदन एवं मर्दन करें।

१. सिर को न अधिक दुकावे न अधिक उत्तर रखें।

२. नस्योत्तर आतुर सिर हिलावे नहीं और १० अंक शिनने तक चित्त लेटा रहे।

३. भाषण न करें, क्रोध न करें।

४. रोगी हंसना इत्यादि की विचेष्टा न करें।

५. नस्यैषधि निगल न लेवे।

६. गंडूष के द्वारा तथा छीवन से कफ को रुचित करें।

७. स्पृश्य में योगायोग का निरीक्षण।<sup>१५</sup>

नस्य देने के बाद सम्यक् योग, अयोग और अतियोगों के लक्षणों का निरीक्षण करना चाहिये। सम्यक् शिरोविरेचन से शरीर में हल्लापन उत्पन्न होता है। सुख पूर्वक समय पर नींद आती है तथा समय पर खुलती है। जिस विकार के लिए नस्य दिया हो उसका प्रश्न आता है। इदियों और मन में प्रसन्नता होती है। शिर में लघुता होती है और लोतस शुद्ध होते हैं।

सम्यक् नस्य न होन पर—अयोग में या हीनयोग में वातविकृतियां उत्पन्न होती हैं। इदियों में रक्षता होती है, और जिस योग के लिए नस्य दिया हो उसका अप्रशम होता है। इसमें पुनः सम्यक् नस्य दे। हीन शुद्धि में कंडु, अगारूच, नासा, नेत्र, मुख से कफ लालाकाव उत्पन्न होता है। अतियोग या अधिक स्वेहन नस्य से कफ का लाल, शिर में भारीपन, इदियों में विश्व ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसमें रुक्ष चिकित्सा करनी चाहिये। शोधन के अतियोग में मस्तुलुंग का बाहर आना, बात प्रकोप, इत्रिय विषम शिरःशूल्यता ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसमें कफ वाताध चिकित्सा करनी चाहिये। मस्तुलुंग यह शिर की मज्जा हैं जो सत्यान धूताकार की होती है। मस्तुलुंग का बाहर आना यह शिरोगत व्रण में अन्यत्र भी कहा है। इसका अर्थ शिर से कुछ स्निग्ध पदार्थ जो शिर की रचना में भाग लेते हैं—उनको बाहर निकालना चाहिये। शिर की हीन एवं अतिशुद्धि में कफवाताध चिकित्सा करनी चाहिये।

सम्यक् शुद्धि के बाद धी का नस्य देना चाहिये। पित प्रकृतांते में धी का नस्य और बात प्रकृति में तैल नस्य देना हितकर है।

८. व्यापद तथा प्रतिकार

नस्य विषम से अनेक व्यापद उत्पन्न होती है। योग्य काल में नस्य न देने से,

अनस्याह—अथर्वनस्य के लिए अयोग्य को नस्य देने से, एवं विधि विषम से नस्य व्यापद उत्पन्न होती है। इन व्यापदों का स्वरूप दो प्रकार का होता है। एक दोषों का उत्कलेश होकर तथा दोषों का क्षय होती है। दोषों के उत्कलेश से जो व्यापद होता है। एक दोषों का उत्कलेश होती है। उनमें बृंहण चिकित्सा करें।<sup>१६</sup> अनहों में नस्य देने से उत्पन्न होते वाले विकारों को पहले कहा गया है। उनमें अजीण—भुक्त भवत जलपीत आदि को तथा दुर्दिन में नस्य देने से कफ—रोग—श्वास, कास, पीनस अग्निमांद्रं रोग उत्पन्न होते हैं—इनमें कफ-नाशक उष्ण और तीक्ष्ण औषधि से उपचार करें।<sup>१७</sup> इनमें त्रिपुरवन कीर्ति, नागुटी, कस्तूरीभैरव रस, विकटु चूर्ण, दशमूलादित् इन औषधियों का उपयोग करें।

कृश शरीरवालों में विलिक्त आतुरों में गर्भिणी, व्यायाम कलांत, तृष्णार्त आतुरों में नस्य देने पर रुक्षजन्य वातप्रोप से बातरोग उत्पन्न होते हैं। इनमें बात नाशन बृंहण उपचार करें। स्नेहन और स्वेदन करें। गर्भिणी को विशेषतः दृश्य और धी देना चाहिये।<sup>१८</sup> इनमें प्रायः वातज शूल, अगमद, मुख-शोष, गर्भसंतंभ तथा विकृत गर्भ ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इनमें तापस्वेद, अश्वगंधादि शूल, रसायन चूर्ण, विषार्दुक वटी, नवजीवन रस, शतावरी चूर्ण, जीवितप्रदवाटी, आदि औषधियों का उपयोग करें।

ज्वर, शोकाभित्तन, मध्यपीत में नस्य देने से तिमिर रोग उत्पन्न होता है। इन्हें रुक्ष शीतल अंजन लेप, पुटपाक से चिकित्सा करें।<sup>१९</sup> नस्य देते समय यदि रोगी मूर्छिछत हो जाये तो ठंडे जल से परिषेक लालाट और कम्फोल पर करना चाहिये।<sup>२०</sup>

#### प्रश्चात्कर्म

नस्य देने के बाद निम्नलिखित कर्मों पर ध्यान देना चाहिये।

#### १. नस्योत्तर तत्कालोन पश्चात्कर्म

२. धूमपान

३. कवलाग्रह—गंडूष

#### ४. परिहार्य विषय तथा नस्योत्तर कर्म का विचार

१. तत्कालीन पश्चात्कर्म—जैसे कि विधि में कहा गया है कि नस्य के बाद सौ अंक गिननेतक आतुर को चित्त लिटावे, उसके गले, कपोल एवं ललाट पर तापस्वेद करे। पांच के तलवे, पन्था आदि पर मटु मर्दन करें। बार-बार नस्यैषधि को तथा सिंधानक को बाहर निकालने को करें। गरम जल से मुख प्रश्वालन गंडूष और कवल ग्रह करावे। इससे मुख शुद्ध होता है और गले की उत्तेजना कम होती है।

२. धूमपान—नस्य के बाद विलयीभूत कफ गले, नासाक्षोत, तथा शिर में जमा होकर अनेक रोग उत्पन्न कर सकता है। इसलाई कफ शोधन के लिए धूमपान करना चाहिये। धूमपान यह एक अत्यंत गुणकारी उपक्रम है। धूमपान का अर्थ आजकल की सिगरेट या बिड़ी का धूमपान नहीं, अपितु, यह एक शास्त्रीय धैर्यज्ञ कल्पना है। अतएव उनका यहां विस्तार से वर्णन किया जाता है।

**धूम प्रकार—** चरक ने धूमपान के तीन प्रकार किये हैं।<sup>११</sup>

१. प्रायोगिक या शमन धूमपान
२. वैरेचनिक धूमपान और
३. स्नैहिक धूमपान।

मुश्तत ने इसके निम्नलिखित पांच प्रकार किये हैं।<sup>१२</sup>

१. प्रायोगिक
२. स्नैहिक
३. वैरेचनिक
४. कासाधन और
५. वामनीय

इसमें प्रथम तीन धूम चरक के समान हैं। जो कास को नष्ट करें वह कासाधन और जो वामन के लिए उपयुक्त हो वह वामनीय धूम कहलाता है। वाम्भट ने धूम के तीन प्रकार अन्य प्रकार से किये हैं।<sup>१३</sup>

#### १. स्निग्ध धूम यह चातविकार में

१. माध्यम धूम वाताकफ में तथा
२. तीक्ष्ण धूम—कार्यविकार में करने का निर्देश किया है।

#### २. शार्झधर ने धूमपान के ६ प्रकार बताये हैं।<sup>१४</sup>

१. शमन धूम
  २. बृहंण धूम
  ३. रेखन धूम
  ४. कासाधन धूम
  ५. वामन धूम।
  ६. ब्राणधूपन धूम।
- इसमें बृहंण धूम का समावेश अधिक है। तथापि बृहंण को वे स्नैहिक या मृदु धूम ऐसा पर्याय देते हैं। स्नैहिक धूम का वर्णन चरक और मुश्तत ने किया ही है। शमन का पर्याय मध्य और प्रायोगिक है ऐसा शार्झधर ने कहा है, और रेखन का पर्याय वे तीक्ष्णा और शोधन धूम ऐसा देते हैं जिससे वाम्भट के धूम का प्रहण किया है। शार्झधर ने दिया हुआ छठा भेद ब्राणधूप मुश्तत ने वर्णन क्रम में दिया है, यद्यपि भेद वर्णन में उसे नहीं गिना है। भावप्रकाश ने शार्झधर के समान वर्णन किया है। चरकोंकत तीन प्रकार के धूमों के द्रव्य पीछे वर्णन किये गये हैं। मुश्तत के चाच प्रकार के धूम द्रव्य नीचे दिये जाते हैं।

#### ३. प्रायोगिक धूम<sup>१५</sup>—इसके लिए एलादि गण के द्रव्यों में से कुष्ठ और तार को

छोड़कर शेष द्रव्यों को बारीक पीसकर १२ अंगुल लम्बे और कारंगुली के समान मोटे सरकंडे पर रेखन के कपड़े से ८ अंगुल लपेट कर उस पर इनका लेप कर दे। यह वर्ति प्रायोगिक धूमपान के लिए है। इसकी विधि शार्झधर के अनुसार—लेप सूख जानेपर इस सरकंडे को निकाल दे—और औषधि द्रव्यों की जो वर्ति (पाली) तैयार होगी उसे एक बाजू पर जलाकर दूसरी ओर से धूमपान करना—यह है।

प्रायोगिक वर्ति में तार और कुष्ठ को त्यागने का कराण डल्हण ने 'निमि' के मतानुसार दिया है कि ये दोनों वस्तिक ऐसे अन्तर्वंत विष्वंदन करते हैं। जिससे निरोनाश की संभावना है।

अतः चर्ज्य करें।

स्नैहिक धूमपान<sup>१६</sup>—एरडं अदि के फल देवदारगि काल्प, मोम, गल, गुज्जु आदि भिलाकर स्नैहिक धूमपान की वर्ति बनावे।

विरेचन धूमपान<sup>१७</sup>—विडंगादि विरेचन द्रव्यों की वर्ति से विरेचन धूमपान करावे।

करावे।

**कासधूपन धूम<sup>१८</sup>—** बड़ी करेणि, करेणि, विकट, कासमद हिंगु, हिंगोट मनसिल,

गिलोम, काकड़सिंगि इत्यादि कासहर द्रव्यों से वर्ति बनाकर कासहर धूमपान किया जाता है।

बामनीय धूम<sup>१९</sup>—स्नायु, चर्म, खुर, मिंग, केकड़ी की हड्डी, सूखी मछली, सूखा

मास, कूनि (केचुआ) आदि तथा यामक द्रव्यों (मदन फलादि) के द्वारा वर्ति बनाकर

बामनीय धूमपान करावे।

#### धूम नेत्र<sup>२०</sup>—

बस्ति नेत्र जिन द्रव्यों से बनाया जाता है—उर्द्दी से अर्थात् सुखण, रजत, ताम, पीतल इत्यादि के द्वारा धूमनेत्र बनाये। यह कनिष्ठिकांगुली के परिणाह का, मटर के जितेने स्नैतवाला, तथा मूल में अंगूठे के परिणाह का होना चाहिये। इसकी लंबाई प्रायोगिक नेत्र के लिए ४४ अंगुल, स्नैहिक धूम के लिए ३२ अंगुल, वैरेचनिक धूम के लिए २४ अंगुल तथा कासाधन और वामनीय धूमपान के लिए १६ अंगुल, रखें। कासाधन तथा वामनीय नेत्र का छिद्र बेर की गुठली के प्रमाण का रखें। ब्राण—धूपन के लिए उपयुक्त नेत्र ८ अंगुल लबा, मटर के परिणाह का तथा कुलत्य जा सके ऐसा छिद्र युक्त होना चाहिये। वाम्भट ने इन नेत्रों की लंबाई २४ अंगुल, रेअंगुल तथा ४० अंगुल क्रमशः तीक्ष्ण, स्नेहन तथा मध्यम धूमपान के लिए कही है। चरक का मत पीछे कहा गया है।

#### धूमपान के लिये घोग्य तथा अघोग्य

**धूमयोग्य**<sup>२१</sup>—सिरोगौरव, शिरःशूल, पीनस, अद्वर्कपेदक, कण्ठशूल, नेत्रशूल, कास, हिक्का, रसास, गलग्रह, दांतों का हिलना, पुख से लालासाक वान नाक इनके गोग पर्याय देते हैं। स्नैहिक धूम का वर्णन चरक और मुश्तत ने किया ही है। शमन का पर्याय मध्य और प्रायोगिक है ऐसा शार्झधर ने कहा है, और रेखन का पर्याय वे तीक्ष्णा और शोधन धूम ऐसा देते हैं जिससे वाम्भट के धूम का प्रहण किया है। शार्झधर ने दिया हुआ छठा भेद ब्राणधूप मुश्तत ने वर्णन क्रमशः तीक्ष्ण, स्नेहन तथा मध्यम धूमपान के लिए घोग्य है।

जिससे विरेचन दिया गया हो, जिससे बस्ति दी गई हो, रक्तपिणी, विषार्त, शोकग्रस्त, गर्भिणी, श्रमक्लांत, मदमत, आमदोष, पित की अधिकता में, जागरित, मूर्छ्छत, प्रम

से पीड़ित, तुषित, क्षत्क्षीण, मध्यपीत, दुर्घटीत, स्नेह पीत, मधु पीत, भोजन किये हुए, दायि का सेवन किये हुए, रक्षा शरीरि, कुद्द, तालु, सोष, तिमिर, शिरोपिधात, शाखक, गोहिणी, प्रमेह, मदात्य इनसे पीड़ित, आतुरों को धूम नहीं देना चाहिये। इनको धूमपान कराने से रोग बढ़ जाते हैं। मुश्तत ने उपयुक्त के अतिरिक्त—भयभीत, दाह, पांडोरो, वर्मनोत्तर, उद्गार अपतर्पित, उदर, आध्यात, उर्ध्वाकात, इनसे पीड़ित तथा बालक, बृद्ध, दुर्ल यथागु मछली का सेवन किये हुए तथा अल्प कफ वाले व्यक्ति को धूमपान किये जाते हैं।

**धूमयान विष्विद्या**<sup>२२</sup>—अग्नातुर को सुख पूर्वक आसन पर विठ्ठलकर, ग्रसन एवं एकाय चित रखकर, कमर में से मीधाजिताकर, दृष्टि को नीचे रखते हुए जिन आलस के स्नैतवाला धूमवर्ति अग्नि से जलाकर यानरथ देवे। पहले धूमपान पुख से करावे, फिर नासा से करावे। पुद्दलीते धूम को मुख्य से ही आहर निकाले और नासा से खींचे हुए (धूमनस्य) धूम को मुख से बाहर निकाले। विशेषतः प्रायोगिक धूम नासा से लेना चाहिये, स्नैहिक धूम मुख और

नासा से लेना चाहिये, वैरेचनिक धूम नासा से लेना चाहिये और कास्छन तथा बामनीय धूम मुख से ही लेना चाहिये। धूमपान में वर्ति प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है। प्रायोगिक धूम के द्रव्यों का सरकड़े पर लेप कर सूखने पर सरकड़े को निकालकर, सूखी वर्ति धूमने के द्रव्यकर उसे जलाकर नेत्र के दूसरी ओर से पुख या नासा से धूम खींचना यह एक मूल में रखकर उसे जलाकर नेत्र के दूसरी ओर से पुख या नासा से धूम खींचना यह एक खींच है। स्नैहिक और वैरेचनिक धूम भी इसी तरह लिया जाता है। दूसरी विधि वर्ति जो खोखली होती है, उसे एक ओर अग्नि से जलाकर दूसरी ओर से प्रत्यक्ष वर्ति को ही मुह से रख धूम खींचना यह है। कासाधन धूम और बामनीय धूम की विधि अलग है—इसमें वर्ति के जल जाने पर धूमरहित अंगारों में शराब में रख दे। इस शराब (चिलिम) पर दूसरा शराब लिंगके ऊपर छेद हो रख दे, इस छेद में धूम नेत्र लाकर नेत्र से धूमपान करो। धूम के शांत होने पर बची हुई वर्ति फिर जलाकर धूम का सेवन करावे। ब्रणधूम—शराव संपुट में वर्ति को जलाकर नेत्रद्वारा ब्रण तक पहुंचाना चाहिये।

**मात्रा—**प्रायोगिक धूम में ३—३वार धूम को खींचें। अथवा पुख से और नासा से ३—४ तिल, भात, यवागु खिलाकर देना चाहिये। यह वमन करता है। अतः वमन के समान इसमें भी यवागु सेवन आवश्यक है।<sup>१५</sup>

**विशेष—**यवागु आदि भोजन के बाहर धूमपान करने का निषेध है। तथापि बामनीय धूम तिल, भात, यवागु खिलाकर देना चाहिये। यह वमन करता है। अतः वमन के समान इसमें भी यवागु सेवन आवश्यक है।<sup>१५</sup>

धूमपान में काल विचार—चरक ने प्रायोगिक धूमपान के ८ काल दिये हैं। प्रायोगिक धूमपान स्वत्रों में विहित होने के कारण उसके ८ काल दिनचर्या के अनुकूल किये गये हैं। स्नैहिक धूमपान वात—टूट्डिकाल में और वैरेचनिक धूमपान कफवृद्धिकाल में करना चाहिये ऐसा चक्रपणि का भवत्य है। तथापि सुश्रुत ने प्रायोगिक स्नैहिक और वैरेचनिक तीनों धूमों के लिए १२ कालों का वर्णन किया है। वार्षट ने ८ काल विविध धूमपान के लिए दिये हैं।

### चरक के आठ काल—प्रायोगिक धूमपान—

१. स्नानोत्तर
२. भोजनोत्तर
३. वामनोत्तर
४. दंत श्वावनोत्तर
५. नस्योत्तर
६. अंजनोत्तर तथा
७. नीद से उठने के बाद करना चाहिये। यहां स्पष्ट है कि नस्य के बाद देने का जो धूमपान है वह प्रायोगिक प्रकार का हो। एक-एक काल में १ बार धूमपान करना चाहिये। इसमें यह ध्यान रखें कि पहले ३ बार धूम सेवन कर कुछ आराम कर पुनः ३ बार धूम लेवे इस तरह ३ बार कर कुल ६ बार धूम लेवे।<sup>१५</sup>
८. सुश्रुतोब्ज धूम के १२ काल—स्नैहिक, प्रायोगिक और वैरेचनिक धूमपान निम्नोक्त १२ काल में करना चाहिये—
१. छींक आने पर
२. दंतधावन के बाद
३. नस्य के बाद
४. दंत श्वावन के बाद
५. भोजन में सोकर उठने के बाद
६. दिन में सोकर उठने के बाद
७. वमन के बाद
८. वमन के बाद
९. मैथुन के बाद
१०. हंसने पर
११. क्रोध करने के बाद
१२. शरावकर्म के बाद

इसमें भी—स्नैहिक धूम पूलमूत्र वेग के बाद, छींक के आनेप, हंसने पर, क्रोध करने पर, और मैथुन के बाद लेवे। वैरेचनिक धूम स्नान, वमन, और दिवा निद्रा के बाद लेवे।<sup>१७</sup> और प्रायोगिक धूम, दातुन के बाद, नस्य के बाद, भोजन तथा शास्वकर्म के बाद लेवे।<sup>१७</sup> वाराशटोब्ज धूमकाल—भूख, जंभाई, मल त्याग, मूत्रत्याग, मैथुन, शास्वकर्म, हास्य, दांतुन इन ८ कर्मों के बाद मृद धूम (स्नैहिक) लेना चाहिये। उपर्युक्त ८ काल तथा रात्रि में, भोजनोत्तर, और नस्य के बाद—मध्यम धूम चाहिये, और निद्रा, नस्य, अंजन, स्नान और वमन के बाद, तीक्ष्ण धूम देना चाहिये।<sup>१८</sup>

धूमपान के अयोग, योग अतियोग के लक्षण—अयोग लक्षण जिसका धूमपान बराबर न हो उसे स्वर की अशुद्धि, गले में कफ का प्रकोप, सिर का सौम्यमित्य—जड़ होना, इन लक्षणों से जानना चाहिये। सुश्रुत ने रोग का अप्रशम यह अयोग लक्षण बताया है।  
सम्यक् योग लक्षण—उर, कठ और शिर में हल्काकापन, कफ का ढीला होना, हृदय, कठ और इंद्रियों की शुद्धि तथा जिस दोष के लिए धूम दिया हो उसका प्रशम और रोग प्रशम ये सम्यक् धूमपीत के लक्षण—ताटू, शिर, कठ इनमें दाह तथा शोष, बारंबार च्यास, मोह, अतियोग के लक्षण—ताटू, शिर, कठ और शिर में हल्काकापन बराबर आना, मूर्छा, और इंद्रियों का उपताप (नेत्र, श्रोत्र, नासादि के विकार, कण्ठस्वेद, दृष्टि रोग, नासा रोग), और दोर्बल्य ये अति धूमपान के लक्षण हैं।<sup>१९</sup>

अतियोग के लक्षण—ताटू, शिर, कठ इनमें दाह तथा शोष, बारंबार च्यास, मोह, रक्तसाक (नासा और मुख से), शिर में चक्कर आना, मूर्छा, और इंद्रियों का उपताप (नेत्र, श्रोत्र, नासादि के विकार, कण्ठस्वेद, दृष्टि रोग, नासा रोग), और दोर्बल्य ये अति धूमपान के लक्षण हैं।<sup>२०</sup>

धूमपान के उपद्रव—अतिथूमपान बारंबार अकाल में किया जाए तो उपद्रव उत्पन्न होते हैं—जिनमें—बाधिर्य, आंध्य, मूकत्व, (ये सब इंद्रियोपताप है) रक्तपितृ, शिरोभ्रम, ये उपद्रव कहे गये हैं। इन उपद्रवों में तथा अतियोग लक्षण में—धूमपान, अंजन, नावन नस्य, तर्पण, चिकित्सा करें और कफ प्रकोप में रक्ष चिकित्सा करें।<sup>२१</sup>  
इस तरह धूमपान विषय का विस्तार से यहां वर्णन किया है। इसमें से यथा योग्य को धूम दे। तथा योग्य प्रकार से धूमनस्य भी करना चाहिये। धूम अयोग्य में भोजन युवत, कुद्द, इन्हें धूम के लिए अयोग्य कहा है और धूमपान के काल में इनका समावेश किया है। यहां विशेष नहीं समझना चाहिये। किंतु तत्सद धूम की वहां विशेषता समझनी चाहिये।

धूमपान के गुण और उपयोग—स्नैहिक धूम स्निग्धिता से वात को प्रशमित करता है, वैरेचनिक धूम कफ को उत्क्षिप्त कर निकाल देता है, क्षयोंकि यह रक्ष, तीक्ष्ण, विशद और उच्चा होता है, और प्रायोगिक धूम स्निग्धि विशद, रक्ष, उच्चा आदि सभी गुणों में साधारण होने से कफ को उत्क्षिप्त भी करता है, और शोधन तथा शमन भी करता है, वात का भी शमन करता है। धूमपान के सेवन से इंद्रियाएं प्रसन्न होती हैं, वाक् शुद्धि (स्पष्ट भाषण) होती है, दृष्टि प्रसादन होता है, सिर के बाल, दात, शमशु इनमें शोभनता होती है, पुख सुग्राथित तथा शुद्ध रहता है तथा धूमपान सेवी को—कास, श्वास अरोचक, मुखलेप, स्वरभेद मुखसाव, वमधु (वमन), छींक, तंद्रा, निद्रा, हनु, मन्त्रा का जकड़ना, फीनस, शिरोरोग कण्ठशूल, अदिशूल वाताकफ से उत्पन्न मुखरोग, ये रोग नहीं होते।<sup>२२</sup>

नस्य के बाद अन्य कर्म हैं कवलतप्रय ह या गंडुष। यह भी एक स्वतंत्र उपक्रम है। अतः इसका वर्णन नीचे किया जाता है।

### ३. कवलप्राह तथा गंडूष

कवलप्राह तथा गंडूष ऐसे दो शब्द महिता में प्रचलित हैं। जिसमें औषधि क्षायथ, तैलादि स्नेह इत्यादि को मुख में इतना भर दिया जाये कि उसे चुम्हाया फिराया न जा सके उसे कवलप्राह कहते हैं और जो मात्रा मुख में चुम्हाइ फिराई जा सके इतनी हो, उसे गंडूष कहते हैं।<sup>१३</sup> इन दोनों को कुल्ले करना ऐसा सामान्य भाषा में कहा जाता है।

कवलप्राह के मुश्तक ने ४ प्रकार किये हैं और उसे स्निनध गंडूष, शमन गंडूष और शोधन गंडूष और रोपण गंडूष ऐसा कहा है। शमन और प्रसादन को एक ही समझना चाहिये।<sup>१४</sup>

इनमें से ज्ञेहन गंडूष या कवलप्राह—स्निनध और उष्ण तथा मधुर, अस्त्व, लवण इस युक्त द्रव्यों से करना चाहिये। यह बातदोष में प्रशस्त है। प्रसादन कवलप्राह—मधुर और और मधुर द्रव्यों से करने का निर्देश है। शोधन प्रकार का कवलथारण तीर्थय, उष्ण, रस, कट्ट और अस्त्व तथा लवण-रस युक्त द्रव्यों से करना चाहिये। यह कफ में प्रशस्त है। नस्य कट्ट रस युक्त द्रव्यों से करना चाहिये। यह ब्रान में प्रशस्त है। उपर्युक्त चारों प्रकार के कवल औषधि के कल्क के साथ निलाकर यथा योग्य सिद्ध कर उष्ण या शीत तथा योग्य प्रयोग करें। अथवा शोधन हो तो गोमूत्र आदि, स्नेहन में तैल मासरसादि, प्रसादन, में मधुरसादि, रोपण में घृत, क्षीरादि इत्यादि प्रकार विचार करें।<sup>१५</sup>

**कवल-गंडूष साध्य विकार-** मन्त्रास्तंभ, शिरःशुद्ध, कण्ठशुद्ध, मुख रोग, नेत्ररोग, लालाचाव (प्रसेक) कंठरोग, मुखशोष, हृल्लास, तंद्रा, अरुचि, फीनस, इन गोंगों में कवल ग्रहण से लाभ होता है।<sup>१६</sup>

**विकिर्षि**<sup>१७</sup>—क्रिकट, वचा, सरसूं हरीतकी, इत्यादि का कल्क तैयार कर इसमें तैन, फिर आतुर के गले, कपोल, कपाल, प्रदेशपर तथा कंधे और सिरपर स्वेदन (मृदु) और पर्दनकर कवल धारण करावे। मुख को विकृत कर तथा ऊपर के बाजू में रख कर कवल जो पुहं में धारण करे या गंडूष प्रकार से चुम्हावे। जब मुह में कफ भर जाये, नाक या कान से सावन होने लगे तब तक इसे मुह में रखना चाहिये, फिर निकाल देवे और दूसरा कवल या गंडूष धारण करावे।

कवल में योग अयोगादि लवण-व्याधि का प्रशाय, मन की प्रसन्नता, मुख में हलकापन, इन्द्रियों की प्रसन्नता, चे कवल से योग्य शुद्ध होने पर उत्सव लक्षण हैं। हीनयोगा या अयोग में मुख का भारीपन, कफोल्क्तोरा, रससान का अभाव, ये लक्षण उत्सव होते हैं और अतियोग में—मुख्यमाझ, शोष, व्यास, अरुचि, कल्प, ये लक्षण उत्सव होते हैं। विशेषतः शोधन प्रकार के कवलप्राह के अतियोग से तो (क्षारादि के कारण) ये होते ही हैं।<sup>१८</sup>

### कुछ गंडूष कथन घोषणा

१. दृत हर्ष, दृत चाल में, वातिक मुखरोग में मुखोषा या शीत तिलकल्क से युक्त जल का गंडूष करावे।

२. नित्य देने के लिए तैल या मांसरस का गंडूष प्रशस्त है।

३. जिनके मुख में पाक है, प्रातः काल बाह होता है, मुखस्त, विषदग्ध, शारदग्ध तथा आगंतु मुख व्याधि में धृत या दूध से कवल—गंडूष करावे।

४. मुख की शुष्कि के लिए, ब्रणरोपण के लिए, तथा बाह, तुष्ण्यप्रशमन के लिए मधु से गंडूष धारण करावे।

५. मुखशोष के लिए—थान्यास्त (कोंजी) का कवल—गंडूष धारण करावे।

६. मुखशोष के लिए—थान्यास्त का लवणपराहित, शीत ही प्रयोग करें।

७. कफ को छोड़ना करने के लिए शारयुक्त जल (स्वजौस्थार, यवसार, शुद्ध—टंकग) का गंडूष कवल धारण करावे।

८. मुख में भारीपन लगता हो तो केवल गरमपनी का गंडूष करावे। इस तरह नस्य के बाद जब कि कफ का दिलयन होता है तब—शारयुक्त जल का गंडूष करावे। उपर्युक्त गंडूष भी नस्योत्तर यथा योग्य करना चाहिये। उद्वहरण—मुख्यमाझ कुक्त आतुर हो तो नस्य के बाद क्षागोदक युक्त गंडूष नहीं, बल्कि—क्षीर, मधु इत्यादि से गंडूष करावे। पांच वर्ष से कम उमर के बालकों में गंडूष नहीं करना चाहिये।<sup>१९</sup>

९. नस्योत्तर भोजनादि का विचार—नस्य के बाद धूमपान, कवलप्राहादि कर्म के होने पर आतुर को गरम पनी पिलावे और योग्य को देखकर लघु आहार के भोजन पर रखना चाहिये। जहां सीधी हवा प्रवेश न करती हो ऐसे कमरे में रखे, उसे सोने न दे।<sup>२०</sup> भोजन में विशेषतः स्निनध पदार्थ नहीं देना चाहिये। ये कफप्रक्रोपक होते हैं तथा पचने के लिए गुरु भी होते हैं और अभिष्वद करते हैं।

१०. परिहार्य विषय तथा अन्य कर्म का क्षिचित्यार—नस्य के बाद शीत जारी सोने करें। शीत जल से स्नान न करें। न्यानपानादि के लिए गरम पनी का उपयोग करें दोष का प्रकोप करनेवाले भोजन की छोड़ दे और इन्द्रियों का संतुष्ट करते हुए रहना चाहिये। तथा रजोधूप स्नेह, आतप, मधु, द्रव्यपान, शिरःस्नान, आत्यानायान, क्रोधादि (शोक भय इत्यादि) का तथा करना चाहिये।<sup>२१</sup>

११. नस्य एक दिन के अंतर से, दो दिन के अंतर से लात दिन तक लेना चाहिये। मुश्तुन ने लोकन वार्ष्य दिन नस्य लेने का निर्देश किया है। यदि अङ्गवश्यक हो तो जातव्याधि में—मन्त्रास्तंभ, स्वर भेद, इन गोंगों में तथा जिनके शारीर में बात का अतिव प्रकोप है उसे दिन में र बार भी नस्य (प्रातः साथं) दिया जाना मुश्तुत और वार्ष्य दिन दोनों को संभव है।<sup>२२</sup> यह स्नेह नस्य विशेषतः प्रयोज्य है।

१२. अतएव नस्य यदि ७ दिन दिया जाने तो उसके बाद रक्तमोक्षण कर्म करना अभिहित है। यदि रक्तमोक्षण न करना हो तो पंचकर्म की पूर्णता समझ कर

(वमन-विरेचन-निरुह— अनुवासन—नस्य) दूसरे रसायनादि उपचार या शमनादि चिकित्सा जो अभीष्ट है—करें।

क्र. अधिकार	नस्य विषय	संदर्भ	क्र. अधिकार	नस्य विषय	संदर्भ					
१. ऊर चिकित्सा	विमान स्थान के ८ वें अध्याय में कहे गये शिरोविरेचनोपयोगी औषधियों से ऊर में नस्य	च.वि. ३-१५४	१०. उन्माद चिकित्सा	शिरोगादि द्रव्यों का नस्य	चि. १-७१, ७१					
२. ऊर चिकित्सा	मात्राशिलीय अध्याय में ऊक्त तैल (अण्डुल) का नस्यार्थ प्रयोग	चि. ३-१५५	११. उन्माद चिकित्सा	ब्लोडादि (विकट) नस्य	चि. १-१३					
३. रक्तपित चिकित्सा	१. नासाप्रवृत्त रक्त में दुष्ट प्रतिश्याय शिरोरोग, कुणापांधी ग्रक्तस्वाव, नासा से गंधज्ञान का अभाव, इन लक्षणों में नीला कम्पल, गैरिक, चंदन इनको शर्करा और जल से बिलाकर नस्य देने का उपक्रम तथा २. आम्र की गुठली समांगा, धाय, मोचरस, लोश, द्राक्षा, इक्षुरस इनसे नस्य प्रयोग	चि. ४-१७ से १०४	१२. उन्माद चिकित्सा	नस्यामादि नस्य	चि. १-७१					
४. कुछ चिकित्सा	३. दूर्वा स्वरस से नस्य ४. धमासा, ध्याज, इनका नस्य ५. दाढ़िम के फूलों के स्वरस का नस्य ६. द्रियाल सिद्ध तैल, यचिम्भुत्ति द्रुत, तथा आम्र की गुठली इत्यादि से सिद्ध कीर का नस्य ७. सारिका और कमल के दूर्ण का नस्य उत्तमांग के कुच्छ में क्रिमिज कुच्छ में, अवस्था में विडंग दूर्ण का नस्य कफक्रोक्षय युक्त	चि. ७-४८, ४६	१३. विष चिकित्सा	क्षेत्राद्वारा एवं धूम नस्य का प्रयोग किलात्स और क्रिमि का प्रशमन होता है संतुष्ट दोषों में, शिर: शहू असंशूल पारवशूल में गावन नस्य का प्रयोग सामान्य चिकित्सा सूत्र में नस्य मन: प्रसादार्थ स्फुटित्सका के लाभ के लिए आचार विशेष में तीर्थन नस्य लघुनुदि दृष्ट से नावन नस्य	चि. ८-४८, ४६	१४. राजस्यक्षमा चिकित्सा	क्षेत्राद्वारा एवं धूम नस्य का प्रयोग किलात्स और क्रिमि का प्रशमन होता है संतुष्ट दोषों में, शिर: शहू असंशूल पारवशूल में गावन नस्य का प्रयोग सामान्य चिकित्सा सूत्र में नस्य मन: प्रसादार्थ स्फुटित्सका के लाभ के लिए आचार विशेष में तीर्थन नस्य लघुनुदि दृष्ट से नावन नस्य	चि. ८-४८, ४६		
५. कुछ चिकित्सा	८. सारिका और कमल के दूर्ण का नस्य उत्तमांग के कुच्छ में क्रिमिज कुच्छ में, अवस्था में विडंग दूर्ण का नस्य कफक्रोक्षय युक्त	तथा वैरेचनिक एवं धूम नस्य का प्रयोग किलात्स और क्रिमि का प्रशमन होता है संतुष्ट दोषों में, शिर: शहू असंशूल पारवशूल में गावन नस्य का प्रयोग सामान्य चिकित्सा सूत्र में नस्य मन: प्रसादार्थ स्फुटित्सका के लाभ के लिए आचार विशेष में तीर्थन नस्य लघुनुदि दृष्ट से नावन नस्य	१५. विष चिकित्सा	१६. विष चिकित्सा	१७. विष चिकित्सा	१८. विष चिकित्सा	१९. विष चिकित्सा	२०. विष चिकित्सा	२१. विष चिकित्सा	२२. विष चिकित्सा
६. उन्माद चिकित्सा	६. उन्माद चिकित्सा	७. उन्माद चिकित्सा	८. उन्माद चिकित्सा	९. उन्माद चिकित्सा	१०. विष चिकित्सा	११. विष चिकित्सा	१२. विष चिकित्सा	१३. विष चिकित्सा	१४. विष चिकित्सा	१५. विष चिकित्सा
७. उन्माद चिकित्सा	७. उन्माद चिकित्सा	८. उन्माद चिकित्सा	९. उन्माद चिकित्सा	१०. उन्माद चिकित्सा	११. विष चिकित्सा	१२. विष चिकित्सा	१३. विष चिकित्सा	१४. विष चिकित्सा	१५. विष चिकित्सा	१६. विष चिकित्सा
८. उन्माद चिकित्सा	८. उन्माद चिकित्सा	९. उन्माद चिकित्सा	१०. उन्माद चिकित्सा	११. उन्माद चिकित्सा	१२. विष चिकित्सा	१३. विष चिकित्सा	१४. विष चिकित्सा	१५. विष चिकित्सा	१६. विष चिकित्सा	१७. विष चिकित्सा
९. उन्माद चिकित्सा	९. उन्माद चिकित्सा	१०. उन्माद चिकित्सा	११. उन्माद चिकित्सा	१२. उन्माद चिकित्सा	१३. विष चिकित्सा	१४. विष चिकित्सा	१५. विष चिकित्सा	१६. विष चिकित्सा	१७. विष चिकित्सा	१८. विष चिकित्सा

क्र. अधिकार	नस्य विषय	संदर्भ
३३. विष चिकित्सा	शिरीष त्वक्, त्रिकटु ब्रिफलादि इत्यों से सिद्ध धूत+अमृत धूत के नस्य प्रयोग-अपस्मार, क्षय, उन्माद, भूतप्रह, गरीबिष, उत्तर पांडु, क्रिमी, गुल्म, स्लीहा, उरस्तंथ, कामला, हनुग्रह, स्कंधप्रह इत्यादि में लाखप्रद। विष पीड़ित में यह संजीवनी सदृश्य कार्य करता है।	चि. २३-२४२
३४. विमर्मीय चिकित्सा	नासारोग चिकित्सा में गोहिषादि सिद्ध नस्य	चि. २६-१३७
३५. विमर्मीय चिकित्सा	मनः शिलादि चूर्ण का प्रधमन नस्य	चि. २६-१३९
३६. विमर्मीय चिकित्सा	कफज मीनस में लाद्धादि सिद्ध तैल का नस्य	चि. २६-१५६
३७. विमर्मीय चिकित्सा	वातिक शिरोरोग के सामान्य चिकित्सा सुख में नस्य	चि. २६-१५८
३८. विमर्मीय चिकित्सा	अगुवादि तैल, रासादि तैल, महामाद्दूर धूत का नस्य	चि. २६-१५९
३९. विमर्मीय चिकित्सा	पित्तज शिरोरोग में जीवनीय धूत का नस्य	चि. २६-१६०
४०. विमर्मीय चिकित्सा	पित्तज शिरोरोग में त्वक्, प्राणादि से अवपीड नस्य	चि. २६-१६१
४१. विमर्मीय चिकित्सा	कफज शिरोरोग में सामान्य चिकित्सा सुख में नस्य	चि. २६-१६०
४२. विमर्मीय चिकित्सा	क्रिमीय चिकित्सा में त्वक्, दूती, करंज, लिङ्गादि सिद्ध तैल का प्रयोग	चि. २६-१६२
४३. विमर्मीय चिकित्सा	मदनफल, चिकटु, शिरु, करंज इनका अवपीड नस्य	चि. २६-१६३
४४. वातव्याधि चिकित्सा	वातव्याधि सामान्य चिकित्सा में नस्य प्रयोग	चि. २६-१६४
४५. वातव्याधि चिकित्सा	वातव्याधि चिकित्सा से बाद नस्य	चि. २६-१६५
४६. वातव्याधि चिकित्सा	बहुगत वात शिरोरोग वात में नस्य	चि. २६-१६६
४७. वातव्याधि चिकित्सा	वातव्याधि चिकित्सा अद्वित में नस्य	चि. २६-१६७

क्र. अधिकार	नस्य विषय	संदर्भ
३१. वातव्याधि चिकित्सा	मूर्धागत वात में बलादि धूत मांड का नस्य	चि. २६-१२४
४०. वातव्याधि चिकित्सा	अस्थिस्नोह का नस्य	चि. २६-१२५ से १२८
४१. वातव्याधि चिकित्सा	शिरोगत कफ में नस्य	चि. २६-११४
४२. विमर्मीयसिद्धि	शारखक रोग में सामान्य चिकित्सा सूत्र में नस्य	सि. १-१७३
४३. विमर्मीयसिद्धि	अधर्विषेदक में नस्य	सि. १-१७६
४४. विमर्मीयसिद्धि	सूर्यार्द्ध में जीवनीय धूत का नस्य	सि. १-१८२, १३
४५. विमर्मीयसिद्धि	अनंत वात में नस्य	सि. १-१८७
४६. विमर्मीयसिद्धि	तपीण नस्य के लिए मधुर स्कंध में उक्त औषधियों का प्रयोग	सि. १-१९
<b>नस्य के कातिपय योग—चारक मुश्रुतादिकों ने वर्मन तथा विरेचन के जिस तरह अनेक योग दिये हैं, उस तरह नस्य के योग वर्णित नहीं किये हैं। अवस्थानुसार रोगों में जो कुछ नस्य योगों का उल्लेख मिलता है, उसके पीछे संदर्भ प्रस्तुत किया है। शार्दूल तथा भावप्रकाश ने कुछ नस्य योगों का वर्णन किया है उनको यहां लिखा जाता है।</b>		
<b>शार्दूलधरोक्त नस्य कल्प</b>		
१. गुडादि नस्य—गुड और शुर्टी की पीस कर उसमें पिपली और सैंधव लवण मिलाकर उषा जल में खोल कर नस्य दे। इस नस्य के प्रयोग से गला, नाक, कान, आँख, शिर, हनु, बाहु और पीठ के रोग नष्ट होते हैं।		
२. मधुक सारादि नस्य—महुवे का शुक्त, पिपली, वचा, काली मरिच, और सैंधव लवण—इसमें इत्यों के चूर्ण की प्रथम गरम पानी में खोल ले, फिर मधुक शुक्त मिलाके इससे नस्य दे। इस नस्य के प्रयोग से अपस्मार, उन्माद, स्निग्धित ज्वर तथा अपत्रक में संज्ञा नाश में लाभ होता है।		
३. सैंधवादि नस्य—सैंधव लवण, मरिच चूर्ण (सफेद) सरसू कुच इन्हें बकरे के मूत्र में पीस कर उसका नस्य देने से तंद्रा (Stupor or Lithargy) का नाश होता है।		
४. मरिचादि नस्य—सैंधव, वचा, कुञ्जमरिच, पिपली, शुर्टी, कंकोल, लहसुन, गुग्गुल, कायफल, इनके चूर्ण को गोहित मत्त्य के साथ पीस कर सुखा लो। इस चूर्ण के प्रधमन लिथि से देने से तंद्रा नाश होता है।		
५. कुंकुम नस्य—कुंकुम (केशर) को गाय के थी के साथ भलीभांति भूनकर समझाग रक्कीयमिलाकर, गाय के दूध के साथ पीस लेवें। इसका नस्य देने से—वातरक्त की वेदना, शू—शंखप्रदेश का शुल, नेत्रकर्ण और शिर के रोग तथा सूर्यार्द्ध और अर्धार्द्धवेदक ये रोग दूर होते हैं।		
६. चूंहणार्थ नस्य योग—नरायण तैल, अणुतैल, माषादि तैल इनके नस्य का तथा		

५. **माषादि नस्य—उड्डद**, कौच के बीज, गास्ता, बला, एंडमूल, रोहिष टुण और अश्वरांथा इनके बत्ताथ में हींग और संैधं वन्धनक मिलाकर सुखोष्ण नस्य देने से प्रक्षाद्यात, कंपवात, अर्दित मन्त्यात्संयम और अवबाहुक इनमें लाभ होता है।

६. **बिर्भीतकादि नस्य—बहेड़ा, निब, गंभरी, हरीतकी, लिसोबा अथवा गुंजा फलों की मज्जा, इनके सिद्ध तेल का प्रतिमर्श विधि से प्रयोग करते से पलित रोग में (बाल सफेद होना) लाभ होता है। भावप्रकाश ने इहीं योगों का वर्णन किया है। उपर्युक्त के अतिरिक्त—जात्यादि तेल का नस्य नासागत रक्तस्राव में घड़बिंदु तेल का नस्य शोधनार्थ शुद्ध गोधृत का नस्य शिरांशु, शूल, आक्षेप तथा बुंदणार्थ, अश्वरांथादि धूत का नस्य शिरोरोग तथा बुंदणार्थ, मायूरधूत, महामायूर धूत इनका नस्य शिरोरोग में यथा योग्य प्रकार से करना चाहिये।**

मदनफल, इक्षवाकु आदि जो वमन तथा विरेचन की औषधियाँ कहीं गई हैं इनके चूपों से नस्य देना शोधनार्थ चिह्नित है, तथा इनसे सिद्ध तेल, धूत का भी विरेचनार्थ उपयोग होता है और मधुर स्कंध वस्त्रि (अच्याय में कहा है) से सिद्ध औषधियों का तर्पण नस्य (बुंदण) के लिए प्रयोग करना चाहिये।

#### नस्य की कार्युक्तता

नस्य को विधि के अनुसार प्रयोग करने से निम्नलिखित गुणों की प्राप्ति होती है।

१. नस्यसेवी को च्युरोग नहीं होते।

२. कणरिगे नहीं होते।

३. नासारोग नहीं होते।

४. केश इमशु, —वाढ़ी के बाल सफेद या भूर नहीं होते।

५. केश जल्दी गिरते नहीं और लंबाई बढ़ती है।

६. पीनस, अथवामेदक मन्त्यासंथ, शिरःशूल, आदित, हनुग्रह इन रोगों का नस्य से प्रशम होता है।

७. शिर की हड्डियाँ, शिर की संधियाँ, स्नायु और कंडडा इनको बल मिलता है।

८. उख प्रसन्न और उपचित रहता है।

९. स्वर स्थर, स्तिथ और धोवतान बनता है।

१०. इद्रियों की उनके ज्ञानग्रहण में शावित बढ़ती है।

११. नस्य सेवी को ऊर्ध्व जयुगत रोग नहीं होते।

१२. वृद्धापकाल देव से आता है।

१३. मुख सुग्राधित रहता है।

१४. हनु, दंत, शिर, त्रिकूप्रदेश (दो ज्ञु अस्थि तथा उःफलक के संधिस्थान का प्रदेश) बाहु तथा उर ये अवयव दृढ़ और बलवान होते हैं।

१५. वर्ती, पलित, खालित्य तथा व्यंग इत्यादि रोग नहीं होते।<sup>14</sup>

इनके अतिरिक्त प्रतिमर्श के अमुक काल के सेवन से उत्पत्त होनेवाले अमुक गुण इसमें समाविष्ट करना चाहिये। संक्षेप में नस्य से वातव्याधि, उर्ध्वजनुग्रह रोग, कफ दाढ़ इनमें लाभ होता है और इनमें शमन, शोधन, बुंदण तीनों प्रकार से लाभ पहुंचता है। नस्य के ये गुण किस तरह संपत्त होते हैं इसका विचार करें।

नस्य कर्म के अनुसार दी हुई औषधि नासा खोत में रहती है या शिर में जाती है यह प्रमुख विचारणीय प्रश्न है। यदि वह शिर में जा सकती है, अथवा वीथि से शिर में पहुंचती हो तो उपर्युक्त अनेक कार्यों को संगती मिल सकती है। आयुर्वेद मतानुसार नासा यह शिर का द्वार है, और इस रास्ते से औषधि शिर में व्याप्त होकर रोगों को नास्य करती है। नस्य की कार्मिकता बताते हुए चारक ने कहा है कि—शिरोविरेचन औषध उत्तमांग में—शिर में पहुंचकर संपूर्ण विकृत दोष को बहां चिपकने न देते हुए उसे बाहर निकाल देता है जैसे मुजादि में रहे हुए सरकंडे को बिना संलान हुए खींचकर निकाला जा सकता है।<sup>15</sup>

शिर यह इंद्रियों का आवश्यन है। शिर में पहुंच कर—दृष्टि, कर्ण, त्वग् नासादि के मूलस्थान को बल देना, वहां के दोषों को निकाल देना तथा शमन करना ये कार्य नस्य से हो सकते हैं। शिर को कफ का धारा कहा है और नस्य का मुख्य कार्य भी कफ पर है। शिर में तर्पक कफ रहता है जो इंद्रियों को तर्पण करता है। शिर में स्लेह के द्वारा निर्मित मज्जा धातु से बना हुआ मस्तकुरुग शिर के कार्यों का मूल है।

नासा का मुख्य कर्म गंधग्रहण है। नासा के मूल में गंधवह ध्यानियाँ होती हैं जो गंधशान को शिसें पहुंचाती हैं। इन मूल स्थानों में गंधदब्यों के द्वारा उत्तेजना का कार्य होता है। यह उत्तेजना पहुंचने पर सपूर्ण गंधवह खोत प्रश्युभित होती है और जब क्षवश्य प्रवृत्ति होती है तो शिरस्थ विलायित कफ के साथ दोष निहरण संभव होता है। नस्य दब्य में उपयुक्त चूर्ण दब्य प्रायः प्रथम गंध प्रधान है। शुंठी, लशून, हिंग, वचा, पिपली आदि गंध उत्तेजक दब्य होते हैं, अन्य दब्य कट्ठ, उण और तीक्ष्ण होते हैं। पीछे नस्य दब्यों की तालिका दी है, उससे यह स्पष्ट होता है कि प्रायः दब्य उण तीक्ष्ण है। ये दोनों गुण आयुर्वेद मतानुसार विष्वदन, द्रवीकरण, छ्लेन करने का कार्य करते हैं। मधुर औषधियाँ बृहण, -शमन-तर्पण का कार्य करती हैं और कथाय रसयुक्त औषधियाँ स्तंभन करती हैं। ये सब गुण तब मिल सकते हैं जब कि इनका वीर्य शिर में पहुंचता हो।

आयुर्विक मत से नासा के मूल में गंध को ग्रहण करने वाली औलफेंक्ट्री नाई शिथ (allfactory nerve) इस नाई की श्लेष्मल कला नासा के मूल में—दोनों नासा पुट में करीब एक से दो चौरस सेंटीमीटर का क्षेत्र व्याप्त करती है। इस गंधवह श्लेष्मल कला का संपर्क गंधवह नाई से होता है—प्रायः सब प्रकार के गंधशान के संकेत जो इस कला से ग्रहण होते हैं—केंद्रीय नाई संस्थान में पहुंच जाते हैं। शिर में रिथ्यत—एमोडोलॉइड न्यूक्लिउन्ट्स (Aymgdoloid nucleus) पाचारिकोर्म एरिआ (Pyriform area) तथा प्रीफ्रॉन्टल कॉरेटेक्स (Prefrontal cortex) इन स्थानों तक भिन्न-भिन्न गंध की संवेदनाएँ पहुंच जाती हैं और वहां उत्तेजना करती है। ऐसा समझा जाता है कि एमोडोलॉइड एरिया तथा पायरी फॉर्म क्लेन से ये संवेदनाएँ शिर के अन्यान्य केन्द्र में भी पहुंचती हैं। इनमें हिपोकैंपस (Hippocampus), अंककस (uncus) और डोमिनेंट एंग्यूलर गायरस (Dominant angular gyrus) में जाती हैं। नये अध्ययन से यह मालूम हुआ है कि

हिपोकैपस का संबंध मुख्यतः प्रयुक्ति के भावनात्मक (क्रोध, शोकादि) कार्यों से तथा सुख प्रवृत्ति से हैं। इसके शोभ से तत्त्व प्रकार के नस्य के कार्य का अनुमान कर सकते हैं। कुछ और शोकप्रस्त की नस्य न देने का निर्देश किया है—स्वप्नतः ऐसे समय में शिर के इंद्रियों—तथा मन के कार्यों को अधिक उत्तेजित न करना यह उद्देश्य है और प्रतिमर्श जैसा स्नेहन नस्य जो बात शोभ को कम करता है—संभवतः इसीलिए इनमें उचित कहा है। उपर्युक्त का मतितार्थ यह हुआ कि जो गंध प्रधान द्रव्य है—वे वार्ष से निश्चिततः शिर में पहुँचते हैं।

नासा स्थित गंधवह नाड़ी के श्लोबल अवयव को उत्तेजित करने में वे द्रव्य जो इसमें जल्दी युल जाते हैं वे प्रधान माने गये हैं। गंध की उत्तेजना करने वाले द्रव्यों में—

(१) उड़नशीलता होती है

(२) वे कम-से-कम जल में घुलने योग्य होते ही हैं तथा

(३) वे स्नेह में (Lipid soluble) युलनशील होते हैं—ये तीन प्रकार के द्रव्य जल्दी से गंधवह को उत्तेजित करते हैं। गंधवह नाड़ी, तथा गंधशान जहां से होता है—वह नासा के मूलभाग में स्थित का केंद्र है। अवयव जिस थार्टु से बनते हैं उसमें स्नेह का अत्यधिक प्रमाण है और उनका स्थानांतर (Transmission) भी शीघ्रता से होता है।<sup>१५</sup>

यहां यह स्मरणीय है कि नस्य द्रव्यों में युक्त, मध्य इनके साथ औषध प्रयोग करने का निर्देश शास्त्र में है—ये द्रव्य अत्यधिक स्नेह युलनशील (Lipid soluble) होते हैं—जिससे इनका नासा से शिर में पहुँचना समझा सकते हैं। दूसरी बात नस्य के लिए तैल की बहुत प्रशस्ति की है—वाराघट कहते हैं कि—तैल ही नस्य के नित्य सेवन में प्रशस्त है—क्योंकि शिर यह कफ का स्थान है—और कफ के लिए तैल (उषा-सूक्ष्म-अपुष्पत्वाभावादि गुणों से) प्रशस्त होता है। यहां दो तरह के संकेत मिलते हैं। एक तो तैल—धूत—इत्यादि स्नेह द्रव्य हैं—जो नासा में स्थित गंधाहक स्नेह रचनामय अवयव के लिए समान द्रव्य है। और ‘वृद्धिसामान्य’ के सिद्धांत से उनकी इससे वृद्धि होती है। यहां वृद्धि का मतलब वे उत्तर उनसे ग्रहण किये जाते हैं और शिर की ओर जाकर समान भाग को बढ़ाने का कार्य (शिरस्य स्नेह निर्मित मज्जातंत्र को) करते हैं—इससे जिससे नाड़ी की बल मिलता है। यहां यह संदेह हो सकता है कि नासा के नाड़ी में इन द्रव्यों का पूर्णांश से युलना संभव है—या नहीं यहां केवल संभाव्यता बताने का ही उद्देश्य है—दूसरी बात स्नेह में जो अपुष्पत्वा भवता है—जिससे वह बस्ति में भी—ऊपर तक पहुँच जाता है—उसी तरह नासा नाड़ी के अवयव को चिपककर—उनका एक भाग होकर और शारीर पदार्थ की तरह ऊपर जा सकता है। आधुनिक विज्ञान में भी गंधवह स्नेह—उसके जान प्रहण, गंधाहक से निर्देशन नहीं है। इसीलिए केवल अभावत्स्वरूप विचार न करते हुए ‘नासा हि लियरसो द्वारा’ जनतां स्वयुक्तेन ही होता है। यही कारण है कि प्रतिमर्श में जिसमें मात्रा अल्प होती है—अधिक लाभ तथा निरप्रत्यक्ष है—और मात्राधिक्य से अधिक संवेदना से द्रव्य बाहर ही आते हैं। संदेह में नस्य द्रव्य के बारे में कहा जा सकता है कि—

(१) स्नेह द्रव्य शिरस्थ नाड़ीतंत्र का बृहण, शमन तर्णण का कार्य करते हैं।

- (२) मध्य, शुक्रतादि से मिश्र पदार्थ तीक्ष्णता से तुरन्त शोधन में लाभप्रद हो सकते हैं।  
(३) दूध, शक्तिरोक्त, मांसरस, इत्यादि बृहण पदार्थ स्नेह के साथ प्रयुक्त करने पर उचित प्रकार से बृहण तर्णणादि कार्य करते हैं।  
(४) चूर्ण—सेदिया हुआ प्रथमन नस्य गंधाहान्य से, तथा कट्ट, तिक्त, उष्ण, तीक्ष्ण स्नेहन नस्य जो बात शोभ को कम करता है—जिससे शोधन का प्रयुक्त का मतितार्थ यह हुआ कि जो गंध प्रधान द्रव्य है—वे वार्ष से निश्चिततः शिर में पहुँचते हैं।

### संदर्भ

१. औषधप्रयोगसिद्ध स्नेहो वा नासिकाख्यां दीयते इति नस्यण्।

२. “वाचस्पत्यम्” लेखक श्री.तारानाथ भट्टचार्य,

३. ऊर्ध्व ज्युविकरेषु विषेषप्रस्यामिष्यते।

४. नासाहि शिरसो द्वारं तेन तद्व्याप्य होति तात्।

अ. द. नस्यां भव्य—नस्यों ॥

५. नस्यां तद् कथ्यते धीरैन्सिग्राह्यं—यदोषप्रयम्।

६. च.प्र.नस्यां प्रच्छर्दनं चैव प्रत्यक्षपुष्ट्यि विधोयते।

७. (१) अपामार्गस्य बीजानि पिपलीमीठिचानि च।

८. विङान्वय शिव्यगिरासर्वपास्तुभुणिच।

९. अजाजीं चाजमोदां च पीलून्डेलां हरेण्यकाम्।

१०. पुष्ट्यकां सुरासां रवेतां कुरुतेरक फणिज्जकौ।।

११. शिरोविरेचन द्रव्याणि युनरपामार्गपिपली। मरिच।।

१२. विष्णु विङान्वयामांशेषु सिद्धार्थक शिरीष मरिच करबीर बिंदीगिरी-कणिका

१३. पिण्डी विङान्वयामांशेषु सिद्धार्थक शिरीष मरिच करबीर बिंदीगिरी-कणिका

१४. मुरसाजेंगुडी मेषशृंगी मातुललुगा मुरंगी पीलू जाती शाल ताल मधुक लासा हिंग

१५. लवणा मध्य गोरक्षद्रव्य मूत्राणीति शिरोविरेचनानि।

१६. वेल्लामापाना व्योष दाढ़ी सुराला, बीजं शैरीषं बाहरं शैरेवं।

१७. सारो मधुकः मैथवं ताक्षये शैले, त्रुटो गृद्धीका सोधनं ह्युतमांगम्।।

अ. ह. सु. १५-४

१८. नावन चावतीड़िश्च ध्यापनं धूम एव च।  
१९. प्रतिमर्शस्व वित्तेषं नस्यां कर्म तु पचास।  
२०. स्नेहन शोधनं चैव द्वितीयं नासां स्मृतं।  
२१. शोधनः स्नेहनश्चैव अधिरोद्धी द्वितीया भृतः।।









हल्कटेंड्रिय संशुद्धिलघुतंत्र शिरसः शमः ।  
यथोदितानां दोषाणां सम्प्रकृति प्रतिस्थ्य लक्षणम् ।  
यदा चोरश्च कंठश्च शिरश्च लथुतां ब्रजेत् ।  
कफश्च तनुतां प्राप्तः सुधीतं धूममादिशेत् ।  
तत्र योगो गोप्रशमनः ॥

६०. ताट्युधांख कंठश्च शुच्यते परित्यये ।  
तुष्यते मृणाते जंतु रक्तं च लावतेऽधिकं ।  
शिरश्च भ्रमतेऽत्यर्थं धूमोत्तर्थं निवेते ॥

ताटु गलशोषं परिदाहं ... अतियोगे जनयते ।  
बाध्यर्थं धूमांश्च भ्रमतेऽत्यर्थं धूमः कुर्यादुप्रद्रवन् ॥

तत्रेष्टः सामिषः पाने नावनांजनं तर्पनम् ।  
स्नैहिकं धूमजै दोषे वायुः पितानुगो यदि ।

शीतं तु रक्तपिते स्वात श्लेष्मपिते विरुक्षणम् ।  
नरो धूमोपयोगाच्च प्रसन्नतेऽद्रिय वाइमना ।

इशुकेशाद्विजशमशुः सुगंधी विशदाननः तथा कास श्वासारोचकास्योपलेप स्वरभेद  
मुख्यासाव वमयुक्षवश्यु क्रथं तंद्रा निद्रा हनुमन्या संभाः पीनस शिरोरोग कणाडिशूला  
वातापित कफ निमिताश्वास्य मुखोरोगा न भवति ।

६३. मुखं संचारयते या तु मात्रा सा कवले स्फुतः ।  
असंचार्या तु या मात्रा गंडूषः स प्रकीर्तिः ॥

चतुर्थकवलः स्नेहो प्रसादी शोधिग्रोपणी ।  
चन्द्रश्चकारो गंडूषः स्निग्धः शमन शोधनो ।

रोपणश्च ... ॥

(१) स्निग्धोषो न्नैहिकोवाते स्वादु शीतैः प्रसादनः ।  
पिते, कट्कवस्तलवाणौ: रुक्षोषौ: शोधनः कफे ।

कषाय तिक्त मधुरौः कटूष्ठौः रोपणो ब्रणो ॥

(२) .... वृथस्तप निषु योज्याश्चलादिषु ।  
अंत्यो व्रणाच्छः, स्निग्धोऽत्र स्वाद्वात्कूल कटुसाधिते ॥

स्नेहैः संशमनस्तिकृत कषायमधुरोष्यैः ।  
शोधनस्तिकृत कट्कवस्तलकटूष्ठौरोपणः पुनः ।

कषाय तिक्तकैः तत्र स्नेह क्षीरं मधुदकं ।  
शुक्रं मर्दं रसो मूर्त्यं थान्यामर्दं च यथायथम् ।

कल्कैर्युक्तं विपक्वं वा यथा स्पर्शं प्रयोजयेत् ।  
प्रसेक कठामय वक्तव्य शोषः ।

(३) मध्यास्तपं स्वरधंशो सार्यं प्रातिदिने दिने ।  
एकाहांतरमन्यत्र साताहं च तदाचरेत् ॥

(४). (१) नस्तः कर्म यथाकालं यो यथोक्तं निषेवते । त तस्य चक्षुनिधाणं न श्रोत्रपुण्ड्रते ।  
अ.ह.सू. २०-१६  
अवेषता न कपिला केशा: इमश्चूलिणि वा दुनः: । न केळाः: प्रचुच्यते वर्धते च  
विशेषतः । मन्यु संतः: शिरः: शूलक्यद्विते हनुसंस्थः: । पीनसार्द्धविचेदौ च शिरः:  
कंपस्त शाश्वति । शिरः: शिरः: कण्ठालाभां संधृयः: स्नायुकुड़ाः: । नाभन  
प्रणिगताश्चारस्य दण्डतां प्रायिकं वर्तते । ग्रहान्-युक्तिन् स्वरः: रिकाथः: रिकाथः: रिकाथः ।

६६. मन्या शिरः: कर्णं मुखादिरोगाः, प्रसेक कठामय वक्तव्य शोषः ।

अ. ह. सू. २२-२ से ८

हल्लास तंद्राश्च विशेषाश्च, एवं शोषाश्च

शोषायां विशेषात्कृत ग्रहेत् ॥

(१) तत्र त्रिकूट लव्या शोषं हरीतरकीं कलकृष्णलोड्य तैल शुक्रा सुरा मूर्दकामा  
मधुनामन्यतमेन सहत्यापिग्रहत्युप शिवकृष्णदित गत्वा कपोल ललाट प्रदेशे  
धारयेत् ।

तावच्यं धारयितव्योऽन्यमन्यतमेन देहेन यावदेष परिपूर्ण कपोलत्वं नासास्तेतो  
नयनं परिलावश्च भवति, तदा विमोक्षत्व्यः पुनश्चान्यो गृहीतत्व्यः इति ॥

सु.चि. १५-३७, ५२  
सु.चि. १०-१६

च.मू. ५-५४, ५५  
४०-५७

(२) निवारेत्वात्मे स्विन मुदितस्तकं कंथः ।  
गंडूषमधिवन्न किंचित् उत्त्रास्यो विधारयेत् ॥

अ.ह.सू. २२-१०  
सु.चि. ४०-५६, ६६

६७. चार्धेपचयस्तुष्टिवैशाच वक्तव्याप्तं ।  
ईद्यिणां प्रसादवश्च कवले शुद्धिं लक्षणम् ।

हीने जाङ्ककामोत्तेशावस्त्रानमेव च ।  
अतियोगानमुखे पाकः शोस्त्रारुचिवक्तव्यमाः ।

शोधनीये विशेषणं भवत्येव न संशयः ॥

अ.ह.सू. २२-५ से १०  
कवलो नेन पञ्चमे ।

६९. (१) दिवक्त शिरसस्तूष्णं पायादित्वां भोजयेत् ।  
लघु विष्णुविरुद्धं च ॥

(२) शोजयेद्यैनमपिव्युदी ॥  
हितात्र भुक् दिवातोषा सेवी स्यात् नियतेद्विद्यः ।

७१. (१) ततोऽस्त्वाचारिकमादिशेत्-एजो धूमं स्नेहात्य गद्य द्रवपान शिरः-  
स्नानातियान क्रोधादीनि च परिहरेत् ॥

(२) एकांतरं द्व्यातं वा सप्ताहं वा पुनः: पुनः: ।  
एकविशंति रात्रं वा यावदा साधु मन्यते ॥

मारुते नाशि भूतस्य वात्यन्तं यस्य देहिनः: ।  
द्विकालंचापि दातव्यं नस्य तस्य विजानता ।

सु.चि. ४०-५८, ५९  
४०-५१, ५३

(३) मध्यास्तंभे स्वरधंशो सार्यं प्रातिदिने दिने ।  
एकाहांतरमन्यत्र साताहं च तदाचरेत् ॥

(४). (१) नस्तः कर्म यथाकालं यो यथोक्तं निषेवते । त तस्य चक्षुनिधाणं न श्रोत्रपुण्ड्रते ।  
अ.ह.सू. २०-१६  
नस्युः इवेषता न कपिला केशा: इमश्चूलिणि वा दुनः: । न केळाः: प्रचुच्यते वर्धते च  
विशेषतः । मन्यु संतः: शिरः: शूलक्यद्विते हनुसंस्थः: । पीनसार्द्धविचेदौ च शिरः:  
कंपस्त शाश्वति । शिरः: शिरः: कण्ठालाभां संधृयः: स्नायुकुड़ाः: । नाभन  
प्रणिगताश्चारस्य दण्डतां प्रायिकं वर्तते । ग्रहान्-युक्तिन् स्वरः: रिकाथः: रिकाथः: रिकाथः ।

७४. (१) नस्तः कर्म यथाकालं यो यथोक्तं निषेवते । त तस्य चक्षुनिधाणं न श्रोत्रपुण्ड्रते ।  
अ.ह.सू. २०-१६  
नस्युः इवेषता न कपिला केशा: इमश्चूलिणि वा दुनः: । न केळाः: प्रचुच्यते वर्धते च  
विशेषतः । मन्यु संतः: शिरः: शूलक्यद्विते हनुसंस्थः: । पीनसार्द्धविचेदौ च शिरः:  
कंपस्त शाश्वति । शिरः: शिरः: कण्ठालाभां संधृयः: स्नायुकुड़ाः: । नाभन  
प्रणिगताश्चारस्य दण्डतां प्रायिकं वर्तते । ग्रहान्-युक्तिन् स्वरः: रिकाथः: रिकाथः: रिकाथः ।

सर्वेत्रियाणां वैमल्यं बलं। मृष्ठं थकति चाधिको। न चात्स्यरोगः सहसा  
प्रभवत्त्वद्यज्जुज्जाः। जीर्दत्तश्चोत्तमागेषु ज्ञान लभते बलम्॥

(१)

नस्येन रोगः शाम्यति नरणामूर्खं ज्ञुजाः।

इत्त्रियाणां च वैमल्यं कुर्यादत्त्वं सुगोष्ठि च॥

हनुदेत शिरोग्रीवा त्रिक बाहुरासां दलम्।

बलिपलित खालित्यं व्यागानां चाप्यसंभवम्॥

१५. एतेषु शिरोविरेचनं प्रधानतमामित्युक्तं। तद्द्व उत्तमागमनुप्रविश्य।

मुंजातीषिकामिवासक्ता केवल विकारकरं दोषमपकर्षति।।

१६. ....How-ever, those substances that do produce smell usually have certain characteristics, first, they are Volatile, Second they are atleast slightly watersoluble and third they are usually highly lipid soluble. It has been found

that the cilia of the olfactory cells and perhaps the portions of the body of the olfactory cells contain relatively large quantities of lipid materials, this could explain why a substance must be lipid soluble to cause marked stimulation of an olfactory cell. Text book of Medical Physiology.

Page 712

च.सि.५-५७, ५२  
च.सि.२-२३

सु.चि.४०-४४, ५५

### अष्टम अध्याय

## रक्तमोक्षण-विज्ञान

### मामाच्य परिच्य

रक्तमोक्षण यह पंचकर्म में सामाविष्ट इस तंत्र का पांचवाँ कर्म कुछ विवाद्य विषय है, तथापि उपक्रम और कर्म की दृष्टि से एक अत्यंत महत्वपूर्ण विषय है इसमें विवाद नहीं है। रक्त को शरीर में से मुक्त करना, निर्हण करना, निकाल देना, बहा देना यह किया रक्तमोक्षण कहलाती है। रक्त के लिए तथा मोक्षण के लिए जो पर्याय भाषा में उपयुक्त हैं वे सब इस कर्म के लिए भी पर्याय शब्द हो जाते हैं। उदाहरण—अस्थिविद्युति, शोणितमोक्षण, रक्तनिर्हण, रक्ततावण, रक्तहरण इत्यादि का उपयोग किया गया है। रक्त के लिए—शोणित, अस्थि, तथा कभी-कभी ओज का भी पर्याय की तरह उल्लेख मिलता है।

पंचकर्म चिकित्सा के अब तक वर्णन किये गये कर्म—व्यामन, विरेचन, बहिं, नस्य इनमें दोषों का शोधन यह प्रधान उद्देश्य रहा है। जहां रक्तमोक्षण कर्म में दोष की अपेक्षा—धातु-रक्त का निर्हण यह प्रधान विषय है। रक्त शरीर का एक अत्यंत महत्वपूर्ण धातु है। यह दुष्ट होने पर अनेक गोंगों को उत्पन्न करता है। रक्त की गोत्यादकता इतनी व्यापक है कि रक्त को दोष मानने की तरफ प्रवृत्ति कभी-कभी देखी जाती है और संहिता में आये हुए अनेक संदर्भों के आधार पर इसे चौथा दोष मानना चाहिये या नहीं ऐसा विवादात्मक प्रश्न उपस्थित होता है। प्रस्तुत इस विवाद की कोई चर्चा यहाँ करने का कारण नहीं है, केवल रक्त का महत्व ही बताया है। आतएव दुष्ट रक्त को निकाल देना यह स्वास्थ्य रक्षण के लिए तथा गोंगों के अनुत्पत्ति के लिए आवश्यक होता है। रक्त को निकालते समय दोष का—पित्त का निर्हण भी होता है क्योंकि इनमें आश्रयाश्रयी भाव है तथा वित्त व्याधियों के लिए रक्तमोक्षण एक उपाय प्रधानता से प्रतिपादित किया गया है।<sup>१</sup> रक्तमोक्षण एक आशुपल्पन प्रद चिकित्सा है, किन्तु प्रमाद से आशु आतिकता भी उत्पन्न करता है। अतएव रक्तमोक्षण कर्म को ठीक तरह से समझने के लिए प्रथम रक्त का स्वरूप तथा कार्यादि के बारे में कुछ महत्वपूर्ण विषयों को समझ लेना अत्यावश्यक है।

रक्त वर्णन—जानपद भाषा में रक्त का अर्थ होता है लाल रंग। शरीर में जो लाल रंग की गति है वह रक्त है। रक्त को 'लोहित' एमा भी एक पर्याय है। रक्त शरीर में रसधातु के साथ समिश्र रहता है। स्थातु, स्निग्ध, ईष्ट-स्वेत, आप्यप्रधान इव धातु है,

और रक्त को स्वकार्य में अणु प्रमाण स्तर में पहुँचना आवश्यक होने से द्रवानुसारी विक्षेपण योग्य धातु रस के साथ उसका मिला रहना आवश्यक होता है। शरीर के बाहर यदि रसरक्त धातु को कांच की नली में रखा जाये, तो उसमें स्थित रस और रक्त अलग हो जाते हैं। कांच की नली में जो लाल भाग जमा हुआ मिलेगा उसे रक्त समझना चाहिए, और जो श्वेताभृ, पतला, स्निग्ध स्वरूपशील पदार्थ मिलेगा उसे रस समझना चाहिए। पाचभौतिक आहार जो भोज्य, येप, लेह, भक्ष्य प्रकार से चार प्रकार का होता है, ऐस्स-मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु एवं कषय से संयुक्त होता है, गुरु, लघु, उण्ड, शीतादि गुणों से युक्त होता है, उस आहार का सम्यक् पाचन होकर प्रथम तेजो भूत जो सारभाग उत्पत्ति होता है उसे रस कहते हैं।<sup>३</sup> यह आयुक्तिक यह द्रवानुसारी होता है। यह स्नेहन, जीवन, धारण, तर्पणादि कार्य करता है। यह आहार रस जब यकृत और ज्लीहा में पहुँचता है तो वहां रंजक पित के द्वारा लाल दर्पण को प्राप्त करता है—उसे 'रक्त' कहा जाता है। जिस खोतस में रक्त का निर्माण, पोषण विक्षेपण तथा कार्य संपन्न होता है उसे रक्तवह स्तोत कहते हैं। यकृत और ज्लीहा रक्तवह स्तोतों के मूल कहे गये हैं।<sup>३</sup>

**रक्त की उत्पत्ति एवं कार्य—रक्त की उत्पत्ति यकृत,** आमाशय, तथा सरक्तमेद (मज्जा) स्थान में होती है। इसकी उत्पत्ति में जठरान्नि, पाचक पित, धात्वानि, रक्तधात्वानि, रजक पित ये महत्व का कार्य करते हैं। रस धातु इसका पूर्ववर्ति धातु होता है। आहार रस जो आमाशय में तथा ग्रहणी में जठरान्नि तथा अन्य पाचक स्तोतों के परिपाक कार्य के अनंतर उत्पन्न होता है—उस पर रस धात्वानि तथा आयानि का पचन कार्य होकर 'रसधातु' निर्माण होता है। इसे स्थूल रसधातु कहते हैं और इसके ही पोषण, तर्पण, स्नेहन इत्यादि प्रकार के कार्य कहे गये हैं। इसके निर्माण समय में सूक्ष्म रक्त, कफ, तथा स्तन्य व प्लास्टिक तथा अपश्वातु भी उत्पन्न होते हैं। सूक्ष्म रक्त पर—रक्त धात्वानि, आयानि, तैजसानि, इत्यादि का कार्य होकर स्थूल रक्त धातु निर्माण होता है। जीवन का 'जीवन' कहा गया है। रक्तधातु की निर्मिति के समय मूल में वित्त तथा उपश्वातु-कंडरा, सिग और मास का पूर्व धातु 'सूक्ष्ममास' उत्पन्न होता है। सूक्ष्ममास पर मांसानि, पार्थिवानि का कार्य होकर मांसधातु, त्वचा, वसा, तथा सूक्ष्म में उत्पन्न होता है। इस तरह धातु पोषण क्रम से शुक्रपर्यन्त धातु, उपश्वातु, मलादि की उत्पत्ति होती जाती है।<sup>४</sup> इस क्रम को निम्नलिखित प्रकार से दराया जा सकता है। (पृष्ठ ४८८ देखिये)

यद्यपि यह कहना अतीव कठिन है कि रक्तधातु कहां, कब और कैसे उत्पन्न होता है, यह अनुमान है कि साधारणतः आहार लेने के २५ घंटे के बाद ५ दिन में इसकी उत्पत्ति होती है। सुश्रुत ने एक-एक धातु की उत्पत्ति में ३०१५ शलों का समय कहा है जो लगभग ५ दिन कहा है। आमाशय में दाराधृत ने रंजक पित का स्थान कहा है<sup>५</sup> और रस का रंजन आमाशय में भी होता है, इसका संकेत किया है। आयुनिक विज्ञान आमाशय में एनाट्रिफ़िक (Intrinsic factor) को मानता है जो पार्थिवोंशी (Antitoxin) तत्वों के निर्माण में अवश्यक रक्त-निर्माण में भाग लेता है। कुछ विद्वान् 'रक्तसारात्म' के घटक के साथ भी इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं। यकृत और ज्लीहा में रक्त की मुख्यतः उत्पत्ति होती है। ये दोनों रक्तवह स्तोत के मूल भी हैं। रक्तक्षय में यकृत का आञ्चलं रेवन करने का उल्लेख

किया गया है।<sup>६</sup> जो रक्त वर्धनार्थ प्रयुक्त उपाय है। ज्लीहा का कार्य रक्त घटकों पर नियंत्रण रख उसे शुद्ध रखना, तथा अल्प प्रमाण में रक्त के पूरक आशय की तरह काम करना यह है। यद्यपि ज्लीहा का प्रत्यक्ष कोई कार्य नहीं कहा गया है, तथापि रसवह स्तोत करना यह है। यद्यपि ज्लीहा का प्रत्यक्ष कोई कार्य नहीं कहा गया है, तथापि रसवह स्तोत की व्याधि में ज्लीहा यह है। यद्यपि ज्लीहा यह में पूर्ववर्ति लक्षण बताये गये हैं।<sup>७</sup> इस यह रक्त का पूर्ववर्ति धातु है और मृद और स्नेहन करने वाला अस्थि का पूर्ववर्ति में धातु है। सरक्त में मृद नामक में युक्त सुश्रुत ने दिया है—'और कहा है कि स्थूल अस्थियों में मृद होती है और अन्यत्र सरक्तमें धातु होता है। यह मज्जा के समान रक्तवर्ण में कुछ या-स-सहरक्त-मृद होता है—ऐसा समझ कर मज्जा का विशेष भाग रक्त निर्माण में कुछ कार्य करता होगा ऐसी प्रतीति प्राचीनों को थी ऐसा अनुमान कुछ देख करते हैं। (आयुनिक विज्ञान के रक्तमज्जा (Red Bone Marrow) में रक्त कर्णों का निर्माण माना जाता है)। इस तरह में दक्षय में—अस्थि-मज्जा इत्यादि के क्षय के परिणामस्वरूप रक्त पर असर होकर तजन्य कर्यभार से ज्लीहा वैयाप्त की संभावना है। रक्त डुष्ट से भी ज्लीहा रोग की उत्पत्ति कही गई है।

### पांच भौतिक आहार

+                    +                    +                    +                    +

जठरान्नि + धात्वानि + पाचकपितादि

|                    |                    |                    |                    |

आहार रस

+                    +                    +                    +                    +

रस धात्वानि + धौतिकानि (विशेषतः आय्य)

|                    |                    |                    |                    |

स्थूल रस + सूक्ष्म रक्त + कफदोष + स्तन्य उपधातु

+                    +                    +                    +                    +

रक्त धात्वानि + भूतानि (आय्य + तैजस)

|                    |                    |                    |                    |

मांस धात्वानि + धौतिकानि (पार्थिव)

+                    +                    +                    +                    +

मांसधातु + वसा + त्वचा + सूक्ष्ममेदादि

|                    |                    |                    |                    |

मेवदात्वानि + भूतानि इत्यादि

गये हैं।<sup>८</sup>

१. विस्तार—रक्त में एक विशिष्ट गंध होता है। उसे विस्तार कहते हैं। यह गंध ही! यह गंध पित की विस्तार के कारण रक्त में आता है और रंजक पित द्वारा सस के रुचन करते समय उत्पन्न होता है। यह पार्थिव गुण है।

२. द्रवता—द्रव: आलोड़ने, तथा द्रव: प्रक्लेदने के अनुसार रक्त द्रवत्व अर्थात् घोल और क्लेदन करनेवाला घटक है। इसमें सीमित लोहित घटक-प्राणवायु को संयुक्त रखता है। द्रव गुण बढ़ जाए तो लचा, मास सायु इनका भी क्लेदन करता है जिससे उनका पोषण बराबर नहीं हो सकता। यह अतिद्रवत्व—भयंकर व्याधि को भी उत्पन्न कर सकता है। यह आयु गुण है।

३. राग—राग का अर्थ है गं। शुद्ध रक्त लाल वर्ण का होता है। यह लाल गं इंद्रगोप (वीर बहुटी) कीड़े के समान समप्रकृति वाले लोगों में होता है। यातादि प्रकृतियों में तपाचे हुए सुवर्ण के समान, लाल कमल के समान, लाक्षारस के समान तथा गुजाफल के समान लाल होता है। इस वर्ण में विकृति (विवरण) होना दुष्ट समझना चाहिए। रक्त का वर्ण—तेजमहाभूत का गुण है।<sup>१०</sup>

४. स्वेदन—स्वेदन का अर्थ तिन्दिचित् चलन है। बहना, यह रक्त का गुण है। यह वायव्य गुण है।

५. लघुता—लघुता का अर्थ हल्कापन है। यह आकाशीय गुण है। लघुत्व के कम जादा होने से भी रक्त के अनेक गोंग उत्पन्न होते हैं।

अन्युण—रक्त असंहत होना चाहिये। अथर्त् बहुत अधिक गाढ़ा नहीं होना चाहिये। रक्त बहकर स्वयं स्फंदन हो जाता है यह इसका विशिष्ट गुण है।

शरीरस्थ रक्तधातु हृदय में जाकर जब पुरुषकृत समूहस में आता है तो उसका प्राणवायु (Ateries) बहने वाला होता है। जो शिराओं में (या Veins) बहता है उसमें यह रक्तवर्ण कुछ अल्प प्रमाण में होता है, तथापि उसे दुष्ट रक्त नहीं समझना चाहिये। दुष्ट रक्त में आपों कहेंगे वे लक्षण तथा विकृति कारकत्व होना चाहिये।

### रक्त के कार्य

रक्त का श्रेष्ठ कार्य जीवन है।<sup>११</sup> जीवन यह आयुर्व्य का पर्याय है। शरीर, इंदिया, सत्त्व, और आत्मा के संयोग को आयु या जीवन कहते हैं। यह संयोग बराबर कायम रखना यह रक्त का कार्य है। जीवन का अर्थ प्राण की शरण करना यह किया गया है। यह धारण शब्द भी महत्व का है। जो शरीर को पृथिवीवाव (सृजने से) से बचाता है—उसे धारि कहते हैं।<sup>१२</sup> रक्त फुफ्फुस में प्राण से संयुक्त होकर सर्व शरीर में परिभ्रमण कर प्राण द्वारा जीवित कार्य करता है। यह प्रत्यक्ष है कि किसी अवधि की कारण वह अवधन सड़े लगता है और उसका प्राण नष्ट होता है—वह आयुहीन—जीवित हो जाता है। अतएव रक्त को शरीर का मूल कहा गया है। कहा है कि रक्त ही शरीर का मूल है, रक्त

में ही शरीर का धारण होता है और रक्त ही शरीर का 'जीव' है।<sup>१३</sup> रक्त के अन्य कार्य निमलिखित प्रकार के हैं।<sup>१४</sup>

१. रक्त मास का पोषण करता है।

२. रक्त वर्ण का प्रसादन करता है।

३. सभी धातुओं की पुष्टि करता है।

४. शरीर में बल की उत्पन्न करता है।

५. प्राणियों के प्राणों का संयोजन करता है।

६. इंद्रियों के द्वारा अपने-अपने ज्ञान निश्चिति में सहायता करता है।

७. जर्तानि का कार्य समावस्था में रखता है।

रक्तसारा<sup>१५</sup>—जिस व्यक्ति में शुद्ध रक्त उचित प्रमाण में उचित कार्य करता हो उसे रक्तसार पुरुष कहते हैं। रक्तसारा से मनुष्य सुखी, मेधावी, सुकुमार, क्लेश सहन करने में असमर्थ, उष्णता, महन करने में असमर्थ होते हैं। उनके कान, आख, मुख, जिहा, नासा, ओठ, हथेली व पाव के तलवे, नख, ललाट और शिश्न स्थिर तथा लालवर्ण के होते हैं।

रक्तदुष्टि के हेतु<sup>१६</sup>—प्राकृत गुण से विपरीत गुण युक्त रक्त की 'प्रदुष्ट रक्त' 'स्वप्रकृति विपरीत' दुष्ट रक्त कहते हैं। रक्त दुष्ट करने वाले सामान्य हेतु निमलिखित प्रकार के हैं।

### (अ) आहार हेतु—

१. उष्ण, तीक्ष्ण तथा दुष्ट मध्य का अधिक मात्रा में सेवन करना।

३. कुलाल्य, माष, निष्ठाव (स्वेत शिंबी धान्य), तिल का अधिक सेवन।

४. आदू, मूला तथा हीति शाकादि, जलज, आमूप और प्रस्त हथा बिलेश्य प्राणियों के मास का अधिक सेवन।

२. अति लवण, क्षार, अम्ल तथा कद्दु द्रव्यों को अधिक सेवन करना।

५. आदू, मूला तथा हीति शाकादि, जलज, आमूप और प्रस्त हथा बिलेश्य प्राणियों के मास का अधिक सेवन।

६. विरुद्धाहार, सड़े गले हुए, किलन आहार का अधिक सेवन। द्रव्य, स्निग्ध अतिगुरु द्रव्य सेवन।

### (आ) विहार हेतु—

१. भोजन के बाद सोना।

२. दिन में सोना।

३. शुप्त में तथा छुली हड्डा में जादा देर तक रहना।

५. रक्त दुष्टि के काल में (शरल्काल) स्वत्माक्षण न करना।

६. श्रम करना।

### ७. अधिष्ठाता।

(इ) मानसिक हेतु—१. अत्यंत क्रोध करना। २. शोक करना। ३. अत्यधिक भयभीत होना।

(इ) काल—शारदक्रम में यह काल स्वभावतः ही रक्तप्रयोग में हेतु है।  
दुष्ट रक्त के लक्षण<sup>१७</sup> — रक्त में वातादि दोष प्रकृपित हो कर दुष्ट करते हैं।

**वातज दुष्ट रक्त** —असूणाभ, झागयुक्त, विषद् और पतला हो जाता है। सुश्रुत ने फेनिलता, कृष्णवर्णता, परुषता, विषद् और पतला (असंकर्दी) ये वात दुष्ट रक्त के लक्षण कहे हैं। पित दोष से रक्त दुष्ट होने पर रक्त का वर्ण पीत, ईप्त इयाव होता है तथा जल्दी से लंबदन नहीं होता। सुश्रुत ने नील, पीत, हरित, श्यामवर्णता, विस्त्रिता तथा पिप्पलिक (चुंटी-मकोड़े), मक्खियों आदि की उसके सेवन में अप्रवृत्ति और असंकर्दी ये पितादुष्ट रक्त के लक्षण कहे हैं। (रक्त का प्राकृत लंबदन समय ३ से ५ मिनिट का माना गया है। कफ से दुष्ट तथा रक्त तंतुयुक्त होकर ईष्ट पांडु और घन हो जाता है। सुश्रुत ने गैरिक मिथित जल के समान वर्ण, स्त्रिघ, शीत, बहल, पिच्छित तथा अधिक देर तक तंतुयुक्त होना, मांसपेशी के समान वर्ण का रहना ये कफ दुष्ट रक्त के लक्षण कहे हैं। द्विदोषज रक्त दुष्ट में दो-दो दोषों के वर्ण एवं गुण रक्त में मिलते तथा त्रिदोषदुष्ट में तीनों दोषों के दुष्ट के लक्षण मिलते। सुश्रुत ने त्रिदोषज दुष्ट में कांजी वर्ण के समान तथा दुग्धन्धुकता रहना ये लक्षण कहे हैं। इस तरह वातादि दोषों से प्रदृष्ट रक्त का निर्हारण करना चाहिये। अन्यथा कंडु, शोथ, दाह, पाक, वेदना, को उत्पन्न करता है।<sup>१८</sup> दुष्ट शोषणित की चिकित्सा न करने पर अनेक रोग उत्पन्न होते हैं, उनको 'रक्तप्रदोषज' व्याधि या शोषणित रोग कहा जाता है। उनका आगे विचार किया गया है।

### रक्त में वातादि दुष्टलक्षण तालिका

दोष	स्पर्शतःरूपतः परीक्ष्य लक्षण	गंधतः परीक्ष्य लक्षण	अन्य विशेष
वात	अरुण, फेनिलता, कृष्ण पुरुष,	—	जल्दी संक्दन न होना।
दोष	श्याव, पतला, विशद् रक्तता	—	पित्त
पित	पीत, नील, हरित, श्याव	विस्त्रिता	पिपीलक तथा मालिकाओं के सेवन में अप्रवृत्ति, असंकर्दी।
दोष	वर्णता	—	अधिक देर तक सवित होनेवाला।
कफ	ईष्ट पांडुवर्ण, भैरिकमिश्रित जल के समान, स्त्रिघ, शीत बहल, पिच्छित, मांसपेशी की वर्णयुक्तता	—	चर्मदल
दोष	दो-दो दोषों के लक्षण से युक्त त्रिदोषज कांजी के समान वर्णवाला	दुर्ब्रह्मता	शिक्त्र
त्रिदोषज	—	—	पामा
सन्त्रिप्ति-	—	—	अस्वामंडल
पातज	सर्व लक्षण युक्तता	—	अक्षिं रोग
		—	पृति आस्यांधता
		—	उपकुश
		—	प्रमीलक
		—	रक्तमेह

शोषणित रोग की चिकित्सा में रक्तमोक्षण, विरेचन, उपवास, तथा रक्त-पित्त की चिकित्सा करनी चाहिये।<sup>१९</sup> संक्षेप में रक्तप्रदोषज व्याधि को ही रक्त-मोक्षणाह व्याधि समझना चाहिए।

रक्त प्रदोषज विकार—नीचे चारक, सुश्रुत और वाताभ ते मत से रक्त-विकारों को तालिका में बताया गया है। इन व्याधियों में रक्तमोक्षण करना चाहिए।

### रक्तप्रदोषजविकार तालिका

क्र.	विकार नाम	चारक	सुश्रुत	वाताभ
१.	कृष्ट	+	+	+
२.	विसर्प	+	+	+
३.	पिङ्का	+	+	—
४.	रक्तपित्त	+	+	—
५.	असुदर	+	+	—
६.	गुदपाक	+	+	—
७.	मेदपाक	+	+	—
८.	मुखराक	+	+	—
९.	लूम्हा (दोष, वृद्धि)	+	+	—
१०.	गुल्म	+	+	—
११.	विद्रधि	+	+	—
१२.	नीलिका	+	+	—
१३.	कामला	+	+	—
१४.	व्याघ	+	+	—
१५.	पित्तु	+	+	—
१६.	तिलकालक	+	+	—
१७.	दुँह	+	+	—
१८.	अस्वामंडल	+	+	—
१९.	शिक्त्र	+	+	—
२०.	पामा	+	+	—
२१.	अस्वामंडल	+	+	—
२२.	अक्षिं रोग	+	+	—
२३.	पृति आस्यांधता	+	+	—
२४.	उपकुश	+	+	—
२५.	प्रमीलक	+	+	—
२६.	रक्तमेह	+	+	—
२७.	वातरक्त	+	+	—
२८.	वैवर्ण्य	+	+	—
२९.	अग्निमांध	+	+	—
३०.	पिपासा	+	+	—

क्र.	विका' नाम	चारक	सुश्रूत	वापाथट
३१.	गुरुगात्रता	+	-	-
३२.	संताप	+	-	+ (ज्वर)
३३.	अतितौर्बल्य	+	-	-
३४.	अरुचि	+	-	-
३५.	शिरोरुजा	+	-	-
३६.	अन्नपान विद्यह	+	-	-
३७.	तिक्तोद्गार	+	-	-
३८.	अस्त उद्गार	+	-	-
३९.	कट्टु उद्गार	+	-	-
४०.	क्लनम	+	-	-
४१.	क्रोधाधिकता	+	-	-
४२.	बुद्धिस्मोह	+	-	-
४३.	लवणात्यस्ता	+	-	-
४४.	स्वेद	+	-	-
४५.	शरीर दौर्गच्छ	+	-	-
४६.	मद	+	-	-
४७.	कंप	+	-	-
४८.	स्वरक्षय	+	-	-
४९.	अतिनिद्रा	+	-	-
५०.	अति तमोदर्शन	+	-	-
५१.	कंडे	+	-	-
५२.	कोट	+	-	-
५३.	मशक	+	-	-
५४.	चाच्चा	+	-	-
५५.	इन्द्रियस	+	-	-
५६.	अङ्गुष्ठ	+	-	-
५७.	अंगमद्द	+	-	-
५८.	उपजिह्वाका	+	-	-
५९.	रक्ततेल्कू	+	-	-
६०.	रक्तनेत्रता	+	-	-
६१.	रक्तमूत्रता	+	-	-
६२.	भ्रम	+	-	-
६३.	अर्ण	+	-	-

उपर्युक्त रोगों में नीलिका च्यव्य, व्यंग, पिल्लु, तिलकालक, मशक, पिड़का, कड़ु, कोठादि त्वग्गशय से उत्पन्न शुद्धरोग में निर्दिष्ट रोग हैं। उपकृत्य दंतरोग है। पामा, दुँह, शिवत्र, वे मुष्ट रोग हैं। प्रमीलक-प्रमेह का पर्याय है। इन्द्रियस का अर्थ सिर के बाल निरक्तर वहाँ खललाट का निर्माण होना यह है (गंजापन)।<sup>११</sup>

उपर्युक्तों के अतिरिक्त चारक और वापाथट ने निर्देश किया है कि—वे रोग जिनको शांत और उत्ता, स्निग्ध और रुक्ष आदि विषयाय प्रकार से उचित चिकित्सा करने पर भी शांत नहीं होते उनको रक्तज विकार समझना चाहिये।<sup>१२</sup> ऐसे रोगों में रक्तमोक्षण करना चाहिये।

इन रोगों के वर्णन के बाद चारक ने इसी अध्याय में (सू. २४) रक्तवह स्रोतों दुर्शी के द्वारा उत्पन्न होनेवाले कुछ विकार दिये हैं वे भी महत्व के हैं। रक्त यह रक्तवह स्रोत में स्वप्न होनेवाला पदार्थ है। स्रोत, स्रोतोगत पदार्थ, स्रोतमूल ये पारम्पर भिन्न होते हैं। रक्तवह स्रोत अपुत्तर (Cellular Level) पर रहनेवाला रक्तकोष का छिद्र (Pores of the Blood cells) है—जिसमें उसका पोषण उसे मिलता है यथा मल का निस्परण होता है। इनकी दुष्टि होने से—मद, मूर्ढा, संन्यास (coma) ये रोग उत्पन्न होते हैं।<sup>१३</sup> मदरोग में—मन का क्षिक्षेष, संज्ञामोह, तथा व्याकुलता ये सामान्य लक्षण उत्पन्न होते हैं—और इसके बाद आत्म वृच्छित होता है। मद से मूर्ढा और मूर्ढा में संन्यास ये उत्तरोत्तर गंभीर रोग हैं। मद और मूर्ढा में दोषवेक्षण के शांत होने पर युनः संज्ञा प्राप्ति की सभावना होती है, तेकिन संन्यास औषधि चिकित्सा के बिना ठीक नहीं होता। इसमें व्यक्ति प्राणायतन (शिर) में दोष और रक्त प्रकोप से—मूर्छित होकर लकड़ी के समान मृत के समान निवेष्ट हो जाता है और प्राणों को छोड़ देता है।<sup>१४</sup>

रक्तमोक्षण के लिए अयोग्य काल—सामान्यतः शरद ऋतु रक्त प्रकोप का काल माना गया है। अत्यंत दुर्बल हुआ हो, तथा अस्ताति-सेवन से उत्पन्न पांडु, अर्ण, उद्र शोष ये रोग उत्पन्न हुए हों उसे एक गर्भिणी का रक्त विसावण नहीं करना चाहिये।<sup>१५</sup> इनके अतिरिक्त सिरव्याध के लिए जो अयोग्य कहे गये हैं उन अनेक रोगों का भी समावेश अरक्त मोक्षण है—सो हो सकता है—उनका विचार आगे किया जायेगा।

रक्तमोक्षण के योग्य काल—सामान्यतः शरद ऋतु रक्त प्रकोप का काल माना गया है। अतएव शर्कराल में रक्तमोक्षण करना चाहिये। जिस दिन अधिक ठंडी हवा न चलती हो, अधिक गरमी न पड़ी हो, दुर्दिन-मेघावच्छादित दिन न हो ऐसे दिन में रक्तमोक्षण करना चाहिये।<sup>१६</sup> वर्षा प्रवृत्त में बादल न हो तब, ग्रीष्म प्रवृत्त में, शीतसमय में (प्रातः या सायं) तथा हेमंत ऋतु में, प्रधान काल में रक्तमोक्षण करना चाहिये।<sup>१७</sup>

### रक्तमोक्षण के प्रकार

रक्तमोक्षण के मुख्य दो प्रकार हैं। १. शस्त्रव्याधा रक्ताविसावण २. शस्त्ररहित-अनुशस्त्र विसावण। शस्त्रव्याधा रक्ताविसावण वह है जिसमें लोहे के शस्त्र द्वारा रक्तमोक्षण किया जाता है। यह दो प्रकार का है। १. प्रचण्ण २. सिरवेध या सिरव्याध १७ अनुशस्त्र वे हैं जो लोहादि धातु से बने हुए नहीं होते—उसमें रक्तमोक्षण करना मुकुमारों के लिए हितकर होता है। इसमें १. जलाकात्रावण २. श्वावचारण तथा ३. अलाकृ अवचारण

४. घटीयंत्र ऐसे चार प्रकार हैं। वाभट ने जलौका, क्षार, दाहकर्म, काच, नख, पत्थर, आदि अलौह रक्त को अनुशास्त कहा है, और इनका तथा इनके सद्गुण अन्यों की कल्पना कर बुद्धिमुद्देश्यक उपचार करने को कहा है<sup>१५</sup>। इन पांचों प्रकारों का प्रयोग रक्तमोक्षणार्थ १. दोष के अवस्थानुसार २. रक्त के अवस्थानुसार तथा ३. आतुर के अवस्थानुसार किया जाता है।

### रक्तमोक्षण

#### शस्त्र विकाराण

#### अनुशस्त्र विकाराण

१. दोष के अवस्थानुसार—जिस रक्त में प्रधानता वात से दुष्टि हुई हो उसका निर्हण शून्य से करना चाहिये। क्योंकि गाय का सींग उष्ण मधुर और स्निग्ध होता है जो वात के शीत और रक्षण के विपरीत है, तथा मधुर रस वातशामक होता है। जिस रक्त की दुष्टि प्रथानतया पिण्ठ से होती है उसका निर्हण जलौका से करें, क्योंकि जलौका जल में रहने से शीत, मधुर होती है, और उष्ण कटु पिण्ठ के निर्हण के लिए प्रशस्त होती है। जिस रक्त में प्रथानतया कफ से दुष्टि होती है, उसे अलालु (तुंबी) से निकालें, क्योंकि अलालु रस में कटु और गुण में रक्षण होता है। ये गुण कफ के मधुर, शीत, स्निग्ध के विपरीत होते हैं<sup>१६</sup>।

वाभट ने कहा है कि पिण्ठ रक्त को अलालु या घटीयंत्र से नहीं निकालना चाहिये। क्योंकि इनमें अनिन के उष्ण गुण का संयोग होता है, आत्मक कफ और वाताद्धतम रक्तनिर्हण में से प्रशस्त है। कफदुष्ट रक्त का निर्हण शून्य से न करें, क्योंकि वह रक्त को जमा देता है। शून्य से वातपिण्ठ दुष्ट रक्त निकालना चाहिए। यह रक्त दोष-विचार विशेषवस्था में करें, अथवा सामान्यवस्था में भी सभी का उपयोग सर्वां में किया जा सकता है।<sup>१७</sup>

२. रक्त के अवस्थानुसार—दोषों के अतिरिक्त रक्त के अवस्थानुसार उपर्युक्त प्रयोग भेदों का विचार किया जाता है। रक्त अवगाढ़ है या अवगाढ़तम रक्त में स्थित है या अमुक स्थान में पिंडित (जमा हुआ) है, या सार्वदीहिक दुष्टि है इसका विचार कर निमोक्त प्रकार से जलौकादि प्रकार का प्रयोग किया जाता है। यदि रक्त ग्रथित-जमा हुआ हो तो जलौका का उपयोग करें। एक स्थान में जमा हुआ हो तो प्रच्छन का प्रयोग करें। सर्वां में व्याप हो तो रक्त सिराव्यधन से स्ववित करावे। तथा में—मुस रक्त हो तो शून्य, अलालु तथा घटीयंत्र के प्रयोग से निर्हण करें।<sup>१८</sup>

डहण के मतानुसार उत्तन-यानी तथा में समीपर्ती स्थान में रक्त हो तो प्रच्छन प्रयोग से निकाले उससे अंदर हो तो जलौका से निकालें, बहुत ऊंदर हो तो तुंबी से, तथा अत्यंत गंभीर हो तो शून्य, से निकाले। सर्वांगत रक्त दुष्टि में सिराव्यधन का विचार किया जायेगा।

शून्य और अलालु में जैसा कि आगे वर्णन किया जायेगा प्रच्छन तो करना पड़ता ही है, अतएव अवगाढ़ हर तम भाव से—उसका निर्देश निवारि स्थिति के द्वारा रक्तमोक्षण में सहायक होने से उचित ही लाभता है।

३. आतुर के अवस्थानुसार—आतुर का शरीर बल देखकर इस प्रयोग में भिन्नता की जा सकती है। डहण ने कहा है कि शून्य और अलालु का उपयोग सुकुमार (नाजुक) प्रकृति के लोगों में करना चाहिये, और जलौकावाराण का प्रयोग उनमें करें जो अत्यंत सुकुमार होते हैं। सुकृत ने राजा, राजसदृश, बाल, बुद्ध, भीरु, दुर्बल शरीरवाले, स्त्रियों, तथा प्रमसुकुमार लोगों को जलौका वचारण करने का निर्देश किया है। इस विधि में जरा भी वेदना नहीं होती अतएव इनमें प्रशस्त कहा है और जो असुकुमार है—उनमें अच्छे दुड़, शरीरवालों में प्रच्छन तथा सिराव्यध करना चाहिए।<sup>१९</sup>

उपर्युक्त दोषादि भेद के अनुसार रक्तमोक्षण का प्रयोग निम्नलिखित प्रकार से तालिका में स्पष्ट हो जाएगा।

### रक्तमोक्षण के प्रयोग भेद तालिका

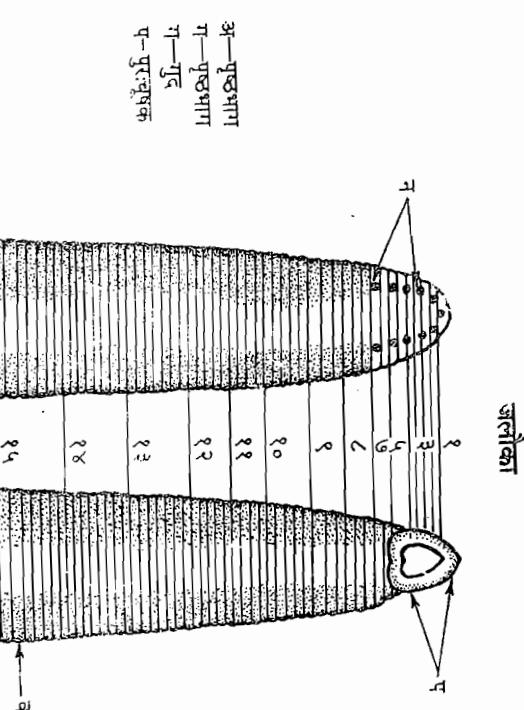
क्र. प्रमोद- चारक भेद	वात दुष्टि में	वातापित्त द्वारा दुष्टि में	वाराभट
१. शून्य	वात दुष्टि में	वात दुष्टि में अवगाढ़तम रक्त में तथा त्वचा में दुष्टि होते तब सुकुमारों में पिण्ठ दुष्टि में अवगाढ़ ग्रथित रक्त में, सुकुमार-तम आगुरों में	वातापित्त द्वारा दुष्टि में त्वचागत दुष्टि में सुखी लोगों में
२. जलौका	पिण्ठ दुष्टि में	जलौका पिण्ठ दुष्टि में अवगाढ़ कफ दुष्टि में, अवगाढ़तर रक्त में, त्वचा में स्तर होते तब सुकुमारों में तब, तथा सुकुमारों में सर्वांगात दोष होते तब सर्व शरीर में व्यास दोष	वात कफ दुष्टि में, अवगाढ़तर रक्त में त्वचा में स्तर होते तब सुखी लोगों में
३. अलालु	कफ दुष्टि में	अलालु कफ दुष्टि में अवगाढ़तर रक्त में, त्वचा में स्तर होते तब सुकुमारों में तब, तथा सुकुमारों में उचान रक्त में	वात कफ दुष्टि में अवगाढ़तर रक्त में त्वचा में स्तर होते तब सुखी लोगों में
४. सिरा	विकार के नजदीक की व्याध	विकार के नजदीक की सिरा से रक्त-स्वावण। सचार्यमण (संचार्यमण)	एक देशास्थित पिंडित रक्त में
५. प्रच्छन	देशात्मेश व्रजत्	देशात्मेश व्रजत्	कफ और वात से डुष्ट रक्त घटीयंत्र से निकाले
६. घटीयंत्र	बद्धमूल गृन्त	बद्धमूल गृन्त	सर्व घटीयंत्र से निकाले

रक्तमोक्षण के सभी उपर्युक्त प्रकारों का ऐकेक्षण: विस्तारपूर्वक विचार प्रस्तुत किया जाता है। सर्व प्रथम सहज साध्य, कर्म सुलभता में सर्वांग, कार्य में अनपायि, तथा सुकुमारों में प्रशस्त ऐसे जलौकावाराण का विचार किया जायेगा।

## १. जलौकाकावचारण

जलौका

जल में रहती है, तथा जल ही इनका आयुर्व्वहा है—खानपान, पोषण का मुख्य प्राप्ति स्थान है—अतएव जलौका ऐसा कहा है।<sup>१४</sup> ये प्रायः जल में, कीवड़ में तथा आनुप देश में प्राप्त होती है। जलौका-साक्षि और निर्विष घेद में दो प्रकार की होती है। साक्षि जलौका का प्रयोग चिकित्सा में बांधनीय नहीं है। इसके दर्शाने से, शोथ, भयंकर कहड़, मृद्धा, ज्वर, दाह, छ्वादि, मद, आंसाद ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।<sup>१५</sup> साक्षि जलौकाएँ वे ही जिन्हें लेन्ट, ये घेड़ के सड़े-झुए, गले छुए या मूत्र से उत्पन्न दुष्ट जल में उत्पन्न होती हैं।<sup>१६</sup> वाराधट ने मत्त्य, मृद्धक, कीटोदि के मल मूत्र के अतिरिक्त उनके मृत शरीर के मृद्धन में भी इनकी उत्पत्ति बताई है।<sup>१७</sup> जो जलौकाएँ देश स्थान में उपर्युक्त प्रकार से शोथ, कहड़ आदि उपर्युक्त न करें, और जो रक्तमोक्षण में प्रयोग होती है उसे निर्विष जलौका कहते हैं। ये जलौकाएँ ऐसे पानी में रहती हैं, जिसमें कमल, उत्पाल, नीलन तुमुद, पुडीक, कुबलय (ये सब कमल के प्रकार हैं।) तथा शेवता प्रयुक्त प्रयोग में रहते हैं। इनके मृद्धन में इनकी उत्पत्ति होती है। ये जलौकाएँ निर्मल एवं तुमांधित जल में रहती हैं। विषेते पदार्थों का भक्षण नहीं करती, और कीचड़ में नहीं रहती।<sup>१८</sup>



उपर्युक्त जलौकाएँ सामान्यतः यवन देश में, पांड्य देश में, सह्या और पौतन क्षेत्र में रहती हैं। ये शरीर में मोटी, बलवान्, जल्दी-जल्दी खुन चुसनेवाली, अधिक खुन लेनेवाली, और निर्विष होती है।<sup>१९</sup> यवन देश को तुरुक देश (तुर्क), पांड्य-मद्रास, प्रात के चोल देश का नैऋत्य भाग, सह्या-नर्मदा तीर समीपस्थ सह्याद्रि के पास (महाराष्ट्र तथा मध्य प्रदेश) का भाग, पौतन मधुसाग्रेश-ऐसी मान्यता है।

सविष और निर्विष जलौका का शास्त्र में विस्तृत वर्णन दिया गया है। तत्त्वर्व जलौका का आधुनिक शास्त्र के अनुसार परिचय हिया जाता है।

आधुनिक मत के अनुसार जलौका उन प्राणियों का नाम है जिनका हिरुडिनीय वर्ग में (Hirudinea) समावेश होता है। अंग्रेजी में इसे लिच (Leach) कहते हैं। इनके मुख के लालाताव में एक विशिष्ट पदार्थ पैदा होता है जो जनने नहीं देता।<sup>२०</sup> इन जलौका के दो प्रकार होते हैं। १. हिरुडो मेडिसिनेलिस (Hirudo medicinalis) नामक जलौकाएँ (जो आयुर्वेद में निर्विष कही है) चिकित्सा में प्रयुक्त की जाती हैं। २. दसरी-हिरुडो डेट्रिमेंटल (Hirudo Detritmental) नामक है— (जो आयुर्वेद में सविष कही है) जो काटने पर विषाक्त लक्षणों को पैदा करती है।<sup>२१</sup>

जलौका के स्वरूप के बारे में प्राणिशास्त्र संबंधित वर्णन विस्तार से देना हो तो उसमें बहुत कुछ लिखा जा सकता है, किंतु वह सब रक्तमोक्षण कर्म की दृष्टि से आवश्यक नहीं है। यहां कुछ आवश्यक ऐसा वर्णन हिया जाता है जिसमें प्रयोग में कुछ साहाय्य होता है, तथा आयुर्वेद में जलौका का जो वर्णन दिया है उसे समझने में लाभ होता है। और वे गाहित झारनों में पाई जाती है। दुनिया के बहुत से प्रांतों में ये मिलती हैं। हिरुडो मेडिसिनेलिस ये ब्रिटेन में और आर. मेडिसिनेलिस (R. Medicinalis) ये जलौका

आस्ट्रेलिया में मिलती है। ये प्रायः ६ से १० में. मी. अर्थात् २ से ३ इच्छ लंबी होती है, किन्तु इन में संकोच और प्रसरणशीलता होती है जिससे ये अपनी लंबाई कम ज्यादा करती हैं। इसी संकोच और प्रसरण की गति के द्वारा से चेष्टाएँ करती हैं ये पानी में अच्छी तरह तैरती हैं। इनका ऊपरी भाग (Convex) और आधार भाग गोल फूला हुआ होता है। जलौका के दोनों बाजू में सामने और पीछे के भाग में एक विशेष प्रकार की चूषक (Succer) जैसी रचना होती है—इस से वह दोनों बाजू से अपने शरीर को आधार और सर पर पकड़ कर रखती है। इसका रोग चमकदार, धूमिल लाल होता है। इसके संपूर्ण शरीर पर आड़ी बर्तुलाकार (Transvers circular) रेखाएँ होती हैं। इन रेखाओं के द्वारा कह लेते छोटे आड़ी बर्तुलाकार (Transvers circular) रेखाएँ होती हैं। यह रचना गंदूदकृमि (Earthworm) के समान होती है। सामने के चूषक (Succer) के पास पांच ऊड़िये काले छाँटे होते हैं। ये इनकी आंखें हैं। इनके शरीर पर एक बहुत पतली लवचा का आवरण होता है। यह आवरण सतत बदलता रहता है। इसके नीचे लवचा होती है। इन की लवचा मानदीय क्लोष (Human cells) के सदृश कोषयुक्त होती है इन लवचा के कोष में नीचे ही रक्त के सोतस (Blood capillaries) होते हैं। जलौका का एक सतत जल के सान्त्रिक्ष में रहता है। इनका श्वासोच्छ्वास लवचा के द्वारा होता है। लवचा और पाचन संस्था (Elementary canal) के बीच का भाग सदृश धातु से (connective tissue) से व्याप्त रहता है। इनकी लवचा पर असभ्य सूक्ष्म ग्रंथियाँ होती हैं जो एक्सिस्ट्रिग्य साव सतत लवचा के ऊपर छोड़ती हैं। इस साव के कारण इनकी लवचा अत्यंत मुलायम और फिल्मने वाली हो जाती है। जलौका में मांसपेशियाँ भी विकसित होती हैं। जिनसे ये संकोच और विकास की गतियाँ करती हैं। दीघाकार (Longitudinal) रहती हैं। जिनसे ये संकोच और विकास की गतियाँ करती हैं। पाचन संस्थान में मुख, जबड़ा (jaw), आम्र, अंतर्गुद, बाह्यगुद, ये अवयव विकसित होते हैं। ये जो रक्त—चूसती हैं—मुँह के बाद कठ में जाता है—और निचे आम्राशय में पहुँच जाता है। मुँह से लालाचावी ग्रंथियाँ लालास्त्राव (Hirudin) को लावित करती हैं। यह रक्त को स्कॉदन (coagulation) होने से रोकता है। पाचन संस्थान के अशयों की प्रसारण शक्ति खूब होती है। लिये दुए रक्त का रक्तरूपांतर तुरन्त प्रारम्भ होता है। किन्तु पूर्ण प्रजन के लिए कई महिने लग जाते हैं। जलौका का भल दिक्षार्जन संस्थान (excretory system), वातवरह संस्थान (Nervous System) भी होता है और नरथा मादी सदृश होता है। इनमें प्रजनन संस्थान (Reproductive System) भी होता है और नरथा मादी के अवयव विकसित होते हैं।

### जलौका का आयुर्वेदीय वर्णन

सुश्रुत ने तथा वारभट ने जलौकाएँ सविष और निर्विष ऐसे दो प्रकार की कही है। इस दोनों के छ: छ: भेद करके कुल १२ प्रकार की जलौकाएँ कही हैं। १२ सुश्रुत ने प्रत्येक का नमतः वर्णन किया है—और वारभट ने इन्हीं नामों का प्रयोग स्वरूप दर्शक किया है। वस्तुतः जलौका के ये नाम उनका स्वरूप दर्शक ही समझना चाहिए। ये नाम इनकी आकृति, वर्ण, लवचा की विशेषता, सिर की विशेषता इत्यादि के बोधक हैं। इन सबका सम्मिलित वर्णन देखने पर ऊपर जो आशुनिक विज्ञान के अनुसार जलौका का वर्णन किया गया है—वह प्रायः उक्त हो जाता है—

सर्विष जलौकाएँ<sup>५३</sup>—सर्विष जलौकाओं का नाम और स्वरूप निम्नलिखित प्रकार का है।

१. कूल्या जलौका—ये अंजन-कर्जल के समान काली होती है—इसका शिर चौड़ा होता है। वारभट ने भी भूशं कूल्या जलौका को सविष कहा है।

२. कर्कुरा जलौका—ये जलौका वर्मि नामक प्रत्यक्ष के आकार की होती है। इसके कुक्षिभूषण में ऑर बाहर की ओर आयत (convex) होता है। इसके कुक्षिभूषण में ऑर कुछ लोग की ओर नमी हुई और बाहर की ओर सपारिकर लिया है, और कुछ लोग छेद होते हैं। (रेखाएँ)। डहण ने वर्मिमल्य का अर्थ सपारिकर लिया है। अतः कुक्षिभूषण का सोहिं प्रत्यक्ष के आकार की जलौका कंबुरा मानते हैं—ऐसा कहा है। अर्थ कहीं पर कुक्षिभूषुक्त नीचे कुक्षी हुई और कहीं पर उत्तर कुक्षी—ऊपर उठी हुई—ऐसा किया है। कबूर यह शब्द भूरे रण के लिए प्रचलित है। रक्तवर्ण में श्वेत वर्ण मिलने पर हलका लाल और द्वैवर्ण्य तुक्स जो रंग होता है उसे कर्कुरा कहते हैं। वारभट ने ‘रक्तःश्वेतः एम्सी वर्णवाली जलौका सविष मानती है।

३. अलंगर्दी—इसके शाशीर पर वलियाँ (reverberi) होती हैं जो रोम के सदृश दिखाई देती हैं। इसके दोनों पार्श्व फूले हुए होते हैं, और मुख काला होता है। वारभट ने ‘राजयोगशाश्वता’ राजी युक्त तथा राम्पश जलौका को सविष कहा है।

४. इंद्रायुधा जलौका—इंद्रधनुष के समान ऊपर के भाग में वित्रविचित्र वर्णवाली,

रेखाओं से युक्त जलौका का इंद्रायुधा कहलाती है वारभट ने भी इंद्रायुधा जलौका का समावेश सविष में किया है।

५. सापुद्रिका जलौका—ये जलौकाएँ किंचिदु काली तथा पीते रंग की होती हैं और कहीं सा के बिंदुयुक्त फूलों के समान विचित्र होती हैं।

६. शोधंदाना जलौका—इनके नीचे का भाग लेल के वृषण के समान लो भागों में विभक्त सा दिखाई देता है, तथा पुख छोटा होता है। वारभट ने अति चपल और स्थूलता—पिठुलता से सविष जलौका के सामान्य लक्षण कहे हैं।

निर्विष जलौकाएँ<sup>५४</sup>

निर्विष जलौकाएँ जो विकितस में प्रदोषज्यो हैं, वे निम्नलिखित छ: प्रकार की होती हैं।

१. करित्ता जलौका—मनःशिला (manasikila) के समान वर्णवाली प्राश्वर वार्जु में, तथा पृष्ठ (पीठ) पुद्दा (pudra) के वर्ण की ओर स्थिन्द होती है। यह कापिल शब्द ही कपिल वर्ण का द्व्यातक है।

२. पिंगला जलौका—यह किंचित् लाल-पिंगल वर्ण की, गोल आकार की और शीघ्र चलनेवाली होती है।

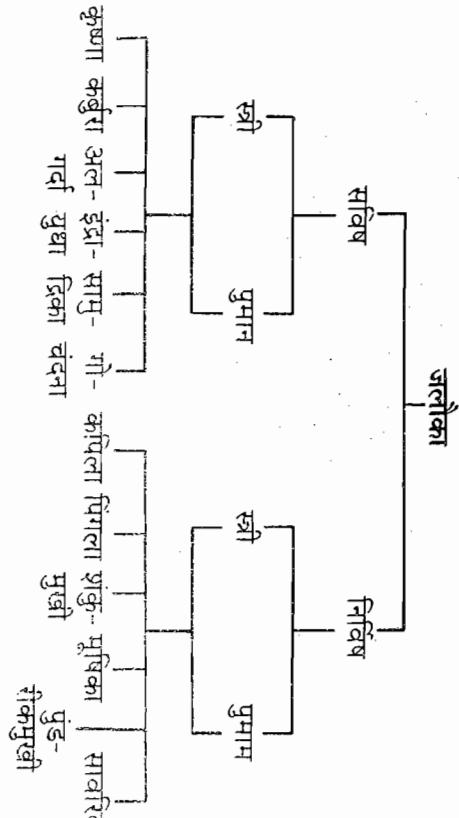
३. शंकुमुखी जलौका—यकृत-खंड के समान वर्णवाली जलौकी से रक्त चूसनेवाली, तीक्ष्ण मुख-शंकुवाली (या Soccer) जलौका का शंकुमुखी कहलाती है।

४. मूषिका जलौका—मूषिक—लांगुल के समान आकृति वाली, और उसी वर्णवाली तथा अनिष्ट गंध (दुर्गंध) वाली जलौका पूषिका कहलाती है।

५. पुंडरीकमुखी जलौका—मूँग के समान वर्णवाली, हरितवर्ण और पुंडरीक मुखी कमल (रक्त कमल) के समान विस्तीर्ण मुखवाली जलौका को पुंडरीक मुखी कहते हैं।

**६. सावधान जलौजा—** यह स्थिति क्रमलपत्र के समान वर्णवाली और १८ अंगुल लंबी होती है यह जलोंका पश्चिमों का रक्त (हाथी, घोड़े आदि में) निकालने के लिए प्रयुक्त करनी चाहिये। मुख्यों में इसका उपयोग न करें।

वार्षिक निवेद जलोका का समाचरण वर्णन करते हुए कहा है कि यह श्रवण लक्ष्य सदृश स्थापन वर्ण की होती है, गोल होती है, इनके ऊपर नीले रंग की रेखाएँ होती हैं, इनका शरीर अस्त्र पतला-कोमल होता है और पेट कुछ पीले रंग का होता है।<sup>१५</sup> बुद्ध वार्षिक ने आषांग संग्रहालय में कहा है कि—जलोका की अधिकार्थिक लंबाई १२ अंगुल की होती है। इनमें चार, पाच या छः अंगुल लंबी जलोका मनुष्यों में प्रथमत करनी चाहिये और इनमें जो बड़ी होती है तो वे हाथी-घोड़ों में प्रथमत करनी चाहिये। इनमें भी स्त्री और पुमान ऐसे हो भेद होते हैं जो कोमल शरीरवाली होती है, कोमल त्वचावाली, छोटे सिरवाली, तथा नीचे का शरीर जिसका बड़ा होता है उससे स्त्री जलोका समझना चाहिये। इससे विपरीत-अथवा कठिन लचावाली, बड़े सिरवाली मध्यभाग में जो छोटी हो, और अर्ध चंद्र के समान गोल हो, उसे पुमान जलोका समझना चाहिये। दोषों के प्रबल्ल्य में चिरोत्थित रोगों में पुमान जलोका लगाके और अन्यत्र स्त्री जलोका का प्रयोग करें।<sup>१६</sup>



जलौका के विषय में उपर्युक्त वर्णन से उसका स्वरूप आधुनिक विज्ञान के वर्णन से मिलता जुलता है यह स्पष्ट होता है। आयुर्वेद में वर्णित कपिला प्रियालदि तथा कृष्णा कर्खरादि साक्ष जलौका का पृथक् जो वर्णन किया है वह सम्भिलित प्रकार से किसी में उपलब्ध किसी में अनुपलब्ध ऐसा मानना चाहिये। जलौका की लंबाई ४, ५ या ६ अंगुली का कहा जाना, जो करीब २ से ४ इंच होता है, उसके मुख का शंकुभाल, कृष्ण, स्थाव, ग्रन्त, शैवल वर्ण, कपिल वर्ण इत्यादि वर्ण, रेखा पूर्णता, स्मिथ-त्रुता, तथा स्त्री और पुरुष जलोका वर्णन, सीधे गतिता (Nervous System) इत्यादि का वर्णन आचार्यों की निरीक्षण कुशलता को स्पष्ट करता है।

जलौकावचारण विधि

१. पूर्वकर्म— पूर्वकर्म में निम्नलिखित विषयों का समावेश होता है।
  २. जलोका संग्रहण तथा पोषण
  ३. रक्तमोक्षण पूर्व जलोका शोधन

१. जलोका संग्रहण तथा पोषण—जलोका को पकड़कर प्रयोगार्थ संरक्षित रखने की तथा बारबार प्रयोगार्थ उच्चे क्षम रखने के लिए जो विधि है वह संग्रहण-पोषण विधि है। जलोका के संग्रहणादि विषय पर प्राचीन काल से खास ध्यान दिया गया था ऐसा प्रतीत होता है। सुश्रृत कहते हैं कि, जलोका का क्षेत्र वे कहां उत्सव होती हैं वह उनको ग्रहण करने की पद्धति, उनके प्रकार, उनके पोषण की पद्धति, उनसे रक्त निकालने की उपचार पद्धति जो ठीक तरह से जानता है वही वैद्य साध्य रोगों की चिकित्सा करने में समर्थ होता है।<sup>४७</sup> जलोका को ग्रहण करने की पद्धति बहुत सरल है। तालाब में, झरनों पर, या शैवल पंकज युक्त क्षेत्र में गोले चमड़े के द्वारा उनको पकड़ा जाता है।<sup>४८</sup> अर्थात् ऐसे स्थान में गोले चमड़े को या मोटे कपड़े को बिछाकर रखे धीरे-धीरे जलोकाएँ उस पर जमा हो जाएँगी, तब चमड़े को उठाकर उस पर से जलोकाओं को पकड़ ले। दूसरा प्रकार यह है कि मृत जीवजंतु का ताजा मांस, मक्खन, यी, दूध, इनसे किसी प्राणी के जंधा पर या मनुष्य खुद अपने जंधापर लेपन कर वह मांव जलोका युक्त स्थान में पानी में डालकर बैठे। जलोकाओं को ये सब द्रव्य प्रिय होने से उनको खाने के लिए वे जमा होती हैं—तब जंधा-मांव को बाहर निकाल कर उस पर नमक बुरका दे—जिससे जलोका औड़ देंगी—तब उनको पकड़ कर शुद्ध जलयुक्त कांचपात्र या मुत्तात्र में रख दें।

कारण संभवतः यह है कि निविष जलौका संचय करने का अच्छा काल शारद काल है। इसका बर्षा ऋतु होती है जिसमें बादल तथा वर्षा से जल में रहती है। शारद ऋतु के पहले ऊपर के स्तर पर आने की संभावना नहीं होती। वर्षा काल के दूष जल में सविष जलौका की उत्पत्ति होना ही अधिक संभव होता है। जल का माहात्म्य कहते हुए शारद ऋतु के हंसोदक की बहुत प्रशंसित की गयी है। दिन में सूर्यनिकरणों में तथा हुआ, और गति में चंद्रमा की चाढ़नी में शीतल हुआ—शारद ऋतु के काल प्रभाव में ही जल अतीव शुद्ध होता है—उसे हंसोदक कहते हैं<sup>१५</sup> यह स्मानपान के लिए अत्यंत श्रेयस्कर माना गया है। हंस शब्द सूर्य और चंद्र का पर्याय है। सूर्य और चंद्रकिरणों से शुद्ध जल वह हंसोदक ऐसा इसका अर्थ है। तालाब, झारों में—शारद ऋतु के काल में उपर्युक्त प्रकार के निमिल जल में निर्विष और उत्तम जलौका ए प्राप्त होंगी—इसी दृष्टि से शारद काल में इनका प्रहण प्रशस्त माना है।

जलौका संग्रह—इस प्रकार पकड़ी हुई जलौकाएं बढ़े आकार के नये मटके में—  
तालाब का अच्छा पानी तथा कीचड़ डालकर उसमें रख दें। इनको खाने के लिए शैवल,

सूखा मास, छोटे-छोटे कंदों का चूर्ण डालें। उनको बिहने के लिए जल में उगने वाली घास, पत्तियाँ डाल देवें। दो या तीन तीन दिन को ताजा पानी और खाने के पदार्थ घटे में डालना चाहिए। सात दिन के बाद एक बार हफ्ते का संपूर्ण जल एवं खाद्य वस्तुओं को बदलकर नया जल और नये पदार्थ डालना चाहिए<sup>१०</sup> अथवा घड़ा ही बदल दें।

**नोंद—जलौका को रखने के लिए बड़े आकार का मलिलशरक (जलपात्र) (Aquarium) या जलाशय का उपयोग किया जा सकता है। इस पात्र में शैबल, मांस चूर्णादि तथा घास, पते आदि डालकर नैसर्गिक वातावरण उत्पन्न करना चाहिए। जल को बारंबार बदलना चाहिए। नदी या तालाब का पानी डालना श्रेयस्कर है। नैलोरिन से शुष्क जल होते हुए भी जलौका को हानि करता है—ऐसा देखा गया है। जलौका को बड़े-घड़े-में (महाति) रखने को कहा है, संभवतः उन्हें विहरणार्थ भरपूर अवकाश मिले और मानसिक वृद्धि वैद्य-अस्तां छोटे से घड़े में पचासों जलौकाओं आदि मिट्ठी में रख देते हैं, और वे अच्छी तरह रहती हैं। उनका भ्रण पोषण होता है इतना ही नहीं बल्कि उनका प्रजनन संस्थान भी कार्यकर होता है—और नई नई जलौकाओं की अधिवृद्धि होती है। छोटा घड़ा हो या बड़ा-घड़े के ऊपर का भ्रण वस्तु से आच्छादित रखना चाहिए। प्रयोग से यह भी देखा गया है कि केवल कांचपत्र में, या जल में रखी हई जलौका भी महीनों तक अच्छी और स्वस्थ रहती है— और एकत्र पान करती है। संधवतः यह इसलिए है कि जलौका एक बार जो खाद्य लेती है उनके पचन में महीनों तक का काल लगता है—और जल, मिट्ठी वा शैबल में उपस्थित जंतु आदि का खाद्य उहैं जीवित रखने के लिए एप्पराप्ट होता है। जलौका को संग्रहित करने पर वैद्य उनकी अच्छी तरह परीक्षा कर ले। सविष्य भयजनक हों, बहुत बड़ी हों, जिनकी चेष्टाएं मंद हों, जो अत्य रक्त चुप्ती हो तथा जो सांकेतिक हो उनकी प्रयोग के लिए अनुचित समझकर त्यागना चाहिये।<sup>११</sup>**

**२. जलौकाकासाध्य आयुर्वेदी की परीक्षा—जलौकाकावचारण से साध्य रोगों में गुल्म, अर्श, विद्रिधि, कुष्ठ, वातरक्त, कंठरोग, नेत्ररोग, विषषट्, विसर्प इनकी गिनती की गयी है।<sup>१२</sup> इनसे पोड़ित आयुर्वेदी की उचित प्रकार से परीक्षा कर गोनिनिश्चित करना चाहिए। भिन्न-भिन्न प्रकार से शुद्ध कुष्ठ, विद्रिधि में जलौका से रक्त निर्हण बहुत लाभ करता है। इसी तरह कुछ वैद्य अर्श में तथा नेत्ररोग में नेत्रपर भी जलौका प्रयोग करते हैं और उससे अच्छा लाभ मिलता है यह अनुभव है। शिरोरोग में भी शंखप्रदेश पर जलौका लगाकर रक्त निर्हण करना तुरंत लाभप्रद होता है। जलौका परम सुकृतमार्ग के लिए प्रशस्त होने से गजाऊओं, धनिकों, डृपरोक्ष, स्त्रियों, बालकों वृद्धों तथा नाजुक प्रकृति वालों में विशेष कर प्रयुक्त करनी चाहिए यह पहले कहा गया है। गुल्म आदि कहे हुए रोगों में जलौका कावचारण का खास प्रयोग निर्दिश्य समझना चाहिए। अन्यथा त-लम्पोक्षणार्थ रक्तज सभी विकारों में पिण दोष और अवगाढ़ रक्तता तथा सुकुमार प्रकृति द्यान में रखकर जलौका कावचारण के लिए योग समझना चाहिए।**

**३. रक्तमोक्षण पूर्व जलौका शोधन—आयुर्वेद के शरीरपर जलौका लगाने के पूर्व उनका शोधन करना चाहिए। शोधन के लिए सरसू, हल्दी, इनसे मिश्र जल में या ती**

उनके शरीर पर हल्दी और सरसू के चूर्ण का लेप करके उनको सलिल सरक (जलपात्र) में मुहूर्क (४० मिनिट तक) रख देना चाहिए।<sup>१३</sup> इससे उनकी भूख बढ़ती है, चपलता बढ़ती है और रक्तप्रहण करने के लिए इच्छा उत्पन्न होती है। बार-भार ने हल्दी के पानी के अतिरिक्त कांजी में या ताक में डुबाकर फिर निर्मल जल में डालकर, फिर रुणांग पर प्रयोग करने को कहा है।<sup>१४</sup> बार-भार कहते हैं कि निर्विष जलौका का भी प्रयोग करना तब इच्छनीय नहीं है—जब कि उनका सम्पूर्ण शोधन न किया हुआ हो, जलौका द्वारा पहले लिया हुआ रक्त उचित प्रकार से बर्म द्वारा न निकला हो, और इनका सतत प्रयोग किया हुआ हो तो जल में से शिथिल हो जाती है—उनको रक्त मत समझकर प्रयोग में न ले।<sup>१५</sup>

**४. आयुर्वेदिय सिङ्क्लता—रक्तमोक्षण कर्म के लिए भी स्नेहन और स्वेदन ये पूर्वकर्म इच्छनीय है। सुश्रुत ने सिरा व्यधन कर्म के लिए स्नेहन स्वेदन करने का निर्देश किया है। यह यां भी लाणू समझना चाहिए। सिरावेद्य में सावधिक दुष्टि के कारण संपूर्ण शरीर का स्नेहन स्वेदन करना उचित है जहां जलौकादि अवचारण (श्वा, अलानू) में स्थानिक वृद्धि वैद्य-अस्तां छोटे से घड़े में स्वस्त्रता से रसरक्त में क्लेदन होकर अनेक दोष उनमें घुल किया जाना चाहिए। स्नेहन और स्वेदन से रसरक्त को लिए ये जाते हैं यह पहले कहा गया है। अतः रक्तस्तुति में घुले हुए दोष निकालने के लिए ये पूर्वकर्म जरूरी हैं। शिरःशूल, कुष्ठ आदि रोगों में प्रयोग द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि स्नेहन स्वेदन कर जलौकाकावचारण करने से ही अधिक लाभ होता है। तथापि यह द्यान रखना चाहिए कि स्नेहन करनी लगती और रक्त को चुस्ती नहीं हो सकती। वेसे ही जलौकाकावचारण के लिए यह स्नेहन करने के बाद एक दिन रुकने की कहा ही गया है। वेसे ही जलौकाकावचारण के समय आतुर एक दिन, विचरण में स्नेहन के बाद ३ दिन रुकने की कहा ही गया है। अतः रक्तश्वात् प्रयोग के समय आतुर भी एक दिन पूर्व स्नेहन और स्वेदन करनी उचित है। तत्स्थात् प्रयोग के समय आतुर के रक्तमोक्षणाहं अंग का निरक्षण करना सुलाकर मुत्तिका रुक कर निरक्षण हो अंग का निरक्षण करना चाहिए। आतुर को बिठाकर या सुलाकर मुत्तिका निरक्षण यहां लगाना चाहिए।<sup>१६</sup> यहां यान रहे कि रक्षणार्थ प्रयुक्त मृतिका शुद्ध और निर्मृ-गोमय नहीं लगाना चाहिए।<sup>१७</sup> यहां यान रहे कि रक्षणार्थ प्रयुक्त मृतिका शुद्ध और जंतुरहित होना चाहिए। यहां विरुद्धण और स्नेहन परम्पर विपरीत उपक्रम समझने का कारण नहीं है। स्नेहन यह दोषविलयनादि गुणों के लिए आवश्यक है और विरुद्धण के बहल त्वचा का तत्कालीन उपक्रम है—जो जलौका अपने दोनों शंकु मुखों को (Succer) ल्वचा में जमाने के लिए जलौकी है अत्यथा वे पकड़ नहीं सकती। जब तक जलौका अपने दोनों मुखों से त्वचा में जमकर नहीं बैठती तब तक रक्त में जमकर नहीं चुस्ती।**

## २. प्रधान कर्म<sup>१८</sup>

**१. प्रयोग—उपर्युक्त प्रकार से सिङ्क्ल किये आयुर्वेद के विरुद्धक्षत विकारवाले गत्र के ऊपर जलौका लगावें। जलौका अत्यंत स्निग्ध और पिच्छिल तथा मुट्ठ अवधार के कारण हाथ में से फिसल जाती है। जो त्वेद्य जलौका को देखने के, स्पर्श करने के आदि नहीं हैं, एवं नवीन अभ्यास है— भय रखते हैं, उनको चाहिए कि वे हाथ में रख ग्लाउड पहलकर जलौका को पकड़ कर रुक लें। कभी-कभी जलौका उपचारक के ही हाथ को पकड़ने की कोंशिश करती है। इसलिए डर के कारण नवाच्यस्त लोग उसे छोड़ देते हैं—इसलिए ग्लाउड प्रकार प्रयोग की शीरादि लगाकर**

या कुछ छेदकर किंविद् रक्त बिंदु बाहर आने पर वहां जलौका को लगावें। इससे जल्दी पकड़ लेती है।

कुछ लोगों का मत है कि—प्रयोग के समय विकार के स्थान पर ऐसा कागज रख दे जिस के बीच में छेद हो और वह छेद बराबर दंशस्थान के ऊपर आ जाये। कागज पर रखी हुई जलौका उस छेद स्थान पर जाकर उसे पकड़ कर रक्त चूसती है। जब गले में, गर्भाशय में, गुदा पर, जौंक लगानी हो तब उसे लिंगिष्ट प्रकार के बीच की नली में रखकर लगावें। यह नली ऐसी हो जिसके मुंह में से जौंक का केवल मुख बाहर प्रविष्ट हो सके। इस तरह जौंक गर्भाशय के भीतर, या गुद के भीतर या जाये इसलिए यह विधि है। जौंक जल्दी पकड़ न लेती हो तो दृष्टि या रक्तिबिंदु अवयव पर लगावें, या तो शाख से थोड़ा सा क्षत करें और तब भी जौंक न लगे तो उसे निकाल कर दूसरी जौंक लगावें। जब जलौका रक्तपान करना प्रारंभ करती है तो उसके शरीर पर सफेद गीला कपड़ा या गोमधीर सापेट दें। मुख का भाग छुला रखें। जब वह घोड़े के छुर के समान मुह को काके, कथों को ऊचा करके रक्त चूसने लगे तो समझना चाहिए कि जलौका लग गयी और उपर्युक्त प्रकार से गोला-श्वेत बस्तु ढक कर थोड़ी-थोड़ी देर से उस पर जल लिंग डालते जायें।

१. निरीक्षण—१. जौंक रक्तपान, करने लगती है तब उसके मुख के समीपवर्ती गले के भाग से रक्तादूषण की गतियां और स्पन्दन दिखाई देता है।

२. धीरे धीरे मध्य का भाग फूलने लगता है।

३. दंश स्थान में खुजली और शूल (इष्टन) होता है तो समझें कि शुद्ध रक्त ले रही है— और उसे निकाल दें।  
४. शुद्ध और दुष्ट रक्त के मिश्रण से वह प्रथम दुष्ट रक्त को ही चूसती है—जौंक हें में शीर और जल का विवेक होता है वैसे ही जौंक प्रथम दुष्ट रक्त लेती है। जब वह शुद्ध रक्तपान का प्रारंभ करें तब उसे निकाल लें। निकालने के लिए उस पर सैध्वर नमक का चूर्ण भुक कर—जिसके वह तुरन्त रक्त लेना बंद कर दंशस्थान को छोड़ देती है। जलौका छुड़वाने के बाद दक्ष वैद्य पश्चालकर्म से सावधानी रखें।

२. पश्चालकर्म—१. जलौका का उपचार

२. आहुर का उपचार

१. जलौका का उपचार—जलौका को दंशस्थान से सैधवचूर्ण या सैधव जल डालकर अलग करा दे। फिर उसके मुख पर सैधव मिश्रित तैल मलना चाहिए और शीर पर चावल का तुष मलना चाहिए इसलिए कि पिण्डित शिरोरवाली जलौका पकड़ने में सुविधा हो। फिर जायें हथ की कनिष्ठिका और अंगुष्ठ के द्वारा पूँछ की ओर इड़ पकड़कर दायें हाथ के अंगुठे और उंगली से धीरे-धीरे पूँछ से पूँछ की ओर निवोड़। इससे जौंक की रखन का वर्मन होता है। सायंक वात जलौका को सालिलसरक (जलपात्र) में या 'महत' घट में रख दें। यदि वह भृश्य के शोधन के लिए इधर उधर फिले लगे तो समझना चाहिए कि जौंक को वर्मन ठीक हो गया है। यदि एक ही स्थान में बैठ जाये, तो असम्भव बात (डुवान्त) समझ कर पुनः वर्मन करावें। यदि जलौका को वर्मन न कराया जाये,

और पिया हुआ रक्त को बापिस न लिया जाये तो उसे 'इंद्रमद' नामक रोग (मद) होता है। जिससे वह मर जाती है या पुनः रक्तपान करने में असमर्थ होती है यदि बहुत अधिक वर्मन कराया जाये तो उसे अतियोगजन्य कर्तम होता है अथवा वह मर जाती है। एक बार प्रयुक्त जलौका को फिर से ७ दिन तक पुनः प्रयोग के लिए नहीं लेना चाहिए। इसलिए ये जलसे है कि प्रयुक्त जलौका को अलग घड़े में रखें, अन्यथा उहूँ पहचानता कठिन होता है। बाथट ने जौंक को अलग अलग घड़े में रखने के लिए कारण दिखाते हुए कहा है कि लालाक्षाव के सपर्क से उमर्म साबित्व उत्पन्न होता है इसलिए अलग अलग घड़े में मिट्टी तथा जल मिलाकर उहूँ रखें।

जौंक को वर्मन करने के लिए निचोड़ते समय सावधानी से मृदु पौड़न से दबाये—अन्यथा वह पीड़नार्थीयों से मर सकती है। वर्मन का दूसरा प्रकार यह है कि दंशस्थान से ली हुई जलौका तुरन्त सैंधवजल में डाल दे, अथवा सैंधवतुक्त तिलतैल में डाल दे। इससे वह तुरन्त वर्मन होती है। वर्मित जलौका को उसी समय पकड़कर हिन्द्रिजल में और शुद्ध जल में डालना चाहिए और जब पूर्णतः रक्तवर्मन हो गया है ऐसे लक्षण मिल जाये तब उसे घड़े में रख दे। यह विधि सरल और अनुपम्याती है।

२. आहुर का उपचार—रक्तमोक्षण करते समय ही तो उपचारक को सज्ज रहना चाहिए, क्योंकि जलौका वाचारण के बाद एक व्यक्ति जौंक को वर्मनादि शोधन करें, तथा साथ-साथ दूसरा व्यक्ति आहुर पर उपचार करें। जौंक के लालाक्षाव में रक्तास्कंदी (Anticoagulant) हिरुडीन नामक (Hirudin) पदार्थ होता है जो दंश से जौंक के अलग अलग पर भी रक्त को जल्दी जगते नहीं देता और पर्याप्त समय तक रक्तसाव करता है। अतएव उपचारकर्ता को चाहिए कि विना किसी भूल के उसका रक्तसाव बंद करने का तथा क्रणरोपण का उपचार करें। रक्तमोक्षण के याग, अद्योगा अथवा अध्यात्म धूत को देखते हुए शतधूत धूत का दंशस्थान पर लेप करें अथवा अध्यात्म धूत का पिचु रखें, अथवा मधु से पीड़न करें शीतपरिषेक करें या लेप करके बंधन बांध दें। अर्थात् सम्पूर्ण योग में शतधूत का अध्यात्म धूत का पिचु रख दें। हीनयोग में जलौकावाण को मधु के द्वारा अवधृण—पीड़न करें—ताकि रक्त चिकित्सा जाये और अतियोग में शीतलता (लेप) करें। यह रक्त का प्रसादन करता है।<sup>५५</sup>

गहं ध्यान में रहे कि जलौका निकालने के बाद वर्ण से उप्रयोग के समान रक्तसाव होता है। अतएव सौराष्ट्री चूर्ण डालकर जौंक को निकालना प्रशस्त है। इससे जौंक दंशस्थान को छोड़ भी देती है, साथ वर्ण का कषायरस से रक्तसाव होता है। आवश्यक हो तो जात्यादितेल या पट्टिकादि तैल से व्रण-बंधन करें। यह रक्त को बंद करता है। एक खास विषय ध्यान में रहे कि जौंक एक समय २ सी. मी. से १५ सी. मी. तक रक्त ज्यादा से ज्यादा लेती है। और योगायोग के लक्षण में जो प्रमाण कहा है—उतनी मात्रा में रक्त निकालना हो तो एक जौंक से वाम नहीं होता। एक साथ दो, चार या छः, जलौका भी लगाई जा सकती हैं। अथवा जौंक के छुड़ा लेने पर, कुछ काल तक रक्तसाव होते हैं, और फिर बंधन बांध दें। यदि वैद्य यह समझे कि तुरन्त रक्त बंद करना है, तो भी जलौका पृथक् करने के बाद थोड़ा सा रक्त जाने दें, और व्रणमुख को कपास या बात (डुवान्त) समझ कर पुनः वर्मन करावें। यदि जलौका को वर्मन न कराया जाये,

## आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान

गोजपीस से स्वच्छ करके फिर व्राणबंधन करें। इसका कारण यह है कि व्राणमुख पर रहता हुआ हिलडीन रक्त को जमने नहीं देता, यदि उसके साथ ही धूतपितृ इत्यादि लगाया जाए तो पर्यास समय थोड़ा थोड़ा करके रक्त खलित होता रहता है। यह अनुभव है कि कभी कभी व्राणबंध में दो से तीन घंटे तक भी रक्तस्वाव होता रहता है। इसलिए दशक्षिण रक्कर बारंबार ब्रण मुख को स्वच्छ करने के बाद बंधन बांध दें।

**योग—अयोग—अतियोग लक्षण<sup>६०</sup>**—मुक्त वाणभट ने जलौका लावण में योग में रक्त के मान का उल्लेख नहीं किया है। अशुद्ध रक्त निकल जाने पर शुद्ध रक्त जाने लगे तब—कंडवादि लक्षण देखकर जौक छुड़ावे ऐसा कहा है। ब्रण में बेदना और लालिमा की शांति होना (मूल बेदना) यह दुष्टरक्त निकल गया इसका लक्षण है। डहन ने टीका में रक्त का मान पुरुष बल प्रमाण, दोष बल प्रमाण, वातादिजन्य व्याधि बलप्रमाण के अनुसार रक्त लावण करावे—ऐसा कहते हुए पल में मान दिया है वह सिरवेद्ध का एक प्रस्तुत्युक्त (१३/२ पल-५४ तला) नान बताया है। यहाँ केवल शुद्धरक्त निर्गम के लक्षण देखकर, अथवा जौक की पूरी हुई अवस्था को देखकर अनुमान से जौक निहरण काल निश्चित करना प्रशस्त है।

**सिरवेद्ध जलौकावंश—लक्षण एवं उपचार<sup>६१</sup>**—यदि भूल से जलौका सविष निकले, या पहले की निर्विष जलौका सविष हो जाये (वाणभट मतानुसार यह संगत है) और उसका प्रयोग किया जाये, अथवा जलौका संग्रह करते समय सौवेष जलौका दंश हो जाये—तो दंशस्थान में शोथ, अतिधिक खुजली, मूर्ढ्नी, ज्वर, दाह, छह्नि, मद तथा अंगासाद ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। ऐसी अवस्था में ‘महादृ’ नामक औषधि का पान, लेपन, नस्य अदि के द्वारा उपयोग करना चाहिए।

**महागद—इसका वर्णन संपूर्ण विष चिकित्सा के संदर्भ में सुश्रुत ने कल्पस्थान के पांचवें अध्याय में किया है। निशोथ, कलिहारी, मुलेठी, हल्दी, दारहल्दी, मंजीठ, आमलतास, पांचों नमक, त्रिकटु इन सबका चूर्ण बनाकर मधु में भ्रकर रख दे। इस महाप्रभावी औषधि को महागद कहते हैं। इसके आध्यन्तर सेवन, अध्यांग, अंजन और नस्य से विष बोग न औ होता है।**

**सामान्यतः**—दशस्थान में कंडु, दाह, शोथादि लक्षण हो तो जात्यादि तेल, जात्यादि घृत, पद्धकादि तेल इनका बाल्योपयोग तथा मणिषादि कवाथ, आरवद्य हरीतकी कवाथ, पुनर्नवाटक कवाथ, चंद्रप्रभावटी, इनका आध्यन्तर प्रयोग प्रशस्त है।

**जलौकावचारण में अवधान**

**१.** जलौका वचारण करते समय एक बड़े समिल सरक के अतिरिक्त अन्य अनेकछोटे छोटे कांच के पत्र, एनेमेल बाउलस, इत्यादि जल से, सैंधव जल से, हरिदाजल से, सैंधव तेल से, सर्षण चूर्ण जल से भरकर रखना चाहिए ताकि प्रयोग में जिसका चाहे यथा शीघ्र उपयोग कर सके तथा दश स्थान में प्रयत्नपूर्वक नलगी हुई, अल्प वर्गित अतिवर्मित तथा सम्यग् वर्गित इत्यादि जलौकाएं अलगा अलग पात्र में रख सके, एवं उन्हें तदनुकूल पोषण दे सके। प्रत्येक कांचपात्र पर उस प्रकार का नामांकन (लेबल-अल्पवर्मित, सम्यग् वर्मित अण्हाती जलौका इत्यादि) कर रखे। इससे जलौकाएं एक दूसरे में मिलेगी नहीं और प्रयोग सौकर्य होगा।

२. जलौका सामान्यतः प्रातः काल में लगावे इससे आतुरोपचार में सुविधा होती है।

३. स्लियों में, बालकों में भीरुओं में जौक लगानी हो तो प्रयोग पूर्व उनकी आंखों के ऊपर पहुंच जाए तो भयभीत होते हैं।

४. जलौका डूष ब्रण से कभी कभी भयानक रक्तस्वाव होता है। अतएव रक्तस्कदन के उपाय जो आगे सिरवेद्ध में कहे गये हैं, तेयार रखना चाहिए और यथायोग्य चिकित्सा करनी चाहिए। केवल स्वस्तिक बंधन (Cross bandage) भी रक्तस्वाव बंद करने में पर्याप्त सफल होता है।

५. अध्ययन—आधुनिक शास्त्र के अनुसार लंक स्तरीय शोथ तथा रक्तसंचय हारक होने के कारण इनका—ग्रंथि, आवारककला (Seroos membrane) त्वचा, अस्थि इनके शोथ में, पुरुषसावरण शोथ (Pleuronychia) में, कृष्णपुरुषसावरण शोथ (Pleuricity) हृच्छोथ (Myocarditis), कणपूलप्रथिश शोथ (Parotitis), हृदयावरण शोथ (Pericarditis), मास्टिष्क शोथ (Meningitis), गलातंगथि शोथ (Tonsillitis), मैं तथा विद्रिधि, मोच, आधातादि से रक्त जमने की अवस्था में उपयोग करना चाहिए। वर्षे पहले यूरोप और अमेरिका के चिकित्सक इसका अतीव उपयोग करते आये हैं।

**सिरवेद्ध**

**सिरवेद्धनिः?**—सिर, धमनी, रक्तवर्ह, तोतस ये शरीर के रसरक्त का संवहन करने वाले अवयव हैं। यथापि इन अवयवों की परिभाषा संदिक्षण और व्यक्तिगत प्रभेद से रहित नहीं है तथापि यहाँ शिरोप्रक्षण के कर्म की दृष्टि से विचार प्रस्तुत किया जाता है। सुश्रुत ने तिराओं की ७०० संख्या दी है और वार्षिक ने इसी का अनुसरण किया है। शरीर में इनकी संख्या निश्चित करना वास्तुतः बहुत कठिन है। स्थूल रूप में उपर्युक्त प्रकार का तिलेक किया गया है। सिराओं में सरण कार्य होता है और इनसे शरीर का पोषण होता है। इस पोषण के दो प्रकार हैं। (?) उपस्नेहन तथा (?) अनुग्रहण। उपस्नेहन वाले अवयव हैं। यथापि यहाँ वेदने वाले वनस्पतियों का पोषण होता है, इसमें सूक्ष्म छिद्रों से लवण कार्य होता है—उसी तरह सिराओं के द्वारा धातु के अणु परस्नेहन प्रकार से पोषण कार्य होता है। अनुग्रहण वह है जिसमें कूल्या के द्वारा पोषण होता है। जिस तरह उपवन में (आराम) बगीचे में खेतों में—कूल्या—जलतहरिणी—(नहरों) के द्वारा जल पहुंच कर पोषण करती है, वैसे ही सिरा द्वारा सवहन या सरण होनेवाला स्मरक विशेष स्थान में पहुंच कर पोषण करता है। उपस्नेहन में कूल्या के बिना पोषण है और अनुग्रहण में कूल्या से पोषण है यह दोनों में फरक है। ये दोनों कार्य सिराओं के अंकुचन प्रसरणादि कार्य से संपन्न होते हैं। उपग्रहण और उपस्नेहन सूक्ष्म—सूक्ष्मतम पोषण के सूक्ष्म क्षिराओं के आगे आगे प्रतान होकर ड्रमपत्र (पिंड के पनीं पर) पर रहनेवाली सिरा

जलिलकाओं के समान उनकी 'पूँछ-पूँछतम' रखना लक्ष्यस्तरीय परमाणु अवयव तक हो जाती है। इनका मूल 'हृदय' होता है—अष्टांग संग्रह में कहा है कि 'मूलस्थान में इनका प्रमाण यव के जितना होता है तथा आगे आधा यव तथा द्विमप्रत्र सेवनीयों के समान हो जाता है। ये सिराएं हृदय से मर्वाग को ओज पहुँचाती हैं। चारक ने हृदय से निकलनेवाला ओजबह धमनिया द्वारा ओज का प्रसारण होता है ऐसा कहा है—और इनका कार्य 'रसात्मक ओज' का बहन करना कहा है जो वस्तुतः स्सरक्त धातु ही है। यहाँ जिन्हें धमनी कहा गया है, और जो रस का संबहन करती है ऐसा कहा है वे सिरा के समान ही अवयव हैं।

सिराओं में वस्तुतः स्सरक्त का संबहन करती है जिनमें स्वरण ही उसे स्रोत कहा जाता है और जिनमें धमन होता है वह सिरा कहलाती है, जिनमें स्वरण ही उसे स्रोत कहा गया है। जिनमें स्वरण होता है वह सिरा कहलाती है—और उसे ओज भी पर्याय कहा जाता है। और जिनमें धमनी को क्रमशः दोनों के द्वारा कोपिकाएं (Capillaries), लेन्स (Veins), आर्टेरियों (Arteries), तथा नद्दी (Nerves) का भी बोध हो सके ऐसे उद्भरण संहिता में मिलते हैं। यहाँ अधिक भ्रम में न पड़ते हुए यह समझना चाहिए—कि स्रोत, सिरा, धमनी, रसायनी, संवाहिनी, नाड़ी पथ, मार्ग, शरीर त्वचा, संवृत्तास्वरूप, स्थान, आशय, क्षय, निकेत—सब शरीरधातुओं के लक्ष्य (निर्देश्य) और अलक्ष्य (आनिर्देश्य) अवयवों के नाम हैं। और पृथक् शरीर में विच्छिन्नता करते समय वे इनमें मिलजुल जाते हैं कि उनकी निश्चित पहचान भी संभवातीत नहीं रहती। अतएव ऐसा नामात्मक शास्त्र में मिलता है—फिर भी कार्य व्याप से कुछ तरक्कों को समझना चाहिए और इनका वैद्यकीय उपयोग (Medical or practical Application) पर अधिक विचार करना चाहिए।

सिरा के चार प्रकार हैं। चारत्वह, पितवह, कफवह और स्सरक्तवह सिरा। इन प्रत्येक

सिरा की १७५ शाखाएं होकर कुल ७०० सिरा संख्या होती है। चारत्वह सिरा को अरुणक कहा जाता है। संभृतः अरुणवर्ण के कारण ये सब प्रकार की चेष्टाएं बुझीद्धि और गानेदियों के कमां में व्यवस्थित ज्ञानप्रवृत्ति कराना, ये कार्य करती हैं। इनमें जब चात का प्रकोप होता है तो अनेक चात रोग उत्पन्न होते हैं। वाराभट ने इन्हें श्यावारुण वर्ण बाली तथा प्रस्पदन करने वाली और चात का बहन करने वाली सिरा कहा है। अरुणा का कर्म बस्तुतः चातवाहिनी नाड़ी (Nerve) के समान है। अतएव इनसे रक्त का मोक्षण करने का प्रश्न उपस्थित नहीं होता।

सिरा की १७५ शाखाएं होकर कुल ७०० सिरा संख्या होती है। चारत्वह सिरा को अरुणक कहा जाता है। संभृतः अरुणवर्ण के कारण ये सब प्रकार की चेष्टाएं बुझीद्धि और गानेदियों के कमां में व्यवस्थित ज्ञानप्रवृत्ति कराना, ये कार्य करती हैं। इनमें जब चात का प्रकोप होता है तो अनेक चात रोग उत्पन्न होते हैं। वाराभट ने इन्हें श्यावारुण वर्ण बाली तथा प्रस्पदन करने वाली और चात का बहन करने वाली सिरा कहा है। अरुणा का कर्म बस्तुतः चातवाहिनी नाड़ी (Nerve) के समान है। अतएव इनसे रक्त का मोक्षण करने का प्रश्न उपस्थित नहीं होता।

पितवह सिराओं को नीला-नील वर्ण के कारण—कहा जाता है। अग्नि को दीर्घ करना, अचपान में रुचि करना, शरीर वर्ण को प्रसन्न बनाना, ये काम इनसे होता है। इनमें प्रकोप होने पर अनेक पितवह उत्पन्न होते हैं। वाराभट ने पितवह सिरा को स्पर्श में उषा रुद्धेवाली, जल्दी से रक्तवहन करने वाली, नील पितरप्त का बहन करनेवाली सिरा कहा है। इनको लेन (Vein) समझा जा सकता है और रक्तमोक्षण में इनका अन्य साधात्म्य महत्व है। कफ को बहन करने वाली सिरा को गोरी कहा जाता है और वे सोलह करती हैं। वाराभट ने इन्हें लिम्फाटिक (Lymphatics) के समान है तथा सोधिस्थान की कुछ कलाओं (Membranes) के सदृश है—इनमें कफ का प्रकोप होने पर अनेक कफ रोग उत्पन्न होते हैं।

चौथी सिरा गोहिणी नामक होती है जो केवल शुद्ध रक्त को बहन करती है। यहाँ शुद्ध और अशुद्ध रक्त ये संज्ञाएँ ऑक्सीजन संयुक्त (Oxygenated) रक्त तथा ऑक्सीजन विहीन रक्त (Unoxygenated) के लिए दी हुई प्रतीत होती है। थारुओं का पोषण करना, वर्ष को उज्ज्वल करना, असंदिध स्पर्शज्ञन करना, ये कार्य इनमें स्थित रक्त करता है। जब इनमें रक्त का प्रकोप होता है तो अनेक रक्त के रोग उत्पन्न होते हैं। इनको आर्टेरी कहा जा सकता है। वाराभट ने इनको गूढ़स्थान में रहने वाली सिरा और शुद्ध रक्त को बहन करने वाली सिरा कहा है। ये सभी सिराएं केवल वात, केवल पित, केवल कफ का बहन नहीं करती, अपितु सभी में सभी का बहन करती है, तथापि तत्त्व सिरा में तत्त्व दोष का प्राधान्य समझना चाहिए।

इनमें से प्रायः नील सिरा (Vein) का ही व्यथा न किया जाता है। क्योंकि ये स्तरीय रक्त को हृदय की ओर ले जाती है—और दुष्टियाँ प्रायः स्तरीय रक्त में होती हैं। यित्र के प्रकोप से रक्त का भी प्रकोप होता है और इनमें आश्रयाश्रयी भाव है। गोहिणी में शुद्ध रक्त का बहन होता है—और वे हृदय से स्तरीय धातु की ओर ले जाती हैं। ये नंभीर गहरी हैं और नियमानुसार गंभीर सिरा का व्यथन नहीं करना चाहिए। इनकी अवैधता कहा गया है। अरुणा-गोरी के मोक्षण का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

कुल सिराओं की ७०० संख्या सुकृत और वाराभट ने दी है। वेद्य और अवैधता का वर्णन करते समय दोनों में कुछ अलग दुष्टिकोण मिलता है। इनकी संख्या का गोपन्त्र समझा जाये तो वेद्य अवैधता सिरा के स्थानों में मूलतः कोई मतभेद इनमें दुष्टिगोचर नहीं होता।

शाखा में कुल ४०० सिराएं (प्रत्येक में एक सौ) होती हैं इनमें १६ सिरा अवैध होती हैं। श्रोणि में कुल ३२ सिराएं होती हैं जिनमें ८ अवैध हैं। पार्श्व में कुल १६ सिराएं होती हैं जिनमें ४ अवैध सिरा हैं। पृष्ठ में कुल २४ सिराएं होती हैं जिनमें ४ अवैध सिरा होती हैं। उदर में कुल २४ सिराएं होती हैं। यहाँ तक दोनों ग्रंथ में मृतक्ष्य है। ग्रीवा में सुकृत ने कुल १६ सिराएं कही हैं, जहाँ वाराभट ने २४ गिनी हैं, इनमें अवैध सिराएं दोनों ने १६ कही हैं। हुजु में कुल १६ सिराएं कही गयी हैं, जिनमें अवैध २ हैं। जिक्रा में सुकृत ने कुल ३६ सिराएं और वाराभट ने १६ सिराएं कही हैं। इनमें अवैध ४ में दोनों का एक मत है। नासा में कुल २४ में ४ अवैध सिरा होती गयी है। एकमत है। नेत्र में सुकृत ने ३२ और वाराभट ने १६ सिराएं कही हैं। दोनों के मत से इनमें अवैध दो सिराएं हैं। शंख प्रदेश में सुकृत ने १० और वाराभट ने १६ सिराएं गिनी हैं। इनमें अवैध २ हैं जिसमें मतभेद नहीं है। मूर्धा में दोनों ने १२ सिराएं कही हैं। जिनमें अवैध ८ सिराएं हैं। उपर्युक्त विषय स्थानादि में साथ आगे तालिका में तुलनात्मक अध्ययन के लिए स्पष्ट किया जाए।

इनका अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि जो प्रायः गंभीर सिराएं होती हैं, जो

वात नाईः (Nerve) का काम करने वाली होती है किसी नाउक अवयव में स्थित होती है उसे अवेद्य कहा है। उदाहरण—जिह्वा में वातवह और रसवह सिरा को, कर्क में शब्द वाहिनियों को, नासा में गंध वाहिनी को, अवेद्य कहा है, मातृका, नीला, स्थपनी, अधिपति, उर्द्धा, लोहिताक्ष, जालधारा आदि गंभीर स्थान की सिराएँ हैं।

**सिरामर्म**—उपर्युक्त के अतिरिक्त मर्मों में सिरामर्म नामक प्रकार है। मर्म वह है जो अभिहत होने पर मनुष्यों को मारता है—भायंकर आत्मथिकता उत्पन्न करता है पारंयंतीति ममाणि ऐसा कहा है। सिरा के द्वारा निर्मित कुल ४१ मर्म हैं। इनमें धमनियां, ८ मातृका, ४ श्रुंगाटक, २ अपाग, एक स्थपनी, २ फागा, २ रसनमूल, दो अपसंधेः, ३ अपलाप, १ हृदय, १ नाभि, २ पाश्व संधि, २ बृहती, ४ लोहिताक्ष, ४ उर्वर्क इस तरह कुल ४१ सिरामर्म हैं ये स्वभावकर्त: ही शम्ख कर्म में परिवर्त्य हैं। इनको हाथ नहीं लगाना स्थान में सत्रिपत होता है। इनमें मास, सिरा, स्नायु, अस्थि, संधि इनका एक भावः (सघ्यः प्राणहरादि) उत्पन्न होते हैं। इनमें स्वभावकर्तः प्राण होते हैं अतः उनके अधिग्रात से तात्त्व जो चार प्रकार की अरुणा, नीली, गोरी, रोहिणी सिराएँ कही हैं—वे प्रायः मर्म में संनिविष्ट होकर स्नायु, अस्थि संधि, मासादि का पोषण करती हैं। शरीर का वर्धन करती है। इन मर्मों को विज्ञ वैद्य सुरक्षित रख कर्म करें।

### वैद्यावेद्य सिराएँ—तालिका

स्थान तथा कुल संख्या	अवेद्य सिराएँ	स्थान तथा कुल संख्या अवेद्य सिराएँ
शाखा १०० × ४ = ४००	जालधारा १ × ४ = ४ उर्वर्क २ × ४ = ८ लोहिताक्ष १ × ४ = ४	शाखा १०० × ४ = ४०० उर्वर्क २ × ४ = ८ लोहिताक्ष १ × ४ = ४
श्रोणि ३२	विष्ट २ × २ = ४ कटीक	श्रोणि ३२ तस्ण २ × २ = ४ उर्ध्वगा १ × २ = २
पाश्वर्क १६	पाश्वर्कांसंधिगत १ × २ = २	पाश्वर्कांसंधिगत १ × २ = २ बृहती १ × २ = २ उर्ध्वगा १ × २ = २ महोपरि रोमरजी के उभय बाहु में
पृष्ठ २४	बृहती १ × २ = २ उर्ध्वगा १ × २ = २ उदर २४	सुशुत्तवत् सुशुत्तवत् सुशुत्तवत्

स्थान तथा कुल संख्या	अवेद्य सिराएँ	स्थान तथा कुल संख्या अवेद्य सिराएँ
वक्ष ४०	हृदय २ स्तनमूल २ × २ = ४ स्तनरोहित २ × २ = ४ अपलाप २ × २ = ४ अपसंध १ × २ = २	सुशुत्तवत् सुशुत्तवत् सुशुत्तवत्
ग्रीवा ५६	मर्मसंशक १२ (मातृका, नीला मन्या) कुकाटिका = २ विष्टुर = २ कुल = १६	ग्रीवा = २४ नीला = ३ कुकाटिका = २ मन्या = २ विष्टुर = २ मातृका = ५ कुल = १६
नासा २४	हृनुसंधिगत २ स्त्रवह २ वातवह २ औयनासिक्षय ४ तालु १	हृनु १३ जिह्वा १६ नासा २४
नेत्र ३५	अपाण— १ × ३ = ३ इहत्पण ३६	नेत्र ५६
डिहण ३६	केशांतगा ४ आवर्त २ २ स्थपनी १ कुल ६	
नेत्र ३६	तालु १ अपाण— १ × ३ = ३ केशांतगा ४ आवर्त २ स्थपनी १ कुल ६	तालु १ नेत्र ५६
जिह्वा ३६	तालु १ अपाण— १ × ३ = ३ केशांतगा ४ आवर्त २ स्थपनी १ कुल ६	जिह्वा १६
वाली २	वाक्प्रवर्तिनी २ गंधवेदिनी २	वाली २
किया- वाली २	तालु १ उमेषकिया- समधिगत २ स्त्रवेदिनी २	तालु १ उमेषकिया- समधिगत २
अपाणगत २	केशांतगा ४ आवर्त २ स्थपनी १ कुल १३	अपाणगत २
केशांतगा ४	शब्दवाहिनी— १ × २ = २	केशांतगा ४
आवर्त २	शब्दवाहिनी— १ × २ = २	आवर्त २
स्थपनी १	कर्ण १०	स्थपनी १
कर्ण १०	शब्दवाहिनी— १ × २ = २	कर्ण १०
कर्ण १०	शाखासंधिगत २ उत्क्षेप २ सीमत ५ आधिपति १ कुल ८	कर्ण १०
शाखासंधिगत २	शाखासंधिगत २ उत्क्षेप २ सीमत ५ आधिपति १ कुल ८	शाखासंधिगत २
उत्क्षेप २ सीमत ५	शाखासंधिगत २ उत्क्षेप २ सीमत ५ आधिपति १ कुल ८	उत्क्षेप २ सीमत ५
आधिपति १ कुल ८	शाखासंधिगत २ उत्क्षेप २ सीमत ५ आधिपति १ कुल ८	आधिपति १ कुल ८
कुल अवेद्य सिराएँ १००	कुल अवेद्य सिराएँ १००	कुल अवेद्य सिराएँ १००

**सिरा व्याघ विशिष्ट**—सिरा व्याघ का अर्थ है सिरा को बीधना। सिराएँ स्वभावतः चंचल होती हैं, और पकड़ने का प्रयत्न करने पर मछलियों के समान फिसल जाती है, अपनी स्थिति बदलती है, जिससे यत्र ओर शस्त्र में से छूट जाती है। स्वतः कोई शिक्षण-द्युमिण नहीं होता—अतः प्रयत्न पूर्वक सिरा के विषय में नैपुण्य प्राप्त करना चाहिए।

सिराव्यधन विधि को पूर्वकर्मादि विषय के अनुसार वर्णन करने के पूर्व एक बात यहाँ गयी है। सिरावेष के लिए आज उत्तम उपयोग इंजेक्शन सिरिज द्वारा रक्त निकालना चाही है। ग्राथ में जो विधि कही गयी है, उसमें सिरा का प्राचीन काल में प्रत्यक्ष वेधन किया जाता था ऐसा स्पष्ट होता है। आजकल अत्यधिक अवस्था में प्रत्यक्ष वेधन किया सिरा न मिलने पर जिस तरह प्रत्यक्ष उद्देन (Direct cut) कर पाव में सिरा को (इंजेक्शन के लिए) पकड़ा जाता है, यह पद्धति कुछ प्राचीनों के सिरावेष से मिलती हुलती है। कुठारिका शस्त्र में ऊपर की तरफ में प्रथम भेदन किया जाना ही संभव है। जो यावादि प्रमाण में करने का निर्देश है। किंतु सिरा को पकड़कर ब्रीहिमुख से रक्त को सिरावेष किया जाता था। कुठारिका शस्त्र में ऊपर की तरफ योग्य पहले के जमाने में किया जाता था। कुठारिका शस्त्र में और शीत ऋतु में उणकाल (मध्याह्न) में खत्तमोक्षण करो। यदि आतुर अत्यधिक अवस्था में हो तो आसिरावेषनार्ह का तथा किसी भी काल में सिरावेष किया जा सकता है।<sup>६५</sup> बहुत ठंडी में सिरावेष करना हो तो आतुर को 'कुटीस्कद' या होलाक खद विधि से गरम कमरे में विठाकर, सिरा स्थान में ताप खेद कराकर खत्तमोक्षण कर सकते हैं। बहुत ठंडी में शीत भवन में—बायुवीजन के साथ सिराव्यध कर सकते हैं। इसी तरह तेज हवा में निवात स्थान में सिरावेष किया जा सकता है।

### ३. पूर्वकर्म—पूर्वकर्म में

१. सिराव्यधन योग्य आतुरों का विचार।
२. उपकरण सिद्धता।

### ३. आतुर सिद्धता। इन तीन क्रमों पर विचार करना चाहिए।

१. सिराव्यध योग्य आतुरों का विचार—खत्तत्रट्टुट सभी विकारों में सिरामोक्षण करना चाहिए। वायरट ने विशेषतः विसर्प, विद्युधि, ज्ञिहवृद्ध, गुल्म, अनिमाद्य, ज्वर, मुखरोग, नेत्ररोग, मद, रुग्णा, लवणास्यता (मुँह में नमकीन स्लाइट हना), कुण्ठ, वातरक्त, रक्तपिण्ड, कटु अप्लोडार और भ्रम इन विकारों को सिवावेदन के लिए योग्य कहा है। इसी तरह जो सोा-शीत, उच्च, स्निग्ध रक्षादि चिकित्सा करने पर भी शांत नहीं होते तभी रक्तलज समझकर उनमें सिराव्यध द्वारा रक्त निकालना चाहिए।

सिराव्यध के लिए अयोग्य—जो कमसीन हैं, बुढ़े हैं, अन्तर रक्त शरीर बाले हैं, शतकीण, डरपोक, श्रात, प्रवृत्तीत, छुब चलने के परिश्रम से थके हुए, व्यवाय के कृश, गर्भिणी, कास, श्वास, शोष, तीव्र ज्वर, आक्षेपक, प्रक्षाधात, उपवास पिपासित, मूँछादि से पीड़ित आतुर हैं—उनमें सिरावेष नहीं करना चाहिए। इसी तरह वेधन योग्य सिरा भी यदि वह दिखाई न देती हो, दिखाई देने पर भी योग्य प्रकार से नियंत्रित न की जाती हो,

सिरा वेधनार्थ काल—पहले कहा गया है कि जब अधिक ठंडी न हो, अधिक गरमी

न हो, तेज ठंडी हवा न चलती हो ऐसे मरम्य सिरा का व्यधन करना उचित होता है। अत्यंत ठंडी हो तो सिरा से खत्तत्रट्ट बराबर नहीं होता, अत्यधिक गरमी हो तो अतित्रट्ट, पित्तजन्य भ्रम, दाह, पूँछादि रोग संभव होते हैं, और तेज हवा के चलत डूँए सिरा का नियंत्रण ठीक तरह नहीं हो सकता।<sup>६६</sup> वर्षा ऋतु में निर्भ्र आकाश में, ग्रीष्म ऋतु में, शीत समय में और शीत ऋतु में उणकाल (मध्याह्न) में खत्तमोक्षण करो। यदि आतुर अत्यधिक अवस्था में हो तो आसिरावेषनार्ह का तथा किसी भी काल में सिरावेष किया जा सकता है।<sup>६७</sup> बहुत ठंडी में सिरावेष करना हो तो आतुर को 'कुटीस्कद' या होलाक खद विधि से गरम कमरे में विठाकर, सिरा स्थान में ताप खेद कराकर खत्तमोक्षण कर सकते हैं। एक बहुत गरमी में शीत भवन में—बायुवीजन के साथ सिराव्यध कर सकते हैं।

### २. उपकरण सिद्धता—सिरावेषन कर्म के लिए नियन्त्रित साधन सामग्री तैयार रखनी चाहिए।

१. कुठारिका शस्त्र—यह शस्त्र चौड़ा, गाय के दांत समान और मुखपर आधे क्षेत्र अचान्य लिंगोवेधादि के उपयोग किये जा सकते हैं। घटे उपाय आयुधितथा शरीर के स्थान के अनुकूल होने चाहिए इतना ही बहुत आयग है। इससे इंजेक्शन पूर्वक प्रत्यक्ष वेष्ठ करते हैं—और सफल चिकित्सा करते हैं ऐसा देखा जाता है।

२. ब्रीहिमुख शस्त्र—ब्रीहिमुख शस्त्र का फलक डैड अंगुल होता है। इसका उपयोग सिर एवं उदर के सिरा वेधनार्थ निर्दिष्ट है। यह विस्तारण के लिए उपयोगी है—वृत्ताय भाग को पकड़ कर इसका उपयोग कर।<sup>६९</sup>

३. क्रिक्कर्ट शस्त्र—इसमें ३ कुर्चिएं लगी होती हैं। कुर्चिका मूँई का नाम है। यह शस्त्र राजाओं, बालकों, भूरे लिंगों तथा मुकुमारों के लिए खत्तमोक्षण कर्म में उपयोगी है।<sup>७०</sup>

४. उपर्युक्त सभी शस्त्रों के बदले, १ सी. सी., १० सी. सी. या २० सी. सी. या ५० सी. सी. बाली सिरिंज का उपयोग करना हो तो स्क्लॉन्डनाक्रोधी औषधि (मोडियम साइट्रेट) को तैयार रखें। कांतपात्र, बिस्तुरी, आटो फॉर्सेप्स (Artery forceps), चाकू (Knife) कर्तरिकाएं, ग्वर ल्यूब, कनेक्शन ल्यूब, कोच की बरिनियां (रक्त संग्रहार्थ इत्यादि वस्तुएं) यथावस्थक उपयोगार्थ तैयार रखनी चाहिए।

५. कर्पस—कर्पस सुँद (Sterilised), एवं व्यवस्थित जमाया हुआ (Pads) तैयार रखना चाहिए।

६. पिचु ल्लोट (गोङ्ग पीस), स्सी बंधन (Bandages) पट्ट, कपड़ा यंत्रशाट्क (बल्कल, चमादि) इत्यादि अवधार नियंत्रण, खत्तमोक्षणोत्तर बंधनादि के लिए तैयार रखें।

७. जात्यादि तेल, जात्यादि धूत, सौराष्ट्री, चूर्ण, उड़बर सार, दधकर्म के लिए

८. शृंग, जलौंका, असलाङ्गु ये अनुशासन तंयार करें। सिराबेध न हो तो इनका उपयोग करने के लिए तथा सिराबेध के बाहर ऐसे तरीबों का विसरण करने के लिए इनका निर्देश है।

३. आदुर सिरबद्ध<sup>७३</sup>—सिराबेधन के पूर्व स्नेहन और स्लेदन करना चाहिए। स्नेहन बाह्य और आधार दोनों करना चाहिए। प्रायः तिक्तघृत, पचतिक्तघृत, गुण्डल, महातिक्तघृत, खट्टर, खट्टरादि, घृत, मै स्लेहमार्थ उत्तम है। स्वेहावान क्रम आधार दोषों के उल्लंघन के लिए आवश्यक होता है। यदि त्वचा पर पिडका, कंडू, विचर्विकादि विकार हो, तो बाह्य स्लेहमार्थ करत तैल, निषु तैल, मरिच्यादि तैल, वाकुयी तैल, तुवरक तैल इत्यादि का यथावश्यक उपयोग करें। अन्यथा केवल तिल तैल, क्षीरबला तैल, बदनबला लाक्षाति तैल आदि का अध्याय करना भी उचित है।

**स्वेदन के लिए—सार्वदैहिक दोष में जब त्वचापर अस्वेदनीय व्याधि न हो तब वापत्स्वेद करें। अन्यथा स्थानिक तापस्वेद वस्त-जल-बिट्ठका-हस्त द्वारा करें।**  
सिराबेधन कार्य का वेधन करना हो वहां पर स्थानिक स्नेहन स्वेदन है; किन्तु सिराबेध सर्वांग दोष में उपयोगी उपक्रम होने से केवल स्थानिक स्नेहन स्वेदन हवात नहीं है। बल्कि लापर लिखे हुए प्रकार से सार्वदैहिक कर्म करना चाहिए। दूसरी बात—सिराबेधन के समय स्थानिक स्नेहन नहीं करना चाहिए। इससे सिरा का यंत्रण ठीक तरह नहीं हो सकता। स्नेहन स्वेदन कर्म पूर्व दिन तक करना उचित है और वेधन समय केवल तापस्वेद करना चाहिए।

**भोजन—वैद्य आदुर को दब प्रधान भोजन देना चाहिए। यवागु का सेवन करावें।**  
भिराबेध के पूर्व भोजन (लयु) देना जरूरी है। अच्छा अल्पस्वल आदुर रक्तदर्शन से या रक्तगांध से मूच्छित हो जाते हैं। भोजन के बाद यथाकाल उसे योग्य आसन में बिठाकर या लिटकर, खड़ाकर, वस्त से, पट्ट से, चर्म से या बुक्षादि के अंतर्वल्कल से योग्य प्रकार से बाधकर सिरा उत्थापित कर वेधन करना चाहिए।

**प्रधान कर्म—प्रधान कर्म में निम्नलिखित कर्मों का समावेश होता है।**

१. सिराब्याधनार्थ आसन
२. रोगानुसार बेध सिराओं का विचार—रोगानुसार जिस सिरा का लेध करने के लिए शास्त्र में कहा गया है, उनका विवरण सुश्रृत तथा वारधट के पतातिसार—तालिका में स्पष्ट किया है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रायः विकृति जिस अधिष्ठान में है उस अधिष्ठान से आगे जाने वाली सिरा का ऊपर के भाग में व्याधन किया जाता है। जिससे दुष्ट दोषों का अन्दर विसर्पण रोका जा सके। उदाहरण—तालिका में क्रम १, २, ३, ४, ९३, १४, १५, २०, २१, २२, २५ इत्यादि से इस प्रकार की सिराएँ हैं जो अधिष्ठान के सानिध्य में हैं।

गद्दन को लम्पेरकर कापड़े के दोनों छोर युमाकर पीछे आवे। पीछे एक सहायक दोनों छोर को बाहरे लाभ में पद्याङ्कल खड़ा रहे। कैद इस्त्र सज्ज होने पर सहायक को दाढ़िते हाथ का छोर धीरे-धीरे करने को कहें—खट्ट के कसते हुए—वैद्य मूर्धस्थ सिरा का उत्थापन देखता रहे।

जब सिरा उत्थापित द्वौचर हो जाये तो शाख से उसका बेधन करें। रक्त का निर्हण ठीक हो इसलिए पीठ के मध्य में कपड़े को थोड़ा संकुचित कर ऊपर उठाकर रखें। व्याध भरकर बैठें। यह विधि सिरा के—आँचंतर मुखबाली सिराओं को छोड़कर अन्य सिराओं के बेध के लिए है।

२. पाद सिराबेधन<sup>७४</sup>—पैर को सिरा बीधता हो तब रोगी के पांब समान स्थान पर व्यावस्थित रूप से रख दें। दूसरे पाव को थोड़ा संकुचित कर ऊपर उठाकर रखें। व्याध पांब के घुटने के मीचे यंत्रण शाटक बाँध दें। हाथ से गल्पक्षान में धीरे-धीरे पांडन करें, अथवा गुल्फ के ऊपर जहां बेधन करना हो—बहां प्लोत (वस्त्र), चमड़ा आदि से बांधकर उत्थापित सिरा के बेध करें।

३. हस्तसिरा बेधन<sup>७५</sup>—हाथ की सिरा बीधता हो तब अंगूठे को मुठ्ठी के अंदर दबा कर उच्छी तरह आसन पर दिठानकर कूपर के पास बरक्ष से बांधकर उत्थापित सिरा दबा कर देखन करें।

४. अस्त्रत्र<sup>७६</sup>—दोनों हाथों को लंबा लटकवा कर पाईर में सिराबेध करें। श्रेणी और स्कंध के सिराबेध के लिए पीठ को छुका कर बिठाकर सिराबेध करें। गृहस्ती और विश्वाची में—युटों और कोहनी को संकुचित कर सिरा का बेधन करें। पेट और छाती में सिराबेध करना हो तब शिर को ऊचा कर छाती और मध्य शरीर को फैलाकर सिरा दिखाई देने पर बेधन करें। मेहू में मेहू को बिना झुकाये सिराबेध करें। चिह्नों में जिह्वा को दबाकर नीचे सिराबेध करें। तातु और दत की सिरा बेध में मुख को खोलकर सिराबेध करें।

सामान्यतः जहाँ की सिरा बीधता हो वहाँ स्थान के ऊपर यंत्रशतक बांध कर सिरा को हल्तागुलियों में ताड़न कर जब स्पष्ट दिखाई दे तब कुठारिका लगावें और कुठारिका द्वारा भिन्न सिरा में आवश्यक हो तो बीहिमुख या अन्य शस्त्र लगाकर रक्त को बहावें। मासल स्थान में १ यव प्रमाण का बेध करें, अस्त्र आशा यव. प्रमाण में व्याध करें। अथवा बीहिमुख प्रमाण का बेध करें। अस्त्र के ऊपर सिरा हो तो कुठारिका से आशा यव प्रमाण में बेध करें।

२. रोगानुसार बेध सिराओं का विचार—रोगानुसार जिस सिरा का लेध करने के लिए शास्त्र में कहा गया है, उनका विवरण सुश्रृत तथा वारधट के पतातिसार—तालिका में स्पष्ट किया है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रायः विकृति जिस अधिष्ठान में है उस अधिष्ठान से आगे जाने वाली सिरा का ऊपर के भाग में व्याधन किया जाता है। जिससे दुष्ट दोषों का अन्दर विसर्पण रोका जा सके। उदाहरण—तालिका में क्रम १, २, ३, ४, ९३, १४, १५, २०, २१, २२, २५ इत्यादि से इस प्रकार की सिराएँ हैं जो अधिष्ठान के लिए प्रयुक्त मजबूत वस्त्र पट्ट) लपेट लेवें। यह वस्त्र इस तरह लपेट कि मुहिया और

तथापि कुछ ऐसी सिराओं का व्यधन करने का उल्लेख भी मिलता है, जिनमें रोगानुसार कारण कार्य भाव संबंध दिखाना संभव नहीं है—अथवा अब तक प्राप्त ज्ञान नहीं है। हो सकता है इस पर आगे कुछ मालूमत मिल सके। उदाहरण—तालिका में निर्दिष्ट क्रम ६-गलांड में उल्मूल की सिरा का व्यधन, क्रम ७-ल्लीहरोग में वामकूपर की सिरा का व्यधन, क्रम ८-यकृतरोग में दक्षिणकूपर सिरा का व्यधन, क्रम ५-अपची में इन्द्रस्ति मर्म के दो अंगुल नीचे सिरा व्यधन। शिरःशूल, शिरोग, ग्रांथ, पिङ्गा, वातरक्त, गृष्मी शूल, इत्यादि रोगों में देखा जाता है कि सिराबेध से तुरन्त रोगप्रशम मिलता है।

वाभट ने कहा है कि जो सिरा जिस रोग में व्यधन करने के लिए कहा गया है यदि वह दिखाई न दे यंत्रित न हो तो उसके समीप में—जो मर्म को लगा हुई न हो ऐसी अन्य का व्यधन करना चाहिए।<sup>१५</sup>

### रोगानुसार सिराबेध तालिका<sup>१०</sup>

क्र.	रोग नाम	मुश्तुत-बेध सिरा	वाभट बेध सिरा
१.	पाददाह, हृष्ट, अबबाहुक	क्षिप्र मर्म के ऊपर विच्छिन्न, बिसर्प, वातरक्त, दो अंगुले पर वात कंटक	विच्छिन्न, बिसर्प मर्म के ऊपर वातरक्त, अबबाहुक
२.	क्रोष्टुक शीर्ष खंज,	जंघा में गुल्फ के ऊपर पगु वातवेदना	सुक्ष्मतवत् जार अंगुल पर
३.	गृष्मसी में	जानुसंधि के ऊपर या नीचे ४-अंगुल पर सिराबेध करें	सविथशूल तथा क्रोष्टुक शीर्ष में गुल्फ के ऊपर ४-अंगुल पर सिराव्यधन
४.	विश्वाची	कूर्मी संधि के ऊपर या ऊपर चार अंगुलपर बस्ति मर्म के दो अंगुल नीचे (जंघा में)	तद्दृत
५.	गलगड	उल्मूल में रहनेवाली सिरा उरुणा शिरा का बेधन की सिरा और कनिष्ठिका और अनामिका के बीच में स्थित सिरा यकृदाल्युद, कफोदर कास, श्वास	—
६.	ल्लीहा रोग	बासबाहु में कूर्मी संधि की सिरा और अथवा कनिष्ठिका और अनामिका के बीच की सिरा	—

यकृदाल्युद, कफोदर कास, श्वास

पास या दक्षिण अनामिका और कनिष्ठिका अंगुली के बीच की सिरा

क्र.	रोग नाम	मुश्तुत-बेध सिरा	वाभट बेध सिरा
६.	प्रवाहिका, शूल	श्रोणि के पास दो अंगुल की सिरा	सुक्ष्मतवत्
१०.	परिकर्तिक, उपदर्शा, शुक्रदेष, शुक्ररोग	मेद्रस्तित सिरा	शुक्ररोग और मेद्ररोग में मद्रसिरा
११.	मूत्रवृद्धि	वृषण के पीछे की सिरा	—
१२.	जलोदर	वानमाश्वर्म में नीचे चार अंगुल पर	सुक्ष्मतवत्
१३.	अंतविद्रधि, पार्श्वशूल	पार्श्व, कक्षा तथा स्तनों के बीच की सिरा	—
१४.	बहु शोष अबबाहुक	दोनों अंस के बीच में हल्लेवाली सिरा	—
१५.	तुरीयक ज्वर	त्रिक संधि के बीच की सिरा	दोनों अंस के बीच में हल्लेवाली सिरा
१६.	चतुर्थक ज्वर	एक पार्श्व में स्थित सिरा हल्लुसंधि के मध्य की सिरा	सुक्ष्मतवत्
१७.	अपसार	हल्लु में कहाँ भी, अथवा झूँझू के मध्य भाग की सिरा	उर, अपांग तथा ललाट की सिरा
१८.	उमाद	शंख और केशान के बीच में, उरप्रदेश में ललाट प्रदेश में या अपांग की सिरा	—
१९.	मुखरोग	जिहा के नीचे की सिरा	जिहा, ओष्ठ, हल्लु तालु की जाने वाली सिरा —(अथवा उपर्युक्त) कण्ठासिरा का बेधन तद्दृत
२०.	जिहा-रोग तथा दंत-रोग	तालुरोग कोन में ऊपर की सिरा	—
२१.	तालुरोग	तालुरोग सिरा	जिहा, ओष्ठ, हल्लु तालु की जाने वाली सिरा —(अथवा उपर्युक्त)
२२.	कण्ठरोग	कण्ठरोग नासाप्र की सिरा	कण्ठासिरा का बेधन तद्दृत
२३.	नासारोग, या गंधग्रहण	नासाप्र की सिरा	—
२४.	पीनस	—	नासा और ललाट के बीच में
२५.	तिम्पर, अक्षिपाक,	नासा के समीप (उपनासिका सिरा) की सिरा	ललाट या अपांग की या उपनासिका सिरा
२६.	इत्यादि	ललाट की सिरा अपांग की सिरा	ग्रीवा, कान, शंख और शिताश्रित सिरा

उपर्युक्त तालिका में जो विवरण है—उससे स्पष्ट है कि सुश्रृत और वार्षट में बहुत अधिक मतानुरूप है। वार्षट ने “गृद्धस्यामिक विश्वाच्याम्” ऐसा कहकर गृद्धसी के समान विश्वाची में कोरे ऐसा कहा है। इससे गृद्धसी रोग में जातु के ऊपर या नीचे सिर बेघ करने को कहा है। उसी तरह विश्वाची में भी जातु के पास ही करना चाहिए। ऐसा कुछ लोग कहते हैं। अरुणदत्त ने भी इसकी टीका में गृद्धसी में जातु के नीचे सिरबेघ किया जाता है वैसे ही विश्वाची में कोरे ऐसा कहा है। तथापि गृद्धसी में कटि-पृष्ठ में शूल रहता है और विश्वाची में अस भी। अतएव कूपर में करना उचित है। सुश्रृत ने अवबाहक में एक जगह क्षिप्रमर्म के ऊपर दो अंगुल पर सिरबेघ कहा है (क्रम १) और बाहुशाश्वर क्रम १ में—अवबाहक में (क्रम १४), अन्यद दोनों अंगुल के बीच में सिरबेघ करने को कहा है। वहाँ मुखरोग के तताद्रृप्रकार में—जिह्वारोग में ओष्णा, हुरोग में हुरोगत तथा तालुरोग में तालुरोग सिरा का बेघ करने को कहा है। इसी तरह तिमिर और अक्षिरोग में उपनासिका तथा अपांग की सिरा, और शिरारोग में सुमुद्रेका भस्म और लाक्षा चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर लेप कर क्षैम बनाकर मधु के साथ वस्त्रादि से कप्सकर बंधन बांध दे।

३. **सिराव्यवधन में निरिक्षण—सिरा का सप्तकृपकार से व्यथन किया जाने पर उच्च रक्तसाक्त को बहाना चाहिए।** सिरा का बेघन होनेपर रक्त स्वयं प्रवृत होता है। जिस तरह कुमुंभपुष्प (कारड के फूल) में छेद करने से प्रथम पीला रोग का दब बाहर निकलता है। उसी तरह सिरबेघन करने पर प्रथम दृष्ट रक्त का स्वाव होता है।<sup>१३</sup> वरचुतः सिरबेघ के बाद द्रवानुसारी रसरक्त धातु नियमनुसार (द्रवल-स्मरक) प्रवाहित होता है—यदि शरीर में सम्यक स्नेहपान किया गया हो, उत्तलेश बराबर हुआ हो, स्नेह स्वेद से दोष रसरक्त में खुल जाये तो रसरक्त के साथ उनका निहंश होगा। सिरा से रसरक्त के निर्गमन होते समय साक्षात् नासे निरिक्षण करने का व्यथन किया जाने पर ध्यान रखना चाहिए।

४. **सप्तकृ-असप्तकृ और अतिव्याकृ के लक्षणों का निरीक्षण करते हैं और योग चिकित्सा करते।** सप्तकृ विद्व मिरा में रक्त का स्वयं स्वाव होता है, और कुछ समय के बाद स्वयं बद होता है।<sup>१४</sup> शरीर का हल्कापन, वेदना का प्रशम, व्याधि लक्षणों का प्रशम, और मन की प्रसन्नता ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।<sup>१५</sup> यदि रक्त का स्वाव ठीक न हो—असप्तकृकृत्यवित रक्त में—शेष दोष शोथ, दाह, रण और पाक ये लक्षण उत्पन्न करते हैं।<sup>१६</sup> यदि अत्यंत उत्काल हो, या अधिक स्वेद कर दिया जाए, या अतिव्याकृशरख से जोर से चोट कर दी जाये तो अतिव्याकृत उत्पन्न होते हैं। इसमें शिरोभितप (शिर में दाह या पीड़), आँख, अधिमध्य, तिमिर, धातुक्षय, आक्षेपक, दाह पक्षयाधात, एकागरा, विक्षा, श्वास, कास, पांडु अश्वा मरण ये लक्षण होते हैं।<sup>१७</sup>

यदिरोगी भयभीत हो, यंत्र शिथिल होने के कारण सिरा का उत्थापन ठीक न हो, शर धारदार न हो, आतुर ने अत्यधिक भोजन पान किया हो, आतुर डुबल हो, संजात वेगों को उसने गेक दिया हो, स्वेदन ठीक न किया गया हो, उसी तरह मट, मूँझा, श्रम, निद्रा से आतुरपीड़ित हो तो सम्यक बेघन करने पर भी तंतसाक्त ठीकप्रकार से नहीं होता।<sup>१८</sup> अतएव सिरबेघ करते समय उपर्युक्त विषयों का ध्यान रखकर उनका परिहार करना चाहिए।

**उपचार—**इस तरह यदि रक्तसाक्त न हो तो इलायची, कपरु, कूठ, तार, देवतारु, वायविंदा, चित्रकटु, आगर धूम (रसोई घर का धुआ) हल्दी, अर्क के अंकुर, बड़ा करंज, इनमें से जो प्राप्त होवे वे सब या कोई—तीन चार या सब (यदि मिले) औषधियों का चूर्ण करके सेवध लवण और तिल तेल में अच्छी तरह मिलाकर त्रय के मुख्यपर इनको रागें। इससे अप्रबृत रक्त स्वित होता है।<sup>१९</sup> उपर्युक्त द्रव्य प्रायः उष्ण, विषंदी और विलयन-प्रसारण करने वाले हैं—इनका उपयोग रक्तवाहिनी के मुख का विस्तार (Vaso dilator) करने के लिए तथा रक्तसाक्तद विरोधी के तौर पर सुखित होता है।

यदि रक्त की अति प्रवृत्ति हो तो उसे गोकने के लिए उपाय करें—

१. लोध, यष्टिमधु, प्रियंगु, पत्ता, मैत्रिक, सर्जरस (गल), सांजन, शालमली पुष्ट,

शेख, शुक्रित (सींद) पाष, जव, गंगू इनके वृक्ष को व्रणमुख मुख पर लगाकर अंगुली से दबा दे।

२. साल, सर्जरस, अर्जुन, असिमेद, मेडासिंगी, धब, दालचिनी इनकी छाल का चूर्ण बनाकर मधु के साथ वस्त्रादि से कप्सकर बंधन बांध दे।

३. या सुमुद्रेका का भस्म और लाक्षा चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर लेप कर क्षैम उपयोग करें।

४. शीतल भोजन, शीतल आच्छादन, शीत परिशेक, शीत गृह, शीत प्रदेहों का उपयोग करें।

५. शार अथवा अग्नि से जलावे।

६. काकोल्यादिगण के वक्वाश को मधु और शक्कर मिलाकर पिलावें।

७. हरिण, वराह, शश, महिष (भैंस) इनका रक्त पिलावें।

८. दूध, मूँग या यूष और मांसरस पिलावें। शिरोरोगादि उपद्रव उत्पन्न होते यथायोग्य उपाय करं।

रक्त को जल्दी से बंद करने के लिए अप्रकार के उपाये कहे गये हैं।

१. संधानन

२. स्कंदन

३. दहन

४. दहन-शब्द के तौरपर (Terms) महत्व है—अतएव सुश्रृत ने इनका पुनः ध्यास निर्देश किया है।

५. संधान—क्षणय रसस्युक्त द्रव्यों के उपयोग से संधान किया जाता है। लोध, प्रियंगु, गैरिकादि का प्रयोग, संधानार्थ होता है। चारक ने यष्टिमधु, पाठा, समगा, मोचरस, धाय, कटपल, लोध, प्रियंगु, इनको संघनीय कहा है। इसी तरह यष्टिमधु, मधु, रुधिर, मोचरस, मुक्तपाल (खर्पर) लोध, गैरिक, प्रियंगु, शर्करा, लाजा इनको शोणित स्थापन गण में निर्दिष्ट किया है। इन द्रव्यों का उपयोग संधानार्थ करें। जहां पर रक्त का स्कंदन न होता हो वहां पर संधान द्रव्यों का प्रयोग करें।

६. स्कंदन—रक्त को जमाने का उपाय स्कंदन कहलाता है। इसके लिए शीत द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। शीत जलपरिशेक, बर्फ का टुकड़ा ब्रणपर रखना, च्यग्रोधादि गण के क्षणय का शीत परिशेक व्रणात रक्तसाक्त के स्कंदन के लिए करना चाहिए।

७. पाचन—भस्म और क्षार का प्रयोग पाचनार्थ किया जाता है। जिसका रक्तसाक्त संधान और स्कंदन करने पर भी बद नहीं होता उसे पाचन चिकित्सा करनी चाहिए।

उपर्योग से स्नाव रुक्तता न हो, उसके लिए दधकर्म करना चाहिए। वह सिरा का संकोच करता है। और उपर्युक्त सभी तरह करे। यह पद्धति आद्विनिक विस्तृत में कोट्राइज़ोशन (contrariation) नाम से प्रसिद्ध है। इससे तुरन्त रक्तस्नाव बढ़ जाता है। ये चारों कर्म उत्तरोत्तर करना चाहिए।

२. रक्तस्नाव मैनियम—रक्तस्नाव करते हुए वैद्यनिम्नलिखित नियमों का पालन करें।

१. रक्त की संपूर्ण तुष्टि निकल जाने तक स्नाव न करें। उसे सशेष-दोष रखना चाहिए।<sup>१०</sup> व्यक्तिगत दोषों को अवशिष्ट रखने से उतना व्याधिभय नहीं है, जितना अति प्रवृत्ति से होता है।

२. शेष दोषों का जलौका, शूण्य, या अलाजु से निर्हण करना चाहिए।

३. अथवा शेष दोषों की शमन चिकित्सा करनी चाहिए।

४. आतुरबल, गोगबल, तथा आशय जौ देखकर नाधिर को बढ़ावे। आशय का अर्थ सिरा का स्थान है। कूपर, गुल्फ की सिराएं पर्याप्त रक्तसुस्ति करती हैं। किंतु—लालाट, नासा इत्यादि स्थान में अल्प रक्तस्नाव होता है।

५. साव्य रक्त का अधिक से अधिक प्रमाण १ प्रस्थ तक का है—इससे अधिक रुक्त न निकाले। रक्तमोक्षण का प्रस्थ १३। १ पल (५४ नोला) का होता है। इहण ने उत्तम मात्रा १ प्रस्थ, मध्यम मात्रा आधी प्रस्थ और हीनमात्रा एक कुड़वा (३ पल ८ माप = १३ तोला) बताकर यह मात्रा दो दिन में रक्त स्नाव में लेनी चाहिए। ऐसा कहा है न कि एक दिन में उसी समय लेनी चाहिए।<sup>११</sup>

६. दुष्ट विद्ध सिराओं का निरीक्षण—जिस वैद्य को शस्त्रकर्म का साहंत जान और अनुभव नहीं है, उसके द्वारा सिराबेश किया जाने पर अनेक व्यापद उत्पन्न होते हैं। सिरा सम्पूर्ण विद्ध नहीं होती—ऐसे दुष्ट विद्ध सिरा को दुर्विद्ध सिरा कहते हैं। बेधन की दुष्टियाँ अथवा दुर्विद्ध सिराएं २० प्रकार की होती हैं। ये प्रकार दुर्विद्ध, अतिविद्ध, कुचिता पिक्किता, कुहिता, अप्रसुता, अत्युदीर्णा, अंतेविद्ध परिशुद्धका वेपिता, क्षणिता, अनुस्थित विद्ध, शस्त्रहता, तिव्यग्विद्धा, अपविद्धा, अल्पविद्धा, विडुता, धेनुका, पुनःपुनः विद्ध सिरानाव्याख्या—पर्मधिविद्धा—नामक कही गयी है।<sup>१२</sup> इनके लक्षण इस प्रकार के हैं।

७. दुर्विद्ध सिरा<sup>१३</sup>—बहुत सूक्ष्म शाख से जिसका व्यधन किया हो, जो रक्त को बराबर न बहाती हो, जिसमें शोथ और रुदा उत्पन्न होती है उसे दुर्विद्ध सिरा कहते हैं।

८. अतिविद्ध<sup>१४</sup>—प्रमाण से ज्यादा घोट करने पर, अधिक बेश करने से अतिसावी जिसका रक्त अंदर भी सवितर होता है (internal hemorrhaging) उसे अतिविद्ध कहते हैं।

९. कुंचिता<sup>१५</sup>—अतिविद्ध के समान लक्षण कुंचिता में होते हैं, इसमें सिरा टेंडी होती है—उसे कुटिटा-कुंचिता कहते हैं।

१०. पिचिता<sup>१६</sup>—शाख में धारन होने पर सिराएं पैलत कर चिपट जाती हैं—उसे पिचिता कहते हैं।

११. कुहिता<sup>१७</sup>—जल्दी न मिलने पर जिसे बार बार शास्त्र से ताङन किया हो उसे कुहिता

कहते हैं।

६. अप्रसूता<sup>१८</sup>—ठंडी से, भीति से, मूर्छादि कारणों से जिसमें रक्त स्नाव न हुआ हो वह अप्रसूता कहलाती है।

७. अत्युदीर्णा<sup>१९</sup>—बड़े मुख्याले तीक्ष्णशास्त्र से जो बींधी गयी हो उसे अत्युदीर्णा कहते हैं—यह भी रक्त को अधिक बहाती है।

८. अंतेविद्ध<sup>२०</sup>—जो किनारे में बींधी गयी हो और अल्प रक्त को स्वावित करती हो उसे अंतेविद्ध कहते हैं।

९. परिशुद्धका<sup>२१</sup>—रक्तस्नाय के कारण प्रकृपित वात से जो सूख गई हो उसे परिशुद्धका कहते हैं।

१०. क्लॉणिता<sup>२२</sup>—सिरा के चौथाई भाग में ही शस्त्र प्रवेश हुआ हो तो अल्प रक्तस्नायित होता है उसे क्लॉणिता कहते हैं।

११. ब्रैटिता<sup>२३</sup>—ब्रैथन ठीक जाह न बांधने पर जो सिरा कंपित होती है उसे ब्रैपिता कहते हैं। इसमें रक्तस्नाव नहीं होता।

१२. अनुस्थित विद्ध<sup>२४</sup>—इसमें भी सिरा ठीक उठाई न जाने के कारण बराबर स्नाव नहीं होता।

१३. शास्त्रहता<sup>२५</sup>—अधिक छेदन से अधिक रक्त निकल जाने के कारण जो चेष्टा

प्रवृत्ति का अवरोध करती है उसे शास्त्रहता कहते हैं।

१४. तिर्यक विद्ध<sup>२६</sup>—शस्त्र के तिरछे लग जाने पर जो सिरा कटने से बच गयी हो उसे तिर्यक विद्ध कहते हैं।

१५. अपाविद्ध<sup>२७</sup>—अधिक जगह घोट लगने के कारण तथा खराब शास्त्र से चोट करने पर जो अलग स्थान में क्षतयुक्त होती है उसे अपाविद्ध कहते हैं।

१६. अव्यव्यद्धा<sup>२८</sup>—शस्त्रकर्म के लिए जिसे अयोग्य कहा है, उसका व्यथ करने से अव्यथा-विद्ध सिरा दोष उत्पन्न होता है।

१७. विडुता<sup>२९</sup>—चलायामन सिरा के विद्ध होने पर विडुता कहते हैं।

१८. बेनुका<sup>३०</sup>—बहुत कमकर यंत्रण शीटक बांधने से व्यधन स्थान के ऊपर ही क्षत होने से पुनः पुनः रक्तस्नाव होता है उसे बेनुका कहते हैं।

१९. पुनः पुनः विद्ध<sup>३१</sup>—सूक्ष्मशास्त्र से जिसको अनेक बार विद्ध किया गया हो उसे पुनः पुनः विद्ध कहते हैं।

२०. सिरानाव्याख्या सर्वसुविद्ध<sup>३२</sup>—सिरा, सायु, अस्थि, संधि, मर्म इन स्थानों में विद्ध होने पर रुदा, बैकल्प तथा भारण उत्पन्न हो सकता है।

इस तरह सिरा के दुष्ट व्यथ २० प्रकार के हैं। इनमें प्रायः रक्त की अप्रवृत्ति, अतिप्रवृत्ति उपर्युक्ति (आम्ब्यतर स्नाव), तथा सिरा अववयव का वैगुण्य ये प्रमुख लक्षण हैं। इनका बेधनकर्म में बराबर निरीक्षण कर समयोचित चिकित्सा करनी चाहिए। अति रक्तस्नाव में रक्त को रोकने के लिए, अल्पस्नाव में स्वावित करने के लिए तथा रुदा, शोथ, बैकल्प, वैगुण्कर्म तथा व्याधिभर चिकित्सा करें।

उपर्युक्त प्रकार से डूष्टव्याधि आधुनिक उपकरणों की महायता से याले जा सकते हैं। इंजेक्शन की सिर्जी में लगी हुई मूद्दे—सिरा में मूक्षम छिड़ करती है, सिर्जी में यथावशक रक्त निकला जा सकता है, और अंत में सुलभतया बद किया जा सकता है। अतएव यह पद्धति प्रशस्त है। यदि अभ्यस्त उपचारक न हो तो इसमें भी जल्दी सिरा न मिलना, सिरा के दोनों भिन्नियों से मूद्दे पार निकल जाना, अनेक जगह ज्ञात होता, हस्तकंप से सिरा मूद्दे में से फिसल जाना, पीछे लेते समय थाए में क्षत करना इत्यादि दोष उत्पन्न होते हैं, लेकिन वे बहुत अधिक भयकारक नहीं हैं। ये सभी व्यापद में अज्ञान और अनुचारस चे ही हेतु होते हैं।<sup>११३</sup> अतएव वैद्य को चाहिए कि वह निपुण उपचारक को तैयार करें।

### पश्चात्कर्म—सिराव्याधन के लाद नीचे लिखे हुए अनुसार पश्चात्कर्मों का ध्यान रखना चाहिए।

१. उपद्रवों की चिकित्सा: २. परिहार्य विषय ३. शमनोक्षणीय चिकित्सा

१. उपद्रवों की चिकित्सा—सिरा व्याधन में अति रक्तस्राव, अस्ताव, अल्प-स्राव तथा सिरा की डूष्टविद्धताएं ऐसे उपद्रव होते हैं—इनका वर्णन और चिकित्सा प्रधानकर्म के साथ ही बताए गये हैं। क्षेपोक्त ये उपद्रव उसी समय उत्पन्न होते हैं। तथापि इन उपद्रवों से चिरकाल के लिए अन्य व्याधियां भी उत्पन्न हो सकती हैं। इनकी चिकित्सा करनी चाहिए। यदि रक्त का बहुत अधिक क्षय हो जाये तो अम्लसेवन में इच्छा, शीत पदार्थों के सेवन में रोचि, सिरा का शैथिल्य शरीर की रक्षणा ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। लवचा मूलन परुष और स्फुटित हो जाती है।<sup>११४</sup> सिरा शैथिल्य की परीक्षा करने की पद्धति यह है कि—सामान्यतः हाथ जब नीचे की ओर लटका देते हैं तब मणिकंध के नीचे सिरा भी हुई और नेत्रास्पद मिलती है—अब हाथ को ऊपर कर दिया जाए तो सिरा का रक्ताल्पता होने से सिरा द्विष्टिकर नहीं होगी। जब सिरा गायब होगी—तब हाथ पुनः नीचे लायें, रक्त की प्राकृतावस्था हो तो तुरंत सिरा का पूरण होकर वह द्विष्टिकर होगा। यदि रक्तक्षय होगा तो जल्दी से पूरण न होने से वह द्विष्टिकर नहीं होगी। इसी तरह सिरा के साथ रक्तस्राव भी होता है जिससे समक्षय के लक्षण मिलेंगे। इनके अल्पधिक क्षय से—पांडु, कामतान, मूर्ढ्छा, पश्चाधातादि पीछे कहे हुए विकार उत्पन्न हो तो उनकी चिकित्सा करनी चाहिए। सामान्यतः तीव्र शूल हो तो निद्रेय सस ३ रत्ती-२ या ३ बार (२४ घंटे में) देना चाहिए। तथा जहरमोहरापिणी, सुखर्ण मूतशेष्वर, कामदुधारस, पुक्ता, प्रवाल, पचामृत हेमार्भ, शोणिताग्नि, तुणकात्मणि पिण्ठी, चंद्रकाला, रस, द्राक्षासर, उशीरसाव, लोधासाव, पक्कागासव, इत्यादि का यथायोग्य उपयोग करना प्रशस्त है। अल्पस्राव या अस्ताव में रक्तस्राव के उपाय तथा सिरा दृष्टि में लक्षणकर्म करना चाहिए।

२. परिहार्य विषय<sup>११५</sup>—रक्तस्रुति के बाद निम्नलिखित परिहार्य विषय नियमानुसार देयार दे और कर्तव्य कर्मों का सेवन करें।

- रक्तस्रुति के बाद अधिक ठंडा या अधिक गरम भोजन न ले।
- लघु—अनिदीपन आहार का सेवन करें। तक, यूष, यवागु, पेया, ईषदुअल या अनस्त, स्निध आहार दे। यह रक्तक्षयजन्य धातु क्षय में प्रकृपित वात के लिए प्रशस्त होता है।

३. रक्त प्रकोप के लिए धूत परिषेक करें, अथवा शीतजल का परिषेक करें।

४. अन्न का विशेषतः रक्षण करें।

५. रक्तवर्धक अव्यापन का सेवन करावें।

६. क्रोध, आयास, मैशुन, तिक्स्वप्र, व्याचाम, वाहनों की सवारी, बहुत अधिक अध्ययन, बहुत अधिक एक आसनपर बैठें रहना, बहुत शीत में धूमना, या शीतसेवन, धूप में धूमना विरुद्ध असात्म्य भोजन तथा अजीण में भोजन इन सब का एक महीने तक त्याग करना चाहिए।

३. शमनोक्षणीय चिकित्सा—जिस व्याधि के लिए रक्तमोक्षण किया गया हो, अन्यविशेष नोंद<sup>११६</sup> १. रक्तमोक्षण एक समाह में एकबार इस तरह ३-४ बार रक्तमोक्षण के बाद उसकी शमन विकित्सा यथाविधि करनी चाहिए।

किया जा सकता है।

२. यदि प्रथम शुष्क्ति ठीक न हो तो उसी दिन शाम को या दूसरे दिन रक्त का सावाण करावें और बहुत अशुष्क्ति शेष हो तो पुनः स्लेहन कराकर १५ दिन के बाद रक्तविशेषवाण करावें।

३. वय के अनुसार १६ वर्ष के नीचे और ७० वर्ष के ऊपर की उमरवालों में सिराव्याध नहीं करना चाहिए।

४. अधिक रक्तस्राव से भयंकर वातव्याधियां उत्पन्न होती हैं—इसलिए वातव्याधि में रक्तस्रावण करते समय विशेष ध्यान रखना चाहिए।

५. स्वस्थ व्यक्ति का सिरा मोक्षण नहीं करना चाहिए।

६. जिसका एक बार रक्तमोक्षण किया है—उसका उसी समय दुबारा सिराव्याध नहीं करना चाहिए।

३. प्रच्छान-द्विधि

प्रच्छान—नशतर या पांछेने को कहते हैं। इसी को ‘शास्त्रपद’ या ‘पद’ ऐसा भी पर्याय है। पिंडित यक्ति में—(जमे हुए रक्त में), पाछ्णा लगाकर उसका निर्झरण करना चाहिए। यह लवचा के स्तरीय उत्तान भाग का स्थानिक रक्तमोक्षण का उपाय है।

प्रधारिण—जहां प्रच्छान करना हो, उस लवचा के कुछ ऊपर रस्सी से या पट्टी से (Bandage) लाँच देवे और स्नानु, संधि, अस्थि, मर्म को छोड़कर पांछना लगावें।<sup>११७</sup>

प्रधारण—पांछों की छोटकर्तली रेखाएं नीचे से ऊपर प्रतिलोम करनी चाहिए। ऐ बहुत गहरी नहीं होनी चाहिए, न बहुत एक दूसरे के नजदीक हो और न तिरछी गति युक्त हो। एक स्थान में पांछना लगाने के बाद पुनः उसी स्थान में उसका प्रयोग उसी समय नहीं करना चाहिए।<sup>११८</sup>

शस्त्र—(पांछना) शीघ्र चलाना चाहिए। वह समांतर रखें, एक दूसरे से अलग रखें, न बहुत गंभीर न बहुत उत्तान और स्थानिक मर्म, सिरा, स्नायु, संधियों को छोड़कर (बचाकर) लगाना चाहिए।<sup>११९</sup> प्रच्छान यह लेखन कर्म है। जहां लवचा पर पिंडिका, मंडल, होता है।

ब्रणादि द्वारा उत्सेध हो, ब्रणमुखों को काटकर रक्त को बहाना हो वहां प्रच्छन लगाना चाहिए।

प्रच्छन का उपयोग शृंगावचारण, जलौकावचारण, तथा अलाङ्कावचारण एवं घटीयंत्र की विधि में 'पूर्वकर्म' के रूप में (सहायक रूप में) भी किया जाता है।

#### ४. शृंग-अवचारण-विधि

शृंग—गाय का सींग है। यह अवकाशयुक्त (खोखला) होने से इसका उपयोग दूषणार्थ कर रक्त निर्हरण में प्रयोग किया जाता है। शृंग उष्ण, मधुर, स्निध होने से वात द्वारा प्रदृष्ट रक्त के निर्हरण में प्रशस्त है।

**विधि—** शृंगावचारण के पूर्व रुणांग पर प्रच्छन लगाकर श्वत करें और कुछ रक्त बहा दें। फिर शृंग के मुखपर पतला कपड़ा रस्सी से बांध कर वह मुख क्षतस्थान में लगाकर आप के मुख से—वैद्य मुह से रक्त को चूस कर रक्त का निर्हरण करें।<sup>१०</sup> शृंग के मुखपर कपड़ा लगाने का हेतु यह है कि रोगी की लब्ध और सींग के किनारे इनके बीच में बायु का प्रवेश रोकना चाहिए। चूषण के लिए सींग के बीच में कुछ निर्वात स्थिति (Partial vacume) होना जरूरी है। मुख से बायु जीन्जे पर सींग में कुछ निर्वात बस्ति उत्पन्न होती है। ड़ह्ना ने टीका में कहा है कि पतले कपड़े की जाग कुछ लोग बस्ति अर्थात् मूत्राशय का भी उपयोग सींग के मुखपर बांधने का निर्देश करते हैं।<sup>११</sup>

शृंग की आकृति एवं प्रमाण का उल्लेख भासुकी तंत्र में से देते हुए ड़ह्ना ने कहा है—सींग बक्काकार और<sup>१२</sup> अंगुल लंबा होना चाहिए। इसके मूल भाग के छिद्र का प्रमाण अंगुल के आकार का और अग्र भाग में (जो मुख ब्रण पर लगाया जाता है) छिद्र मुख का प्रमाण मुंग के प्रवेश योग्य होना चाहिए। इस मुख की ओर मिठु (कपड़े का खड़) या पेशी (मांसपेशी का टुकड़ा) लगाकर इसका (उपर्युक्त प्रकार से) उपयोग करना चाहिए।<sup>१३</sup>

#### ५. अलाङ्कु-अवचारण विधि

एक लता का पत्ता है। अलाङ्कु की तुम्बी ऐसा भी पर्याय है। यह दो प्रकार का होता है—एक वह जिसका फल दीर्घ-लंबे आकार का होता है—उसे दीर्घालाङ्कु कहते हैं। दूसरा वह जो गोलाकार का होता है उसे बृतालाङ्कु कहते हैं।<sup>१४</sup> इसके अतिरिक्त ग्सभेद से भी अलाङ्कु दो प्रकार का होता है—एक मधुर रस युक्त होता है उसका शाकभाजी में प्रयोग होता है। दूसरा तिक्तरस युक्त—कड़वा होता है—इसका चारक ने वर्मनकर्म के लिए प्रयोग निर्दिष्ट किया है। पहले यह निर्देश किया गया है कि अलाङ्कु कट्ठ-रक्ष तोक्ष होने के कारण कफदृष्ट रक्त के निर्हरण में प्रयोग्य है। अतएव यह स्पष्ट है कि रक्तमोक्षार्थ मधुर अलाङ्कु का नहीं अधिकृत रक्त के निर्हरण में प्रयोग्य है। अतएव यह स्पष्ट है कि रक्तमोक्षार्थ मधुर अलाङ्कु हुक्त होता है जो कफवर्धक है तथापि मधुर अलाङ्कु का पित और वातदृष्ट रक्त में प्रयोग संभव है।

यहां युक्तिसांत और एक तर्क है कि अलाङ्कु में उसके मधुर तिक्तादि रसों की

अपेक्षा उसका आकार यही रक्तमोक्षण में प्रधान साधन है। अतएव दोनों का उपयोग अनुचित नहीं है। मावप्रकाश ने कहा है कि जलौका एक हाथ की दूरी का रक्त चूसकर निकाल सकती है, तुम्बी १२ अंगुल की दूरी का रक्त निकाल सकती है और प्रच्छन से एक अंगुल तक दूरी का रक्त निकाला जा सकता है तथा सिंग बेध सर्वां के रक्त को निकालता है।<sup>१५</sup> ड़ह्ना ने भासुकी तंत्र के सदर्भ से आठ अंगुल परिणाह का और चार अंगुल निकाला से संयुक्त अलाङ्कु का परिचय नीचे संक्षेप में दिया जाता है।<sup>१६</sup>

मधुर और तिक्त अलाङ्कु का परिचय नीचे संक्षेप में दिया जाता है।

**अलाङ्कु परिचय-तालिका**

क्रम	मधुर अलाङ्कु	तिक्त अलाङ्कु
------	--------------	---------------

#### १. नाम

लैटिन-Cucurbita Lagenaria  
कुकरविटा लेगनरिया

संयुक्त-अलाङ्कु तुम्बी  
हिंदी-लौकी, लौआ, कट्ट

बांगली-लाउ, कोदू  
मराठी-दूधी भोपला

गुजराती-दूधी  
अंग्रेजी-White Pumpkin

कन्नड-कर्ड उबल काई

तेलगू-नीय-तुरुवडी काया

#### २. सामान्य परिचय

इसकी लता भारत में सर्वत्र प्राप्य होती है। मधुर फल आकार में गोल और लंबा दो प्रकार का होता है—इसके पत्ते कुहुलों के पत्ते से सदृश दृश्य से होता है। इसके पत्ते कुहुलों के पत्ते से आकार के पत्ते कोणाकार या पांच आंखी होते हैं। फूल सपेद रोग के आते हैं।

#### ३. उपायकर्म

गुरु, सर, स्निध, वातपितशामक।  
बीर्य-शीत, रस-मधुर विपाक-मधुर

अलाङ्कु द्वारा रक्तमोक्षण प्रयोग—अलाङ्कु सफेद, कोमल, ताजा, जो न बहुत बड़ी हो न बहुत छोटा, साथारण दीर्घ वृत्त रक्तमोक्षण कर्म के लिए प्रशस्त होता है। ऐसे अलाङ्कु की मुख की ओर छेद कर आधारंतर मज्जा को निकाल कर उसे अवकाश दिया जाता है।

बनाया जाता है। इस खोखले अलालु का पात्र के सटुड़श या साथान सटुड़श के अब उपयोग हो सकता है। रक्तमोक्षणाह रोगी को पूर्वकर्मादि सब पूर्वोत्तर विधि से समझना चाहिए। अथवा स्नेहपान क्रम करना चाहिए। रुग्ण के जिस अंग से रक्तमोक्षण करना हो उस पर पहले पौछना लगाकर क्षत करें। अथवा कूचादि से या शस्त्र से थोड़ा छुरचकर (Scraping) क्षत करें। फिर अलालु लगाने की पद्धति यह है कि..... इसके अवकाश मुक्त भग्न में एक दीप रख दे (अंतर्दीप अलालु) और अलालु को मुख की ओर से क्षतस्थान पर रख दे। १२६ रुग्णे समय ऐसे रखे कि अलालु के किनारे और रुणांग की त्वचा इसमें हवा जाने का जरा भी अवकाश न रहे। यह विधि अत्यंत कैज़ानिक है। इस तरह तुंबी के अंदर जो हवा होगी इसमें से अक्सरिजन का भग्न (एक पंचमाश) जलन कर्म में नह रहे जाएँगा और दीप छुड़ जाएँगा। अब अलालु के अंदर कुछ निर्वात स्थिति उत्पन्न होगी— जिसके बाहर के बातवरण का दबाव और अंदर के बातवरण का दबाव इनके बीच विषमता उत्पन्न होगी। परिणामस्वरूप अलालु के अंदर इस दबाव को समान करने के लिए वह अकर्षण या चूषण करने लगता है—जिससे त्वचा के भीतरी भाग का रक्त चूसने के बाहर निकलने लगता है। यह विधि स्तरीय रक्त (Peripheral blood) को ही बहा सकती है, और रक्त, त्वचण विधि से (Oozing method) से अलालु की ओर खींचा जाता है। इसका उपयोग घटियंत्र के सटुड़श ही है—अतएव वारभट ने 'अलालु घटिका' ऐसा समाप्त किया है, तथायि अलालु और घटिका ये लेनी अलग प्रकार हैं। घटीयंत्र थारु से निर्माण कर इसका भी प्रदीप के साथ उपयोग किया जाता है। साधारणतः १० से १५ मिनिट तक अलालु को रुणांग पर रखकर उसे जोर से खींचकर निकाल लेवें। तत्पश्चात जात्यादि तैल, जात्यादि घृत, पद्मकादि तैल, या अच्यूपी कहे हुए दण्डोपचार औषधियों से ब्रणकर्म करें। यह विधि अधृनिकों के कपिंग-लास (Couping glass) के समान उपयोगी है। कोपिंग-लास—जो घटिक (bell) के आकार का होता है उसे त्वचापर रख दीप से निर्वात कर रक्तहरण किया जाता है। भालकी ने अलालु को काली मिट्टी से लेपकर आठ अंगुल परिणाह चार अंगुल लंबी नलिका से (अन्तभाग नलिका युक्त होता है। संयुक्त अलालु का उपयोग करने को कहा है।

#### ६. घटीयंत्र अथवा घटिका-प्रयोग १२७

घटिका, या घटीयंत्र यह भी उपर्युक्त कपिंग-लास के सटुड़श (Coupling glass) प्रयोग है। वारभट ने 'अलालु-घटिका' ऐसा समाप्त भी किया था अलग प्रयोग भी कहा है। 'युंज्यानालालुघटिका' तके पितेन द्विष्ठेत-तासमनल संयोगात ऐसा 'तासां' में अनेक वर्चन प्रयोग किया द्वै। तथा अकृपनत ने 'तासां अलालु' 'घटिकानांच' ऐसा अलग उल्लेख चकार से कर दिया है। इसके अतिरिक्त अद्यंत सम्बन्ध में इसका अलग वर्णन कर दिया है।

चरक ने इस प्रयोग का बहुत सुन्दर वर्णन गुल्म प्रकरण में दिया है। काठिन गुल्म का स्नेहन स्वेदन कर शिथिल होने पर उसका शास्त्रकर्म करने के लिए उसे सपूर्ण रूप से पकड़ने के लिए—मूल में सलान स्तर को (Adherent Surface) दूर करने के लिए इस विधि का प्रयोग निर्दिष्ट किया है।

यत्परिच्छ या घटिका यह लेटे आकार का थारु है। इस कुंभी या घड़े में बलव (तुण विशेष) अथवा कुंशों से दीपक जलावे, यह धृटी-गुल्म स्थान को कपड़े से बेष्टन कर दरावर रख दें। थोड़ी देर में गुल्म मूल से चलाया मान होकर घटी की ओर खींचा जाएगा। फिर घटी निकाल कर न-विमार्ग, अपनप एवं आदर्श इन शास्त्रों से गुल्म का यथायोग्य अंत्रादि अवयव को छोड़कर भेदन करे। विमार्ग वह शर्कू है जिसको मोर्ची लोग रेखा डालने के काम में उपयोग करते हैं। यह लकड़ी का लंबा गोल बना होता है। अजगप बकरी के पांव के मुद्दश शर्कू है—दोषों को बाहर निकालने के लिए—विलयन के लिए इसका उपयोग होता है। आदर्श-दर्पण है—कैंच के विकाने और तीक्ष्ण किनारों से गुल्म मूल को छेदने का काम किया जाता है। बृद्ध वारभट ने घटिका को यही विधि वर्णन की है। यह विधि यद्यपि गुल्म को मूल से अलग करने के लिए निर्दिष्ट की गयी है तथापि इसका मुख्य उद्देश रक्त तथा धारु से गुल्म को खींचना यह होने के कारण रक्त निर्हण के लिए भी इसका उपयोग मात्र समझा चाहिए।

आउभवी वैद्य आजकल रुग्णांश पर पांछना इत्यादि से क्षत करते हैं, और उस पर तोबे का पैसा (पहले तोबे का एक बड़े आकार का पैसा चलाता था जो ढब्लु पैसा नाम से लोगों में पहचाना जाता था—इसके अभाव में ताप्रवत्र का उपयोग करें) रखकर उस पर कपूर की टिकी जलाकर, एक ल्लास उल्टा कर रख देते हैं। थोड़ी देर के बाद इसको छोंचकर निकाला जाता है—जिसमें स्तरीय रक्त खींचा जाता है।

#### ७. सूचि अपदि साधनों द्वारा रक्तमोक्षण १२८

५. सूचि अपदि साधनों द्वारा रक्तमोक्षण के लिए १. शंग २. जलौका अलालु ३. प्रच्छान ४. सिराव्यधि संभवतः सूचि से प्रत्यक्ष बारबार क्षत निर्माण कर रक्त निकालना यह विधि इसमें कही गयी है। (८) पितज जिङ्काकंटक में सुश्रुत ने गोजी और शेफालिका के पत्तों से जीभ को घिसकर 'विधण' रक्तनिर्हणप्रयोग बताया है।

इस तरह रक्तमोक्षण के लिए १. शंग २. जलौका अलालु ३. प्रच्छान ४. सिराव्यधि ५. घटीयंत्र ६. सूचि और ७. विधण, इनका यथायोग प्रयोग करना चाहिए। रुजा, दाह, शूल, और तोद को तो जलौका से रक्त निकाले। सुसि, कंडु और चिमविमायन होते थंग और तुंबी से रक्त निकाले और एक जगह से दूसरे जगह फिरनेवाले रक्त दोष में सिराव्यधि अथवा तत्तद स्थान में प्रच्छान कर निकाले। यदि आतुर के शरीर में लानि हो तो रक्तमोक्षण न करें। इससे बातप्रकोप के कारण शोथ, स्तंभ, कप, सायुरेण, तिरोण, लतानि, संकोच, खंज पुंग आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

#### रक्तमोक्षण का कार्यानुकूल्य

रक्तमोक्षण कर्म की प्रशस्ति न केवल शस्त्र कर्म विद् सुश्रुत ने की है, प्रत्युत चरक और वारभट ने भी इस कर्म का विपुल प्रयोग और उपयोगिता बारबार निर्दिष्ट की है। 'रक्तं जीव इह विधिः' होने के कारण रक्त बिगड़ने पर 'जीवन' क्रम भी बिगड़ता है और अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। इन गोर्गों की व्यापकता इतना बड़ी है कि शरीर पर होनेवाली पिङ्का, च्यव्य, तिलकादि। (दिखें प. ५५६)

### सुश्रूतोक्त रेगानुसार कठिपय रक्तमोक्षण संदर्भ

वर्मनादि कर्मों में चरक के मानुसार सभी कर्मों का आवश्यिक संदर्भ हिया है। यहाँ

सुश्रूतानुसार रक्तमोक्षण के संदर्भ दिये जाते हैं क्योंकि इसमें सुश्रूत का प्राधान्य स्थीकार्य है।

क्र.	अधिकार	रक्तमोक्षण विषय	संदर्भ
१.	द्विष्णीय	व्रण में वेदना और शोफ प्रश्नम के लिए शृंग, जलौका और प्रच्छान से रक्तमोक्षण	सु. चि. १-२७, २८,
२.	वातव्याधि	सर्वांग वात में सिराव्यथा से रक्तमोक्षण	चि. ४-१९
३.	महावातव्याधि	वातशोणित में रक्तप्राबल्य में पुनः रक्तमोक्षण	चि. ५-६, १२
४.	महावातव्याधि	गुरुशसी, विश्वाचि, क्रौष्णक, शीर्ष पाददाह, पातहर्ष, अवबाहक, बाधिर्य, धमनी-गत वात में यथोक्त यथादेश फ्रिताव्यधन कुष्ठ में छः छः यास में एक बार रक्तमोक्षण करने का निर्देश	चि. ५-२३
५.	उदर	ल्पीहोदर में वामबाहु में कूपर में सिराव्यथा	चि. ८-४३
६.	विद्रधि	यकृहाल्लुदर में वामबाहु कूपर में कूपर सिरा का व्यथा वातज विद्रधि में रक्तमोक्षण	चि. १५-३
७.	विद्रधि	पितज विद्रधि में जलौकावचारण करकज विद्रधि में यथोहिष्ट शिराव्यधन	चि. १५-१६
८.	विद्रधि	मज्जागत विद्रधि में रक्तमोक्षण की श्रेष्ठता	चि. १६-६
९.	विद्रधि	पितज विद्रधि में रक्तमोक्षण	चि. १६-१२
१०.	विद्रधि	पितज विद्रधि में यथोहिष्ट शिराव्यधन	चि. १६-३४
११.	विद्रधि	सामान्य चिकित्सा में रक्तमोक्षण	चि. १६-३६
१२.	विद्रधि	सामान्य चिकित्सा में रक्तमोक्षण की श्रेष्ठता	चि. १७-१६
१३.	ग्रंथि-अर्जुदादि	पितज ग्रंथि में जलौकावचारण	चि. १८-८
१४.	ग्रंथि-अर्जुदादि	कफज ग्रंथि में रक्तमोक्षण	चि. १८-१२
१५.	ग्रंथि-अर्जुदादि	वातार्द में शृंग से रक्तमोक्षण	चि. १८-३१
१६.	ग्रंथि-अर्जुदादि	पितार्द में रक्तमोक्षण	चि. १८-३२
१७.	ग्रंथि-अर्जुदादि	कफजार्दुदादि में अलाङ्घ अवचारण	चि. १८-४३
१८.	ग्रंथि-अर्जुदादि	मेदोज अर्द्धद में रक्तमोक्षण	चि. १८-४३

क्र.	अधिकार	रक्तमोक्षण विषय	संदर्भ
१६.	ग्रंथि-अर्जुदादि	वातजगांड में रक्तमोक्षण	चि. १८-४६
२०.	ग्रंथि-अर्जुदादि	मेदोज गलांड यथोहिष्ट सिवा (उमसंधि) का रक्तमोक्षण	चि. १८-५२
२१.	वृद्धि उपदंश	रक्तजवृद्धि में जलौकावचारण	चि. १८-१०
२२.	वृद्धि उपदंश	ओंत्रवृद्धि में शंखोर्ध प्रदेश में कान के पीछे सेवनी की छोड़कर सिराव्यधन उपदंश में मेद्रोत्सराव्यधन	चि. १८-२४
२३.	वृद्धि उपदंश	रस्त्रीपद	चि. १८-२६
२४.	वृद्धि उपदंश	रस्त्रीपद	चि. १८-५२
२५.	वृद्धि उपदंश	वृद्धि उपदंश में गुल्फ के अंगुल ऊपर सिराव्यधन	चि. १८-५५
२६.	वृद्धि उपदंश	पितज रस्त्रीपद में गुल्फ के नीचे सिराव्यधन	चि. १८-५६
२७.	वृद्धि उपदंश	कफज रस्त्रीपद में अंगुठे के पास की सिरावेधन चिप में रक्तविवावण	चि. २०-१०
२८.	वृद्धि उपदंश	विदारिका में जलौकावचारण तथा प्रच्छन में रक्तमोक्षण	चि. २०-१४
२९.	वृद्धि उपदंश	पाददारि में सिराव्यधन इंद्रलुप में मूर्ध सिराव्यधन	चि. २०-१६
३०.	शुद्रोग	इंद्रलुप में प्रच्छन अरुषिका में रक्तमोक्षण	चि. २०-२४
३१.	शुद्रोग	तारुणक में सिराव्यधन चर्च्छ-यंग में सिराव्यधन	चि. २०-२७
३२.	शुद्रोग	वर्त्मीक में रक्तमोक्षण अष्टला जलौकावचारण	चि. २०-२६
३३.	शुद्रोग	अलंजी में जलौकावचारण संपूर्द पिड़का में जलौकावचारण	चि. २०-३३
३४.	शुद्रोग	संपूर्द पिड़का में जलौकावचारण अवमध्य में जलौकावचारण	चि. २१-१९
३५.	शुद्रोग	पित ओष्ठ प्रकोप ग्रंथि-अर्जुदादि औष्ठ प्रकोप में जलौकावचारण	चि. २२-६
३६.	शुद्रोग	मेदोज अर्द्धद में रक्तमोक्षण	चि. २२-८
३७.	शुद्रोग	शुद्रोग	चि. २१-७
३८.	शुद्रोग	शुद्रोग	चि. २१-८
३९.	शुद्रोग	शुद्रोग	चि. २१-९
४०.	शुद्रोग	मुखरोग	चि. २१-११

क्र.	अधिकार	रक्तमोक्षण विषय	संदर्भ
४१.	मुखरोग	शीतांदि में रक्तमोक्षण	चि. २२-१०
४२.	मुखरोग	दत्त पुण्युक्त में रक्तमोक्षण	चि. २२-१३
४३.	मुखरोग	दत्त वेष्टक में रक्तमोक्षण शैविर में रक्तमोक्षण	चि. २२-१४
४४.	मुखरोग	उपकुश में रक्तमोक्षण	चि. २२-१६
४५.	मुखरोग	पितज जिहा कंटक में गोजी शोफकालिका के पतों से घिसकर रक्तमोक्षण करें	चि. २२-१६
४६.	मुखरोग	साथ गोहिणी में रक्तमोक्षण	चि. २२-४४
४७.	मुखरोग	एकवृद्ध में रक्तमोक्षण	चि. २२-५६
४८.	मुखरोग	शोफ की सामान्य चिकित्सा में उपद्रवकित शोथ में सिराव्यधि	चि. २२-६५
४९.	नेत्ररोग	सिरोत्तात, सिराहर्ष, नेत्रपाक, अन्यतोवात, पूयालय,	चि. २३-११
५०.	नेत्ररोग चिकित्सित प्रविभागीय	वातविपर्यय, अधिमश, अधिष्ठान में सिराव्यधि करें	सु. उ. ८-८
५१.	पिताभिषंद प्रतिषेध	पिताभिषंद में रक्तमोक्षण	उ. १०-३
५२.	रक्तभिषंद प्रतिषेध	रक्तभिष्यद में पुराणाघृत पिलाकर सिराव्यधि करें	उ. १२-४
५३.	शिररोगा प्रतिषेध	अनंतवात में शिराव्यधि	उ. २६-३६
५४.	गुल्मप्रतिषेध	सशूल, उत्तर, संदन रहित, दाह पाक, लूजा से युक्त गूँल्म में जलौका या स्तिरा से रक्तमोक्षण	उ. ४२-५२
५५.	अपस्मार प्रतिषेध	अपस्मार में हृष्मसंधिगत सिरा का व्यधन	उ. ६१-४९
५६.	उन्माद प्रतिषेध	उर, अपांग, ललाट में सिरा से रक्तमोक्षण करें।	उ. ६२-३३

शुद्धरोगों से लेकर मूर्ढा, संन्यास और पृथु तक गंभीर अवस्थाएं भी इनमें समावित हैं। अतएव रक्तमोक्षण कर्म की उपयोगिता भी बहुत व्यापक है। इसकी कार्मुकता देखने के पूर्व इनके उपयोगिता के शास्त्रीय सिद्धांत निये स्पष्ट किये जाते हैं।

ब्लीडिंग (Bleeding) कहा जाता था। इस विधि के लिए स्त्रीरोगों में सिरा पर छेद करके रक्त को निकालना। जिसे पहले

१. सुशुत कहते हैं कि रक्तमोक्षण चिकित्सा की जाने पर त्वयोग, ग्रंथि, शोफ तथा रक्तद्वाषित्यरोग उत्पन्न नहीं होते।
२. स्नेहन, स्वेदन, वप्नादि चिकित्सा, तथा शमन चिकित्सा लेपन इत्यादि, क्रियाओं के द्वारा उस तरह, जलदी लाभ नहीं पहुँचता जैसे किंशा से रक्तमोक्षण से पहुँचता है। अर्थात् यह आशुपत्रप्रद चिकित्सा है।
३. रक्तावशीर्ण वर्धन बराबर इत्याजाने पर (शुद्धरक्त युक्त) मृशुया का वर्ण प्रस्तव होता है, उसके इंद्रिय अपने अपने विषय में दक्षता से कार्य करते हैं। पाचन की शक्ति अर्थात् अग्नि की शक्ति बढ़ जाती है, और मन का संतोष शरीर का बल तथा सुख की वृद्धि होकर व्यक्ति आवृथ्यमान हो जाता है।
४. जिस तरह सम्यक् दी हुई बल्सिं काय चिकित्सा में इतना महत्व रखती है कि उसे 'चिकित्सार्थ' कहा जाता है, उसी तरह शल्यतंत्र के रोगों में स्त्रिराव्यधि 'चिकित्सार्थ' का महत्व रखता है।
५. विसर्प चिकित्सा में अन्य सब चिकित्सा उपक्रम एक तरफ और रक्तमोक्षण कर्म एक तंत्रफ ऐसा रक्तमोक्षण का महत्व कहा जाया है।
६. उपर्युक्त का सारांश इस प्रकार है—
७. त्वचा के रोगों को रक्तमोक्षण दूर करता है। इनमें पिङ्का ग्रंथि व्याघ्र, न्यच्य, कुछ इत्यादि का समावेश होता है।
८. रक्तमोक्षण से वर्ण का प्रसादन होता है।
९. शरीर का बल बढ़ता है।
१०. ज्ञानोन्द्रिय कर्मद्वय तथा मन प्रसव होकर अपने कार्य में संविहित हो जाते हैं।
११. अग्नि का कार्य बढ़ता है— जिससे पाचन संबंधित रोगों में लाभ होता है।
१२. शोष में लाभ होता है। इसमें निद्राधि, ग्रंथि, अर्बुद, ये एकाग्र तथा सर्वांग में होनेवाले शोष का ग्रहण किया जाता है।
१३. शूल वातव्याधि, वातरक्त, विसर्पादि, क्रूष्णादि में रक्तमोक्षण का खास महत्व है। उपर्युक्त रोगों का रक्तमोक्षण कर्म से प्रशम होती है। इनको कुछ स्पष्ट समझाने के लिए पहले आधुनिक दृष्टिकोण से रक्तमोक्षण का विचार करेंगे।

#### रक्तमोक्षण-आधुनिक विज्ञान का दृष्टिकोण

जलौका विषय में यह पहले कहा गया है कि आधुनिक वैद्य शास्त्र कुछ दिन पहले जलौका का भाष्यर उपयोग किया करते थे। इसी तरह सिराव्यधन भी खुब प्रमाण में किया जाता था। सिरा से रक्त निकालने की पद्धति करीब प्राचीनों के समान ही रही है। इस विधि को विनेसेक्शन (Venesection) कहा जाता है। विनेसेक्शन यह उपचार सेविल ने अपने चिकित्सा प्रश्न में अनेक रोगों में दिया है—

विनेसेक्शन का अर्थ है प्रारंभ में सिरा पर छेद करके रक्त को निकालना। जिसे पहले ब्लीडिंग (Bleeding) कहा जाता था। इस विधि के लिए स्त्रीरोगों में सिरा पर छेद करके रक्त को निकालना। जिसे पहले

कर निश्चित प्रमाण में लिया जाता है, स्थानिक रक्त-जलोका और स्थानिक विधर्षण (Scarifying) के द्वारा लिया जा सकता है।<sup>३०</sup>

सिरावध में प्रायः इसी प्रकार की विधि निर्दिष्ट है। चिकित्साशास्त्र में एक और रखन भी प्रयुक्त है—वह है लिनेपंचर। (Vene-Puncture) छेन में पंक्त्व-क्षत करना किने पंक्त्व कहलाता है। सेविल ने विनेपंचर के बारे में निम्नलिखित प्रकार का वर्णन किया है।

**विनेपंचर**<sup>३१</sup>—रक्त निकालने की आवश्यकता सीम के लिए, संस्करण प्रयोग के लिए, कैमिक्ल तथा अन्य उद्देश्यों के लिए होती है। विनेपंचर—रक्त छढ़ने के लिए, छेन में औषधि देने के लिए तथा केवल रक्तचाव कराने के लिए भी जरूरी होता है। छिनेपंचर के लिए सब में मुलभ कूपर के सामने हड्डे बाली सरीय सिरा का है। इसके लिए कूपर के ऊपर हाथ में टोरीनीक्वेट (टोरीनीक्वेट-आयुर्वेद के यंत्रणशास्त्रकवेत बाधने का कपड़ा है) बांध देना चाहिए जिससे सिरा में से लौटने वाला रक्त अवरोध हो जाता है। फिर आतुर जो मुठ्ठी बंद करने को कह दे। इससे सिरा ऊपर उठ कर रख दी होती है। मेदस्की रोगी में यदि वह दिखाई न दे तो हाथ को स्पर्शगम्य होती है। यदि सिरा दुष्टिगोचर न हो या स्पर्शगम्य न हो तो हाथ को गरम यानी में रखकर या हाथ पर गरम ठोकेने रखकर गरम करे। फिर ७० प्रीतिशत अर्लोइल से त्वचा को रखकर करे—अंदर सूचि कूपर संस्थि में त्वचा के स्पांतर दिशा में अंदर प्रविष्ट करे। जब रक्त निकालना शुरू हो तो पूरी सिरीज भारके रक्त लें, फिर बंधन को ढैला कर दे, छोड़ दे और सुख लाहर निकाल कर छेद पर कपास रख कर दे। रखकर काच रक्त की आवश्यकता हो तो रक्तस्कदन विरोधी दवा (Anti-coagulant) मिलाकर रखें। इसके लिए सोडियम साइट्रेट (Sodium citrate) मिलाना चाहिए। छिनेपंचर के लिए बच्चों में एक्स्ट्रनल त्रुगालर छेन (मन्या के बाहरी भाग से जानेवाली सिरा) का व्याघ किया जा सकता है इसमें सहाय्यक उपचारिका की गोदि में बालक को ऐसा छुलाके किसका सिर एक बाजू में हो और नीचे की ओर छुका हुआ हो। बालक रो पड़े तो सिरा और फूलकर ऊपर उठती है जिससे अधिक सुविधा होती है।

एक व्यस्क व्यक्ति के शरीर में से १५ से २० औस की मात्रा में रक्तनिर्हरण करना चाहिए।

उपर्युक्त विवरण में सिरा की उत्थापन विधि, जल्दी न मिलने पर स्नेहन तथा रक्त मात्रा १५ से २० औस जो ३७ १/२ तोले से ५० तोले के तागभग होती है—सब वर्णन आयुर्वेद वर्णन के साथ मिलता जुलता है।

सेविल ने निम्नलिखित रोगावस्था में छिनेसेक्शन करने को कहा है।

१. एक्स्ट्रट पेरिकार्डिट (Acute Pericarditis)—पेरिकार्डियमस यह हृदय कपाटों का वैगुण्य आवरक कहला है—इसके तीव्र शोथ को एक्स्ट्रट पेरिकार्डिटिस कहते हैं—वह हृदयन है। इसमें जब शरीर नीला काला पड़ने लगे (Cyanosis), लेटक रक्तांश लेने में तकलीफ जैसे बैठकर लेना पड़े (Orthopnea), और सिराएँ कूप्ली हुई मिले—(Venous distention) तो समझना चाहिए कि हृदय पर अत्यधिक भार आ रहा है—और १५ से २० औस की

मात्रा में रक्त निकाल लेके—इससे उरन लाभ और बेदना प्रशम मिलता है।<sup>३२</sup>

२. क्रॉनिक हार्टडिसीज (Chronic Heart disease)—यह जीर्ण हृदय है—इसमें हृदय मांस पेशी का शोष (Myocardial degeneration) तथा हृदय कपाटों का वैगुण्य (Valvular disease) का समावेश होता है। इस रोग में जब पल्मोनरी केनेसेक्शन (Pulmonary congestion) के लक्षण मिलते हैं (फ्रूस्यस का शोष) तब छिनेसेक्शन करने से तालोलिक लाभ मिलता है। इसी तरह हृदय की दक्षिण बाजू का जब तीव्रतर अवसाद होने लगे पड़ने लगता है, यकृत प्रदेश पर गुरुता होती है, जब कि यकृत पर्शका से खूब नीचे तक आ जाता है, और हृदय की गुरुता (ठेपन पर गुरुब्धनि)—जब कि हृदय खूब दाहिने बाजू में परिवृक्ष मिलता है—तब छिनेसेक्शन करना चाहिए। इससे तालाकालिक बेदना प्रशम मिलता है।<sup>३३</sup>

३. एक्स्ट्र लोबर प्रिनियोनिया<sup>३४</sup> (Acute-Lobar pneumonia)—तीव्रतर कुप्रस्तुत प्राणली शोथ में जब कि खासकृत्य, तीव्रतर, कास, जुगलर छेन का उत्सेध आदि लक्षण मिलते हैं और जिसमें रक्तचाव बढ़ा हुआ हो—तथा एओरटा (Aorta-hृदय से निकालने वाली प्रधान धमानी) का वैगुण्य हो—१५ से २० औस तक रक्त केनेसेक्शन कर निकाल लेना चाहिए।<sup>३५</sup>

४. एक्स्ट्र लोबर प्रिनियोनिया<sup>३५</sup> (Acute-Lobar pneumonia)—यह कुप्रस्तुत का शोथ है—इसमें खासकृत्य, तीव्रतर, कास, ज्वास तीव्रता, मुख की ईष्ट-स्थावता इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इस रोग में दक्षिण हृदय का वैगुण्य उत्पन्न होता है—जो शरीर के श्यावनील वर्ण से तथा त्रुगालर छेन के फूलने से जात हो सकता है—यकृत की चुब्बि और स्पर्शसिहत होता है—ऐसी अवस्था में छिनेसेक्शन कर १२ से १५ औस रक्त निर्हरण करने में कापनी फायदा होता है।

५. युरीमिया (Uraemia)—रक्त में यूरिया-इन्जर्मेनिक द्रव्यों के बढ़ने से जो मूत्रवह नितों का अवसाद (Renal failure)—होता है उसे युरीमिया कहते हैं। इसमें बारबार मूत्रता, श्वासकृत्य, शिरःशूल, भ्रम, मानसिक अस्वस्था, अनिद्रा, तंद्रा, पिंडिकोद्देश्य, पाचनतंत्र की विकृतियां-छद्दि-आतिसार, शोष, शोथ ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। ऐसी अवस्था में रक्तचापाधिक्य हो तब छिनेसेक्शन कर १/२ से १ पाईंट तक रक्त निकालना उचित होता है। जब आतुर पाङ्क (anaemia) से पीड़ित न हो तभी यह करना चाहिए।<sup>३६</sup>

कार्बुक्ता में सिंड्रोमे—जब तिकासे में आयुर्वेद दृष्टि से रक्तमोक्षण का महत्व स्पष्ट किया है। चमुतः ये रोग अत्यंत गंभीर हैं। ये सब सर्वांशोथ, एकांत शोथ, मूत्रोग, भ्रम, दूर्लभ, सन्तास, रक्तांशकृत्य, यकृतवृद्धि यज्ञीहृदयवृद्धि, युक्तावसाद, रक्तचाव (आयुर्वेद) इत्यादि अनेक रोगों के हैं या उपद्रव या रोगस्कर हो जाते हैं जिनमें आयुर्वेद, ने भी रक्तमोक्षण उपाय कहा है इन्हीं विकृति रक्त के दृष्टि से होती है—यह दृष्टि अनेक घटक पदार्थों की विकृति है। उनका चिकार करने पर ये सभी गंभीर रोग तथा अन्य शुद्ध रोग और त्वचा की विकृतियों में रक्त निकालने से किस तरह लाभ हो सकता है यह अनुमान कर सकते हैं।

रक्त के घटक—रक्त में निम्नलिखित घटक होते हैं।

१. रेड कर्पस्स—Red corpuscles—रक्तकण, White corpuscles—स्वेत कण और Plateless

२. प्लाइमा या रससद्दशधातु—इसमें जल ६१ से ६२ प्रतिशत, घनपदार्थ—७ से ६ प्रतिशत इसमें ग्रोटीन ७% सीरम एलब्यूमिन, सीरम ग्लोब्यूलिन और फिब्रिनोजिन प्रोटीन घटक है। इनर्गेनिक घटक (निर्गिद्य घटक) सोडियम, कैलशियम, मोटेशियम, मेगनेशियम, फॉस्फोरस आयोडीन, आयर्न (लोह), कॉपर (ताम्र) इत्यादि ०.६% प्रतिशत होते हैं। अंगेनिक घटक (सेंद्रिय दव्य) में—जॉन प्रेटेन नाइट्रोजिनस पदार्थ (प्लाइमा, युरिक एसिड, देंथीन, हायड्रोक्सीन, क्रियारीन, क्रियाटिन, अमेनिया, (एमेनो एसिड) न्यूट्रल एस्ट्रैनह), ग्लुकोज (शर्करा) ये होते हैं।

इसके अतिरिक्त अंतर्गत के स्वाव, एंझाइम, एंटिकॉडी इत्यादि रहते हैं। ये सब घटक शरीर के पोषण, जीवन, तप्ति, बलवर्धन तथा निरोगता में अनन्य साधारण भाग भजते हैं। इनका विस्तार यहां अप्रस्तुत है।

जब हम कहते हैं कि रक्त की दृष्टि हुई है—तो उपर्युक्तों में कहीं पर भी दृष्टि संभाव्य है—ऐसा समझना चाहिए। इसमें कितना सूख विचार संभव है इसका केवल निर्देश किया जाता है—रक्त के लाल कण आदि पदार्थों की वृद्धि क्षय अथवा असम्यग् उत्तराति, उनका जीवन (Life) प्राकृत न होना, उनका नाश (Distraction) प्राकृत न होना—नाश के बाद उत्पन्न भाव विशेष (Bioproducts) उनका बराबर वितरण न होना, सख्तन न होना, ताप्र, लोह, सेह आदि में भी इसी तरह कल्पना करें, रक्तवाह स्नोत-सिरा, धमनी, त्वक् प्रतानी (Vauule) खोत (Pores)—हृदय, यकृत, लीहा इत्यादि अंतर्वर्त वैगुण्य, कार्य वैगुण्य आदि अनेक विकार संभव हैं। शरीर में सेवित अन्न का वायु का तथा जल की सूखना स्थिति रसरक्त द्वारा कूल्सनकाय में संचारित, परिणामित, स्थित तथा प्राणाश की प्राप्ति होती रहती है। अतएव इनकी दृष्टि से अनेक रोग संभव हैं जो रक्तमोक्षण से प्रशम हो सकते हैं। इनका संपूर्ण विज्ञान—कारण कार्य भाव से बताना व्यापि आज कठिन है तथा प्राप्ति इस विषय में गवेषणा से कुछ छढ़ निश्चय की प्राप्ति हो सकती है। रक्तमोक्षण विधि में विवायं कुछ समान भावों का शर्ंरो दृष्टि से यहां निर्देश करेंगे।

शरीर में रक्तकण जो निर्माण होते हैं वे अपना कार्य करते करते नाश को प्राप्त होते हैं। इनका आयुष समान्यतः ६० दिन से १४० दिनका माना जाता है। अर्थात् रक्तकण सरासर १३० दिन तक जीवित रहता है। यदि मजादि घटकों (Bone marrow) द्वारा रक्त का निर्माण बराबर न हो तो पांडुता प्रारंभ होती है। यहां रक्तोत्पत्ति तथा रक्तविनाश में एक समग्रता होती है जिसमें यह कार्य अबाध्मान चालू रहता है। लोकिन यदि किसी कारण से रक्त कण जल्दी विनाश को प्राप्त होने लगे तो यह क्रम दृटा है। रक्तकण के जल्दी विनाश का एक मुख्य कारण यह है कि—रक्त का निर्माण होते समय लगातर न होता। ऐसा अपरिवर्तन रक्तकण—स्नोतों से अप्राप्य करते समय दृट जाते हैं। इनके दूरने से कई घटक ख्यात हो जाते हैं (जो हम आप नाम से कह सकते हैं) जिनका योग्य विनियम या विसर्जन होना चाहिए।

रक्त के विनाश में लीहा महत्व का काम करती है। इन लाल कणों का नाश कर करती है। इसी तरह रक्त का संचय रखने का भी यह कार्य किसी है। इन दूरे रक्तकणों से पित का निर्माण होता है। आयुर्वेद में ‘पितं रक्तस्य विकृतेः’ ऐसा कहा है। पक्षु रक्त के निर्माण में और लीहा इस तरह नियन्त्रण में कार्य करती है। अपारिवर्तन रक्तकण—स्नोतों से अप्राप्य करते समय दृट जाते हैं।

३. अर्थात् रक्त दृष्टि का परिणाम इस पर अववर्त वैगुण्य कारक होता—इसी तरह इसकी दृष्टि से रक्त विकृति भी होती है। अतएव ऐसे रोगों में रक्तनिर्हण उनका भाव कम करने में सहाय्यक होता है तथा ऐसा भी माना जाता है कि रक्त निःसूति के बाद वृद्ध लीहा भी प्राकृत स्वरूप पर आ जाती है। इस तरह यकृत लीहा ये घटक उत्तेजना से कार्य कर शुद्ध रक्त निर्माण में लगा जाते हैं। जिस तरह आप में उपवास और पाचन-शोधन काम करता है उसी तरह यहां समझना चाहिए। प्राकृत रक्त निर्माण, रक्त विनाश के केव पर भी आधार रखता है। (यहां समझा जाता है कि एक मास में लाग्या १२५० मि. लि. रक्त उत्पन्न होता है। (यहां रक्तकण ऐसा अर्थ करें।) यदि शरीर प्राकृत हो तो रक्तस्वाव (Haemorrhage) से उत्पन्न क्षति की पूर्ति करने के लिए १ मास परिहार काल कहा है—जिनमें बल प्राप्ति होती है ऐसा हेतु बताया है।—इसका अर्थ ऐसा है कि रक्तप्रणाली से रक्त निर्माण कार्य चार गुना अधिक होता है, तथापि रक्त के रोगों से जिनके रक्त का क्षय होता है (अथवा रक्त का निर्हण का कार्य १० से १५ गुना ज्यादा केवा से होने लगता है। १३० संभवतः यही हेतु है कि आयुर्वेद रक्तमोक्षण द्वारा रक्तशोधन मानता है। मूत्रन निर्मित रक्त सुख ही होता है।

यह रक्तकण के बारे में है। इकेतकण का निर्माण, विनाश इत्यादि में तथा अन्य रक्त घटकों के संबंध में इसी तरह का विचार संभव है। त्वचा के नीचे द्विन्स प्लेवेसेस (Venous plexus) में सतत रक्त की स्थिति रहती है और प्रायः त्वचा का वर्ण इस रक्त के ऊपर निर्भर होता है। इस पर उस, शीत वातावरण का भी प्रभाव होता है। रक्त के कार्य प्रसादन कार्य का इससे अनुमान करना चाहिए। रक्त-शरीर में श्वासोद्धूलास (प्राणवह स्तोत्रस) के संक्षण का, भृण पोषण (Nutritive) का विसर्जन (excretion) का, जल और आयु धातु की उला की समानता रखने का (The maintenance of water content of tissue) शरीरताप का नियंत्रण, शरीर का बाह्य प्रतिवात से संरक्षण का कार्य प्राकृत अवस्था में करता है। इसी को आयुर्वेद में जीवन पोषण, रसायनक और संबहन, प्राणानुबंधन इत्यादि कार्य के अंतर्गत बताया है। इन कार्यों का जितना गंभीर अध्ययन किया जाए—रक्तमोक्षण की कार्मुकता उतनी स्पष्ट होती रहती है।

सामान्यतः रक्तमोक्षण (अ)

१. रक्त की दृष्टियों को निकालकर २. रक्त निर्माण के काल लगाकर ३. रक्त स्नोतों पर अनें वाले दबाव को कम कराकर ४. रक्तवह स्नोतोपूल-यकृत-लीहा का दबाव कम कराकर-कार्य में उत्तेजना देकर ५. तथा उनके पोषण स्थान पर शुद्ध रक्त भर्झर मात्रा में भेजकर—रक्तज विकृति में लाभ करता है।
- (आ) १. नवनिर्मित रक्त के द्वारा शरीर का पोषण, जीवन, बलवर्धन होकर तथा अन्य धातु, उपधातु, इनकी पुष्टि होकर शरीर के भावों का संपूर्ण चक्र बदल जाता है।

२. पितज दोष के शोधन के द्वारा पितज विकृतियां प्रशमित होती है।

३. नवनिर्मित शुद्ध पित स्वान् स्वान् गुणों और कर्मों को करता है और शरीर में पाचन, दीपन के कार्य के साथ पित के अन्य कार्य-साधक पित का मन संबंधित अभियोगतर्थ साधन इत्यादि का, रुक्क पित का, रसरजनादि का, भ्राजक पित द्वारा त्वक् भ्राजन का कार्य-सुधर जाता है।

(इ) स्थानिक— प्रच्छान्, शृंगा, जलौका-अलाकु के द्वारा निर्हरण किया हुआ रक्त स्थानिक शोथ को कम करता है और उष्ट घटकों के निकल जाने से रोपण में सहायक होता है।

### संदर्भ

१. पितं तु खेदरक्ताश्रयां . . . तेनेषामाभयाश्रयिणी मिथः।

यदेकस्य तदन्यस्य बर्धनं सपणमैषधम्।। अ. ह. सु. ११-१६

२. तत्र पाच भौतिकस्य चतुर्विधस्य . . . स रसः इत्युत्यते। स खल्वायो रसः यकृतस्लीहानै

प्राप्य रागुपूर्वैति। रेजितास्तजस्तस्त्वाः शारस्येन देहिनां। अव्यापनं प्रसन्नेन

स्वत्निमत्तमिथ्योयते।। सु. सु. १४-१ से ६

३. शोणितवहनां त्रोतसां यकृन्मूलस्लीहाव।। च. वि. ५-१२

(इ) अनात्यध्यमानात् विष्मूत्रं मलः; सारो, रसः, स्त्रायान्यप्रक्षयत् मलः; कफः, स्वैत्तो

भागो रसः; अणुभागोरक्तम् रक्तादानि पवक्त्वाद् मलः पितं, स्वैत्तलभागः शोणिते

अणुभागास्तु मांसामिति। ततोऽपि . . . सु. सु. १४-१० पर

४. आनाशयाश्रयं पितं रुक्कं रसरजनात्।। अ. ह. सु. १२-१३

५. अति निष्ठु-तारक्तो ता शोद्रुक्तं दिवेदमृक्।

यकृद्वा भक्षयेदाजमाम पित समायुतम्।। सु. उ. ४५-२८

६. एलीहीभिवृद्धं कुरुते स जीर्णं ज्वर उत्थयते।। मा. नि.

७. मदसु ख्वपन कर्त्त्या लीहीभिवृद्धः कृशागता।। अ. ह. सु. ११-१८

८. विनता द्रवता रागः स्यन्तनं लघुता तथा।।

भूयादीनो गुणाहेते द्रुश्यन्ते चात्र शोणिते।। सु. सु. १४-१६

९. त्वकं मात्र स्नायु संक्लेदो खत्वत्तेऽद्विजायते।। च. चि. २१-७०

१०. १. तपनीयेद्रोपाधं पद्मलक्तक संस्त्रिघम।।

गुजाफलं स्वर्वर्णव विशुद्धं शोणितं।। च. सु. २४-२२

११. ग्रीणनं जीवनं लेपः . . . थारुना श्रेष्ठ कर्म क्रान्तमृतम्।। अ. ह. सु. १४-१८

१२. धारयतीति-शरीरं पूर्तिं गतु न ददादि इति धारि।। च. पा.

जीवयति ग्राणान् धारयतीति जीवितम्।। च. सु. १४-२२

१३. देहस्य लधिरं मूलं लधिरेण शार्यति।  
तस्माद् यत्नेन सरस्यं रक्तं जीव इहस्थितिः।। सु. सु. १४-४४

१४. रक्तवर्णं प्रसादं मांसं पुष्टिं च जीवयति।  
तेषां (धारुनां) शयवृद्धः शोणित निमित्ते।। सु. सु. १४-१९

ताद्विषुद्धं हि लाधिरं बलवर्णं सुखयुषा।।

उनाकृतं प्राणिना प्राणः शोणितं हृदुवती।। च. सु. २४-४

धृतूनां पूर्णं वर्ण य्यशशान्म सशयम्;

स्वा: मिरा: संचरद्वतं कुर्याक्वाचान् गुणास्वप्नि।। सु. शा. ७-१४

प्रसन्न वर्णद्वियमिद्वियाथान इच्छत्तमभ्याहत पक्तुवों

. . . विशुद्धं रक्तं पुरुषं वं वदति।। च. सु. २४-२४

रक्तसामागणं।। सा सारता युजुद्वत्त मेघां प्राणिनां सौकुमार्पणमिवलमक्तेषु सहित्यु

उज्जासिहितं चार्चते।। च. वि. ८-१४

१६. १. प्रदृष्ट बुड तीक्ष्णोज्मध्यैरयेष्व तद्विद्वैः।

तथाति लवण शोरस्ते: कट्टिप्रेक्ष च।।

कृतात्य माष निष्पाव तिलतैल निवेवैः।।

प्रिडलु मूलकादीना प्रसहनाच सेवनात्।।

जलजानुप बैलाना प्रसहनाच सेवनात्।।

दध्यस्तमस्तु शूक्ताना युरासीवीतकर्त्य च।।

विरुद्ध्वा नात्रुपविलव्वं पूतनां भक्षणेन च।।

भूक्त्वा दिवा प्रस्वपत्तं द्राविन्द्रियं गुरुणि च।।

अत्यादनं तथा क्रीष्णं भजता चातपानिलो।।

छटिक्वा प्रतीषादृ॒ काले चानवक्षेचनात्।।

शूरल्काल स्व भाववाच्च शोणितं संप्रदृष्ट्यते।।

क्रीष्णं भयासोपावास . . . पितं प्रकोपमापद्यते।।

पित प्रकोपेत चामाक्षिणं . . . अस्तुक प्रकोपमापद्यते।।

१७. १. अरुणां भवेत् वातात् निशदं फैनिलं तु।।

संस्थैष्ट लिङ्गं संसागात् त्रिलिङ्गं संस्त्रिघातकम्।।

२. तत्र केनितमरणं कुण्डा परवं तु शीघ्रमस्तुदि च वातेन द्रुष्टं नीलं पीतं हीरं

स्यावं वित्तमनिष्टं पिपीतिका मक्षिकाणामस्तकिद्वचं पितेन द्रुष्टं गौतिकोदकं

प्रतीकाणं स्निग्धं शीतलं बहुतं पिच्छिलं चिरत्वाची मांसपेशी प्रधं च इत्येष द्रुष्टं

सर्वलक्षणं संयुक्तं कांजिकाभं विशेषतो दुर्गाधी च सात्रियत द्रुष्टम्।। द्विदोष लिङ्गं

सम्पूर्णम्।।

१८. तद् दुष्टशोणितमनिहियमाणं कंडुकोष राग याक वेदना जनयेत्।। सु. सु. १४-२३

१९. कुर्यात् शोणितरोगे तु रक्तपितहरी क्षियाम्।।

त्वरेकमुपवासं चावनं शोणितस्य च।।

२०. १. ततः शोणितजा रोगः प्रजायते पृथिव्यिधा।।

मुखपाकोक्षिरागश्च पृथिव्याग्यांधता।।

गुल्मोपकुश वीसर्प रक्तपित प्रमीलका:।।

तिरथी रक्तमहश्च प्रदो वातशोणितम्।।

वैवर्ण्यमन्साद्वच्च पिपासा गुणाक्रता।।

संतापश्चातिदेवत्यमूलचः शिरस्त्र रुक्।।

विदाहस्त्रवाक्षानस्य तिक्ताम्लोद्विग्राहणं कलम्।।

क्रोधः प्रचरता बुद्धे: संमोहो लवणास्थातः ।

स्वेदः शरीर दैग्य मदः कंपः रक्तश्यः ।  
तंस्तनिद्राति योगश्च तमसश्चाति दर्शनम् ।

कंड्यूरुः कोठिपिङ्का कुष्ठ चमदिलादयः । च. सू. २४-११ से १६

२. वक्षयते रक्तदोषेषजा । कुष्ठवीरपर्यं पिङ्का रक्तपिण्डमपादः ॥  
गदमेष्टास्तपाकश्च एलोहा गुल्मशोथ विदधीः ॥  
नीलिका कमला व्याघ्रं पिलवस्तिलं कालका: ।

दुष्कर्मदलं श्विव्रतं पामा कोठोत्तं मंडलम् ॥  
रक्तप्रदोषजायते ॥ ॥ च. सू. २८-२४, २७

३. कुष्ठविस्परिणिङ्का भृशक् नीलिका तिलकालक, चच्च व्यंय इंद्रलुम प्लीहविदधि  
गुल्म वातशोणिताशर्ते उर्बुदांगमदासुदरं पित्र प्रभुतयोः रक्तदोषजा: गुदमेष्ट  
पाकाश्च ॥ सु. सू. १४-६

४. १. रक्तं विस्पर्दलहृ विदधीन् ।  
कुष्ठ वातस्त पित्रस्त गुल्मापुक्षु कमलाः ।  
व्यगानिं नाश संमोह रक्तत्वक् नेत्र मूत्राः ॥ अ. ह. सू. ११-६

५. १. प्रायो दुष्यते कुरुते ततः ।  
विस्त विदधि ल्लहु गुल्माप्तं सदन ज्वरान् ।  
मुख नेत्र शिररोग मद त्रट् लवणास्थात ।  
कुष्ठ वातशोणितास्त कृत्वस्तोदिगरणं भ्रमात् ॥ अ. ह. सू. २७-१, ३

६. शीतोष्णतिनिरुद्ध रुक्षादैरुपक्रान्तश्च ये गदा: ।  
सम्भक् साध्या न सिद्धत्वति रक्तजांस्तान् भिवायत् ॥ च. सू. २४-१७  
यदा तु रक्त वाहीनि समस्ता व वोतासि कुप्तिते मला: ।

७. पृथक् पृथक् समस्ता व व्याधयस्तदा ।  
ज्ञायेत् व्याधयस्तदा ।  
मदमुच्छियः सन्तासस्त विद्याद् विचक्षणः ॥ च. सू. २४-२५, २६

८. यथोतरं बलाधिक्वन्त हेतु लिंगोपशांश्चितुः ॥ च. सू. २४-२७ से २८  
दोषेषु मलमूर्च्छयाः कृत्वेषु देहिणोः ।

९. स्वयमवोपशांश्चाति सन्तासो नैषधृष्टिविनां ॥ च. सू. २४-४२  
स ना संन्याससन्ततः काष्ठी भूतो भूतोपमः ।  
प्रागेविद्युज्यते शीघ्रं मुख्या सद्यः कलां लिङ्गम् ॥ च. सू. २४-४४

१०. अविवाक्या: सर्वां शोफः क्षीणस्य चान्तरभोजन निपित्ता: ।  
पांडु रोगर्ण सोदरि शोषि गर्भिणीणां च श्ववयवः । सु. सू. १४-२४

११. तस्मान्तर्षीते नास्युण्णं नास्वन्ते नातिपापिते ।  
शोषित मौक्षयेद्विषकः ॥ सु. सू. १४-२४

१२. नैवाति इति नास्युण्णो न प्रवाते न चाप्तिते ।  
व्याघ्रे दर्शन्ते गीषकाले तु शीतले ।  
हेमत कालं मध्याह्नं शावकतालाश्चयः युताः ॥ यु. शा. ८-१०

१३. तत्रशस्त्रविसाकर्णं द्विविद्यम् । प्रच्छानं सिरव्याघ्रन् च ॥ सु. सू. १४-२५  
अस्तौकः क्षारदहनः कार्योपल न खादयः ।

१४. अस्तौहान्युशपक्षाणिं तान्येकंच विकल्पयते ॥ अ. ह. सू. २६-२७

१५. निर्विषाज्ञ विशेषणं नवंति ॥ सु. सू. १३-१२ स्टीक

१६. तामसयवन्पाड्यमहौपैतनादेनिक्षेत्राणिः तेषु महाशरीराः बलवत्यः शीघ्रपादित्यो महाशना  
निर्विषाज्ञ विशेषणं नवंति ॥ सु. सू. १३-१२ स्टीक

१७. भिषण वातान्वितं रक्तं विषणेन विनिहिते ।

पित्तान्वितं जलोकाभिः । च. चि. २१-६, ७०  
कफान्वितमलाभुषिः । यथासत्र विकारस्य व्ययेयाशु वा सिराम । ।

१८. २ तत्र वात पित्र कफदृष्टं शोणितं यथासंख्या शृगु जलौकालाभुषिः अवसेचयेत् सर्वाणि  
सर्वेवा विशेषस्तु विस्ताक्षयं शृगुजलौकालाभुषिः गृह्णयात् ।

१९. ३ उणा सम्भुरं स्तिंधं गावा श्रांगं प्रकीर्तिं । तस्माद्वातेपस्टै तु हितं । तदवसेचये ।  
शीताधिवासा मधुरा जलौकां वारि संभवा । तस्मातपोपस्टै तु हिता सा  
लवसेचये ॥ अलाभु कटुकं रुक्षं तीक्ष्णा वा परिकीर्तिम् । तस्मात् शृत्योपस्टैतु  
हितं तदवसेचये ॥ सु. सू. १३-३ से ७

२०. ३० युञ्जानालाभु घटिका रक्तपिण्डेन द्विषिते । तासामनल संयोगात् । युञ्जान वातात् वातपिण्डाच्या दुष्टं शृणु  
वायुना । कफन दुष्टं रुद्धिरं न शृणु विनिहिते । रक्तव्यात् वातपिण्डाच्या दुष्टं शृणु  
निहिते ॥ अ. ह. सू. २६-४६

२१. ३१ प्रच्छानेतैकेशस्य ग्रथितं जलमन्मधिः । हेतृ शृगादिभिः सुं असुवापि सिराव्यधैः ।  
प्रच्छानं पिंडिते वा स्थाते अवगाहो जलोकामः । लवक्ष्येऽलाभु घटी शृणु स्त्रै  
थ्यापकेऽसुजिः ॥ अ. ह. सू. २६-५०, ५१

२२. ३२ सिरा विषण दुष्टेषु जलोकाभिः पृष्ठस्तथा । अवगाहं यथापूर्वं निहेद् दुष्टं शेणितम् ।  
अवगाहे जलोकास्त्वद् प्रच्छानं पिंडिते हितं । सिराग व्यापके रक्ते शृगलाभु  
त्वविस्थिते ॥ सु. शा. ८-२५, २६

२३. ३३ डह्यणः इतर्नीं शिराग्निभादीनां रक्तात्वसेचयेपापारायाः यथापूर्वं गुरुता  
दस्यप्रज्ञाह-शिराविषयप्रत्यादि । पदे: प्रच्छाने: अवगाहद्व्यतराश्वयं यथा पूर्वं पर्वानाति  
क्रनेण, एतेन उत्तानं पदैः, अवगाहद जलौकाभिः, अवगाहतरं तैवे: अवगाहतम् विषणेन  
सर्वाणिकामवगाहतम् सिराविभरति । उपर्युक्ता पर ॥

२४. ३४ डह्यणः इतर्नीं शुरुक्षुमारपायै, जलोकामः तु परमसुक्षुमारायायः असुक्षुमारे-  
पायश्च प्रज्ञानं सिराविभरति । अ. ह. सू. १३-२ पर

२५. ३५ जलोकास्तु सुषिखां रक्तस्त्रावाय योजयेत । अ. ह. सू. १३-२

२६. ३६ नैपाड्यबलस्थविर भोलु दुर्बलं नारी सुक्षुमाराणमनुग्रहार्थं परम सुक्षुमारेय  
शोणितावसेचयोपायोऽभिहितो जलोकामः ॥ सु. सू. १३-२

२७. ३७ जलमासामेवकमिति जलोकामः ॥ सु. सू. १३-६

२८. ३८ नाभिदृष्टे पुरुषे दशे श्वव्युत्त मात्रं कहू मूर्ढ्या ज्वरो दाह च्छर्दि मदः सदनमिति लिंगानि ।

२९. ३९ तत्र सर्विष मत्स्य कीटक दुर्द्रु भूतुपुरीषोथ जाता: कानुब्लेष्वपु च सविषाः ।  
सु. सू. १३-१३

३०. ४० तत्र दुष्टान्बु सर्पं बंदुकं मत्स्यादि शाव कोश मूत्रं पूरीषजाः ॥ । ।  
नैवाति इति नास्युण्णो नैव शोषिते नैव शृगुभूते नैव शृगुभूते कोश जाता: विमलेष्वपु च  
व्याघ्रे दर्शन्ते गीषकाले तु शीतले ।  
हेमत कालं मध्याह्नं शावकतालाश्चयः युताः ॥ यु. शा. ८-१०

३१. ४१ तत्रशस्त्रविसाकर्णं द्विविद्यम् । प्रच्छानं सिरव्याघ्रन् च ॥ सु. सू. १४-२५

३२. ४२ अन्तोहान्युशपक्षाणिं तान्येकंच विकल्पयते ॥ सु. शा. १३-१२ स्टीक

३३. ४३ अ. ह. सू. १३-१३

३४. ४४ पदोत्तलं गूमुदं सैरांश्चिकं कुवलयं पुङ्डरीक-शैवते कोश जाता: विमलेष्वपु च  
निर्विषाज्ञ विचारत्येता: सलिलाद्युगा सुरांशितु । न च संकीर्णचिरिण्यो न पंकेशया:  
कुछान्तः ॥

३५. ४५ तामसयवन्पाड्यमहौपैतनादेनिक्षेत्राणिः तेषु महाशरीराः बलवत्यः शीघ्रपादित्यो महाशना  
निर्विषाज्ञ विशेषणं नवंति ॥ सु. शा. १३-१२ स्टीक

३६. ४६ अ. ह. सू. १३-१३

३७. ४७ तामसयवन्पाड्यमहौपैतनादेनिक्षेत्राणिः तेषु महाशरीराः बलवत्यः शीघ्रपादित्यो महाशना  
निर्विषाज्ञ विशेषणं नवंति ॥ सु. शा. १३-१२ स्टीक

३८. ४८ अ. ह. सू. १३-१३

३९. ४९ तामसयवन्पाड्यमहौपैतनादेनिक्षेत्राणिः तेषु महाशरीराः बलवत्यः शीघ्रपादित्यो महाशना  
निर्विषाज्ञ विशेषणं नवंति ॥ सु. शा. १३-१२ स्टीक

४०. ५० अ. ह. सू. १३-१३

2. Hirudin—The active principle of a secretion derived from buccal glands of Leaches. It prevents coagulation of the blood.

3. Hirudo—A genus of Leaches of the class Hirudinea.

1. Some Leaches have been detrimental and some have aided medicinally Infestation by Leaches may be either internal or external.

2. Hirudo medicinalis—The medicinal Leach Formally extensively used for blood Letting. (Blackinston's Illustrated Pocket Medical Dictionary).

४२. तत्र द्वादशस्तासा, सविषा षट् तोतर्यो निर्विषा: ॥ सु. सू. १३-८

४३. १. तत्र सविषा: कृष्णा कर्बुरा अलगदी इन्द्रायुधा सामुद्रिका गोचर्णा चेति । तासु अंजनचर्णं कर्णा पृथुशिरा: कृष्णा नीमिमत्यायाता लिङ्गोड़तः कुक्षिः कर्बुरा गोमशा महापाश्चर्णं कृष्णमुखी अलगदी इन्द्रायुधावद्वर्ष्णं राजिभिष्णक्रिता इन्द्रायुधा, गोवृषणवदधोभासो द्विधायूताकृतिसुमुखी गोचर्णा चेति ॥ सु. सू. १३-६

२. इहाण—तासामाकृति निर्देष्टुमाह तास्क्वंजनेत्यादि । अंजनं कजालं । पृथुशिरा: महामस्तका: वामिमत्यस्य सर्पिकारः, अन्ये गोहित मत्यमाहुः, लिङ्गोदतः कुक्षिः इति वक्षित्, छिन् कुक्षिः, वक्षित् उत्रत् कुक्षिः रोमशा: इति वलियुक्तानाद् रामपञ्चेन प्रतिभाति इन्द्रायुधं शक्वधनुः, चिंगालिवित्रता माडिन्यवर्षः, विचित्रपृष्ठाकृति विक्रोति नामा संसाधान धत्तलवदिन्द्रायुधाः, गोदूषावादिति-बृशमाहं इन् अद्याभागे द्विप्रकार भूता इति ॥

३. रक्तस्खेतः भृशकृष्णाश्चपतला: स्थूलः पिण्डिता: । इन्द्रायुध विचित्रोर्ष्णं गोचर्णो गोमशास्तथा । सविषा वर्जयेत् ॥ अ. ह. सू. २६-३६

४४. कृषिलां पिण्डिता रेक्कुमुखी मणिका पुङ्डरीकमुखी सावरिका चेति ॥ (निर्विषा:) तत्र-मनः शिलारंजिताभ्यामिक पाशवृत्त्यां पृष्ठे लिङ्गाधमुद्दूरवर्णना कृपिला, किंचिद्रक्ता वृत्तकाया पिंगाशुगा च तिंगला यक्षिकां शोषिपायिनी दीर्घिक्षिण्यमुखी च रेक्कुमुखी, मृषिकाकृतिवर्णाऽनिष्टगंधा च मृषिका मुद्रावर्णं पुङ्डरीकमुखी। तिस्ताधापद्मपत्रवर्णाऽनिष्टगंधा च सावरिका सा च पश्चयेत् । इन्तता आवेषा: ह्नाव्याताः । सु. सू. १३-१२

४५. निर्विषा शेक्तल श्यावा वृत्ता नीलोऽर्धरार्घयज्यः । अ. ह. सू. २६-३८

४६. सर्वसांच परं प्रमाणं अष्टादशागुलानि तत्र चतुर्थं षडुल्ला नमु योजयेत् गजवाजिषु अपरा, तासु सुकुमारास्तु स्वचोऽत्य शिरस्त्वा वृहद्वरकायाच सियाः, विपरीता पुमासोऽर्धेद्याकृत एवैवृत्ताश्च । तत्र बुद्धोर्षु चिरोर्थितेषु चामयेषु पुमसि योजयितव्या: । त्रियो त्रिपरतेषु ॥ अ. स.

४७. क्षेत्राणि प्रहणं जाति पोषणं सावचारण्यम् । जलोक्तां च यो वैति तत्त्वाध्यान् स जयेत् गदान् ॥ सु. सू. १३-२४

४८. तासा ग्रहणमाद्वर्मेणान्वै प्रयोगेण्यैर्ध्याणीयत् । सु. सू. १३-१६

डल्हण—तासा ग्रहणपाद्यं दर्शयन्नाह, तासा ग्रहणमित्यादि । ग्रहणवासा शर्कराकृते—त्रेतात् वचनात्, अन्येवा प्रायोर्गोर्गति सद्योहत जंतुमास गैर्यो नवनीतस्थृत श्रीराघव्यक्त जंघाववैवैतो ॥

४९. दिवा मुर्याशुसंतं निषेचद्युषु शीतते । कालेन पक्वं निर्देष्मगस्त्वेनाविष्णिकृते ॥

हंसोदकमिति ख्यातं शारदं विमतं भूविः ।

स्वानपानाकाहेषु त्रितमाषु यथामृतम् ॥ अ. ह. सू. १३-४६, ४७

२. तसं तसोशुक्रियैः शीते शीताशुरस्मिष्मिः ।

३. शुचिहंसोदकं नाम निर्मलं मलजिजलम् । अ. ह. सू. १३-१५

४. अथेनां नवे महित घटे सातत्त्वागोदकमेवमवाय निदध्याद । भक्षयेत् चासामुगतेऽप्तेष्वेषतं बल्लुरं औदकाराव कंदाश्वर्णकृत्य, श्राव्यार्थं तुणमोक्षकानि च प्राणा श्वाहात् त्रयहात् । सु. सू. १३-१७

५. स्थूलमध्या परिक्लिन्था पृष्ठयो मदविष्टिता: । आग्राहिण्योऽत्य पायिन्यः सविषा इत्य न पृष्ठिता: ।

६. गृह्णाणी विदधीन् कृष्ट वातरक्त गलामायन् । निरन्त्रा विषदीत्यपान् शमचर्यत जलोक्तसः ॥ अ. ह. सू. २६-३५

७. गृहीताश्च ताः सर्वपर्जनीकल्पोदकं प्रतिष्ठ गात्रीः सलिलं सरकमध्ये मुहूर्त स्थित्वा विषत्वलमाशाला तायिः गोण ग्राहयेत् ॥

८. अथेतरानिशा कल्कु युक्तेऽभ्यसि परिसुत्याः । ता अप्यसभ्यावभ्यात् प्रतं च निपातनात् ॥

९. सीदेतीः सलिलं प्राय रक्तमता इति त्यजेत् ॥ अ. ह. सू. २६-३६

१०. अथ जलोक्तोद्योक्तसाध्य व्याधितपुवेश्य सवेश्य वा विरक्ष्य चास्य तम्पवकाणं पृद्योग्यमय चूर्णे: यद्यर्जः स्थात् ॥ सु. सू. १३-१६

११. १. . . . स्वत्तमा शुक्ता आदि पिण्डितोत्वच्छ्रां कृत्वा मुखमपावृण्यात् । अग्राहणंते श्वीरिलिंदु श्वोणितोबद्धान् द्याहुः, श्वस्पदानि वा कुर्दीति । यद्येवमापि न गृहीयात् तदन्या ग्राहयेत् ॥ सु. सू. १३-८

१२. लागयेत् शृत मृत्यन्य रक्तं शस्त्रं निपातनैः । अ. ह. सू. २६-४१

१३. यथा च निविषेत्यज्ञवृत्त्यवृत्तयोन्मुद्वासां कृत्वा धारयेत् । अ. ह. सू. २६-४१

१४. पिक्विलिन्न लक्ष्मान्देवत्यवृत्तयोन्मुद्वासां कृत्वा धारयेत् । अ. ह. सू. २६-४१

१५. कंदो तोद कंद्रु प्रादुभविविक्तानीवाद् शुद्धमिद्यावदत्ततीति ॥ सु. सू. १३-२१

१६. सुपुत्राद्वृष्ट शुद्धमिद्यावदत्तयोन्मुद्वासां कृत्वा धारयेत् । अ. ह. सू. २६-४२

१७. अथशोणित गंधेन मुचेन्मुखमस्या: सैधत्र चूर्णेनावकिर्ते ॥ सु. सू. १३-२१

१८. १. अथ पीतां तंडुलं कडंत प्रदिव्यागात्री तैल लवणाय्यक्तमुखी वामहस्तापृष्ठागुलीयां गुहीतपुच्छं दशिणहस्तापृष्ठागुलीयां शेनैः शेनैः अनुलोप्यन् माजयेदमुखान् वाप-यता चतुर्वद् यावद् सम्य यात लिगानि इति । सम्यवाता सलिलं सरकन्यस्ता भोक्तुकामा सति चरता । या सोदति न चेष्टते, सा उत्तमा, ता पुनः सम्यवा मरयेत् । उत्तमाता व्याधिरसाद्य इन्द्रमदो नाम भवति । अथ मुक्तां पूर्ववद् सन्निदध्याद् ॥ सु. सू. १३-२२

१९. पटेलान्त वदनो श्वत्स्य कडंत रुपितमे । रक्षत् रक्तमदात्यूपः सासां तं न पापयेत् ।

२०. पटेलान्त वदनो श्वत्स्य कडंत रुपितमे । रक्षत् रक्तमदात्यूपः दुवाने स्वाक्षता मदः ।

- अन्यत्रात्मकतास्थाया: घंटे मृत्युआंगुर्भिणि ।

लालादि कोथनाशार्थी सविषास्तुः स्वदन्वयाद् ॥

अ. ह. सू. २६-४३ से ४५

१६८. १. शोणितस्यच वेगोवेगान् आवेक्ष्य शतधैतै धृताऽप्यग्रस्तद पितृ धारणा वा, जलोक्ये  
हीतैश्च प्रदेहे: प्रतिहात इति ॥

ब्राणान् मधुनावधृष्टये शीताभिराङ्गुल्यं परिचयेत् वक्षीत वा, क्षणय मधुर स्तिथा  
मुः सू. १३-१३

इहणा:- तत्र योगे शतधैतै धृताऽप्यांगः, शतधैतै धृताक्षरं पितृधारणात्, हीतैश्च  
किं कृयादित्याह-जलौक इत्यादि-अवधृष्टेत् चालयेत्त्वादपार्थम् अतियामि- किं  
कृयादित्याह-शीताभिराङ्गुल्यं परिचयेत् वक्षीत देवते । शीतलत्वपरिचयत्वं  
वैधनचतुर्जतोका मुखपदस्य रक्तस्त्रियर्थम् । मिथ्यायोः-उपक्रमनाह-क्रशयेत्यादि-  
प्रदिवाद्-त्विषयेत् ॥

२. शतधैतैञ्जपिववस्ततोलेपाश्च शीतला: ॥ अ. ह. सू. २६-४७

६०. डहण—शोणितस्यावणमपि पुरुष बल प्रमाणाद्, दोष बलप्रमाणाद्, वा वातादिजनिति  
व्याधिवल ग्रमाणाद्वा, रक्तप्रस्त्रश्वैकक्षयां सिरार्थो मोक्षणीयः ॥ सु. मू. १३-२३ परं

६१. २. डुखत्वक्तापग्रमनाद्, सघो गामरुजा शमः । अ. ह. सू. २६-४९

६२. १. तापिधृष्टे पुरुषे दंशस्थाने श्वयायथुरुत्पत्तिमात्रं कंडुमुर्ढ्य ज्वरो दाह छत्तिर्दम्बदः: सदनमिति  
तिळगाति खवति । तत्र महापादः: पानालेपन नस्यकमादिष्पयोन्नेतः ॥ १. सू. १३-६

२. त्रिवृद्धिश्लोः मधुकं हरिदेः रक्ता नरेदो लवणश्च वर्गः ।  
कटुक्रिकै चैव त्रिवृष्टिनानि श्रूपे निदध्यान्मधु संयुतानि ॥  
एषोऽपादो हृति विष प्रयुक्तः: पानाजनाभ्युजन नस्यदेहोः ।  
अवार्य दीर्घो विषवेगा हत्ता महागदो नाम महाप्रभावः ॥ १. सू. क. ५-६१, ६२

६३. १. सु. शा. १७

२. अ. ह. शा. ३ सर्वांश से

३. अ. सं. शा. ६

६४. स्थनान्ति अशेषाः: क्षयाः निकेतनाश्चेति शरीराद्यात्वदकृत्यानि लक्षणालक्षणाः नामाः  
भषति । च. चि. ५-१७

६५. सु. शा. ६-२ यीका, ३-२२, ६-२७, २-८ देखेत् ।

६६. शिरसु शिक्षितो नास्ति चलाहृताः स्वभावतः ।

६७. पत्त्ववत्परिवत्ते तस्माद् यत्नेन ताडेते । सु. शा. ८-१६

६८. एवं चंद्रोदयनान्त्याश्च शिरोदयान् हेतुन् बुद्ध्या वीक्ष्य शरीरवलेन व्याधिवलेन च  
विद्यश्याद् । सु. शा. ८-१७

६९. बाल स्थविर लक्ष्य क्षतिरक्षणं भीरु परिश्रान्त मध्यापाद्य शीक्षित वर्मितविरिक्तस्थापित  
अवासित जागरित कर्त्तव्य वृक्ष गर्भिणीनां कामरेवास शोष प्रवृद्ध ज्वराक्षेपयक  
पक्षायोपवास पिपासा मुर्च्छा प्रपीडितानां च न सिरा विद्यते । यस्याव्यधाः, व्याधाश्च  
दृष्टा, दृष्ट्यचायांत्रिताः, यन्त्रिताश्चात्मुत्तिः इति ॥ १. सू. शा. ८-३

७०. नैवातिशीतेनात्युष्णे ॥ सु. शा. ८-७ से १०

७१. प्रतिष्ठाद्वानमापि च विषेद्युपरक्ष्या स्थिता सिराम् ॥ अ. ह. सू. २६-१२

७२. पृष्ठः कुठार्या गोदंतस्युपांगुलानां

७३. तयोर्द्वयद्वया विश्वेद्युपरक्ष्या स्थिता सिराम् ॥

अन्यत्रात्मकतास्थापया घटे मूल्याङ्कुर्विभणि ।

१. श्रापनतय्यच करावगाने आवश्यकता त है। इस पूर्व वर्षीय गिरिजात वर्षीय मध्य स्थिर

श्रीतेष्व प्रदेहे: प्रदिव्यात् इति ॥

इत्यहारा तदनुसारं श्रीकृष्णं विद्युत्प्रभं अविद्यायोगं विनाशयन्।

कुयादिया-शीताभासिकृद्वय एवं परिषेचये त वर्धनं देति । शीतलजलपरिषेचने अस्त्रप्रयोगं

त्रिवृत्त-प्रवृत्त-प्रवृत्त-प्रवृत्त-

२. शतधीताल्पिचवस्तोलेपाश्च शीतला ॥ अ. ह. सु. २६-४१

६०. डहण—शोणितस्वावरणमपि पुरुष बल प्रमाणादि दोष बलप्रमाणात् वा वातादिजनिति

व्याधिबल प्रमाणाद्वा, रक्तप्रस्थचैकरसां सिरायं मोक्षणीयः ॥ सु. सू. १३-२३ पर

२. दुष्टरक्तापामनाद् सद्यो रागमन्जा शमः । अ॒. व॒. २५-४९

तामदृष्टुं भवति । तत्र महागदः पानालेपन नस्यकर्मादिष्पृष्ठयोऽयः ॥ ये च ये १३-६ लिंगाणि भवति ।

२. त्रिवृत्तिशास्त्रे मधुरकं हस्तिद्वे रक्ता नरेन्द्रो लवणश्च वर्णः ।

करप्रतिक चैव विद्युताणतान् क्षमा निरदेशाम् तु समुत्तां।।  
गाषणादो हंति विषं प्रयत्नः प्राणं जनाभ्युजन नस्ययोर्मे: ।

अवार्य दीर्घि विषवेण हन्ता महानदो नाम महप्रभावः ॥ सु. क. ५-६१. ६२

६२. १. सु. शा. ७  
२. ग्र. द. शा. ३. मर्त्यांशि

१. अ. सं. शा. ५  
२. अ. सं. शा. ६

६३. स्वोतंसि सिगा धमस्यो रसायन्यो नाइयः पथानो भार्गीः शरीर छिद्राणि मंवयुत एष्टुतानि

भाषणि । च. विः ५-१७

६४. सु. या. ६-२ टीका, ६-२२, ६-२७, ८८ देखें।

३३. एवं यंत्रे द्वयनाम्युच्च शिरोस्थापन हेतु बुद्ध्या वीक्ष्य शरीरवलेन व्याधिकलेन च

विद्युत्याद् ॥ सु. शा. ८-१७

बाल स्थविर रुक्ष क्षतक्षण भानु परस्त्रात मद्यपाद्ध ऊंकोषाहत वीमनावारक्तीस्त्रिशूपाप  
ज्यग्रहकेपव  
६७. अत्वामित ज्ञापनित क्षमीव कश गर्भिणीन् कामयत्यास शोष प्रवद्ध

पक्षाद्यतेपवास पिपासा मृद्धा प्रपीडितानो च न सिरा विष्ठेत् । यश्चाव्यक्ष्याः, व्यक्ष्याऽयं

**दुष्टा:** दुष्टाश्चायोरिताः, योनितश्चानुत्थातः इति । ॥ सु. शा. ८-३

८७. अप्रवृत्तमाने रखने एला शीतारि कुष्ठतगर पाता भद्रार विडंगा चिक्रक चिक्रकट्टकागार थैम हरिद्रा किंकुर नक्सलाल फ्लैमरथालां निष्प्रतुर्भि समस्तेवर्ण चूणीकूतोलेवणतत प्रगाढ़: ब्रणमुखमतथर्येदेवं सम्यक् प्रवत्तते ।। मु. सु. १४-३५

८८. अयातिप्रवत्ते लोब्रमधुक् प्रियुगपतंगौरिफ सर्जस्स समाजन शाल्यलीपुष्प शेख शुक्ति माष गव गोधूम दूर्घाँ: शनै. शनै: त्रप्तुप्रखमत्रद्युग्मित्यागेण अवधीडयेत् । शाल सज्जुर्ज्ञादि मेद नेषशुरा धूतन लक्ष्मीभिर्ण चूणीताभिः क्षीमणं, वाशाप्तितेन लाक्षाचूणेव॑, यथाक्त व्रणवधनद्येगाह वक्षीयात् शोताच्छ्वान् भोजनामै: शीतै: परिवेक प्रदेश्योपचरेत् । शारेणात्मना वा दहत यथाक्तं । व्यधानदांतं वा तामवातिप्रवृत्ता तिरा तिष्ठेत् । काकोल्यादि वक्षां वा शुर्कातमद्व मधुरं पायवेत् । एगहिणोप्रश्वस महिष वराहाणा वा रुधिरं, श्वीरयूजैः सुन्निधेश्वास्त्रायात् उपद्रवाण्व तथास्तुपाचेत् ।। मु. सु. १४-३६, ३७

८९. चतुर्विधं यदेतद्विं गृहितस्य निवारणम् । संधानं रक्षनदैवं पाचनं दहनं तथा ॥ व्राण कषायः संधते रक्षन स्वक्षयते हिमम् । तथा सपाचायते भस्म दाहः संकोचयोच्छिरा ॥। अस्कंदमाने राधिरं संधानानि प्रयोजयेत् । संधाने भ्रस्यमाने तु पचनैः सम्पाचरेत् ॥। कल्पत्रैस्मिभिर्वेद्यः प्रयत्ते यथाविद्य । असीद्धामसु एतेऽ दाहः परम इत्यते ॥। मु. सु. १४-३८ से ४२

९०. १. रक्तं सरोष दोषे तु कुर्यादपि विवक्षणः । चाचाति निःसुं कुर्यात् शोषं संसमानैजिवेत् । सरोष दोषे राधिरं न व्याधिरितवत्ति । मावशेषः ततः स्थेयं न कुर्यादति क्रमम् । मु. सा. ८-१४, १५

९१. २. बलिनोबरुद्योपस्य वयस्थास्यशरीणः । परं प्रमाणमिच्छति प्रस्थं शोणितं मोक्षणे । वर्मने च विरेकेव तथा शोणितं मोक्षणे । सार्वत्रयो द्वयपलं प्रस्थमाङ्गुलीनीविष्णः । च. सु. २४-१६

९२. बलदोषं प्रमाणाद्या विशुद्ध्या गृहितस्य वा । रुधिरं स्त्रावयेज्ञतोः आक्षयं प्रसमीक्ष्य वा । मु. सा. ८-१६

९३. शेषं संशमनैर्यंत् । हरेत् शुग्नादिभिः शेषं प्रसादमथवा नयेत् । अ. ह. सु. २७-४७

९४. डहणं . . . . रक्तप्रस्थश्वैकतस्यां सिरायां मोक्षणीयः; तदपि द्वायां द्विसाम्यां, प्रस्थप्रस्थवात् उत्तममात्रा ।

९५. मध्यम मात्रा अधर्षप्रस्थः :- अधर्षप्रस्थश्वात् कर्णाधिक पट्टपलानि, एतदपि द्वाभ्यां स्वावणीयम् । अधम मात्रा कुडवम्-अधमाग्निकानि त्रीणि पलानि । मु. सु. १३-२० पर

९६. तत्र द्विविद्धातिविद्धा कुंचिता पित्त्यता, कुट्टिताऽप्रवृत्तात्युदीर्णा, अंतेऽधित्ता परिशुज्ज्ञा, कृणिता, वेपिता, अनुस्थित विद्धा, शस्त्रहता, तिर्यक्विद्धा अपविद्धा अत्यव्याधा युक्ता पुनः पुनर्निविद्धा मांसशिरारसाज्जिस्य संधि मर्मसुवेति विशेषित दुष्टव्याधा ॥। मु. सा. ८-१७

९७. तत्र या सूक्ष्मशस्य विद्धाऽव्यवत्तमस्तु त्वति रुजा शोफवती च सा द्विविद्धा । मु. सा. ८-१८

९८. प्रमाणातिरक्तविद्धामनःप्रविशति शोणितं शोणिताति प्रवृत्तिर्वा सातिविद्धा । मु. सा. ८-१९

९९. द५. कुंचितायामपि एवम् ।

१००. अनसादिता पुनःपुनरंतरयोश्च बहु शस्त्राभिहता कुट्टिता ।

१०१. शीत भय मूल्याभिप्रवृत्त शोणिता अप्रसूता ।

१०२. तीक्ष्णा महामुखस्त्रविद्धा अल्पदीर्णा ।

१०३. दुःस्थान ब्रधनात् वेपमनाया: शोणित संभोगी भवति सा वैपता ।

१०४. अनुस्थितोवद्वयामपि एकमेव ।

१०५. छित्रत्रिप्रवत्त शोणिता कियासंकरी शस्त्रहता ।

१०६. तिर्यक् प्रणिहस्तरसामा किंचिच्छेषा तिर्यक्विद्धा ।

१०७. बड्डशः द्वाता, हीनस्थलं ग्रणिथानेनापविद्धा । मु. सा. ८-१८

१०८. असाम्बृत्या अव्यक्त्या ।

१०९. अनवस्थित विद्धा-विकुला ।

११०. प्रदेशस्य बहुशोऽवधट्टनातरोहद् यथा मुहुर्मुहुः शोणितसावा धेनुका ।

१११. मूक्षम् शस्त्र व्यधनात् बड्डशो भिजा पुनः पुनर्विद्धा ।

११२. सिरासाम्बस्थि संधि यमसु विद्धा रुजां शोके वैत्यं पराणं चापादयति । मु. सा. ८-१८ (उपर्युक्त ६४ से ११३ तक सब)

११३. अजामतपृहीते । तु शेषे लाय नियातिः । भवति व्यापदस्त्रेता बहवश्चायुपूत्ता । मु. सा. ८-१९

११४. रक्तेऽस्त्र व्यधोऽवधट्टनातरोहद् यथा मुहुर्मुहुः शोणितसावा धेनुका । परुषा सुकिट्टाम्लातां त्वयुक्षा रक्तसंक्षये । च. सु. १७-६५

११५. १. नालुष्यभीतम् लघु दीपनीयं रक्षेऽप्नीते हितमन्त्रपनम् । तदा शरीरं हृनवस्थितःतासुक अनिवैशेषण च रक्षितव्यः ॥। अ. ह. सु. ११-११

११६. २. द्वुराक्तास्य सेकाद्यैः शीतैः प्रकृपितेऽनिन्दे । परुषा सुकिट्टाम्लातां त्वयुक्षा रक्तसंक्षये । च. सु. १७-६५

११७. ३. थारुक्षयात्वैतेऽन्ते पदः संजायतेऽन्तलः । पवनश्व पर कोपं याति तस्मालयन्तः ॥। त्वोन्ति शीतेलविद्युषिः त्विनदैः शोणितवैष्णैः । ईषदलैरन्त्यैव भेजने सुपुणवेत् ॥। मु. सु. १४-३८

११८. ४. त्रिस्माण्य स्त्रिवत्वां विविक्तात्यथाणितुवासितसिराविद्यः परिहृतव्यानि क्षोधाद्यास मैथुन दिवास्वप्न व्याधाम यानाध्यनस्थानस्वनं चंक्रपण शीतवतातप विरुद्धभास्त्रा जीणार्ण्या बल लाभात् यासमेके नन्यते । मु. सा. ८-२४

११९. १. अशुद्धतावयेद्युप्यः सायमहन्य परेऽपि वा । न्नहोपस्तु देहस्य पक्षाद्वा भृशा द्वितीम् । अ. ह. सु. २६-६६

१२०. २. न दुनशोडशातीत सप्तव्यहृत्वात्सुजाम् । अ. ह. सु. २६-६६

१२१. ३. . . . शिराणां व्यधनं कार्यमरो वा कदाचन् । (न. इति. पूर्वः) मु. सा. ८-६६

१२२. ४. गावं बद्ध वोपि दुर्दं रुखा पहेन वा सम्प्रै । स्नातु संध्यास्य मर्माणि त्यज्ञत् प्रस्त्रान्माचरेत् । अ. ह. सु. २६-६९

१२३. ५. अथोदेशा प्रविशते: पदैरुपरिगमिष्यः । गाढ्यनिर्यग्मिः: । अ. ह. सु. २६-६६

११६. तत्र ऋग्वेदसंकोरण सूक्ष्मं समनवगांडं अनुतानमाशु च शस्त्रं पातयेन्मर्मं सिरा स्नायुं संधीना चानुप्राप्तानी ॥ सु. हृ. १४-२६
१२०. तत्र प्रच्छिते ततुवस्त्रपटलं मूत्राक्वानद्वेन शंगेण शोणितमवसेच्येत् । सु. सृ. १३-७
१२१. डहण—अन्येतु . . . . ततुवस्त्रपटलसुक्षेपेति पठति व्याख्यानर्थात् च-तत्रवस्त्रिमूत्रशयः , पटलं घनं सूत्रं प्रकाटिका जालाकं-न्युशब्दः उभयोरपि संबद्धते । सु. सृ. १३-७ पर
१२२. डहण—शृगालाबु ग्रामणं भालुकी सकाशाद्वागत्यम् । तथाच तद्वच्च—“विषाणुइवेत-गोरिदं चक्रं सप्तगुणुलयतम् । क्षिपात एषुप्रेशीकं योज्यं वातयुजेऽस्युनि । अंगुष्ठमूलवन्मूले छिद्रमप्रेत्यस्य मुद्रावत् । । उपर्युक्तं पर ॥
१२३. अलाभुः कथिता तुम्बी द्विषा दीर्घा च वर्तुला । भा. प्र.
१२४. जलौका हस्तमात्राद्वा दुंबी द्वादशापालं ।  
पदमगुलमपात्रस्य शिरा सर्वाशोधीनी ॥ भा. प्र. पू. खं.
१२५. डहण—अन्तर्गुलप्रणिणाहौ चतुर्गुलं नात्समस्मिता सुमुखी ।  
कृष्णमृदालितस्तुः श्रेष्ठा रक्ताक्वासचन्तुलाभुः ॥ सु. सृ. १३-७ पर
१२६. तद्र प्राच्छिते ततुवस्त्र दलताक्वानद्वेन शंगेण शोणितमवसेच्यत् आङ्गूष्ठणात् । सातर्दीप्याऽल्लाभ्या ॥ सु. सृ. १३-७
१२७. १. स्निधस्त्रिव्व शरीराय गुल्मे शैयित्यमागते ।  
परिवेष्य प्रदीपांसु बलवजानशदा कुशान् ।  
पिष्ठक्षुक्षुमेष समवाय गुल्म घटमुखे न्यस्ते ।  
संगृहीता यदा गुल्मसदा घटमशीढ़ते । ॥  
वस्त्रास्तरं ततः कृता विद्याद् गुल्म प्रशाणवित् ।  
विमानाजपदादशयथा लाभं प्रयीड्येत् ॥ च. चिं. ५-१३७ से १३८
२. . . . : स्निधस्त्रिव्व शरीराय शिथिलांतं गते गुल्मे यथोक्ता धाटिकां लागयेत् ।  
तथा संग्रहीते च गुल्मे घटीमपदेत् भियादा ॥ अ. सं. चिं. १६
१२८. १. तत्र मंडेदसुकृ शंगं जलौका मुद्यताबुधिः ।  
प्रच्छन्दर्वा सिराभिर्व यथादावं यथाबलं । ॥  
कृदाह तोदशुलातदशुक् स्नायं जलौकक्षा ।  
शृण्वैस्त्रैव हरेस्त्रिकड्डु विमविमायानात् ॥  
देशदेहं द्रवज्त्वात्वा स्निधाभिः प्रच्छन्देन वा ।  
आदलानौ न तु स्नावं रुक्षे वातोत्तरे च यत् ॥  
गंभीरं श्वयशु स्तंभं कंणं स्नायुमित्यर्थाद् ।  
गलानिधिपि सप्तसक्तां कुम्भाद्यवात्पुरुषकृ क्षयात् ।  
खान्यादन्तान् रोगाश्वरं युद्धं चात्यात्सवचनत् ॥ च. चिं. ५-१३८ से १३९
२. पितजेषु विष्टुष्टु निहुते दुष्ट शोणिते ॥ मधुरं हितम् ॥ सु. चिं. १२-४४
१२९. १. स्नेहादिधिः क्रियायेतैः न तथा लेपैरिपि ।  
यात्पाशुश्वाद्यः शर्ति यथा सम्यक् सिराव्वशात् ॥ सु. शा. ८-२२
२. लक्ष्मदोषः ग्रथयः शोफः शोफः गोगा शोणितज्ञानवे रक्तमोक्षण शीतानां न भवति कदचन् ॥ सु. सृ. १४-१५
३. प्रसत्रवर्णोद्दिग्मिद्याशीति इच्छन्तमव्याहतं पवर्वेत् । च. सृ. २४-२४  
सुखान्वितं तुष्टि बलापत्रं विशुद्ध रक्तं पुरुषं वर्दति ।

४. सिराव्वधिश्चिकित्साद्व शालयत्त्रै प्रकीर्तिः ।  
यथा प्रणहतः सम्यग् बास्त्वः काय चिकित्सिते ॥ सु. शा. ८-२२

५. यान्योक्तानि कर्मणि विसर्प निनिवृतये ।  
एकतस्तानि सर्वाणि रक्तमोक्षणमेकतः ॥ च. चिं. २१-१४१

१३०. The abstraction of blood from the body by incising the vein (in venesection), popularly known as bleeding. In practice, blood is usually removed in measured quantity by the use of needle or Trochar, passed into the vessel. Locally, small amount of blood may be removed by ‘Scouring’ or leeching.

"Blakistan's Illustrated Pocket Medical Dictionary"  
१३१. Savill's system of clinical medicine  
१४१९ (Edition Fourteenth)

१३२. उक्तं ग्रथ-पृष्ठ-८७  
१३३. उक्तं ग्रथ-पृष्ठ-१०८ और १०९  
१३४. उक्तं ग्रथ-पृष्ठ-१८८  
१३५. उक्तं ग्रथ-पृष्ठ-२००  
१३६. उक्तं ग्रथ-पृष्ठ-२३२  
१३७. Text book of Medical Physiology p—370 to 372

## नवम आध्यात्म

### उपकल्पनीय-विज्ञान

उपकल्पना के विषय में जो कथ्य है—वह उपकल्पनीय कहा जाता है और उपकल्पनीय के विषय में अर्थात् उपकल्पनाओं के बारे में जो विज्ञान है वह उपकल्पनीय विभाग में बोहरा विभाग और पीछे १० या १२० अध्याय का वर्णन किया है। चारक ने भी शोधनादि कर्मों से पूर्व कुछ संभार संग्रह करना देकर वस्थमाण कर्मों के आवश्यक संभारों का इसमें निर्देश किया है। पंचकर्म विज्ञान में जो साधन सामग्री-भेषजादि कर्त्त्वों—उपकल्पनों की आवश्यकता होती है उनका यहां विस्तार में वर्णन किया जाता है। वस्तुतः यह अध्याय प्रारंभ में देना चाहिए। किंतु उपयोग वस्तुओं का उपयोग मालूम होने पर उनका अधिक संस्कार से विचार किया जा सकता है। यह समझकर पहले पंचकर्म विषयों को स्पष्ट किया गया है।

चारकमात्—सर्व प्रथम चारक ने उपकल्पनीय अध्याय में जिन संभारादि का निर्देश किया है—उनका विचार करें। क्योंकि कर्मों को से तार्ड ठंजार वयपूर्व रचित इस प्रथम वर्णन किया है वह पाठकों के समझ रखना प्रस्तुत है।

चारक ने कहा है कि वर्मन-लिरेचनादि कर्म करने के पहले वैद्य को चाँड़ी किंवद्दि लेए तथा व्यापद उत्पन्न हो जाए तो प्रत्येक व्यापद की जल्यना करते हुए उनके प्रतिकार प्रथम आने पर अत्यधिक अवश्या में धन होते हुए भी जोजार में वस्तु मिलेगी तो ऐसा निम्नलिखित प्रकार से निर्देश किये गए हैं।

सर्व प्रथम कर्मों के लिए उत्कूल ऐसा गृहनिमाण करना चाहिए। इसके लिए बुशल तजों के द्वारा उत्तम प्रकार का माकान (आतुरालय अथवा पचकर्मचिकसालय) बनाना चाहिए। चाहिए—इसमें खुली—तेज हवा न आ सके, किंतु एकदण्ड में बायु ठीक तरह से आ सकती ही, जिसमें सुविधा से धूमा किया जा सके (थव्य) ऐसा हो। यह माकान उपकल्प—पहिंड बिल्कुल नजदीक में हो, कुओं, धूप, जारिया का जल, छुट्टी लिसमें न आ सके, अन्त मध्य, स्पर्श, रुप, रस, गंध जहां न घहेत सके, उदयन (जलधान-याद), ऊखल, दूलहा,

बनाये।

अनिष्टशब्द स्पर्श रूप संगंधादि का निषेध आरोग्य का दृष्टिकोण बताता है। आतुरालय ऐसे मूल्य रहदारी के गत्ते पर नहीं हो जहां सतत बाहरों से कर्ण करकर्शा शब्द आते हैं। बाजू में सिनेमाहृ, नाटकगृह इत्यादि गर्दि एवं ध्वनितादक स्थान न हो। अन्यथा आतुर के परीक्षा समय में विश्व होता है तथा आतुर को आराम नहीं मिल सकता। अनिष्ट स्पर्श यहां मुक्त आस्तरण युक्त शायाओं से सम्पन्न ऐसा अर्थ करें अनिष्ट रस-समोइ धर में पथ्याहार को सुचित करता है। अनिष्टरूप-विभास रूपदर्शन का निषेध और अनिष्ट गंधस्नानगृह, मूत्र-विमर्जन गृह, सड़ास आदि के योग्य प्रबंध का सूचक है।

गृहनिमाण के अनंतर अनुकूल कर्मचारियों को नियुक्त करना भेषजादि तथा आहारादि की व्यवस्था रखना ये विषय क्रमप्राप्त हैं। कर्मचारी चारिरसपन्न हो, पवित्र, स्वच्छ और आचार में श्रेष्ठ तथा वैद्य में अतुराग रखने वाले होना चाहिए। इनको योग्य बेतन देना चाहिए। ये कर्म विद्युत और सेवा सुश्रुषा को जाननेवाले होने चाहिए। इसमें पाचक (रसाई बनाने वाले), स्नापक (रोगी को स्नान कराने वाले), स्वाहाक (शरीर को मुहूर्मन करने वाले), उथापक (उठाने वाले), संक्षेपक (लिटाने वाले), औषधपेशक (दवा पीसने वाले)—कर्मचारी तत्त्व कर्म में नियुक्त करना चाहिए। इनके अतिकृत गाने बजाने वाले, स्नोफ्रियातक (खस्त नाचनादि), कहानी-इतिहास-पुराण में चतुर, अभिप्राय को समझने वाले, देशकाल को जानने वाले, सजन पुरुषों के अनुमति (शिफारस किए हुए) ऐसे अन्य कर्मचारी रखें। ये मानसोपचार के लिए आवश्यक होते हैं।

इस आतुरालय में मांस रसादि के लिए—लालव, कर्पिजल, (सफेद तितर), शश (खरणोश), हरिण, एण (हरिण का प्रकार), कालुपुच्छक (हरिणभेद), मुग माहुका (बड़े पेटवाला हरिण), उरझ (मेंढा), इन्हें तथा दृश्य के लिए—कुशलता, निरोगी, बछड़वाली दुधारु गायों का पालन करें। इनको खाने के लिए दृग्णादि तथा रहने के लिए पृथक् गृह की व्यवस्था होनी चाहिए।

जलपानी (पीने के ग्रास आदि), आचयनीय (चमच आदि), उदकोष्ठ, (मणिक), मटका, मिठर (हांडी), घड़ा, पर्योग (कड़ाही), कुंभी (मुराही), कुंभ (कलश-गागर), कुंड (पानी के लिए बनाये हुए जलाशय), शराब (सकोरा-प्याला इत्यादि) दर्का कट, (चाटाई), उदंचन (रकेबी-पतली ढक्कन योग्य तशतरियाँ), परिषचन (तवा), मंथन (मंथनिका-बज), आदि स्तोम के साधन, चमड़ा, चेल (कपड़ा), सूत्र (रस्सी-धागा), रुई तथा ऊन आदि को संग्रहीत करें।

शयनस्थान तथा आसनस्थान के पास शूगर (वह जलपात्र जिसमें नलिका लगाई हो) और प्रश्नाह (निष्ठीबादि डालने के लिए) हो, मुटु शाया-आस्तरणादि से युक्त चारपाई या पलंग, उत्तराभ्युद (चादर आदि) तथा उपधान (सिरहना) ठीक प्रकार से लिंगे हों। सोने, बैठने, स्नेह, स्वेद, अध्यांग, प्रेह, परिषेक, अनुलेप, वसन, विरचन, आस्थापन, अनुवासन, शिरोविरेचन, करने के लिए एवं टट्टी पेशाब इत्यादि के लिए सुखक साधन संग्रहीत करें। इसमें स्तोम के उपकरण अगे कहेंगे, बेडपेन, घुर्ननाल, कंथेटर (मूत्रशलाका), फलवर्ति, इत्यादि का निर्देश समझना चाहिए।

औषधि पीसने के लिए अच्छी तरह धोकर स्वच्छ रखे हुए शिलायन (उपधान), झलकण रबर, तथा सम प्रकार की (भिन्न भिन्न) शिलाएं होनी चाहिए। अश्रुति खल्वादि भैषज्य निर्माण के साधन होने चाहिए। इव्य काटने के चाकू, छुरी, कैची बस्तिनेत्र, घूमनेत्र, उत्तराभ्युदि पंत्र, कुशहस्त (क्षा द्वृ), तुला, पानभाष्ठ—(मापन के लिए माप, कर्ष, लिंग, रेति आदि अलग-अलग प्रयाण के पात्र) सखने चाहिए।

धी, तेल, वसा, मज्जा, शहद, फाणित, नमक, राब, ईंधन, जल, सीधु, सुरा, सौंबरीक (कॉर्जी प्रकार), तुषेदक (काजीभेद) मेरेयक, मेदक (मध्य-प्रकार), दही, दही, दही, का पानी, उदास्त्रित् (तक्कभेद); धात्यास्त्र, तथा मूत्रवर्गा (प्रकार के मूत्र) से संग्रहीत करें। भोजनार्थ—षष्ठिकशाली (सांठी के चाल), मूंग, उड्ड, जै, तिल, कुलथी, बेर, अंगू, मुन्का, किसमिस, फलसा, हरड़, बेहड़ा, आवला, ये संग्रहीत करें। भिन्न स्नेह तथा स्वेद के उपयोग द्रव्य और उपकरण वसन, अनुलोमन उभयतो भागहर, संग्रहणीय, दीपनीय, पाचनीय, उपशमनीय, वातहर औषधियाँ संग्रहित करनी चाहिए, तथा उपदवों की कल्पना कर प्रतीकार के लिए अन्यन्य औषधि, भोजन, कर्मनुकूल औषधि, यंत्र आदि साधन तथा वैद्य जिन जिनको अनुकूल और आवश्यक समझे ऐसे अन्य साधनों का भी संग्रह करें।

इस तरह यह आतुरालय का सम्पूर्ण वर्णन चरक ने दिया है।<sup>१</sup> इसके आधार पर पंचकर्म चिकित्सा विज्ञान के लिए आवश्यक संभारों को यह प्रस्तुत किया जाता है।

१. भैषज्य-उपकरणाद्
  २. आहार तथा पथ्य की उपकरणाद्
  ३. यंत्रादि-उपकरण की उपकरणाद्
- इनका क्रमशः विचार करें।

### १. भैषज्य उपकरणाद्

(पानी के लिए बनाये हुए जलाशय), शराब (सकोरा-प्याला इत्यादि) दर्का कट, (चाटाई), उदंचन (रकेबी-पतली ढक्कन योग्य तशतरियाँ), परिषचन (तवा), मंथन (मंथनिका-बज), आदि स्तोम के साधन, चमड़ा, चेल (कपड़ा), सूत्र (रस्सी-धागा), रुई तथा ऊन आदि को संग्रहीत करें।

### २. भैषज्य उपकरणाद्

वसन, विरेचन, बास्ति, नस्य इन में उपयोग करने योग्य भैषज्य कल्पों का निर्देश तत्त्व प्रकरण में किया गया है। यहाँ अध्यांग, स्नेहपातन तथा अन्य कुछ प्रयोगों के लिए प्रसिद्ध योगों का निर्देश किया जाता है।

### ३. भैषज्य उपकरणाद्

बला तैल अश्वा शान्तवंतर तैल—बला मूल के ६ भाग, दूध ६ भाग, जौ, बेर, कुलथी और दश मूल इनका समिलित वज्वाथ १ भाग, (तैल के समान)—ये सब १३ भाग, तैल का १४वाँ भाग इनमें मेदा, महानेदा, दारहरिदा, मंजिष्ठा, काकोली, क्षीर-काकोली, चंदन, सारिबा, कूठ, तार, जीवक, ऋषभक, सैंधव, शैलेय, वचा, अगुरु, पुनर्नवा, अश्वगंधा, शतावरी, विदारी, मुलेठी, त्रिफला, सौंफ, माषपर्णी, मुद्रापणी, इलायची, दालचीनी, तेजपत्र, इनका बाराक चूप्त कर कल्प स्वरूप में डाल दें और विधिवत् तैल सिद्ध करें। यह वातरोग नाशक तैल है।

### ४. भैषज्य—इस तैल का उपयोग—शोष एवं कमक्षय प्रधान वातव्याधि में अध्यार्थ करें।

२. क्षीरबला शातपाकी तथा क्षीरबला सहस्त्रपाकी तैल—क्षीरबल का क्षीरबला शातपाकी तथा क्षीरबला सहस्त्रपाकी तैल—बला मूल का वज्वाथ २० भाग, तैल तैल २० भाग, और समान भाग दूध मिलाकर दुधशोष पाक करना चाहिए। यह क्षीरबला तैल है। इसी तरह एक सौ बार पाक किया जाए तो क्षीरबला शतपाकी और एक हमार द्वारा दूधशोष पाक किया जाए तो क्षीरबला सहस्त्रपाकी तैल तैयार होता है। यह तैल रसायन गुणावृक्त है। इन्द्रियों का प्रसादन करता है। वातरक्त को नष्ट करता है यह जीवन, बृहण और स्वर तथा शुक्रदोष के लिए प्रशस्त है।<sup>३</sup>

३. शहचर तैल<sup>४</sup>—सहचर (ज़िंटी) का मूल और शाखा के साथ एक सौ पल, दशमूल एक सौ पल, शतावरी ५० पल, लेकर ४ द्रोण जल में बवाश करें। चौथाई शेष रख कर इसमें खस, कूठ, चंदन, नेत्रबाला, अगुरु, देवदारु, हल्दी, सौंफ, तार प्रत्येक एक पल, तैल १ आढ़क मिलाकर तैल सिद्ध करें। यह तैल कम्पनात, आक्षय, स्तंष्ठ, शोष प्रधान वातरोग, उमाद इनमें प्रशस्त है। इसी तरह—सहचर वज्वाथ १०० पल, तैल १ आढ़क, मूली का कल्प १० पल और तैल से ४ गुना दूध (४ आढ़क) लेकर तैल सिद्ध करें। यह तैल भी अध्यांग तथा आधार पर उपयोग करें।

४. प्रसारणी तैल<sup>५</sup>—भैषज्य रत्नावली में पुष्पराज प्रसारणी तैल, कुञ्ज प्रसारणी विज्ञान तैल भी अध्यांग तथा आधार पर संदर्भ से उपकरणाद् तीन प्रकार की प्रतीत होती है। इनका क्रमशः विचार करें।

तैल, त्रिशती प्रसारणी तैल, सतशतिक प्रसारणी तैल, एकादश शांतिक प्रसारणी तैल,

इन में प्रक्षेप करके द्रव्यों में तथा पाक सख्ता में भेद होता है। इनमें से एक तैल यहां दिया जाता है।

**गंधप्रसारणी** १ तुला (५ सेर), असगंध की जड़ १/२ तुला (२।। सेर), लेकर २ द्रोण, जल में (२४ सेर २४ छटांक ८ तौले) क्वथ कर चौथाई शोष रखे। इसमें एक चतुर्थांश (१।। सेर १।। छटांक १/२ तौला) तिल तैल डालकर समान मात्रा में गाय या खेस का दूध, तथा तैल के बाबार कमलुष्प का रस अथवा क्वाथ, और उतना ही शतावरी का क्वाथ और शतावरी डालकर, शतपृष्ठ, छोटी पीपल, छोटी इलायची, कुष्ठ, कटकारी की जड़, सोंठ, मुलेठी, देवदारु, सालपर्णी, पुरुषपर्णी, निर्जनवा की जड़, मंजीठ, तेजपत्र, गास्ता, वचा, पुष्करमूल, अजवाइन, गंधतृष्ण, जटामासी, निर्जन्दी, बला, चिक्रा, गोक्षर, मृगाल इनका कल्क (१-१ तौले) डालकर विधिवत् तैल सिद्ध करें।

**६. नारायण तैल** — बेल की छाल, अरणी की छाल, सोनपाने की छाल, नीम गोक्षर और पुनर्नवा का मूल या पंचांग प्रत्येक १/२ सेर लेकर ४ द्रोण जल में चौथाई शोष करें। फिर सौफ, देवदारु, वचा, जटामासी, लालजंदन, तार, कुठ, छोटी इलायची, शतपर्णी, पुष्करपर्णी, मुद्रगणी, गास्ता, असगंध, सैधल, पुरुषपर्णा प्रत्येक ८ तोला-कल्क डालकर- तिलतैल (३ सेर १६ तौले) बनारी गा गाय का दूध (१२ सेर, १२ छटांक ४ तौला), मिलाकर विधिवत् तैल बनावे। यह तैल अधीर्ण वात, मन्त्रसंभ, कंपवात, शीणेद्धि, बाधिर्व वाक्संग में उपयोगी है।

**६. माषतैल** — माषतैल के भै० १० में ४ पाठ हैं, और महामाष तैल के २ पाठ हैं। महामाष तैल एक सामिष (मास के साथ) और दूसरा निरामिष होता है। यहां का मास ३० पत्त, जल ३ द्रोण, मिलाकर चौथाई शोष क्वथ बना लें। इसमें तिल तैल १ प्रस्थ, दूध ४ प्रस्थ, शुद्ध कौच के बीज, एंड मूल, सौफ, सैधव, सुवर्चल, विडलवण, जीवनीयगण की ओषधियाँ, मंजिष्ठा, चव्यचित्रक, कायफल, सोंठ, मरिच, पिपली, पिपलीमूल, गास्ता, सैधव, देवदारु, गिलीय, कुष्ठ, असगंध, वचा, कद्युर प्रत्येक एक तोले सब का कल्क मिलाकर विधिवत् तैलपाक करें। इसका पान, बस्ति अभ्यंग, मन्त्राशुल, शिरःशुल, कंपवात, कलाय खंज में यह प्रसास्त है।

**७. विषग्रंथ तैल** — तिल तैल ३२० भाग, करबीमूल, धनुरमूल, अर्क मूल, कलिहारी, विष (वृत्सनाभ), देवदारु, दाढ़ी, स्वर्णक्षीर, गास्ता, बरबीर, ज्योतिष्मति, प्रत्येक का ४ भाग मिलाकर विधिवत् तैलपाक करें। यह पक्षाधात, हृत्सर्तंध, कोटियाह, पीठ, क्रिक् और शिरःकंप तथा सर्वांग की जलजड़ाहट को दूर करता है।

**विशेष** — यह जीर्ण आमवात तथा शोथ गुक्त शूल में लाभ करता है।

**८. चंदनबत्ता लाक्षादि तैल** — ऐज्ज्य रत्नावली में ज्वर और राजयक्षमा अधिकार में इसका निर्देश है। योनों में पाठ एक ही है। चंदन, बलामूल, लाख और लामज्जक एक निमोनित कल्क द्रव्य डाल कर विधिवत् तैल पाक करें। कल्क-सफेद चंदन, खस, मुलेठी, सोया, कुलकी, देवदारु, हल्दी, कुठ, मंजीठ, आर, नेत्रबाला, असगंध, बला, दाढ़ी, मूर्वा, मोथा, मूली, इलायची, दालचिनी, नागकेशर, गास्ता, लाक्षा, अजमोदा शिलारस, सारिवा, विडलवण, सैधव। यह तैल धूतुओं को पुष्ट करता है।

**९. विषेष** — शोष, दाह, कार्य तथा वातपित्र प्रथान वोषों में इसका उपयोग हितावह है। **१०. यत्प्राकी यष्टीमधु तैल** — यष्टीमधु व्याथ को १० गुना दूध में सिद्धकर (चौथाई भाग) तिल तैल मिलाकर-यष्टीमधु, महुवा, गंभारी, इनका कल्क (प्रत्येक १ पत्त) मिलाकर तैल सिद्ध करें। (२) अथवा-यष्टीमधु १ पत्त, १ प्रस्थ तैल और ४ प्रस्थ दूध मिलाकर तैलपाक करें। इस तरह एक सो बार पाक करने से शतपाकी यष्टीमधु तैल तैयार होता है। यह वातरक्त श्वास, कास-हङ्गो, पांड, विसर्प कामला, दाह में उपयोगी है।

**११. अष्टकद्वार तैल** — पिपलीमूल और सोंठ-१-१ पत्त, ८ पत्त तक, एक प्रस्थ तैल और समभाग दही मिलाकर विधिवत् तैल पाक करें। यह गृहसी तथा उर की जलजड़ाहट में उपयोगी होता है।

**१२. रास्ता तैल** — एक हजार पत्त रास्ता, १ द्रोण जल में व्याथ कर तैल मिलाकर, अगुरु कुष्ठ, इलायची, प्रियंगु, हेरेपुका, बड़ी इलायची, तार, नल का कल्क मिलाकर तैल सिद्ध करें। यह वेदना प्रधान वातव्यादि में उपयोगी है।

**१३. अस्थिन्ह प्रयोग** — ग्राम्य, आनुप और औदक प्राणियों के अस्थियों को जल में पकाकर (जिन की मृदु हुए ओधिक समय नहीं हुआ है ऐसे प्राणियों की अस्थि) सिंह अलग करें, इनमें दसमूल व्याथ मिलाकर (समभाग) पुनः पाक करें। फिर दूध मिलाकर, जीवक, ऋषभक, विदारी, कौच के बीज, और वातघ तथा जीवनीय गण की ओषधियों का कल्क मिलाकर, तैल सिद्ध करें। यह नस्य, अंजन, पान अभ्यंग तथा अनुवासन बस्ति में उपयोगी है। इसका उपयोग सिरात वात, पर्व शूल, कोष्ठात वात, अस्थिन्ह वात में उपयोगी होता है।

**१४. बेदनाहर तैल** — कारसक्करा १६० भाग, तैल ८० भाग, अहिकेन बीज १६० प्रशामित करता है।

**विशेष** — इसका उपयोग केवल बाह्य प्रयोग में करना चाहिए। इसका पाठ 'वैद्यमनोरमा' में तथा चिं. प्र. में उपलब्ध है।

१५. सेष्वादि तैल १६—इसके दो पाठ हैं। यहां बृहत्सैंधवादि तैल का पाठ दिया जाता है। सैंधव लवण, गजपिण्डी, रसना, सौफ़, अजवाइन, तेजीक्षार, कालती मरिच, क्रूषि, सौठ, सौवर्चित लवण, बिडलवण, बचा, अजमणि, मुलेठी, जीरा, पुष्करमूल, छेटी पिपली प्रत्येक आधे पल लेकर कल्क बनाके, इसमें एंड तेल तथा सौफ़ का कवाश २-२ प्रथम काजी और दधिमस्तु ४-४ प्रस्थ, मिलाकर तैलपाक करें। यह तैल आमबात, हस्तूल, पार्श्वशूल, पृष्ठ शूल, मुख्यशूल, पृष्ठ अश्वरी, बाह्यायाम, अर्दित, आनाह, श्वास इनमें अभ्यगार्थ तथा पानार्थ उपयोग है।

विशेष—संकोच, शूल, ग्रह, और कफप्रधान दोषों में इसका उपयोग हितावह है। १६. दशमूल तैल—इसके कुल ८ पाठ भेषज्य रत्नावली में है। इसमें से मध्यम 'दशमूल तैल' का पाठ यहां दिया जाता है। सरसों का तैल २ सेर तथा क्वाथार्थ-दशमूल के दब्य पुथक् २ पल, करंज मूल या बीज, निर्दिष्टी का मूल, जयंती, धनुर के पंचाग ६-६ पल लेकर २ दोण जल में मिलाकर पकाकर ८ सेर शेष रखें। यह कवाश और सरसों का तैल मिलाकर—उपर्युक्त द्रव्यों के कल्क ६-६ तोला मिलाकर तैल सिद्ध करें। यह शिरःशूल (वातकर्कज), कास, शोथ, कण्ठरिग, नेत्ररोग, मन्यासंभ श्लीपद आदि में उपयोगी है। यह वात-कफ प्रधान वातव्याधि में उपयुक्त करें।

१७. अश्वांशा तैल—इस तैल के—वातव्याधि चिकित्सा तथा बाजीकरण प्रकरण में—दो—स्थान में—दो चित्त चित्त पाठ है। यहां वातव्याधि चिकित्सा का पाठ दिया जाता है। ५ सेर अश्वांशा १ दोण जल में पकाकर चौथाई शेष कवाश बनाके। इसमें तिल तैल १ प्रस्थ, दूध ४ प्रस्थ, कमल की डंठल तथा जड़, कमल के तंतु, केशर, मालतीपुष्प, सुगंधिकाला, मुलेठी, सारिवा, कमल के फूल, नागकेशर, मेदा, पुनर्नवा, मुनवा, मंजीठ, छोटी कट्टरी, बड़ी कट्टरी, नागरमणि, लाल चंदन, गदाख, पलवा, त्रिपलता, सबका सम्मिलित कल्क पाव भाग, डालकर तैल सिद्ध करें। यह बाह्याध्यतर प्रयोग के लिए उपयोगी है। यह खृतातवात, रक्तपित, प्रदर, योनिरोग, शुक्ररोग को दूर करता है। मास तथा शुक्र को बढ़ाता है। इसका अनुवासन तथा अध्यंग में उपयोग करें।

दूध योग—स्वेहपानार्थ शमन, बृहण तथा शोधन विधि के लिए जिन भिन्न धूतों का रोगानुसार प्रयोग किया जा सकता है उनमें से कुछ उपयुक्त धूतों के कल्प यहां दिये जाते हैं।

१८. तिक्तक धूत—तिक्तक रस से सिद्ध-तिक्तक धूत, महातिक्तक, धूत, पंचतिक्तक धूत तथा तिक्ताद्य धूत ऐसे नाम से कुछ द्रव्यों के भेद से चार पाठ भैं। र. में मिलते हैं। इनमें से तिक्ताद्य धूत व्रणोदय प्रकरण में और अच्युतीन कुष प्रकरण में दिये गये हैं। इनमें कुषाधिकर के तीनों का पाठ यहां दिया जाता है।

तिक्तक धूत—हड़, बहेड़, आंवला, हरिद्वा, दारहरिद्वा, अडुसा, जवासा, पित्तपाड़ा, पटोलपत्र, श्रायमणि, कुटकी, और निब की छाल, प्रत्येक २ पल, जल १ दोण में, कवाश ४ सेर अवशिष्ट रहने तक पकाके। इसमें गोधूत १ सेर, तथा पिपली, मोथा, लालचंदन, श्रायमणि, दूधजव और चिरयाता इनका कल्क २० तोले मिलाकर यथाविधि धूत सिद्ध करें। यह धूत १ तोला की मात्रा में २ बार दूध के साथ पिलाके। यह धूत १ तोला की मात्रा में २ बार दूध के साथ पिलाके। यह गुल्म, उदर, शूल, वातरोग और जीर्ण ज्वर में देना चाहिए।

क्रूषि, ज्वर, अर्श, शोथ, ग्रहणी, पांडु और विसर्प में हितकारी है। शोधनार्थ १६ से २४ औंस तक छेंदे दिन की मात्रा आये, इस तरह दिया जा सकता है।

महातिक्तक धूत—सप्तपर्ण की छाल, अतीस, आमलतास, कुटकी, मोथा, पाठ, खस, त्रिफला, पटोल, निब, पित्तपाड़ा, धमासा, लालचंदन, पिपली, गजपिण्डी, यस्त्राख, हरिद्वा, दारहरिद्वा, वचा, दूधजव, श्वासा, इंद्रजव, अडुसा, मूर्वा, गुड्हियि, चिरयाता, मुलेठी और श्रायमणि इनका कल्क १ सेर, गोधूत ४ सेर, आंवले स्वरस ८ सेर, जल ३२ सेर मिलाकर विधिवत् धूत सिद्ध करें। यह कुष, रक्तपित, रक्ताश, विसर्प, अल्पपित, वातरक्त, पांडु, हड्डेग, गुल्म पिला आदि मैं उपयोगी है।

पंचतिक्तक धूत—निब की छाल, पटोल पत्र, कंटकारी का पंचाग, गिलोय, अडुसा, प्रत्येक १० पल, १ दोणजल में पकाकर चौथाई कवाश तैयार करें, पिर १ सेर गोधूत, त्रिफला कल्क २० तोले, मिलाकर धूत सिद्ध करें। यह पंचतिक्तक धूत ५० प्रकार के वातरोग, ४० प्रकार के पित्तरोग तथा २० प्रकार के कफरोग दुष्टवण, कूमि, अर्श, कास, इत्यादि से उपयोगी है।

२. पंचतिक्तक धूत गुण्डु—नीम की छाल, गुड्हियि, अडुसा, पटोल और कंटकारी इनको २ पल (प्रत्येक) प्रमाण में २ दोण जल में अष्टमांश कवाश, पकाये। पिर इसमें ५ पल शुद्ध गुण्डु और गोधूत १ सेर, मिलाकर पकाये। पाक सिद्ध होने पर पाठ, विड्या, देवदारु, गजपिण्डी, स्वर्जीक्षार, यवक्षार, सोंठ, हरिद्वा, सौफ़, चव्य, कुष्ठ, तेजोवती, काली मरिच, दूधजव, जीरा, चित्तक, कुटकी, शुद्धभलातक पत्ता, वचा, पिपलीमूल, मनिषा, अतीस, त्रिपलता, अजवाइन, को एक एक कर्ष प्रमाण में कल्क प्रक्षिप्तकर आलोडित कर स्वांगशीत होने पर कांचपत्र में भर देवे। यह धूत—विषदोष, प्रबलवात, संधिगत वात, अस्थिगत वात, मज्जागत वात, शारुगत धूष, नाईकृष्ण, अर्बुद, भगदर, गडमाला हड्डेग, पांडु विद्यित धूतादि में अतीव प्रशस्त है। मात्रा-३ माशा से ६ माशा। विशेष—पंचतिक्तक धूत गुण्डु यह एक चम्पलारिक लाभ देवेवाली औषधि है।

यह कुष, नाईकृष्ण, तथा सूधि अस्त्रिश पञ्जागत वात में, स्वेहपान क्रम में, शोधन मात्रा में सब वैदेयों को अवश्य उपयोग करनी चाहिए। इसकी शोधनमात्रा १० तोले से २० तोले तक दी जा सकती है। दोने दिन या १२वें दिन विधिवत् विरेवन और रक्तरोग में सिरावेद्ध करने पर निश्चित लाभ होता है।

३. महाख्यात धूत—महाख्यात धूत नामक इस धी का पाठ भैं। र. में कुष प्रकरण में है। खविदि की छाल ५ तुला, सीम सीं की लकड़ी या छाल, असन की छाल, वेतस, निशाय, सप्तपर्ण, सब मिलाकर ३ सेर २ छटांक लेकर यवक्तु कर २० दोण त्रिफला, निशाय, सप्तपर्ण, सब मिलाकर ३ सेर, गोधूत ४ सेर, गोधूत ४ सेर मिलाकर महातिक्तक धूत के सप्तपर्ण से त्रायमणा तक के दब्य कल्क स्वरूप में डालकर विधिवत् धूत सिद्ध करें। यह धूत कुष में पान तथा अध्यंग के लिए बरतना चाहिए।

४. इंदुकांत धूत—पूर्तिकर्ज, देवदारु, दशमूल कवाश तथा षट्पल धूत इनको क्षीर के साथ में सिद्धकर इकुकांत धूत होता है। यह गुल्म, उदर, शूल, वातरोग और जीर्ण ज्वर में देना चाहिए।

६. सारस्वत घृत (निष. प्र.)—आद्रिक, बचा, शिंदू, हीतकी, पिपली, मरिच, पाठा, सेंधव ये प्रत्येक ५-५ भाग, घृत १६० भाग और बकरी का दूध ६४० भाग मिलाकर विधिवत् घृत सिंच्छ करें। सारस्वत घृत को भेषज्य लालती में ब्राह्मीघृत कहा है—इसना पाठ निम्नलिखित प्रकार का है।

ब्राह्मीकल्पक से स्वरस निकाल कर ४ प्रस्थ प्रमाण में ले, गोधृत १ प्रस्थ ले, इसमें वायविङ्ग, सेंधव, चीनी, वचा, प्रत्येक का कल्प १-१ तोला मिलाकर घृत सिंच्छ करें। यह स्मरणशास्त्रिक को बढ़ाता है, वाणी को शुद्ध करता है, कुष्ठ, अर्श, गुल्म, प्रमेह, कास, हल्दी, आंबला, मीठा कूर्ठ, त्रिष्टुत और हरड़ प्रत्येक का कल्प १ पल, एवं पिपली, वायविङ्ग और सिंच्यों के बद्धत्व दोष में लाभप्रद है।

७. पंचगव्य घृत—गोद्वारी १ भाग, गोमय १ भाग, गोमूत्र १ भाग, गोदधि १ भाग और गोधृत ४ भाग लेकर धी सिंच्छ करें। यह उमाद और अपस्मार, चतुर्थिक ज्वर, ग्रहबाधा इनके लिए बहतना चाहिए।

८. त्रिफला घृत—त्रिफला घृत और त्रिफलादि घृत ऐसे दो पाठ भैं। र. में नेत्रोगाधिकार में दिये हैं। गोधृत १ सेर, त्रिफला १ सेर का सिंच्छवाथ ३ सेर, गोदूध १ सेर, कल्पन-त्रिफला, मुनक्का, क्रिकट्ट, मुलेठी, कुटकी, पुंडरीका काठ, छेटी इलायची, विड्गा, नागकेशर, नीलकमल, श्वेत सारिका, कुञ्जसारीना, श्वेचंदन, हारद्वा, दारु हरिद्रा, कल्पक १-१ तोला मिलाकर घृत सिंच्छ करें। यह त्रिफला घृत है।

गोधृत १ सेर, त्रिफला बनायाथ तथा शतावरी स्वरस या क्वाश २-२ सेर और कल्पकर्थ मुलेठी २० तोला डालकर घृत सिंच्छ करें। यह त्रिफलादि घृत है। ये दोनों तिमिर में लाभप्रद हैं। तथा नेत्रताव, कामला, काच, अबुद, विसर्प, प्रदर, कङ्ग, शोथ, खत्तताव, खालित्य, पालित्य-वर्म, सुक (निक्रोग), तथा वत्सर्गतरोगों में इसका उपयोग करें।

९. अश्वगांधादि घृत—अश्वगांधा, विदारी, शतावरी, गोक्षुर, आमलकी, चर्णीमधु, पुनर्वा, उशीर, एंडमूल, वृणपचमूल में सब समभाग, निन्हुकरस—१० गुना, घृत निन्हुकरस के समान लेकर विधिवत् सिंच्छ करें। (निष. प्र.) ११. भैं। र. में अश्वगांधा कल्प १ सेर, अश्वगांधा कल्प १ सेर, अश्वगांधा ४ सेर, अश्वगांधा कल्प १ सेर, गोदूध ४ सेर में विधिवत् गोधृत १ सेर, अश्वगांधा का बनाया ४ सेर, अश्वगांधा कल्प १ सेर, गोदूध ४ सेर में विधिवत् धी सिंच्छ करें। यह वात रोगों को नष्ट करता है और वृथ्य है।

१०. कल्पन-घृत—जीवत्तादि घृत—

११. घृत घृत—

१२. घृत घृत—

१०. जीवत्तादि घृत—	गजयक्षमा अधिकार शमन प्रकार से ] देव बैहण प्रकार से ] देव
११. घृत घृत—	ज्वर, कास, उदर अधिकार
१२. घृत घृत—	ज्वर, गुल्म, उदर, कास, श्वास, हिक्का, आमवात, प्लीहा वृद्धि, गुल्म, भग्दर, गुध्रसी इत्यादि में लाभप्रद
१३. घृत घृत—	कास रक्तपित
१४. घृत घृत—	रक्तपित, ज्वर, गुल्म, शूल, बक्त, वृद्धि, लीला वृद्धि, हृदग्रह इत्यादि रोगों में उपयोगी योनिश्चल, योनिरोग, तथा बंधात्म में उपयोगी योनिश्चल, योनिश्चल बंधात्म में उपयोगी गौनिश्चल, दाह मूत्रकृच्छ्र मूत्रकृच्छ्र, कटिसंध विबध, मेंद्र शूल, बंधाणशूल, गौनिश्चल, गुल्म, वातरक्त इत्यादि में देव।
१५. घृत घृत—	गुल्म, संग्रहणी, गांड प्लीहा वृद्धि, कास, ज्वर में उपयोगी।

अन्य शैषण्य संग्रह	गृह्णना भवेत्—शुंठी १ भाग, मरिच १ भाग, पारद १ भाग, गंधक १ भाग, टंकण १ भाग, जयपाल बीज ३ भाग खरूल करके रख दें। यह तीव्र विरेचन के लिए १ से २ रत्ती की मात्रा में दें।
१. नाराचरस—टंकण १ भाग, पिपली २ भाग, जयपाल बीज ६ भाग-महीन पीसकर रख दें। तीव्रा शुंठी २ भाग, पिपली २ भाग, जयपाल बीज ६ भाग, गंधक २ भाग, विरेचन के लिए इसका उपयोग करें। मात्रा १ से २ रत्ती।	२. नाराचरस—टंकण १ भाग, पिपली २ भाग, जयपाल बीज ६ भाग, गंधक २ भाग, शुंठी २ भाग, पिपली २ भाग, जयपाल बीज ६ भाग-महीन पीसकर रख दें। तीव्रा शुंठी २ भाग, पिपली २ भाग, जयपाल बीज ६ भाग, गंधक २ भाग, विरेचन के लिए इसका उपयोग करें। मात्रा १ से २ रत्ती।
३. जलोदारी रस—पिपली, मरिच, ताम्र भस्म, हल्दी, प्रत्येक का चूर्ण—१-१ तोला, जयपाल बीज ४ तोले, शूहर के दूध के साथ खरूल करके रख दें। मात्रा—२ रत्ती यह भी तीक्ष्णा विरेचन के लिए उपयोगी है।	४. आरबद्ध हीरीतकी फांट—आरबद्ध मज्जा १ भाग, हीरीतकी १ भाग—फांट
४. महावैशाचिक घृत—	महावैशाचिक घृत—उमाद अधिकार शमन प्रकार से दें,

- १. कूर्मांड घृत—अपस्मार अधिकार शमन प्रकार से दें।
- २. श्वीरकल्पाणक घृत—उमाद अधिकार शमन प्रकार से दें।
- ३. महाजल्याणक घृत—उमाद अधिकार शमन तथा शोधन उमाद अधिकार शमन प्रकार से दें,

५. विरेचन कथाय<sup>२०</sup>—मार्किङ्का (स्ट्रॉफ्री) १ भाग, हरीतकी १ भाग, द्राशा १ भाग, यट्टमधु १ भाग, गुलाब कलिका १ भाग, शुष्टी १ भाग, निशोत्तर १ भाग—क्वचिं विधि से सिद्ध कर रख दे। मत्रा २ से २ ॥ तोला। यह मृदु विरेचन के लिए उपयोगी है।

६. बालेचन—इच्छा भेदी १ भाग, यट्टमधु ८ भाग, एकल मर्दन कर रख दे। मत्रा २ से ६ रसी। बालकों को विरेचन के लिए अश्वा बड़े और बुढ़ों को मुद्रेचन के लिए उपयोगी है।

७. गंधर्वहस्तादि कथाय<sup>२१</sup>—एंड मूल, चिरबिल्व (करंज भेद), चित्रक, शुंठी, हरीतकी, पुनर्वा, धमसा, भूमिताल (भूताल) इनका कथाथ सेंधव और गुड़ मिलाकर प्रयुक्त किया जाता है। यह सब वातरोग के लिए लाभप्रद है तथा मलशोधन के लिए इसका उपयोग होता है। अतएव पिण्डित्विल और पिण्डित्वेद के कलाल में (२१ दिन तक) प्रतिदिन २ ॥ तोला २ बार यह कथाथ देना चाहिए।

८. राजगापन बस्ति कथाथ—मुस्ता, पाठा, गिलोय, गस्ता, पुनर्वा, मंजीठ, आमलतास, खस, त्रायमणा, बहेड़ा, कुटकी, लघु पञ्चमूल, ये १-१ पतल, मदनपत्रल आठ इनको एक आढ़क जल में पकाकर चौथाई शेष कथाथ करें। इसमें २ प्रथ्य दूध मिलाकर पुनः दुध शेष पाक करें। यह कथायं योजयापन बस्ति देने के लिए उपयुक्त है। दूध के साथ पाक किये हुए कथाथ को तुरन्त उपयोग करना चाहिए।

उपयोग—दुध शेष कथाथ में चतुर्थशंश जंगल रस, धी, मधु सेंधव, मुलेठी, सौंफ, श्यामा, इंद्रजी, रसोत, कल्क मिलाकर मंदानिनि पर गरम कर मुखेणा बस्ति दे। यह बस्ति—मांस, अन्न, बल, शुक्र को बढ़ाती है। वातरक्त मोह, मेह अर्श, गुल्म, मल, मूत्रावरोध, विषम ज्वर, वीतर्स, वर्ष्य, आधमान, प्रवाहिका, वंक्षणपत्रल, कटिशल, कुक्षिशुल, मन्यशुल, श्रोत्रशुल, शिरशुल, अमुदर, उम्माद, शोश, कास, अशमरी, इस्तादि रोगों में परम लाभ करती है। यह चक्षुश्च है, पुत्रपद है, रसायन है तथा यापन दंस्ति में राजा (श्रेष्ठ) है—अतः राजगापन कहलाती है।

९. फलवर्ति—मदनपत्रल, पिपली, कुठं, वचा, सफेद सस्तों, गुड़ और क्षार सबको महीन पीसकर वर्ति बना लेवे। यह वर्ति गुदा में प्रविष्ट करने से आनाह और उदावर्त में लाभ होता है। बमन विरेचन व्यापद तथा बस्ति व्यापद में इसका उपयोग करना चाहिए।

## २. आहार तथा पथ्य की उपकल्पनाएँ

शोधन पूर्व अथवा शोधनोत्तर-पेया, विलेपी आदि संसर्जन क्रम, कहीं तर्पण क्रम, मंथादि, कहीं औषधियों के साथ मंड, सुरा, कांजी आदि के कल्प देने का उल्लेख तत्तद संदर्भ में पीछे किया गया है। उन कल्पनाओं को यहां स्पष्ट किया जाता है।

१. मंड-पेय-बिलेपी—मंड, पेया और विलेपी यह तीनों यवाणु के भेद हैं। यवाणु में जहाँ सिक्ख (नीचे जमा होनेवाली स्थिरी) को छोड़कर केवल ऊपर का द्रवधारा लिया जाता है—उसे मंड कहते हैं। जिस यवाणु में द्रवधारा अधिक और सिक्खधारा कम हो उसे पेया कहते हैं और जिस यवाणु में सिक्खधारा अधिक हो और द्रवधारा कम हो उसे विलेपी कहते हैं। इसके मान का प्रमाण सुश्रुत ने ऐसा दिया है कि—एक समय एक व्यक्तिका विलेपी होती है—बृहण करती है, तप्पण करती है, हस्तय को बल देती है, मधुर होती है और पित का नाश करती है। यूष बल को बढ़ाता है कंठ के लिए हितकर होता है, इसका भी

को जितना भात खाने के लिए लगता हो—उसके चतुर्थांश प्रमाण में चावल यवाणु के लिए लेना चाहिए। यदि मंड की कल्पना देनी हो तो—उक्त चावल में १४ गुना औषधि सिद्ध जल कर पकावे। जब चावल अच्छी तरह पक जाये तब ऊपर का द्रव भाग—नीचे के घन सिर्फी को छोड़ते हुए नियार लेवे। पेया बनानी हो तो—मोटे पीसे हुए चावल में ३: गुना औषधि सिद्ध जल डालकर पकावे और द्रवांश अधिक तथा सिक्ख कम हो ऐसे समय निकाल कर पीने को देवे। विलेपी बनानी हो तो मोटे-पीसे गए चावल में ४ गुना औषधि सिद्ध जल डालकर सिक्ख अधिक हो और जल कम हो ऐसे पकावे। यवाणु कल्पना में प्रयुक्त चावल पहले भूंज लेना अच्छा होता है।

चावल के अतिरिक्त जौ, सौंवा, गवेधुक (तिनी), आदि शूक धान्यों के तड़के केवल औषधि द्रव्य का सकते हैं। यवाणु देने के पाठ में चावल न लिखा हो और आदि डालकर यवाणु पका सकते हैं। यवाणु देने के पाठ में चावल न लिखा हो तो आदि डालकर यवाणु की लिखें हों तो वहां परिधारोक्त प्रमाण में चावल डालना चाहिए। यदि जौ, सौंवा आदि का पाठ लिखा हो तो चावल न लेकर उसमें ही यवाणु बनानी चाहिए। अनन्त, खार्डै, लवण, मीठा दूध डालने का पाठ हो तो आतुर की रुचि के अनुसार पात्रायुक्त प्रयोग करना चाहिए।

शार्दूलधर ने, १६ तोला औषधि द्रव्य में ६४ पतल (३ से १६ तोला) पानी डालकर आदा अवशिष्ट (१ ।। सेरे लगभग) रहने तक पकाकर जो कल्पना मिल होती है उसे यवाणु कहा है। कल्क साध्य यवाणु बनानी हो तब—तेक्षण वीर्य औषधि १ तोले, मध्यवीर्य औषधि हो तो २ तोले और मुट्ठ वीर्य औषधि हो तो ४ तोले और स्थित लेकर, सूक्ष्म कपड़हान चूपना चाहिए। पिर जल में पीसकर कल्क बनावे, इसमें उपर्युक्त प्रमाण में चावल मिलाकर ६४ तोले जलमें पकाकर मंड-पेया-या विलेपी विधान से यवाणु बनावे।

२. शूष निर्माण—औषधि द्रव्य के साथ जल, ब्याश, छाउ आदि द्रव पदार्थ और आदा अवशिष्ट (१ ।। सेरे लगभग) रहने तक पकाकर जो कल्प तैयार किया जाता है उसे यवाणु कहा है। और चावल, जौ, सौंवा आदि शूक धान्य को पकाकर बनाये हुए कल्प यवाणु कहते हैं। यहां पर भी औषधि प्रमाणीकृति का १ तोला, मध्य का २ तोला और मुट्ठ का ४ तोला लेना चाहिए। औषधि का कल्क बनाकर उसमें ४ से ८ तोले मुंग आदी धान्य डालकर ६४ तोला जल में पकावे। आधा या चौथाई शेष रहने पर मुंग आदी अच्छी तरह पक जाने पर कपड़े से छानकर-द्रव भाग (यूष) पीने को देवे।

३. कृत और अकृत यूष—जिस यूष में नमक, सोंठ, मरिच आदि मसाले, अनादाने दही, आदि अमलद्रव्य न डाला हो और स्नेह (धी या तेल) का छोंका देकर न बनाया हो, उसे, असेह लवण कटवादि युक्त साध्य यूष को अकृत यूष कहते हैं और जिसमें नमक, सोंठ, मरिच, अमल द्रव्य डाले जाते हैं, और स्नेह का छोंका दिया जाता है, उसे 'कृत यूष' कहते हैं। यूष की कल्पना बिना औषधि द्रव्य के भी बनाई जा सकती है।

पेया लघुत्तर होती है। इसका विलेपी और यूष की अपेक्षा पाचन जलदी होता है। २२ अतएव शोधनोत्तर पहले पेया दी जाती है। यह ग्राही होती है, धातु की पुष्टि करती है। इसका विलेपी पर धूप करती है। यह व्यापारी होती है, तप्पण करती है, हस्तय को बल देती है, मधुर होती है और पित का नाश करती है। यूष बल को बढ़ाता है कंठ के लिए हितकर होता है, इसका भी

पचन जल्दी होता है और कमशामक होता है। कृत यूष में कट्ट से कम साले होते हैं अतएव ये यूष शोधनोतर पहले यूष के बाद केवल को कहा गया है।

**४. मासरस की कल्पना—**मासरस बनाना हो तब जल उतना लेना चाहिए जिससे मास अच्छी तरह पकाकर उसका सारभाग जल में आ जाये। एकमत ऐसा है कि गाढ़ा मास रस बनाना हो तब ३२ तोला मास और ६४ तोले जल डालकर बनाये, मध्यम बनाना हो तो ६४ तोले जल में २४ तोले मास और पतला बनाना हो तब ६४ तोला जल और १६ तोला मास डालकर पकाकर बनाये। पकाने की विधि बनाये के समान चुरुर्णीश और १६ तोला मास पक जाने पर कपड़े से छान लेवे। मासरस के भी अकृत मासरस कृतमास रस दो प्रकार हैं उन्हें यूषवत् समझा चाहिए। अर्थात् माठ, मीठ, असादि संयुक्त स्नेह से छोका हुआ मासरस कृत मासरस है, उसके बिना तैयार किया हुआ मासरस अकृत कहलाता है।

**५. प्रमथा—**४ तोला औषधि के चूर्ण को जल में पीसकर कल्क बनाकर ३२ तोले जल में पकाकर ८ तोला शब्द रहने पर छान कर जो कल्पना तैयार होती है उसे प्रमथा कहते हैं।

**६. उण्डोदक—**जितना जल चाहिए उससे चौगुना जल लेकर अनिपर उबाल कर चौथाई शेष रख कर कपड़े से छान लेवे। यह उण्डोदक वर्मन, विरेचनादि कर्मों के बाद सेवनार्थ प्रयुक्त करें।

**७. भेषज सिद्ध जल—**एक तोला औषधि और ६४ तोला जल मिलाकर आधा शेष रहने तक पकावे। यह औषधि सिद्ध जल है।

**८. मंथ—**कुटे हुए ४ तोले द्रव्य को मिट्टी के बर्तन में डालकर उसमें १६ तोला ठड़ा जल मिलाकर मध्यलिका से खूब मध्यकर कपड़े से छान लें। इसकी ८ तोला मात्रा दिन में दो बार पीने के लिए दे। सर्द ४ तोला लेकर घी में मसलकर इसमें १६ तोला पानी डालकर खूब मध्यकर कर मध्य तैयार ही करें, अथवा उतना पानी डाले जिससे सत्तु न अधिक गाढ़ा हो न पतला। इस मध्य में—शंकर, गुड़, मधु मिलाकर यथायोग्य पिलावे। यह मध्य तैयार के लिए देना चाहिए।

**९. सीधु—**गन्ने के रस आदि मीठे द्रव पदार्थों को अन्नि पर पकाये बिना संधान कर जो मध्य तैयार किया जाता है उसे शीतरस या सीधु कहते हैं। इन्हीं की पकाकर संधानकर जो मध्य कहते हैं।

**१०. मुरा—**चावल, यव आदि अन्न को पकाकर उसमें जल और किणव डालकर संधान करने से जो मध्य तैयार किया जाता है उसे मुरा कहते हैं। मुरा के अपर के स्वच्छ भाग को प्रसाच, उससे जो गाढ़ भाग है उसे काटबरी, काटबरी के नीचे के गाढ़ भाग को जंगल और जंगल से भी नीचे गाढ़ भाग को कपड़े से छान लेने पर जो सार (द्वितीय) भाग होता है उसे बक्स कहते हैं। इसे भी बिल्कुल या मुराबीज कहते हैं। यह—आसव, अरिष्ट बनाने के लिए संधान के लिए उपयोगी होता है।

**११. शुक्तलक्ष्यना—**अरिष्ट आदि मध्य लिंगाड़ कर खड़े बन जाये, या गन्ने आदि का मीठा रस खरब कर जाये तो उसे शुक्त या तुक (सिरका) कहते हैं। जल में राई,

गमक, कंद, मूल, पल्ल तैलाक्ष मूँग आदि डाल कर रखने पर ४-५ दिन में वे बिंगड़कर खड़े होते हैं उसे भी शुक्त कहते हैं। गन्धा, अंगूर, जामुन, आदि के रस को मिट्टी के घड़े में रख बुंधपर कपड़ा बांधकर उसकी दूष में रखे। जब रस खड़ा हो जाये तो निकाल कर पात्र भर दे। इसे भी तिरका कहते हैं।

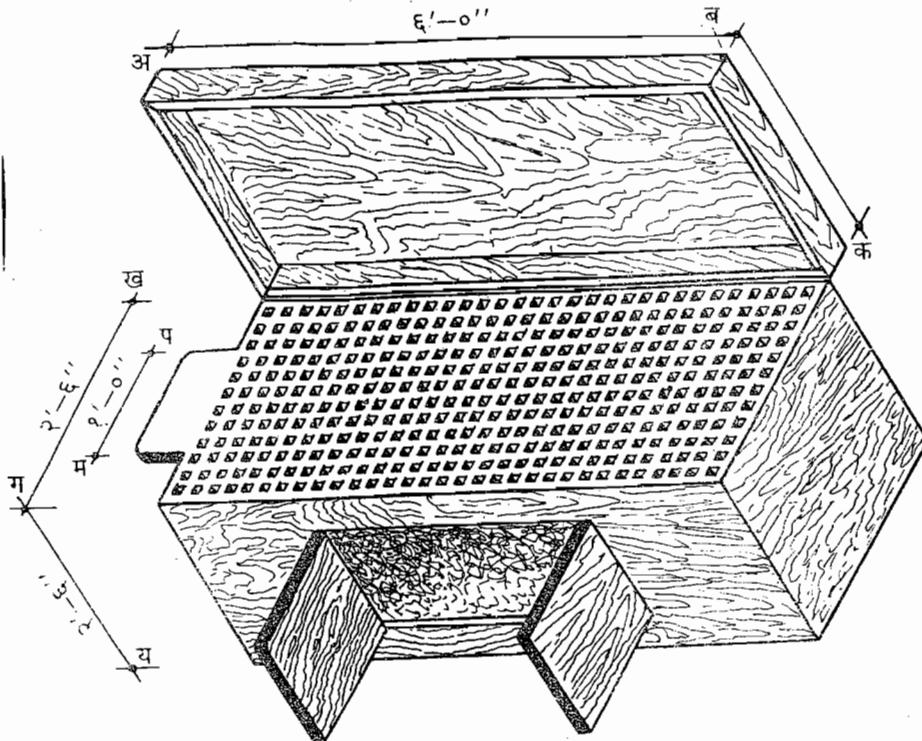
**१२. कोंडी या कोंडिङ्की की कल्पना—**चावल को जल में पकाकर मिट्टी के घड़े में तीन गुना पानी में डालकर घड़े के गुह को कपड़े से बांधकर उसमें खटाई उत्पन्न हो जाये तब तक रखे। साधारणतः ७ दिन तक रखना होता है। इसे शाय्याम्ल, आरान्त या काजिक कहते हैं।

### ३. यंत्रादि उपकरण की उपलक्ष्यनाएं

पंचकर्म प्रयोगोपयोगी जिन साधनों का पीछे उल्लेख किया गया है, उनका यहां प्रत्यक्ष निर्माणार्थ वर्णन किया जाता है। इस यंत्रोपकरणों का शास्त्रार्थ पीछे किया गया। यहां उन्हीं उपकरणों का वर्णन किया जाएगा जिनके निर्माण में उपयोग का निर्देश किया जाएगा। यहां को तत्त्व प्रकरणानुसार समझ लेना चाहिए। सामाचरतः निन्मलिखित यंत्र परिश्रम पूर्वक तैयार कर पंचकर्मवन में रखना चाहिए।

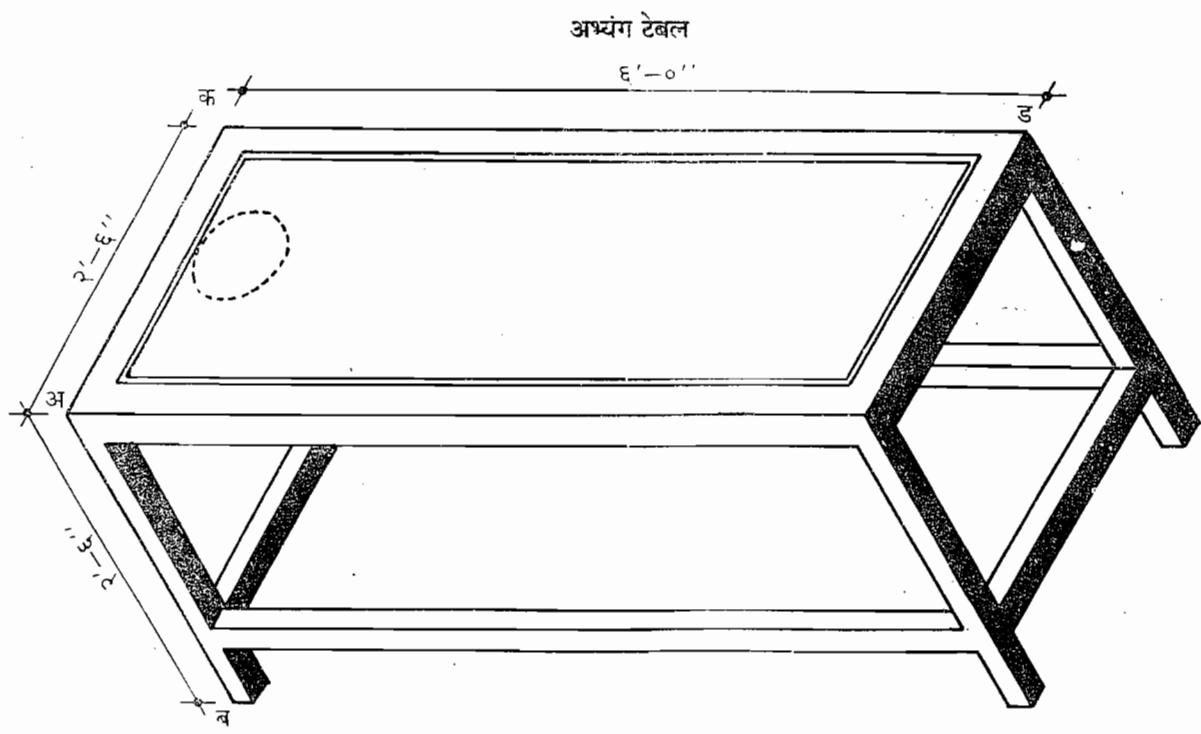
१. अध्यंग टेबल
२. वाष्पस्वेदन यंत्र
३. अवगाह कोष्ठक
४. तैल द्रोणि
५. शिरोबीस्तियंत्र
६. बास्तिनेत्र
७. गलन्ती
८. नस्य पीट
९. अध्यंग टेबल—यह एक काष्ठ निर्मित सादा टेबल है जिसकी आकृति बाजू में दी गई है। द्रोणी के लिए उपयोगी जो लकड़ी कही गई है, उनमें से किसी एक से अध्यंग टेबल बनाना उचित है, अथवा साग की लकड़ी से कम से कम सांधि रखते हुए टेबल बनाये। यह एक ऐसा टेबल है जिसकी लंबाई ६ फीट (कि. डॉ = ६), चौड़ाई २।। फीट (अ क = २" = ६") और ऊँचाई २।। फीट (अ ब = २" = ६") होती है। ऊपर का सार प्रशस्त निर्माण, इसका दृढ़ हो और हो सके तो एक ही काष्ठ से निर्मित अन्यथा एक संधिवाला हो। संधिवालन पका हो, तैलादि का त्रिवण्ण इसमें से न हो, और आतुर के शरीर को चिमट से ऐसा न हो इसका ध्यान रहे। स्तर के कोने से चारों बाँह पर आधा इच्छ गहरा, १ से १।। इच्छ चौड़ा एक ढलाव इस टेबल को बहुलक्षी (Multipurpose) बनाता है। और समयानुसार इसका धारा के लिए भी उपयोग किया जा सकता है। टेबल के सतह पर शिर के बातु में ६" व्यास की गोलाकार पीतल

के तर्बे के आकार की अंदर की ओर ढलाव वाली एक ऐसी चिकित्सा लगानी चाहिए जिसके मध्य में एक छिद्र हो और वह छिद्र टेबल के उसी स्थान के छिद्र के साथ संयुक्त होकर आपार छिद्र बनाता है। यह चिकित्सा इस टेबल को शिरोधारा के लिए उपयोगी होती है।



बाष्पस्वेदन-यंत्र

अब = ६'-०" बक = २'-६"  
खग = २'-६" गय = २'-०"  
मप = १'-०"



अब = २'-६"

अक = २'-६"

कड = ६'-०"

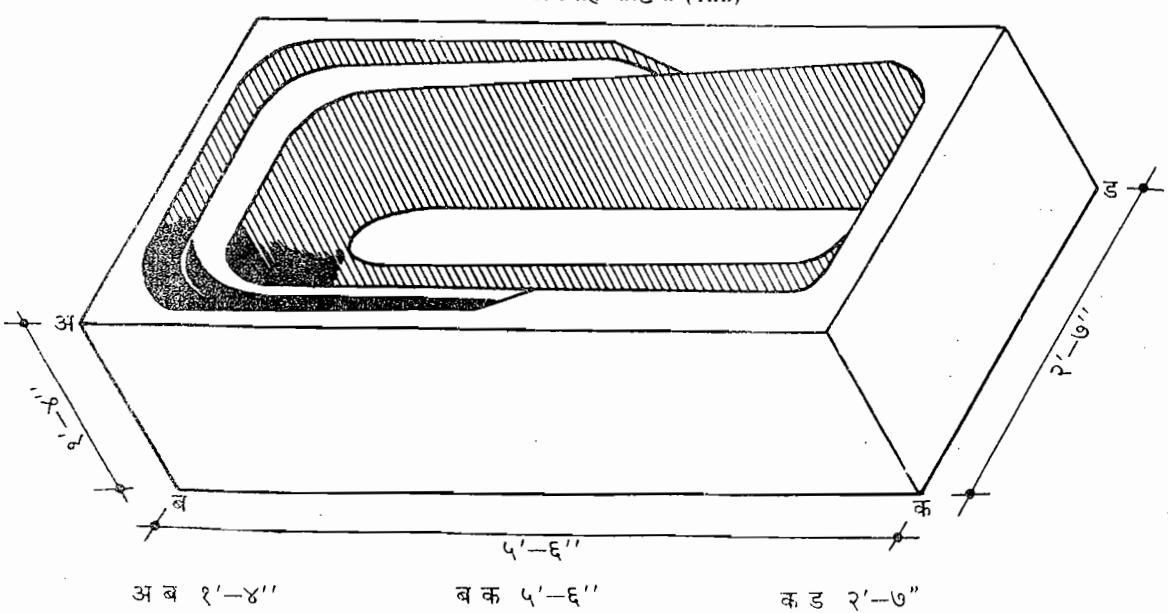
अवस्था में रखकर अध्यग किया जाता है। यह शरीर धारा के लिए उपयोग करना होता है तो तैल को निकालने की व्यवस्था करें और शिरोधारा के लिए उपयोग प्राप्त करना चाहिए। इस टेबल पर अध्यग, उद्वर्तन, मर्दन, लेपन, सबाहन, इत्यादि कर्म किए जा सकते हैं।

**२. वाष्पस्वेदन यंत्र—सर्वांग में वाष्पस्वेद करने के लिए निर्मित यह लकड़ी की पेटी आकार का टेबल के सदृश ही उपकरण है जिसकी आकृति बाजू में दी है। चित्र में इस पेटी के द्वार को खुला रखकर, तथा नीचे के अंगारथनिका रखने के स्थान के कामाते चौड़ा और २ फीट ऊँचा लकड़ी का ऐसा टेबल है—जिसकी चारों बाजूएँ लकड़ी से बंद हैं—जिससे वह पेटी के आकार का दिखाई देता है। चित्र में ग ख २'-६" इसकी चौड़ई है, अ ब-६' इसकी लंबाई है और य ग-२ फीट इसकी ऊँचाई है। इसके ऊपरी सतह पर एक जालीदार सच्छिद चौरास नीयर किया जाता है—जिसमें साधारणतः प्रत्येक लिंग एक इंच चौरास प्रमाण का बनता है। सिर के बाजू में चित्र में दियादर्शित प्रकार से एक फलक बनाना चाहिए जो ६" लंबा और १" चौड़ा होता है (म य = १ फुट)। चित्र में अ ब क ड से बना हुआ फलक इस जालीदार स्तर को ढकने का फलक है जो सीधा और स्तर पर अंतर न रखते हुए उससे चिपटकर ढक लेता है। कुछ लोग इसे बोहरायाम ग्रनार का ऐसा बनाते हैं कि आतुर को चौरास पर लिटने के बाद यह फलक उसे ढक कर ठीक है। इसका उद्देश्य केवल चौरास को काम के अंतिम समय में ढकना इतना है। इसी तरह फलकावृत इस यंत्र को ऊपरी-स्तर अध्यग टेबल के सदृश काम में लाया जा सकता है। वाष्पस्वेदन यंत्र के बाजू में तो क्याट होने चाहिए—जिनको बंद करने पर अंदर के भाग को पूर्णतः बंद कर सके।**

**उपयोग—क्याटों में अंगार श्वनिका रख उस पर दशमूलादि व्याध के पात्र रखा बाद लिटावे—और ऊनी कंबल उस पर आढ़ा देवे। आतुर को ऐसा लिटाया जाये कि उसका शिर, खास निर्मित 'म य शिः'फलक पर आ जाये। तुङ्ग ही देर में व्याध में से वाष्प तेयार हो वर वह ऊपरी स्तर के छिद्र में से आतुर के गांतों तक जाकर स्वेदन करती है। स्वेदन के बाद क्याटों में से अंगार श्वनिका, व्याध पत्र निकाल कर स्वेदन यंत्र का आवरक फलक नीचे उतारकर उसे ढक देना चाहिए।**

**३. अवगाह कोष्ठक—यह नहाने का टब है। इस कोष्ठक के लिए एल्युमीनियम के फायबरग्लास के द्वारा भी टब बनाये जा सकते हैं। यह इंच ऊँचा और लंबाई २१६" है। फीट लंबा, २।। फीट चौड़ा फीट, अ ब १६ इंच ऊँचा कोष्ठक होता है जिसका चित्र बाजू में दिया है। ब क लंबाई-५।। के तल में एक बड़ी चोत (छिद्र) रखना चाहिए जिसकी स्पूरणता: बंद करने के लिए**

अवगाह कोष्ठक (tub)

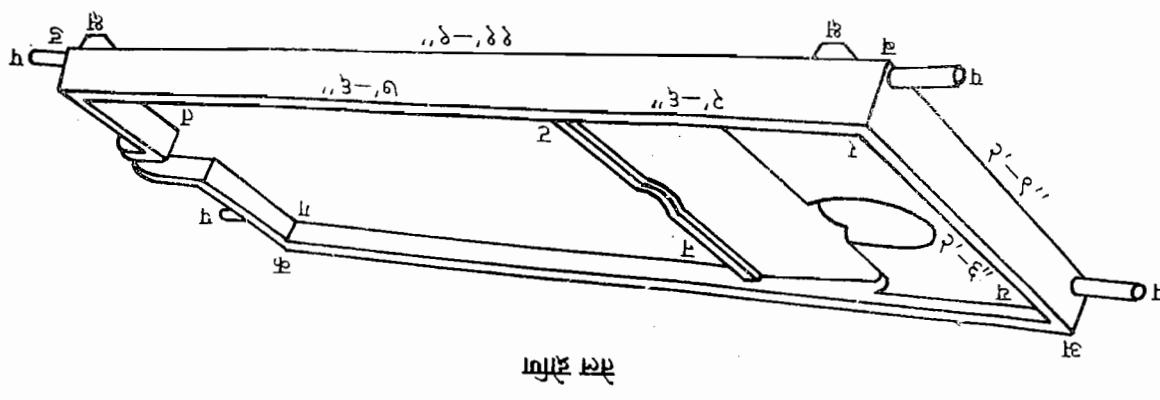


मजबूत डाटा ढक्कन होना चाहिए। कोष्ठक का अवगाहोतर जल इस स्वीत से बाहर निकाल देना चाहिए।

उपयोग—इस कोष्ठक को करीब १२ इंच तक भरकर इसमें आतुर का विधिवत्-

अविहाह स्वद करना चाहाए।  
५. तैल द्रेणि—पिण्डित के प्रयोग के लिए खास प्रकार का उपकरण तैयार किया जाता है जिसे तैल-द्रेणि कहा जाता है। इसका निर्माण निम्नलिखित प्रकार से करना चाहाए।

यह एक काष्ठ निर्भित पत्र है जिसकी आकृति बाजू में दी गई है। यह दोणि एक ही काष्ठ से निर्माण करना चाहिए—मतलब यह है कि इसमें संधि नहीं हो, क्योंकि संधिश्थान किलना भी अच्छी तरह बनाने पर भी कुछ दिन के बाद इसमें से तेल का बाट्टा: सावध प्रारंभ होता है। दोणी बनाने के लिए प्रथम ध्यारह फीट नीं इच लंबा और २ फीट ६ इच बौंड मन-दूरत काष्ठ पलक तेवे। इस पलक के दोनों बाजू में ६-६ इच का अंतर छोड़कर गोल आकार के दो दो हस्तक तैयार करें। (Handles)—जिनका परिणाह २ इच का हो। अर्थात् जाग तो ऐसा काटे की दोनों बाजू में से दो दो हस्तक तैयार हो—(चित्र में 'प' से चारों हस्तक को बताया है।) अब ऊपर के स्तर में चारों ओर किनारे से १।।।१-१।।।१ इच की काठ को ऐसा काटे की दोनों बाजू में से दो दो हस्तक तैयार हो—(जब ११ फीट ८" का हस्तक तैयार होगा—तो ऊपर की सतह १० फीट ३ इच की लंबाई १० फीट १० पैस्त हो जाएगी। उसी तरह २ फीट ६" चौड़ाई में दोनों बाजू से १।।।१ इच जाकर ३" कम होने पर चौड़ाई २ फीट ६ इच होगी। चित्र में ब र, अ य, क ग, और ड त द्वारा यह हाँसिया का वाली होगी और इसमें १।।।१ इच दोनों बाजू में छोड़ देने से स्तर की लंबाई १० पैस्त हो जाएगी। उसी तरह २ फीट ६" चौड़ाई में दोनों बाजू से १।।।१ इच जाकर ३" कम होने पर चौड़ाई २ फीट ६ इच होगी। अर्थात् दोणी का मूल उपयोगी स्थान 'य ग र त' चौकोन से तैयार होगा। दोणी के अंदर का भाग अब दो उपभागों से विभक्त करना चाहिए। सामने का 'पुरो-विभाग अथवा शिरोविभाग (Anterior Compartment or Head Compartment) ऐसा तैयार करें जिसकी लंबाई २।।।१ फीट और चौड़ाई २।।।१ फीट हो और दूसरा 'पश्चात्-विभाग या शरीर विभाग' (Posterior Compartment or Body Compartment) ७।।।१ फीट लंबा और २।।।१ फीट चौड़ा हो। इसके लिए सामने के बाजूसे २ फीट ४ इच अंतर पर स्तर की चौड़ाई में छोड़ करने वाली एक रेखा पट्टिका डाल देवे। अब १।।।१ इच के फासते पर इस रेखा को समांतर दूसरी रेखा पट्टिका डाल देवे। इन दो रेखाओं के बीच शिरो विभाग और शरीर विभाग एक दूसरे से पृथक हो जाएगा। इसी तरह इन रेखाओं से निर्मित उत्तरेष्ट युक्त स्थान पर आठुर को शिर खबने की सुविधा हो जाती है। देखें चित्र में न ट नामक रेखाएं दोणी स्तर को दो भागों में विभक्त करती हैं। अब य न र ट नामक शिरो विभाग तैयार होता है जिसमें रट तथा य न ये २।।।१ फीट लंबाई लिये हुए हैं, और न ट नामक चौकोन से शरीर विभाग तैयार होता है—जिसमें ट त-७।।।१ फीट परिमाण का है। 'न ग ट त' नामक चौकोन से शरीर विभाग तैयार होता है—जिसका परिमाण ११ इच का है। ११ फीट परिमाण के हैं। अब शिरोविभाग जो कि २ फीट ४।।।१ इच वस्तुतः लंबा है—और २।।।१ फीट चौड़ा है पुनः दो छोटे विभागों में विभक्त करना चाहिए। एक विभाग जो सामान्य स्तर का होगा और सिर की ओर होगा जिसका परिमाण ११ इच का होगा। दूसरा विभाग जो



- ..3-,6 = 上上
- ..3-,6 = 上2
- ..3-,2 = 2上
- ..3-,2 = 22
- ..3-,2 = 上上
- ..3-,2 = 上下
- ..3-,2 = 下下

..δ-,ο = διδ-ιδ  
 ..ο-,οδ = ιι δ  
 ..ο-,οδ = ιι ι  
 ..δ-,ɔ = διδ  
 ..δ-,ɔ = δι δ  
 ..δ-,δδ = δι δ  
 ..δ-,δδ = δι δ

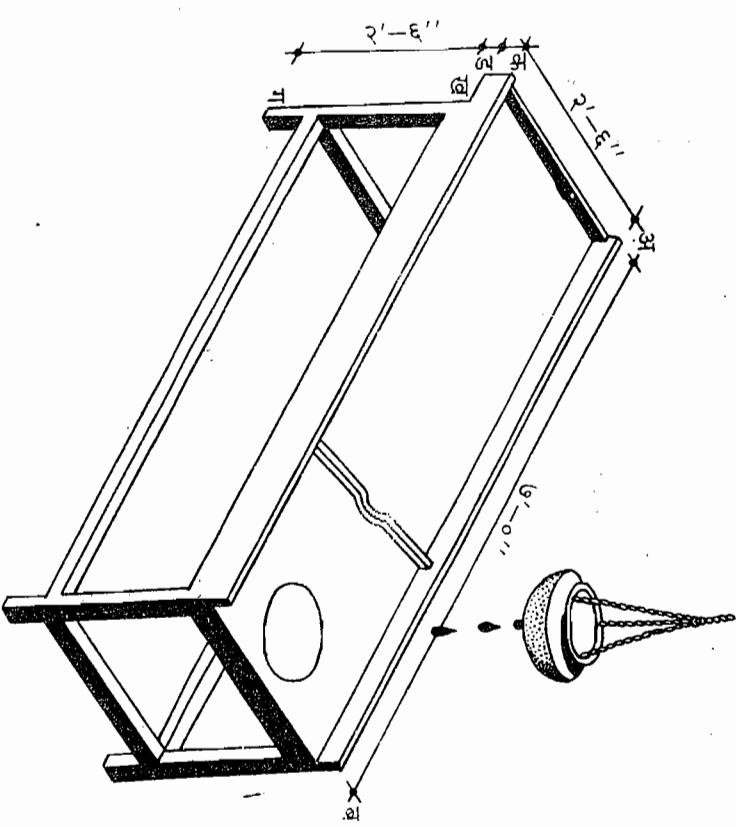
१ कुट् ५ १२ इंच परिमाण का होगा—विभागीय मध्य खेड़ा से सिरा की ओर ढलाव वाला (Sloping) होगा। अब शिरो विभाग के ११" सर के स्थान में पहले के हाँस्य से २ इंच छोड़कर एक ऐसा गड्ढा बनावे जो अर्ध वृत्ताकार हो और १० इंच परिमाण का तथा ६ इंच 'गहराई' का हो। यह गड्ढा एक बाजू से ऊपर निर्माण किए हुए ढलाव वाले सर से कुछ मिला हुआ रखना चाहिए। यह गड्ढा इसलिए है कि आतुर का शिर जो रेखा पर्दी पर स्थित होता है, शिरोधारा करने पर गिरा हुआ ढल ढलाव वाले सर से बहते हुए इसमें संचित हो जाये—और पुनः प्रयोग के लिए इसका उपयोग किया जा सके। रेखापट्टिका से इस गड्ढे तक का सर ऐसा रखे की जो गड्ढे की ओर ढलाव रखता हो। (वित्र में शिरोविभाग में यह गड्ढा और ढलाववाला सर स्पष्ट किया है।) इस गड्ढे के बीचों ओर काष्ठ सर पर जो जगह बची होती है—(या और र के पास) उस पर धारा कर्म के समय आवश्यक स्वल्प सामग्री—छोटे छोटे अध्यांग तेल पात्र तेल धारणाघोषित करन्क-पात्र, टॉबेल आदि रखें जा सकते हैं।

'शरीर विभाग' का सर ऐसा हो जो पात्र की ओर क्रमशः ढलाव लिये हुए है। इच्छा का गहरा हो और अंत भाग में इसमें एक स्तोत-छिद्र हो—जिससे ढल पदार्थ द्रोणी के बाहर स्वित हो सके। (वित्र में ग त के बीच में 'स' नामक यह तोत बताया गया है।) अब शिरोविभाग तथा शरीर विभाग को ऐसा श्लेष्या और लिंगिय बनाये कि उस पर आतुर को लिटाया जा सके। कोई स्थान में काष्ठ शलाका, उत्सेष्य आदि कंठकियुक्तता न रहे इसका ध्यान रखें। दो विभागों को विभक्त करनेवाली रेखा पट्टिका ऊपरी भाग से गोलश्लेष्या और मध्य भाग में अंतरायाम (Concave) गति वाली हो जहां पर मुविधा से सिर रखा जा सके। अंत में चार गोलाकार के ४ इंच परिणामके और २ इंच मोटाईके पादकाष्ठ—इस द्रोणी के तेल में चारों ओर में लगाके जो द्रोणी को जग्मीन पर रखने की मुविधा प्रदान करते हैं। यह केरलीय चिकित्सा पद्धति की द्रोणी है।<sup>३</sup> जहां द्रोणी के दोनों बाजू में कर्मचारी नाण बैठकर पिण्डिचिल करते हैं। तथापि मुविधा के लिए खड़े रह कर धारा या पिण्डिचिल करना ज्यादा आसान होता है। अंत एक इस द्रोणी को रखने के लिए इसी प्राग्यान के काष्ठ का (स्टेंड) प्रतिष्ठान तैयार करना चाहिए जो मजबूत और वजन संभाल सके ऐसा हो। यह प्रतिष्ठान २।। फीट ऊंचा और १० फीट लंबा, तथा २।। फीट चौड़ा होना चाहिए। उत्तम यह है कि शिरो विभाग की ओर कुछ ज्यादा ऊँचाई रखें और पाव की ओर ढलाव रखें—अर्थात् कम ऊँचाई रखें।

द्रोणी के लिए—खाल, उड़िबर, गंधारार, दंडना, बट्ट, देवदार, पुजारा, कलीय,

चोब, बकुल, अशोक, असन, आम, चंपक, बेल, निब, खेर, अमोद, आनंदमध, अर्जुन इत्यादि वृक्षों के काष्ठ प्रसास्त माने गये हैं। धारा कर्मक में कहाँ है कि इसी तरह अन्य किसी का भी उपयोग करना चाहिए। प्रायः एक काष्ठ में निर्माण करने के लिए इतना बड़ा काष्ठ जल्दी में नहीं मिलता—अंत एक—फायबरलास नामक नवीन धातु जो उष्णसहल में उत्तम और वजन में हल्ला होता है—उसका उपयोग करना उचित हो सकता है।

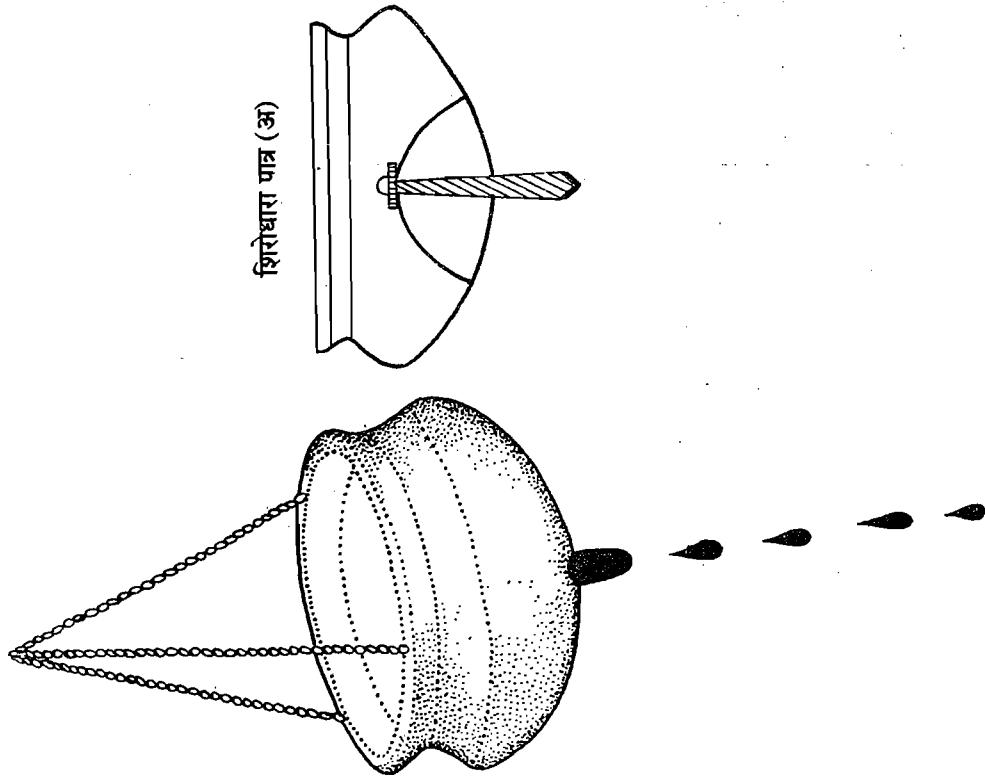
उपयोग—द्रोणी का उपयोग शिरोधारा और पिण्डिचिल के लिए होता है। शिरोधारा—पूरोविभाग में और पिण्डिचिल पश्चात् विभाग में कहाँ है और धारापित त्रिव-गड्ढे में समय रेखापट्टिका पर एक तकिया रखकर आतुर को मुलावे और धारापित त्रिव-गड्ढे में सुन: प्रातकर बारबार उपयोग करें। शरीर धारा के समय त्रिवित स्वेच्छा द्रोणी के अंत भाग के



स्तोत में से स्वित होता है जो उसके नीचे एक पत्र रखकर जमा करें और मुखोषा कर पुनः पिण्डिचिल करें।

६. धारा टेबेल—स्मैल्हारा और शिरोधारा के लिए 'तेलद्रोणी' जिसका वर्णन ऊपर किया है—का उपयोग किया जाता है, तथापि द्रोणी के समान ही उपयोगी, अल्प व्यय में साध्य और मुविधावाला अन्य उपकरण तैयार किया जा सकता है। इसे 'धारा टेबेल' नाम से वित्र में प्रदर्शित किया है। यह एक ऐसा टेबेल है जो ७ फीट लंबा, २।। फीट चौड़ा, २।। फीट ऊंचा होता है। इसकी ऊपरी सतह पर दोनों बाजू में किनारों से तीन तीन इंच तक ऊपर ताक ऊँचाई की दीवारवाली रखनी चाहिए। जिससे टेबेल पर गिरा हुआ ढल टेबेल से बाहर नहीं जा सकेगा। (दिखें—वित्र में) अब ७ फीट लंबाई, अ क

### शिरोधारा पात्र (शिरोधारा कर्म में)



किए हुए उसी आकार के गर्त में वह बराबर बैठ जाये और उसके छिद्र के समांतर टेबल के छिद्र द्वारा और पार स्थोत तैयार हो जाये। इस चक्रिका में शिरोधारा का दब आकार स्वित होगा और छिद्र द्वारा वह नीचे रखे हुए पात्र में संचित किया जा सकेगा। शरीर विभाग का पांव की ओर डलाव होना चाहिए और अंतभाग में एक छिद्र रख कर उससे संलग्न धातु निर्मित पात्र टेबल में ऐसा जड़ देखे कि सभी दब उसमें जमा किया जा सके। शिरोधारा के लिए निर्मित विभाग के ऊपर एक तार या मजबूत डोरी बांधकर उसमें धारापात्र ऐसा लटका दे कि वह कर्म आश्विक अंतर से धारा गिरा सके।

उपयोग—इसका उपयोग दोणी के समान है। इसमें अनावश्यक लंबाई कम की गई है, और उपयोग में फरक नहीं होता। इसके निर्माण में दोणी की उपेक्षा कम व्यय लगता है।

**६. धारा पात्र—शिरोधारा के लिए उपयोगी पात्र को धारापात्र कहा जाता है। यह पीतल, सुबर्ण, स्टील, खर्पर या काष्ठ में से या किसी अन्य धातु का तैयार करना चाहिए। यह एक ऐसा पात्र है जिसका मुख चौड़ा होता है, नीचे की ओर गोलाई में सिकुड़ा होता है और गहराई में ५ या ६ इंच का होता है। इसमें २ प्रथ्य या ६४ औस दब की क्षमता कम से कम होनी चाहिए। इस पात्र के नीचे तल भाग में—कनिष्ठिका अंगुली का अप्रभाग प्रविष्ट हो सके इस तरह का लगभग २ सें. मि. परिणाह का छिद्र कर दे—जो बिल्कुल पथ्य में हो। इस तल भाग पर एक वर्तुलाकार सिकुड़ा लकड़ी का या धातुनिर्मित कप के आकार का—मध्यभाग में छिद्रवाला पात्र उलटा कर ऐसा रख दे—कि पात्र का छिद्र और धारापात्र का छिद्र ठीक समांतर दिशा में आ जाये। इस पात्र के स्थान पर नायिल के किनारे स्थित और धारापात्र में ठीक तरह अवकाश न रखते हुए बैठ जायें। पात्र के या नायिल कवच ध्यान रखें। ऊपर उलटकर रखे हुए पात्र के छिद्र में से कपड़े की या कपास की ढूँढ़ वर्ति इस तरह संबद्ध कर दे कि वर्ति के ऊपर का भाग पात्र के छिद्र को संपूर्णतः बंद न करे—बल्कि थोड़ा-थोड़ा और सतत धारा युक्त दब छिद्र में से पूर्ति में उतर सके। वर्ति का दमरा भाग धारा पात्र के छिद्र से उतरकर पात्र के बाहर आतुर शिर से कीरीब ४ इंच ऊचाई तक लटका रहना चाहिए। वर्ति के पात्र ऊपर के ग्रथिस्थान में लोटी सी लकड़ी की पट्टी डाट के स्वरूप में लगा दे जिससे वह छिद्र में से गिर न जाये।**

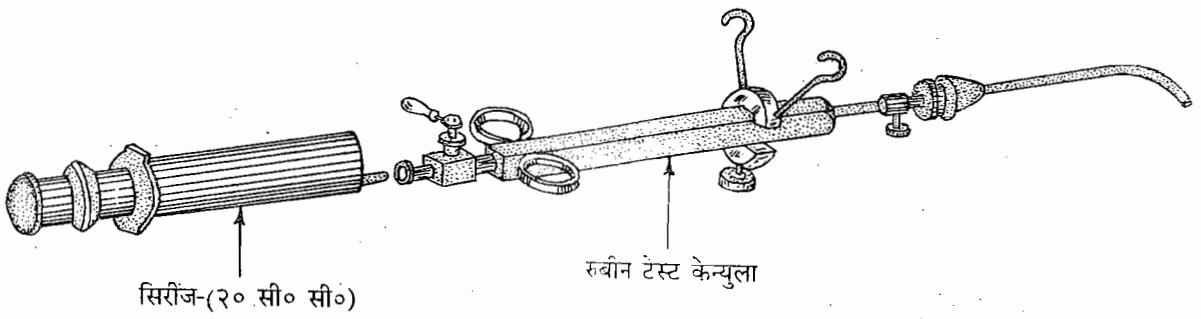
यह धारापात्र आतुर के सिर के ऊपर धारा टेबल पर लटका देना चाहिए। एतदर्थ दूँड़ दोणी पात्र के सभी ओर छिके के जैसा किनारे में बांध दे और तीन बाजूसे तीन डोरियां इसमें बांधकर ऊपर एक कर-समतुल्य रखते हुए लटका देना चाहिए। डोरी का कोई भी धाग पात्र में न जाये इसका ध्यान रखें। (चित्र में धारापात्र का आध्यंतर तथा धाराकर्म में धारापात्र का दृश्यमान स्वरूप दिखाया गया है।)

**उपयोग—**इसका उपयोग शिरोधारा कर्म में—दब पदार्थ की अवधित-सम प्रकार की धारा आतुर के शिर पर—कपाल पर गिराने के लिए किया जाता है।

**७. गलनी—**यह पिण्ठिचिल या स्नेहधारा में उपयोगी ऐसा पात्र है जिसकी तुलना 'झारी' से की जा सकती है। यह पीतल, घादी या सोने का, ताँबे का या कांसे का बनाया जा सकता है। वह चौड़े प्लास्टिक (Plastic)—चंचुपात्र के आकार का दिखाई देता है।

२। फीट चौड़ाई और खंग २'-६" ऊचाई दृष्टिगोचर है। अब खंग के ऊपर से डक नामक ३" ऊपरवाली दीवार दोनों बाजू में तैयार होंगी। इस टेबल के सतह पर सिर की ओर से २।। फीट अंतर पर एक मध्यरेखापटिका धारा टेबल को दो भागों में विभक्त करें। ऊपर का छोटा भाग शिरोधारा के काम में लाया जाता है—और दूसरा 'शरीर भाग' जो पिण्ठिचिल के लिए काम में लाया जाता है। शिरोधारा में किनारे से ३" की जगह छेड़कर, पीतल या किसी धातु निर्मित ६ इंच व्यास का दृताकार डलाव में युक्त—अंतर्मध्यछिद्र से युक्त एक चक्रिका इस तरह जोड़ दे कि उस स्थान में टेबल पर

## उपकल्पनीय विज्ञान



जिसके बाहरी किनारे वक्राकार बीहार्याम के होते हैं। इसके एक बाजू में एक नलिका-झारी-संलग्न होती है—जो पात्र के तल में खुलती है—तथा दूसरा मुख क्रमशः पात्र के भाग पर उछल छुक कर उला रहता है। झारी की नलिका गलती के बाजू पर ४५° डिग्री का कोण तैयार करते हुए सनद्ध करनी चाहिए। इस तरह के चार पात्र—अपने हाथ में रखकर चार कर्मचारी इस झारी के पुख से द्रव को आतुर के शरीर पर धारा में गिराते हैं पिण्ठिनिल किया जाता है। यह गलती आजकल उपयोग में नहीं ली जाती। इसके स्थान पर १८" × १८" के वर्ष्मखड़ को स्नेह में डुबो कर धारा गिराई जाती है।

d. **शिरोबस्ति यंत्र**—शिरोबस्ति यंत्र यह एक चमड़े के टोप के आकार का गोल—दोनों बाजू में खुला हुआ—वेष्टनयोग्य पट्ट है जिसका चित्र बाजू में दिया है। साधारणतः १८ इंच, २० इंच, २२ इंच, २३ इंच, २४ इंच के परिणाह के चम्पिष्ट बनाना चाहिए। आकृति में ये यह इस चम्पिष्ट के सामने का सिर के साथ संनद्ध होनेवाला अर्थात् मूल तल का भाग है और क ड रेखा से तथा अ ब रेखा से इसके पीछे की बाजू को बताया है। सामने से यह यार न ल के आकार का दिखाई देता। इसका परिणाह तल की ओर से ऊपर शिखर की ओर क्रमशः कम होकर कीब ३ इंच कम होता है। अर्थात् तल में २३" का परिणाह हो तो शिखर में २०" का परिणाह रखे। इसकी ऊंचाई (अ क = ६ इंच) नीं इंच रखनी चाहिए। सामने की ओर एक पट्टा रखना चाहिए—जो कसकर गोलाई का अंतर कम करने के लिए—और छोटे शिखराले व्यक्ति पर इसे सनद्ध करने के लिए उपयोग में लाया जा सके ऐसा हो। चम्पिष्ट का चमड़ा दृढ़, स्थिथ, श्लशा और छिद्रहित हो।

**उपयोग—शिरोबस्ति** कर्म में तैल जो सिर पर रखने के लिए आधार देने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। इसको आतुर के सिर पर रखकर अवकाशप्रद स्थान को माप के गुंदे हुए आटे से भरकर निःस्रोत कर कपड़े से कपाल पर बंधन बांधकर—इसमें तैल—यथोक्त प्रकार से भरकर शिरोबस्ति दी जाती है।

e. **बस्तिनेत्र**—यह थारु निर्मित गोल—दोनों बाजू से खुले मुख वाली नलिका है—जिसकी लबाई लगभग ७ इंच होती है। इसके मूल भाग में छिद्र लगभग ७५ इंच (पावना इंच) व्यास का और अग्र भाग का छिद्र २.२" व्यास का होता है। अग्र-भाग से ३ से ४ इंच के अंतर पर एक कर्णिका रखनी चाहिए जो नेत्र को गुद में अधिक प्रवेश से रोकती है। मूल भाग पर प्रथम एक कर्णिका रखे—और १ इंच के अंतर पर दूसरी कर्णिका रखे। इन दोनों के बीच बास्तिनेत्र को अच्छी तरह बांध दिया जाता है। चित्र में बस्ति नेत्र तथा क. d. के चित्र में बस्तिनेत्र के संनद्ध बस्ति यंत्र बताया गया है।

१०. **उत्तरबस्ति यंत्र**—एवं उपयोगी उत्तरबस्ति—उत्तरबस्ति यंत्र का शास्त्रीय विधान बस्ति प्रकरण में दिया गया है। यहां आधुनिक उपकरणों का वर्णन किया जाता है जिनमें उत्तरबस्ति देना बहुत ही सरल होता है। उत्तरबस्ति के लिए क्लोलेलम फॉर्सेस्म (Volssellum forceps), सिम्स यूटरेन साउंड (Sims uterine sound), लॉर्डर साउंड फिसेल और मेल केथेटर (खबर या मटल) यूटराइन केन्युला (uterine canula) या लबोन्सटेट केन्युला (Rubin's Test Canula) और मेटल सिरोज इनका उपयोग करना चाहिए। इनके चित्र साथ में सलन है। क्लोलेलम फॉर्सेस्म (चित्र क. १) में तेज दात लगा होता है—जो यंत्र को

दबाने पर गर्भाशय ग्रीवा (cervix) को टूट पकड़ने के काम में आता है—इसके अवयव पर क्षत नहीं होता। २० सें. मि. (८ इंच) लंबा सीधा या कुछ बक्काकार का शस्त्र होता है। इससे गर्भाशय-ग्रीवा को पकड़कर सामने की ओर छोंचना चाहिए ताकि उपस्थिति स्थृत हो। घूटराइन साउंड वह यंत्र है—जो एक सीधे नेत्रकार की शलाका है और इसका उपयोग गर्भाशय-ग्रीवा के—स्थान को खुला करने के लिए तथा गर्भाशयमार्ग के अन्वेषणार्थ किया जाता है। (देखें चित्र क. २)।

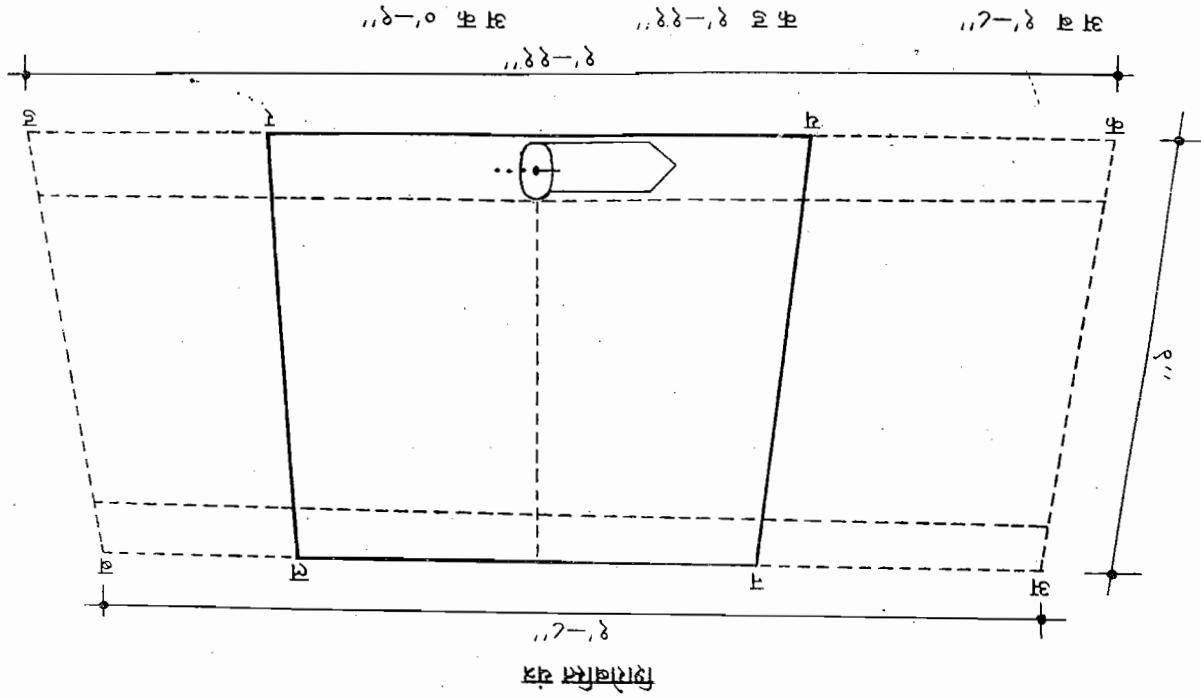
**ब्लैंडर साउंड (Blader Sound)**— यह मूत्राशय शलाका है जो अलग-अलग आकार की, भिन्न-भिन्न मोटाई की-संग्रह (Set-) में प्राप्त होती है। ये साउंड पुरुष और स्त्रियों में दोनों में उपयोग किये जा सकते हैं। इनकी लंबाई सामान्यतः २५ सें. मि. (१० इंच) के लगभग होती है। ब्लैंडर साउंड और यूटोइन साउंड (मूत्राशय शलाका और गर्भाशय शलाका) में पहचानने में कुछ दिक्कत हो सकती है। इसमें निम्नलिखित प्रकार का भेद है।

2. ब्लॉडर सारंड के ऊपर इच या से. मि. से निशान अंकित किए हुए नहीं होते—जो यूटराइन सारंड पर होते हैं। इनका उपयोग मृत्राशय (Bladder) की मर्यादा ज्ञान कराने के लिए होता है। मूत्रवह पथ में अवरोध हो तो उसके निदान के लिए इसका उपयोग होता है। यदि मूत्रवह पथ में पूर्यभाव (Sepsis) उत्पन्न हुआ हो तो इसका उपयोग नहीं करना चाहिए। (दिखें चित्र क्र. ३ और ४)

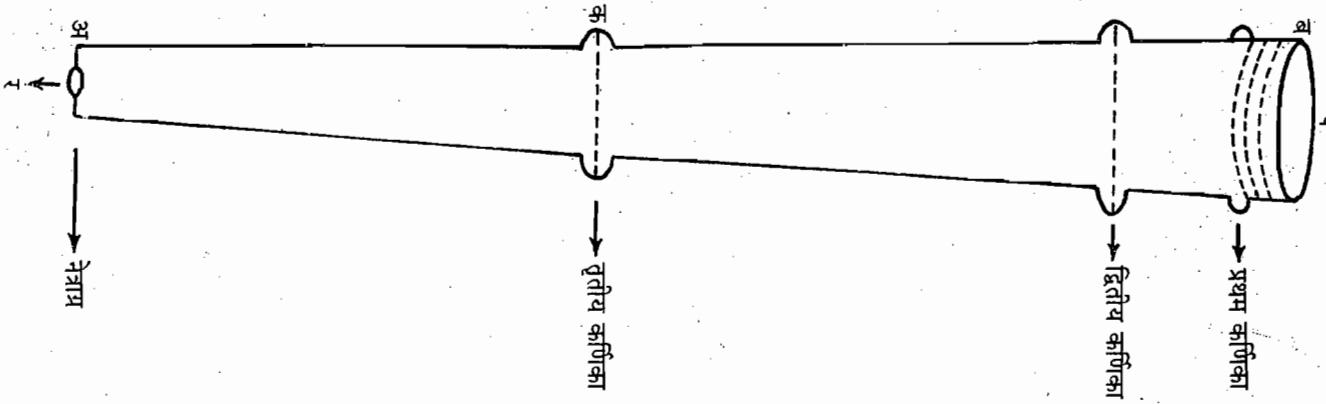
**फीमेल कैथेटर—(Female Catheter)**— ये भी शलाकायें होती हैं जो धातु की, कांच की, लास्टिक की, रबर की या किसी सकोच प्रसरणशील (Elastic) द्रव्य की बनाई जाती हैं। कांच और धातु की शलाकाएँ अप्रभाग में बुखरी होती हैं (चित्र क्र. ५ और ६ देखें) इनमें एक या दो स्लोट (Chennel) होते हैं। इन में भी अलग अलग प्राय होते हैं। सामान्यतः नं. ६ और ८ की शलाकाएँ उपयुक्त की जाती हैं। रबर कैथेटर—निरापद और प्रयोग सेवकर्यकार होता है।

**मेल कंथेटर**—इन में भी अनेक आकार (मोटाई के अनुसार क्र. १ से १२ तक के सेट में प्राप्त होते हैं। बरबर कंथेटर का उपयोग सुकर है। इनमें भी नं.-६, ७, ८ का उपयोग सामान्यरीता किया जाता है। ये दोनों-स्फी और पुरुष की शलाकाएँ पुराण्य में से मूर्ति को निकालने के लिए प्रयुक्त की जाती हैं।

**यूट्राइन केन्युला—रुबिन टेस्ट केन्युला—**(Uterine Canula-Rubin's Test Canula)—यूट्राइन केन्युला यह धातु की करीब ६" लंबी एक अंत स्वेतवाली निलका होती है—गर्भाशय में प्रविष्ट कराकर पीछे मेटल सिरीज से संलग्न कर—गर्भाशय में औषधि प्रयुक्त होती है। इसका अप्रभाग कमशः कुछ क्रक होता है और उसमें प्रपुंचाने के काम में लाई जाती है। इसका अप्रभाग कमशः कुछ क्रक होता है और उसमें प्रपुंचाने के काम में लाई जाती है। रुबिन टेस्ट केन्युला यह ऐसा ही उपकरण है जो स्त्रियों में लाप्तीना द्वारा छिद होते हैं। रुबिन टेस्ट केन्युला यह लोतोरोध की परीक्षा में उपयुक्त किया जाता है। इसके अप्रभाग में करीब ६ या ७" लंबी यूट्राइन केन्युला ही होता है जो—“ लंबे धातुनिर्मित रिक्त नेत्र से संलग्न होता है। पीछे के भाग में पकड़ने के लिए कर्णिकाएं होती हैं। अप्रभाग के खबरकंप लगी होती है जो गर्भाशय में विशिष्ट अंदर तक प्रवेश कराने के लिए उपयुक्त होती है।



बोस्स नेत्र



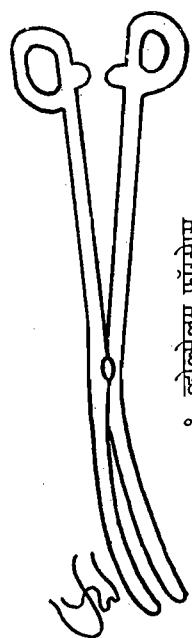
के लिए और उससे अधिक प्रवेश को रोकने के लिए कार्गिका सदृश काम करती है। इसके अग्रभाग में बक्कलेन्ज में ३ या ४ छिड़ होते हैं। इसके पीछे के नेत्र भाग में कार्गिका के पीछे एक कपाट युद्धिका लगी होती है—जिसे झुमाकर नेत्रस्थीत को बंद कर सकते हैं या खोल सकते हैं। इसके पीछे के स्रोत में औषधि से भरी हड्ड मेटल सिरिंज, या लालिक सिरिंज जोड़ी जा सकती है।

उत्तरायण पञ्चमि—झी आतुर को चित लिटाकर जात्र मे पर्स को माडकर खड़ा रखना चाहिए। उत्तर बस्ति देने के समय वैद्य सब उपकरणों को अत्यंत स्वच्छ और निर्जरुक रखे। यदि झी ने मूत्रशय में बस्ति देनी हो तो प्रथम ब्लैंडर साउड प्रविष्ट कराकर मूत्रवह स्रोत का मार्ग निश्चित करें। फिर फोमेल रबर कैंथेटर या धातु का कैथेटर प्रविष्ट करावें। इससे मूत्रप्रवृत्ति हो जाती है। तपश्चात् कैथेटर के मूलभाग में मेटल या ग्लास सिरीज जोड़कर स्नेह या क्वायथ धीरे धीरे मूत्रशय में प्रविष्ट करावें। औषधि अंदर चली जाने के बाद क्षत न हो इस प्रकार कैथेटर निकाल लेवे। पुरुष आतुर में मूत्रशयगत बस्ति देने की यही विधि है। आतुर को टेबल पर लिया दें। मेढ़के स्तोत में से प्रथम ब्लैंडर साउड प्रविष्ट कराकर मूत्रमार्ग का अंतर तथा अस्मरी इत्यादि से अवरोध नहीं है इसकी निश्चिति कर लें। फिर साउड निकालकर यथोपयोगी क्र. वाली रबर शलाका प्रविष्ट करावे। शलाका प्रवेश अनंतर मूत्र प्रवृत्ति हो जाए इसलिए थोड़ी देर प्रतीक्षा करनी चाहिए। (बहेतर यह है कि मूत्रशयगत बस्ति देने के पूर्व आतुर को मूत्रविसर्जन करावे)। फिर रबर कैंथेटर के बाहरी अंतभाग में सिरोंज जोड़कर यथोक्त औषधि धीरे धीरे प्रविष्ट करें और बाद में अवधय को क्षत न करें इस प्रकार कैथेटर की निकाल लेवे।

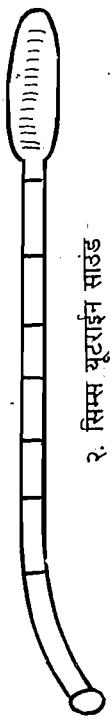
जी में गर्भाशयात उत्तर बस्ति देने के लिए उपर्युक्त अवस्था में प्रथम छोल्सेलम फॉर्मेस्स से गर्भाशय ग्रीवा (Cervix) को पकड़कर सामने की ओर ऐसा खिचे की उसका स्रोत दृष्टिगोचर हो। इस त्रोत में से गर्भर्शय शलाका (Uterine Sound) प्रविष्ट कराकर गर्भर्शय पथ तथा अवयव की मर्यादा को समझ ले। इसी तरह सारउड के प्रवेश से ग्रीवा त्रोत खुलकर शिथिल (Relax) होता है फिर इस त्रोत में से यूटराइन केन्युला प्रविष्ट करावे। यदि रुबिन टेस्ट केन्युला हो तो ग्रीवा मुख को खोलकर उसे हानि पहुँचाने की जरूरत नहीं पड़ती। इसकी लंबाई कुल करीब १२ से १४ इंच होती है—अतएव इसे सुविधा से गर्भर्शय ग्रीवा के त्रोतोमुख तक प्रविष्ट कराकर गर्भर्शय में प्रविष्ट किया जा सकता है। फिर बाहर के अंतिम भाग में सीरिंज जोड़कर औषधि अंदर प्रविष्ट करावे। औषधि के चले जाने पर आशय को देखते हुए केन्युला निकाल लेवे। उपर्युक्त कर्म साक्षात्तानी से हस्तलाघव में तथा कृतकर्म निपुण वैद्य को ही करना चाहिए।

१९. वर्मनपीठ — यह एक कुर्सी है जो १।। से २ फीट ऊंची, उतनी ही चौड़ी अथवा आराम दे सके इतनी ओर्डिक चौड़ी और तीनों बाजू में कुशनवाली तथा बैठने के स्थान में भी पुढ़ आसनवाली अच्छे काष्ठ द्वारा निर्मित होनी चाहिए। यह वर्मनपीठ वर्मन के समय आत्मरुक्ष को बिठाने के लिए उपयोग में लाये। इसके पाँचे के भाग में गर्दन को आराम देने के लिए एक गार्ट गहे के साथ रखना चाहिए। वर्मन कर्म में श्रांत आत्मरुक्ष पर शिर रखकर कुछ समय आराम कर सके दोनों बाजू में जो हाथ लगे हों—वे काफी चौड़े और आराम दायक होने चाहिए। इन पर स्वच्छ-नेपकीन लत्कते रखे, जो वर्मन कर्म में लालासाव या उत्क्षेपणशुद्ध करने के

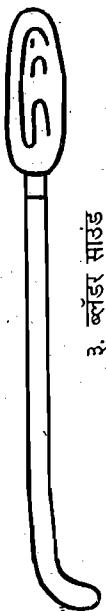
विविध यंत्र शास्त्र



१. खोलसेलम फॉरसेप्स



२. सिम्स ट्रूटराइन साउड



३. ब्लॉक्डर साउड



४. ब्लॉक्डर साउड

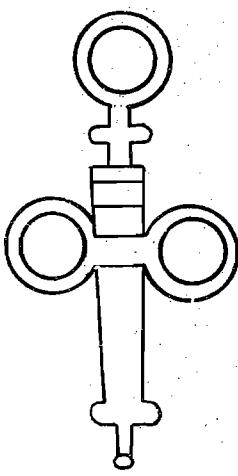
विविध यंत्र शास्त्र



५. फौमेल कैथेटर



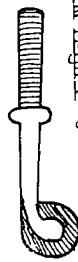
६. फौमेल कैथेटर



७. मेटल सिरिंज



८. बरिस्त यंत्र



९. कुण्डारिका शस्त्र



१०. ब्रैहिमुख शस्त्र

**१२. नस्यपीठ** — यह भी उपर्युक्त प्रबार की कुर्सी है—जिसके पीछे के पृष्ठ विश्वामीय स्थान पर शिर के ऊंचाई पर—पीछे की ओर डुका हुआ मुद्रशाल्याकृति—अर्थवृत्तान्त के नासापुट उन्नत कर नस्य दिया जाता है।

**१३. कुठारिका शस्त्र**— कुठारिका शस्त्र गाय के दांत के समान, मुख पर एक या आधा अंगुल होता है। इसको ऊपर सीधा डंडाकार पकड़कर अस्थियों के ऊपर स्थित शिरा वर्धन करें। इसके लकड़ी के बेने हथे की लबाई सात अंगुल की होती है और फलक गोदंत के आकार का आधे से एक अंगुल लंबा रखे इसके स्थान में चाकू का या स्कलपेल का उपयोग किया जा सकता है आझाति क्र. ६ देखें।

**१४. बीहीमुख शस्त्र**—बीहीमुख शस्त्र ट्रोकार (Trochar) के मुद्रा होता है। इसका लिए, बृद्धि, जलोदर, गुल्म, विद्रिधि आदि में वेष्वानार्थ किया जाता था। चित्र क्र. १० देखें।

प्रथम कृद्गर्दि स्थान में त्वचा में कुठारिका द्वारा चीरा लगाया जाये, फिर व्याकों के दोनों किनारे पृथक् कर, मांस, वसा को पृथक् करें, जिससे भीतर की सिरा दृष्टिगोचर होती है। सिरा नजर आने पर बीहीमुख शस्त्र की तीक्ष्ण भाग अंदर प्रविष्ट कराकर रक्तावसेवन करें। आजकल ट्रास्प्रेस्यूजन के लिए इस तरह क्लीनस सेक्शन कर सिरा में केन्द्रल प्रविष्ट किया जाता है।

उपर्युक्त उपकरणों के अतिरिक्त साधनों, ऐषज्यों तथा आहारादि कल्पों को बुद्धिपूर्वक वैद्य यथायोग्य प्रकार से संग्रहीत करें और पंचकर्म चिकित्सा के लिए कार्यदक्ष रहें।

\*मानपीथभाषा—इस प्रथम में प्रायः जहां जहां आयुर्वेदीय मान का संदर्भ आया दोषभूय से कहीं कहीं छूट गया हो इसलिए यहां सभी मानों का उल्लेख किया जाता है।

- ३ राजिका
- २ रक्तसर्पण
- ४ गौर सर्पण
- २ तंडुल
- २ धान्यमाष
- ६ रत्नी
- ४ सुवर्णमाष
- २ शापा
- २ कोल
- २ कर्ष

१ शुक्ति	३ पल (४ तोला) (मुष्टि, बिल्व)
३ पल	१ प्रसुति (८ तोला)
२ कुड्डव	२ कुड्डव (१६ तोला)
२ शराव (४ कुड्डव)	१ प्रस्थ (६४ तोला)
४ प्रस्थ	१ आढ़क (२५६ तोला)
२ आढ़क (८ प्रस्थ)	१ कंस (५१२ तोला)
४ आढ़क (१६ प्रस्थ)	३ दोण (१०२४ तोला)
१०० पल	१ शूर्प (२०४८ तोला)
१०० पल	१ हुला (४०० तोला)
१ बूँद	प्रदेशी अंगुली दो पर्वों को द्वारा में द्विबोक्त ऊंचे उठाने से गिरी डुड़े एक बूँद
८ बूँद	१ शाण
३२ बूँद	१ शुक्ति
६४ बूँद	१ पाणि शुक्ति
१ अंगुल	८ गर्वों को मध्यभाग में सूई में पिरोने से जो लंबाई होती है वह (लगभग ३/४ इंच)
१२ अंगुल	१ वितसि (लगभग ६ इंच)
२ अग्नि	लगभग २२ अंगुल (१६।। इंच)
२ वितसि	१ हाथ (१८ इंच)
त्वाम	४ हाथ (६ फीट)
कालमान	अ आदि लक्ष्यभर उत्त्वारे का समय,
१ अक्षिनिमेष	३ निमेषोन्ष का समय अथवा १ चुटकी बजाने में जितना समय लगे उतना काल लगभग ६६० सेकंड
३५ अक्षिनिमेष	१ काष्ठा-लगभग ४।।। सेकंड
३० काष्ठा	१ कलना-२ मिनिट २।।। सेकंड
२० १/१७ कलना	१ मंहर्दि-लगभग ४५ मिनिट

\*उपर्युक्त सभी परिभाषाएं वैद्य यादवजी विक्रमजी आचार्य लिखित 'द्रव्यगुणविज्ञानम्' में से दी गई हैं।

१ शुक्ति (२ तोला) अष्टमिका (पलार्ध)

## संदर्भ

१. च. सु. १५-१ से ७ तक देखें।

२. अ. ह. शा. २

३. च. चि. २६

४. अ. ह. चि. २१

५-६. भैषज्य रत्नावली

७. भैषज्य रत्नावली

८. चिकित्सा प्रदीप-

९. भैषज्य रत्नावली

१०. च. चि. २६

११. च. चि. ३६

१२. च. चि. २७

१३. च. चि. २८

१४. च. चि. २८

१५. चिकित्सा प्रदीप, वैद्यमनोरमा

१६. भैषज्य रत्नावली

१७. क्र. १ से १२-भैषज्य रत्नावली

१८. चिकित्सा प्रदीप

१९. भैषज्य रत्नावली

२०. सहव्ययग

२१. अ. ह. क. ४

२२. पेया लघुतरा देया ग्राहिणी धातु पुष्टिवा।

शुष्ठो बल्पत्तस्तः कठ्ठो लघुपाको कपावहः॥

बृहणी तप्तिणी हृथा मध्यरा पित्तनाशिनी (विलेपी)॥ शा. म. ख.

यहा अनिदिष्ट संदर्भ में सभी कल्पनाएं आचार्य यादवजी त्रिकम्पजी विरचित द्रव्यगुण

विज्ञानम्—उत्तरार्ध परिभाषा खंड से समझनी चाहिए।

२३. Ayurvedic Treatment of Kerala.

## प्रतिरोग-पंचकर्म विवेचनीय-विज्ञान

प्रयोगन—पंचकर्म चिकित्सा समस्त तथा पुथक्-पुथक् रूप से अनेक रोगों में की जाती है। प्रायः सभी रोगों में इस चिकित्सा का उपयोग होता ही है। स्नेहन, स्वदेन, कपमन, विवेचनादि अध्यायों के अंत में प्रत्येक रोग में वे कर्म कैसी-कैसी अवस्था में निर्दिष्ट किये हैं। इसका उल्लेख किया है। यहाँ प्रत्येक रोग में कौन-कौन कर्म किस-किस अवस्था में किया जाते हैं, इसका विवेचन किया जाएगा। इसका उद्देश्य यह है कि चिकित्सकों को तत्त्वदोगों की चिकित्सा में अनुकूलता हो तथा छात्रों को अध्ययन में सुविधा हो। यहाँ एक बात ध्यान में रखनी चाहिये कि नीचे जो-जो कर्म जिन-जिन रोगों में कहे गये हैं, वह उस रोगों की संपूर्ण चिकित्सा नहीं है। अपिगु प्रस्तुत प्रथा केवल प्रयोजनीय विषय ही यहाँ उल्लिखित किया है।

एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि पंचकर्म पुथक्वशः अथवा समस्त रूप कर्म निर्देश से उनका पंचकर्मत्व विवाद्य नहीं होता। उक्सर भैषज्यमें अनिवेश ने आत्रेय को प्रथम ही प्रश्न पूछते हुए कहा है कि—पंचकर्म चिकित्सा पुथक्वशः में किया गया है। पंचकर्म किया जाएगा है। पंचकर्म रूप से तथा समस्त रूप से करने का सभी रोगों में निर्देश किया गया है। पंचकर्म रूप से क्या ऐसा भी कोई दोषजन्य (निज रोग) है जिसमें ये पंचकर्म नहीं किये जाएं? इसके उत्तर में आत्रेय ने कहा कि उक्सरं भैषज्य ऐसा रोग है—जिसमें पंचकर्म नहीं किये जा सकते। अस्तु। यहाँ मतलब केवल इससे ही है कि पंचकर्म पृथक्-पृथक् तथा समस्त रूप से किये जा सकते हैं।

यहाँ पर प्रत्येक रोग में अवस्था, कर्म निर्देश तथा विधि इन शीर्षकों से विवेचन किया गया है। प्रायः प्रत्येक कर्म के निर्देश करते समय उस कर्म की विधि का उल्लेख शालम में किया गया है। यदि न किया गया हो तो कल्पोक्त प्रकार से करने का निर्देश है। यदि ऐसा न हो तो अनुभव और सामान्य बुद्धि का उपयोग कर यह विधि वर्णन की गई है। अतएव नीचे लिखित वर्णन समस्त प्रकार से शास्त्रीय है और वैद्यों को इसका अवश्य लाभ उठाना चाहिये ऐसी हमारी दृढ़ धारणा है।

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि	रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
१. ज्वर तंत्रा ज्वर	स्वेच्छा		ज्वराशयात दोष में ज्वरशीण आतुर में	बस्ति	गुद्धचिसिञ्च बस्ति, पटोलादि-
आमाशयात उल्लिनष्ट कफ- प्रधान दोष में, वय्य आतुर हो ते	वर्मन	उपर्युक्त विषमज्वर-वात प्रधान में	विषमज्वर-पित प्रधान	विषमज्वर-कफ प्रधान	कन्वाथ बस्ति
कथाय पानादि उक्त चिकित्सा से प्रशम न होने पर, अशीण में स्थित हो तब	विरेचन	माशा गरम जल के साथ वर्मनोत्तर द्वितीय दिन यवाहु भोजन	वर्मन	उपर्युक्त विषमज्वर-कफ प्रधान	उपर्युक्त
बल मास वाले आतुर को पित या कफपित—पिताशय में स्थित हो तब	विरेचन	निषन्न-द्रूषा, कटुका, निफला, फाट, त्रिवृत और शंकरा चूर्ण तिल तैल या जीवत्यादि तैल ४ ओस से	नस्य	वर्मन परिषेक, प्रदेह विरेचन निरुह	वर्मन चूर्ण से उपर्युक्त
पुराण ज्वर में—शीण आतुर, कफ पितज्वर—अनिबल युक्त आतुर में, रुक्ष तथा बद्धमाल प्रवृत्ति युक्त आतुर हो ते	विरेचन	रसात ज्वर खलगत ज्वर मासगत ज्वर अस्थि भजापत ज्वर	वर्मन	उपर्युक्त उपर्युक्त जीवत्यादि तैल यद्योक्त	वर्मन पूर्वोक्त पूर्वोक्त गुद्धचिसिञ्च
शिरःशूल, शिरो गौरव, इंद्रिय जाड़ा के लिये जीर्णज्वर में—अवस्थानुसार शरीर उभ्या में शरीर शैत्य में	विरेचन	कंटकफल चूर्ण, त्रिकटु, अणु तैल या धूम नस्य	वर्मन	पुरुषावस्था घृतपान रक्तमोक्षण घृतपान घृतपान सिरा व्यथा जलौका	निरुह वर्मन पूर्वोक्त पूर्वोक्त गुद्धचिसिञ्च
धातु क्षीणता में शरीर उभ्या में शरीर शैत्य में	विरेचन	चंदनबला लाशादि तैल शीतजल, शीर, घृत से अपुर्वादि तैल से	वर्मन	बस्ति अध्यायोक्त यापन बस्ति अध्याया तिक्तघृतपान	गुद्धचिसिञ्च जीवत्यादि तैल सिरा व्यथा जलौका
कषायमान वर्मन, लंघनादि चिकित्सा से ज्वर प्रशम न हो ते रुक्ष आतुर में	विरेचन	शूद्ध गोधृत, वासादि घृत, बलादि घृत १ से २ तोला २ बार ज्वरघृत कथाय के साथ	वर्मन	बस्ति अध्यायोक्त यथायोग्य प्रकार से यथायोग्य प्रकार से त्रिवृत हीरोकी, आरवध इनको मधु और शंकरा के साथ दे	गुद्धचिसिञ्च जीवत्यादि तैल सिरा व्यथा जलौका
बहुदोष बल मास युक्त और सेंद्राक्षा आरवध क्वाथ से	वर्मन	पुराणकर्तज्वर (प्रशमितपुनः अपथ्याहार से आया हुआ)	वर्मन	पुरुषावस्था घृतपान रक्तमोक्षण घृतपान घृतपान सिरा व्यथा जलौका	गुद्धचिसिञ्च जीवत्यादि तैल सिरा व्यथा जलौका
संत्रिपात ज्वर के अंत में कर्णमूल में शोथ हो तो	विरेचन	उपर्युक्त मन्दनपलादि योग, लवणजल, मध्य द्राक्षा, आमलकी रस, त्रिवृत सेंद्राक्षा आरवध क्वाथ से	वर्मन	बस्ति अध्यायोक्त यापन बस्ति उद्धत्तेन तिक्तघृतपान	गुद्धचिसिञ्च जीवत्यादि तैल सिरा व्यथा जलौका
ज्वरोक्त शीतोष्ण क्रम से प्रशम न हो तो	विरेचन	बहुदोष, बलवान आतुर, अशीण बल मास युक्त और सेंद्राक्षा आरवध क्वाथ से	वर्मन	बस्ति अध्यायोक्त यापन बस्ति उद्धत्तेन तिक्तघृतपान	गुद्धचिसिञ्च जीवत्यादि तैल सिरा व्यथा जलौका
इत्यादि से ज्वर हो और कफपित प्रधान न हो तब	विरेचन	ज्वरोक्त वासादि घृत शूल से युक्त रक्तपित में	वर्मन	मन्दनपलादि योग, इक्षुत्स या कुट्ठ फल से वासाधृत-१ से २ तोला २ बार शीत विधि से	गुद्धचिसिञ्च जीवत्यादि तैल सिरा व्यथा जलौका
ज्वरोक्त शीतोष्ण क्रम से प्रशम न हो तो	विरेचन	उपर्युक्त सामान्य चिकित्सा	वर्मन	घृतपान अध्याया परिषेक अवगाह	गुद्धचिसिञ्च जीवत्यादि तैल सिरा व्यथा जलौका
इत्यादि से ज्वर हो और कफपित प्रधान न हो तब	विरेचन	कास, ज्वर, आनाह, विलंग, शूल से युक्त रक्तपित में	वर्मन	शतावर्यादि घृत १-२ तोला २ बार	गुद्धचिसिञ्च जीवत्यादि तैल सिरा व्यथा जलौका

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि	रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
नासा से कुणाप गंधी रक्तस्राव हो तो	नस्या	नील कमल, गैरिक, शंखभस्म चंदनचूर्ण, इन्हं शर्करा और जल के साथ पीसकर नस्य, आप के गुठली से स्वरस या क्वाथ से नस्य, धाय के पूल का रस, सर्जरस का नस्य, द्राक्षारस, इशुरस, दुर्वा स्वरस, पलाउ त्स्वरस, दाढ़िम पुष्प जल, घृत, दुध का नस्य	कफज गुल्म में—मंदानि, मंद वेदना गुरुस्तिमिति कोष्ठता, उल्लेश और अरुचि को देखकर उत्तर गुल्म में (कफज) कफज गुल्म स्थान से छुत होने पर	वमन	पूर्वोक्त
रक्तपित में दाह हो तो	परिषेक अवगाह	घृत, तैल, उशीर, चंदन, कमल, उदुब्बर लोध्नसिद्ध जल से	अतिप्रवृत्त रक्त में ४. प्रमेह	दोष बलाधिक प्रमेही में अथर्वा	वमन-विरेचन के यथोक्त योगों से
३. गुल्म वातज गुल्म-तीव्र वेदना, रुक्ष, वात, मलनिर्बंध में आनाह में	स्नेहन	ऋणादि, घृत, वासादि घृत इत्यादि नाड़ी प्रस्तर, संकर दशमूल क्वाथ, एंडमूल क्वाथ इत्यादि तिल तैल पूर्वोक्त स्नेहपान बस्ति	कफज प्रमेह	वमन विरेचन सिंडौलपान घृतपान तैलपान	वातहर, तैल, घृत से वातहर, तैल, घृत खिद्र घृत यथावत् विवृत, दंती, त्रिफला प्रच्छन सिरावधि
ऊर्ध्व नाभिगत, पक्वाशयगत जठर में	स्वेदन	वातज गुल्म में कफके-अनुबंध के लक्षण हों, अरुचि, हल्लास, गौरव, तंद्रा हो वातज गुल्म में—पितृ वृद्धि हो	प्रित्तज प्रमेह में कफज प्रमेह में	घृतपान वमन विरेचन रक्तमोक्षण	कफहर तैल तिक्त घृत, महातिक्तघृत, महा-खिद्र घृत यथावत् विवृत, दंती, त्रिफला प्रच्छन सिरावधि
वातज गुल्म-यदि उक्त चिकित्सा से प्रशमित न हो	निरुह अनुवासन	वातोल्लास या क्वाथ दरीहरीतकी प्रयोग दूध ८ औंस मध्य ४ औंस, तैल ४ औंस घृत ४ औंस बास्ति-भोजन पूर्व दूध से या तिक्त विरेचन कटुका प्रच्छन कुष में कफ प्रकोप हो, द्वय और कफिन मडल में	कुष में कफज कुष में कफ प्रकोप हो, द्वय और कफिन मडल में	वमन विरेचन अनुवासन घृतपान विवृत, दंती, त्रिफला प्रच्छन सिरावधि	कुष, मदनफलादि से क्रिंदूदि
वातज गुल्म में यदि उक्त चिकित्सा से उत्पन्न हो तो रुक्षोच्चा हेतु से उत्पन्न हो तो पक्वाशय स्थित पितृगुल्म	वर्ष	विरेचन अनुलोमन रक्तमोक्षण विरेचन घटीयत्र वातोल्लास या क्वाथ दरीहरीतकी प्रयोग दूध ८ औंस मध्य ४ औंस, तैल ४ औंस घृत ४ औंस बास्ति-भोजन पूर्व विरेचन रक्तमोक्षण	कुष में कफज कुष में कफ प्रकोप हो, द्वय और कफिन मडल में	नस्य स्वेदन अनुवासन घृतपान विवृत, दंती, त्रिफला प्रच्छन सिरावधि	सदनफल, कंरज, पटोल सिद्ध तैल द्वारा प्रस्तर नाड़ी, आरूप, जलाज मास के पोटली से पिंडखेद विवृत चूणा, देवचनिक घृम प्रस्तर नाड़ी, आरूप, जलाज कुर्या से प्रच्छन (कर्वशस्व में ३ या अधिक सूईया हस्ते में लगी होती है) तथा शून्यजलोका अलाङ्गनिब, पलाश, लोधी, पर्टिक, सिद्ध घृत
तृणा, दाह, ज्वर, शूल, अनिमांद्या, अरुचि से युक्त में	रक्तमोक्षण	विरेचन रक्तमोक्षण	कुष	नेहपान	प्राणज कुष



रोगावस्था	कर्मनाम	विधि	रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
पिण्डोदर-बलवान रोगी दुर्बल अनुवास्य को	विरेचन निरुह अनुवासन	आग्रवधादि क्षीर बस्ति तिल तैल	शोतोणा, त्रिमध्य रुक्षादि, अभ्यंग प्रदेह इत्यादि चिकित्सा से प्रशमन हो तो	अवगाह रक्तमोक्षण	अग्निमंथ-शिषु-अशमंतक क्वाथ से अवगाह जलौकावचारण (अर्श में) सूचि से अनुवासन
संजात बल संजाताग्नि को	रक्तमोक्षण	त्रिवृत मिळ दृष्ट एंड मिळ दृष्ट आरवध्य सिल्ड दृष्ट सिराव्यध स्थानिक जलौका, शृंग प्रयोग	अर्श में—उदावर्त हो, बात और मल का संग हो, बात प्रतिलोभता हो, शूल हो पिछड़ताव होता हो, गुदा में शोथ हो तो	अनुवासन निरुह	पिपल्यावितैल ४ और से
सकफ पितोदर में	विरेचन	गोमूत्र-दृष्ट पिलाकर या गोमूत्र हरीतकी प्रयोग	त्वारी अर्श-पिनकफ प्रधान दोष, दोष क्षय हो रक्त और बात की प्रधानता हो तो	शोधन स्नेहन अभ्यंग	दशमूल क्वाथ में गोमूत्र, स्लेह, लवण भिलाकर विरेचन—अभ्या, निरुत यथोक्त घृत
सवात पितोदर	विरेचन स्नेहन स्वेदन	तिल्क घृत, त्रिवृत घृत यथोक्त विरेचन	कफवात अर्श में रक्त और पित का प्रावल्य हो तो	अनुवासन परिषेक	यथोक्त बेर, पटाल पत्र, वासा अर्जुन नीम की छाल जनके क्वाथ से
कफोदर	सर्वकर्म स्वेदन विरेचन छास्ति	आवश्यकतानुसार यथोक्त यथोक्त यथोक्त यथोक्त सिराव्यध वामकूपर में	त्रिवृत विप्रवृति दाह वसेद में यदि रक्तस्ताव बंद न होता हो	पिच्छावस्ति	कमल, यष्टिमधु, पिण्डाख, चंदन, कुशादि क्वाथ से अवगाह यवासक, कुश, काश, आमलकी के क्वाथ स, वट, उंडुबर, पिंपर इनके शूण के क्वाथ से, शालमली निर्यास (सर्जरस) तथा घृत और मधु से, मोचरस सतैल क्वाथ से
संनिपातोदर	जलीहोदर	निरुह स्वेदन	५३. प्रहरी आम प्रधान्य हो तो (उल्लिलश्ट)	वर्मन स्नेहन	गरम जल से, या पिण्ठली सप्तप योग से या पिण्ठली सप्तप
यकुतोदर	विरेचन बस्ति रक्तमोक्षण स्वेदन निरुह	सिराव्यध दक्षिण कूर्पर में नाड़ी, संकर तिल तैल, लवणयुक्त दाशमूलिक	प्रक्वाशयात लीन दोष में शरीरानुगत रसगतआम	विरेचन स्नेहन अभ्यंग	मुङ्ग आरवाधादि दीपनीय घृत से यथोक्त तैल वाष्पस्त्रेद दाशमूलिक
बद्धोदर	अनुवासन स्नेहन शोधन विरेचन विरेचन	तिलतैल शमन विरेक नारयण चूर्ण स्नही क्षीर, घृत, हरीतकी इत्यादि तथा कल्पोक्त	५४. अर्मा शरीरानुगत रसगतआम	विरेचन स्नेहन निरुह विरेचन अभ्यंग	एंड तैल तिल तैल स्नेहपान अनुवासन स्नेहपान
६१. अर्मा स्तब्धार्श—शोफ, ग्लान्चित	छिद्रोदर जलोदर सभी उदर परिषेक	चिक्रत तैल, क्षार तैल, तिल तैल, घृत, कुष्ठ तैल यव, माष कुलात्त की पोटी से संकरस्वेद वचा, सौफ पिंडस्वेद वासा, अर्क, बिल्ब पत्रों के क्वाथ से परिषेक स्वेद	अभ्यंग	स्वेदन-सकर	स्तब्धार्श—शोफ, ग्लान्चित



रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
१६. विसर्प काफ़स्थानगत (ऊर्ध्व शरीर) के विसर्प में	वमन	मदनपत्रल, यष्टिमथु, निबजल से पटेल पत्र कवायथ या इंद्रजव-चुण्ण से निवृत, कृष्टका, दाक्षा, गरमजल, त्रिफला के द्वारा
कफ़ पित्तज स्थानगत (मध्य शरीर) के विसर्प में	विरेचन	तिक्त घृत या विरेचन घृत शून्य जलौका, प्रच्छानाद यथोक्त
वातोल्लभण (अर्थः शरीर) में शाखा दुष्ट में रक्त और पित्त प्रद्यान ग्रंथि रक्तसर्प में (वातकफ़ज)	घृतपान रक्तावसेचन वमन	यथोक्त सिराव्यध, जलौका उपर्युक्त
वातकफ़ज-ग्रंथि विसर्प	विरेचन रक्तमोक्षण वमन विरेचन रक्तमोक्षण + धूमनस्य उपनाह स्वेदन परिक्रिक	उक्ताग्निला, बेशबार, कुष्ठ तैल, सैंधव तैल
२०. रुषा सामान्य चिकित्सा	अवगाह अभ्यंग परिचेक नस्य	शीतजल से जीवनीय घृत जीवनीय घृत जीवनीय घृत तथा नारी दुध इश्वरस मे दाढ़ि, मधु, लवण जल से मध्य, उणोदक या पिप्पली जल पिलाकर
कफ़ज रुषा में आहुर यदि वस्त्र हो तो भक्तोपरोधन तुषा वा स्नेह जन्य तुषा में	वमन अवगाह	यथोक्त
२१. दिष्ट सामान्य चिकित्सा	अवगाह वमन विरेचन नस्य रक्तमोक्षण वमन	प्रच्छान शृंग जलौका, प्रधर्ण से रक्तमोक्षण पदनपत्रलादि योग, लवण जल सर्षप जल, निब जल इत्यादि
दिष्ट विष-दंश स्थान में विषपात में तुरन्त		

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
द्वितीय वेग में पंचम—षष्ठ वेग में सत्सम वेग में वातस्थानगत—प्रब्रह्माशयगत द्विप कफस्थानगत—आमाशयगत	विरेचन संज्ञप्रबोधन नस्य स्वेदन विरेचन आमाशय स्वेदन सिरावृद्धि वमनादिकर्म नस्य	इच्छा भेदी, के द्वारा शिरीष बीज नस्य उपर्युक्त तथा पूतसंजीवनअगद से दायित्वेद अवगाह + विरेचन वार्ताकु बीजपुर, ज्योतिष्ठी चूर्ण से या तेल से
रक्तस्थ द्विपित विष में असाध्य लक्षणयुक्त विष में गासा कठ, नेत्र, कर्ण, जिहा विरोध में विष में वातजन्य लक्षण में विष में कफ लक्षण हो तो	अभ्यंग स्वेद वमन स्वेदन विरेचन नस्य	मृत संजीवनी अगद तथा चंदनबला लाक्षादि तेल नाई, पुलाक परिषिक यथोक्त यथोक्त
कुक्कुर विष तथा अन्य व्याल खिप में, हृदयदाह, प्रसेक लक्षणों में शिरोगत विष लक्षण में सर्वशोथ लक्षण में	वमन विरेचन अभ्यंग उत्सादन स्वेदन	उलसी, धारंगी मनःशिला—सूक्ष्म चूप्ण से लिनाथ उष्ण द्रव्यों से गुरुप्रावरण उष्ण प्रावरण
वातिक मदात्यय में, आमाशय में, उक्तिलाट कफ, पित्तावस्था में लड्डुदेष तथा दाह-हृष्णा हो तो अस्त्राधिक तुषायुक्त क्षेपन मदात्यय में इवसक तथा विक्षय रोग में	वमन विरेचन वमन बस्ति सर्पिष्ठान अभ्यंग उद्भर्तन	दाक्षरस और मध्य पिलाकर दाक्षरस मधुपान कराकर वमन क्षीर बस्ति चंदनबला लाक्षादि तेल यवबूषण, चणकचूप्ण—माषचूप्ण—माष तेल में पिलाकर या विषार्भ तेल में मिलाकर



रोगावस्था	कर्मनाम	विधि	रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
दोषोल्लेश ध्याणस्ताव में	वमन अवपीडनस्य प्रधमनस्य	यथोक्त कटुद्व्य से कट्पल, मरिच, शुष्ठी—गड़ विड्ग चूण, मदनपल्ट चूण तुलसी से	७. मुखरोग—मुखपाक ८. कर्णशूल ९. खालित्य पालित्य १०. कफज स्वरभेद	रक्तमोक्षण विरेचन सिराव्यध नस्य नस्य	सिराव्यध अथवा जलौकावचारण यथोक्त अणुतेल अणुतेल उक्त प्रकार से उक्त प्रकार से
मेंदोऽनिभ रक्तस्ताव में	नस्य	लाक्षादि तैल, पद्मकादि तैल, जात्यादि तैल से अध्यंग तथा घृतपान अश्वगंधादि घृत	पिनज स्वरभेद रक्तज स्वरभेद ११. अपतानक	तीक्ष्ण तीक्ष्ण वमन विरेचन सिराव्यध नस्य	तीक्ष्ण सशाप्रबोधन-मरिच, शिशु, विड्ग तीक्ष्ण यथाविधि
वातज शिरोरोग में	सेहन स्वेदन नावन	अग्नवादि उपनाह क्षीरनस्य, रासादि तैल, बला तैल मायूर तैल, मायूर घृत से सेहन से, घृत से, क्षीर से जीवनीय घृत	१२. तंद्रा	शोधनवस्ति वमन विरेचन रक्तमोक्षण	वाहू आङ्गंतर प्रस्तर, नाड़ी, संकर
पित्तज शिरोरोग में	परिषेक नस्य नवपीडननस्य	घृत से याईनवदन, द्राक्षा शर्करा, सिर्फ्क्षीर से यथोक्त (नाड़ी)	१३. उक्तसंभ पचकर्म के सभी कर्मों का २६. वाताव्याधि सामान्य चिकित्सा निरुपस्तभ में	निषेध स्लेहन स्वेदन बास्ति मुद्विरेचन	सम्मेह, तिल्वक घृत, एंड तैल
काफ्ज शिरोरोग में	स्लेहन नस्य बास्ति	घृमनस्य तीक्ष्ण अपामार्ग बीज, शिरीष बीज, शिवु, कांज प्रधमन अवपीड नस्य-घृत से	२७. पुनः स्लेहन स्वेदन तथा उक्त चिकित्सा से प्रशम न हो तो उपर्युक्त	निरुह पुनः स्लेहन स्वेदन उदावर्तीकर्म स्वेदन बास्ति विरेचन	दाशमूलिक, द्विपच मूलादि, बला गुड्यादि
क्रिमिज शिरोरोग	नस्य	घृत, क्षीर, प्रधमन	यदि पुनः पुनः स्लेहन स्वेदन तथा उक्त चिकित्सा से प्रशम न हो तो उपर्युक्त	पुनः स्लेह स्वेद नस्य उदावर्तीकर्म स्वेदन बास्ति विरेचन	यथोक्त पूर्वोक्त
शाखक रोग	परिषेक सेहनपान स्वेदन शिरोबवस्ति	अश्वगंधादि घृत, जीवनीय घृत नाड़ी उपनाह विधिवद चंदनबला लाक्षादि तैल या क्षीरबला तैल से	संशोधन के बाद विशेष चिकित्सा गुदातवात पक्वाशयात		
अर्थविभेदक	नस्य विरेचन	जीवनीय घृत से द्राक्षा, आरवद्ध, हरीतकी, एंड स्नेह			
सूर्योक्त	घृतपान मूष्ठितेल सेहन स्वेदन नस्य	अश्वगंधादि घृत, जीवनीय घृत अध्यंग, सेंक, पियु और शिरोबवस्ति चंदनबला लाक्षादि तैल उपनाह घृत, प्रधमन	सर्वाग्राह वात व्यग्रात वात उपनाह		
अनंतवास					

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि	रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
दोषोल्लेश ध्याणस्ताव में	वमन अवपीडनस्य	यथोक्त कटुद्व्य से कट्पल, मरिच, शुष्ठी—गड़	७. मुखरोग—मुखपाक ८. कर्णशूल ९. खालित्य पालित्य १०. कफज स्वरभेद	रक्तमोक्षण विरेचन सिराव्यध नस्य नस्य	सिराव्यध अथवा जलौकावचारण यथोक्त अणुतेल अणुतेल उक्त प्रकार से उक्त प्रकार से उक्त प्रकार से उक्त प्रकार से उक्त प्रकार से उक्त प्रकार से उक्त प्रकार से
मेंदोऽनिभ रक्तस्ताव में	नस्य	लाक्षादि तैल, पद्मकादि तैल, जात्यादि तैल से अध्यंग तथा घृतपान अश्वगंधादि घृत	पिनज स्वरभेद रक्तज स्वरभेद ११. अपतानक	विरेचन सिराव्यध नस्य	विरेचन सिराव्यध, शिशु,
वातज शिरोरोग में	सेहन स्वेदन नावन	अग्नवादि उपनाह क्षीरनस्य, रासादि तैल, बला तैल मायूर तैल, मायूर घृत से सेहन से, घृत से, क्षीर से जीवनीय घृत	१२. तंद्रा	शोधनवस्ति वमन विरेचन रक्तमोक्षण	विड्ग तीक्ष्ण यथाविधि सिराव्यध
पित्तज शिरोरोग में	परिषेक नस्य नवपीडननस्य	घृत से याईनवदन, द्राक्षा शर्करा, सिर्फ्क्षीर से यथोक्त (नाड़ी)	१३. उक्तसंभ पचकर्म के सभी कर्मों का २६. वाताव्याधि सामान्य चिकित्सा निरुपस्तभ में	निषेध स्लेहन स्वेदन बास्ति मुद्विरेचन	सम्मेह, तिल्वक घृत, एंड तैल
काफ्ज शिरोरोग में	स्लेहन नस्य	घृमनस्य तीक्ष्ण अपामार्ग बीज, शिरीष बीज, शिवु, कांज प्रधमन अवपीड नस्य-घृत से	२७. पुनः स्लेहन स्वेदन तथा उक्त चिकित्सा से प्रशम न हो तो उपर्युक्त	निरुह पुनः स्लेहन स्वेदन उदावर्तीकर्म स्वेदन बास्ति विरेचन	दाशमूलिक, द्विपच मूलादि, बला गुड्यादि
क्रिमिज शिरोरोग	नस्य	घृत, क्षीर, प्रधमन			यथोक्त पूर्वोक्त
शाखक रोग	परिषेक सेहनपान स्वेदन शिरोबवस्ति	अश्वगंधादि घृत, जीवनीय घृत नाड़ी उपनाह विधिवद चंदनबला लाक्षादि तैल या क्षीरबला लाक्षादि तैल से	संशोधन के बाद विशेष चिकित्सा गुदातवात पक्वाशयात		
अर्थविभेदक	नस्य विरेचन	जीवनीय घृत से द्राक्षा, आरवद्ध, हरीतकी, एंड स्नेह			
सूर्योक्त	घृतपान मूष्ठितेल सेहन स्वेदन नस्य	अश्वगंधादि घृत, जीवनीय घृत अध्यंग, सेंक, पियु और शिरोबवस्ति चंदनबला लाक्षादि तैल उपनाह घृत, प्रधमन	सर्वाग्राह वात व्यग्रात वात उपनाह		
अनंतवास					

बला गुड्यादि  
क्षीरबला तैल  
क्षीरबला तैल  
अवराह

सिराव्यध  
रक्तमोक्षण

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि	रोगावस्था	कर्मनाम	विधि		
पास मेदगत वात अस्थि मज्जागत वात	निरुह बाह्याभ्यंतर स्नेह अर्थात् अध्यग स्नेहापान	शीरबस्ति राजयापन बस्ति बृहणबास्ति द्रक्षादि से या बलवान आतुर में नाराचरस, इङ्घाभेदी से	हुम्बस (व्यातानन) या स्लछ चंदनबला लाक्षादि तैल पचातिक्त धूत गुग्गुल १ तोला २ बार शीरबस्ति	हुम्बस (व्यातानन) या स्लछ अध्यग स्नेहापान (मुःस्थापन) बस्ति गापनबस्ति किरेचन स्नेद-परिषेक	आतसी यव, गोधूम, पायस, कुशरा, मास, तैल और धूत साधित साधित धानवन्तर तैल नाडीस्त्रेद		
वात से वेष्टमान गात्र में संकोचवृक्त गात्र में	विरेचन उपनाह स्वेह अध्यग	बाह्यगत वात (अंवबाङ्कि) मध्यगत वात (कंप विषम चेष्ठा चक्षुविभ्रम, वाक्संग आदि रोगों में) अधोनाभिगत वात	उपनाह स्वेह उपनाह स्वेह साल्वण उपनाह साल्वण उपनाह सेव्हच तैल से प्रथमन, अवपीड विधिवत् प्रथमन अवपीड	नस्य शिरोबस्ति नस्य शिरोबस्ति बस्ति नस्य स्वेदन शिरोबस्ति नाख नस्य शिरोबस्ति शिरोधारा शिरोऽभ्यग स्नेह स्वेदन विरेचन	हुम्बस (व्यातानन) या स्लछ पितावृत वात कफावृतवात तेल से आमाशयगत वात में कफ दोष का अनुबंध हो पक्वाशयगत वात में की प्रधानता में पित खस्त कफ में शिरोगत कफ प्रधान वात दोष में खस्तावृत वात मासावृत वात		
अध्यग स्वेदन विरेचन	निरुह बाह्याभ्यंतर स्नेहापान	एर्डमूलादि बस्ति विधिवत् नाडी, उपनाह—आनूप मास से विधिवत् भीरबला तैल विधिवत् पच्चुण तैल विधिवत् पच्चुण तैल निल तैलपान अध्यग वाष्पस्त्रद एर्डलैल + आरवध हीतकी क्वाथ के साथ नाराचरस या झान्तर तैल पच्चुण तैल, नारायण तैल, प्रापिड, अवगाह, उत्कारिका उपनाहन कंडगा और गुल्फ के बीज में मास, सेव्हच, साल्वण, तिल,	कफावृतवात तेल से आमाशयगत वात में कफ दोष का अनुबंध हो पक्वाशयगत कफ, पित की प्रधानता में पित खस्त कफ में शिरोगत कफ प्रधान वात दोष में खस्तावृत वात मासावृत वात	कफावृतवात तेल से आमाशयगत वात में कफ दोष का अनुबंध हो पक्वाशयगत कफ, पित की प्रधानता में पित खस्त कफ में शिरोगत कफ प्रधान वात दोष में खस्तावृत वात मासावृत वात	स्वेदन तीक्ष्ण निरुह विरेचन विरेचन विरेचन निरुह बस्ति	विधिवत् तेल पर्चीतिक्त धूत गुग्गुल वाष्पस्त्रद मसि + तैल + वसा + मज्जा चथोल्त अवगाह, परिषेक यथोक्त प्रधमन-विडंग, मरिच, त्रिकूड इन्द्र तैल एर्ड तैल	आतसी यव, गोधूम, पायस, कुशरा, मास, तैल और धूत साधित साधित धानवन्तर तैल नाडीस्त्रेद
अध्यग स्वेदन प्राणवृत्त समान प्रणावृत्त उदान उदानावृत्त प्रण	नस्य शिरोबस्ति नहविरेचन चतुःस्नेहापान नस्य परिषेक	पितिविचल, वाष्पस्त्रद व्यानावृत प्राण प्रणावृत समान प्रणावृत उदान उदानावृत्त प्रण	हुम्बस (व्यातानन) या स्लछ पितावृत वात कफावृतवात तेल से शीरबस्ति कंटकारी धूप या धूमवर्ति सिराव्यधि विषार्थ तैल पर्चीतिक्त धूत गुग्गुल वाष्पस्त्रद मसि + तैल + वसा + मज्जा चथोल्त अवगाह, परिषेक यथोक्त प्रधमन-विडंग, मरिच, त्रिकूड इन्द्र तैल एर्ड तैल	हुम्बस (व्यातानन) या स्लछ अध्यग स्नेहापान (मुःस्थापन) बस्ति गापनबस्ति नहविरेचन चतुःस्नेहापान ग्रापनबस्ति नस्य परिषेक	आतसी यव, गोधूम, पायस, कुशरा, मास, तैल और धूत साधित साधित धानवन्तर तैल नाडीस्त्रेद		

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
उदानावृत अपान अपानावृत उदान व्यानावृत अपान समानावृत व्यान कफितावृत वात	बस्ति विरेचन वमन स्नेह विरेचन स्वेद यापनबस्ति खंसन अनुलोभन	एंडमूलादि एंडतेल, आरवाधादि यथोक्त एंडतेल वाष्णवेद यथोक्त आरवध, विवृतादि हरीतकी, एंड तैल
२७. बातरक्त सामान्य चिकित्सा	खक्तमोक्षण विरेचन बस्ति परिषेक अंधग बस्ति निरूह अनुवासन	शूगजलौकादि यथावश्यक स्निग्ध विरेचन— एंड तैल क्षीरबस्ति चंदनबला लाक्षादि तैल पिंड तैल, बला तैल क्षीर बरित गुडविसिङ्क गृहीमष्टु तैल, गुड्डी तैल सुकुमार तैल, बला तैल
२८. बोनि व्यापत् उदानावृत-बस्ति, वंकण, पाश्वर रुजा, जठर रुजा	स्नेहन स्वेदन	स्नेहपान—फलघृत अंधग—बला तैल इत्यादि वाष्णवेद, नाई, परिषेक स्वेद उपनाह कुंभी दशमूलबस्ति, एंडमूलादि यथावत्
२९. योनि व्यापत् वातज योनि रोग	बस्ति स्नेहन स्वेदन (पुनःस्थापन) वमन विरेचन	यथोक्त यथोक्त बस्ति इत्यादि परिषेक अंधग पिंड बस्ति योनिनिरोग
पितला योनि पितला योनि	पितला योनि पितला योनि	क्षीर, उदुबर कवाथ, पंच बल्कल कवाथ इत्यादि चंदनबला लाक्षादि तैल, धान्वतर तैल उपयुक्त तैल तथा जात्यादि तैल पद्मकादि तैल से मधुर द्रव्यसिङ्क उदुबर तैल, धातकी तैल

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
पितृतं अस्पुण् द. कर्णिनी, अचारणा, शुष्का योनि प्रकाचारणा—कफ वात की प्रधानता में अतिचरणा	बस्ति विरेचन उत्तरबस्ति उत्तरबस्ति	एरडमूल कवाथ समृद्ध यथोक्त गंभारी कुटक कवाथ सिङ्ग तैल गंभारी कुटक कवाथ सिङ्ग तैल तैल—जीवंत्यादि क्षीरजला
उदाकर्ता योनि महायोनि स्वस्ता योनि २६. शुक्रदेष बीजोपदातन कलैव्य	उत्तरबस्ति आस्थापन अनुवासन उत्तरबस्ति उत्तरबस्ति उत्तरबस्ति	बलातैल—शतपाकी यथोक्त उपर्युक्त त्रिवृत स्ट्रैह से त्रिवृत स्ट्रैह से त्रिवृत स्ट्रैह से
धूकजं पंगकृत कलैव्य	स्वेहन स्वेदन विरेचन आस्थापन अनुवासन परिषेक रक्तमोक्षण स्नेहपान विरेचन अनुवासन स्वेहन शोधन-वमन विरेक यापनबस्ति स्वेहन स्वेदन वमन	फलाध्यत वृष्यधूत वायरस्वेद यथाकृत वाजीकरण बस्ति पलाशतैल, एरडतैल, मूस्तादितैल (ब्रिणोक्त) सुचि शूण, जलौका फलाध्यत, वृष्यधूत स्निग्ध विरेचन जीवंत्यादि तैल बाह्याभ्यंतर यथोक्त यथोक्त बाह्याभ्यंतर स्थानिक उपनाह वचा, प्रियंगु, यष्टि, कुटज, सप्ति, लवणजल पटोल, निवपत्र, कवाथ, लवणजल से त्रिवृत हरोतकी, आरवधादि
३०. स्तनप दोष		

१०. भावयं च कर्मणि समस्तानि पृथक् तथा ।  
निर्देष्टान्यामयानि हि सर्वशेषव भेषजम् ॥ च. चि. २७-५

### संदर्भ ग्रंथ सूची

१. चरक संहिता—चरकपाणि टीका, गांधार टीका
२. शुश्रृत संहिता—डल्हा टीका, श्री. धाणोकर टीका
३. अष्टांग हृदय—हेमाद्रि, अरुणदत्त टीका
४. अष्टांग संग्रह—इंड टीका
५. काशयप संहिता
६. खेल संहिता
७. शार्ङ्गधर संहिता
८. भाव प्रकाश
९. आयुर्वेदीय क्रिया शरीर—वैद्य राजितराय देसाइ
१०. द्रव्यगुण विज्ञान—यादवजी निकमजी आचार्य
११. द्रव्यगुण विज्ञान—परिभाषा खंड
१२. द्रव्यगुण विज्ञान—प्रियव्रत—शर्मा
१३. भाव प्रकाश निधुं—ब्रह्म शंकर मिश्र टीका
१४. काय चिकित्सा—गमरक्ष पाठक
१५. चिकित्सा प्रदीप—भास्कर विश्वनाथ गोखले
१६. आयुर्वेद का बहुद इतिहास—अत्रिवेद विद्यालंकार
१७. वाचस्पत्य—बृहत्संस्कृताभिधानम् तारानाथ भट्टाचार्य
१८. पारिषद्यं शब्दर्थ शारीरम्—दामोदर शर्मा गोड़ संपादित
१९. सहस्रयोगम्—मलियालम्
२०. नाड़ी परीक्षा, तैद्य मनोरमा धाराकर्त्य—सपादित यादवजी निकमजी आचार्य
२१. Ayurvedic Treatment of Kerala By—Varaskar N. S. Mooss
२२. Text Book of Medical Physiology By—Arthur C. Guyton
२३. Text Book of physiology By—K. M. Bykov
२४. Physiological Basis of Medical Practice By—Best and Taylor
२५. Savill's System of Clinical Medicine edition—14th, 1964
२६. Blakiston's Illustrated pocketed Medical Dictionary—1Ind edition
२७. A History of Medicine, volume I By—Henry E. Sigerist
२८. A History of Mankind—Volume I By—Jacqucetta Haws and Sir Leonard Wolley
२९. A Text Book of Zoology By—T. J. Parkar F. W. A. Namane

## आयुर्वेदीय पंचकर्म-विज्ञान

### परिशिष्टा विमर्श

पंचकर्म शास्त्र एक सम्बन्धित प्राचीन शास्त्र है। यह चिकित्सा का एक अपना विशेष महत्व रखता है। शोधन प्रधान पंचकर्म चिकित्सा के कारण वह शरीर के रोगों को जड़मूल से हटाता है और जैसे अविरत काम करनेवाले कोई यंत्र को ओढ़कर हॉलिंग के द्वारा समूर्णतया नवीनतम जनाया जाता है—वैसे ही इस चिकित्सा द्वारा सतत कार्यशील इश्वर निर्मित इस यंत्र को पुनर्नवीन करने का प्रयास किया जाता है। उद्भूत गोंगों की चिकित्सा के लिए जैसे यह चिकित्सा प्रधानवकारी होती है वैसे ही संभाव्य गोंगों को उत्पन्न न होने देने के लिए शरीरबल बढ़ाने के लिए और गोंगों प्रतिकारक क्षमता बढ़ाने करार शरीर को शक्तिमान बनाने के लिए भी पंचकर्म चिकित्सा वैशिष्ट्यपूर्वक कार्य करती है।

यद्यपि पंचकर्म में उपर्युक्त कर्म शब्द आयुर्वेद में अनेक अर्थ में प्रयुक्त है, तथापि यह शब्द चिकित्सा प्रवृत्ति के लिए मर्यादित है। चिकित्सा प्रवृत्ति सेहादि क्रिया, अर्थात् मेहन, स्वेदन; वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, शूष्मा, नस्य, कवलग्रह, गङ्गाष तथा दीपन पाचनादि सभी क्रियाओं द्वारा की जाती हैं। इन सब कर्मों का समावेश 'पंचकर्म विज्ञान' के पूर्वकर्म, प्रधान कर्म, तथा पश्चात्कर्म के अंतर्गत किया गया है। पाचन, दीपन, स्वेदन, स्वेदन ये पूर्वकर्म; वमन, विरेचन, त्रिविध बस्ति, नस्य तथा रक्तमोक्षण ये प्रधान कर्म और धूप्रापन, कवलग्रह, गङ्गाष, संसर्जन कर्म, शमनोषाधि, साध्यनादि औषधि सेवन ये पश्चात्कर्म—यथोक्त प्रकार से इस प्रथ में वर्णित हैं।

वर्तमान: किन कर्मों को पंचकर्म कहना चाहिए इसकी विस्तारपूर्वक चर्चा ग्रंथ में है। इस प्रथ में लेखक ने 'रक्तमोक्षण' को 'कर्म' में समाविष्ट किया है—इस पर अनेक चर्चाएं और मतभेद उत्पन्न हुए हैं। चरकसंहिता के सूत्रस्थान द्वितीय अध्याय तथा सिद्धिस्थान अथवा आस्थापन बस्ति और नस्य इन पाच कर्मों को पंचकर्म में समाविष्ट किया गया है। जहाँ शोधन कर्म की प्रधानता होती है वहाँ अनुवासन को छोड़कर बाकी चार कर्म शोधन कहा गया है इसलिए शोधन प्रधान पंचकर्म का विवार करते समय दोनों बस्तियों को एक 'बस्ति' शब्द से समाविष्ट कर 'शोधनार्थ उपयोगी' 'रक्तमोक्षण' कर्म को समाविष्ट करने की प्रथा है।

हैं, इतना ही नहीं रक्तमोक्षण के प्रकार तथा कौन-कौन सी अवस्थाओं में किस प्रकार से रक्तमोक्षण करना चाहिए। इसका विस्तृत वर्णन किया है। बातरक्त प्रकरण में शौध, जलतौका, अलाउ तथा सूचिदेश द्वारा रक्तमोक्षण करने का निर्देश किया गया है। और प्रद्युमन तथा सिराव्यथ करने का भी निर्देश है। दोपातुमासार रुजा, दाह, तोद-प्रश्नन अवस्था में जलतौका द्वारा (पित प्रधान दोषों में शीत जलौका के कारण) तथा सुस्ति, कंडु चिकित्सा (बातज दोष प्रधानता) में शूग (स्निग्धता से) द्वारा रक्तनिर्हरण का निर्देश है। इसी तरह शस्त्र प्रधान सुशूत्र सहित में पंचकर्म के कर्मों का इतना विस्तारपूर्वक और अवस्थानुसार उचित उपचारपूर्वक वर्णन किया है कि कदाचित् इतना समर्पक वर्णन उस विषय का चरकर्मसंहिता में भी नहीं हो। बास्ति चिकित्सा के बारे में सुशूत्र ने जो अल्युत विस्तारपूर्वक और विषय प्रायाच्यता में भी नहीं हो। इसका विवरण अपने 'ए लिंगो अपेक्षित इडियन फ्लिसोसॉफी' प्रथा में इंडियन मेडिसिन के अव्याय में जो मत व्यक्त करते हैं वह मनन करने योग्य है। कहा है—

..... Not it is proper to think that work of revising Sushruta was limited up to a pre-Chakrapani period. It is possible to point out to least one case in which it can be almost definitely proved that a new edition was made to a Sushruta Samhita after Chakrapani or the text of Sushruta known to Dallhana was not known to Chakrapani. Thus in dealing with the use of Catheteres and the process of the introducing the medicines through the Anus (Vasti kriya) in IV-38, the text book of Sushruta Samhita commented by Dallhana reveal many interesting details which are untouched in the chapter on vasti in Charaks Samhita (Uttar vasti siddhishthana XII) ....

(A History of Indian Philosophy Volume II Page 426 By Surendranath Dasgupta)

अर्थात् सुशूतसंहिता का संस्करण चक्रपाणि पूर्व काल तक ही होता रहा यह जो धारणा है वह ठीक नहीं है। कम-से-कम एक संदर्भ के आधार पर तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि चक्रपाणि के बाद भी सुशूत में एक नया अभिभास प्रविष्ट किया गया था अथवा तो ऐसा कहा जा सकता है कि सुशूत का पूलविषय जो डहण को अभिभास था वह चक्रपाणि को जात नहीं था ऐसा एक स्थल है। बस्ति चिकित्सा में उपर्युक्त नेत्र तथा गुद द्वारा प्रविष्ट औषधियों के वर्णन में चिकित्सा स्थान के ३५ वें अध्याय में सुशूत में इतना विस्तारपूर्वक सुन्दर वर्णन मिलता है कि उसके पर्यायवर्ती चरक सिद्धिश्थान के १२वें अध्याय के टीकाकार चक्रपाणि द्वारा वह विषय बिल्कुल अस्पष्ट रहा है। चक्रपाणि ने छुट का एक 'चक्रदूत' नामक ग्रंथ लिखा है तथा सुशूत के ऊपर टीका भी लिखी है। अतः यह कहना ठीक नहीं होगा कि चक्रपाणि ने जात हुए भी वह विषय चरक टीका में लिया न हो। इसका मतलब सुशूत का यह अपना स्वतंत्र योगदान है—और जो भी हो प्रायः सुशूतसंहिता में—जो डहण टीका समेत है कुछ अंश में पंचकर्म का वर्णन चरक से भी श्रेष्ठ प्रकार का है।

सुशूत ने प्रत्यक्ष पांचकर्म गिनाएँ नहीं हैं किंतु डहण ने टीका में निश्चित किये हैं यह हमने स्पष्ट किया है, और डहण ने वस्तन, विरेचन, बस्ति, नस्य तथा शिरामोक्ष को प्रधान कर्म कहा है। यहां भी रक्तमोक्षण के एक ही प्रकार का सांवेश होता है—और यह शोधनाग प्रधानता से वर्णन है। बाय-भट ने संतरण—अपतरण दो प्रकार की चिकित्सा निर्दिष्ट की—और अपतरण अर्थात् लंघन को शोधन तथा शमन प्रकार से दो में विभक्त किया, तथा शोधन के निरूह, वस्तन, विरेचन, नस्य तथा रक्तमोक्षण ये पांच प्रकार निर्दिष्ट किये हैं। यहां भी केवल शोधनागता समझनी चाहिए, क्योंकि इसमें अनुवासन का, उत्तरबस्ति का समावेश नहीं होता, तथापि वाराभट का कम-से-कम एक संदर्भ ऐसा मिलता है कि वह देखकर कहा जा सकता है कि वाराभट रक्तमोक्षण को पंचकर्म में समाविष्ट नहीं करते थे। वे कहते हैं—

'स्नेहपीते प्रयुक्तेषु तथा पंचसु कर्मसु . . . . ' अ. द-नथा  
पंचसुकर्मसु बमनादिषु कर्मसुविहेत्तु स्तिरां न व्यवस्थेतः :

अ. ह. सू. २७-८

यह वर्णन सिरामोक्षण के लिए कहा गया है। जिसका बमनादि द्वारा पांचकर्म द्वारा उपचार किया गया हो (वस्तन—विरेचन—निरूह—अनुवासन—नस्य) उनका सिराम्ब्यथ नहीं करना चाहिए। इसका मतलब बाय-भट सिरामोक्ष को पंचकर्म से अलग रखने के समर्थक हैं। तथापि पंचकर्म विषय में चरक-सुशूत-वाराभट—ऐसा मतभेद उपस्थित नहीं करना चाहिए, अपितु कर्म प्राधान्य से जहां जो विषय उल्कृष्ट प्रकार से निर्दिष्ट है वहां से लेकर यह शास्त्र उपर्युक्त करना चाहिए।

पंचकर्म चिकित्सा के मुख्य तीन प्रयोजन हैं। एक स्वस्थ मनुष्यों में स्वास्थ्य की रक्षा करने के लिए पंचकर्म करना—जिसमें दिनचर्या में और ऋतुचर्या में करने योग्य कर्मों का भी कर्मों का समावेश होता है। उसी तरह वेगवरोधन्य अवस्था में कर्तव्य कर्मों का भी समावेश होता है। दूसरा प्रयोजन—स्वायनादि कायाचल्य के असाधारण गुणप्राप्ति के लिए पंचकर्म करना। इससे देह शुद्धि के लिए सभी कर्मों को क्रमशः किया जाता है और तीसरा प्रयोजन हैं प्रतिरोगात्मक विशेष पंचकर्म चिकित्सा, जिसका उल्लेख इस प्रथमें किया गया है।

एक ही चिकित्सा को यदि सभी कर्म करना हो तो प्रवर शोधन में १३० से १३५ दिन, मध्य शोधन में ८५ और ऊपर शोधन में ५७ दिन लगते हैं। यह काल बस्ति कर्म में लगता जाता है। यह देखा गया है कि बस्तियों में कर्म बस्ति में ३०, कालबस्ति में १५ और योगबस्ति में ८ संख्या होती है, और जितने दिन बस्ति किया में लगते हैं उसका दूना परिहारकाल—होता है जिसमें विश्राम करना पड़ता है—अतः ६० दिन, ३० दिन और १६ दिन का अमूल्य समय आहुर का नहीं होता है।

बस्ति संख्या में दूसरा नियम ऐसा है कि वात रोगों के लिए ६-११ अनुवासन, पित रोगों के लिए ५ से ७ अनुवासन और कफन रोगों के लिए १२-३ अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। प्रायः सभी वारितयों में यह नियम है कि केवल अनुवासन या केवल निरूह नहीं देना चाहिए। इस तरह ११ + ११ ऐसी २२ बस्तियां वात रोगों में, पित रोगों में

$9 + 7 = 16$  बस्तियां और कफ गों में  $3 + 3 = 6$  बस्तियां देना चाहिए। ये बस्ति एकत्र से अथवा एक दिन निरुह और दिन दूसरे अनुवासन इस क्रम से दी जा सकती है। इस तरह दिन सभ्या घट कर २२ दिन, १४ दिन और ६ दिन ही जाएगी। इसमें भी इकमान मर्यादा में जेने पर १८ दिन, १० दिन और २ दिन की सभ्या घट कर २२ दिन ही अनुवासन शाम की दिया जा सकता है। चक्रपाणि ने करना हो तो निरुह के दिन ही अनुवासन देने के पश्च में हारित तथा जटुकरण संहिता का संदर्भ दिया है, तथापि उसी दिन स्नेहबासि दी जा सकती है ऐसा अपना मत भी दिया है। इस तरह दोनों बस्तियां एक ही दिन दे कर ६ दिन, ५ दिन या ३ दिन में यह कोर्स पूर्ण कर सकेंगे। फिर परिवार काल ६० दिन के बदले १८ दिन, १० दिन और ६ दिन में पूर्ण कर सकते हैं।

मुश्त ने धातुकार्य को ध्यान में रख कर कुल ६ बस्तियां देने की कहा है और १८ कमादि बस्ति के स्थान पर उपयुक्त क्रम के द्वारा समय बचा सकते हैं। (पृ. ४१५) सारांश स्नेहन और सबैदन पचकर्मिनिक्रिता के लिए मुख्य पूर्वकर्म हैं। स्नेहन में आध्यंतर में अनेक प्रश्न छान तथा अध्यापकों के मन में उपस्थित होते हैं। मुझे अनेक स्थल पर भाषण देने के लिए बुलाया गया जहां पर स्नेहापान के बारे में शकाए उपस्थित की गई। उनका सारांश यहां देना उचित होगा।

प्रायः आयुर्वेद चिकित्सा के लिए आनेवाले गोगियों में पश्चाधात के गोगियों की संज्ञा काफी बड़ी होती है। सभी चिकित्सकों के मन में यह आशंका बनी रहती है कि यदि आत्मर मेदस्वी हो, हठोग से गोड़त हो, उसका रक्तगत कोलिस्टिराल बढ़ा हो और ब्लड प्रेसर ऊंचा हो तब आये इए पश्चाधात के आत्मर में क्या स्नेहापान करना चाहिए? किसी गोग का, वह स्नेहार्ह है या नहीं यह आयुर्वेद सिद्धान्त के अनुसार निश्चित करना चाहिए। जैसा कि इसी ग्रन्थ में निर्दिष्ट किया जा चुका है कि रक्षणार्हता, स्रोतोरोध प्रधानता, आम एवं अनिमाद्य की प्रधानता, दोर्बल्य तथा विषलक्षणों से अभियुक्त कितनी सारी अवस्थाओं में स्नेहन नहीं करना चाहिए। वातव्याधि में भी 'तंत्रादी निरपस्तं भावादौ स्नेहैरुपाचरेत्' ऐसा कहा है। अथवा जिसमें साम दोषों की प्रधानता न होनी उनमें स्नेहापान करना चाहिए। 'स्वदेह प्रसूतन सामान् दोषान निहीत्' ऐसा भी मूल है। अथात् वमनादि शोधन के पूर्व भी यही निवार किया जाता है कि सामता कितने अंश में है? आम प्रधानता में पहले दीपन पाचन देना चाहिए और निराम होने के बाद उन्हें स्नेह के साथ शोधन कराना चाहिए।

पश्चाधात में भी 'मुद्रिष्पः स्नेह संयुक्तेष्वाद्यते विरेचनम्' ऐसा सिद्धान्त है। अतः से क्षीरसंयुक्त देकर पाचन करना होता है। तदनंतर स्नेहापान और विरेचन और बस्ति चिकित्सा करनी चाहिए। वैसे भी यह जाने योग्य है कि तिल तैल में स्नेहापान करने पर ब्लडप्रेशर बाले, मेदस्वी अथवा जिनका रक्तगत कोलोस्टीरोल बढ़ है, ऐसे आत्मर में होने के पूर्व आम आत्मर में लक्षणादि वर्ती, लक्षणसिद्ध कीरपाक, निष्ठली वर्धीनानविधि वर्ती विकित्सा करनी चाहिए। वैसे भी यह जाने योग्य है कि तिल तैल में इस पर्याप्ति का उपयोग किया है। १६६४ में सर्वप्रथम डॉ. पी. एस. बी. कुरुप और श्री कर्तुरे ने

में भी कोई उपराखिम नहीं मिलते, बल्कि आत्मर को रोगप्रश्नम मिलता है। अतः उन आत्मरों में तिलतैल द्वारा स्नेहापान करा सकते हैं।

यदि एक्स्ट्रट मैट्रिक्टिलथ्रोबोसिस—नव गोडिंत पश्चाधात का आत्मर हो तो आप निमांकित चिकित्सा आंख मूंदकर कर सकते हैं—दर्दी अच्छा हो जाएगा—लक्षण ५ से १० कली, १० तोला दूध और १० तोला जल में क्षीरशेष पकाकर प्रातः पिलावे अथवा पिण्डली चूर्ण १ माशा प्रथम दिन, २ माशा दूसरे दिन, ३ माशा तीसरे दिन, ३ माशा चौथे दिन, २। माशा पांचवे दिन, २ माशा दूसरे दिन और १ माशा ज्वे दिन उपर्युक्त प्रकार से दूध के साथ देकर ७ दिन में क्रमशः पिण्डली देकर बंद करावे। अब आम पाचन के लक्षण देखकर दूसरे दिन से 'तिल तैल २ तोला' प्रारथ करें। यह ७ दिन तक बड़ा सकते हैं। अथवा स्निधि लक्षण को देखकर बढ़ावे और 'आरावध हरीतकी कवाण' एवं तैल के साथ देकर विरेचन कराए। विरेचन के बाद कृतसंसर्जन क्रम से आत्मर को 'वाषपस्त्रेद, पिण्डिचिल, पिङ्गलेद—यथायोग्य स्वेद तथा बस्ति कर्म आराम्भ करें। इस क्रम से आत्मर निश्चित प्रकार से रोगप्रस्तुत होता हुआ हमने अनेक बार देखा है।

वैसे स्नेहापान के लिए स्नेह सात्य न हो जाए इतनी मात्रा में ७ दिन में देने का नियम है। साधारणतः सम्यक् स्निधि लक्षणों के लिए सात दिन का नियम आचार्यों ने दिया है, तथापि कोष्ठ की आवेदा से यह क्रम कम ज्यादा हो सकता है। बनारस हिंदु युनिवर्सिटी में अन्वेषण कर्ताओं के अध्ययन में यह अनुभूत हुआ है कि तीन चार दिन में भी स्नेहन पूर्ण हो सकता है, तथापि यहां यह याद रखना चाहिए कि वैद्य को निरतर स्निधि लक्षणों का अध्ययन करना चाहिए। स्नेहापानकाल में स्मार्कत गत फेटी एंपिड लेबल की मात्रा वृद्धिगत होती है और वृद्ध स्नेह पदार्थों में सरीर के टिश्यु लेबल से मेटाबोलिक क्रिया में परिणामप्रदान भाव धूस जाते हैं। तड्डुप्रारं दूसरे दिन से त्वोतीविकास, द्वीपीकरण तथा निष्ठदन और दोषवृद्धि के कारण वे कोष्ठ में आ जाते हैं जहां वर्मन अथवा विरेचन द्वारा उनकी शुष्किं की जाती है।

स्नेह-स्वेद जहां पूर्वकर्म के तौर पर करना हो वहां शोधन मात्रा में स्नेह दिया जाता है और सावेहिक वाष्पस्त्रेद किया जाता है, तथापि जहां गोग की चिकित्सा के स्वरूप में प्रधान चिकित्सा के तौर पर देना हो वहां शोधन स्नेह प्रकार से देना चाहिए। स्वेद में भी गोग प्रधानता के अनुसार बष्टिकशाली पिङ्गलेद, पिण्डिचिल, निरुष्णिडी पर्याप्त द्वेद, दृश्मूलवाष्पस्त्रेद, नाडिस्त्रेद, अवाह स्वेद, जेताक स्वेद, इत्यादि का प्रधान चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

विगत पांच सात वर्षों में पृष्ठकशाली पिङ्गलेद के ऊपर अनेक अन्वेषणों ने कार्य किया है। पिण्ड धूम्र ध्यान स्थानों में भिन्न प्रकार से त्रिस्तर्च प्रोजेक्ट में इस प्रारंभ क्लिनिक (Clinical) तथा प्रयोगशाला विश्लेषणात्मक (Laboratory analysis) पद्धति से कार्य हुआ है और अध्ययन कर्ताओं ने यह सिद्ध किया है कि आयुर्वेद में पिङ्गलेद की जो कार्मुकता बढ़ाई है वह उचित ही है।

खंज और पंगु (Poliomylitis) के असंख्य आत्मरों में प्रसूत लेखक ने इस पर्याप्ति का उपयोग किया है। १६६४ में सर्वप्रथम डॉ. पी. एस. बी. कुरुप और श्री कर्तुरे ने

१२ आत्मों पर निरीक्षण कर निबंध प्रकाशित किया। उस समय सभी आत्मों को जीणांविद्या में विकिळण की गई थी किंतु उनके लक्षणों में परामिताभ हआ।

तदुपरांत ६६६—६७ वर्ष के दरम्यान श्री कस्तुरे, श्री होल्ला तथा श्री गुप्ता ने अवधानंद आवृद्ध हॉस्पिटल अहमदाबाद में कराकर मिशन के आभ्यन्तर प्रयोग के साथ रूपोलियो के कुल ३७६ आतुरों का अध्ययन प्रस्तुत किया जो रूपोलियो वोल्ट्यून नं. ३ अंक नं. १ प्रकाशित है। इस अध्ययन में खंज (एक पांच का पोलियो पेरालिसिस) के १२३ आतुरों पर विश्लेषण किया गया। इन आतुरों में—एक्स्ट्रोकेस की सख्ता भी पर्याप्त थी। कुल ६६ आतुर ऐसे थे जिनमें ३१ आतुर तो ८५ घंटे में अपने एक सप्ताह में आए थे। यह ध्यान देने योग्य विषय है कि नवर्पाडित ये अवधानंद आवृद्ध उत्पत्ति के बाद एक सप्ताह में आए थे।

१६७३ में प्रस्तुत ग्रंथकर्ता ने श्री मणिकर्णन अमृतलाल हरगोवनदास आयुर्वेद हाँस्पिटल अहमदाबाद में कुल १६६ पोलियो के आतुरों का अध्ययन पूर्ण कर निर्बंध प्रस्तुत किया। इनमें ६४ आतुरों को घटिकशाली पिंडबेद मात्र से उपचार किया गया और ७१ आतुरों में पिंडबेद के साथ मात्रा बस्ति भी दी गई। इस अध्ययन का फल भी मधुत उत्ताहजनक सिद्ध हुआ। प्रथम सप्ताह में आए हुए २२ आतुरों में से १० आतुरों में आतुरों में गोग लक्षण प्रशमित हुए। चार आतुरों में लाभ का प्रमाण पूर्ण प्रशम मिला। ८ आतुरों में गोग लक्षण प्रशमित हुए हैं जिसका अधिकारिणम प्रतिशत ३५.५% होता है। ४१.५% प्रतिशत आतुरों में मुख्य लक्षणों में लाभ देखा गया है। यह चिकित्सा सधूल हुई ऐसा और ७.१% आतुर अप्रशम के रहे तथा १५.३% आतुरों ने चिकित्सा की जिन्हें आतुरा और ७७.६% आतुरों में यह चिकित्सा सधूल हुई ऐसा अलाभ में गिना जा सकता है। मिर भी ७७.६% आतुरों में यह चिकित्सा सधूल हुई ऐसा कठक सकते हैं। ता. २१-११-७५ के श्री मणिकर्णन अमृतलाल हरगोवनदास आयुर्वेद हाँस्पिटल के प्रसिद्ध रिपोर्ट के अनुसार १६७० से १६७८ तक कुल १६२३ पोलियो के आतुरों की गिरावट तथा चिकित्सा ग्रहण की गई है। और तदनुसार यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि पोलियो में घटिक शालीपिंडबेद तथा मात्राबस्ति चिकित्सा का अत्यंत सफल उपयोग होता है।

के शूलादि का ही प्रशम नहीं होता, किन्तु गेगोत्पति कारक घटना (संप्राप्ति) का भी विच्छेद होता है।

मूत्र में विसर्जित नाईट्रोजन प्रमाण में चिकित्सा के बाद न्यूनता पाई गई जिसका मतलब है कि शरीर के संपूर्ण मेटालोलिङम के कार्य पर पिंडस्ट्रेंद का नियामक प्रकार का प्रभाव है। मूत्र में हायड्रोक्सीप्रोलीन (Hydroxiprolidine) और स्थायी पार्लिसेकाइड (Mucopolysaccharides) का प्रमाण बढ़ा हुआ मिलता है जिसका मततार्थ यह है कि कनेक्टिव टिश्यु (शरीर में अस्थि-कंडडा मज्जा जिससे बनते हैं) का विच्छेद होता है और आमवात में (Rheumatism) यह कार्य महत्वपूर्ण है। इसी तरह एहिने कोर्टिकल ग्लैड (Adriano Cortical) के कार्य में भी पिंडस्ट्रेंद के द्वारा सहायता प्राप्त हुई ऐसे निर्देश मिले जिसमें अग्रवात की गेगावातमा के लक्षणात्मक का कारण कारण घाव भर्ती प्रयोग होता है।

पिण्डित यह ऐसा ही एक और महत्वपूर्ण स्वेद है जिसका पक्षाधात में अंतिम सफल उपयोग होता है। पिण्डित यह शास्त्रानुसार सोहङ्गार स्वेद है। जिसमें एक साथ स्नेहन, अभ्याग तथा स्वेदन का कार्य होता है। इसका कार्य जैसा कि हम समझते हैं केवल बाह्यतः त्वचा पर, या मांसपेशी पर ही नहीं होता, बल्कि आध्यंतर धारुपाक शरीर का मेताबोलिझम पर भी होता है। जामनगर में डॉ. पी. एन. बी. कुरुप—कल्पुरे तथा मेहता के द्वारा पक्षाधात के १२ आठुरों में लाक्षणिक लाभ के साथ उनके रक्त परीक्षण किया गया। सभी १२ आठुरों का प्रवेश काल के समय, प्रवेश काल के अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण रहा। सभी आठुरों का बाद तथा २२ दिन पिण्डितिल किया गया अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण रहा। पिण्डितिल के बाद और एसिड तथा पिण्डिटो-एसिड की मात्रा परीक्षण की गई। परिणामतः सभी हड्डियां कि पिण्डितिल पुनः ७ दिन के बाद रक्त परीक्षण किया और रक्त में फैटी एसिड-प्रोटीन, पायथ्युविक एसिड तथा पिण्डिटो-एसिड की मात्रा परीक्षण की गई। इससे अनुमान निकलता है कि पिण्डितिल द्वारा रक्त में फैटी एसिड प्रमाण बढ़ता है इससे अनुमान निकलता है कि पिण्डितिल उपर्युक्त तेल का लच्छा द्वारा शोषण होता है और रक्त में स्मृह स्तर को बढ़ावदाता है। रक्त गत दोष स्नेहान्तरों में घुलने पर कोष में आते हैं जिन्हें मुट्ठ विरेचन देकर निकाला जाता है। इसीलिए पिण्डितिल के प्रयोग काल में दररोज मुट्ठ विरेचन गंधर्व हस्तादि कथाश से से देने का नियम है। यदि न दिया जाये तो आठुर को आश्वान, आनह और कोषाग्न

एक रक्त के प्रोटीन मात्रा की भी वृद्धि मिलती है जिससे पिण्ठियल का बुहान कर्म स्पष्ट होता है। कीटो-एसिड का प्रमाण घटता है जिससे कार्बोहाइड्रेट मेटाबोलिझम की उर्द्धास्ति का खाल आता है। पाथथविक एसिड का प्रमाण भी घटा हुआ मिला, जिससे अनुभान होता है कि शरीर के जननल मेटाबोलिझम पर इसका जरूर असर होता है और विषकारी तत्वों को दोषों के बह रक्त में से हरा देता है। सभी आवुरों में पिण्ठियल द्वारा देहभार में वृद्धि होती है कि शरीर के वह रक्त में से हरा होती है। यह विश्लेषण जुलाई १९६५ के अंतर्वेदी गई जिससे इसकी बुहान कार्यकृती स्पष्ट होती है। इस तरह स्पष्ट होता है कि पिण्ठियल का द्वारा शरीर में रोग लक्षणों के प्रशम के साथ बलसजन भी होता है। यह एक अत्यंत ज्ञानधारद चिकित्सा है।

प्रतिरक्षण-स्वेद यह एक अत्यंत मरल और सस्ती चिकित्सा है। निर्णिटी पत्र, एंडडफ्र.

श्योनोकपत्र, निष्पत्र इत्यादि वातहर पत्रों के द्वारा यह स्वेद किया जाता है। विशेषतः शूल प्रधान विश्वाची तथा गृद्धसी गोरों में निर्गुणी पत्र पिण्ड स्वेद का अद्भुत कार्य मिलता है। अखड़ानंद हॉस्पिटल अहमदाबाद में प्रस्तुत लेखक ने १६६७ में विश्वाची के १५ रुणों पर तथा गृद्धसी के ३० रुणों पर प्रयोग कर पेपर प्रस्तुत किया है जो सचिव आयुर्वेद मई, १६६७ तथा सितंबर, १६६७ में प्रकाशित हुआ है। जिसमें स्पष्ट है कि विश्वाची के १५ आतुरों में से १३ आतुरों में संपूर्ण प्रशम और २ आतुरों में अत्यप्रशम मिलता। गृद्धसी में प्रतिस्त्रेवद के साथ बस्ति चिकित्सा भी की गई और माझतिलिक बस्ति नी गई परिणाम में २० प्रतिशत आतुरों को लाभ मिलता है। इन परीक्षणों के बाद विश्वाची, गृद्धसी दूनी, प्रतिसूनी, मन्याप्राह, पार्श्वथूल, पिंडिकोद्देन इत्यादि शूल प्रधान व्याधियों के अनेक आतुरों को इसी चिकित्सा से लाधान्वित होते हुए देखा जाता है।

वाष्पस्वेद-दशमूल क्वाथ से यह प्रायः किया जाता है और सर्वांवात् पक्षाधात् कपवात्, मेदोगतवात्, मासगत वात में इसका अच्छा लाभ मिलता है। यह सरल चिकित्सा है और बहिरंग विभाग में प्राइवेट प्रैविट्स में भी वैद्य कर सकते हैं इसका जरूर लाभ उठाना चाहिए। हमारे आतुरालाय में दररोज लगभग ५० रुणों पर वाष्पस्वेद का प्रयोग होता है।

जेतांक स्वेद गृह मणिबेन हॉस्पिटल की एक खास विशेषता है। मेरे ख्याल में और किसी भी आयुर्वेद आतुरालय में जेतांक स्वेद की व्यवस्था नहीं है। हमारे आतुरालय में हमने चरकोक्त प्रमाण से जेतांक स्वेद का कूटागार कहलाता है। इस के बीच पुरुष प्रमाण परिणाह का गोलाकार कमरा इस स्वेद का ख्लेद्गृह बनाया है। १६ अस्ती-अर्थात् २४ फीट ऊंचा और ४ हाथ = ६' प्रमाण का विस्तारुक्त अंगार कोष्ठक स्तंभ बनाया गया है और गोलाकार घिनी को सलान १। ऊंची और उतनी ही चौड़ी पिंडिका तैयार की गई है। इस स्वेद गृह में हमने अनेक आतुरों का स्वेदन किया और संहिताकारों की क्षमायाचना के साथ निमोनिक सुधारणाएँ करनी चाहिए ऐसी सलाह देने के पक्ष में लेखक है।

यह स्वेद गृह उपर्युक्त प्रमाण में बनाया जाये (जो हमने बनाया है) तो बहुत बड़ा होता है। इसके अंगारकोष्ठक स्तंभ को संपूर्ण भार कर प्रदीप करने के लिए लगभग चार गोरी कोरले (एक गोरी = ४० किलो) की जरूरत होती है और यह आर्थिक दृष्टि से भारी व्ययकारक होता है। किर प्रमाणतः विशाल गृह में अंगार स्तंभ के ऊपर के भाग में अत्यन्त अनिताप होता है और जहां पिंडिका पर आतुर होता है वहां अनिताप ठीक नहीं लगता। अतएव हमारी धारणा है कि अंगार कोष्ठक स्तंभ कुंडकाकार जमीन के ऊपर न बना कर जमीन के नीचे बनाना चाहिए और ऊपर कोष्ठक स्तंभ कुंडकाकार जमीन के ऊपर पर उसे पूर्ण करना चाहिए। जिसमें उसका स्तर पर क्षेत्र के साथ समान ऊंचाई है। पर होना चाहिए। इससे आनन्दाप ऊपर न जाकर पिंडिका के स्तर पर पहुँच सकेगा। इसी तरह या आगार २४ परिणाह के बदले छोटा बनाया जा सकता है और १६ परिणाह का बनाकर उसी अनुपात में अंगार कोष्ठक छोटा बनाया जा सकता है अर्थात् ४' विस्तार के लिए चिमी की व्यवस्था करनी चाहिए। इस स्वेद गृह में चारों बाजूं में चार इलेक्ट्रिक मेंगड़ी या रुमहीटर के लग रखकर जब जरूरत हो तब केवल इलेक्ट्रिक सोगड़ी से रुक्षस्वेद

करने की व्यवस्था रखनी चाहिए। ये सुधारणाएँ हमने अपने जैतांक स्वेद गृह में जारी कर दी हैं जिससे अनुभव का लाभ अन्यत्र उठाना चाहिए।

शोधन चिकित्सा में वर्मन विरेचन एक अत्यंत महत्व की चिकित्सा है। इसमें भी वर्मन के बारे में वैद्यों में बहुत अनावस्था है। वर्मन प्रक्रिया की जटिलता के कारण संभवतः यह होगा तथा प्रयोग करते कर्मन वैद्य के पास एक बार प्रत्यक्ष करने के बाद यह जटिलता दूर हो सकती है। वर्मन प्रक्रिया में सबसे अच्छा योग प्रदनपत्र योग ही है। जिसमें मदनपत्र, द्रव बनाकर पिलाना चाहिए। द्रवत्व के कारण वह जल्दी Puporic End तक पहुँच जाता है और शीघ्र ही वर्मन प्रारंभ होता है। इस विषय में मुश्ति कितना प्रत्यक्षलक्षी वर्णन देते हैं यह व्यान देने योग्य है। मुश्ति ने क्वाथ की मात्रा १६ तोला, छूण की मात्रा १ तोला और कल्क की मात्रा १ तोला देने का निर्देश किया है। यह प्रमाण उचित ही लगता है। पर जल का ही प्रयोग करना अधिक हितावह है। इस योग को जल में घोलकर अधिक द्रव बनाकर पिलाना चाहिए। द्रवत्व के कारण वह जल्दी Puporic End तक पहुँच जाता है और शीघ्र ही वर्मन प्रारंभ होता है। इस विषय में मुश्ति कितना प्रत्यक्षलक्षी वर्णन देते हैं यह व्यान देने योग्य है। मुश्ति ने क्वाथ की मात्रा १६ तोला देने का निर्देश किया है। यह प्रमाण उचित ही लगता है।

डरह्नण ने वर्गातर से प्रधान—मध्य—अवर घद से तीन मात्राओं का निर्देश चक्षुष्य के नाम से किया है। यदाह चक्षुष्य—“क्वाथ पाने नवप्रस्था ज्येष्ठा मात्रा प्रकीर्तिं। प्रथमापित्ता प्रोक्ता प्रिप्त्या च कनीयसी।” वर्मन-विषये च सार्वज्ञयोदशपलप्रमाणं वापि वयोरोगाद्यपेक्ष्या। इति।। अर्थात् क्वाथ के द्वारा वर्मन कराना हो तो ६ प्रस्थ = ५७६ तोला ज्येष्ठ मात्रा, ६ प्रस्थ = ३८४ तोला मध्यम मात्रा और ३ प्रस्थ = १६२ तोला हीमात्रा में प्रयोग करना चाहिए। इसी मात्रा का उल्लेख शार्दूलस्त ने किया है। यह मात्रा बारबार दिये जानेवाले वर्मनोपग्र द्रव के (Fluid Intake) प्रमाण के साथ मेल खाती है।

वर्मन श्वास, कास, कुष्ठ, शुद्ध रोग, त्वग्रोग, अमलापित, शीतिपृत, उदादिति, रोगों में सफल प्रभावकारी होता है, तथापि कुछ अन्यथाओं ने प्रधानत में भी वर्मन का प्रयोग किया है। बंडै में पोद्वार आयुर्वेद महाविद्यालय में वैद्य के, एन्. महता तथा टीम के द्वारा १७७५-१७७६ के रिपोर्ट के अनुसार पक्षव्याधि के द्वारा वर्मन कराया गया और २० प्रतिशत गोरियों के वाक् कार्य का सुधार तथा अंश पोशियों के उत्क्षेपण में सुधार देखा गया। इसी टीम ने पक्षव्याधि में विरेचन के प्रयोग किये हैं और न बना कर जमीन के नीचे बनाना चाहिए।

अहमदाबाद में अखड़ान आयुर्वेद हॉस्पिटल में वैद्य डॉ. गिरी, वैद्य बी. डॉ.

नंदुबारकर तथा ए. एम्. व्यास ने शुद्धकृष्ट पर शोधन का अध्ययन किया है। विचारिका के कुल ५५ रेगिस्टर पर प्रयोग किया है। जिनमें ७ में वर्मन किया गया, ३५ में विरेचन किया गया और १६ में रक्तमोशण किया गया। वर्मन प्रयोग अधिक उत्साहजनक नहीं हुआ लेकिन विरेचन का अत्यंत लाभ देखा गया है और कुछ आतुरों में १०० प्रतिशत लाभ दुष्टिग्रोच हुआ है। वैद्य श्री नंदुबारकर, वैद्य जी. के. द्वे, वैद्य मुमनबेन कुर्से, वैद्य डॉ. टी. जोशी की टीम ने स्फूहि भावित प्रिप्त्या का कुष्ठ रोग में शोधनार्थ प्रयोग किया। यह व्यान देने योग्य विषय है कि— जब वर्मन के लिए देना हो तब

—माप—तंडुल की उल्कारिका, दही का भोजन प्रथम दिन देकर दूसरे दिन हृष्ट पिलाकर उभयोदय तथा देखा गया है। याम मात्रा में बिया गया और विरेचन के लिए देना स्मृतिहावित विफलता का प्रयोग १ ग्राम मात्रा में किया गया और विरेचन के लिए देना हो तब २ ग्राम की मात्रा में रिक्त कोष में दिया गया। ऐसे ४२ आतुरों का विवरण इस टीम ने 'बैद्यनाथ शास्त्र चर्चा परिपट' हेदराबाद की गोष्ठी में प्रकाशित 'बाह्यरोग निदेशिका' सितम्बर, १९७८ में प्रस्तुत किया है। यह एक महत्वपूर्ण सिद्धि है और एक ही औषध उभयोदयोभागहर संशोधन में प्रयुक्त किया जा सकता है— इसका यह सुंदर उदाहरण है और वर्मन के लिए इसका उत्तम प्रभाव देखा गया है और कोई भी उपद्रव नहीं देखा गया। उपर्युक्त प्रयोग में विफला और स्थूल क्षीर को समान भाग लेकर एक दिन तक खरल में पीसकर सुखाया गया और शुक्क चूर्ण का उपयोग किया गया है। ४२ आतुरों में से २० में पूर्ण प्रशम (४०), १२ आतुरों में लक्षणालयता (२५.५%) और १० आतुरों में (२३.५) अन्तार देखा गया है।

श्री पिरी के नेवल में उसके बाद लगभग ३०० से अधिक आतुरों में शोधन— (विरेचन) किया गया है और ४० आतुरों को लाभ मिला है ऐसा विवरण है।

राजकीय आयुर्वेद हॉस्पिटल हेदराबाद में डॉक्टर संजीवराव की टीम ने परिणामशूल में वर्मन सदृश— 'आमाशय शोधन' का प्रयोग वरुणादि क्वाथ, नारिकेल लवण, केवल उष्णोदक तथा विफलता क्वाश के द्वारा किया। वरुणादि क्वाथ द्वारा आमाशय शोधन में १६ आतुरों में से लगभग सबको प्रशम प्राप्त हुआ ऐसा विवरण रिपोर्ट में प्रकाशित है। सारांश वर्मन विरेचन के प्रयोग में यक्ति द्वारा घिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोग किए जा सकते हैं जिससे निश्चित लाभ मिलता है।

बस्ति प्रयोग—बस्ति चिकित्सा आयुर्वेद की एक विशिष्ट चिकित्सा पद्धति है। इस विषय पर ग्रंथकर्ता ने इस ग्रंथ में सबसे अधिक पृष्ठ लिखे हैं। तथापि जब भी मैं इस विषय का विचार करता हूँ— तब और बहुत कुछ लिखने का मन होता है। बस्ति को चारकादि आचार्यों ने 'चिकित्सार्थ' कहा है— अर्थात् कातथ से परीक्षण करने के लिए हमने विगतवर्षों बस्ति द्वारा की जा सकती है। इस कथन का तथ्य से परीक्षण करने के लिए हमने विगतवर्षों में अनेक प्रयोग किये— और यह समझ कर आशयर्थ नहीं होना चाहिए फिर अल्पात्मक फरक करने से एक ही बस्ति अनेक रोगों में काम करती है। वहां उन परीक्षणों का सार संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे।

वातव्याधि पक्षाधात, गृहसी, अस्थिमज्जागत वात, मांसगत वात, अर्द्धत; आवृत वात (मेदोउवत वात), कोष्ठगत वात, खंज-पंज (Pediouryelitis) इत्यादि अनेक रोगों में वात-त काम करती ही है तथापि वातव्याधि, अतिरिक्त, ज्वर, जीर्ण ज्वर, रक्तपित, रक्तातिसार, अतिसार, ग्रहणी (collitit), पांडु, शूल, परिणाम शूल, हिक्का, श्वास, मूत्रकूच्छ मूत्राधात, अश्मरी शूल, हृच्छुल, शिरोरोग, अपस्मार, इत्यादि रोगों में भी अद्युत लाभ करती है। जीर्णज्वर के कुछ आधुनिक सब औषधि प्रयोग किये शेरे और उन्हें लाभ नहीं हुआ था (Pyrexia-unknown reason) ऐसे आतुरों में केवल गृहचिकित्सा बस्ति का प्रयोग अत्यंत सफल हुआ है। अतिसार और ग्रहणी के अनेक आतुरों में हमने ग्राही बस्ति और संभन बस्ति, पिच्छा बस्तियों का प्रयोग किया है। कोलाईटिस, (collitis), (Ulcerative Colitis), के आतुरों में पिच्छा बस्ति एकमात्र सफल चिकित्सा

पद्धति है। कई आतुरों तथा डाक्टर आतुरों पर हमने इसका प्रयोग किया है। अलसरेटिव कोलाईटि जिसमें खस्त और पूय के साथ मल प्रवृत्ति असंबंध बार होती थी ऐसे आतुरों में पिच्छा बस्ति के ७ दिन के प्रयोग में संपूर्ण नियंत्रण हुआ देखा गया है। उड़ब्बर सार लक्षण द्वारा पचावल्कल क्वाथ और ग्राही बस्ति तेल ४ और स और शतावरी घृत औस के मिश्रण द्वारा यह पिच्छा बस्ति देखी चाहिए यह है—

**बल्टिपित—**(अर्था, कैक्सर, इत्यादि जात कारणों के अतिरिक्त) में होनेवाले रक्तस्वाव को गोकर्ण में भी यह बस्ति लाभ करती है। सर्विक्स के कैक्सर (cancer of cervix) में इस की उत्तरबस्ति—रक्त रोकने के लिए अत्यंत लाभ करती है। शरीर के तिर्यक मार्ग (मिम्कूपों) द्वारा कभी-कभी रक्तस्वाव होता है ऐसे शांबो साइटोफिनिया के (Thrombocytopenia) आतुरों में पिच्छा बस्ति और राजयान बस्ति से न केवल रक्तस्वाव बंद होते हुए देखा अपितु उसका मुख्य लक्षण श्रांबोसाईट—प्लेटलेट (Platelets) की संख्या हजारों में बढ़ती हुई १५ लिन में १०००० से २ लाख तक पहुँची हुई देखी गई है। ल्यूकोमिया (Leukemia) के आतुरों में डब्ल्यू बी, सी. (छेत्रतकण) की संख्या घटाने में राजयान बस्ति का लाभकर प्रभाव देखा गया है। पांडु—रक्तक्षय के आतुरों में रक्तबस्ति का उणपचमूल क्वाथ के साथ प्रयोग लाभकर होता है। हिक्का के आतुरों में प्रारंडमूलादि बस्ति का प्रयोग अत्यंत सफल सिद्ध हुआ है। श्वास रोग में स्नेहपान और विरेचन के बाद दम्पूलनिरूप तथा अपामार्गक्षार त्रिकटु, गोमूत्र, सेंध्वन साधित तीक्ष्ण बस्ति पूरक चिकित्सा के प्रकार से बहुत लाभप्रद होती है। प्रारंडमूलादि क्वाथ—शिषु, आगवध क्वाथ, तथा इसमें गोमूत्र—क्षार से सिद्ध बनाई हुई तीक्ष्णबस्ति मेदोहर सिद्ध हुई है— और देहभार क्षम करने के लिए अन्य चिकित्सा के साथ अत्यंत लाभप्रद होती है। मूत्रकूच्छ, मूत्राधात और अश्मरी में दाह शूल प्रशम के लिए— क्षीर बस्ति और राजयान बस्ति श्रेष्ठ कार्य करती है। इन रोगों में उत्तरबस्ति प्रयोग भी करना चाहिए। हृच्छुल, पाश्वशूल तथा श्वास शूल के शोधन बस्ति और स्नेहबस्ति (भागविधि) एकांतर से देने पर योग बस्ति (वस्ति) कोर्स से अनेक आतुरों में लाभ होते देखा गया है।

शूल और परिणाम शूल-उदर शूल के विविध प्रकारों में मणिकेन हॉस्पिटल में अनेकण किया गया। १६७१ से १६७४ तक कुल २०५ आतुरों पर केवल बस्ति द्वारा उपचार किया गया। जिनमें से १५७ दर्दिओं ने संपूर्णतया चिकित्सा चालू रखी। इन सब में क्षीरबस्ति का प्रयोग किया—जिसमें दूध २ प्रसुति (८ और स), मधु १ प्रसुति (४ और स), लिल १५७ प्रसुति (४ और स) और घृत १ प्रसुति (४ और स) लिया जाता है। कुल १५७ आतुरों में से ८३ आतुरों में संपूर्ण प्रशम (cured) हुआ, (५२.५१%), ४८ आतुरों में लक्षण प्रशम (Released—३०.५७%) मिला और २६ आतुरों में अप्रशम (unchanged ११.५६%) मिला। संपूर्ण प्रशम दोनों को हुक करने पर ८३.३८% प्रतिशत परिणाम सफलता दर्शक निकलता है। यह कार्य वैद्य करते के मार्गदर्शन में वैद्य चतुर्वेदी, वैद्य तिवारी, हसमुख शाह तथा त्रैद्य देशपांडे ने किया था।

इस प्रयोग में हमने बस्तिविधि में नवीनता का प्रयोग किया और बस्तियां बिंदु बिंदु से (Drip Method से) जिसे हमने बंदूण विधि नाम दिया— देना प्रारंभ किया और लक्षणालूप सलाईन सोह के द्वारा इस तरह बस्ति दी ताकि कुल द्वय १ घंटे में पक्वाशय में

पहुँच जाए। बस्ति पाठ की और धारा कर दूध २ और स तिल २ और स और धूत २ और मिला कर यह बस्ति दी गई। बैंहणविष का परिणाम सामान्य विष के परिणामों से श्रेष्ठ आता है और द्रव्य व्याप भी अल्प होता है।

इसी शीर बस्ति का प्रयोग कटिथूल, गुद्धसी और अस्थिमज्जागत वात में किया गया। 'अस्थ्याश्रयाणा व्याधीना पचकमणि भेषजम्'। बस्तयः क्षीरसर्णीषि तिक्तकोपहितानि च। सूत्रानुसार क्षीर बस्ति में घृत के स्थान पर तिक्त घृत प्रवृक्त किया गया। कटिथूल के २८ आतुरों का विवरण प्रस्तुत ग्रंथकर्ता ने रोमेटिडम वॉल्यूम ३, अंक ४ में १६६६ में प्रकाशित किया गया तदनुसार २२ आतुरों में रोप्रशम, ५ आतुरों में लक्षणप्रशम और १ आतुर में अप्रशम मिला। इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया कि बस्ति द्वारा आहुर के देहभार में २ से ६ पौँड तक वृद्धि हुई, फैटी एसिड के अनुपात में ३६ ग्रा. से ८५ मि. ग्रा. तक वृद्धि हुई, प्रोटीन अनुपात में ०.३ से १.० तक की घट देखी गई। इस तरह बस्ति वस्तुतः वृद्धण कार्य करती है यह सिद्ध हुआ है। रुमेटिडम वॉल्यूम ८ अंक २ में प्रस्तुत ग्रंथकर्ता ने पुनः अस्थिमज्जागत वात में बस्ति प्रयोग के कुल ३० रुणों का वृद्धि हुई और प्रकाशित किया है। जिसमें १० रुणों में पूर्ण प्रशम, १४ रुणों में लक्षण प्रशम और ६ रुणों में अप्रशम मिला है। अतः कटिथूल (Lumbago) अस्थि मज्जा वात (जिसका कारण—osteo Arthritis Disc Lesion, Spondylitic changes, Kochi, spine Rheumatic Pain, Rheumatoid Arthritis इत्यादि हो सकता है), गुद्धसी, आमवात (जीर्ण), उल्स्तंध, वातरक्त इन व्याधियों में निःशक्त प्रयोग इस बस्ति का करना चाहिए।

राजयापन बस्ति—जिसे मुस्तादि बस्ति कहा गया है—इसका प्रयोग सर्वांग वात, मांसगत वात, शिरोधितात (Mental Retardation) और अपस्मार के आतुरों में सफलता सिद्ध हुआ है। मांसगत वात—जिसमें आधुनिकों के (Myopathy) का समावेश होता है और आधुनिक विज्ञान के अनुसार यह रोग बच्चों को २० वें साल के उमर तक मृत्यु लाता है—इतना धातक है—ऐसे ४० रुणों में अन्य चिकित्सा के साथ बस्ति प्रयोग किए गये, और बिलकुल असाध्य लक्षणान्वित (Clinically Hopeless) रुणों को छोड़कर बाकी रुणों में उत्साहजनक परिणाम मिला है।

**खंज-पंग—(Polonyclites)** यदि नवीन रुण हो तो बस्ति प्रयोग से अद्भुत लाभ मिलता है। एक सौ से अधिक रुणों में इसका परीक्षण किया गया है। यह कार्य मापिणेन हॉस्पिटल में १९७४ से १९७६ मार्च तक किया गया—और इसमें लेखक के नेतृत्व में बैच देशपांडे तथा वैद्य हसमुख शाह ने कार्य किया है। इसका विवरण सेरेंट कौन्सिल को प्रस्तुत किया है।

पोद्दार आयुर्वेद महाविद्यालय मुंबई में वैद्य २०८०, एन. मोहता की टीम ने पक्षायात में बस्ति प्रयोग के कुल १६ रोगियों का अध्ययन १९७५-७६ में किया और १० रुणों में लाभ मिला है। डॉ. पी. के. पारिचर के नेतृत्व में आर्य वैद्य शाला कोटेक्स में परिणाम शूल में

गोगियों में पूर्ण प्रशम, ६ गोगियों में अल्पप्रशम तथा १ गोगी को अप्रशम देखा गया। यह १९७५-७६ का विवरण है।

इस तरह बस्ति प्रयोग पर विविध-कार्य चल रहा है और उनकी सफलता से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि 'बस्तिः चिकित्सार्थमिति प्रदिष्टम्। सर्वा चिकित्सामिति बन्धिमके' आचार्यों के इस कथन में बहुत बड़ा तथ्य भरा हुआ है। इसके पूर्व यह बताया गया है कि डॉ. दासगुप्ता के पतानुसार सुश्रूत ने चरक अथवा चक्रपाणि से भी अधिक सुंदर वर्णन दिया है और इसके जो विशिष्ट कल्प दिये हैं उनका तस्तु चरकोक्त अध्याय सिद्धिस्थान में इतना सुंदर वर्णन नहीं है। खास महत्वपूर्ण बात तो यह है कि सुश्रूत ने बस्ति के संबंध में व्याधि, तैल, धूत, मासरस, कल्कादि द्रव्यों का एक बार सामान्य वर्णन किया और बाद में इसी प्रभाणानुसार बस्ति तैयार करनी चाहिए ऐसा कह दिया है तथापि टीकाकार डल्हण ने एक-एक बस्ति में व्याधि, कल्क स्नेहादि की मात्रा, निर्माण विष तथा देने की विष और उस बस्ति का प्रभाव अत्यंत सविस्तार वर्णन किया है। शायद डल्हण एकमात्र ऐसे टीकाकार हैं जिन्होंने प्रत्येक विषय का इतना सूक्ष्म और सभी पहलुओं के साथ वर्णन किया है। इन बस्तियों में से कुछ महत्वपूर्ण बस्तियों का विधिपूर्वक हमन नीचे वर्णन करते हैं जिससे बस्ति तैयार करने में और देने में वैद्यों को सुविधा हो और शास्त्रीय बस्ति कल्पों का लाभ सभी वैद्य उठा सकें।

### पुश्तोक्त कतिपय बस्ति प्रयोग

पृष्ठथूल, त्रिक्षूल, ग्रहणी, वातरोगों में उपयुक्त, खत्तमास, बलप्रद।

### १. संपाकादि बस्ति—

**क्वाय निर्माण—शोपाक (कृतमाल)** पुनर्नवा, अस्थगंधा, शटी, लघुपचमूल बला गामा, गुद्धचिं, देवदारु, मुक्ता।

उपर्युक्त १४ द्रव्यों के प्रत्येक १ पल से १४ पल द्रव्य ले। इनको यवकूट बनाकर इसमें मदन फल ८ संख्या (४ मदन फल = १ पल — डल्हण) इस तरह द्रव्य १६ पल लेकर ८ गुना जल अथात् १२८ पल जल डालकर चशुर्थार्णा ३२ पल क्वाय बनावें। यह ३२ पल ३-४ बस्तियों के लिये क्वाय है। अतः इनमें से प्रत्यक्ष ग्राह ८ पल क्वाय लेना चाहिए। क्वाय कपड़े से छान लें।

**कल्कद्रव्य—मार्गाधिका (पिपली), मुस्ता, हुम्षा, मिसि, सैष्ठव, प्रियंग यष्टीमु**

सांजन। सब द्रव्य समन भाग लेकर इनका कल्क ३ पल मात्रा में लेवे।

**निर्माण—**एक गहरा तामापात्र लेकर उसमें सैष्ठव ३ माशा डाले, फिर सोहे २, शीर १, कांजी १, गोमूत्र १ और मास १ रस इनका समिलित ६ पल डालकर मंथन करें। एकीकरण होने के बाद कल्क डालकर मंथन करें।

कुल ३४ आतुरों में विशिष्ट चिकित्सा के साथ अनुबासन का प्रयोग किया है—और १६

अब निमांकित आवाप डालें—

मधु ३ पल ले और मंथन करें। इस तरह—  
शपाकादि वकाथ — ८ पल  
माराधिका कल्क — ३ पल  
क्षीरादि स्नेह — ६ पल  
मधु — ३ पल  
मांसरस — ११ पल  
कांजी — आधा पल  
गोमूत्र — आधा पल  
दूध — ११ पल

कुल २४ पल की बस्ति देना चाहिए।

१ पल = लगभग ४ तोला।

यह बस्ति पुष्टशूल, उरुशूल, विक्षूल, अश्वरीशूल को मिटाती है, वात-मूत्र-मल के संग को दूर करती है, ग्रहणी, अश्व को मिटाती है और रक्त तथा मांस के लिये बलप्रद होती है।

२. वातध बस्ति

वात रोग में उपयोगी वयः स्थापन गुड्यादि बस्ति—

वकाथ—गुड्याची दशमूल, त्रिपला राना बला।

इन १६ द्रव्यों के १६ पल में १६ मास डालें इसमें १३६ पल डालकर ३२ पल रहे हैं। इन १६ द्रव्यों के १६ पल एक बस्ति के लिए लें।

कल्क—पियंगु, रसाजन, सैंधव, शतपुष्णा वचा, पिष्ठली, पिष्ठली यमानी कुकु विलवपल, गुड़, मदनफल आधा पल।

कल्क—३ पल  
इसमें—मधु ३ पल कौञ्ज १/२ पल

तैलपूत ६ पल शुक्त १/२ पल  
क्षीर २ पल गोमूत्र १/२ पल  
दधिमस्तु १/२ पल

इस तरह २४ पल की बस्ति होती है।

यह बस्ति सभी वात रोगों को दूर करती है तथा तेज, वर्ण, बल, उत्साह, वीर्य तथा अग्नि को बढ़ाती है।

३. पित्तदोषहर तथा पित्तरोगों में उपयोगी कुशादि फंचमूलादि बस्ति—

वकाथ—कुशादि फंचमूल त्रिपला:  
मुस्त अरुषक  
मंजिला गस्ता

पाषाणभेद दशमूल  
बला शठी

पुनर्नवा मूर्वा  
बिलत्यं बिलत्यं

आयन्त्रक भूनिंब  
कोल (बदर) गुलाल

अब निमांकित आवाप डालें—  
मांसरस ११ पल, क्षीर ११ पल, कांजी आधा पल और गोमूत्र आधा पल,  
इसमें से ८ पल बस्ति के लिए लें।

कल्क—  
शृंगाटक आत्मगुता केशर अगुरु  
चंदन विदारी मिसि पञ्जिष्ठा  
प्रियंगु इद्रयव सैंधव मदनफल  
यष्टीमधु पद्माक

कल्क—३ पल।

आवाप—  
घृत ४ पल  
दुध २ पल  
मांसरस १ पल  
इस तरह कुल २४ पल की बस्ति है।

यह बस्ति शीत है। पित्त दोषहर है। रक्तपित, ज्वर, दाह, रक्तप्रदर, गुलमरोगों में तथा सभी पित्तरोगों में देखी चाहिए।

४. कफ रोग, मेदोरोग में उपयोगी भद्रानिंबादि बस्ति—

कवाथ—भद्रा (कट्टल) निब बुलथ  
कोशातकी गुड्याची अर्क  
कटकारी पाठा सारिका  
अमर आरावध

इन १३ द्रव्यों के यवकूट से १६ पल लेकर इसमें १२५ पल जल डालकर चुरुर्थाश ३२ पल शेष रहें। इनमें से ८ पल बस्तर्थ लें।

कल्क ३ पल—

बला मदन कृष्ण एला पिपली बिल सैंधव सर्प प्रद अमर  
सैंधव सूर्य बिल सैंधव अमर  
आवाप—कट्टल और तिल तैल सम्मिलित ३ पल, मधु ६ पल, यवक्षार १ पल, गोमूत्र १।। पल, कांजी १।। पल।

इस तरह कुल २४ पल की बस्ति है। यह बस्ति कफहर है, मेदोष है, गलगड़, गंडमाला, श्लीपद, उदर रोग, कामला, पांडु, प्रमेह तथा विष पीड़ितों में इसका उपयोग करना चाहिए।

५. संस्टृ तथा सत्रिपात दोषों में उपयोगी वृष्टिदि बस्ति—

वकाथ—वृषा (वासा), दशमूल शार्यक एंड  
मुस्त अरुषक यव शठी भूनिंब  
मंजिला गस्ता कोल (बदर)  
इनका यवकूट १६ पल लेकर १२५ पल जल डालकर ३२ कवाथ शेष रख कर ८ पल लेवें।

कल्क—मदन, यटीमधु, अमर, सर्प, पिपलीमूल, सैंधव, यमानी, मिसी कुट्टज। इनका कल्क ३ पल।

आवाप—यूत २ पल  
तेल २ पल  
मधु ३ पल  
शीर १।। पल

इशुरस १।। पल  
गोमूत्र १।। पल  
मासरस १/२ पल

मधु ४ पल  
शीर ४ पल  
सैंधव १ तोला

यूत ४ पल  
शीर ४ पल

इस तरह कुल २४ पल की बस्ति देय है। यह बस्ति दोषसंसार तथा संज्ञियत में देनी चाहिए।

संसार में दोषों की अंशाश कल्पना के अनुसार शीरवादि आवाप द्रव्यों का प्रमाण कम-अधिक कर सकते हैं। इसी तरह संज्ञियत में भी दोषों की चूमाधिकता के अनुसार प्रमाण कम-अधिक करना चाहिए।

यह बस्ति गुधसी, शर्करा, आठीला, दुनी-प्रतितूनी, गुल्म रोगों को नष्ट करती है।

#### ६. मास युक्त बलवर्धन सर्वरोगहर राजनादि बस्ति

व्याथ—राना	आराध	पुनर्नवा	कटुका	उशीरा	मुस्ता
त्रापमाण	गुड्डी	रक्त पुनर्नवा	पचमूल	बिधीतक	बला।
इन १६ द्रव्यों को १६ पल प्रमाण में लेकर १२८ पल जल डालकर ३२ पल शेष व्याथ बनावें। इसमें से ८ पल व्याथ लेवें।					

इनका कल्क ३ पल लें।

आवाप—सोहे	६ पल	मासरस	१ पल
मधु	३ पल	शीर	१ पल
सांजन	१ पल	सौंबर	१ पल

इस तरह २४ पल की बस्ति दें।

कर्म—यह बस्ति मास-युक्त-बलप्रद है। गुल्म, असुदर, मूत्रकृच्छ्र श्वसन्य, विषम-ज्वर, अर्ष, ग्रहणी, वातकुड़ल, जातु-जंघा-शिर-बलिशूल, उद्धर्व, वातरक्त, शर्करा, अष्टीला, कुक्षिशूल, उद्धर-रोग, अरुचि, रक्तपित, कफोन्माद, प्रमेह, आधान, हृदग्रह इन रोगों को दूर करती है।

#### ७. रक्तदोषहर न्यग्रोधादि बस्ति

व्याथ—न्यग्रोध (वट) उडुम्बर अस्वत्थ (पीपल) लक्ष (कर्कटी) मधुक (यष्टी) कपीतन

(आम्रातक) अर्जुन आम्र कोशाम्र लाक्षाबृक्ष जबु प्रियाल मधुक (मङ्ग्हआ) कट्टफल बेतस कदं बदरी तिंडुक शल्लकी लोध भल्लातक पलाश नदीवृक्ष (पारस्प पीपल)। १६ पल यवकूट + १२८ पल जल—योष ३२ पल और उपयोगार्थ ८ पल लें।

कल्क ३ पल—काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, क्रष्णभक, मुद्रगपर्णी, माषपर्णी, मेवा,

महमेदा, गुड्डी, कर्कटशंगी, बंशलोचन पचकाष्ठ, प्रपौड़ीक, क्रम्ब, वृद्ध, मुद्दीका, जीवंती, यटीमधु इनका कल्क ३ पल।

आवाप—शर्करा १ पल  
तेल २ पल  
गोमूत्र १।। पल

इशुरस १ पल  
शीर ४ पल  
सैंधव १ तोला

मधु ४ पल  
शीर ४ पल

यूत ४ पल  
शीर ४ पल

इस तरह २४ पल की बस्ति दें।

यह बस्ति पित तथा रक्तदोष में देनी चाहिए।

#### ८. रक्त में हितकर द्वितीय शीरवृक्षादि बस्ति

व्याथ—शीरवृक्ष अर्थात् न्यग्रोधादि गण का व्याथ

आवाप—सैंधव १ तोला

३ पल

मधु ४ पल  
यूत १ पल

शर्करा १ पल

इशुरस } ३ पल ७ टंक (१ टंक = ४ माशा)

शीर } ३ पल

इस तरह २४ पल की बस्ति दें। पित और रक्तदोष में यह हितावह होती है।

#### ९. लेखन बस्ति

व्याथ—फिफ्ला व्याथ पूर्वोक्त प्रकार से ८ पल कल्क—उषकादि गण का कल्क। २ पल ऊषक (क्षार मूतिका वाराणसी देशों बढ़तरदेशों बहुल्येन भवति)

कासीस, मधुक (यष्टी) पिपली, सैंधव, वचा, हुणा।

इनका कल्क २ पल।

आवाप—गोमूत्र ३ पल  
शीद्र ४ पल  
सैंधव १ तोला } १ पल

यवक्षार ३ तोला } १ पल

कटुतैल ६ पल

इस तरह २४ पल की बस्ति दें।  
यह लेखन बस्ति है—मेहर-कफहर कार्य करती है।

## १०. उत्क्लेशन बस्ति

उत्क्लेशनार्थ वातादि दोषों के अनुसार उक्त क्वाथ ८ पल और एंड बीजादि कल्क ३ पल डालें। इसमें एंड बीज, यटीमधु, पिपली, सेंधब, बचा और हुपा का समावेश होता है।

आवाप—मैं यथा दोष—मधु ४ पल, कट्टू तैल २ पल, क्षीर २ पल, सैंधव १ पल, गोमूत्र २ पल, कांजी २ पल मिलाकर बस्ति दें।

उत्क्लेशनार्थ (२) द्वितीय कल्क—शतावरी, यष्टी, कुरुज, मदन फल, का कल्क दे, तथा उपर्युक्त प्रकार से बस्ति दें। यह दोषहर बस्ति है।

तृतीय—दोषशमन—प्रियंगु, यष्टी मधु मुस्ता, रसांजन इनका कल्क ले कर क्षीर के साथ उपर्युक्त क्वाथ की बस्ति दोषशमन करती है।

सुशूलानुसार प्रथम उत्क्लेशन बस्ति देनी चाहिए तत्पश्चात् दोषहर बस्ति देनी चाहिए और तदनंतर दोष शमन बस्ति देनी चाहिए। सैंधव, गोमूत्र, क्षार कट्टू तैल आदि से दोषों का उत्क्लेशन होता है, क्षीर, गोमूत्र, शतावरी, यष्टयादि दोषहर द्रव्य हैं और प्रियंगवादि—क्षीर के शमन का कार्य करते हैं।

## ११. बूहण बस्ति

क्वाथ—विदारिग्राहादि क्वाथ ८ पल।

विदासिंधा (शालीपर्णी) विदारी कंद,	सहदेवा (बला)
विश्वदेवा (गाँगेरुकी) पुनर्वा	पृथक्पर्णा
शतावरी	जीवेक
क्रहधक	कंकारी
एंड	ऋषभी (कपिकच्छु)
गोक्षुर	

काकोल्यादि गण (उपर्युक्त) का कल्क ३ पल।

मधु ४ पल

घुत ६ पल

मांसरस ३ पल ७ टक (१ टक = ४ माशा)

इस तरह २४ पल की बस्ति दें।

यह बस्ति बूहण करती है।

## १२. प्रियंगवादि ग्राही बस्ति

क्वाथ—प्रियंगवादि गण का क्वाथ ८ पल। प्रियंगु, समंगा, घातकी, पुञ्चा : (तुंगः) नागपुष्प, चंदन (रक्त चंदन), कुचंदन (मलयादि चंदन) मोचरस, सांजन, कुर्शीक (शलश्य ल्वक् कुंभी वृक्ष), सौवारंजन, पवकेश, मजिष्ठ, दुरालभा।

कल्क—अंबष्टादि गण का कल्क ३ पल। अंबष्टा-पाठा, घातकी फूल, समंगा, कंठगा (अरबुका), यटीमधु, बिल्वगरी, लोध, पलाश, पद्मकेशर।

आवाप—मधु ४ पल। संग्राही घृत (दाढ़िमादि घृत, कुट्ज घृत इत्यादि) ६ पल तक ३ पल। इस तरह २४ पल की बस्ति दें। यह संग्राही बस्ति, अतिसार, ग्रहणी, जर्मा प्रवाहिका, जीवादान इत्यादि में कार्य करती है।

विमर्श—इस तरह कुछ बस्तियों का वर्णन ऊपर दिया है। यहां क्वाथ, कल्क, आवाप इत्यादि सभी का वर्णन डहण के अनुसार किया है। डहण ने ३२ पल बस्ति क्वाथ में से ८ पल एक बस्ति पुटक के लिए लेने को कहा है। यदि अन्य ४ दर्दी उपस्थित हो तो शेष क्वाथ का उपयोग उनमें करें। अन्यथा हमारे मत से उपर्युक्त क्वाथ द्रव्य १६ पल के बदले ४ पल लेकर उसमें ३२ पल जल डालकर ८ पल ही शेष रखना चाहिए। इसी तरह यह बस्ति मान २४ पल संपूर्ण वयमान का है। वय और दोषबल के अनुसार १२ पल से १६ पल तक यह कल्क कर सकते हैं और तदनुसार कल्क और आवाप द्रव्य को कम कर सकते हैं।

साधारणतः क्वाथ ८ पल, कल्क ३ पल और स्लेह मांसरस क्षीणादि—१३ पल इस तरह ८ : ३ : १ : ३ का प्रमाण है। इस तरह यदि संपूर्ण बस्ति १२ पल की बनानी हो तो क्वाथ ४ पल, कल्क १। पल और आवाप द्रव्य ६। पल होंगे। यदि १६ पल की बस्ति देनी हो तो क्वाथ लगभग ५। पल, कल्क २ पल और आवाप द्रव्य ६ पल लेना चाहिए।

नस्य कर्म—बस्ति के अनंतर नस्य अथवा शिरोविरेचन कर्म का क्रम है। गत अनेक वर्षों में अपम्मार (Epilepsy) शिरःशूल शिरोभिप्रातः-जन्य बैंधिक अविकास (Mental Retardation), अर्दित, तथा द्विष्ट गौवेक के अनेक आतुरों में नस्य का प्रयोग किया गया और इससे लाभ हुआ देखा गया। अर्दित तथा पक्षाधात में बड़बिंडू तैल, अण्टैल का मर्श नस्य तथा कट्पत्तु चूर्ण, त्रिकट्टु शुटी इनका प्रथमन नस्य देने से ओष्ठजिह्वा, जिक्काजिह्वा तथा वाङ्संग में सुधार देखा गया है।

अपम्मार में ब्रह्मीघृत आभ्यंतर पान के साथ उसी घृत का नस्य देने पर लाभ देखा गया है। बैंगलोर में डॉ. वर्मा के अताति टीम ने उमाद एवं वातज शिरःशूल पर क्षीरबला तैल के नस्य का प्रयोग १६७४-१६७६ वर्ष में संशोधन विभाग में किया और ३२ रुणों का परीक्षण किया गया।

प्रक्षवध रोग में बंबई में डॉ. मेहता के अंतर्गत अन्वेषकों ने १६७५-७६ में मर्श का अध्ययन किया और ६ दिन के नस्य प्रयोग से अवसाद युक्त अंगों के संचालन में २ रुणों में सुधार देखा गया ऐसा विवरण है।

काशी हिंदू विश्वतियालय में संशोधन विभाग में डॉ. पी. जे. देशपांडे जी के नेतृत्व में अन्वेषकों ने ४५ रुणों पर नस्य का प्रयोग किया। जीर्ण शिरःशूल में एलजित राइनाईटिस एवं साईनोसाईटिस साईनोसाईटिस के पुनरावर्तन पर प्रभावकारी परिणाम देखा गया ऐसा विवरण है।

प्रतिमर्श नस्य में ब्राह्मीघृत का नस्य ग्रंथकर्ता ने दृष्टीगौरव (जिनकी आंखों पर जटी नंबर वाला मोटा चश्मा लगता है) के आतुरों में किया और अनेक आतुरों में २ से ३ मास की चिकित्सा काल में नंबर कम होते हुए देखा है।

व्याग्र के पुनरावर्तन में वह प्रभाव रखता है यह सिद्ध हुआ है। अमरावती के वैद्यराज श्री व. झं. म. गोप्टे महोदय ने रक्तमोक्षण तथा अनिकर्म का अस्ति गंधीर अध्ययन किया है। अहमदाबाद में रक्तमोक्षण शिविर के लिए आपको आमंत्रित किया था और मन्या सिरा (jugular vein) में से भी रक्तमोक्षण करा कर उन्हें कोई ध्यान नहीं रहता यह सिद्ध किया है। जल्डप्रेर, वगदोष और शिरोगा को असंख्य रुग्णों में आपने रक्तमोक्षण किया है। साधारणतः ४ औस (१ औस = ३० c. c. लगभग) रक्त किसी भी उपद्रव के बिना निकाला जा सकता है।

इस तरह पंचकर्म शाल का विहारलोकन करने पर प्रतीत होता है कि भारत भर के बैद्य किसी-न-किसी कर्म पर निश्चित रीति से प्रयोगात्मक संशोधन कर रहे हैं और इस सद्यःफलप्रद चिकित्सा का लाभ उठा रहे हैं। भारत में ही नहीं अपितु विदेश के शास्त्रज्ञ भी अब इस विषय में जागि ले रहे हैं और अब वह दिन दूर नहीं जब विश्व वैज्ञानिक पर्यावरण में गंभीरता से अध्ययन द्वारा अद्भुत सापान्त्रिय की खोजों पर प्रकाश प्रक्षेप करना शुरू कर देंगे।

十一

तत्र मुच्चेषुक्ते श्रांगलौकासूच्यताभुष्मि । प्रस्त्रैवा सिराभिर्यथा दोषं यथा बलं ॥  
रावद नोद शूलातिस्वरक् साव्यं जलैकसा । श्रौंस्तु बहिद् सुषुकिङ्कमिष्मयनात् ॥  
देशादेशं ब्रजेत्प्रार्थं सिराभिः प्रज्ञनेन वा । अंगालानो न तु साव्यं ॥

च. चि. २६-२८, ३७, ३८

स्नेहन-स्वेदन ये दो पाचकर्म के लिए मुख्य पूर्वकर्म कहलाते हैं। तथापि सुश्रुत के टीकाकार ड़ह्ना ने पूर्वकर्म में 'पाचन' कर्म का भी समावेश किया है। इसका निर्देश इस ग्रंथ में पृ. ७ पर किया गया है, तथापि ग्रंथ प्रारंभ करते समय 'स्नेहविज्ञानीय' अध्याय में प्रारंभ किया गया। वस्तुतः पाचन यह कर्म ऐसा है कि वह स्नेह से भी अधिक महत्व का है और न कि केवल महत्व का अपितु स्नेहन के पूर्व वह किया जाना चाहिए। अतएव इस कर्म पर यहाँ संक्षेप में विचार किया जाना है।

पाचन—ड़ह्नानार्थ ने योग्य हि कहा कि "अचे तु 'संशोध्यस्य' पाचन स्नेह स्वेदनानि पूर्वकर्म" अर्थात् शोधन के पूर्व पाचन-स्नेहन और स्वेदन करना चाहिए ऐसा अन्य आचार्य कहते हैं। यह 'अन्य' कौन है इसकी स्पष्टता नहीं है, तथापि चरकादि सभी आचार्यों ने पाचन पर विशेष जोर तो दिया ही है। सच्चत कहते हैं—

भद्रान् क्षेर काष्ठेत्वं सक्षार लवणयुतं  
संधुक्षितानि लिप्यथश्च स्विन्द्रंचैव विशेषेत् ।

मसुद्धक्षतान्तं स्त्रियोऽप्यस्त्रियो विशेषयेत् । ॥४॥ विद्वा इति ॥३३॥  
अर्थात् जिसका अनि मंद हो, और कोष्ठ क्षर हो उसे शार और लवण से मिश्र  
घृत से अनि दोस होने पर लेहन और खेदन काकर विशेचन देना चाहिए।  
चरक ने दोसे और ग्रष्म कर्त्त्वे या उत्तरे विद्वा इति ॥३३॥

दोष प्रसूत हो जाते हैं, तब उनका सहसा निर्हरण नहीं करना चाहिए। यदि ऐसा किया जाए तो न वे दोष जिस आश्रय में स्थित हैं उसी धात्वादि का नाश करते हैं। एतदर्थं एक दुष्टान्त दिया है— जिस तरह कच्चे फल में से यदि इस निकालने की कोशिश की जाए तो वह फल ही नष्ट होता है तोकिन इस नहीं निकलता— उसी तरह धातुओं में लीन होकर जो दोष विप्रक कर बैठते हैं, उन्हें बिना पाचन किए निकालने की कोशिश करने पर वह आशय नष्ट होता है तोकिन दोष नहीं निकलते। उन्हें निकालने के लिए पाचन-दीपन प्रकार के स्नेह दे कर स्नेदन कराकर निकालने चाहिए। (दिखे पृ. १५)

ड़ह्ना तो स्पष्ट किया है कि पाचन, स्वेहन, स्वेदन ये पूर्वकर्म हैं, वर्मन, विरेचन, बस्ति, नस्य और सिरामोक्षण (रक्तस्थुति) ये प्रधान कर्म हैं— इसमें स्पष्ट है कि सभी कर्मों के पूर्व पाचन करना चाहिए।

आयुर्वेद ग्रन्थों में पाचन शब्द का प्रयोग प्रायशः “दीपन पाचन” अथवा आमपाचन, अग्निदीपन इस नाम से किया जाता है। क्या दीपन पाचन एक ही किया है या अलग ? सिद्धांत की दृष्टि से देखे तो दोनों अलग हैं। दोनों की भी अलग-अलग व्याख्याएं ग्रंथ

परिशिष्ट विमर्श-२

में की गई है। व्यावहार में दोनों को अलग ढंग से प्रयोग करना अशक्य तो नहीं है लेकिन कठिन अवश्य है।

पाचन की व्याख्या शास्त्रीय है—‘पचत्यं न वर्हि च कुर्याति दीपन पाचन करना अलग ढंग से करना आवश्यक है। इस प्रकार की है—‘पचत्यं न वर्हि च कुर्याति दीपन पाचन करना अलग ढंग से करना आवश्यक है। इसलिए शास्त्राधर पूर्वखंड पूर्वखंड अथर्त् जो औषधि अब का आम का पाचन करती है लेकिन अन्ति को नहीं बढ़ाती वह पाचन कहलाती है। वह अन्ति स्थान में रहने वाले पाचक स्वादों को नहीं बढ़ाती। उदाहरण के लिए नाककशर की प्रधानता होती है। इसलिए वे सामान्य से अग्नि बढ़ावे यह तर्क्ष है। अग्नि दीपन हुए बिना आम का पाचन कैसे होगा यह प्रश्न होगा। फिर भी—प्रायोगिक विधि में यह शब्द होता है। उदाहरण अजीर्ण में केवल गरम पानी से भी अपवर्त अन्त का पचन होता है। गरम पानी अग्नि स्वादों को बढ़ाते हैं ऐसा कहा नहीं जा सकता। धात्यक-धीनिया, पिपलीमूल, लौंग, मरिच, सूट, नारामेथा से पाचन द्रव्य के उदाहरण हैं।

आम पाचन हो जाने के बाद स्वभावतः ही अपने आप अग्नि दीपन होकर भूख छुल जाती है। इसलिए पाचन द्रव्यों का भी अंतोगत्वा कार्य दीपन तो होना ही है। डहना ने पूर्वकर्म में पाचन कहा है— वहाँ दीपन का प्रयोग न करे ऐसा अर्थ नहीं होता ‘दीपन पाचन’ शब्द ही लेना अधिक उचित है। जिस आत्मरु को वर्मन या विरेचन त्याग शोधन करना हो उसका शरीर स्वेच्छान के लिए अधिक सक्षम बने तदर्थं उसे दीपन पाचन देकर उसे भूख अधिक लगे, पहले रहे हुए आम का संपूर्ण पाचन हो जाए यह बहुत जरूरी होता है। शोधन पूर्व स्वेच्छा प्रक्रिया में आग्नि मंद होकर उत्तर आम-धातुनाशकारक कोई अवस्था खड़ी न करे इसलिए दीपन पाचन प्रथम आवश्यक ही है। दीपन की व्याख्या शास्त्राधर इस प्रकार करते हैं—‘पचेत्रामं न विकृक्त्वा दीपनं तद् यथा मिसि’ अर्थात् जो औषधि द्रव्य आम का साक्षात् पाचन नहीं करते किंतु अग्नि को उद्दीप करते हैं, अर्थात् अग्नि स्वादों को बढ़ाते हैं उहैं दीपन कहते हैं उदाहरण मिश्रया-मिसि। इन द्रव्यों में अग्नि, वायु और पृथ्वी महाभूत की प्रधानता होती है। चित्रक, हिंग, मरिच, जीरक, अजवाईन, अद्रक, मधु, तक, क्षार ये सब दीपन के उदाहरण हैं।

पंचकर्म पूर्व जो दीपन पाचन करने के लिए कहा है वह दीपन पाचन घृत द्वारा करने का विधान है। घृत-अग्नि प्रदीपक कहा गया है। उचित मात्रा में इसका प्रयोग अनिवार्यक होता है, तथापि चूर्ण, बटी, क्वाथ, पेय, विलेपी, दूष आसव, अस्त्र इत्यादि अनेक कल्प दीपन पाचन के लिए प्रयोग कर सकते हैं। यहाँ उदाहरण के लिए कुछ कल्पों को निर्दिष्ट किया जाता है।

दीपन पाचन चूर्ण—पचकोल चूर्ण, क्षारद्वय चूर्ण, पिपलत्यादि चूर्ण, लवण-भास्कर चूर्ण, शिवाक्षर पाचन चूर्ण, त्रिकटु चूर्ण, हिंवटक चूर्ण, अग्नि मुख चूर्ण, चित्रकादि चूर्ण ये सब दीपन पाचन कारक हैं। इन्हें १ से ३ ग्राम मात्रा में तक के साथ या उणोंके साथ प्रयुक्त करें।

दीपन पाचन बटी कल्प—शंखवटी, चित्रकादि बटी, लशुनादि बटी, आम-पाचन बटी, अन्तुडी बटी, जंघी लवण बटी, विषिटुक बटी, इत्यादि १-२ से ३ गोली दो बार भोजन के बाद या भोजन के पूर्व भी इसका प्रयोग किया जा सकता है।

दीपन पाचन क्वाथ—बीजपूरादि क्वाथ, पिपलत्यादि क्वाथ, धात्यक विकाथ, धात्यकशनागर, क्वाथ, शुष्ठी जीरक क्वाथ, जीरकादि क्वाथ, ऋष्यपणादि क्वाथ इत्यादि दीपन पाचन क्वाथ है। इन्हें २।। से ५ तोले के मात्रा में प्रयुक्त करें।

दीपन पाचन घृत—पिपलत्यादि घृत, हुप्यपादि घृत, द्राक्षादि घृत, ऋष्यपणादि घृत, घृतकीरण घृत, क्षार घृत, इत्यादि घृत की मात्रा २ तोले से ४ तोले तक दी जा सकती है।

आसवाराटि—कभी आसव अस्त्र दीपन पाचन घृत होते हैं। दशमूलारिष्ट, चित्रकोलासव, पंचकोलासव, द्राक्षासव, मूलासव (च. वि. १५), मधुकासव (च. वि. १६) जीरकादि इत्यादि, ये सभी आसव इस्त्राइ २ तोले की मात्रा में जीरकोलोत्तर दिये जाते हैं।

देवधि—पेय, विलेपी, दूष, यवाग्र सभी दीपन पाचन होते हैं। चरक ने सूतस्थान के दूसरे अध्याय के अंत में अनेक पेया और यवाग्र का वर्णन किया है। वे सब दीपन पाचन होते हैं।

चरक कहते हैं—

अत ऊर्ध्व प्रवक्ष्यामि यवागृहिर्विष्वेष्यः। ।

विविधानां निकारणां तत्साध्यानां निवृत्तये। । च. सू. २-१७

और अंत में कहते हैं—

अष्टाविंशतित्येवता यवावः परिकीर्तिः। ।

पंचकमणि चार्णिक्त थोक्तो भेषज संग्रहः। । च. सू. २-३४

अथर्त् यहाँ पर २५ यवाग्रुओं का उल्लेख है। इनका प्रयोग पंचकर्म जनित अनिमाद्य को दूर करने के लिए किया जाता है। इन यवाग्रुओं में पिपलत्यादि यवाणु, अष्टाविंशत्य यवागु, शालपण्यादि यवाणु, हीबेरादि यवागु, इत्यादि अनेक यवाणु हैं। चक्रपाणि इनका प्रमाण देते हुए कहते हैं—‘यवाग्रु साधन तावद् द्विविद्यं विभेदत्। तीक्ष्ण वीर्यं यथा शुट्ट्यादि, मध्यवीर्यं विल्वानिमंथादि, मुदुवीर्यं चामलकादि। द्विविद्यं तीक्ष्णाणा कर्षः, मध्याना अथपलम्, मुदुना पलमित्युत्सर्गः।’ अर्थात् तीक्ष्ण वीर्यं अष्टाविंशति से बनाई हुई यवाग्रु १ कर्ष १ तोला केसी चाहिए, मध्यवीर्यं बिल्व अनिमंथादि द्विविद्यं हुई पेया-यवाग्रु आधापल १ २ तोला मात्रा में दें और मुदु द्रव्य आपलकादि से बनाई हुई यवाग्रु पल प्रमाण खाने ४ तोला मात्रा में दें। क्वाथादि में भी यह प्रमाण कठिन होता है।

दीपन पाचन घोग्याह है, तदनुसार मात्रा निर्धारण करें।

२. पंचकर्म प्रयोग में कितना काल लगता है?

सप्तूष्टा पंचकर्म किसी आत्म में या स्वस्थों में करना हो तो कितना काल लगता है इस विषय का इसी गंथ के पृष्ठ २० से २३ तक विवेचन किया गया है। तदनुसार पृष्टा शुद्धि के लिये लाभग १२२ दिन, मध्य शुद्धि के लिए ८५ दिन और अवशुद्धि के लिए ५७ दिन लगते हैं। इस क्रम में जो दिन संभव आधिक है उससे उस काल में औद्योगिक लगाया जाता है। इसके लिए लगाया जाता है।

किया जा सकता है ये प्रश्न मुझ से जारी रहे जाते हैं। खास काके अमेरिका में प्रवचन देता था उसमें लोगों का यह प्रश्न रहता कि यह काल कम कैसे किया जाए? और भारत में प्रश्न यह मूँछ जाता है कि सूर्ण पंचकर्म करने के लिये व्यय कितना लगता है? क्या यह खर्च कम किया जा सकता है? यदि हम काल कम कर सके तो व्यय भी कम होता है। लोकन प्रथम हम पहले प्रश्न का उत्तर देखें।

यह देखा जाता है कि काल का प्रमाण बढ़ने का कारण मुख्यतः बस्ति कोस है। और दूसरा कारण संसर्जन क्रम है।

बस्ति साध्या कर्म-काल और योगबस्ति प्रकार से ३०-४५ और ८ दिन होती है। जिसका द्वितीय परिहार काल-विश्राम काल होकर ६०, ३० और १६ दिन की वृद्धि होती है। इसमें कट्टीती करने के लिए दो विधियाँ हैं, एक तो सभी में योगबस्ति कोर्स (८ दिन) करे। दूसरा उपाय इन परिहार काल में आतुर के चिकित्सालय में रखे जिना घर पर विश्राम करना। जिससे पंचकर्म चल रहा है यह मानसिक भावना नहीं होती। दूसरी और विधि यह है कि बस्ति के लिए शास्त्र में एक अन्य प्रकार की भी साध्या विकारों में ६ से १२ बस्तियाँ देने का विधान है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह क्रम दी है। कफज विकारों में १-३ बस्तियाँ पित्तज विकारों में ६ से ७ बस्तियाँ और वातज विकारों में ६ से १२ बस्तियाँ देने का विधान है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह क्रम तो योगावश्या में होने से इसे स्वास्थ्यदूषा सा साधनकाशी पुरुषों में प्रयोग नहीं कर सकते। इसका उत्तर यह कि एक तो स्वास्थ्य को हम 'तथाशक्ति स्वस्थ' कहते हैं। क्योंकि प्रत्येक वात-पित्त-कफ दोषों का निर्धारण कर बासिसाध्या सीमित की जा सकती है। यदि गोके अनुसार विचार करना न हो तो प्रवृत्ति के अनुसार विचार किया जा सकता है, और वात प्रकृति, पित्त प्रकृति—और कफ प्रकृति में ६-१२, १-७ तथा १-३ बस्तियाँ देकर अवधि कम कर सकते हैं। मिथ्र प्रकृति में—वात पित्त में ११ पित्तकर्म में ३/५ और वातकर्म में ६ बस्तियाँ दी जा सकती हैं।

कालक्रम में अधिकता का दूसरा कारण संसर्जन क्रम है। प्रवर शोधन में ७ दिन वामनोत्तर और अवर शोधन में ३ दिन तक संसर्जन क्रम दिया जाता है। इसे क्रम में योगबस्ति १ दिन, दूसरे दिन खिचड़ी (व्यवहु) और तीसरे दिन लघु भोजन दीपन करना औपधों के साथ देने पर ५ से ७ दिन संसर्जन क्रम के समान आनि संधृक्षण हो सकता है और कुछ काल क्रम किया जा सकता है।

पंचकर्म में व्यय—पंचकर्म छुट खर्चीती चिकित्सा पद्धति है। अधन तथा कारणविहीनों के लिए पंचकर्म नहीं करना चाहिए ऐसा व्यय ग्रंथकार कहते हैं। राजाओं तथा राजाओं के समान जो धनिक हैं उनके लिए यह विशिष्ट चिकित्सा व्यवस्था है, तथापि सामाज्य वैद्य चिकित्सा व्यय क्रम करने के लिए अनेक उपाय कर सकता है। चिकित्सा व्यय बढ़ने के कारण ये हैं— (१) आतुरगलय में मेहन्त का काम करनेवालों को मासिक पार अच्छा खासा देना होता है। (२) तेल, धी इसका प्रजुर उपयोग है और इसका मूल्य काफी बढ़ा हुआ है। (३) बस्ति में स्नेह का प्रमाण तथा पिपिष्ठिचिल अवाहन जैसे स्नेह में तेल का प्रमाण बहुत अधिक लगता है। (४) शिरोधारा में तैतादि का

शिरोधारा अधिक लगता है। (५) वैद्य ख्यय अपनी कार्यशैली के अनुसार उसकी फीस बहुत अधिक रहता है।

प्रथम कारण अनिवार्य है। फिर भी वैद्य न्यौ लिखार्थी (अर्सेट्स) रखकर उन्हें बिष्वृति (Sipend) देकर यह व्यय क्रम कर सकता है। तेल और धी का निर्माण वैद्य व्यय करे तो आधा खर्च क्रम हो सकता है। दस्यमूल तेल, माष सेंधव तेल, अस्वगंधा तेल जैसे तेलों का निर्माण बहुत सरल है। बस्ति को बहुण विधि (Drills method) से देने पर नेहों की वर्मन हो कर परिणाम भी शोष और सुंदर मिलते हैं। आखरी समस्या वैद्य जी अपनी है।

पंचकर्मचिकित्सा के महत्व के विषय में—इस प्रश्न के पृष्ठ २५ से ३० तक विस्तार में विषय समझाया गया है। अब इस सबक्ष में कुछ खास बात यहाँ स्पष्ट करनी है। अन्युकृद में पंचकर्म द्वारा स्रोतस शोधन को महत्व दिया गया है। स्रोतस क्या है। शरीर के अण परमाणु (cell) स्तर पर जो बारीक-बारीक आकाशीय तत्त्व छिद्र रूप में हैं उसे नीतस कहते हैं। 'नियत मुषिरमण' कहा गया है। इन स्रोतस के द्वारा ही सभी मूर्मिन भावों की उत्पत्ति होती है और जब तक से प्रावृत्त रहते हैं तब तक व्यक्ति निरोगी रहता है। इनके विकृत होने पर व्याधि प्रारंभ होती है।

चारक कहते हैं, 'सर्वे हि भावाः पुरुषे नातरेण स्रोताः स्यभिनिवर्तते। क्षयं वायाधिगच्छति।' .... तदेतत्तोत्तमां प्रकृतिभूतत्वात् न विकोरोरुपसूज्यते शरीरम्।'

(च. वि. ५, १ से ६) अब इस तथा को आधुनिक परिस्कर्म में देखें—  
"We know that all the cells of the body are supplied with information and nutrients through certain channels. The key Nutrient channels are the capillaries. Thus leading investigators today are convinced that 'you are as old as your capillaries'. The use of the capillary Microscope displays the 'drying of the capillaries' with age. Age and death go hand in hand with withering of pathways feeding to the cell. It makes sense. It also is visible through the microscope. If we can keep these pathways open and elastic we can keep on living.

Naturama living text book Page-75

इसी को चारक ने शोधन गुणकर्म में, 'जरा कुछेण लभते विरं जीवत्यनामयः।। (च. सू. १६) इत्यादि द्वारा स्पष्ट किया है।

आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि मूल्य का प्रारंभ आत्र से होता है। न कि हम समझते हैं उस तरह हृदय, वृक्ष, यकृत या मास्तक के द्वारा यहू समीप आती है

इस विषय में संतत्य है कि कुछ दिन पूर्व लद्दन में एलेमेटोरी टोकसीमिया (Alimentary Intestinal Toximia) पर सभी आशुनिक विशेषज्ञों की परिषद हुई थी। जिसमें गोंयल कोतेज अफ्फेडिसन विभाग में ४७ अतिप्रिषद्ध मान्यता प्राप्त चिकित्सक, शास्त्रज्ञ तथा वैज्ञानिकों ने भाग लिया था। उनके मत के अनुसार आत्र में अनेक भ्यानकरोग उत्पन्न होते हैं जो मृत्यु जैसे स्नेह में तेल का प्रमाण बहुत अधिक लगता है। उस चर्चा का सार नीचे उद्धृत किया जाता है।

"The following is a list of the various poisons noted by the several speakers. Indol, Skarol, Phenol, Cresol, Indican, Sulfurated Hydrogen, Ammonia, Histidine, Indicane, Urobitin, Methyemlinereptan, Terramerthylenediamin, Pentamethylendiamin, Putrescine, Neurin, Cholin, Muscarine, Butrie acid, Bera-Imida 220 Lenthylamine, Ptomaropine, Botulin, Turamine, Agamantine, Tryptophane, Scpsin, Idolathylamine, Sulpherroglobin. Among the poisons mentioned above, several are highly active, producing more profound effects and in very small quantities, in case of alimentary toxininia—one or a combination of these poisons is constantly bathing the delicate body cells and setting up changes which finally results in grave diseases. It should be understood that these finding are not merely theories, but are the results of demonstration in actual practice by eminent physicians".

(संदर्भ १०८, १०९ पृष्ठ १२४)

उपर्युक्त बार्गन से यह स्पष्ट होता है कि अनिमांय आम और स्थोतरोध इन कारणों से मनुष्य की आपु अनेक वर्ष से घट जाती है और उसे ठीक करने का उपाय मात्र पञ्चकर्म चिकित्सा है। इसी लोखक ने कहा है—

"Then why do we die? Because we fail to throw off the waste products set free by our cells. Because we fail to keep our system clean. Our arterier harden because of the deposits left in them. Our cells dry up because their pores (त्रित्यस) become oclogged with waste that they can no longer absorb the life giving substance around them. Learn how to clean the cells and there is no reason why you cannot prolong life".

स्थोत्रस शोतन का और अच्छा वर्णन क्या मिलेगा?

**शोधन कर्म के लिये ऋतु क्रम कौनसा ले ?**

विषय प्रवेश विज्ञान में ऋतुचित्य में पञ्चकर्म लिखा पर पृ. १६ से ११ तक एक सविस्तर नोंद की गई है ऋतु के संबंध में ग्रंथों में मतमांतर है। चारक संहिता में ही प्रावृद्धारि और शिशिरादि ऐसे दो अलग-अलग क्रम ऋतु के दिये हैं। इसलिये शोधन कार्य में काफी संश्लम होता है। मैं जब अमेरिका में था तब यही प्रथन बारबार पूछ जाता थे। वहां से ऋतुओं में भी बहुत वैचित्र्य है, और अलग प्रांतों में अलग-अलग प्रांतों के ऋतु चलते हैं। ऋतु का ऋतु के संभ्रम को दूर करने के लिए अंतर्ग हृदय के टीकाकार पं. हेमादि ने बहुत ही मुद्र विश्लेषण दिया है उसे नीचे संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं।

वारधट ने माध, फाल्नुन शिशिर ऋतु, चैत्र-वैशाख बसंत ऋतु, ज्येष्ठ-आषाढ ग्रीष्मऋतु, श्रावण-भाद्रप्रद वर्षा ऋतु, अश्विन-कार्तिक शरद ऋतु, मागशीर्ष-शैष-हृष्ट ऋतु इस तरह विभाजन किया है। इस पर हेमादि कहते हैं— सुश्रुत ने भाद्रपदादि से वर्षादि ऋतु बताए हैं। उनके क्रम से—भाद्रप्रद—अश्विन—वर्षा ऋतु, कार्तिक—मागशीर्ष शरद, पौष—माघ हेमत ऋतु और फाल्नुन-चैत्र बसंत ऋतु, वैशाख ज्येष्ठ मीष ऋतु,

अथाह श्रावण प्रावृद्ध ऋतु, ऐसे ऋतु होते हैं। यह क्रम अलग प्रकार से होते में विशेष हो जाएगा। तो ऐसा नहीं समझना चाहिए। न कि फाल्नुन चैत्र बसंत ऋतु है और जैत्र-वैशाख बसंत ऋतु है, परंतु मीन और मेष को बसंत समझे। जब फाल्नुन मास के आदि में मीन संक्रान्ति (सुर्य का मीन राशि में ग्रमण) होती तब चैत्र-वैशाख बसंत ऋतु होगा, जब फाल्नुन मास के अंत में मीन संक्रान्ति होगा। कर्णा-तुला में शरद, इसी तरह वृप्त और विषुन में ग्रीष्म होगा। कर्णा-कृष्ण में ऋतु, कर्णा-तुला में शरद, वृश्चिक-कृष्ण में हेमत, मकर-कृष्ण में शिशिर— इस तरह ऋतुओं को समझे। ज्योतिष शारद में कहा जाया है, "पृथग्दि राशिद्वय भानु भोगात् पठरतः: स्युः शिशिरो ऋतःः। ग्रीष्मश्च वर्षा च श्रावण तद्दत् हेमत नामा कथितोत्र षष्ठः;" दशाविद्धि मासमुशंगति चाद सौर तथा भास्कर राशि भोगात्" विषद् दिन सावन संज्ञ मायाः नाक्षत्र मिदोर्भ गण ग्रामाच्च" अर्थात् मृग अपि दो-दो रोश्य में जब सूर्य का ग्रमण होता है तब तक एक ऋतु रहती है। इस तरह छः ऋतुओं बनती है। वे क्रमशः शिशिर, बसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद और हेमत हैं। जो मास अमावस्या में पूर्ण होता है उसे चाद मास कहते हैं, और जो सूर्य के राशि भोग के अनुसार होता है उसे सौर मास कहते हैं। सावन संक्रम का ३० दिन कहे जाते हैं, और चंद्र के नक्षत्र ग्रमण के साथ उसे जोड़ा जाता है। इसे आवश्यक तथा स्वीकार करना पड़ेगा। यदि ऐसा न करे तो अधिक मास जब आता है (प्रत्येक २।।। वर्ष के बाद अधिक मास आता है—इस वर्ष आषाढ अधिक मास है।) तब एक ऋतु ३ मास का मानना पड़ेगा। इस दृष्टिकोण का ध्यान में रखकर अंटंग संग्रह में वारधट कहते हैं—

"मासराशि स्वरूपाख्यमौर्यलक्षणयम्।

यथोत्तं भजेच्चर्चां तत्र बलादिति।" ॥ सू. अ. ४

अथर्वा मास और राशि लक्षणों के अनुसार ३० प्रकार के ऋतु (उषा, वर्षा और हिम) के लक्षण होते हैं उनके अनुसार ऋतुवर्या का सेवन करना चाहिए। आगे हेमादि कहते हैं कि मास के लक्षणों की अपेक्षा राशि लक्षण अधिक बलवान होते हैं। इसलिये राशि लक्षणों को ही ही च्वीकार किया गया है जो योग्य है, क्योंकि लक्षणों का तो ऋतु विपर्यय भी हो जाता है। अष्टांग संग्रह में इस दृष्टिकोण से कहा है, (सू. ४) कि उस उस ऋतु में उस ऋतु के लक्षण हो तो ही इस प्रकार की चर्चा करे, अन्यथा जो ऋतु के लक्षण उत्पन्न हो उसी प्रकार की चर्चा करे। अतएव शिशिरादि क्रम में सज्जा मात्र का भेद समझे। कुछ विद्वान अन्न रसादि में संभाव्य हीनादि लक्षणों के आधार पर शिशिरादि छः ऋतु और पंचकर्म के शोधन की ध्यान में रखकर प्रावृद्धादि छः मानते हैं। वह गलत है, चरक संहिता, खारण संहिता में भी शिशिरादि षट्क को ध्यान में रखकर ही चर्चा दि क्रम बताकर चैत्र, श्रावण, कार्तिक में शोधन क्रम बताया है। इन मास में शोधन क्रम के लिये ऋतु की अपेक्षा नहीं है। हेमादि के मत से गंगा के उत्तर तीर पर शीताधिक्य से और दक्षिण तीर पर वर्षाधिकता से क्रमशः प्रावृद्धादि और शिशिरादि क्रम बताते हैं वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि दोनों स्थानों में चार मास वर्षा और शेष तो होता ही है। दोनों देशों में अश्विन मास में दिव्योदक ग्रहण जाता है। यदि ऋतुभेद होता तो दोनों का दिव्य जल भी अलग-अलग ऋतु का होता। इस तरह वारधट ग्रन्थासार जो ऋतु का शोधनर्थ दिये हैं वे ही उचित हैं।

स्नेह विज्ञान विषय में—धृत, तैल, वसा और मज्जा इनको उत्तम स्नेह माना गया है। इस ग्रंथ में पृष्ठ ५३ से ५६ तक चरक मुश्तिरादि वचनों के आधार पर इनके गुणों की विस्तृत चर्चा की है। अष्टांग हृदय कार वाभट्ट ने सूत्र स्थान अध्याय ५ में इनके अनेक विशेष गुणों पर प्रकाश डाला है और टीकाकार अरुणदत्त तथा हेमाद्रि ने कुछ विशेष बातें भी निर्दिष्ट की हैं उनका संक्षिप्त सार यहां प्रस्तुत किया जाता है। कहा है—

**स्नेहानुस्तमं शीतं-वस्त्रम्: स्थापनं परं।**

**सहस्रबोर्यं विधिभिरुतिं कर्म सहस्रवृत्तम्। मु. ५-३८**

अर्थात् सभी स्नेहों में धृत उत्तम है। वह शीतबोर्य है, वर्य स्थापन है और विधिपूर्वक उपयोग करने से व्याप्ति काम करता है।

यहां ‘सहस्रबोर्यं’ शब्द का अलग-अलग प्रकार से अर्थ किया है। अरुणदत्त कहते हैं सहस्र शब्द अनेकार्थान्वाची है। अर्थात् धी में अनेक प्रकार की शक्ति है। कैसी? संस्कार के द्वारा वह अनेक प्रकार से शक्ति युक्त होता है। जिस द्रव्य का संस्कार उस पर किया जाता है, उसके शक्ति को वह बढ़ाता है अथवा उसके स्वयंग से कोई अलग प्रकार की भी शक्ति (शक्त्यंतर) उसमें आती है। इसलिए ‘सहस्रं’ शब्द का प्रयोग किया है। द्रव्य तो असरब्ध है, इसलिए  $10 \times 100$  सहस्र शब्द के से लगाया जा सकता है? वह यहां अनेकार्थी है। दूसरे विद्वान् इसे दस गुने सौ—१००० शब्द का ही बोधक मानते हैं। वे कहते हैं कि यहां सहस्रपाकी धृत को अनेक कर्म कृत कहा है। यहां धी के १००० बार ही पाक करने का ही निर्देश है न कि उससे अधिक ऐसा अर्थ लेते हैं, क्योंकि एक सहस्र में अष्टिक पाक आवश्यक नहीं है। हजार बार पाक करने तक उस धी में अनेक प्रकार की शक्ति (शक्त्यंतर) आ जाती है। उसके बाद पाक करने पर भी कोई विशेष प्रकार का शक्त्यंतर नहीं होता। अर्थात् यह सहस्रपाकी धृत के विशेष गुण यहां निर्दिष्ट हैं, ऐसा स्थानान्वयन करने के स्थानकरण में योग, संस्कार, पान, अध्याय, अनुवासन इत्यादि द्वारा ऐसा अर्थ कर बनाकर अनेक कर्मों में शक्ति उत्पन्न बनाते हैं।

आज कल दक्षिण की फार्मसियां तैल खास का शीरबला तैल को भी सहस्रपाकी

स्थानान्वयन करने के लिये विस्तरण नहीं किया। योग, संस्कार, पान, अध्याय, अनुवासन इत्यादि द्वारा ऐसा अर्थ कर बनाकर अनेक कर्मों में शक्ति उत्पन्न बनाते हैं।

तैल—तैल के गुणों में अष्टांग हृदय में एक विशेष स्थानकरण मिलता है। वाभट्ट कहते हैं—

**तैलं स्वयोनिवत्त्रम् मुख्यं तीक्ष्णं व्यवायित्वा।**

**त्वय् दोषकृद्वच्छुद्धयं सूक्ष्मोणां कापाद्वच्छात्र।**

**बज्ज्वलदं कृमिद्यं च सूक्ष्मारात्सवं रोगं जित्। म. ५-५५, ५६**

अर्थात् तैल जिस द्रव्य (तिल, एरं, सर्प इत्यादि) से बनाया जाता है उसके गुणों के अनुसार कार्य कहता है। मुख्यतः वह तीक्ष्ण है, त्वायामी, त्वचा की दुष्टि (त्वक् दुष्टि कद्य) करता है। आंख के लिए आहितकर है। मुक्षम है, उज्ज्वल है, कफ नहीं बढ़ता।

कृशों को सूखल बनाता है और सूखलों की कृश करने में उपयोगी है। विबंध कुमि नाशक है और संस्कार से सभी प्रकार के गोंगों को जीतता है।

यहां पर ‘त्वक् दोष कृत’ और ‘त्वय् वोषं हृत्’ ऐसे दो पाठ हैं। शिवदास ने द्रव्यगुण संग्रह टीका में इसे त्वक् दोष कृत कहा है। अरुणदत्त टीका में कहते हैं, ‘तथा त्वय् दोषवत्पनाभ्यासेन त्वचं द्रूष्यति’ इसका अर्थ यह हुआ कि अंगों के अथवा आंध्रतर तैल पान करने से त्वचा की दुष्टि होती है। अरुणदत्त समत तो यही अर्थ हुआ। इंड तथा चंद्रनदन इन दो टीकाकारों ने “अथवा त्वक् दोषेन कृताति-छिन्नति”, “कृति छेदे इत्यस्य धातो रसं प्रयोगः” ऐसा स्थानकरण करके त्वक् दोष कृत् शब्द का अर्थ कहा है, कि सूखल ने इसे त्वक् प्रसादन और चक्षुष्य कहा है, यहां त्वक् दोष कृत् और आभ्यातर पान में यह त्वक् दोषकर और नेत्र के लिये आहितकर है किंतु अध्यांग में त्वक् प्रसादन और चक्षु के लिये हितकर है ऐसा समझे।

दूसरा महत्व का स्थानकरण ‘कृशानां बृहणायां’ और ‘सूखलानां कर्णनात्’ के सम्बन्ध में अरुणदत्त कहते हैं कि, एक ही वस्तु ऐसे को परस्पर विरुद्ध कार्य कैसे कर सकती है? कहते हैं कि— कृश लोगों में त्वोत्स सुकृचित होने के कारण इसे बृहण करने वाले द्रव्य भी प्रविष्ट नहीं होते। जिससे वे बृहण नहीं कर सकते। तैल उज्ज्वल-तीक्ष्णादि गुणों के द्वारा शीघ्र ही त्वोत्स में प्रविष्ट होकर उनका शोधन करता है जिससे द्रव्यों का प्रवेश और पाचन, शोषण प्रारम्भ होकर बृहण होता है। सूखलों में उज्ज्वल-तीक्ष्ण गुणों के द्वारा त्वोत्सों में प्रविष्ट होकर मेद का क्षपण करता है। इससे कर्बन होता है। इस तरह दोनों कार्य सम्पन्न होने से ‘कृशानां बृहणायालं ... इत्यादि उचित ही है।

हेमाद्रि ने इसी को स्पष्ट करते हुए—कृशों के संकुचित त्वोत्सों को शुद्ध करने के बाद वहां इसका सेवन (आहार का पाषक रस धातु) योग्य हो जाने से बृहण होता है। यह बताया है और सूखलों में शारु सम्पन्न करता है ऐसा कहा है।

इस शलोक में और एक विशेष धाराभास पर अरुणदत्त ने स्थानकरण किया है। ‘तैल आर ख्योनिवत्’ है तो तिल योनि होने से वह ‘कफकृत्’ होगा। ‘कफ कृत च’ कैसे होगा? अष्टांग संग्रह में वाभट्ट कहते हैं, ‘मेष्यात्सिलः स्पर्शं शीतो मेष्यं तैलं खलो हिमः। तस्येव ल्लेष्यं कर्तुतं न तैलस्य खलस्य चाम्।’ अर्थात् तिल मेष्य और शीत है, तैल मेष्य है, खल (तिल की खली) शीत है—वे ही (तिल) कफकारक हैं। तैल या खल कमकारक नहीं हैं।

**स्नेह व्यापद प्रतीकार के बारे में—स्नेह व्यापद प्रतीकार का विषय इस ग्रंथ में पृष्ठ ७१-७२ पर दिया गया है। यहां स्पष्ट किया गया है कि नाशुकारी व्यापदों में उज्जोदक, विरुद्धकरण, लंघन, अस्तिष्ठ प्रयोग, गोप्त्र तक प्रयोग, त्रिपला, वमन विरेचन इत्यादि मुख्य उपचार हैं।**

हेमाद्रि ने अष्टांग संग्रह का संदर्भ यहां विशेष प्रकार के विकितों के लिए दिया है। वह विशेष विकितों शीतोपचार है। अन्यथा स्नेह पाचनार्थ सही जगह उज्जोदकपचार की ही बात आती है। यहां कहते हैं—

स्नेहन ऐतिक्षाणिन्यदा तीक्ष्ण तरी कृतः ।  
स्नेहपाशु जरां नीला सुनरोजोऽमितश्चरन् ॥  
उदीरसेतीपरस्गा पिपासामस्य चार्धिकां ।  
सोऽस्मृ॒ स्वेद्युक्तं न पिबेदाशु शीतलं ।  
शीतसेकावगाहश्च तच्छापा पीडितो भ्रेत् ॥  
च्छर्द्य ये तदशांतो च पीत्वा शोतोदकं पुनः ॥  
स्त्रक्षमपुलित्वेद्भृक्त्वा ताइश्यां तु कफनिले ॥  
समदेषश्च निःशेषं स्नेहुषाङ्गाङ्गुनोऽद्वेत् ॥

ततो दोषादि बलतः पूर्वोक्तं च विद्यिश्येत् ॥ अ. स. सू. अ. ५  
अथात् स्नेहपान के द्वारा अल्पत तीक्ष्ण हुआ अन्ति स्नेह को तुर्त पुचा कर ओज के साथ इधर-उधर सचारण करता है और उपद्रव ख्वरूप में तीव्र तुच्छा उत्पन्न करता है। यह उपद्रव इतना घातक होता है कि यदि रोगी को तुर्त शीतल जल पीने के लिए न दिया जाए तो वह प्राण त्याग करता है। इस उपद्रव में शीत जल से अवाह, शीत जल का परिवेक्ष (द्वारा) इत्यादि शीतोपचार करना हितक होता है। ब्रह्मतुः स्नेहपान के बाद शीत सेवन विरुद्ध है, पिल भी जिस तरह से सर्प अपने विष से ही शांत होता है उसी तरह स्नेहादि द्वारा जो रोगी दथ हुआ है उसे शिर और मुख पर शीत द्वारा उपचार करने से शांत होता है। इसके उपरांत भी दृष्णा शमन न हो तो शीतोदक पिलाकर वमन करावे और कफ-वात का प्रकोप हो तो रुक्ष अव (जब इत्यादि) का भोजन कराकर वमन करावे और दोषों की समता हो तो बचा हुआ स्नेह उषोदक पिलाकर वमन द्वारा हरण करे। इस तरह उपद्रव (तुच्छा) शांत हो जाए, अतिस्नेह का निर्हण हो जाए तब पहले कही गई विधि (पथ्यापाथ्य) का पालन करे।

शमन बृहणादि स्नेह में विशिष्ट स्नेह कल्य अवपीडिक— शमन एवं बृहण स्नेह के शीर्षक में इस मंथ के पृष्ठ ७३-७४ पर अष्टांग हृदय सूत्र स्थान के १६वें अध्याय में विस्तृत वर्णन किया गया है, तथापि वागभृत ने सूत्रस्थान के चौथे अध्याय में एक और विशिष्ट प्रकार के स्नेह का उल्लेख किया है। उसे 'अवपीडक स्नेह' कहते हैं। जैसे अवपीडन नमक नस्य का प्रकार बहुशृत है। अष्टांग हृदय का सूत्रस्थान चौथा अध्याय 'रोगानुत्पादनीय' नाम का है जिसमें अधारणीय वेगों के धारण करने से उत्पन्न रोग और उनके उपचार बताए गये हैं।

इस संदर्भ में 'मूत्र' वेग को धारण करने से जो रोग उत्पन्न होते हैं, (शरीर दूटने जैसी वेदना, अझरी, बास्ति-मेदू और वक्षण में देना तथा मल वेग और अद्यावत—अपान वेग के अवरोध जन्य सभी रोग) उनमें अवपीड स्नेह का प्रयोग बताया है। कहते हैं—  
“मूत्रेषु तु पानेव प्राण भक्षतं शस्यते धृतम् ।  
जीणातिकं चोत्तमया मात्रया योजना द्वयन् ।

## अवपीडिक मेतव्य संक्षिप्तम् । . . . . . ।। सु. ४१६, ११ ॥

अरुणदत्त—प्राभकर्त भोजनालुरुवम् धृतं च शस्यते । जीणातिकं धृतं च शस्यते । कथं ? उत्तमया मात्रया, अहोरात्र जरणया लक्षणया । योजना द्वय मेतव्यावपीडिक, स्नेह अवपीडिकमुच्यते । योजन योहिं—योचनाद्वयम् प्राणभक्त स्नेहयोजना—जीणातिकं स्नेह योजना च । तत्र प्राभकर्त यत्र धृतपान समंतरं भक्तं धृतं हृतस्तनेऽन्ने जीण धृतं धृत्यते । प्रदेशांतरेष्वाव पीडक शब्देन योजनाद्वयमेतव अस्मिन् त्रैव वेद्यम् । तथा च वक्ष्यति, ‘स्मैः कोषोऽश्च सार्पीभृत्वपीडिक योजितैः’ ॥ इति (अ. ह. चिं. ८-१२४)

अष्टांगवतारे मूत्रोदावर्तं चिकित्सायां, अवपीडिक सार्पिश्च विशेषान्मूत्रजे गदे इति ॥”

अर्थात्—मूत्र वेग के अवरोध के कारण उत्पन्न विकारों में भोजन पूर्व तथा भोजन जीणावि में उत्तम मात्रा में धृत देना हितकर है। इस तरह धृत की दो बार योजना करना ‘अवपीडिक’ कहलाता है। इसपर अरुणदत्त का विवेचन बहुत महत्व का है। अरुणदत्त कहते हैं—प्राभकर्त याने भोजन के पूर्व और जीणातिकं—जीण काल में धृतपान रास्त है कैसे ? उत्तम मात्रा में अर्थात् जो २४ कृजाक में जरण होती है वह उत्तम मात्रा । योजना द्वय को अवपीडिक कहते हैं। भोजन के पूर्व और भोजन जीण होने के बाद—यहा प्राभकर्त का अर्थ धृतपान करके उसी समय भोजन करना यह अर्थ है और जीणातिक यानि स्नेह जीण होने के बाद। इस तंत्र में इस योजनाद्वय को अवपीड कहते हैं। आगे (चि. ७-१२४) कहा भी है—सुखोला मास रस के साथ यही देना अवपीडिक कहते हैं। खास काके मूत्रज उदावर्त इत्यादि रोगों में अवपीडिक स्नेह देना चाहिए ।

यह वागभृत की विशेषता है। अन्य ग्रंथों में यह उल्लेख नहीं मिलता । नस्य में औषधि को पीडन कर बिंदु नाक में गिराने से अवपीड शब्द कहलाता है। संभवतः धृत भोजन के पूर्व और भोजन जीणात काल में दो समय देने से दो धृतों के बीच अन्न-अवपीडिन करने से अवपीडिक कहा गया है।

अथांग— अथांग का विषय इस ग्रंथ के पृष्ठ ८३ से ८७ तक विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। अथांग नित्य करना चाहिये (अथांग माचरेत्रित्य— अ. ह. सू. २.)

एसा कहा है। इस विषय में अरुणदत्त और हेमाद्रि ने दो महत्वपूर्ण विषयों पर नोंद लिये थे। अरुण दत्त कहते हैं, ‘नित्य ग्रहणं उपलक्षणम् यथोवित माचरतो न दोषः ॥। अर्थात् यहां नित्य शब्द उपलक्षण मात्र है। यदि हररोज अभ्यंग करना शक्य न हो तो एक दिन छोडकर या तीन दिन छोडकर या तीन दिन छोडकर अभ्यंग करने में भी कोई दोष नहीं है। (२) दूसरी नोंद हेमाद्रि की है। वे कहते हैं—‘स च उत्पन्नायां शुद्धिविधेयः तदा हि शुद्ध तोतत्स्थाया रोमकूपैः स्नेहो देहं व्याप्रोति । तं चोमा पचति ।। अर्थात् अभ्यंग हमेशा भूखे पेट करना श्वेतकर है, क्योंकि उस समय स्नातस शुद्ध रहते हैं और रोमकूपों के द्वारा स्नेह का ग्रहण होकर संपूर्ण शरीर में फैल जाता है और उमा (अनि) के द्वारा उसका पचन (शोषण) होता है। जिससे उसका कार्य उत्तम होता है।

अथांग के द्वारा तैलाक्त लवचा को दुट बनाती है। लवचा के छिद्रों में तेल बना रहने से बाहर जैसे के बाद लवचा के द्वारा कोई जीवाणुओं का प्रवेश होने का भय नहीं रहता। लवचा की रोग प्रतिकारक शक्ति बढ़ जाती है। अहमदाबाद में लालाभा ७ वर्ष पूर्व ‘रोग प्रतिकार क्षमता’ (Immunity) विषय पर राष्ट्रीय परिषद् बुलाई गई थी। जिसमें

भारत भर के आयुर्वेद विद्वान् और आधुनिक निष्ठातों ने भाग लिया था। भारत के अयाच्छन्स संशोधन केन्द्र, इम्युनिटी विभाग के राष्ट्रीय निर्देशांक, प्रोफेसर इत्यादि लोगों ने इसमें भाग लिया था। तब आधुनिक विद्वानों ने भी अंगीकार किया कि प्रायशः रोग के जीवाणु तथा के माध्यम से प्रविष्ट होकर रोग उत्पन्न करते हैं। ऐसी अवस्था में लचा पर लगाया हुआ तेल उहैं रोक सकता है। सुशुत ने तो यार से बाहर निकलने के पूर्व नाक में भी तेल (प्रविष्ट नस्य) डालने का विधान दिया है। जिसमें नासा लोते भिन्न होने से थूल और छुता (बा इत्यादि) — इत्यादि नाक में से शरीर में पहुँच कर बाधा नहीं करते (देखें पृष्ठ ४५७) इस तरह अरुण दत्त ने अध्यांग से शरीर से सर्व व्याति तेल पाचन द्वारा रोग प्रतिकार का संकेत दिया है।

खास करके विसर्ग काल में प्रातः अभ्यांग का बहुत महत्व बताया है।

देव्यानिश्चानमेतहि प्रातरेण ब्रुपुष्टिः।

अवश्य कार्यं संभाव्य यथोक्तं शीलसेद्दुः।

अरथात् इस काल में रात बहुत लंबी होती है। इसलिये मुबह में ही भूख लगती है।

प्रातः शौचादि-आवश्यक किया पूर्ण कर बुझुक्ति ही अध्यांग सेवन करें।

हेमादि कहते हैं— क्या अच्यान इच्छा के बिना ही अध्यांग करें? ना! नहीं, ब्रुपुष्टिः ही अर्थात् भूख लगने के बाद ही। इससे स्वातंसों के शुद्धि का महत्व बाबार स्पष्ट किया जाता है यह स्पष्ट है। गात्र पर लगा हुआ संपूर्ण न्यूनिकल न जाए इसलिये

“कथायापहतः स्नेहस्तः स्नातो यथा विधिः” (सु. ३-११) कहा है—अर्थात् लोध इत्यादि सहन कथाय स्स प्रधान चूर्ण से स्नेह को साफ करे न कि साबून इत्यादि द्वारा। जिससे कुछ स्नेह बचा रहा है और कथाय रस से खोतोमुख संकोच होकर स्नेह अंदर ही रहेगा तथा अन्य जीवाणुओं इत्यादि का अंतर्प्रतीक्षा भी न हो सकेगा जिससे रोग उत्पन्न होने की सभावना घटती जाएगी।

तर्पण पुट्टाकादि— नेत्र तर्पण— पुट्टाकादि विषय इस प्रथ के पृष्ठ ९८ और १०० पर विस्तृत वर्णित है। इसका उपयोग आंख के अंदरक रोगों में उद्धृत किया गया है। यहाँ सिफ्क इतना ही कहना है कि कुछ संशोधनकर्ताओं ने आंख का नंबर कम करने के लिये इसका सफल प्रयोग होता है ऐसा प्रबंध में प्रत्यक्ष प्रयोग द्वारा विश्लेषित किया है। ‘अविलेक्षण’ याने नज़र झुंधली होना तथा शुज्जनक्रता (Optic atrophy) में भी इसका प्रयोग बाधनीय है।

स्वेद विज्ञानोय विषय में

स्वेद के अनेक प्रकारों का वर्णन चरक, सुशुत तथा वाराभट के आधार पर किया गया है। वहाँ एक खास विषय काश्यप के अनुसार कथनीय था जो रुग्ण हो गया है।

काश्यप ने बालकों की ध्यान में खक्कर स्वेदन कैसे किया जाना चाहिये इसका सुंदर वर्णन दिया है। काश्यप कहते हैं—

“ज्येष्ठ प्रभृति बालनां स्वेदभृष्ट विष्यं भिष्णु।

प्रयुजीत यथाकाले रोगदेह व्यपेक्षया॥

हस्तस्वेदं प्रदेहस्वच नाडी प्रस्तर संकराः॥

उपनाहावगाहाश्च परिषेकस्तथाष्टमः॥

जातस्य चतुरो मासान् हस्तस्वेदं प्रयोजयेत्।

गलकर्णं शिरोमन्त्या कणांक्षि चिकुलोरपिसि॥

अभिष्यदंत् समुच्छूने प्रदेह स्वेद इप्पत्ते॥”

काश्यप संहिता—स्वेदाध्याय

अर्थात् बालकों में जन्म से लेकर आठ प्रकार के स्वेद प्रयुक्त किये जाते हैं। ते

है— १. हस्तस्वेद २. प्रदेह स्वेद ३. नाडी स्वेद ४. प्रस्तर स्वेद ५. सकर स्वेद ६. उपगाह में हस्त स्वेद करें। यह गले पर, शिर पर, मन्त्रा पर, कान पर, ओंख पर, नाडी पर (हुपर) और ऊर पर करे। दो हाथों को राढ़ कर गरमी पैदा कर आंख पर स्वेद करें। मुँह आंच पर छाथ गरम कर मन्त्रा, उरस, गला, कान इत्यादि अवधारों पर स्वेद करे, अभिष्यदंत के द्वारा शोष उत्पन्न हो तो प्रदेह (लेप) प्रकार का स्वेद करें।

सहित में शयन प्रमाण का बड़ा पत्थर (प्रस्तर) लेकर उसे भिन्न-भिन्न प्रकार से गरम कर आतुर को उस पर सुलाकर स्वेदन करने का निर्देश है। काश्यप ने प्रस्तर का अर्थ पत्थर नहीं किया। प्रस्तरण, आस्तरण, सस्तरण— यानि कोई वस्तु बिछाने के अर्थ में लिया है। कहते हैं—

“उष्णान् पुलाकानास्तीर्यं पायसं कृशमस्तिका।

वास्तसांतरिते बालमध्यतं शायर्यसुखम्॥

पंचागुलोकं बृकार्कं पञ्चर्वा न्येहितोऽन्तैः॥

प्रस्तर स्वेदं मित्युदुरभीक्षा परिवर्तिनः॥”

अर्थात् गरम-गरम पुलाक (धात्य), अवधार पायस खिचडी इत्यादि को कपडे पर बिछाकर बालक को अध्यांग कराकर उस कपडे में लोट कर स्वेदन करें। अवधार एंड करें। इस तरह बाराभट ठेह्डे हुए प्राति को बदलकर स्वेद करें। ऐसी प्रकार का वर्णन अध्यांग संग्रह में वाराभट ने दिया है और उसे संस्तर स्वेद कहा है।

वर्मन विज्ञान के विषय में—वर्मन के बारे में विस्तृत वर्णन पृष्ठ ११८ से २६० तक हिया गया है। यहाँ एक दो बातें संक्षेप में करनी हैं। छोटे बच्चों में शोधन-वर्मनादि कैसे करें? काश्यप कहते हैं—

“शिशोव्यर्थै समुत्त्वे शाश्रीणमेव शोधनम्!”

## आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान

अथर्व बालकों को रोग उत्पन्न हो तो धात्री का ही शोधन करना चाहिए। यहाँ धात्री शब्द से मां अथवा बालकों को स्तनपान करने वाली दाईँ माँ ऐसा अर्थ होता है। यह सूत सत्त्वप अर्थात् माँ के दूध पर रहने वाले बालकों के लिये यानी १ मास से ७-८ मास तक के ऊपर के बालकों के लिये हैं। साधारणतः बालकों को इस ऊपर से दुष्ट स्तनपान के द्वारा रोग होते हैं। अतः धात्री का शोधन महत्व रखता है। आगे पिर से कहते हैं—

**उथ्योरेस्तु गदा: मायकृ शोधनं कुलते भिक्षणम् ॥**

**तदारोत्यं भवत्याशु शिशोर्सेवा यशाशमनि ॥**

**दोषाणामपशयोः धात्री भूषणा सरितामिक्व ॥**

अर्थात् दोनों के रोग में जो वैद्य शोधन करता है। उसी शिशु को उर्त आरोग्य की प्राप्ति होती है। यह पथर पर लकीर की तरह शाश्वत सत्य बाल है। दोषों का आश्रय स्थान बालकों में धात्री है, जैसे नदियों का आश्रय स्थान पर्वत होता है।

बमन विरेचन के बाद प्रयादि क्रम-चरकादि सभी आचार्यों ने प्रवर-मध्य-अवर क्रम से ३, २ और १ अन्नकाल में देने का विधान दिया है। अनुरागदत्त ने खरनाद संहिता का एक संदर्भ दिया है— और उत्तम, मध्यम शोधन में ३ या २ अन्न क्रम और कर्मीयसी (अवर) शोधन में १ अन्न काल में पेयादि क्रम बनाया है।

**“खरनादे युक्तम्—** विरेके बमने श्रेष्ठे पेयादीनां क्रियक्रमः। त्रिशो द्विशो मध्य में स्यादेकश्च कर्मीयसी।” यहाँ प्रवर के लिये श्रेष्ठ शब्द का उपयोग किया गया है। खरनाद संहिता के अनेक उद्धरणों के हेमादि भी टीका में निर्दिष्ट करते हैं। उसे ‘खाणादि’ या ‘खाण संहिता’ नाम से उद्दृश्यत किया गया है। खरनाद ने द्रव्यगुण, रसशारस, शरीर, चिकित्सा पंचकर्म इत्यादि सभी विषयों में लिखा है क्योंकि उनके तत्त्व मत संहिता में टीका में दिये गये हैं। दुर्भाग्य से यह संहिता अप्राप्य है।

बमन विरेचन देने पर उचित शोधन न हो तब क्या करे? — कई बार बमन औषधि से विरेचन होता है और विरेचन औषधि से बमन होता है। अथवा दोनों भी क्रियाएँ नहीं होती। इसे हीनयोग में लिया गया है। यह क्यों होता है, इसकी विषद् चर्चा ग्रंथ में की गई है। ऐसी अवश्या में पुनः शोधन करने का निर्देश दिया गया है। पहली बार क्या गलती है? थी इसका (अलिक्रम) चिनत कर उस भूल का सुधार करना चाहिये। यह ‘स्मरयूर्ब अतिक्रमम्’ रिसर्च का तरीका प्रश्नकार बताते हैं। पुनः इसमें भी असंग संग्रह के कुछ प्रतीयों में और अलग प्रकार के निर्देश के श्लोक मिलते हैं जो हेनादि ने टीका में दिये हैं। वे इस प्रकार हैं—

कल्वाणी रेचनं युक्तं वैपरीतेन जायते।  
यदा तदा चर्द्यतः सिंचुष्येत् बारिणा।।।  
पादोः शीतेन चोर्घाणां विपरीतं विरेचने।।।  
(मते प्रस्कृतिं दोषननिहत्य जां गते।।।  
वमिते द्वौषधे सम्यक् पाययेत न तं पुनः।।।

मंदान्नि बहु दोषं तु दृढ़ स्तेह गुणाशयम् ॥

दुःशुद्धं तदेव भूक्तं शब्दो भूयः पाययेत् पुनः ॥।।।

अर्थात् बमन अथवा विरेचन औषधि जब विपरीत प्रकार का शोधन करती है— (बमन से विरेचन और विरेचन से बमन प्रवृत्ति) तब बमन होते के बाद सिर पर ठंडे पानी से और पाव पर गरस पानी से सिचन करे। यदि विरेचन होता हो तो पाव को पांवों को, ठंडे जल से और शिर को गम्फ जल से सिचन करे। यदि प्रस्कृतन (यह शब्द विरेचन वाचक है) पिलाने पर औषधि जीर्ण होती है, बमन औषधि भी जीर्ण हो जाती है तब फिर से उसी समय शोधन न करे। (जिसका अन्न मट हो, जो आटुर, दुर्बल हो, दोष अधिक बलवान हों और स्नेहाशय (आमशय) बहुत क्षुर हो—उसे उस दिन भोजन कराकर दूसरे दिन फिर शोधनोषध देना चाहिए। क्योंकि इन्हें दोषों का यदि निर्हण न किया जाये तो वे विरकाल तक रोगी को कष्ट देते हों या मार डालते हैं। (ब्लेश सति चिरं ते हि हल्ल्यु वैनम निर्हात्ता ॥।।।)

अस्थांग संघर्ष ने औषधि तीक्ष्णा अथवा मुट्ठ कैसीं बनती है इसका विवेचन करते हुए कहा है कि— जो उचित देश में उचित काल में पैदा होती है। जल, अग्नि और कीटकूपि से प्रभावित नहीं होती, जो नहीं होती, मात्रा में अधिक दी गई हो, समानवीर्य युक्त द्रव्यों से जिसे भावना दी गई हो और रोगी को साध्यक स्नेह स्वेदन किया गया हो तो वह औषधि तीक्ष्ण हो जाती है। इसके विपरीत गुण वाली औषधि मुट्ठ या मट हो जाती है। व्याधि भी तीव्र, मध्य और मुट्ठ ऐसे तीन प्रकार के होते हैं, इसमें बल को देखकर औषधि प्रयुक्त करे। तीक्ष्ण में मुट्ठ अथवा मध्योपध सात्य होकर जीर्ण होता है। इसलिये वमन या विरेचन औषधि सात्य हो जाए ऐसी योजना न करे। (अस्थांग संघर्ष सू. अ. २७)

मुट्ठ व्याधि लक्षणों में अति तीक्ष्णोषधि अत्यंत वमक या विरेचन करेगी। काशय कहते हैं—  
यदा तु पितं रक्तं वा पुरीषं मिश मेव वा।  
नमत्यविरसं शूली न सिद्ध्यति कुर्वतः ॥।।।  
(त्रिलक्षणा सिद्धि अध्याय)

बमन में जब पित, रक्त और पुरीष की प्रवृत्ति होती है तब वह उपद्रव युक्त आत्म विशद वर्णन किया गया है। काशय ने ब्रस्ति विषय में ‘चतुर्भद्र कल्प’ दिया है। यह संख्या के विषय पर आधारित है। चतुर्भारे बस्तृयः पूर्वमते चत्वार एव च।  
तयोरस्थापनं मध्ये कल्पः सोऽयं निरत्यः ॥।।।  
द्वि स्त्रिवर्धं विशद विषय में— इस प्रथ में पृष्ठ ३४४ से ४४४ तक ब्रस्ति विषय का अत्यंत विशद वर्णन किया गया है। काशय ने ब्रस्ति विषय में ‘चतुर्भद्र कल्प’ दिया है।

अर्थात् प्रथम चार अनुवासन बस्ति और अंतिम चार अनुवासन बस्तियों देकर बीच में चार निरुह या आसथापन बस्ति दे। इस क्रम को चतुर्भृदकल्प कहते हैं। अर्थवत् याने अपनी-अपनी आर्थिक क्षमता देख कर यह क्रम २ बार या ३ बार किया जा सकता है।

देने के लिये विशिष्ट तैल की निर्माण विधि दी है, उस तैल को 'शिशु स्नेह' कहा गया है। इसकी विधि निम्नलिखित प्रकार की है—

(इसके बाद कुछ द्रव्य छूट गये हैं। संभवतः दो-तीन हीमे। साहिता खंडित होने के कारण।) — लेकर उनको कूट कर चूर्ण बनाए। इस शूल चूर्ण में ३ द्रोण जल (२०४८ तोला) डालकर पकावे। एक अष्टमांश भाग (२५६ तोला) शेष रहने पर उतार ले। फिर २ प्रस्त्र तैल (१ प्रस्त्र ६४ तोला  $\times$  २ = १२८ तोला) डाले। २ प्रस्त्र धूत-डाले, अब इसमें कुल के (१२८ तोल + १२८ धूत + २५६ व्याथ = ४१२  $\times$  ४ = २०४८ तोला) चार गुना २०४८ तोला दृश डाले और निर्माणित कल्क द्रव्य का मिश्रण डाले। संधाव, यष्टीमधु, द्राक्षा, सौफ, महा-महा (माघपाणी), कौच के बीज, कलाडी के बीज, विडग, वचा, वासा, चारों जीवनीय गण की औषधियां, खरबूस (मरुबक) इन जाता समान भाग कारब्क डालकर पकावे। इसे न्हेहासीबत यानी २५६ तोला रहे तब तक पकावे। यह 'शिशु तैल' है। बालकों के बस्ति के लिये यह अन्त उत्तम तैल है, ऐसा काशप बहते हैं।

### प्रगति स्थिर्द्वय अध्याय

कहा गया था कि जो—अंदर रहे पर भी (अनुवासन अपि न उत्थाप्ति) कोई दोष उत्पन्न नहीं करती वह अनुवासन बस्ति और आसथापन-जो आयु की स्थापनाकरती या दोषों की स्थापना (दोषों की समतुल्य) करती है (तद्यः स्थापनात् दोष स्थापनाद् वा आसथापन मिति उच्यते-अ. स.) उसे आसथापन कहते हैं। निरुह के व्याख्या में शरीर का आरोहण (धातु वृद्धि) करने से, दोषों का निर्हण करने से, अचिंत्य प्रभाव से अथवा इसमें ऊपर न होने से (विवाद्य न होने से—न ऊपर-निरुह?) इसे निरुह कहते हैं। (शरीर रोहणाद् दोष निर्हणाद् अचिंत्य प्रभावात्या वाऽस्मिन्द्वाहा संभवा वाचिलह इति—अ. स.)— इस तीनों की व्याख्या कही थी। अष्टांग हृदय के टीकाकार हेमादि ने अनुवासन की, एक और व्याख्या की है वह इस प्रकार है—

यतस्यामौ अनुवासनं त्रिष्टुप्ति अनुवासनम्!

अर्थात् जो वासन भोजन के बाद दी जाती है वह अनुवासन बस्ति। वासन याने भोजन—उसके अनु—याने पीछे जो दी जाती है।

उत्तर बस्ति के बारे में हेमादि ने एक और बात स्पष्ट की है। 'उत्तर बस्ति गमि स्मेह॑ उवासनवत् शोधनो निरुह बद्धपि च केचिदाहुः।' अर्थात् उत्तर बस्ति भी मेह द्वारा अनुवासन के समान तथा निरुह की जैसी शोधन प्रकार से की जाती है ऐसा कोई (विद्वान)

कहते हैं। यहां किसी अंग्रेज विद्वान का मत देकर निरुह—यानि क्वाथ प्रकार की बस्ति उत्तर बस्ति में देने का विधान दिया है। ग्रंथ में निरुह उत्तर बस्ति विधान है— पर यह हेमादि ने 'निरुह बद्धपि' ऐसा कह कर एकीय पत दिया है जिसमें अर्थात् अर्थात् अर्थात् उत्तर बस्ति में क्वाथ-निरुह देना बहुत उचित नहीं है ऐसा अर्थ निकलता है। इस ग्रंथ में हमने उत्तर बस्ति में क्वाथ देना बहुत उचित नहीं है और वह भयजनक है ऐसा पत व्यक्त किया था उसकी उष्टि ही होती है।

### बस्तिनेत्र निर्माण में खरनाद सहित का योगदान

खरनाद या खास के अनेक उद्दरण टीका में चक्रपाणि-अरुणदत्त और हेमादि द्वारा दिये गये हैं। यह संहिता पर्याति प्राचीन और मान्यता प्राप्त होगी यह निःसंशय प्रतीत होता है। अन्यथा चक्रपाणि-अरुणदत्त या हेमादि मद्दृश विद्वान टीकाकार उसका संदर्भ अपने समर्थन में न देते। खरनाद का संदर्भ इस प्रकार है—

बस्ति नेत्र मुद्रा श्लक्षण सुवृत्तं गुलिका पुखं  
भवेद् गोपुच्छ संस्थाने मुप्रवाहं विकर्णिकम्।  
या विभाषा प्राप्तने मरादा कर्णिका भवेत्  
द्वे कर्णिके चोपरिष्ठाद् बस्त्वाधारे यथां ते।।

स्वागुष्ठक परीणाह मूलं नेत्रस्य शस्यते।  
प्रथं त्वनामिका तुल्यमाणं तुल्य कनिष्ठक।।  
खेनागुलि प्रमाणे न दैर्घ्यं स्यावद्वृद्धाशाङ्गलं।

कर्केषु प्रवहं छिं श्रेष्ठ मन्त्रव्याधा व्याधः॥  
विशद् द्वाद्या षड्वर्षे द्वादशाष्ट षड्गुलं॥

इस वर्णन में चारक वायाघट के तुल्य वर्णन होने से इसका पुनः स्थैर्यकरण नहीं किया जाता।

स्नेह बस्ति हेमेशा भोजन के बाद ही देनी चाहिये। स्नेह बस्ति का प्रकार मात्रा बस्ति निरापद और किसी भी किसी भी काल में दी जाती है। फिर भी अजीर्णी की मात्रा बस्ति देने का निषेध है। अष्टांग संग्रह में इस विधय में कहा है—

तत्य भेदे मात्रा बस्ति:। स पेय स्नेह हृद मात्रा तुल्यः; सेव्यः सदाच मात्रु तौलिक चत्। बाल वृद्धाच्च भार यान व्याप्तम चिता-स्त्री नित्य नृपेश्वर इक्षुमार दुर्बला नित्य भग्नत्यानिभिन्निष्ठिहरत्या सुखो बल्लो वर्णः सृष्ट मतो दोषप्रस्त्र। तथापि तो नाजीरो योजो। ग च दिवा स्वप्न स्वयोः सेव्यः॥।

अर्थात् स्नेह बस्ति का भेद मात्रा बस्ति है। वह हृदय स्नेह मात्रा के प्रमाण में दी जाती है। वह सदा सर्व काल की जा सकती है। जैसे माथुतीलिक बस्ति सदा दी जाती है। बालक, वृद्ध, भारवहन से श्रांत, व्यायाम से श्रांत, चिंता से थके डूँए, नित्य स्त्री सेवन करने वाले, राजाओं, उक्तमार लोक, दुर्बल लोक, वात पीड़ित, भान पीड़ित, मदान्ति वाले, सभीयों को कोई परहेज (पथ्य) के लिया इसका प्रयोग किया जा सकता है। यह

सुखकारक है। बल उत्तादक है, वर्णा प्रसादन करने वाली है, मन को सर्वन करती है और दोष नाशक है। फिर भी जिसे अजीर्ण हुआ हो उसे नहीं देनी चाहिये, और जो दिन में सोकर उठा हो उसे भी नहीं देनी चाहिये।

‘स्नेह बस्ति अधुक्त में क्यों न दे ? — अभुक्त अर्थात् जिसने भोजन न किया हो उसे स्नेहबस्ति न देने का विधान है। देने से वह ऊर्ध्वमार्ग में प्रवृत्त होकर वमन करती है यह पहले देखा गया है। उसी तरह भुक्तवान को निरुह देने से बस्ति अन्नावृत हो जाती है। इस विषय में अष्टांग संग्रह में शारीर क्रिया (Physiological action) का बहुत सुंदर वर्णन किया है। वह इस प्रकार है—

“अभुक्ते रिक्त कोष्ठस्य प्रयुक्तमनु वासनम्।

सरदूरग सूक्ष्मतैः खिप्रमूर्द्धे प्रपद्यते ॥

तेन वायोर्जयो न स्यात् वाताधामन्यतिष्ठुता ।

कायाने राशु नशस्तु विशेषादिवर्तिना ॥

स्नेहः सद्योऽस्तिताहारद्वे चामाशयेऽनिलम् ।

पक्वस्यं हाँति पक्ववस्थश्चवते चामाप्राकतः ॥

निरुहश्च समीरश्च तीक्ष्णाऽवधोऽन्नेन सहा गतो ॥

तावत्मूर्च्छितो तीक्ष्णाऽवधोऽन्नेन सहा गतो ॥

ऋद्धं वा शकुता सार्वं संस्थितो कोष्ठ एव वा ।

समलाहारिष्टवधौ होतेमाशु जीवितम् ॥

भुक्तवाननु वात्योऽस्मान्न निलहयो भुक्तवाना ॥”

अर्थात्—भोजन न किये हुए का कोष्ठ रिक्त होता है। ऐसी अवस्था में अनुवासन देने पर उनके (स्नेह के) सर, तुरा (हूं गच्छति इति हूंगः)—दूर जाने के स्वभाव से, सूक्ष्मत्व से (सूक्ष्मस्तु रौक्ष्यात् स्वोतस्तुव्याचः स्मृतः) तुर्त ही ऊपर के मार्ग में (आमाशय की ओर) आ जाती है। इसलिये वात की जीत नहीं सकती क्योंकि वह वात के स्थान में (पक्वाशय में) ठहर नहीं सकती। ऊपर (आमाशय-ग्रहणी-अनिस्थान) आने से कायानिको तुर्त नहीं करती है। क्योंकि अतिवर्ति (अधिक स्नेह) स्नेह अग्नि नाशक होता है। भोजन के बाद तुर्त देने पर आमाशय में अन्न होने से गत्ता अवरुद्ध होने से वह पक्वाशय में ही रहती है, वहां वात का स्थान होने से वात का नाश करती है और मल का चावन करती है। निरुह बस्ति और वात दोष दोनों को तीक्ष्णा बोग ही कहा है—जिससे भोजन के बाद अन्न के साथ वह मूर्च्छित होती है—और अन्न को लेकर नींद, ऊरती है, अथवा मल को लेकर ऊर्ध्वं में (आमाशय में) रह जाती है। मल और अन्न के साथ संतुष्ट होकर (अलसक) मूर्खकारक हो जाती है। इस कारण से अनुवासन हमेशा भोजन के बाद और निरुह हमेशा भोजन के बिना देना चाहिये।

भोजन कैसा हो और कैसा न हो इसके नियम पृष्ठ ३१२ पर दिये हैं। अष्टांग संग्रहकार ने इसमें कुछ परिवर्बिद्ध की है—वह इस तरह—

“अति स्निग्धाशिनोहयुथम् मार्ग संसार्ति स्नेहो मद्मूर्च्छान्नि—

विष्टुं भवत्वर्ण हानिं च अल्पमात्र द्रवाशिनो विस्तु-

विष्मृतस्य चानावृतो न तदावरणाह्यापदम् । चिर-

मणितवतो विद्वाहीभ्युरु भक्तस्य ज्ञरु कुर्यात् ।”

अर्थात् अति स्निग्ध भोजन करने (के बाद की बस्ति) उपयमार्ग, संसर्ग से स्नेह बरित मद, मूर्च्छा, अनिमांय, हल्लास उत्पन्न करती है। सूक्ष्म भोजन करने पर विटंभ कर बल, वर्ण का नाश करती है। अल्प और द्रव भोजन करने से दी हुई बास्ति बिना आवरण की गुणवान् होती है। बहुत देर तक खाने पर (अधिक खाने पर) भोजन का विद्युध पाक होकर ज्वर उत्पन्न होता है।

नस्य विषय में— काशय संहिता में निम्नलिखित श्लोक मिलते हैं—

‘‘बृहण कर्शनं चैव द्विविष्ट नस्य कर्म तु ।

बृहणं वातस्कृक् प्राप्य कफाधिक्ये तु कर्शनम् ॥

विलक्षणासिद्धि अध्याय

शोधनं पूर्णं चैव द्विविष्ट नस्य मुच्यते ।

नस्य कर्मणि बालानां स्तन्यपानां विशेषतः ।

कटुतेलं प्रयुजीत घृतं वा सैंधवातिवत्म् ॥

मत्सकर्मण्य सिद्धि अध्याय

अर्थात् बृहण और कर्शन ऐसे नस्य के दो प्रकार हैं। बातजन्य रुजाओं (रोगों) में बृहण और कफ जन्य अथवा कफाधिक रोगों में कर्शन नस्य देते। मत्सकर्मण्य सिद्धि अध्याय में शोधन और पूरण प्रकार से दो नस्य प्रकार दिये हैं। बालकों को नस्य देने के कडु तेल (सरसू का तेल) का प्रयोग अथवा संैधव मिश्रित धी का प्रयोग करते। खास करके जो स्तन्य-स्तन्यपान करनेवाले बालक हैं उनमें वह विशेष हितकर है।

पंचकर्म

पंचकर्म के बाद जो पश्चात वर्णन इस ग्रंथ में किया है।

पेयादि संसर्जन क्रम, शमनोषध प्रयोग और रसायन ये मुख्य कर्म जाते हैं।

इसमें संसर्जन क्रम-प्रथा में दिया है। शमन औषध तत्त्व रोगातुसार करना होता है। रसायन के लिये ही विशेष कर पूर्ण पंचकर्म शुष्किं

सेवन यह एक मुख्य पश्चात्कर्म है। रसायन के लिये ही विशेष कर पूर्ण पंचकर्म शुष्किं

करना अधिक होता है। रसायन विज्ञान के अंपर अनेक ग्रंथ लिखे गये हैं। पिर भी पंचकर्म को ध्यान में रखकर यहां अतिसाक्षात् नोद दी जाती है।

रसायन सेवन—रसायन तथा वाजीकरण ये आयुर्वेद शास्त्र के विशिष्ट विषय हैं।

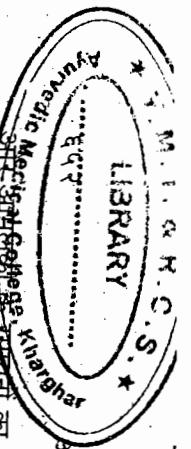
आदि काल से मुख्य का स्वभाव दीर्घजीवन और स्वस्थ जीवन प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील

रहा है। चारकादि संहिताओं में इस विषय पर खास अध्याय लिखे गये हैं। चारक ने चिकित्सा

स्थान का प्रथम अध्याय इसमें ४ पाद स्वरूप उप-अध्याय है।

वे उप-अध्याय इस प्रकार के हैं— (१) अध्यायमतलकीय रसायन पाद—जिसमें हरीतकी

आयुर्वेदीय पचकर्म विज्ञान



रसायनापयोगी द्रव्य—रसायन के लिये अनेक द्रव्यों का प्रयोग वर्णित है। जो

निम्नांकित हैं।

आमतलकी

त्रिपला (तीनों का मिलकर कल्प)

बिपली

बिलाबा

बिडा

शबुष्टी

बाही

शब्दांश

ब्रह्म सुवर्चला

सुदूर मडला

छत्रा

अतिछत्रा

सोमवल्ली—  
ये १६ से २४ तक  
संदिध द्विष्ठायियां हैं।

२५. लौह

२६. सुवर्ण

२७. रुद्र

२८. सुवर्ण

२९. रुद्र

३०. दुध, जल, मध्य,

धृत इत्यादि।

अनास्वान (मन चयन हो ऐसा), आलसी, दारिद्री, प्रमादी, व्यसनी, पापी,

भेषजावामी लोगों को रसायन नहीं देना चाहिये।

प्रकार—कुटि प्रावेशिक और वातातिपिक भेद से रसायन दो प्रकार कहे हैं। कुटि विशेष

कारकर आतुर को सम्पूर्ण काल उसी में रह कर रसायन सेवन करना होता है। बहुवर्य पालन  
और ब्राह्म वातावरण से सम्पूर्ण पृथक् रहकर अत्यंत पथ्य भोजन के साथ रसायन सेवन करना  
होता है।

कुटि प्रावेशिक रसायन काल १ मास, २ मास या वैद्यकीयों द्वारा निर्देश के अनुसार अधिक भी  
हो सकता है।

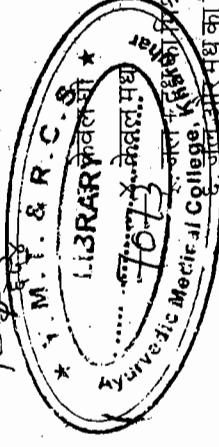
वातातिपिक रसायन यानि जो भी जिस समय का अर्थ हो उसी में रहकर लेने योग्य  
रसायन। इसमें बहुत अधिक पथ्य और नियमों का बंधन नहीं होता। अतः अधिकतर वैद्य  
इसका ही प्रयोग करते हैं। फिर भी कुटि प्रावेशिक रसायन अधिक श्रेष्ठ माना गया है।

“तयोः श्रेष्ठतः पूर्वोविधिः सत्रुमुदुक्षरः॥” च. चि. १-४-२८

डल्हण ने चरक सुश्रुत के पाठ को संयुक्त कर १. काम्य रसायन, २. नैमित्क रसायन,  
और ३. आजस्तिक रसायन ऐसे ३ भेद किये हैं। प्राणकामीय, मेधा कामीय, आयुज्जामीय,  
श्री कामीय इत्यादि का समावेश प्राण कामीय में किया गया है। नैमित्क रसायन में रोग नाश  
करने की दवा—शिलाजतु-भृत्तातक इत्यादि का समावेश किया है और आजस्तिक रसायन  
में दूध, घृत, मध्य इत्यादि का समावेश है।

जल, दूध, मध्य और घी के निम्नांकित संयोग डल्हण ने रसायन के लिये उद्धृत किये  
हैं—  
१. केवल ठंडा पानी (शीतोदक)  
२. केवल दूध

अथात् रसायन चिकित्सा से दीर्घायु प्राप्ति होती है। स्मरण शक्ति की वृद्धि होती है।  
शरीर तथा इंद्रियों का बल बढ़ता है, मनुष्य का आरोग्य तथा तारुण्य-कायम रहता है।  
प्रभा, वर्ण, स्वर को बढ़ाता है। वाक् सिद्ध प्राप्त होती है, शरीर की तेजस्विता बढ़ती है।  
सामादि धातुओं की वृद्धि होती है।



## वैद्यनाथ की उपलब्ध पुस्तके

“वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन

१०. जल और धू  
११. दूध और मध का मिश्रण  
१२. दूध और धी का मिश्रण  
१३. मध और धृत का मिश्रण  
१४. जल + दूध + धृत का मिश्रण  
१५. जल + मध + धृत का मिश्रण  
१६. जल + दूध + धृत का मिश्रण  
१७. जल + दूध + मध का मिश्रण  
१८. दूध + मध + धृत का मिश्रण  
१९. जल + मध + धृत का मिश्रण
- डलहुण ने सशोधन और सशमन प्रकार से दो भेद भी बर्णित किये हैं। नागबलादि समाधन संशमन के उदाहरण हैं।
- रसादि धातु के लिये निम्नोक्त रसायन प्रशस्त है—
  १. सस धातु के लिये—शतावरी, बला, पिपली
  २. रक्त धातु के लिये—लौह, सुवर्ण मालिक, आमलकी, इत्यादि
  ३. मांस धातु के लिये—मांसरस, शतावरी, अश्वगंधा, इत्यादि
  ४. मेदो धातु के लिये—शिलाजटु, अश्वगंधा
  ५. अस्थि धातु के लिये—अजास्थि, गुण्डु
  ६. मज्जा धातु के लिये—मेघ, रसायन, शख, पुणी, ब्राह्मी
  ७. शुक्र धातु के लिये—आत्मगुस्ता, अश्वगंधादि, वृथ योग
  ८. कफ संशमन—भल्लातक, पिपली, त्रिपला
  ९. पित्र संशमन—आमलकी, शतावरी, अमृता
  १०. वात संशमन—पिपली, अश्वगंधा, सुवर्ण योग इत्यादि
- चरक संहिता में ब्राह्म रसायन, च्यवनप्राश, विडावलह, भल्लातक रसायन, पिपली रसायन, बला, शतावरी इत्यादि के स्वायत्रों के अनेक कल्प दिये हैं, वे वहां से देखें। लेना चाहिये।
- पंचकर्म चिकित्सा के बाद ही रसायन चिकित्सा आधिक फलप्रद होती है यह पहले स्थान किया है।
- इस तरह रसायन विधि का संक्षेप है। पंचकर्म विज्ञान में विषय प्रवेश से लेकर पश्चात्कर्म तक जो कुछ महत्व की बातें अवशिष्ट थीं उसका यह ‘परिशिष्ट’ में संक्षेप से उल्लेख किया है।

आयुर्वेद-सारसंग्रह

प. वेणी प्रसाद वैद्य

रस-भस्मों की सेवन विधि

वैद्यराज एं रामनारायण शर्मा

आरोग्य प्रकाश

वैद्यराज हकीम दलजीत सिंह

यूनानी-चिकित्सा सार

यूनानी सिद्धयोग संग्रह

वैद्य रणजितराय देसाई

आयुर्वेदीय क्रिया शरीर

आयुर्वेदीय हितोपदेशः

वैद्य हरीदास श्रीधर कस्तुरे

आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान

चादकजी ब्रिक्कमजी आचार्य

सिद्धयोग संग्रह

परिशिष्ट सम्पूर्णः



Baidyanath Medicines Health Guide  
Therapeutic Guide to Ayurvedic Medicine

औषध सेवन विधि

खींच शास्त्री आयुर्वेदाचार्य

किशोर रक्षा और ब्रह्मचर्य

उपचार पद्धति और पथ्य

म. विश्वनाथ जी द्विदी

वैद्य सहचर

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

मोटापन कम करने के उपाय

डॉ. लक्ष्मीनारायण शर्मा

योगन-विज्ञान पर नया प्रकाश

डॉ. लक्ष्मीकान्त

शरीर क्रिया विज्ञान एवं सामुदायिक न्यास्य  
आरोग्य विज्ञान तथा जन-स्वास्थ्य

USE BOOK CAREFULLY

NOTE

No book or any part of any book may be taken out from the library unless accompanied with a proper library ticket.

Library books or any other material may not be sold or lent to any one outside the library. Any such illegal practice will be liable to punishment.

Any library book is lost, its market price will be collected from the person who otherwise same will be liable to punishment.

Reference book are not to be taken out of library.



**COLLECTION OF VARIOUS**  
→ HINDUISM SCRIPTURES  
→ HINDU COMICS  
→ AYURVEDA  
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with  
By  
Avinash/Shashi

Icreator of  
hinduism  
server)



